GYANODIY 1964 G.K.V.

ग्रामोदय
078000
Central
Library
G.K.D.U.

साहित्यिक विकास-उन्नयन
सांस्कृतिक अनुसन्धान-प्रकाशन
राष्ट्रीय एकता एवं राष्ट्र-प्रतिष्ठा की

साधिका
विशिष्ट संस्था

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

[स्थापित सन् १९४४]

संस्थापक
श्री शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

अनुक्रम

● कविताएँ

● कहानियाँ

● एकांकी

● लेख

● स्थायी स्तम्भ

● डॉ० धर्मवीर भारती के स्तम्भ 'यादें यूरोप यात्रा की' की तीसरी क़िस्त आगामी अंक में प्रकाशित होगी ।

सम्पादक
लक्ष्मीचन्द्र जैन : शरद देवड़ा

संचालक
भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता

कार्यालय
९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता–२७

फोन : ४५-४२५२
४५-४४३२

एकमात्र वितरक :
बैनेट कोलमैन एण्ड कम्पनी लि०,
बम्बई–१

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

इस वर्ष से प्रारंभ होने वाला नया स्तम्भ—समसामयिक विचारों-व्यवहारों, समस्याओं-समाधानों, घटनाओं-प्रेरणाओं के प्रसंग म सह-चिन्तन।

हमारे समाचार

प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने पत्रकारों-सम्वाददाताओं के मंडल में भाषण देते हुए शिकायत की है कि हमारे देश में समाचारों के प्रेषण और प्रकाशन की पद्धति ठीक नहीं है। प्रधान मंत्री की खास शिकायत यह है कि समाचारों का संकलन अधिकतर शहरों के क्षेत्र से होता है और उसमें उस उत्साह की झलक नहीं होती, जो नए भारत में चारों ओर उत्पन्न हुआ है।

मुझे इस शिकायत से खुशी हुई है; क्योंकि मैं स्वतंत्रता के आरम्भ से ही कहता-लिखता रहा हूँ कि समाचारों की पद्धति में सुधार होना चाहिए। सचाई तो यह है कि गुलामी के दिनों में हम समाचारों को जो महत्व और स्वरूप देते थे, स्वतन्त्रता मिलने पर हम उसे भी भूल गए। आदर्शवादी पत्रकारिता के प्रतीक श्री गणेशशंकर विद्यार्थी छोटे-से-छोटे समाचार को भी महत्व देते थे, यदि उसमें जान हो। उन दिनों दैनिक और साप्ताहिकों में सर्वोत्तम समाचारों पर टिप्पणियाँ और अग्रलेख लिखने की प्रथा थी; भले ही वे समाचार एकदम स्थानीय महत्व के हों।

मेरी जन्मभूमि देवबंद में कृष्णलीला के जुलूस को लेकर साम्प्रदायिक तनाव पैदा हो गया। उसके समाचार दैनिक हिन्दुस्तान में छपे। तीन–चार समाचार

छपने के बाद सम्पादक श्री सत्यदेव विद्यालंकार ने देवबंद की कृष्णलीला पर एक अग्रलेख लिखा। इस अग्रलेख का असर ज़िले के अँग्रेज़ कलक्टर पर ही नहीं, लखनऊ के गवर्नर पर भी पड़ा और टेलीफ़ोन खड़का। देवबंदी मुसलमानों के नेता खान बहादुर श्री शेख ज़िआउल हक़ एम० एल० सी० पर भी झाड़ पड़ी। मुझसे एक दिन बोले—"पंडितजी, गालियाँ ही देनी थीं, तो खुद देते, पर आपने गालियाँ भी दीं और नाम भी छिपा लिया!"

"क्या मतलब आपका?" मैंने पूछा, तो पूरे आत्मविश्वास से बोले— "दैनिक 'हिन्दुस्तान' में जो अग्रलेख छपा है, क्या वह आपका लेख नहीं है?"

चॉसर और डार्विन

लन्दन में अपनी मित्र विलफोर्ड के यहाँ शाम की चाय पर एक आकर्षक व्यक्ति ने एलेन ग्लासगो से पूछा कि और सभी अमेरिकनों की तरह आप भी चॉसर की क़ब्र पर गुलाब चढ़ाने के लिए वेस्टमिनिस्टर एबे गई होंगी? उन्होंने जवाब दिया, "हाँ मैं गई तो इसीलिए थी, परन्तु जब गुलाब चढ़ा चुकी तो पता चला कि वह चॉसर की नहीं चार्ल्स

मैंने इंकार किया, क़सम खाई, पर उन्हें यक़ीन ही नहीं आया—"मियाँ, दूर बैठा एडीटर इतनी बारीकियों में उतर ही नहीं सकता।"

मैं दिल्ली गया, तो सत्यदेवजी को बधाई देने गया। उन्होंने मुझे उसी दिन आया एक पत्र दिखाया। इन्दौर के सम्वाददाता ने लिखा था कि आपने इन्दौर की समस्या पर जो अग्रलेख लिखा, उसके बारे में आम चर्चा है कि वह इन्दौर से लिखकर भेजा गया है। स्थानीय समाचारों में यह दिलचस्पी अब कहाँ है? १९३१ में लार्ड इरविन और गान्धीजी के बीच जो समझौता हुआ, उसे सम्पन्न कराने में श्री दुर्गादास के समाचारों ने भी काफ़ी मदद दी थी, यह प्रसिद्ध है।

स्थानीय समाचारों का पृष्ठ देने की प्रथा देश के दैनिक पत्रों में है अवश्य, पर उनमें जन-जीवन की देह ही रहती है, आत्मा और मन नहीं। उन्हें महीनों तक लगातार पढ़ने के बाद भी हम देश की नब्ज़ नहीं देख सकते—सच तो यह कि देश को ही नहीं देख सकते।

स्वतंत्र भारत में समाचारों के विकास को राजनीतिज्ञों और विशेषतः मंत्रियों ने बहुत नुक़सान पहुँचाया है। उदाहरण के लिए, दिल्ली में दीमकों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों की एक विचार-गोष्ठी हुई। एक मंत्री ने उसका उद्घाटन किया और बाद में तीन दिन विचार-विमर्श हुआ। पत्रों में सिर्फ़ उद्घाटन का समाचार छपा और उस समाचार में भी मंत्री का भाषण ही, जो एकदम मामूली था। परिणाम यह कि समाज के जागरूक पाठक नई जानकारी से वंचित रह गए!

विश्व के एक महान् साहित्यकार की जयंती मनायी गई। विद्वद्वर श्री सिद्धांत ने २५ मिनट में साहित्यकार के कृतित्व का मार्मिक परिचय दिया, पर उस उत्सव में दो मंत्रियों में कुछ चख-चख हो गई थी। समाचारों में वह चखचख ही छपी, वह भाषण नहीं। लोक सभा, राज्य सभा और विधान-सभाओं की बहसों में काफ़ी जीवन होता है, पर उनके समाचार देने की कोई व्यवस्थित पद्धति किसी भी पत्र ने अभी तक आविष्कृत नहीं की। खंडित समाचारों की भी बहुलता है कि आज एक समाचार छपता है, पाठक जानना चाहते हैं कि फिर क्या हुआ, पर सम्वाददाता फिर उधर ध्यान नहीं देता, न समाचार-सम्पादक ही। राष्ट्रीय जागरण की दृष्टि से समाचारों के संकलन और प्रकाशन की एक नई पद्धति आवश्यक है और सम्पादकों और सम्वाददाताओं का इधर तुरन्त ध्यान जाना चाहिए।

डार्विन की क़ब्र थी।"

यह सुनकर उस व्यक्ति ने बड़ी कृतज्ञता से काफ़ी देर तक कई विषयों पर बातचीत की और जाते समय फिर एक बार आत्मीयता से अभिवादन किया। वे जब चले गए तो एलेन ने पूछा, "ये महाशय कौन थे?"

उत्तर मिला: "अरे तुम नहीं जानतीं? ये चार्ल्स डार्विन के सबसे बड़े पुत्र थे।"

—परेश

सौ प्रश्न, एक प्रश्न

हमारे देश में भ्रष्टाचार की दिन-रात बढ़ोतरी हो रही है और उससे भी अधिक बढ़ोतरी हो रही है उसकी चर्चा की। हर मुहल्ले की हर गली में भ्रष्टाचार के सात एक्सपर्ट हैं और उनका हर विवरण प्रामाणिक है। दिल्ली नगर निगम की स्थायी समिति के अध्यक्ष तेजस्वी तरुण श्री ब्रजमोहन ने निगम के कर्मचारियों में फैले भ्रष्टाचार के विरुद्ध अनशन किया, तो निगम के ३५ हजार कर्मचारियों ने भ्रष्टाचार और शिथिलता से बचने की प्रतिज्ञा की। बड़ा शानदार प्रदर्शन था यह और इस शान को चार चाँद लगा दिए गृहमंत्री श्री गुलजारीलाल नन्दा की इस घोषणा ने कि "मैं दो साल में भ्रष्टाचार और शिथिलता को दूर न कर पाया, तो अपने को सार्वजनिक जीवन के अयोग्य समझूँगा।"

इस सम्बन्ध में सौ प्रश्न हैं लोगों के, पर मेरा भी एक प्रश्न है—यदि कोई सरकारी कर्मचारी, दूकानदार या पत्रकार सेवाभाव से ईमानदारी के साथ जीवन बिताए, तो क्या समाज का कोई मनुष्य अपने सुयोग्य बेटे का विवाह उसकी बेटी से बिना दहेज करने को तैयार है?

कोई चुप रहे या बोले, इस प्रश्न का देशव्यापी उत्तर है—नहीं; और इस नहीं

की घोषणा है कि जिस समाज-व्यवस्था का ढांचा पूंजीवादी हो और नारा समाजवादी, उसे अभी बहुत दिनों तक भ्रष्टाचार के नरक में डूबे रहनापड़ेगा।

क्या यह बलिदान है ?

अमरीका के राष्ट्रपति श्री कैनेडी की एक जुलूस में किसी ने गोली से हत्या कर दी। उनके दो अपराध थे कि वे युद्ध नहीं शांति के लिए प्रयत्न कर रहे थे; और नीग्रो लोगों को समाज में गोरों के समान स्थान मिले, इसके समर्थक थे। कहें, एक सत्कर्म के लिए उनकी मृत्यु हुई, सत् उद्देश्य के लिए उनका जीवन काम आया। इतिहास की भाषा में राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन की तरह उन्हें स्मरणीय पवित्र मृत्यु प्राप्त हुई। उन्हें शत्-शत प्रणाम, पर क्या वे शहीद हुए ? क्या उनकी मृत्यु बलिदान है ?

ना, राष्ट्रपति कैनेडी शहीद नहीं हुए; क्योंकि शहादत में मृत्यु के प्रति प्रस्तुतता अनिवार्य है और कैनेडी जुलूस में जाते समय मृत्यु के लिए तैयार नहीं थे। ब्रूनो से कहा गया—"तुम कैथोलिक विचारधारा स्वीकार नहीं करोगे, तो तुम्हें जीते-जी जलाया जाएगा !" वह इतने जोर से हँसा कि सिंहासन पर बैठे सत्ताधारी क्रुद्ध हो उठे —उसे जीते-जी जलाने का आदेश दिया। चिता के बीच में ब्रूनो को बाँधकर फिर वही बात कही गई, वह फिर हँसा और हँसते-हँसते जल गया। यह है मृत्यु के लिए प्रस्तुतता।

सुकरात को ज़हर देकर मारने का आदेश दिया गया। उसके शिष्यों ने उसे जेल से भगाने का प्रबन्ध किया, पर उसने कहा—"क्या मृत्यु से डर कर मैं यह सिद्ध करूँ कि मेरे विचार झूठे हैं !" और दूसरे दिन उसने जहर का प्याला पीकर शहादत प्राप्त की।

गाँधीजी की हत्या की चारों तरफ़ चर्चा थी। उन पर एक बम भी फेंका जा चुका था,पर उन्होंने सरदार पटेलकी यह बात स्वीकार नहीं की कि प्रार्थना-सभा में आने वालों की तलाशी ली जाए और कहा—"गोली लगने पर मेरे मुँह से राम न निकले, तो मुझे झूठा महात्मा समझना !" और वे शहीद हो गए।

तो सत्कर्म के लिए, सदुद्देश्य के लिए मृत्यु का वरण ही शहादत है, बलिदान है। नुक़सान और बलिदान में जो अन्तर है, वही शहादत और पवित्र मृत्यु में है। शरणार्थी बन्धुओं ने स्वतन्त्रता के लिए नुक़सान उठाया, पर बारडोली के किसानों ने बलिदान किया था; क्योंकि शरणार्थियों को वह सहना पड़ा, किसानों ने वह सहा। हैलीकोप्टर दुर्घटना में मरे हमारे पाँच सेनापतियों की मृत्यु पवित्र मृत्यु है और नेफ़ा-लद्दाख में मरे जवान शहीद हैं।

हम सावधान रहें और भावुकता या लापरवाही में शब्दों को सस्ता न करें; क्योंकि सस्ते शब्दों की प्रशंसा उस माला की तरह है, जिसमें सूखे फूल गूँथ दिए गए हों !

यह प्रकृति का प्रश्न है

राज्यसभा में शिकायत की गई कि रेडियो के उर्दू-समाचारों में उपराष्ट्रपति को नायबसदर क्यों कहा जाता है, जबकि राष्ट्रपति को वहाँ राष्ट्रपति ही कहा जाता है?

सूचना-विभाग के उपमंत्री श्री शामनाथ ने जवाब दिया कि नायबसदर को उर्दू वाले उपराष्ट्रपति से ज्यादा समझते हैं। यह उत्तर ठीक नहीं है; क्योंकि जो राष्ट्रपति को समझ गया, वह उपराष्ट्रपति को भी समझ सकता है। असल में यह प्रश्न समझ का नहीं प्रकृति का है। अँग्रेजी की अपनी प्रकृति है, उर्दू की अपनी प्रकृति है और हिन्दी की अपनी प्रकृति है। अँग्रेजी की प्रकृति इंगलैण्ड की है, उर्दू की फारस की और हिन्दी की भारत की। उर्द की प्रकृति आरम्भ में भारतीय थी, बाद में उसे प्रयत्नपूर्वक बदला गया और उस विदेशी प्रकृति में देश के करोड़ों आदमियों के रचने-पचने का परिणाम हुआ देश का बटवारा, जिसमें देश का तिहाई भाग विदेश हो गया। उपराष्ट्रपति को पसंद न कर नायबसदर को (जो उस महान पद के लिए एक क्षुद्र नामकरण है) पसंद करना उसी प्रकृति का प्रदर्शन है।

यह हिन्दू-मुसलमान का या हिन्दी-उर्दू का प्रश्न नहीं है, शुद्ध रूप में प्रकृति का प्रश्न है। युवक-समारोह के पिछले अधिवेशन में प्रधान मंत्री श्री नेहरू ने कहा था—"यूथ-फेस्टीवल का अनुवाद 'समारोह' मुझे पसन्द नहीं है; कोई ऐसा शब्द होना चाहिए, जिसमें उत्साह हो।"

'समारोह' में सम-आ-रोह तीन शब्द हैं। सम का अर्थ है अच्छी तरह, आ का अर्थ है चहुँमुखी—बाहर-भीतर, और रोह का अर्थ है चढ़ना। पूरे शब्द का भावार्थ हुआ, वह कार्य जो अच्छी तरह, यानी अच्छे उपायों से, (शराब की तरह नशे द्वारा नहीं) मनुष्य को बाहर-भीतर—शारीरिक और मानसिक रूप से ऊँचा उठाये—उसे समारोह कहते हैं। मैं नहीं जानता कि संसार की किसी भाषा के पास इतना परिपूर्ण दूसरा शब्द है या नहीं, पर समारोह अवश्य ही परिपूर्ण है। फिर भी यह नेहरूजी को पसंद नहीं आया; क्योंकि उनकी प्रकृति अँग्रेजी और उर्दू की प्रकृति है, जो ब्राह्मण को बिरहमन कहकर सुख पाती है। •

एडिथ सिटवेल अपने बकिंघम गार्डेन में प्रायः एक विशेष गुलाब की ठंडी छाया में बैठतीं। कारण कोई विशेष नहीं; कहती हैं, "शायद इसलिए भी कि यह इस सारे बगीचे में सबसे पुराना है या इसीलिए भी कि पोप के एक उत्तराधिकारी ने इसकी एक डाल रूस की साम्राज्ञी कैथराइन को भेंट में दी थी—मेरे अन्वेषण-प्रिय और रूमानी स्वभाव से ये दोनों बातें मेल खाती हैं।"
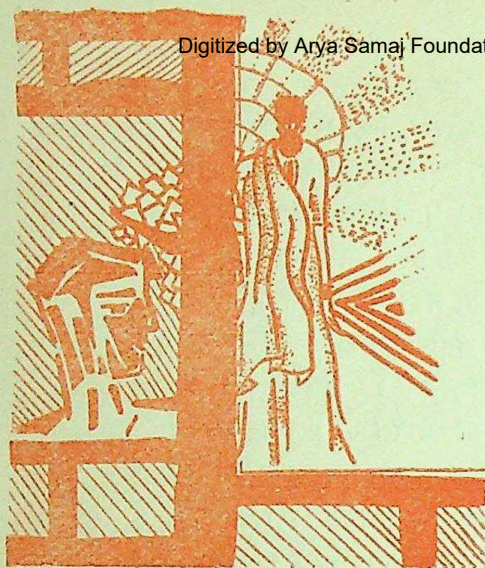
भारत भूषण अग्रवाल

हो तो सकता था....
हो तो बहुत-कुछ सकता था !

—यह धूप में तपती दोपहर
बादल-भरी साँझ हो सकती थी;
—ट्रैफिक की रौंद से कराहती यह सड़क
तरंगायित झील,
और यह बस-स्टैण्ड
झील का किनारा !
—तुम्हारे हाथ में
इस वैनिटी-बैग की जगह
गीतों की सुराही हो सकती थी
—और मेरे हाथ में
इस फाइल की जगह
सपनों की पिटारी !
हो तो सचमुच बहुत-कुछ सकता था !

हो तो यह भी सकता था
कि तुमने
सिनेमा के टिकट न खरीदे होते

और मुझे
भूख न लगी होती !

हो तो....

पर नहीं,
मैं कृतघ्न नहीं बनूंगा
हम तक आकर
जो क्षीण रेखा बन गई है
अनुभूति की उस धार से मिली
इस एक बूंद पर
शिकायत नहीं करूँगा !

हो तो यह भी सकता था
कि मैं इस स्रोत में नहा लेता
डुबकी लगाता,
पर
जो हुआ :

पल भर ही सही,
सिक्त जिस कण ने
निर्मल समर्पण के जिस विविक्त क्षण ने
अभी मुझे छुआ—

उसे क्यों झुठलाऊँ ?
प्यास से जलते इस कंठ में
जो हलचल मची है
उसे क्यों दबाऊँ ?

हो तो सकता था

कृष्णकिशोर श्रीवास्तव

देश आज किसे नहीं पुकारता ? वर्तमान संकट-कालीन परिस्थितियों में क्या मज़दूर, क्या अध्यापक, क्या पुरुष, क्या नारी— सबों के कन्धों पर कर्तव्य का अनिवार्य बोझ आ पड़ा है। इसी संदर्भ में प्रस्तुत है यह एकांकी जो हमें हमारे कर्तव्य-पथ का दिशा-संकेत और प्रेरणा देता है।

(एक ऊबड़-खाबड़ मैदान जिसमें सामने दाहिनी ओर एक तम्बू का अगला भाग दिखलाई देता है। तम्बू के सामने बेत की तीन-चार कुर्सियाँ अस्त-व्यस्त पड़ी हैं। कुर्सियों के पास रखी टेबल पर कुछ समाचार-पत्र पड़े हैं तथा चाय का ख़ाली प्याला रखा है। पीछे कुछ दूरी पर ईंट, मिट्टी, पत्थर, और चूने के ढेर दिखते हैं और उनके मध्य से एक अधबने मकान की दीवालें झाँकती हैं। अधबने मकान के पीछे से ईंट-मिट्टी के ढेरों से बचते हुए गहना और परसादी तम्बू की ओर आते दिखते हैं। गहना कुछ गंभीर पर परसादी प्रसन्न है।

मरे, अधमरे और जीवित

परसादी : (डरे स्वर में) सूबेदार साहब! (स्वर सँभालते हुए) सूबेदार साहब! (तम्बू के प्रवेश द्वार का पर्दा हटाकर अन्दर झांकता हुआ) हूँ! खाली है तम्बू! (मुँह घुमाकर) कहीं चल दिये सूबेदार साहब!

गहना : दिन चढ़ आया है और आज भी काम करनेवाले नहीं आए। गुस्से में आकर लछमन दादा को ढूँढ़ने गये होंगे।

परसादी : और अब आते ही लँगड़ाती चाल से हम लोगों को खदेरेंगे। और फिर गोली मारेंगे।

गहना : (रुकते-रुकते) इसीलिए तो कहा मैंने कि उन्हें गुस्सा मत चढ़ाया कर।

परसादी : कहाँ तक उनके गुस्से से डरूँ। खुश होकर मुझे कोई लाट साहब तो बना नहीं देंगे! नागे का एक-एक पैसा तीन बार गिनकर काटते हैं।

गहना : काम नहीं करेगा, तो पैसे कौन देगा!

परसादी : मुझे नहीं चाहिए उनके पैसे। यही कहने तो आया हूँ आज। (प्यार से) तुझे तो बतला ही दिया है, मैं भर्ती कर लिया गया हूँ न।

गहना : (करुण होते स्वर में) तो जाने की ऐसी जल्दी क्या है। (अधबने घर की ओर घूमकर) ये अधबना घर भी तो तुझे पूरा करना है। ये पूरा हो जाये तो चले जाना! (परसादी की ओर घूमकर) और तेरा घर भी तो अभी अधबना है। (अपनी धुन में) ननका, अर्जुन गोपी.... और भी तो कोई भर्ती हुआ होगा। एक तेरे न जाने से क्या फरक पड़ जाएगा।

> पुरातन काल में भी पत्र सांकेतिक भाषा में लिखे जाते थे। पानीपत की तीसरी लड़ाई (१७६१) में जब मराठे पराजित हुए, तो उन्होंने यह ख़बर बाजीराव पेशवा को देनी चाही। उन्होंने पत्र लिखकर जो समाचार भेजा, वह एक साधारण मनुष्य की समझ से बाहर की बात थी। पत्र का अंश था :
>
> "दो मोती नष्ट हो गए, सत्ताईस सोने की मुहरें जाती रहीं, चाँदी और अन्य सिक्कों के नुक़सान की तो कोई गिनती ही नहीं।"
>
> इसका गूढ़ अर्थ था—दो मोती अर्थात् सेनापति सदाशिवराव और विश्वासराव ने युद्ध में वीरगति पाई, २७ सोने की मुहरें यानी २७ बड़े सरदार मारे गये तथा साधारण पैदल सेना की जो हानि हुई, उसकी तो कोई गणना ही नहीं।
>
> —पेंढारकर

परसादी : अगर सब ऐसा सोचेंगे, तो देश की लुटिया डूब जाएगी। (तेज़ स्वर में) उस दिन रामायण सुनने गई थी न! याद है, राक्षसों से घर को बचाने के लिए रामजी की तरफ़ से बन्दर तक लड़े थे। मैं तो आदमी हूँ री!

गहना : (मुँह बिचकाकर) बस अपने मतलब की बात ही गाँठ बाँध ली है। मुझे तो डर लगता है। तुझे कहीं कुछ हो गया तो.... याद है, उस दिन सूबेदार साहब कह रहे थे

कि अपने सिपाहियों को बड़े हत्यारों से लड़ना पड़ता है ।

परसादी : (गर्व से अपने शरीर की ओर देखकर) देखती है कि सिमेण्ट की भरी बोरी गेंद-सी उठाकर फेंक देता हूँ। जिस कुदाली से अर्जुन, गोपी घंटे-भर में पसीना-पसीना हो जाते हैं, उससे दिनभर खोदता हूँ...फिर भी डरती है ! (रुककर) जरा वहाँ पहुँचने तो दे, फिर देखूँगा उन हत्यारों की ताकत को। (दूर कुछ खटका होता है और परसादी चौंक उठता है।)

गहना : (व्यंग्य से) बड़ा आया हिम्मत-वाला, इतने-से खटके से तो चौंकता है, वहाँ जाकर क्या तीसमारखाँ बन जाएगा । (रुककर) कोई सामने आकर पंजा थोड़े ही मिलायेगा। दुस्मन तो ऐसे ही चौंकाएगा ।

परसादी : (अटपटाकर) सूबेदार साहब के कारण चौंकने की तो आदत पड़ गई है ।

गहना : वहाँ भी तो बहुत से सूबेदार होंगे ।

परसादी : उनकी मुझे परवाह नहीं। (ऐंठ से) देखना, मैं भी कुछ दिनों में सूबेदार बन जाऊँगा और वर्दी पहिनकर अपने सूबेदार साहब से ज्यादा जचूँगा । (शरारत से) देख, मेरी ओर देख....बतला, जचूँगा या नहीं ? (गहना ऊपर देखती है और फिर झेंपकर सिर झुका लेती है) और जब लौटूँगा, तो जेब भी भरा होगा । फिर अपनी गहना को गहनों से लाद दूँगा ।

गहना : (मुग्ध भाव से देखकर) हट । भरमाता है मुझे । सोनी जी कह रहे थे कि अब सोना नहीं मिलने का। काहे के गहने बनवाएगा, खोटी चाँदी के या सस्ते काँसे के कड़े पहिनाकर फूला-फूला फिरेगा ।

परसादी : तू तो समझती नहीं। सोनी जी को सौ के सवा सौ दो तो काम बनाते हैं--मैं जानता हूँ । (रुक-कर) अरी इतनी दूकानें हैं सहर-भर में, कहीं-न-कहीं तो सरकारी हुकुम वाला सोना मिल ही जाएगा, बस उसी से तेरे गहने बनवाऊँगा। और चाँदी की तो पायजेब होगी । (हँसकर) काँसे की अच्छी याद दिलाई । काँसे के कटोरे में तेरे साथ दूध-भात खाऊँगा ।

गहना : (मुँह बनाकर) पर ऐसा साथ किस काम का ! (घूमते हुए) घर-द्वार की फिकर करने वाले का साथ अच्छा होता है रे ।

परसादी : (गहना के सामने आकर) मुझे भी घर-द्वार की फिकर है। पर अभी घर-द्वार में लग जाऊँगा तो राम जी की सेना के बन्दरों से भी गया-बीता कहलाऊँगा । (मुग्ध भाव से) कुछ दिनों बाद घर बसाऊँगा । (शीघ्रता से) क्या बिगड़ जाएगा घर का, चार-छः महीनों में ।

गहना : (घूमकर अधबने घर की ओर बढ़ती हुई) बिना छानी का अधबना

घर है रे, आँधी-पानी में गिर गया तो....तो मुझसे ज्यादा तू पछताएगा।

परसादी : मेरा घर किसी बिलेक की सिमेंट, चोरी के चूने या कच्ची ईंट का नहीं जो इस तरह गिर जाएगा। गहना, अपना अधबना घर भी चोरों की कोठियों से मजबूत होगा।

गहना : (दूसरी ओर मुड़कर चलते हुए) लछिया ठीक कह रही थी कि जब से तू बड़े-बड़े दफ्तरों का काम करने लगा है, तब से बातें भी बड़ी-बड़ी बनाने लगा है। बातें बनाकर ही कल वहाँ भर्ती हुआ होगा।

परसादी : बातें बनाने वाले तो दफतरों में कुर्सियाँ तोड़ते हैं री। जो दफ़तर नहीं जाते वे होटलों में प्यालियाँ तोड़ते हैं। (गर्व से) सिपाही बातें नहीं बनाते। कल कहा था, भर्ती-दफ़तर साथ चलने को तो क्यों नहीं चली? दूर होकर सब-कुछ खुद ही देख लेती।

गहना : (तम्बू की ओर बढ़ते हुए) कहाँ-कहाँ जाऊँगी तेरे साथ, कुछ ठिकाना है तेरा! (रुककर भरे स्वर में) चार दिनों में और न जाने कहाँ-से-कहाँ पहुँच जाएगा।

परसादी : दुश्मनों से टक्कर लेने जाऊँगा और कहाँ जाऊँगा। (रुककर) तू यहाँ लछिया और अम्मा के साथ मंदिर में जल चढ़ाना (तम्बू के पास आकर) एक दिन सूबेदार साहब भी कह रहे थे कि जब-जब वे लड़ाई में जाते थे तब-तब सूबेदारनी अपने पूजा-पाठ से उन्हें जिता देती थी! (रुककर) तू भी पूजा-पाठ करना.... (गहना सिसकती है) अरे....ये क्या.... (परसादी गहना के पास जाकर उसका हाथ पकड़ने के लिए हाथ उठाता है कि पीछे की आहट उसे चौंका देती है। गहना भी चौकन्नी हो जाती है। उधर बैसाखी लगाये तम्बू के बग़ल से सूबेदार साहब आते हैं। उन्हें देखते ही गहना दूसरी ओर घूम जाती है और उनसे आँखें मिलते ही परसादी का सिर झुक जाता है।)

सूबेदार : (रूखे स्वर में) क्यों रे परसादी, अड़तालीस घंटे बाद अब दिख रहा है। कहाँ उड़ गया था। झूठ बोला तो गोली मार दूँगा।

गहना : (कुछ घबराकर) मैं बतलाती हूँ, सूबेदार साहब!

सूबेदार : (बैसाखी के सहारे उचकते हुए कुर्सी के पास जाकर) मैं तुझसे नहीं पूछता। मुझे तो इससे सुनना है। (रुककर गहना को घूरते हुए) तू जा और घड़े में पानी ले आ कुँए से, कल रात से ख़ाली पड़ा है (गहना तम्बू के अन्दर घुसती है) हाँ, मैंने क्या पूछा, कुछ सुनाई पड़ा रे?

परसादी : (दबे स्वर में) हूँ। कल नहीं आया था, आज आया हूँ पर काम नहीं करूँगा। (गहना ख़ाली घड़ा लेकर तम्बू से निकलती है और कनखियों

से परसादी को देखती हुई एक ओर बढ़ती है) मैं अब कभी काम पर नहीं आऊँगा।

सूबेदार : (कड़े स्वर में) क्यों ? क्यों नहीं करेगा काम? (गहना ठिठककर पीछे देखती है पर सूबेदार की निगाह पड़ते ही एक ओर निकल जाती है) टेंट में ज्यादा पैसे आ गए हैं क्या ?

परसादी : (दृढ़ स्वर में) सिपाही बन गया हूँ। (सूबेदार से आँखें मिलाकर) कल भर्ती-दफ़्तर गया था और भर्ती हो गया हूँ। अब आपका काम करने नहीं आऊँगा।

सूबेदार : (कुछ गड़बड़ाकर) तू....तू.... सिपाही हो गया है। (परसादी सिर हिलाता है) हद है! (रुककर) जब मैं सिपाही हुआ था तब तुझसे ड्योढ़ा था मेरा शरीर। (कुर्सी पर बैठते हुए) पता नहीं किसने तुझे भर्ती किया। (बैसाखी कुर्सी से टिकाते हुए) तू तो इसी चूने-मिट्टी के काम का है।

परसादी : जरा लड़ाई पर जाने दीजिए फिर देखिएगा कि मैं क्या कर सकता हूँ, (घूमते हुए) मैं भी सूबेदार बनकर आऊँगा।

सूबेदार : (बैसाखी लेकर कुर्सी से उचककर) क्या कहा, तू सूबेदार बनेगा। (चिढ़कर) नालायक़, अपनी औक़ात भूला तो गोली मार दूँगा....हुँ...सूबेदार बनेगा.... (परसादी को ओर घूरते हुए अधबने घर की ओर बढ़ता है, तभी लछमन आता दिखता है) लछमन, ये [illegible] सूबेदार बन रहा है। समझे। (लछमन भौंचक्का-सा परसादी की ओर देखता है) उसे क्या देख रहे हो। यह हद से गुज़र रहा है, मैं इसे.... ।

लछमन : (परसादी के पास जाकर) क्या हुआ रे परसादी ?

परसादी : कुछ नहीं दादा। कल मैं भर्ती-दफतर गया था, वहाँ मेरी भर्ती हो गई है। अच्छी तरह काम करूँगा, तो सूबेदार बनाया ही जाऊँगा....

लछमन : (याचना के स्वर में) ये तो मूरख है सूबेदार साब। अगर सिपाही ही बन गया, तो बहुत है इसके लिए। आप जैसा पुरसारथ इसमें कहाँ। (सूबेदार प्रसन्न होकर कुर्सी पर बैठ जाते हैं। लछमन परसादी की ओर मुड़ता है) और कल तेरे कोई साथी नहीं आए उन्हें क्या हो गया था ?

परसादी : ननका और अर्जुन तो भर्ती हो गए हैं। बाकी लोग आज से दूसरी जगह काम पर जा रहे हैं....वहाँ मजूरी जादा मिल रही है।

एक जमींदार के यहाँ उसके कुछ मित्रों की दावत थी। मेहमानों के स्वागत-सत्कार में जब वह व्यस्त था, उसका नौकर उसके पास पहुँचा। बाहर कोई आया हुआ था और उसने नौकर के द्वारा जमींदार के पास पत्र भिजवाया था। पत्र में उसने लिखा था— "खेत में कुछ जरूरी काम एक मजबूत बैल के अभाव में अटका हुआ है। कृपया अपना एक बैल कुछ देर के लिए भेज दें।" बाहर वह व्यक्ति पत्र के जवाब के लिए खड़ा था।

सूबेदार : (**चिढ़े स्वर में**) सुना ! मैं कह रहा था न, कि कुछ साजिश है। लछमन, तुम्हीं ने मुझे फँसाया है ! बड़े मेट बने हो मजदूरों के। तुम्हारे मजदूर.... सब काहिल, नालायक़, दग़ाबाज़ हैं। इन्हें गोली.... ।

परसादी : (**बीच में**) गाली मत दीजिए.... सूबेदार साहब ! आप खुद जाकर पता लगाइए कि वहाँ कितनी मजूरी रोज मिलती है। (**सूबेदार ग़ुस्से से परसादी की ओर देखता है।**)

लछमन : (**दोनों को देखकर**) परसादी, तू अभी जा। थोड़ी देर से आना.... । तेरा हिसाब भी करा दूंगा (**परसादी को जाने का संकेत करता है**) सूबेदार साहब, मैं सारी बातों का पता लगा लूंगा।.... परसादी.... तू जा न ! गहना का घड़ा भरा देना.... (**परसादी चला जाता है।**)

सूबेदार : तो क्या मेरा घर अधबना ही पड़ा रहेगा। (**लछमन की ओर देखकर**) अभी चार-छः महीने में अभी डाक्टर हो जाएगी—और अगर जल्द उसके लिए मैं अस्पताल नहीं बना पाया तो नौकरी के पीछे भागेगी। (**रुककर**) मैं उससे नौकरी नहीं कराना चाहता। घर में बैठकर डाक्टरी करे, बहुत है। फिर इस ओर कोई डाक्टरनी है भी नहीं.... कमाई भी अच्छी होगी...। नौकरी में क्या धरा है। (**लछमन को चुप देखकर क्रोध से**) मुँह में दही जम गया है क्या ? सुना, मैं क्या कह रहा हूँ।

लछमन : (**चौंककर**) सुन लिया सूबेदार साब ! मैं आज दौड़-धूपकर कल से काम शुरू करा ही दूंगा। (**याद करते हुए**) आप भी सीमेंट और लोहे के परमिट ले आइए। दो-तीन दिन में ही दोनों का काम पड़ेगा।

सूबेदार : परमिट तो मैं ले आया हूँ पर परमिट को लेकर चाटूँ। चीज़ें कहाँ मिलती हैं। तबियत होती है, व्यापारियों को गोली मार दूँ। (**रुककर**) जो है अभी उसी से काम चलाओ। जहाँ इनकी ज़रूरत न हो वहाँ का काम आगे बढ़ाओ।

लछमन : कल हबीब मियाँ मिले थे, उनके पास कुछ कोटा आ गया है।

सूबेदार : (**मुँह बनाकर**) पर देगा किस भाव। पिछले बार तो कंट्रोल रेट का ड्योढ़ा लिया था। (**रुककर**) इसीलिए मकान की क़ीमत बढ़ती जा रही... (**दूर से हीरेश आता दिखता है। उसे देखते ही सूबेदार अचानक रुक जाते हैं।**)

समस्या यह थी कि जमींदार न पढ़ सकता था, न लिख सकता था। किन्तु इतने मेहमानों के सामने वह इसे कैसे स्वीकार करता। अतः उसने पत्र खोलकर कुछ क्षणों तक पढ़ने का अभिनय किया, फिर अपने नौकर की ओर मुड़कर गंभीर स्वर में कहा, "जाओ, पत्र देनेवाले उस व्यक्ति से कह दो कि दावत समाप्त होते ही मैं स्वयं चला आऊँगा।"

—स० ना० सिन्हा

हीरेश : (दूर से ही हाथ जोड़ते हुए) नमस्ते चाचाजी.... ।

सूबेदार : (सँभलते हुए) नमस्ते-नमस्ते । आओ । कहाँ रहे इतने दिन ? नज़र ही नहीं आए ।

हीरेश : (पास आकर) आभा बतलाना भूल गई शायद । मैंने तो उनसे कह दिया था, (रुकते हुए) नौकरी के चक्कर में था ।

सूबेदार : तो मिली नौकरी ?

हीरेश : जी हाँ । कल ही ज्वाइन भी कर लिया है । (सूबेदार की ओर देख कर) सरकारी कालेज में प्रोफेसर हो गया हूँ ।

सूबेदार : अच्छा ये तो बड़ी जगह होगी ।

(हीरेश सिर हिलाता है ।)

लछमन : तनख्वाह भी अच्छी होगी ?

हीरेश : अच्छी तनख्वाह की ही इच्छा होती, तो मैं भी मिलिटरी-कमीशन में चला गया होता । (घूमते हुए) वहाँ तो, अपने को बेचने के रुपए मिलते हैं । मैं तो अपनी लियाक़त के रुपए चाहता हूँ । सिपाही की नौकरी भी कोई....

सूबेदार : (बीच में दृढ़ स्वर में) हीरेश ! सिपाही की नौकरी क्या होती है मैं जानता हूँ । मेरे सामने अगर कोई उस नौकरी के बारे में बुरा-भला कहेगा तो गोली मार दूँगा ।

हीरेश : (सँभलते हुए) .... मैं.... मैं... बुरा-भला नहीं कह रहा । मैं तो कह रहा था कि उस नौकरी के लिए कालेज की पढ़ाई जरूरी नहीं है ।

सूबेदार : तुम क्या जानो हीरेश, वहाँ के लिए क्या-क्या चाहिए । (लछमन को देखकर) और तुम खड़े-खड़े क्या सुनने लगे । जाकर मज़दूरों का इंतज़ाम करो, आज दोपहर बाद काम शुरू होना ही चाहिए । (कड़े स्वर में) जाओ ! (सूबेदार लछमन को जाते देखते हैं उसके बाद कुछ क्षण मौन यहाँ-वहाँ टहलते हैं) हाँ, तो मैं कह रहा था हीरेश, कि सिपाही की नौकरी के लिए ज़िन्दगी के हर पहलू का तजुर्बा चाहिए....और तुम अपने कालेज के चार-छः साल की पढ़ाई लिये घूमते हो । इसके लिए हिम्मत चाहिए, दिमाग़ चाहिए, भला-बुरा, दोस्त-दुश्मन की पहिचान चाहिए । (हीरेश की आँखों से आँखें मिलाकर) तुम लोग गिने-चुने, मामूली सवालों के जवाब में घंटों लगाते हो और वहाँ तो बड़े-बड़े सवालों का जवाब आनन-फानन में सोचना पड़ता है । समझे ।

हीरेश : जी समझ गया ।

सूबेदार : (घूमते हुए प्रसन्न मुद्रा में) बड़ी जल्दी समझ गए । समझदार तो लगते हो । (रुककर हीरेश को देखते हुए) हाँ, तो तुम कालेज में प्रोफ़ेसर हो गए हो । (हीरेश सिर हिलाता है) क्या पढ़ाओगे ?

हीरेश : जी, फ़िलासफ़ी ।

सूबेदार : (समझने की कोशिश करते हुए) अच्छा । आदमी की ज़िन्दगी दुश्मनों

[शेषांश पृष्ठ ९८ पर]

हमारे स्वातन्त्र्य-संग्राम में न जाने कैसी-कैसी हस्तियों ने बलिदान का मार्ग अपनाया था। प्रस्तुत कहानी का नायक भी उन्हीं शहीद आत्माओं के प्रखर एवं अडिग व्यक्तित्व को उजागर करता है।

मनमोहन ठाकौर

"पर इस एक रूप्पली रोज़ से मेरा क्या बनेगा ? कुल चार सेर दूध ? इतना तो मैं सुबह उठते ही पी जाता हूँ। फिर सारे दिन क्या फ़ाका करूँगा ? अच्छा मज़ाक है।"

टूटती नींद की तन्द्रा में मेरे कान में गरजती, गुस्से से बिफरती आवाज़ पड़ी और मैं उठ बैठा। जानकर संतोष हुआ कि अब मैं उस मध्ययुगीन सामन्ती क़िले में अकेला ही नहीं हूँ। एक और राजवन्दी भी आ गया है।

मैं उठकर कोठरी के दरवाज़े के पास आ गया। देखा, बाहर वार्डर, सिपाही, सभी बड़े अदब के साथ नज़रें झुकाए खड़े हुए हैं। सारे आलम पर अजीब-सा खौफ़ तारी है।

तभी एक अपरिचित आवाज़ सुनाई पड़ी, "यह ठीक कह रहे हैं साहब बहादुर ! मैं इन्हें बचपन से जानता हूँ। एक रुपये में तो इनके पालतू कुत्ते का भी पेट नहीं भरेगा।"

"लेकिन हुज़ूर, जेल का कानून कैसे बडला जा सकटा है ?" एक अँग्रेज़ हिन्दी बोलने की कोशिश कर रहा था।

"आपने यह क़ानून तो मुझसे पूछकर नहीं बनाया था !" फिर उसी गरज़ती आवाज़ में लहराती हँसी, जिसमें हुज़ूर की हँसी भी घुली-मिली थी।

"देखिये साहब बहादुर आपने हाथी पाला है तो उसे घोड़े की ख़ूराक पर ज़िन्दा रखने की कोशिश मत कीजिये। आपने क़ानून तो साधारण क़ैदियों के

सि पा ही

लिए बनाया है। इन जैसे देवों के लिए नहीं।"

ग़रज़ कि साहब बहादुर को एक रुपए की जगह चार रुपए रोज़ करना पड़ा। शाम के तीन बजे जब कोठरी से बाहर निकाला गया तो मैं लपककर उन्हीं शर्माजी के पास पहुँचा। साठ-पैंसठ के लम्बे-चौड़े, गोरे-गट्ट आदमी। चेहरे से आभिजात्य टपक रहा था। चालीस इंची सीने को ताने वे इस इस शान से टहल रहे थे मानों वे ही उस क़िले के स्वामी हों। मुझे देखा तो उनकी बाँछें खिल गईं। "आइए, पधारिए," कहते हुए मुझे अपनी बलिष्ठ भुजाओं में कस लिया। बूढ़ा सचमुच दमदार था। कहते गये : "एक से दो भले, क्यों साहब? अब खूब गुज़रेगी। कहिये, यहाँ कैसा लग रहा है? है न हमारा शहर शानदार? वह देखिए, वह है मेरी हवेली, वह तालाब के पास जो सबसे ऊँचा मकान दिखाई दे रहा है, वही। मेरे पिताश्री ने बनवाया था। और वह जो बग़ल वाली कोठी है, उसमें मेरा छोटा भाई रहता है।"

शर्माजी कहे जा रहे थे, मैंने उस वाग्धारा के प्रवाह में बाँध लगाने की चेष्टा भी नहीं की। उससे कोई लाभ नहीं होता।

"आज सुबह हज़रत तशरीफ़ लाए थे। वह तो कहिये, पुराने रिश्तों का ख़याल कर, दरबार खुद साथ आ गये। वरना वह बन्दर तो मुझे भूखों मारने की फ़िराक में था। एक रुपया रोज़! हुँ....! मज़ाक समझ रखा है साले ने। पर साहब क्या बात कही दरबार ने भी? .... हाथी पाला है तो उसे घोड़े की ख़ूराक़ पर ज़िन्दा रखने की कोशिश मत कीजिए—वाह! मज़ा आ गया। अरे कोई भूल थोड़े जायेंगे दरबार साहब। हम दोनों साथ-साथ खेले-खाए हैं। वे तो खुद देखते थे कि हाथ-ख़र्च के लिए बचपन में मेरी मातुश्री मुझे एक गिन्नी रोज़ देती थीं। ....क्या आपको यक़ीन नहीं होता?"

शायद मेरे चेहरे पर विस्मय की रेखा काफ़ी स्पष्ट थी, या फिर उनकी नज़रें ही तीखी थीं। मैं अचकचा गया। जल्दी-जल्दी बोला, "जी, यक़ीन क्यों नहीं होगा। आप कह रहे हैं, फिर अविश्वास की क्या बात है।"

"अरे भैयाजी, आजकल के लड़कों का क्या भरोसा। उनकी निगाह में तो हम सभी बूढ़े गप्पी होते हैं। पर यक़ीन मानियेगा, मैं रोज़ एक गिन्नी ख़र्च कर डालता था।"

"कैसे?"

"कैसे क्या? दूध-रबड़ी पीता था, अखाड़े के साथियों को पिलाता था। शाम को केसरिया भाँग छनती और रात को ....ह....ह....ह....। (यहाँ उन्होंने आँख मारी) हमारी टोली केसर बाई के कोठे पर जा पहुँचती थी। नाम सुना है आपने, केसर बाई का? कम्बख्त ने क्या सुरीला गला पाया था। और भैयाजी, अब आप तो जवान हैं, आपसे क्या शर्म। बस यह समझिए कि पान खाए तो पीक गले से झाँके। क्यों रामसिंह, याद है कि भूल गया?"

"याद है, अन्नदाता," संतरी रामसिंह ने झेंपे-झेंपे स्वर में जवाब दिया।

इतनी देर बाद मुझे अपनी ओर से कुछ प्रश्न पूछ पाने का मौक़ा मिला—"इस सिपाही को आप पहले से जानते हैं?"

"अजी इस रामसिंह की तो बात ही क्या है, पूरे शहर में है कोई ऐसा जिसे मैं न जानता

होऊँ। और यह रामसिंह, यह तो पहले मेरी ही अर्दली में था। भैयाजी, मैं इस रियासत का कमाण्डर-इन-चीफ़ रह चुका हूँ, कमाण्डर-इन-चीफ़ ! समझे।"

"फिर आप कांग्रेस में ?"

"यही तो मज़ा है। सिपाही आदमी हूँ, सारी जिन्दगी सिपाही रहूँगा। पहले रियासत का सिपाही था, अब गाँधीजी का सिपाही हूँ। इसमें आपको ताज्जुब क्यों हो रहा है ?"

"जी, मैं तो.... समझता था.... कि नौकरी में सिर्फ़.... जी-हुजूर ही जाते हैं।"

शर्माजी ठठाकर हँस पड़े। बोले, "कौन सोच सकता था कि इस रियासत के दीवान का बेटा एक दिन इस क़िले में क़ैदी बनाकर लाया जायगा।"

"दीवान का बेटा ! तो आपके पिताजी दीवान थे ?"

"राजपूताने में पहली बार आये हैं न, इसीलिए यह सवाल कर रहे हैं। जनाब, किसी भी देशी रियासत में जाकर मेरे पिताजी का शुभनाम लेकर देखिए। कौन उन्हें नहीं पहचानता ? हमारे खान्दान में (यहाँ उनका सिर और भी ऊँचा हो गया था) चार पीढ़ी तक इस रियासत की दीवानी रही थी, चार पीढ़ी तक। आज भी दरबार साहब के साथ हमारे खानदानी ताल्लुक़ात हैं। क्या समझे ?"

साँझ ढलती जा रही थी। सूर्य की किरणें वर्षा भीनी हरी-भरी पहाड़ी की चोटियों को छू रही थीं। उस पार पहाड़ी पर कुहकते मोरों की आवाज़ वातावरण को और भी रंगीन बनाये दे रही थी। क़िले के पाँव तले सारा शहर अपनी धुन में मस्त था। शहर के बाहर मैदान में बच्चे खेलते दिखाई दे रहे थे। थोड़ी देर के लिए मैं इस दृश्य में खो गया। दूर लखनऊ में मेरा बच्चा भी इस समय पार्क में खेल रहा होगा। फिर कब देख पाऊँगा उसे ? कभी देख भी पाऊँगा या नहीं ? अगर जापानी फौजें कोहिमा से आगे बढ़ आईं तो, सुना है, सारे राजबन्दी सिन्ध पहुँचा दिये जायेंगे। और उनकी अग्रगति अबाध रही तो ? कौन जाने, भारत से विदा होने के पहले अँग्रेज़ी फौजें, हिटलर की तरह, हम सबको गोली ही मार दें।

"क्या सोच रहे हैं, भैयाजी ?" शर्मा जी, यानी भवानी चाचा ने गोली दागी।

"जी, भवानी चाचा, कुछ नहीं, यों ही ज़रा बच्चों को खेलते देख रहा था।" मैं सकपका गया था। चोरी पकड़ी गई थी।

"अब आप जेल में आये हैं तो यह माया-जाल काट फेंकिए।"

"देखिए आप बुज़ुर्ग हैं। मुझे 'आप-आप' मत कहें। मैं तो आपको भवानी चाचा कहता हूँ। मेरे लिए तो 'तुम' ही काफ़ी होगा।"

भवानी चाचा की आँखें नम हो आइं। उन्होंने मुझे गले से लगा लिया। फिर आवाज़ में अपना समस्त स्नेह उँडेलते हुए बोले, "बेटा सुखी रहो। तुम्हें यहाँ पाकर मुझे अपना बेटा याद नहीं आएगा।" फिर तुरन्त ही मानों अपनी इस क्षणिक कमज़ोरी को दूर करते हुए बोले, "वह अजमेर जेल में है। आज एक सप्ताह पूरा हो गया। ठीक आज ही के दिन गिरफ्तार हुआ था।" इस बार उनकी आवाज़ से वही पुराना आत्म-

गौरव झाँक रहा था।

सुबह से ही उनकी ख़ूराक के विषय में मेरी उत्सुकता बनी हुई थी। साथ ही मैं उन्हें यह भी नहीं बताना चाहता था कि मैंने उनकी और दीवान साहब की बातें सुन ली हैं। इसलिए अनजान-सा बनते हुए मैंने उनसे पूछा, "क्यों भवानी चाचा, बचपन में जब एक गिन्नी ख़र्च कर देते थे तो अब एक रुपए रोज़ में आपका कैसे गुज़र होगा?"

"एक रुपया रोज़! अरे वह अँग्रेज़ का बच्चा मुझे चार रुपए रोज़ देने पर मज़बूर हुआ है। पर कम्बख्त उसमें भी बनियागिरी कर गया। क़ायदे से उसे कम-से-कम पाँच रुपए देने थे। रुपए का चार सेर दूध आता है और मैं रोज़ बीस सेर दूध पीता हूँ।"

"बीस सेर दूध?" मेरी आँखें फटी-की-फटी रह गईं।

"जी, बीस सेर दूध। बात यह है भैयाजी, कि इस बारे में मेरा अपना एक निश्चित सिद्धान्त है। मेरा विश्वास है कि मनुष्य का प्राकृतिक भोजन केवल दूध ही है। देखिए, बालक होने पर भगवान माँ के स्तनों में दूध भरता है, दाल-रोटी नहीं। इसलिए पिछले पच्चीस वर्ष से सिर्फ़ दूध ही पीता हूँ। दूध मेरी ज़िन्दगी है। मुझे तो लगता है कि जिस दिन मैं दूध से गुरेज़ करूँगा, कहीं ज़िन्दगी ही मुझसे गुरेज़ न कर बैठे।"

"पर सिर्फ़ दूध पीकर ही आपका काम चल जाता है?"

"दूध के साथ दो-तीन दर्जन केले या पाँच-छः पपीते खा लेता हूँ। कभी-कभी अनार भी।"

"लेकिन अन्न?"

"घर वाले पीछे ही पड़ जाएँ तो एक पाव घी में एक बटी चर लेता हूँ। पर उससे पेट अक्सर ख़राब हो जाता है।" भवानी चाचा की मुख-मुद्रा उस समय सचमुच बड़ी भोली-भाली लग रही थी।

आसमान की थाली से

भट्ठी पर रखते ही फल्ल से फूल आने वाले फुल्के की तरह, दिन की भट्ठी में सिककर पूर्णिमा का चाँद खिल आया है।

कटोरे में भरे दूध की तरह धरती की प्याली चाँदनी से लबालब भर उठी है।

रोटी पर टूटने वाले भूखे आदमी की

०

दो-तीन दिन बाद जब दीवान साहब का ध्यान जेल-मैनुअल की उस धारा की ओर मैंने आर्कषित किया जिसके अनुसार राजनैतिक बन्दी को केवल जेल का अनुशासन भंग करने पर ही अकेला रखा जा सकता है, तो नियम-परायण अँग्रेज़ ने मुझे और भवानी चाचा को एक ही साथ रखे जाने का निर्देश दे दिया।

और तब मैं जान पाया कि मनुष्य कितना परस्परविरोधी तत्वों का पुतला हो सकता है। भवानी चाचा आनन्दी जीव थे। बड़े बातूनी और बेहद रसिक। अक्सर उनकी रसिकता और अश्लीलता की सीमाएँ अलग कर पाना असंभव हो जाता था। उनकी और मेरी उम्र में प्रायः पैंतीस वर्ष का अन्तर था। इसलिए उनकी ऐसी बातें सुनकर मुझे आँखें नीची कर लेनी पड़ती थीं। लेकिन भवानी चाचा की निगाह में हर विवाहित पुरुष उनका समवयस्क था। ऊँच-नीच के जन्मगत संस्कारों को उन्होंने किस आसानी से भुला दिया था यह बिना देखे

तरह काल-पुरुष ने हाथ बढ़ाकर निवाले-पर-निवाले तोड़ना शुरू कर दिया और चाँद घटता जा रहा है।

छककर भोजन करने के बाद, फेंक दिये जानेवाले दूध के खाली कुल्हड़ की तरह धरती का कटोरा अँधेरे में पड़ा है। और आसमान की थाली से चाँद ग़ायब है।

——रामनारायण उपाध्याय

विश्वास नहीं किया जा सकता था। परन्तु उनके ठहाके कब उग्र क्रोध में बदल जायेंगे यह निश्चित नहीं था। और उनको क्रुद्ध करने के लिए किसी गंभीर कारण की आवश्यकता भी नहीं पड़ती थी। एकाध बार मुझे स्वयं उनके भयंकर रोष का शिकार बनना पड़ा था। सरकारी यातनाएँ मुझे नहीं हिला पातीं थीं, परन्तु भवानी चाचा की दहाड़ से दम सूख जाता था। कैसी-कैसी गालियाँ किस आसानी से वे बक जाते थे, जिन्हें सुनकर अन्दाज़ नहीं लगा पाता था कि यह वही व्यक्ति है, जो साधारणतः 'आप', 'जी', 'फरमाइये', और 'हुकुम' के बिना बात ही नहीं करता।

लेकिन क्रोध उतरा और भवानी चाचा ज्यों-के-त्यों। वही भद्रता, वही मुक्त हास्य, वही दृढ़ता। बात-बात में चुटकुले, और बीच-बीच में अपने अनुभवों का विस्तृत विवरण। भवानी चाचा की निगाह में दो व्यक्ति भगवान थे—एक उनके स्वर्गीय पिताजी (जिन्हें वे सदैव पिताश्री कहते थे), और दूसरे महात्मा गाँधी। इन दो के अतिरिक्त वे अन्य किसी को अपनी श्रद्धा का पात्र ही नहीं मानते थे।

जब वे महात्मा गाँधी से अपनी भेंट का ज़िक्र करते (और इसका ज़िक्र वे अक्सर ही कर बैठते थे) तो उनके नेत्रों में अजीब-सी शरारत भरी चमक आ जाती थी: "महात्मा जी मेरे शहर में आए तो उनकी मेहमान-नवाज़ी करन का सौभाग्य मुझे ही मिला था। खाने बैठे तो गाँधीजी हैरान। मैंने गाँधीजी के लिए उनके सभी प्रिय भोजन—नीम की चटनी, खजूर, बकरी का दूध, और सन्तरे का रस वग़ैरा—जुटाए। अपने सामने मैंने रखा दो सेर रबड़ी मिला पन्द्रह सेर गरमा-गरम दूध। अब गाँधीजी हैं कि कभी मेरी ओर और कभी दूध की ओर देखे जा रहे हैं। थोड़ी देर तो मैं नज़रें झुकाए गिलास भर-भरकर खाली करता रहा। लेकिन जब मैंने देखा कि बापू ने भोजन में क़रीब-क़रीब हाथ ही नहीं लगाया, तो शराफ़त के नाते मुझे पूछना ही पड़ा कि क्या बात है।

बापू बोले—'शर्माजी मैं तो आपके हाथ की सफ़ाई देख रहा हूँ। ज़िन्दगी में तरह-तरह के लोग देखने को मिले हैं, पर आप जैसे दूधारी से पहली ही बार भेंट हुई है।'

भैयाजी, और कोई होता तो खीसें निपोर देता। पर मैंने तो पिताश्री की ठोकरें खाई हैं। मैं कैसे चुप रहता? कह ही तो बैठा कि बापूजी, नीम की चटनी बिना मुँह बनाए खाने वाले व्यक्ति को मैं भी पहले-पहल ही देख रहा हूँ। इस पर साहब, जो ठहाका मारकर बापूजी हँसे हैं कि कुछ न पूछिये। मैंने तो ऐसी निश्छल हँसी पहले कभी सुनी ही नहीं। दूसरे लोग मेरी धृष्टता पर सन्न थे। पर वाह रे बापू! क्या मजाल कि उनके चेहरे पर शिकन भी आई हो।"

इसके बाद किसकी हिम्मत थी जो भवानी चाचा की साफ़गोई की दाद न देता।

क़रीब एक महीने बाद राजपूताने के पोलिटिकल डिपार्टमेंट की बार-बार की जाने वाली माँग से बाध्य होकर दरबार साहब को अनिच्छापूर्वक भवानी चाचा (और साथ में मुझे भी) अजमेर जेल भिजवा देना पड़ा। तबादले की ख़बर सुनकर भवानी चाचा बहुत प्रसन्न हुए क्योंकि उसी जेल में उनका पुत्र भी था।

परन्तु हम अजमेर जेल पहुँचे, उसके तीसरे दिन ही कुछ महारथियों द्वारा भूख-हड़ताल शुरू किये जाने का प्रस्ताव लाया गया। भवानी चाचा और भख हड़ताल! कैसी परस्पर-विरोधी बातें थीं। मेरा यह विश्वास और भी अधिक दृढ़ हो गया जब मैंने देखा कि राजबन्दियों की सभा में इस प्रस्ताव का विरोध करने वालों में सिर्फ़ भवानी चाचा ही थे। उनका कहना था—और अपनी सहज, स्वाभाविक बुलन्द आवाज़ के पूरे ज़ोर के साथ कहना था—कि जो भूख-हड़ताल तीन या अधिक-से-अधिक चार दिन बाद ही तथाकथित 'सम्मानपूर्ण समझौते' के नाम पर तोड़ दी जाने वाली हो, उस भूख-हड़ताल से क्या लाभ? इसके समर्थन में उनका तर्क था कि—'मैं इस जेल में आये हरेक नेता की रग-रग से वाकिफ़ हूँ। इनमें से किसी के लिए चार दिन से ज्यादा भूखा रह पाना संभव ही नहीं है।'

जी चाहा कह उठूं कि कम-से-कम आपके लिए तो नहीं ही है। लेकिन भवानी चाचा के उग्र क्रोध की याद ने यह बात मन-की-मन में ही रहने दी।

'करो या मरो' के मदमाते राजबन्दियों के नक्कारख़ाने में भवानी चाचा की तूती की आवाज़ दब गई। सारी माँगें यदि सात दिनों में स्वीकार न कर ली जायँ तो आठवें दिन से भूख-हड़ताल के अमोघ अस्त्र का प्रयोग किया जाना प्रचंड बहुमत से पास हो गया।

एक-एक कर दिन बीत चले। जेल का वातावरण क्रमशः उत्तेजनापूर्ण हो चला। भोर-सबेरे की जानेवाली सामूहिक प्रार्थना के स्वर और भी ऊँचे हो गए। सारे दिन 'पुराने पापियों' के इर्द-गिर्द आठ-आठ, दस-दस आदमियों के झुण्ड जमा रहते ताकि उनके पहले के अनुभवों के आधार पर अपने-आपको प्रस्तुत किया जा सके। प्राकृतिक चिकित्सा के प्रेमियों ने ऐनिमा लेने और गीली मिट्टी की पट्टियाँ बाँधने की ट्रेनिंग देनी शुरू कर दी। शाम को झंडाभिवादन के बाद वार्ड के राउण्ड लगाते समय और रात को भोजन के पश्चात् ढूले पर लेटे-लेटे बातचीत का अब एक ही विषय रहता था—आने वाली भूख-हड़ताल।

अछूते रहे तो केवल भवानी चाचा, मानों उन्हें इस सबसे कुछ लेना-देना ही न हो। मैंने कभी बात उठाई भी तो बड़ी सफ़ाई से उसे टाल दिया। अप्रिय प्रसंग की चर्चा कर खून जलाने के वे कभी क़ायल थे भी नहीं।

आख़िर भूख-हड़ताल शुरू हो ही गई। ब्राह्म मुहूर्त की प्रार्थना के बाद जीवन-मरण की इस बाज़ी में सफलता प्राप्त करने के लिए भगवान से ख़ास तौर पर आशीर्वाद माँगा गया। प्रान्तपति जी ने हड़ताल के दौरान

अखण्ड चरखा-यज्ञ किये जाने की घोषणा सुनाई। महात्मा गान्धी से शुरू कर प्रान्तपति जी तक समस्त नेताओं की जय के नारे लगे। रणभेरी बज उठी।

वार्ड की सभी बैरकें ख़ाली हो गई थीं। सब राजबन्दी चरखा-यज्ञ में आ बैठे थे। जिन ग़रीब कार्यकर्त्ताओं के पास चरखे नहीं थे उनके लिए 'तिकड़म' से तकलियों का प्रबन्ध कर दिया गया था। मैंने देखा कि सिर्फ़ भवानी चाचा ही ग़ैरहाज़िर थे। मैं दौड़ा-दौड़ा उनकी बैरक में गया। भवानी चाचा अपने ढले पर लेटे हुए थे। मुझे शंका हुई कि आजीवन अनुशासन का दम भरने वाले भवानी चाचा पेट की ख़ातिर विद्रोह तो नहीं कर बैठे।

मैंने पूछा—"क्यों भवानी चाचा, आप यहाँ अकेले क्या कर रहे हैं? चरखा-यज्ञ में शामिल नहीं होंगे?"

उन्होंने मुँह बिचक.कर जवाब दिया, "बूढ़ी विधवाओं जैसे काम करने में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं है। और देखिये, अभी मेरा मूड ठीक नहीं है। जाइये, आप अपना सूत कातिए।"

धीरे-धीरे दिन चढ़ा। सूत-यज्ञ में उपस्थिति घटने लगी। शाम पड़ते-पड़ते अधिकांश ने ढूले सम्हाल लिये थे। पर जोश और उत्साह में कोई कमी नहीं थी। चरखे अब भी चल रहे थे, तकलियाँ बराबर घूम रही थीं।

दूसरे दिन प्रान्तपति जी को उलटियाँ शुरू हुईं, तीसरे दिन उप-सभापति जी को। चौथा दिन उगा न उगा कि प्रान्तीय मन्त्री जी भी वमन कर बैठे। और उसके बाद तो मानों होड़-सी लग गई कि कौन कितनी अधिक उलटियाँ करता है। चरखे प्रायः बन्द हो गए थे, तकलियाँ चल रही थीं, लेकिन उनकी गति मंद हो चली थी।

पाँचवें दिन रविवार था। सुबह जेल में 'ख़ुदा'—सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब—'रौंद' पर आए। साथ में पूरा अमला था। पैराशूटनुमा विराट छाता ताने जेल का सबसे सीनियर कन्विक्ट वार्डर, उसके पीछे डाक्टर, कम्पाउण्डर, जेलर, डिप्टी-जेलर, और क़रीब बीस-पचीस हवलदार-सिपाही सभी थे।
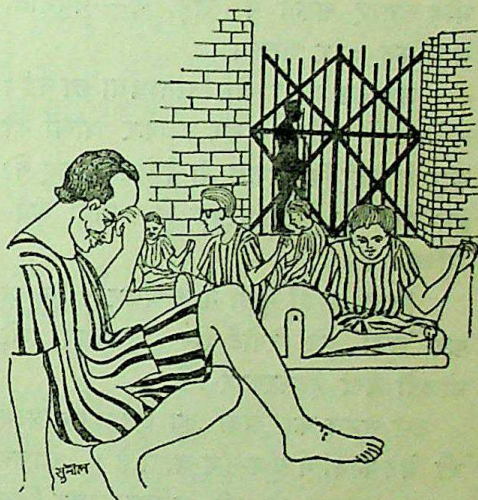
दो बैरकों के बीच के अहाते में प्रायः २०-२५ राजबन्दी बैठे सूत कात रहे थे। 'विकल जी' गा रहे थे: 'ऐ मादरे हिन्द न हो ग़मगीं, दिन अच्छे आने वाले हैं!' सहसा उन लोगों के चारों ओर सिपाही-हवलदार ने घेरा डाल दिया। मैंने देखा कि 'ख़ुदा' बीस क़दम दूर खड़े थे, शहंशाहे हिन्द के अन्दाज़ में। बिच्छू मार्का मूँछों वाले जेलर ने फ़रमान जारी किया—"बन्द करो ये चरखा-तकली। सब अपनी-अपनी बैरकों में चले जाओ!"

एक क्षण के लिए लोगों के चलते हाथ रुक गए। उसी समय विकल जी ने नारा लगाया—'महात्मा गाँधी की....' सूत-यज्ञ के उत्तेजित होताओं ने समवेत् स्वर में उत्तर दिया....जय! और तुरन्त ही शुरू हो गई लाठियों की बरसात। विकल जी लाठियाँ खा रहे थे पर बराबर नारे लगाए जा रहे थे। साथियों का उत्तर क्रमशः धीमा पड़ता जा रहा था। बैरकों के दरवाज़ों और सीख़चों के नज़दीक राजबन्दी भीड़ लगाए सकते में खड़े थे—भयभीत, आशंकित और त्रस्त।

अचानक चारों ओर निस्तब्धता छा गई। मैंने घुटनों के बीच से सर उठाकर आँखों की कोर से देखा कि विकल जी बेहोश हो गए थे। हम सब भी बेहद घायल थे—प्रायः अर्ध-मूर्च्छित।

बिच्छू मार्का मूँछों वाले जेलर ने चिल्ला कर 'ख़ुदा' को रिपोर्ट दी—"हरामियों की बोलती बन्द है सरकार!"

उस समय का 'ख़ुदा' का अट्टहास आज भी मेरे कानों में गूँज-गूँज जाता है। लेकिन उस अट्टहास से भी अधिक प्रखर जिस आवाज़ को मैंने स्पष्ट सुना था, वह था भवानी चाचा का गुरु गम्भीर उद्घोष—'महाऽऽत्मा गाँऽऽधी कीऽऽऽ जऽऽय।"

मैंने देखा कि हाथों में तकली लिये भवानी चाचा समूची ब्रिटिश साम्राज्यशाही को चुनौती देती मुद्रा में सूत-यज्ञस्थल की ओर बढ़े चले आ रहे हैं। यहाँ पहुँचने से पहले ही बिच्छू 'जेलर' और सिपाही उनकी ओर लपके।

सुनाई पड़ा, भवानी चाचा चीख़ रहे थे—"अबे ओ बिच्छू, इन हरामियों की बोलती बन्द करने वाला अभी पैदा नहीं हुआ। अच्छी तरह देख ले, चरखा-यज्ञ जारी है, तकली चल रही है!"

इसके बाद क्या हुआ, मुझे याद नहीं। जब होश आया उस समय संध्या का धुंधलका छा चुका था। सामने जलते बल्ब का मन्द पीला प्रकाश भी बन्दी-सा बना प्रतीत हो रहा था। दवाइयों की गन्ध नाक में गई तो जाना कि जेल की डिसपेंसरी में हूँ। पास ही के बेड पर भवानी चाचा लेटे हुए थे—पट्टियों से जकड़े, निःस्पन्द, बेहोश।

दूसरे दिन सबेरे भवानी चाचा की चेतना वापिस फिरी। थोड़े समय पश्चात् डाक्टर आया। हम सबको देख चुकने के बाद उसने भवानी चाचा की नाड़ी टटोली, स्टैथेस्कोप से दिल की धड़कनें सुनीं और फिर उनसे बोला—"ग़जब का शरीर है आपका शर्माजी। कोई और होता तो कब का ठंडा हो गया होता। किस ग़िज़ा पर पाला है आपने इसे?"

"दूध!" भवानी चाचा ने मुस्कुराकर संक्षिप्त-सा उत्तर दिया।

"अच्छा, तो लीजिए आपके लिए मिल्क-डायट ही प्रेस्क्राइब किये देता हूँ," डाक्टर ने चार्ट भरते हुए कहा। आवाज़ में व्यंग्य साफ़ झाँक रहा था।

भवानी चाचा मौन रहे, डॉक्टर कुछ देर बाद चला गया।

किन्तु वह फिर लौटा—क़रीब एक घंटे बाद ही। इस बार वह अकेला न था। साथ में सिपाही, वार्डर सभी थे। बिच्छू मार्का जेलर भी था। पर आज तो इन सबका रंग ही बदला हुआ था। सभी विनम्रता के अवतार बने हुए थे। बिच्छू तो

मानो अपना डंक कहीं खो आया था।

उनके इस परिवर्तन का भी कारण शीघ्र ही समझ में आ गया। आज वे भूख-हड़ताल तुड़वाने पर आमादा होकर आए थे। इसलिए पहले चिकनी-चुपड़ी बातें हुईं और जब वे व्यर्थ हो गईं, तब बलपूर्वक रबड़ की नली द्वारा हमारे शरीर में दूध पहुँचाने की चेष्टा प्रारम्भ हो गई। शुरूआत भवानी चाचा से की गई।

उनके हाथ-पाँवों को दो-दो मज़बूत सिपाहियों ने जकड़ लिया। मुँह खोलकर नली गले के अन्दर डाल दी। भवानी चाचा ने ज़रा विरोध नहीं किया। मेरा मन वितृष्णा से भर उठा। सोचा, भवानी चाचा शारीरिक मार सह सकते हैं, पेट की नहीं।

डॉक्टर भी उनके इस अप्रत्याशित सहयोग से उत्साहित हो उठा। उसने तुरन्त नली के मुँह पर बीकर लगाकर दूध डालने का इशारा किया। बीकर में दूध पहुँचा भी नहीं था कि भवानी चाचा ने नली को अपने पैने दाँतों से काट डाला। कटी नली मुँह के बाहर झूल उठी। दूध ने बिस्तर गीला कर दिया। असहयोगी भवानी चाचा ने पहली बाज़ी जीत ली। डॉक्टर अप्रतिभ था। हम सब हँस रहे थे।

दूसरी बार सिपाहियों ने उनके जबड़ों के बीच एक डाक्टरी औज़ार फ़िट कर दिया। भवानी चाचा विवश हो गये। दूध बीकर में ढाला जाने लगा।

सहसा ज़ोर से हुंकार कर भवानी चाचा ने शरीर का समूचा बल लगाकर झटका मारा। हाथ-पाँव छूटे तो नहीं परन्तु भवानी चाचा करवट बदलने में सफल अवश्य हो गए। अब उनका रुख़ मेरी ओर था, और मैं उनकी आँखों में दूर तक झाँक रहा था--मौत को चुनौती देती दृढ़ता, हार न स्वीकार करने का निश्चय, अगाध शान्ति और संतोष की झलक--क्या कुछ नहीं देख लिया मैंने उस एक पल में।

पर दूसरे पल पाया कि भवानी चाचा खाँस रहे थे। बुरी तरह खाँस रहे थे, बिना रुके खाँस रहे थे।

डॉक्टर बड़बड़ा रहा था--"कहीं दूध फेफड़ों में न चला गया हो!"

भवानी चाचा खाँसे जा रहे थे। नाक और मुँह से ख़ून आरम्भ हो गया था। पेट की अँतड़ियों ने मानो बग़ावत कर दी थीं।

आज भवानी चाचा ने दूध पीने से गुरेज़ जो किया था।

●

स्टीवेन्सन लिखते समय यही ख़याल करते थे कि वे किसी महिला से बात कर रहे हैं। उनकी मोहक शैली का यही रहस्य है।

भवानी प्रसाद मिश्र
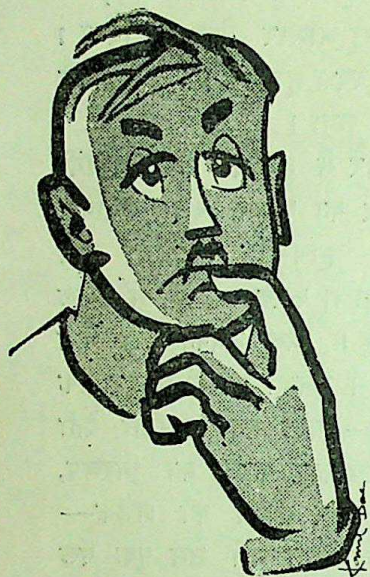
१. समय ने चाट लिया दिल्ली को,
साँप ने काट लिया बिल्ली को,
ख़ुश हैं चूहे दिल में
कि रहना नहीं पड़ेगा उन्हें बिल में।
मगर,
साँप भी तो दुश्मन है
चूहों का,
एक-एक का,
समूहों का!

२. आपने निस्संदेह महान कार्य
कर दिया है
कि शिक्षण अनिवार्य
कर दिया है!
मेहरबानी करके
अब रोटी खाना भी
अनिवार्य कर दीजिये!

३. परदेश जाकर स्वाभिमान हुआ—
फलस्वरूप हिन्दुस्तान
कहीं रूस, कहीं जापान हुआ।
कहीं-कहीं जापानी ढंग की
खेती हो रही है,
यह नहीं कि
आपसेती हो रही है।
अब देश कभी अमेरिका,
कभी चीन होगा,
भारतीय पहले दो कौड़ी का था,
अब आशा कीजिये कि
टके का तीन होगा।

शायद कविताएँ — तीन

एक और सुबह

गंगा प्रसाद विमल

यानी, १९६४ के नये वर्ष की पहली सुबह।

●

मैं अपने आगे से पिछले वर्ष का पर्दा हटा देता हूँ। सुबह हो गई है—और निश्चय ही नए वर्ष की नयी तारीखों का सिलसिला शुरू हो जाएगा। हालाँकि क्रिसमस के बाद ही ख़त्म होती तारीख़ों और बारहवें महीने के चले जाने का अहसास होने लगता है और सूरज की हल्की कमज़ोर किरणें नए जन्म की गवाही देने लगती हैं। क्रिसमस के साथ ही मेरे नगर का आसमान इतना संकुचित हो जाता है कि कभी-कभी बड़े दिन कहे जाने के प्रति, मुझे बड़े दिन से विरक्ति हो जाती है। एक कमज़ोर लड़की की तरह दिन निकलता है और चुपचाप दरवाज़े की पीछे पर्दे की ओट में गुम हो जाता है।

मेरी मेज़ पर बेतरतीब किताबें, पत्रिकाएँ, एलबमों से निकाले हुए चित्र तथा चिट्ठियाँ बिखरी पड़ी हैं, जिनका उत्तर न दे पाना मेरी विवशता थी और अब उन पर खुदे आखर दोस्तों की शक्लों में उभर आते हैं और तारीखें एक वर्ष भर की मुहब्बत के रूप में....पिछले कई सालों से ऐसा होता आ रहा है, नये वर्ष के दिनों के लिए अपने-आपको तैयार कर पाना

मुश्किल होता है, पर एकाएक तारीख़, घंटों और सूरज की किरणों के साथ पिछले सालों का क्रम टूट जाता है। कभी-कभी लगता है, कोई वृद्धि हुई है पर कभी-कभी कुछ टूट-सा जाता है जैसे हम आगे जाते हुए भी बहुत पीछे छूट गए हों। मुझे याद है, पिछले साल नए दिन शुरू होने से पहले मेरे पास जितेन्द्र आया था और हमने खाली टिन बजाते हुए नए वर्ष का स्वागत किया था। इस बार जितेन्द्र यहाँ नहीं है, नये वर्ष के स्वागत के लिए जो उत्साह चाहिए था या जो पिछली बार था वह अब नहीं है। फिर भी जाने कैसा संस्कार है कि इस एब्सट्रेक्ट आगमन के लिए मैं अपनी टूटी हुई एलार्म घड़ी का एलार्म बजाता हूँ.... घड़ी की टनटन कुछ देर रुककर टूट जाती है। मेरे नगर के बड़े होटलों में संगीत-ध्वनियाँ तेज़ हो गई होंगी और सुबह तक नाचने वाले जोड़ों में अजीब उत्साह भर आया होगा। उनका कहना है कि पहले दिन के पहले क्षणों को जोश और ख़ुशी की तीव्रता के साथ बीतना चाहिए.... और उनकी तमाम बातें बाँहों के घेरों में या स्काच के पेगों में नई ख़ुशी और हँसी के साथ गूँज जाती होंगी।.... मैं रात उसी वक्त सो गया था जब एलबम के कई चित्रों की आकृतियों से पिछले सालों के ख़ाके ऊपर आए थे और किन्हीं रेशमी घाटियों में झूलता मैं नींद की मज़बूत बाजुओं में कस गया था।.... सुबह सूरज की कमज़ोर किरणें पूर्वीय कोनों से आ रही हैं .... चूड़ी चाँदनी की बर्फ़-ढकी श्रेणियों से ठण्डी हवा भी किरणों के साथ बह आती है।... बाहर बॉल्कनी पर देर तक ठण्डक और उजास फेंकती हुई कमज़ोर सुबह है और अन्दर गर्माहट की तलाश करते हुए पाँव नीचे गिरे हुए कम्बल को टटोलते हैं.... । बाहर देखता हूँ, शहर की चहल-पहल बिना किसी बात के शुरू हो जाती है, रोज़मर्रा घूमने वाले जोड़े, बूढ़े घरों की अटूटी बातों के क्रम फिर से जोड़ रहे होंगे.... एक अजीब-सी आकृति घिर आती है इस सुबह के साथ-साथ.... पहले, सालों इस तरह की आकृति नहीं घिरी थी; पहले, सालों एक स्पष्टता-सी थी और अब एक अयथार्थ और कई अयथार्थों को मिलकर बनी एक आकृति ....कई अपहचानों से मिलकर बनी एक आकृति.... मुझे लाइब्रेरी म्यूजियम में रखे उस आकार की याद आ जाती है जिसका शीर्षक है 'वर्ष'; जिसकी बत्तीस आँखें और दो कान हैं; जिसका एन्द्रिक बोध आँखों के माध्यम तमाम बोधों से अलग है। मैं सोचता हूँ उसका शीर्षक 'वर्ष' न होकर 'सालों' होना चाहिए था। इन अनेक सालों में, जिसके बनते इतिहास के हम साक्षी हैं; बत्तीस आँखों (प्रतीक) का इतिहास है। इन सालों में जब हम तुलना करते हुए अपने को आगे पाते हैं, जब हम अपनी दुस्तर आकांक्षाओं के प्रति संभावित रूप से आश्वस्त रहते हैं, जब हम अपनी उस पीड़ा को भोगते हैं जो हमारे इतिहास में न आने से उपजती है, जब हम अपने साधारण होने के बोध से पीड़ित होते हैं.... तब, तब मुझे 'वर्ष' का वह आकार 'वर्षों' का प्रतिनिधि लगता है।.... बाहर सड़कों का जीवन हल्के-हल्के आरम्भ हो गया है। थकी हुई सड़कें ओस के पीलेपन से मुक्ति पा रही होंगी, लोग टूटे हुए छोरों पर जमे गीलेपन के साथ कोई संगति जोड़ रहे होंगे, इन सड़कों से बूढ़ा वर्ष गुज़र गया होगा, नए साल की नयी

पदचापों के लिए रास्ता छोड़ गया होगा। मुझे पिछले साल की कविताओं में से दो-तीन कविताओं के कुछ अंश याद हैं, बाक़ी कविताएँ बूढ़े वर्ष की तरह इतिहास के किसी भूत में तिरोहित हो गई हैं। मेज़ पर पड़ी पत्रिकाओं से दोस्त कवि-मित्रों की कविताएँ मैंने रात को पढ़ी थीं, कविता पढ़ने का एक अजब शौक़ बन गया था—बाद में पत्रिकाओं और विशेषांकों और कहानियों के प्रति विरक्ति हो जाती थी—उनमें सिर्फ़ प्रचार था, मुझे पश्चिमी देशों की युद्धकालीन और युद्धोत्तर वर्षों की अनेक प्रमुख रचनाओं की याद आ जाती है। वैसे उन लोगों ने केवल आक्रोश, गालियाँ और प्रचार की बातें छोड़कर युद्ध से प्रभावित आदमी की तटस्थ तस्वीरें खींची हैं। कैसे उन्होंने मनुष्य के युद्धातंक, अकेलेपन और विसंगति की चर्चा की है, किस तरह उन लोगों द्वारा रचा गया साहित्य इतना प्यारा बन पड़ा है। और हमारे यहाँ —भारत की तमाम भाषाओं में भी शायद कोई ऐसी रचना आ पड़ी हो (कोई अनुवाद भी ऐसा नहीं मिला) जो इसलिए महत्व-पूर्ण हो कि वह संकट के एक अंश-युग का प्रतिनि-धित्व करती है। केवल व्यापारी ढंग से हिन्दी का रचना-क्रम अपने थोथेपन को ही व्यक्त करता रहा है....सड़कों पर घूमते हुए लोगों की बहसों में से कोई भी ऐसा अंश पल्ले नहीं पड़ा जिसे पिछले साल की साफ़ याददाश्त के लिए सहेजा जाए.... इसीलिए शायद एक अजीब-सी आकृति पूरे वर्ष की बन रही है जो अर्थ देने में सक्षम नहीं है।....मैं पर्दा हटाकर बाहर देखता हूँ, बाहर सुबह की गंध तैर रही है, नगर की और लोगों की मिली-जुली गंध की तरह एक गंध! शीशे पर धुंध जम जाती है और बाहर के दृश्य तैरने लगते हैं....बाहर बॉल्कनी पर आकर मैं एक ही क्षण में वर्ष के नए दिन को भोग लेना चाहता हूँ.... पर वह इतनी बेरहम है कि टिका नहीं जाता। मुझे बचपन की याद आती है, चाचा जान कहा करते थे कि ब्रह्ममुहूर्त में उठने से विद्या, धन और श्रेय मिलता है, पर उन दिनों स्कूल पहुँचने पर सिर्फ़ फटकार ही मिलती थी; तब से सुबह उठने का आकर्षण ही खत्म हो गया था। केवल उन अवसरों को छोड़कर जब दोस्त लोग कहीं बाहर जाने के लिए 'कार' का हार्न बजाकर या दरवाज़ा खटखटाकर जगा देते थे और, मुझे याद है, अक्सर इन सालों में कोशिशों के बावजूद भी मैं स्टेशन पर देर से पहुँचा हूँ, जब गाड़ी या बस प्लेटफ़ार्म छोड़ चुकी होती है।.... पिछले साल और उससे पिछले साल से इस कमरे में कोई परि-वर्तन नहीं हुआ, कमरा वैसा ही है केवल कुछ किताबें बढ़ गई हैं, उनकी मोटी-पतली ज़िल्दों से झाँकता है उनका अच्छा-बुरा मैटर, जो मुझे इसलिए

> **कवि और भोलापन**
>
> **अनातोले फ्रांस के मत में व्याख्या और विश्लेषण का क्षेत्र कवियों का नहीं है। जबतक उनमें एक सहज भोलापन रहता है, तभी तक उनकी कविता जीवित रहती है और जब वे अपनी कला के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में तर्क करने लगते हैं, उनकी स्थिति पानी से बाहर छटपटाती हुई मछली के समान हो जाती है।**

सोचने को विवश करता है कि अच्छे गेटअप की किताब में ज़रूरी नहीं कि अच्छा ही मैटर हो.... हाँ, पिछली शरद ऋतु में आई वह चिड़िया ज़रूर इस ठंड में कहीं गर्म जगह चली गई है या मर गई है जिसने रोशनदान के एक कोने में घर बना रखा है, जिसके रहने भर से यह महसूस होता रहा है कि मैं अकेला नहीं हूँ, पर पिछले महीने से, जब से वह गुम है, तब से मैं निपट अकेला हूँ। कमरा वैसा ही है, जैसा यात्राओं से लौटने के बाद मुझे लगता है, वैसा ही एक रस और निर्जीव, पर जिसे मैं उसकी निर्जीविता की वजह से ही प्यार करता हूँ। आप सोच नहीं सकते, एक कमरे की मुझसे चार साल पुरानी मुहब्बत है....खानाबदोश आदमी की मुहब्बत की तरह जो आसमान की छत से ही प्यार करता है....। और यादों में पिछले सालों और पिछले साल की खट्टी-मिट्ठी बातें हैं। पिछले वर्ष नए वर्ष के शुरू होते ही हमारे जर्मन दोस्तों ने तेज-तेज़ संगीत-ध्वनियों पर नाचना आरम्भ कर दिया था और हम टिनों को बजाते हुए, दोस्तों को जगाते हुए कमरों में लौट आए थे.... मुझे लौटते हुए अपने शहर के क्लर्कों की याद आई थी, वे अपनी बीवियों की पुरानी गंधों के घेरे में अपने क्षण सार्थक कर रहे होंगे या नई बीवियों की बाँहों अपने को गर्मी दे रहे होंगे, सुबह उठकर वे फिर दफ्तरों की बातें करेंगे, आफ़िसरों को गाली देंगे और लालफीताशाही के ये मालिक अपने वेतनों से क़र्जा चुकाएँगे। ठंडी चिकों के घरों के अन्दर कॉलोनी के मज़दूर....और मिट्टी के घरों में शहर के अन्य कामगर क्या नहीं सोचते होंगे.... जर्मन धुनों पर नाचते हुए वे हमारे दोस्त कमरों में चले गए थे, वहाँ थोड़ी पीकर सुबह उन्हें बर्फ़ीले नगर कसौली की ओर जाना था.... मैं क्रिसमस से पहले ही कसौली हो आया था, मेरे साथ डॉ० मेघ थे और बस में मूंगफलियाँ खाते हुए हमने कल्पना भी नहीं कि थी कि रात को बिस्तर कंधों पर रखकर तीन मील पैदल चलना पड़ेगा....फिर तीन मील बर्फ़ की यात्रा का अनुभव, कहीं रास्ता नहीं था, बस एक चढ़ाई थी जो एक बड़ा रास्ता थी, ऊपर से उतरती हुई ढलान थी जो राज-पथ थी, और हमलोग उस रात अर्द्ध चाँदनी रात में एक परिचित के घर से निकलकर सड़कों पर टहले थे, फिसले और हँसे थे...और अब हमारे जर्मन दोस्त वे ही बातें दुहराने जाएँगे...पिछले साल अजीब-अजीब वाक़यात गुज़रे थे जो अब धुँधले पड़ गए हैं, पिछले सालों की बातें धुँधली हो गई हैं, थोड़ी देर बाद धुँधली सुबह के चित्र धुँधले पड़ जाएँगे....। मैं फिर कविताएँ और साहित्य की ओर मुड़ आता हूँ.... कमरे में किताबें और पत्रिकाएँ हैं जिनसे झाँक-झाँककर पिछली तारीखें बोलती हैं; अनर्गल प्रलाप की तरह रचनाएँ सामने आती हैं, मुझे ऐसे समय में निराला की याद आ जाती है, निराला से मिलने का एक हल्का बिंब मेरे सामने है, निराला से मिलकर आने के बाद मैं फरवरी की उस दोपहर को एलफ्रेड पार्क में ही बैठा घूमता रहा था.... बनारस में सारनाथ के चौड़े घासीले लॉन की याद आती रही थी मुझे, साथ में मिस हैरिस भी थी, मिस हैरिस सारनाथ में मुग्ध भाव से घूमती रही थी और मैं अशोक से बातें करते हुए उससे तटस्थ रहने की लगातार

कोशिशों में रहा हूँ। अमेरिका जाने के बाद, वहीं से मिस हेरिस ने मुझे पूछा था कि तुम इलाहाबाद, हिन्दी के बहुत बड़े कवि से मिल आए थे। और कनाडा से अशोक ने लिखा था कि वह वहाँ 'बोर' हो रहा है, मैं उसे इलाहाबाद की बातें लिखूँ... दोनों दोस्तों की यादों के बीच में 'निराला' है.. मुझे याद है, मैं कैसे घर के अन्दर घुसा था और कैसे आध घंटे बाद बाहर चला आया था, फिर महात्मा गाँधी रोड तक किस तरह कमलाशंकरजी के साथ आया था, बीच में अलोपी बाग़ और रेलवे पुल की बातें मुझे तमाम भूल गई हैं...मैं संगम का वह दृश्य भी भूल गया जब मयंक से झगड़ कर आया था... कई बातें हैं और निराला की कविता है——

"मेरे दुःख का भार झुक रहा
इसीलिए प्रतिचरण रुक रहा
स्पर्श तुम्हारा मिलने पर क्या
महाभार यह झिल न सकेगा...."

एक आदमी की याद की तरह निराला की याद रह जाती है, ऐसा आदमी जो लगातार महाभार झेल-झेलकर महाभार की बातें करता रहता है.....। और फिर 'बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु, पूछेगा सारा गाँव बंधु" ....और अब हिन्दी का गँवार पूछता ही नहीं, नाँव बाँधने वाला तो चला गया.... हिन्दी की एक पीढ़ी चली गई है—नकेन के 'न', रोटी के लिए काग़जों के 'रिम' भरने वाला रांगेय राघव, कमला माँ की गोद का शिशु राहुल मुझे बाबा (नागार्जुन) के शब्द याद आते हैं—कि राहुल जैसे सनाथ व्यक्ति का 'अनाथ' कहकर प्रचार किया गया]—— और... और पिछले साल के कई व्यक्ति, शिवजी इत्यादि .... हिन्दी के लिए चाँद-तारे बटोर लाने वाले इन महारथियों के स्वागत और स्मृति के लिए हमारे हाथों में टूटी और बुझी हुई मोमबत्तियाँ हैं.... पिछले सालों की उपलब्धि के लिए हमारे हाथों में काँपती ज़ंजीरें और काग़ज़ी फूल हैं और देवी-देवताओं की जगह छपी साप्ताहिक पत्रिकाओं में व्यावसायिक चित्र हैं उन लोगों के....और नीचे शीर्षक, उपशीर्षकों के रूप में कविताओं की पक्तियाँ ...विशेषांकों में मगर के 'आँसू' तैर रहे हैं, नज़दीकी दोस्तों की जेबों में 'चेक' भरे पड़े हैं.... किताबें छपी हैं, छप रही हैं, पत्रिकाएँ निकल रही हैं और दिलचस्प बात यह है कि कितनी पत्रिकाएँ बन्द हो गई हैं और कितनी किताबें पढ़ने के क़ाबिल नहीं हैं,.... इतनी कम रेखांकित कविताएँ हैं, चिह्नित पुस्तक-पृष्ठ हैं, कि ख़रीदने का उत्साह टूटता रहता है।.... कालिन विलसन का अजनबी मेरी किताबों को टटोलता रहता है और स्ट्राडमैन का "फेट आफ द मैन" एक हत्या की ख़बर की कहानी की तारीफ़ करता रहता है....। मैं हेरिस के साथ एक बार चर्च गया था, उसने कहा था, तुम इस क्रिसमस के बाद चर्च जाना शुरू कर दो....मैंने कहा था, मुझे मन्दिर-

साहित्य और साँप

साहित्यकारिता अपनी ही पूँछ खाने वाले साँप का-सा धन्धा है। लिखते-लिखते प्रसिद्धि मिलती है, प्रसिद्धि से पैसा, और फिर यह पैसा लेखन को खाना शुरू करता है और फिर स्तर से गिरा हुआ लेखन प्रसिद्धि खा जाता है।

मस्जिदों में आस्था नहीं....और उसने कहा था कि तुम एक बार इन दिनों चर्च जाकर अपनी बची-खुची आस्था भी तोड़ दो....। मैं चर्च नहीं गया, हेरिस को लिख दिया था कि वह न्यूयार्क के किसी बड़े चर्च में खुद ही जाए.... बाद में मैं नहीं जानता, हेरिस क्यों नाराज़ हो गई, शायद मुझमें नये साल के प्रति उत्साह नहीं रहा हो....उसकी सब संभावनाएँ हज़ारों मील समुद्र तैर कर संप्रेषित नहीं होतीं.... डायरी के पृष्ठों में तारीखों के नीचे लम्बी-लम्बी लाइनें हैं क्योंकि वहाँ लिखने के लिए मेरे पास कुछ नहीं रहा था.... कुछ पन्नों में इतना कुछ है कि उसे अब पढ़ने का साहस नहीं होता ।....

मैं डायरी किताबों के नीचे दबा देता हूँ, इस साल फिर कोई दोस्त नयी डायरी दे देगा। कैलेण्डर उलट देता हूँ। किसी ने कहा है: ग़लत लड़की और ग़लत तारीखें देखना मूर्खता है। किसी और ने कहा है: अवसरवादी बनना और जूते खाना बराबर है.... और ये तमाम नीति-वाक्य खोखले पड़ गए हैं, बाहर की कमज़ोर धूप अन्दर तक नहीं आती, आकर किताबें चूम ले, चित्रों को रोशन कर दे....शायद यह उसे पसन्द नहीं, नन्हीं लड़की की तरह इस शर्मीली धूप में कहाँ है इतना साहस कि अन्दर आए.... इसके साथ ही उदास धूप से तैरता आकृति-पुंज आँखों के आगे सप्रश्न खड़ा हो जाता है। इन सालों के वैविध्य से आलिप्त एकान्त की खोज करने वाले पात्र की तरह ....।

दोस्तों की चिट्ठियों पर रेंगती तारीखों को मैं देखना नहीं चाहता, तारीख़ देखना एक अजीब हरकत मुझे लगती है.... । ऐसी ही हरकत कि ऊपर से जून की तीखी धूप हो और हम कनकचम्पा के नीचे बैठकर प्यार की कविताएँ दुहराएँ या विदा होते वर्ष के लिए हम कोई प्यारा नाम रख दें, ...अंजु की तरह या संदीप की तरह प्यारा और शरारती नाम....। वर्ष चला जाता है, उसे जाना चाहिए, हर एक की नियति जाना भी है....पर क्षणों के असंख्य अणुओं में अपने अस्तित्वहीन व्यक्तित्व के लिए....जो डूब गया है.... उसकी स्मृति-संयोजना से निकले अनेकों स्वर-वृत्त अजीब-सी पीड़ा के साथ अन्दर-ही-अन्दर बज उठेंगे.... एक निर्वैयक्तिक टीस की तरह जो कैलेण्डर को पलटने में होती है, एक दुबके हुए आकार को नयी जगह देने में शायद कोई खुशी होती होगी, शायद ही ...कोई विदा-धारणा टीस देती होगी पर मैं सोचता हूँ, अब थोड़ी देर बाद चिट्ठियों पर जो नयी तारीखें और नया वर्ष लिखा जाएगा.... वह क्या होगा, मुझे सचमुच नई तारीख़ और नया साल लिखते हुए कोफ्त होती है....सचमुच एक और सुबह की इस धारणा में कितनी बातें गुम जाती हैं, लोगों को होटल साफ़ करने होंगे, प्यालियाँ धोनी होंगी, बोतलें सहेजनी होंगी, पति-पत्नियों को करवटें बदलने की थकान उतारनी होगी.... और मुझे तारीखें बदलनी होंगी.... ।

●
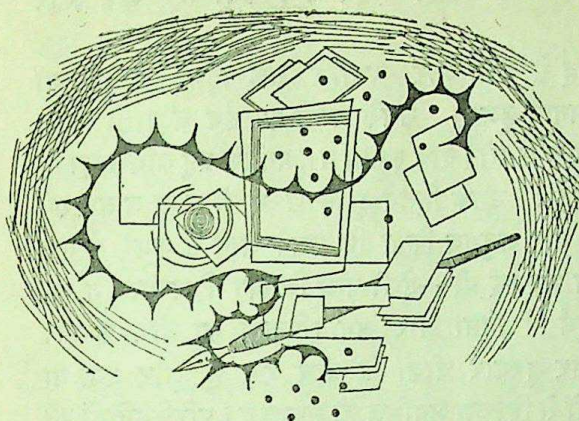
कुँवर नारायण

प्रतीक एवं संकेत आज की कहानी के—नई कहानी के—विशेष तत्व हैं। प्रस्तुत रचना की सम्पूर्ण कथा-वस्तु भी इसी माध्यम से उद्‌भासित होती है।

किसी गन्दे और डरावने कीड़े की तरह वह कमरे में घुस आया और मेरे काग़ज़ों पर जमकर बैठ गया, शायद उन्हें कुतर-कुतर कर खाने की नीयत से। उसे उठाकर बाहर फेंक देने को जी चाहा। लेकिन वह बेहद घिनौना था। सोचा, नौकर से कहकर उसे बाहर फेंकवा दूँ और अगर एक नौकर काफ़ी न हो तो कई नौकरों से। वह शायद मेरा इरादा भाँप गया। लेकिन आश्चर्य कि वह इस पर भी बिल्कुल नहीं डरा। मैं उस कमज़ोर-सी चीज़ को देख रहा था। समझ में नहीं आ रहा था कि उसके इस दुस्साहस का स्रोत क्या है। मेरी नाराज़ मुखमुद्रा से भी उसके उद्दण्ड इतमिनान में कोई फ़र्क नहीं आ रहा था, बल्कि एक बदतमीज़ साहस और भी बढ़ता-सा ही दिखाई दिया। वह मुझे इस तरह देख रहा था जैसे मैं उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता, अगर वह चाहे तो सिर्फ़ अपनी उँगलियों के इशारे से मुझे पल भर में नष्ट कर दे। उस जैसे किसी जानवर के हाथ में मुझ जैसे किसी इन्सान को नष्ट कर देने की ताक़त हो, यह सोचकर ही मन कटुता और निराशा से भर उठा।

अभी तक उसने अपनी शक्ति का कोई प्रदर्शन नहीं किया था, फिर भी उसका अस्तित्व धीरे-धीरे एक अकारण आतंक का रूप लेता जा रहा था। उस कमरे में केवल दो ही प्राणी थे, मैं और वह, लेकिन ऐसा जान पड़ता था कि केवल वह ही जान रहा था कि कौन किसके लिए ज्यादा बड़ा संकट है। मेरी दृष्टि में उसको किसी भी हालत में मुझसे दूर रहना चाहिये, क्योंकि उसके और मेरे बीच सिवाय घृणा के और कोई सम्बन्ध संभव ही न था। उसका मेरे निकट

आ शं का

होना मात्र ही इस बात की चेतावनी थी कि मैं किसी-न-किसी प्रकार के ख़तरे से सावधान हो जाऊँ।

सहसा, वह अपनी जगह से चला और दरवाज़े तक पहुँचा। दरवाज़ा बन्द था। इससे उसे इतमिनान हुआ। उसके चलने का ढंग बड़ा ही अशुभ लगा। उसकी टाँगों में से एक में कोई दोष लगता था, क्योंकि वह तनिक एकंगा होकर चलता था--जैसे केकड़े। उसके हिलने-डुलने से मानो सारा वातावरण हिला-डुला, और मैंने पहली बार अनुभव किया कि उसके आने से कमरे में एक अजीब तरह की सामिष गन्ध भर गई थी--ऐसी गन्ध जिसका मैं अभ्यस्त न था, और जो किसी-न-किसी सन्दर्भ में हिंसा और अमानुषिकता का बोध कराती थी। यह भी कि वह ज्यादातर खूँख्वार चीज़ों के बीच रहा है, और दया या सहानुभूति जैसे मानवीय गुणों से बिल्कुल अनभिज्ञ हो सकता है। परिस्थितियों को सुलझाने का उसका तरीक़ा या तो हमला करना या हमले से बचना जैसी आदिम चेष्टाएँ भर ही होगा। किसी भी परायी चीज़ के प्रति इसकी पहली प्रतिक्रिया वही होगी जो हर जंगली जानवर की होती है--यानी अविश्वास से कान खड़े हो जाना : चौकन्ने होकर उसकी ताक़त का अन्दाज़ लगाना : अगर कमज़ोर मालूम दिया तो बहुत होशियारी से, दबे पाँवों, झपट्टा मारकर उसे समाप्त या अपने क़ाबू में कर लेना, और अगर अपने से अधिक ताक़तवर लगा तो अपनी पूरी ताक़त से भाग खड़े होना।

लौटकर फिर वह काग़ज़ों पर जुट गया। मैंने देखा कि वह सिर्फ़ ऐसे ही काग़ज़ों में रुचि ले रहा था जिन पर कुछ लिखा था--सादे काग़ज़ों में नहीं। इससे लगा कि उसकी नज़र असल में स्याही पर थी, काग़ज़ों पर नहीं। हर अक्षर को चाटकर देखता पर ऐसा लगता था कि ज्यादातर अक्षर उसे पसन्द नहीं आ रहे थे; उनमें उसे अपने मतलब का मसाला नहीं मिल रहा था। मैं बड़े ध्यान से उसकी लाल और क्रूर आँखों को देख रहा था जो काग़ज़ से क़रीब-क़रीब सटी हुई थीं। उन आँखों से यह नहीं लगता था कि उनकी ख़ुराक काग़ज़ या अक्षर होंगे, क्योंकि वह जिस एकाग्रता से लिखावटों को देख रहा था, उससे लिखी हुई चीज़ें नहीं, वध की जाने वाली चीज़ें देखी जाती हैं।

ऐसा नहीं कि उसे अपने मन लायक़ एक भी काग़ज़ न मिला हो। कुछ काग़ज़ों को वह बाक़ी काग़ज़ों से अलग करता जा रहा था--किसी अस्पष्ट इरादे से। हो सकता है कि बहुत पसन्द उसे वे काग़ज़ भी न आये हों; केवल उससे अधिक और कुछ के अभाव में उसने उनसे ही काम चलाने को सोचा हो।

●

अब तक एक बात बिल्कुल स्पष्ट हो गई थी कि वह वास्तव में इतना कमज़ोर था नहीं, जितना दीखता था। डीलडौल में भले ही बहुत बड़ा न हो, लेकिन उसके

पास ऐसी कोई गुप्त ताक़त थी ज़रूर जिसके बल पर वह मेरे सामने इस तरह अकड़ा हुआ बैठा था। मुँह के अन्दर ज़हरीले दाँत या छिपे हुए घातक पंजे, जैसे बिल्लियों के होते हैं। यह भी हो सकता है कि उसे गेंडे या सूअर की तरह अपनी मोटी खाल पर भरोसा हो, या घोंघों की तरह उसके पास कोई मोटा कवच हो जिसे, हमला होने पर, वह तुरत ओढ़ लेगा। लेकिन इस संभावना को मैंने जल्दी ही यह सोचकर रद्द कर दिया कि मेरे पास कोई यह समझकर नहीं आयेगा कि उस पर हमला होगा : ज्यादा संभावना यही है कि वह हमलावर हो। फिर, उसके सारे व्यवहार से यह नहीं लगता था कि वह मुझसे डरा हुआ है, उल्टे उसका सारा रवैया ऐसा था जिससे मुझे डरना चाहिये था।

निःसन्देह वह बराबर इस तरह पेश आर हा था कि मैं उद्विग्न होकर उस पर हमला करूँ, और इस तरह उसे अपनी कोई गुप्त ताक़त दिखाने का मौक़ा दूँ। काग़ज़ों को वह इस लापरवाही से इधर-उधर बिखराता कि असह्य क्रोध से मन जल उठता था। मैं उसके वास्तविक ताक़त का अन्दाज़ लगाने को पूरी कोशिश कर रहा था, क्योंकि अब तक मैं लगभग निश्चित हो चुका था कि उसको अपने से ज्यादा कमज़ोर समझकर मैंने कहीं-न-कहीं घातक ग़लती की है। इस निष्कर्ष का मेरे ऊपर काफ़ी बुरा असर पड़ा क्योंकि मैंने पहली बार अपने को बेहद नर्वस महसूस किया। अब तक मैं यही समझता था कि मैं उसकी तरह की चीज़ों से निरापद हूँ क्योंकि उस तरह की चीज़ों से दूर रहता हूँ, लेकिन अब पाया कि मेरा उनसे दूर रहना कोई मानी नहीं रखता––वे खुद मुझसे दूर रहें तभी मैं सुरक्षित हूँ। मैं अपने को इस तरह घेरकर नहीं बैठ सकता कि मेरे उपायों की सन्धियों से बहुत छोटे-छोटे कीड़े, जो ज़हरीले हो सकते हैं, मुझ तक न आ सकें : न उन्हें इतना मज़बूत ही बना सकता हूँ कि उन्हें बहुत बड़े-बड़े कीड़े मिलकर ढहा न सकें। मैं कितना सुरक्षित हूँ यह मुझ पर उतना नहीं निर्भर करता जितना दूसरों पर, खासकर दूसरों की समझ पर; और अगर कोई, एक इन्सान को इन्सान की हैसियत से न समझना चाहे तो उस इन्सान के दुर्भाग्य की कोई सीमा नहीं।

अन्दर-ही-अन्दर मैं अपने को हर तरह के ख़तरे के लिए तैयार कर रहा था, क्योंकि वह, जिसका मुझे इस समय सामना करना था, मुझमें कोई मानवीय विश्वास नहीं प्रोत्साहित कर रहा था, लगता था मैं ऐसे किसी आधे-जन्तु––आधे-मशीन के सामने हूँ जिससे किसी कल्याण की आशा करना व्यर्थ था।

मैं अपनी जगह से उठने को हुआ, उठा नहीं, शायद यह देखने के लिए कि इससे उस पर क्या असर पड़ता है। वह बिना किसी प्रकार प्रभावित हुए पूर्ववत् अपना काम करता रहा, मानो उसे मेरी सीमाओं का भली-भाँति ज्ञान हो। मेरी उलझन बजाय घटने या हल होने के और भी बढ़ती जा रही थी। इस सारी स्थिति को किसी-न-किसी नतीजे पर पहुँचना आवश्यक था, चाहे वह मेरे

अहित में ही क्यों न साबित हो।

आखिरकार, अपने को पूरी तरह संयत करके मैं उठ खड़ा हुआ। मैंने तय कर लिया था कि दरवाज़ा खोलकर नौकर को बुला लूं पहले, तब बात आगे बढ़ाऊँ। हर तरह से भरसक अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध कर लेना अनिवार्य था। मेरे खड़े होने से भी उस पर कोई परिवर्तन न आया। हो सकता है वह मेरी बचकानी चेष्टाओं पर मन-ही-मन हँस रहा हो। उससे कुछ न बोल कर मैं दरवाजे की ओर बढ़ा। पहली बार उसने गर्दन घुमाकर मेरी ओर सख्ती से देखा मानो कह रहा हो कि चुपचाप अपनी जगह पर बैठ जाओ वरना अच्छा न होगा! और पहली बार मैंने यह दिखाने की कोशिश की कि मुझ पर उसकी घुड़की का कोई असर नहीं होने का। वह चुपचाप मुझे देखता रहा जैसे किसी बेहद नादान और दयनीय चीज़ को देख रहा हो—उसके उछल-फाँद पर बनावटी तरस खा रहा हो। मैं क्षण भर दरवाज़े के सामने रुका कि शायद वह कुछ करे। लेकिन वह उपेक्षा से गरदन घुमाकर फिर काग़ज़ों को देखने, या देखने का बहाना, करने लगा। मैंने झुंझलाकर दरवाज़ा खोल दिया।

दरवाज़ा खोलते ही मैं चौंककर ठिठक गया। जिस बात का मेरे मन में एक छिपा हुआ भय था, सहसा वह साकार हो गया। वह अकेला नहीं आया था। दरवाज़ा बिल्कुल घिरा हुआ था। इशारा पाते ही वे सब-के-सब कमरे के अन्दर रेंग आ सकते थे, और मुझे तथा मेरी चीज़ों को—बल्कि मेरी सारी दुनिया को—रौंदकर रख दे सकते थे। मैं मजबूर था, इतना मजबूर कि भगवान को छोड़ अपने नौकर तक को नहीं पुकार सकता था। मैंने अनुमान लगाया, और मेरा अनुमान सही था, कि जितने मेरे कमरे के दरवाज़े पर हैं उससे कहीं अधिक मेरे घर के चारों ओर हैं, और उससे भी अधिक शहर में, शहर के बाहर, देश में, दुनिया भर में.... मैं उनका पार नहीं पा सकता। उनसे भाग नहीं सकता। वे जब चाहें मिलकर मेरा सफ़ाया कर दें: मेरे मुँह से शायद बस एक हल्की-सी चीख निकलकर रह जायेगी; या हो सकता है, वह भी न निकले। मैं चुपचाप समाप्त हो जाना अधिक पसंद करूँ, किसी पिछड़े युग के संत या वैज्ञानिक की तरह, अपनी बेगुनाह लिखावटों के साथ! ●

स्थानान्तरण : योग्यता के अनुसार

मैनेजर ने एकाउण्ट-क्लर्क मि० राय को बुलाकर घूरते हुए कहा, "देखो, हमारे आफिस में ९८७ व्यक्ति काम करते हैं और इनमें से प्रत्येक व्यक्ति को यह मालूम हो चुका है कि परसों तुम्हारे लड़का पैदा हुआ है, इसलिए मैं तुम्हें आज से एकाउण्ट-विभाग से विज्ञापन-विभाग में स्थानान्तरित करता हूँ।"

रामनारायण उपाध्याय

३० जनवरी के अवसर पर, बापू की पुण्य-स्मृति के प्रति श्रद्धांजलि स्वरूप।

गाँधीजी के पत्र विश्व-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। दुनिया के प्राय: प्रत्येक देश से उनके नाम पत्र आते थे और वे उन सबका जवाब प्राय: अपने हाथों से लिखकर दिया करते थे। उन पत्रों की संख्या इतनी अधिक हुआ करती थी कि एक हाथ से जवाब लिखना मुश्किल होता था। लेकिन गाँधीजी तो सव्यसाची थे न, उन्हें दोनों हाथों से लिखने की कला सधी थी।

कभी-कभी इन पत्रों के पते भी अत्यन्त मनोरंजक हुआ करते थे। एक बार सुदूर विदेश से आये हुए एक पत्र पर बापू का पता लिखा था—'महात्मा गांधी, इंडिया' और वह उन्हें मिल गया था। एक और भाई ने तो बजाय उनका पता लिखने के, पते के स्थान पर गाँधीजी का एक चित्र चिपका दिया था और डाकखाने वालों ने वह पत्र भी सुदूर सेवा-ग्राम की उनकी कुटिया तक पहुँचा दिया था।

गाँधीजी विनोदी भी कम नहीं थे। उनका विभिन्न व्यक्तियों के साथ भिन्न-भिन्न सम्बोधनों के रूप में मधुर विनोद चलता रहता था।

श्री राजगोपालाचार्य को वे लिखते :

"प्रिय सी० आर,
बहुत-बहुत प्यार।"

श्री केलबेंक से उनका मज़ाक चलता :

"प्रिय लोअर हाउस,
अपर हाउस की तरफ़ से खूब प्यार।"
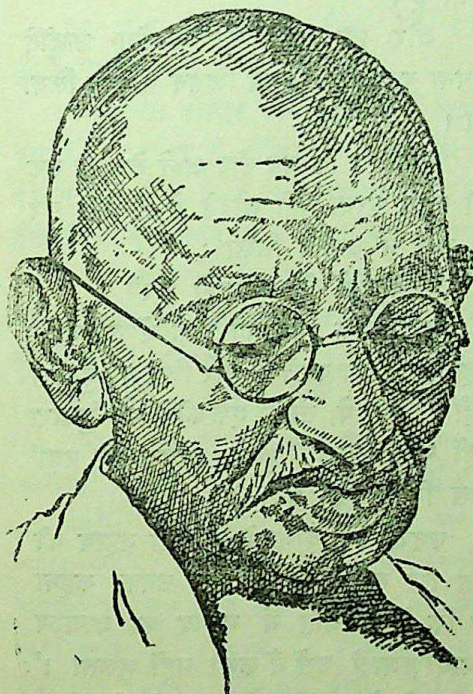
बापू के कुछ विशिष्ट पत्र

जेल में बन्द अपने साथियों को लिखते :

"तुम सबको,

पिंजरे में बन्द पक्षियों को प्यार ।"

इन पत्रों से यह भी पता चलता है कि किस तरह वह अपने व्यस्त जीवन में से भी पत्र लिखने के लिए समय निकाल लिया करते थे।

अपने एक पत्र में उन्होंने सरदार वल्लभ भाई पटेल को लिखा था :

"आप नाराज न हों, यह पत्र आपको २॥ बजे सबेरे लिख रहा हूँ। अलार्म ३ बजे का लगाया था। लेकिन १२ बजे के पहले ही बज गया। और मैं उठ बैठा। दातुन करके लिखने बैठा और थोड़ा लिखने के बाद घड़ी पर निगाह पड़ी तो देखा १२ बजे हैं। काम इतना चढ़ गया है कि सोने की हिम्मत न हुई। इसलिए सोचा, जितना हो सके, कर डालूं। 'हरिजन' का काम लगभग पूरा करके अब आपको पत्र लिख रहा हूँ। फिर बा को लिखूंगा।"

अपने दूसरे पत्र में उन्होंने लिखा :

"इस समय सबेरे के २॥ बजने जा रहे हैं। राष्ट्रीय सप्ताह शुरू होता है। आजकल उठने का यह समय साधारण बन गया है।"

एक और पत्र में लिखा :

"आज रात को एक बजे बिल्कुल ताजा उठ बैठा हूँ। इससे चौंकिये नहीं। नाराज़ न होइए। और चिन्ता में भी न पड़िए। यह तो ईश्वर की महिमा है।"

एक बार अपनी अस्वस्थता के बावजूद भी सरदार पटेल को पत्र लिखते हुए आपने लिखा था :

"आपको पिछला पत्र लिखने के बाद तुरन्त ही हाथ से पत्र लिखना बंद करना पड़ा था। मैंने देखा कि मुझमें जरूरी शक्ति नहीं आई थी, अब शक्ति आ गई है या नहीं, यह आजमाने को जी कर रहा है। यह आजमाइश तो आपको पत्र लिखकर ही की जा सकती है न ?"

मीरा बहन को एक पत्र में लिखा :

"यह पत्र ऐसे समय में लिखा जा रहा है जब एक हाथ में तरकारी और दूसरे में क़लम है। डाक का समय निकट है। इसलिए तुम्हें केवल प्रेम ही भेज सकता हूँ।"

एक दूसरे पत्र में लिखा :

"जब तक तरकारी काटने के लिए तैयारी की जा रही है, तब तक थोड़ा-सा वक्त है।"

और इस वक्त का उपयोग उन्होंने अपना वह नन्हा-सा पत्र लिखने में कर लिया था।

यहाँ तक कि वह नींद आने के क्षण तक भी काम करना नहीं छोड़ते थे। एक पत्र के अन्त में उन्होंने लिखा :

"अब मुझे नींद आ रही है।"

वह प्रत्येक पत्र को डाक में डालने से पहले पढ़ लिया करते थे और जिसे वह दुबारा नहीं पढ़ पाते थे, उसके एक कोने पर 'दुबारा नहीं पढ़ा' अथवा 'दुबारा अधूरा ही पढ़ा' लिख दिया करते थे।

उनकी पैनी दृष्टि से एक भी महत्व की बात छूट नहीं पाती थी। उनका कहना था कि 'जिस बात में मनुष्य का कल्याण समाया हुआ है उसे मैं कभी नहीं भूलता।'

कभी वे अपनी पुत्र-वधू को लिखते :

"बापू के कान में डाले जाने वाले तेल की बूंदों में लहसन की कली को अवश्य कड़कड़ा लेना। उससे शीघ्र लाभ होता है।"

कभी सरदार पटेल को लिखते :

"आप शरीर पर खूब अत्याचार कर रहे हैं। परन्तु सरदार से कोई कुछ कह या करा सकता है? स्वास्थ्य बिगाड़ लेंगे तो बहुत सुनना पड़ेगा।"

कभी लिखते :

"आपका वजन कितना रहता है? क्या खाते हैं? दूध-दही कितना लेते हैं? कुछ भेजूं? माँगे बिना तो माँ भी नहीं परोसती। और वह भी मेरे जैसी माँ। फिर पूछना ही क्या? अब सुबह की प्रार्थना में जाने का वक्त हो गया है। इसलिए बस।"

एक बार जब सरदार बीमार पड़े तो मीठी चुटकी लेते हुए लिखा :

"आप तो बीमार पड़ने वाले थे। आप दूसरों के सरदार हैं, लेकिन अपने तो दास ही मालूम होते हैं। सच्चे सरदार तो वे होते हैं जो खुद अपने पर सरदारी भोगें। आप समय पर काबू रखें और सब बातों के नियम बना लें तो बहुत जियेंगे। कठौती कूंडे पर हँसती है, यूँ समझकर यह बात उड़ा न दें।"

एक और पत्र में लिखा :

"दवाओं के बल पर कहाँ तक टिकेंगे? कौन-सा राज्य लेना है? धीरे चलिये।"

कठौती लकड़ी की होती है और कूंडा पत्थर का। यहाँ बापू ने अपने-आपको 'कठौती' कहकर स्वयं अपनी अवस्था पर भी व्यंग किया है। साथ ही स्वराज्य के सेनानियों द्वारा 'कौन-सा राज्य लेना है' का मधुर विनोद भी कितना सुन्दर बन पड़ा है।

सत्य के निकट होने के कारण उनकी भाषा इतनी सजीव होती थी कि उसमें साहित्यिक सुन्दरता के सहज ही दर्शन किये जा सकते हैं।

देखिये पाले से बरबाद एक खेत का वर्णन करते हुए लिखते हैं :

"मुझे तो सारा खेत रोता-सा नजर आता है।"

गाड़ी व चरखे के बारे में लिखा है :

"उसके हर एक भाग से मेरी राय में ग़रीबों के लिए चिन्ता ज़ाहिर होती है।"

जेल में रहते जब मीरा बहन ने उनके स्वास्थ्य-समाचार जानने के प्रति चिन्ता व्यक्त की तो उन्हें लिखा :

"अगर मैं सचमुच बीमार हुआ तो दीवारें बोल उठेंगी।"

कैसी काव्यमयी भाषा है। उनके पत्र मधुर विनोद से भी खाली नहीं होते थे। एक बार अपने स्वास्थ्य के बारे में लिखा :

"मेरी सर्दी की बात निकम्मी समझो, थोड़ी थी। लेकिन मैं 'महात्मा' हूँ न?"

अपने यहाँ नाती-जन्म की बात सुनकर सरदार को लिखा :

"मणिलाल की सुशीला के लड़का हुआ है। मणिलाल ने आज तक खबर ही नहीं दी। इस वंश-वृद्धि में मेरी तो दिलचस्पी ही नहीं रही। अगर कुछ है तो आंतरिक उद्वेग। फिर भी यह कहने से कि कुदरत को कौन रोक सकता है या यूरोप की पद्धति (संतति-नियमन की) ग्रहण करके, 'चारु-लोचने! चलो आनन्द मनायें और उसका परिणाम रोकें!' की वृत्ति अपनाने से शुद्ध ज्ञान मिल ही नहीं सकता।"

एक और पत्र में लिखा है :

"मैं आनन्द में हूँ। मेरी आपकी, सबकी

डोर 'मीरा के बालम' के हाथ में है। वह जैसे खींचेगा, वैसे वैसे हम खिचेंगे।"

एक और सूत्र-वाक्य लीजिये :

"मुझे तो चिन्ता न करने की फुरसत नहीं मिलती। इसलिए चिन्ता न करने की सलाह देने की जरूरत नहीं रह जाती।"

एक बार एक छोटे-से पत्र में उन्होंने सिर्फ़ इतना ही लिखा था :

"हम सब अच्छे हैं और तुम दोनों के लिए गाड़ी-भर प्रेम भेजते हैं।"

एक पत्र में मेंढक और बन्दर की मनोरंजक तुलना करते हुए लिखा :

"पता नहीं क्यों मुझे मेंढक निस्सहाय जीव प्रतीत होते हैं। वे न दौड़ सकते हैं न उड़ सकते हैं। उधर बन्दर पर मुझे कभी दया नहीं आती। वह बड़ा सूझ-बूझ वाला और शैतान प्राणी है और उसे छकाने में हमें मजा आता है। उसमें 'कृतज्ञता' जैसी चीज ही नहीं है।"

एक पत्र में शरीर-रूपी 'गधे-भाई' के बारे में लिखा है :

"संत फ्रांसिस अपने शरीर को 'गधा' कहते थे। फिर भी उसकी कुछ सँभाल रखते थे और आखिर तो गधा बहुत ही उपयोग और धीरजवाला जानवर है। यह 'गधा-भाई' अगर ठीक ढंग से रखा जाये, न उसका लाड़-प्यार किया जाये और न लापरवाही की जाये, तो उतना ही उपयोगी हो सकता है।"

अंत में नारायणदास भाई को लिखे एक पत्र में सब कार्य करने वालों को आशीर्वाद देते हुए उन्होंने लिखा था :

"जो भी आज अपने कार्य में ईमानदारी से संलग्न हैं, मेरा आशीर्वाद अंजुलियाँ भर-भरकर उन सबके साथ है।" ●

यही क्या कम है !

किसी धार्मिक आचार्य ने एक राजनीतिज्ञ को परामर्श दिया कि वह बरसते पानी में खड़ा होकर आकाश की ओर देखे। इससे उसे अपने-आपमें एक परिवर्तन-सा अनुभव होगा और बुद्धि भी तीक्ष्ण हो जायगी।

दूसरी बार जब राजनीतिज्ञ की उन आचार्य महोदय से भेंट हुई तो राजनीतिज्ञ ने उलाहना दिया :

"आपके कथनानुसार मैं पानी में भींगता रहा, आकाश की ओर मुँह भी किए था किन्तु मुझे तो कुछ भी परिवर्तन महसूस नहीं हुआ। बड़ी देर तक वैसे ही खड़ा रहने पर ऐसा लगा कि मैं मूर्ख हूँ जो इस तरह खड़ा-खड़ा आकाश की ओर देख रहा हूँ।"

आचार्य महोदय ने संतुष्टि का भाव दर्शाते हुए कहा : "खैर, पहली कोशिश में ही आप इतना कुछ अनुभव कर पाये, यही क्या कम है !"
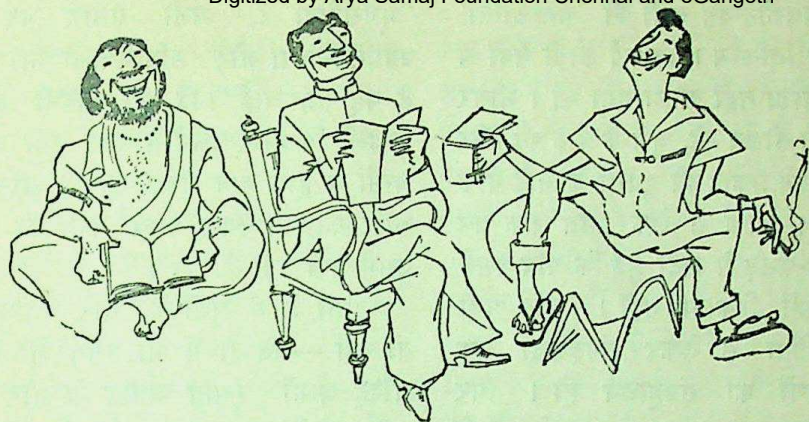
नानक सिंह

●

पंजाबी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार नानक सिंह की क़लम से प्रसूत यह व्यंग्य-कथा हमारे जीवन के कई पहलुओं की बखिया उधेड़ती है।

●

इसे संयोग की बात कहूँ चाहे दुर्भाग्य की कि एक तो हमारा घर ही चूहे के बिल सरीखा तंग, दूसरा भगवान् की कृपा अथवा प्रकोप से विस्तृत परिवार, तिस पर जब मेहमानों का एक अच्छा-ख़ासा दल नाज़िल हुआ तो हम दम्पति के हाथ-पाँव ठंडे पड़ने लगे। अमृतसर में वैशाखी का मेला था उन दिनों।

ख़ैर, पाहुनों के जल-पान, और फिर खान-पान का काम तो किसी-न-किसी प्रकार निपटा, पर जब उन्हें सुलाने की समस्या उपस्थित हुई तो दिन में तारे दिखने लगे हम दोनों को। यदि आसमान साफ़ रहता तो कुछ खाट-खटोले आँगन में ही डाल देते, पर इन्द्रदेवता तो जो एक बार बरसे तो बरसते ही चले गये !

तभी श्रीमती को एक ढंग सूझ आया। बोलीं, "न हो तो मैं बच्चों को लेकर पड़ोसिन के यहाँ जा टिकती हूँ और तुम वह बग़ल वाली कोठरी खोलकर उसमें पड़ जाना।" और मेरी सम्मति पाकर वे अपने नवजात शिशु को वक्ष से लगाए, मुन्नी को अँगुली थमाए और दोनों मुन्नों को आगे-आगे हाँकते हुए घर से निकल खड़ी हुईं।

कोठरी ? वस्तुतः उसे या तो मिस्र का कोई प्राचीन तहख़ाना कहना

भृगुसंहिता में कुकुरमुतवा का महत्त्व

चाहिए या देवकीनन्दन खत्री की 'चन्द्रकान्ता' में का कोई तिलिस्म। गत कई कोड़ी वर्षों से उसका दरवाज़ा नहीं खोला गया था। भीतर जो घुसा तो सीलन की, चूहे के बीठ की और न जाने कितने प्रकार की दुर्गन्ध के मारे नाक फटने लगी। फ़र्श से लेकर छत तक सब जगह अलड़-फलड़ से अटी हुई कि पाँव रखने भर का कहीं ठिकाना नहीं। जान पड़ा जैसे मेरे पिता से लेकर नगड़दादा तक के संस्मरणों का संग्रहालय हो। पर मरता क्या न करता। लालटेन की सहायता से चीज़ें उठा-उठाकर इधर-से-उधर पटकने लगा। तभी एक विशालकाय सन्दूक़ दृष्टिगोचर हुआ, जो कुम्भकर्ण की तरह न जाने कितनी मुद्दत से समूची कोठरी को अपना शयनागार बनाए फैला पड़ा था, और जिसमें मनों कबाड़खाना ठुँसा पड़ा था। उसे हिलाने-डुलाने की क्षमता मुझ जैसे मजनूँ की माँ के इकलौते में भला कहाँ! कम्बख्त ढकना ही यदि साबित होता तो उसी पर बिस्तर लगा लेता। अतः उसे हल्का करने के अभि-प्राय से बीच में की चीज़ें निकालनी आरम्भ कर दीं।

इसी क्रिया के अन्तर्गत काग़ज़ों का एक ढेर-सा देखने को मिला—कोई हस्तलिखित ग्रंथ था यह। लालटेन के मन्द प्रकाश को और आँखों के समस्त बल को एकत्र करने पर बड़ी कठिनाई से उसका शीर्षक पढ़ पाने में सफलता मिली—'भृगुसंहिता'। इसके साथ ही मस्तिष्क में एक पुरानी याद उभर आई—बचपन के ज़माने की। बड़का बापू कभी-कभार इसी नाम के ग्रन्थ का बखान करते हुए अक्सर कहा करते थे—"भृगुसंहिता? अजी संसार भर ... ज्योतिष-विद्या और भविष्यवाणी का भंडा... है वह तो, चाहे कोई भी आदमी अप... कुण्डली मिलाकर उसमें से सात दूनी चौद... जन्मों का हाल जान सकता है.... सृष्टि ... आदि काल से लेकर प्रलय तक की बा... उसमें भरी पड़ी हैं.... ।"

ऐसा? मैं ख़ुशी के मारे उछल ... तो पड़ा—तब तो मैं भी इसमें से अ... चौदह जन्मों (सात अतीत के और स... भविष्य के) का हाल जान पाऊँगा।

फिर क्या था। नींद और थका... उड़न्त। और अपने राम संदूक़ में घुस... बैठ गए—उस अढ़ाई तीन-मन के गट्ठर ... अध्ययन करने। बाँचते-बाँचते अचानक ... याद आया कि मेरी तो जनम-पत्री ही न... है, फिर कुण्डली क्या मिलाऊँगा? जनम-प... न बनने का कारण मेरे पिता... ने एक बार बताया था कि जिस दिन मे... जन्म हुआ उसी दिन हमारे गाँव के ओझा... की माँ परलोक सिधार गईं, जिससे ... बेचारों को इस काम के लिए अवकाश ही ... मिल पाया।

सोचा, पुस्तक में की दूसरी भी ... बीसियों महत्ताओं का बड़का बापू ... किया करते थे। और उन्हीं महत्ता... को पकड़ने के विचार से मैं पृष्ठ-पर-पृ... उलटता चला गया। कुछ बातें समझ में ... रही थीं; कुछ नहीं भी। अंततः एक शी... पर मेरी आँखें जमकर रह गईं। शीर्षक ... 'अथ कुकुरमुतवा प्रसंग वर्णन'।

कुकुरमुतवा?—मैं सोचने लगा ... क्या वही, जिसे पंजाबी में 'पद ब... कहते हैं? इस महत्वपूर्ण ग्रंथ में ...

णित चीज का क्या काम ? जिज्ञासा ो बढ़ी तो इस प्रसंग को आदि से अंत तक ढ़ डाला। अतः उसी प्रसंग के कुछेक कड़े यहाँ प्रस्तुत करूँगा :

"....और ईसा की बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब संसारी जीव अपने पापों, दुराचारों की चरम सीमा तक जा पहुँचेंगे, कैलाश पर्वत पर समाधि-स्थित भगवान शंकर का आसन डगमगाने लगेगा और उसी डगमगाहट से कैलाशनाथ का तीसरा नेत्र खुल जाएगा, जिसके साथ ही उनके चरणों में स्पन्दन होने लगेगा, जिसकी गति बढ़ते-बढ़ते तांडव तक जा पहुँचेगी। (तांडव का अर्थ है : महाप्रलय की तैयारी)...."

पढ़ते-पढ़ते मुझे भय-सा होने लगा, कहीं इस संदूकचे में बैठे-बैठे ही प्रलय की लपेट में न आ जाऊँ। पर 'कुकुरमुतवा' के बारे में जिज्ञासा कुछ ऐसी सिर पर सवार थी कि पृष्ठों से ध्यान तनिक भी नहीं उचटा। उससे आगे का पैराग्राफ़ था :

"....इधर तांडव की प्रक्रिया में महादेव के चरण गतिमान होंगे, उधर सृष्टि के निर्माता 'ब्रह्मा' को सट्टा-पट्टा भूल जाएगा और वे नंगे पाँव कैलाश पर्वत की ओर उठ भागेंगे। फिर उन दोनों में इस प्रकार का वार्तालाप, अथवा वाद-विवाद चलने लगेगा :

'आर्य ! यह आप क्या अनर्थ करने लगे गंगाधारी ? जिस सृष्टि को मैंने करोड़ों वर्षों के निरन्तर परिश्रम द्वारा सिरजा है उसे मिटाकर मेरे किए-कराए पर पानी फेरने को उतारू हो गए ? क्षमा ! सदाशिव, शान्त होइए। दया कीजिए इस ब्राह्मण की हालत पर।'

'कौन, ब्रह्मा ? तो भई, इसमें मेरा क्या दोष ? परम्परा से यही तो होता चला आ रहा है कि तीन युगों के बाद जब-जब भी कलियुग के प्रभाव से संसार में ऐसा होने लगता है तब-तब मुझे ऐसे संसार का उन्मूलन करना पड़ता है।'

'पर गौर-पति, वह तो कलियग की समाप्ति पर ही होता है न ! और आप जानते हैं कि अभी तो वह बेचारा इतना छोटा है कि मश्किल से घुटनों के बल घिसटना ही सीख पाया है। यदि अधिक नहीं तो उसे जवान तो हो लेने दीजिए, नीलकंठ ! नारायण !'

'नहीं सृष्टिकर्ता ! अब मुझसे और नहीं सहा जाता। बहुत हो चुका। तेरे निर्मित इन संसारियों की दुष्टता को देखते-देखते मेरा नाकों दम आ गया है।'

'तो एक प्रार्थना है नन्दी-अवरोही, पहले भी तो ऐसा होता रहा है कि जब-जब संसार में घोर पाप होने लगते थे तब-तब मैं उसके सुधार के लिए किसी अवतार-पैग़म्बर को सिरज कर वहाँ भेज दिया करता था। अतः इस बार भी मुझे ऐसा ही करने का अवसर दीजिए।'

'तुम बड़े ही सीधे हो चतुरानन ! बारह वर्ष दिल्ली में रहकर भाड़ ही झोंकते रहे। अरे भाई, यह बीसवीं शताब्दी है—बीसवीं ! जिसे मशीनी-युग की संज्ञा दी जाती है। अब संसार के लोग इतने भोले-भाले नहीं रहे हैं जो तेरे एकाध अवतार भेजने से सुधर जाएँगे।'

'तो फिर आप ही कोई ढंग बताइये महेश, जिससे संसार भी सुधर जाए और मेरा पुरुषार्थ भी नष्ट न होने पाए।'

'मेरी राय पूछते हो तो यही कहूँगा कि

इस मशीनी-युग के मशीनी मनुष्यों को सद्मार्ग पर लाने के लिए तुम्हें अवतार नहीं, बल्कि अवतार-मेकिंग मशीन वहाँ भेजनी होगी। समझे ?'

'समझा त्रिलोचन ! तो इसके लिए यदि आप आज्ञा दें तो मैं एक ऐसी अवतार-मेकिंग मशीन तैयार करूँ जिस पर हींग लगे न फिटकिरी, रंग चोखा आवे ।'

'क्या मतलब ?'

'मतलब यह त्रिलोकीनाथ, कि आपके आशीर्वाद से मैं एक प्रकार की वनस्पति तैयार करूँगा, जिसका नाम होगा—कुकुरमुतवा ।'

'भृगुसंहिता में का उपर्युक्त लम्बा वार्तालाप पढ़ते-पढ़ते मैं कुछ ऊबने लगा था । पर जैसे ही उस जिज्ञासावर्धक चीज़ का नाम आया कि फिर से मैं चौकन्ना हो गया ।

इसके आगे के प्रसंग में ब्रह्मा द्वारा कुकुरमुतवा के गुणों का बखान इस प्रकार किया गया था :

"....देवाधिदेव, उस वनस्पति की सबसे बड़ी विलक्षणता यह होगी कि उसका पौधा बिना बीज के पैदा हुआ करेगा, उसे खाने वाले व्यक्ति के मन-बुद्धि के सारे कपाट खुल जाएँगे, और उसे 'अगमय-निगमय' का ज्ञान प्राप्त होगा । उसकी अन्तरात्मा में अगणित दैवी शक्तियाँ प्रवेश कर जाएँगी । फलतः हज़ारों-लाखों लोग उसके पद-चिह्नों पर चलने लगेंगे। कुकुरमुतवा खाने वाले व्यक्ति में और गुणों के अतिरिक्त एक अच्छे मेसम्राइज़र के गुण भी विद्यमान होंगे। वह यदि चाहेगा तो एक ही दृष्टिपात द्वारा किसी जल-प्रपात को रक्त-स्रोत में , किसी धर्म-स्थान को रणभूमि में , किसी असेंबली-हॉल को हवन-मण्डप में , और किसी लता-कुं[ज] दावानल में बदल देगा ।

"और, हाँ, कुकुरमुतवा के सबसे [बड़े] महत्व को बताना तो मैं भूल ही गया, [हे] भोले! वह कई भिन्न-भिन्न रंगों से रं[गा] होगा, और उसके सभी रंग अपना अ[लग]-अलग असर दिखाएँगे। मिसाल [के] तौर पर, लाल रंग का कुकुरमुतवा खाने [वाले] मनुष्य के मन-मस्तिष्क पर साम्यवाद [की] भावनाएँ उभरने लगेंगी, हरे रंग वा[ला] कुकुरमुतवा इस्लामी आंदोलनों का प्र[वर्तक] होगा, नील वर्णधारी का प्रयोग[कर्ता] पंजाबी सूबा इत्यादि का समर्थक और गे[रुए] रंग वाला साम्प्रदायिक दंगों का जनक [सिद्ध] होगा । .... ।"

वस्तुतः कुकुरमुतवा के गुणों का [ऐसा] बखान इतना विस्तृत और इतना रुचि[कर] था कि उसे पढ़ते-पढ़ते मैंने रात से स[वेरा] कर डाला, उसके अन्त में लिखा था :

"और इस वाद-विवाद के बाद कैलाशप[ति] ब्रह्मा की विनती को स्वीकार करके प्रल[य] का रिहर्सल बन्द कर देंगे ।"

सूर्य की पिछली किरण जब कोठरी [में] पड़ी तो मैंने 'भृगुसंहिता' नामक उस मह[ान] ग्रन्थ को नमस्कार किया, और साथ [ही] उसमें वर्णित सब पापनाशक-सर्वगुणसम्प[न्न] कुकुरमुतवा को भी प्रणाम किया। मन [में] एक लालसा अँगड़ाइयाँ लेने लगी—काश [कि] मुझे भी कहीं से एकाध कुकुरमुतवा की प्रा[प्ति] हो जाती, जिसके प्रयोग से मैं भी मानव[ता] की कुछ सेवा कर पाता । पर सुनता हूँ [कि] इधर कुछ समय से हमारे देश की सरकार [ने] कुकुरमुतवा के उत्पादन पर कड़ी रोक ल[गा] रखी है, यह कहकर कि इसकी बहुतायत [से]

देश में कलियुगी अवतारों (जिन्हें अंग्रेज़ी में 'लीडर' कहते हैं) की बाढ़-सी आ गई है और उन लोगों के उपदेश सुनने वालों की गिनती दिन-प्रतिदिन घट रही है।

चाहे कुछ भी सोचकर सरकार ने ऐसा किया हो, पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि कुकुरमुतवा की लीला अपरम्पार है और उसे नौ सौ निन्यानबे बार मेरा नमस्कार है।

●

नयी पीढ़ी के विशिष्ट कवि दुष्यन्त कुमार की एक भावभूमि पर आधारित कुछ निजी अप्रकाशित कविताएँ—टिप्पणी सहित।

प्रस्तुतकर्ता :
धनंजय वर्मा

आज ज्ञानोदय के पाठकों के सामने मैं दुष्यंत की कुछ ऐसी निजी कविताएँ रख रहा हूँ जैसी प्रायः पत्र-पत्रिकाओं में नहीं छपतीं। इन कविताओं को प्राप्त करने अथवा कवि को प्रकाशन के लिए सहमत करने में मुझे कुछ श्रम करना पड़ा है। यह श्रम मैंने इसलिए नहीं किया, कि ये हिन्दी कविता की कोई अन्यतम उपलब्धियाँ हैं बल्कि इसलिए कि शायद कवि दुष्यन्त को इस प्रकार निरावृत्त देखकर और कवि भी अपनी ऐसी निजी कविताओं को प्रकाशित कराने का नैतिक साहस एकत्र कर पाएँगे।

वैसे कविता अपने-आपमें निजी ही होती है। उसके लिए दुष्यन्त या किसी अन्य कवि का संकोच कोई अर्थ नहीं रखता। निश्छल निजत्व अपने-आपमें सार्वजनीनता भी है। उदाहरण के लिए : इन कविताओं को पढ़ते समय पाठकों को लगेगा—शायद उन पाठकों को अधिक, जिनकी प्रेमिकाओं का विवाह उनके देखते-देखते हो गया हो, सामाजिक शिष्टाचार और मर्यादा के निर्वहण के लिए वे उस विवाह में अपनी विवशता को गुदगुदाकर हँसते-मुस्कराते शरीक

हुए हों और बाद में कुछ दिनों के लिए एक अजीब-सी शून्यरिक्त मनःस्थिति से ऊबकर किसी पहाड़ पर या इधर-उधर भटकने के लिए चले गए हों—कि वे कविताएँ दुष्यंत की ही नहीं उनकी भी व्यक्तिगत डायरी के अंश हैं।

मैंने इन कविताओं को निजी अनुभूतियों का एक काव्य-नैरन्तर्य कहा है और दरअसल अनुभूति तो एक ही है—प्रेम की —लेकिन विभिन्न क्षणों में है। हाँ, इन क्षणों में एक क्रम, एक नैरन्तर्य अवश्य है और इसी दृष्टि से इन कविताओं को चुना है। इनके शीर्षक पाठक स्वयं दे सकते हैं, मुझे इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना। मुझे तो केवल यह कहना है कि अपनी निजतम अनुभूतियों को—चाहे वे प्रेम की हों या किसी अन्य क्षेत्र की—ईमानदारी से बेलाग अभिव्यक्ति हम क्यों नहीं दे पाते ? क्यों आधुनिकता, युग-बोध और समाज-बोध आदि के मूल्यों को ओढ़कर हम उनकी तीव्रता और सचाई और ताप, मंदा कर देते हैं ? जब कि सबसे अधिक सचाई वैयक्तितता के इसी निजीपन में होती है। क्या कविता केवल युग के प्रतिनिधित्व में ही निवास करती है ? इससे अलग क्या वह और कुछ भी नहीं है ? क्या यह नहीं हो सकता कि व्यक्ति के किसी जीवन की तीव्रतम-आंतरिक-गहन अनुभूतियों को काव्य में उसी तीव्रता से पाया जाय ? और दुष्यन्त की ये कविताएँ इसी अर्थ में कविताएँ हैं कि उनमें वैयक्तिक आंतरिक जीवन प्रक्षिप्त है और यदि केवल वाह्य स्थितियों का प्रतिविम्ब ही काव्य नहीं है, तो ये भी कविताएँ हैं—सच्ची कविताएँ, इस अर्थ में कि एक व्यक्ति की आंतरिक सच्चाई की कविताएँ हैं। कविता के चारों ओर एक कँटीला घेरा और उसमें प्रवेश वर्जित की तख्ती हटाने का प्रयत्न यह करती हैं, जिनमें कवि सबका, अपने अन्तर तक में झाँक लेने का, स्वागत करता है। सम्भव है, ये कविताएँ काव्य की पूरी चौहद्दी में न समा पाएँ, किसी दृष्टि से अधूरी हों, इनकी सम्पूर्ण 'भाषा' में क्योंकि निजता है अतः पूरी तरह प्रेषित न हों, लेकिन फिर भी वैयक्तिकता और निजता के ह्रास के इस वातावरण में एक आत्मीय-सान्निध्य की ललक इनकी अवश्य है—और इसी दृष्टि से ये कविताएँ प्रस्तुत हैं :

दुष्यन्त की कुछ निजी कविताएँ

तुम्हारे इस शुभाशंसा
और मंगल कामनाओं भरे उत्सव में निमंत्रित
मैं स्वयं को बहुत एकाकी
बहुत अजनबी पाऊँगा।

चुप्पियों में मौन लिपटा हुआ सारा कथ्य
दो विरुद्ध हथेलियों के बीच मेरी कसमसाएगा
और मंडप में खड़े सब दर्शकों के बीच
मैं, वातावरण के क्रॉस पर
चुप झूल जाऊँगा।

बहुत साधारण-सहज कमजोरियों का नाम हूँ मैं
वचन मत लो
मैं कहाँ तक विवशता को गुदगुदाऊँगा ?
प्रिया !
तुम यह सुख अकेले भोगना।
(मैं न आऊँगा)

(२)

उत्सव में घिरा हुआ
मैं कितना खुश हूँ।
बार-बार लोगों से
वर का पद
ख्याति
नाम
देश
वंश
और जाति
पूछता हूँ।

पर मेरे दोस्त-लोग हैं विचित्र
बार-बार आ-आकर पूछते हैं—
'कहो मित्र !'

(३)

जैसे कोई विकल्प शेष नहीं रहता तो
टूटती परम्परा के गुण गाता हुआ, उसे
विवश विदा देता है
पराभूत देश का समाज
(अपनी पराजय के बाद भी)
जैसे जनहीन विशद मरुथल में
किसी काफ़िले से कट जाने पर
सुहृद सदृश लगता है
अपने एकान्त को अव्याज
(झंझा-तूफ़ानों का नाद भी)
वैसे ही गहरी विवशता का विष पीकर
बड़ी आत्मीयता से
तुझे विदा कर आया आज।
मैं जैसे किसी काफ़िले का छूटा सदस्य
जैसे किसी पिटे हुए देश का समाज!

(४)

परदे हटाकर करीने से
रोशनदान खोलकर
कमरे का फर्नीचर सजाकर
और स्वागत के शब्दों को तोलकर
टकटकी बाँधकर बाहर देखता हूँ
और देखता रहता हूँ मैं!

सड़कों पर धूप चिलचिलाती है
चिड़िया तक दिखाई नहीं देती
पिघले तारकोल में
हवा तक चिपक जाती है बहती-बहती
किन्तु इस गर्मी के विषय में किसी से
एक शब्द नहीं कहता हूँ मैं।

सिर्फ़ कल्पनाओं से
सूखी और बंजर जमीन को खरोंचता हूँ

जन्म लिया करता है जो (ऐसे हालात में)
उसके बारे में सोचता हूँ
कितनी अजीब बात है कि आज भी
प्रतीक्षा सहता हूँ मैं।

(५)

अगर किसी रोज यह हवा
फूलों का टोकरा न लाए
बदहवास मालिक की लड़की-सी
कमरे में घुसे
और गरम-गरम साँसें मेरे कंधे पर धर दे
समूचा वातावरण अकुलाहट से भर दे,
... या मेरा चाँद मुझसे रूठ जाए
... या उसकी रंग-रोशनी का घड़ा फूट जाए
आँगन में अँधेरा उलट दे,
... या मेरा मीत
दिशा-दिशा बजता संगीत
किसी रोज सहसा रुक जाए,
घर की खामोशी से डरकर
क्रन्दन या हाहाकार के समक्ष झुक जाए,
और मेरे अंतर में ढुलता हुआ
मुझसे धीरे से कहे--बोलो....

तो क्या मैं इन सबसे कह दूँगा--
यौवन निःशेष हो गया है तुम्हारा
चले जाओ।
मेरा अब तुम सबसे कोई सम्बन्ध नहीं।

(६)

मैं कोई चिंगारी कहीं नहीं पाता हूँ।

हर ऋतु
एक वासना रहित
उदास प्रेमिका,

हर दिन
एक थका
स्खलित
पराहत प्रेमी,

हर इच्छा
उत्साहहीन दर्शक-सी
खाली,

मैं तो सोच-सोचकर पागल हो जाता हूँ—
कितनी आग भरेगी मुझमें चाकी प्याली।

(७)

डूबती साँझ के कोहरे में
मुझे यह गीत....
आह!
जो कि आज
किसी दूसरे के घर बज रहा है—

...किस क़दर पसंद है
कि मेरे लिए
संगीत की सारी परिभाषाएँ
सारे राग
और सारे वाद्यों की झनझनी जगाती हुई
खुशियाँ
इसी में समाहित हैं!

काश! मेरे रेडियो-सेट में
'अर्थ' और 'एरियल' होते
और मैं यही गीत
अपने कमरे के एकान्त में लिपटकर सुन सकता!
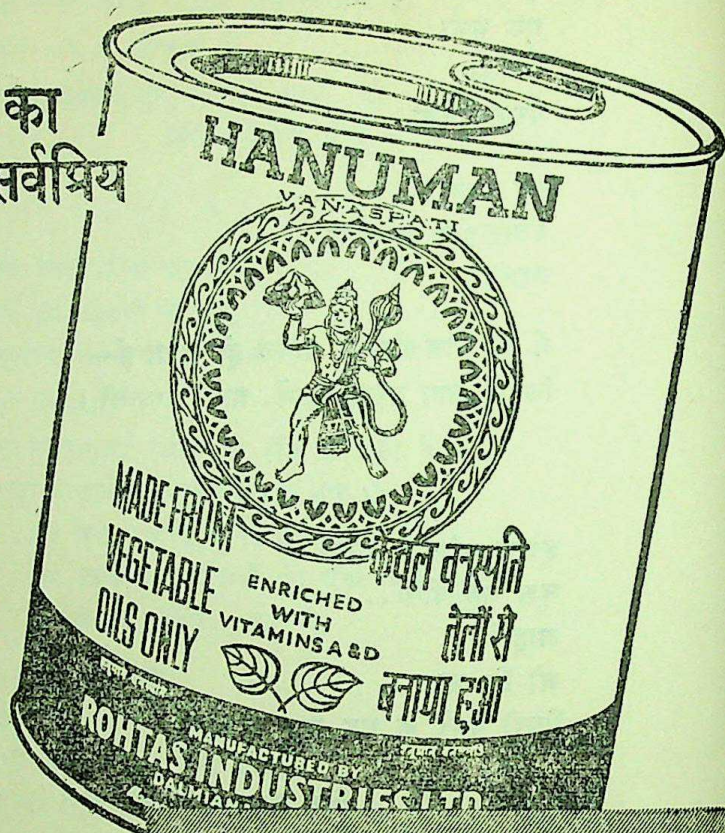
●
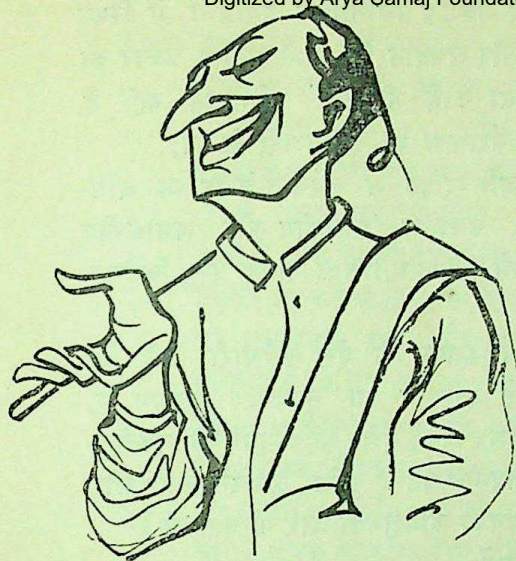
सम्भवतः नवनीत-लेपन कार्यों के औचित्य स्थापन तथा वैधकरण के लिए यह विधेयक-बहुत शीघ्र ही प्रस्तावित हो, और बहुमत से पारित भी हो जाए।

हंसकुमार

●

यह विधेयक प्रजातांत्रिक राज्य के पन्द्रहवें वर्ष में दोनों सदनों द्वारा नियमानुसार अधिनियमित किया जाय :

१. संक्षिप्त नाम, विस्तार तथा प्रारंभ—

(१) यह अधिनियम नवनीत अधिनियम, १९६४ कहलाएगा।

(२) इसका विस्तार-क्षेत्र सम्पूर्ण भारत होगा।

(३) यह ऐसे दिनांक से लागू होगा, जो नवनीत-मंत्रालय की अधिसूचना द्वारा राजपत्र में नियत किया जाय।

(४) शासन की पूर्व मंजूरी से इसे अर्धशासकीय और अशासकीय उपक्रमों, संस्थानों और प्रतिष्ठानों में भी लागू किया जा सकेगा।

२. परिभाषाएँ—

इस अधिनियम में, यदि विषय या प्रसंगानुसार अन्यथा अपेक्षित न हो, तो—

(एक) 'अधिनियम' से तात्पर्य नवनीत अधिनियम, १९६४ से है;

(दो) 'नवनीत-लेपन' से तात्पर्य ऐसे प्रत्येक कार्य से है, जो शासन के किसी भी कर्मचारी द्वारा नवनीत-गृहीता को प्रसन्न करने, पदोन्नति पाने,

नवनीत विधेयक १९६४

किसी अन्य को पदावनत कराने आदि विशुद्ध प्रजातांत्रिक प्रयोजनों से किया गया हो। इसमें साष्टांग प्रणाम और अर्थदान से लेकर प्रत्येक प्रकार का चर्मदान सम्मिलित है, किन्तु इसमें ऐसा कोई भी कार्य सम्मिलित नहीं है, जिसका तनिक भी संबंध योग्यता, कार्यक्षमता या ईमानदारी से हो;

(तीन) 'नवनीत-गृहीता' इस अभिव्यक्ति में नवनीत-लेपक का अधिकारी, उसकी शासिका याने पत्नी, उपपत्नी (शासकीय और अशासकीय दोनों), उसकी कही जानेवाली सन्तानें, चपरासी तथा पालतू पशु, विशेषत: कुत्ता सम्मिलित है; तथा

(चार) 'नवनीत-लेपक' से तात्पर्य शासन के ऐसे कर्मचारी से है, जो नवनीत-लेपन को युगधर्म और अपने अस्तित्व का मूलाधार मानता हो, किन्तु प्रकट में उसे मूर्खों का अस्त्र कहकर अपने ऐसे सहकर्मियों को नवनीत-लेपक सिद्ध कर सकता हो, जो नवनीत-धर्म से पूर्णत: अपरिचित हों और जिनके अस्तित्व का एक मात्र आधार उनकी कार्यक्षमता और योग्यता हो।

३. नवनीत-लेपक की अर्हतायें—

किसी भी नवनीत-लेपक के लिए यह आवश्यक है कि :

(१) वह जन्मजात नवनीत-लेपक हो। ख़ानदानी नवनीत-लेपकों को प्राथम्य दिया जायगा।

(२) वह न्यूनतम शैक्षणिक अर्हताओं को पूरा करता हो, किन्तु उसे अपने विषय का ज्ञान होना आवश्यक नहीं है।

(३) वह अखिल भारतीय नवनीत विद्यापीठ का कम-से-कम नवनीत-स्नातक हो। इसके अभाव में वह किसी भी मंत्री, उपमंत्री, सचिव, विधानसभा या संसद-सदस्य, विभागाध्यक्ष या इनमें से किसी की भी पत्नी या उपपत्नी का नवनीत-लेपन-योग्यता-प्रमाणपत्र प्रस्तुत कर सकेगा, जो अखिल भारतीय नवनीत विद्यापीठ की नवनीत-स्नातक उपाधि की भाँति ही प्रामाणिक माना जायगा। पत्नी या उपपत्नी वर्ग द्वारा प्रदत्त प्रमाण-पत्र अधिक प्रभाव होगा।

(४) उसमें आत्मसम्मान का नितान्त अभाव हो। उसमें अपने अधिकारी के सामने या उसके कमरे के बाहर हमेशा 'बेग योर पार्डन' की मुद्रा में करबद्ध खड़े होकर मुस्कराते रहने की क्षमता हो। ऐसे में उसके ओठों का फैलना, दाँतों का बाहर झाँकना, ओठों की कोरों से पान की पीक का रिसना और आँखें मिचमिचाना आवश्यक है।

४. नवनीत-लेपक के कार्य—

(१) प्रत्येक नवनीत-लेपक को कोई भी ऐसा कार्य नहीं करना होगा, जिसका संबंध कार्यालय या शासकीय कार्य से हो।

(२) उसका प्रमुख कार्य नवनीत-लेपन और स्व-हित सम्पादन है। अतः वह अपने कार्यों और कर्त्तव्यों का विनिश्चयन अपने हित के स्वरूप के अनुसार करेगा। इसके लिए वह अपने कार्य या हित की महत्ता को देखते हुए या अपने नवनीत-गृहीता के आदेशानुसार अपना समय नवनीत-गृहीता के बँगले पर उसकी संतानों और पत्नी के बीच उनकी इच्छानुसार गुज़ारने को स्वतन्त्र होगा।

(३) उसका यह कर्तव्य होगा कि वह अपने नवनीत-गृहीता की प्रत्येक बात को ब्रह्म-वाक्य माने और उसके हर शब्द पर हामी भरकर उसे प्रोत्साहित करता रहे। इसके लिए वह कुछ दिनों तक शासकीय कुत्ता-पालन-केन्द्र में रहकर दुम हिलाने के विशेषज्ञ कुत्ते से सिर हिलाने का प्रशिक्षण प्राप्त कर सकेगा।

(४) वह शासकीय कार्य-समय की समाप्ति पर अपने नवनीत-गृहीता के सामने अपने सहकर्मियों की दिन भर की गति-विधियों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करेगा, जिसमें वह उन बातों को राई का पहाड़ बना कर प्रस्तुत करेगा, जो उसके सहकर्मियों द्वारा नवनीत-गृहिता के संबंध में कही गई हों। इस कार्य की पूर्ति के लिए वह अपने सम्पूर्ण साहित्यिक कौशल, यदि कोई हो, का उपयोग कर सकेगा।

(५) उनका एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य अपने नवनीत-गृहीता और उसके परिवार के सभी सदस्यों के अंग-प्रत्यंग के दुःख-दर्द का ध्यान रखना और यथा-शक्ति उनका निवारण करना है।

(६) नवनीत-गृहीता के घर सब्ज़ी लाना, उसके बच्चों को सैर कराना, कुत्तों के साथ खेलना आदि उसके अतिरिक्त कार्य होंगे, जो उसे कार्यालयीय कार्य-समय के पहले या बाद में करने होंगे।

५. नवनीत-लेपक की शक्तियाँ—

(१) प्रत्येक नवनीत-लेपक अपने नवनीत-गृहीता के माध्यम से ऐसी सभी शक्तियों का प्रयोग कर सकेगा, जो उसके अहित-सम्पादन या उसके किसी या सभी सहकर्मियों के अहित-सम्पादन के लिए आवश्यक हों।

(२) नवनीत-गृहीता के लिए यह बंधनकारी होगा कि वह अपने नवनीत-लेपक के हित में और उसके अन्य सहकर्मियों के अहित में प्रत्येक शक्ति का प्रयोग करे, भले ही वह शक्ति उसे किसी अधिनियम के अन्तर्गत प्रदत्त न की गई हो।

६. शास्ति—

(१) इस अधिनियम के किसी उपबन्ध या इसके अन्तर्गत बनाए गए किसी नियम या विनियम, दिए गए आदेश या की गई कार्यवाही

की निन्दा करने वाला व्यक्ति अखिल भारतीय भर्त्सना का पात्र होगा और उसे नवनीत-द्रोही माना जायगा। उसकी कभी भी पदोन्नति नहीं की जाएगी और उसे सभी प्रकार की भौतिक और अधि-भौतिक यातनाएँ देकर आजन्म नर्क-दर्शन निःशुल्क कराया जायगा।

७. निरसन और अपवाद—

(१) इसके द्वारा इसके पूर्व अधिनियमित सभी अधिनियम निरसित किए जाते हैं : परन्तु, नवनीत-लेपक के हित-सम्पादन में सहायक सिद्ध होने वाला प्रत्येक अधिनियम उस समय लागू माना जाएगा।

(२) नवनीत-लेपक के हित-सम्पादन के लिए किसी अदत्त शक्ति के प्रयोग या इस अधिनियम के उपबंधों, इसके अन्तर्गत बनाए गए नियमों, विनियमों या उपविधियों की उपेक्षा के विरुद्ध देश के किसी भी न्यायालय में कोई वाद या अभियोजन नहीं चलाया जा सकेगा तथा इन प्रयोगों और उपेक्षाओं को अपवाद रूप में लेखबद्ध कर भावी नवनीत-लेपकों के हितार्थ परिरक्षित किया जायगा।

उद्देश्यों तथा कारणों का विवरण--

यों तो नवनीत-लेपन कला का मूल स्त्रोत, सभी कलाओं की भाँति, ऋग्वेद या अन्य वेदों में सफलतापूर्वक खोजा जा सकता है,किन्तु उसके आज के विकसनशील स्वरूप को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह अपेक्षाकृत एक नवीन कला है और स्वातंत्र्योत्तर भारत में इसका अच्छा विकास हुआ है तथा अनेक महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ देखने में आई हैं। न जाने कितने नवनीतरथियों की कीर्त्ति-गाथा अभी तक हमारे कानों तक पहुँच नहीं पाई है। इतना ही नहीं साहित्य-क्षेत्र में भी इस कला के अनेक कीर्ति-स्तंभ स्थापित हुए हैं और हो रहे हैं। इसी के पुण्य-प्रताप से तुकबन्दी करने वाले राज्यकवि , आलोचना के नाम पर गाली-गलौज करने वाले समर्थ आलोचक और विदेशी साहित्य पढ़-पढ़कर कहानी-क़िस्से लिखने वाले प्रथम कोटि के कथाकार कहे जाने लगे हैं।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् के इन कुछ वर्षों की इस अल्पावधि में हुए इसके इस प्रौढ़ और त्वरित विकास को देखते हुए इसके वैधकरण और औचित्य-स्थापन की माँग देश के प्रत्येक कोने से ज़ोर पकड़ती जा रही है। हमें पूर्ण विश्वास है कि जनता के प्रतिनिधि इसे बहुमत से, अपितु एकमत से, पारित कर नवनीत-संस्कृति और नवनीत-राज्य की स्थापना में अपना बहुमूल्य सहयोग देंगे और अपनी नवनीत-प्रियता का परिचय देंगे।
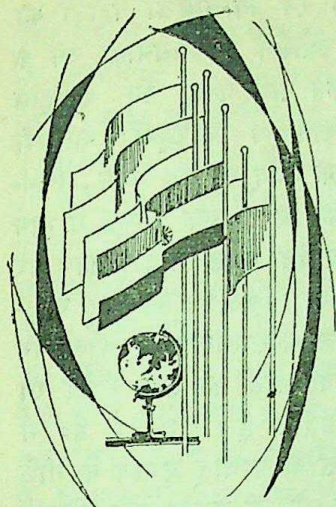
अवधबिहारी गुप्त

२६ जनवरी, गणतन्त्र-दिवस, के अवसर पर, भारतीय राष्ट्र-ध्वजा के साथ-साथ विश्व की अन्य सभी राष्ट्र-ध्वजाओं का संक्षिप्त परिचय।

विश्व के लगभग एक सौ स्वतंत्र राष्ट्रों की पताकाओं पर दृष्टिपात करने पर उनमें अनेक विशिष्टताएँ देखने में आती हैं। इन ध्वजों पर दर्जनों नमूने दिखलाई देते हैं। रंग-बिरंगी पताकाओं पर यदि कहीं सूर्य, चन्द्रमा तथा तारे दिखलाई देते हैं तो कहीं मंदिर, मस्जिद तथा क्रॉस के भी दर्शन होते हैं। राष्ट्र-पताकाओं पर मानव, पशु तथा पक्षियों की आकृतियों को भी स्थान दिया गया है। वृक्ष, नदियों तथा पर्वतों को भी विस्मृत नहीं किया गया, दो पट्टियों से लेकर तेरह पट्टियों तक के ध्वज देखने में आते हैं।

चक्र केवल **भारत** के तिरंगे ध्वज पर ही दिखलाई देता है। शांति एवं सत्य की प्रतीक बीच की सफ़ेद पट्टी पर नीले रंग में चक्र अंकित है। इतिहास में सर्वप्रथम सम्राट् अशोक ने चौबीस तीलियों वाले इस चक्र का प्रयोग अपने स्तम्भों पर किया था। भारत के ध्वज में ऊपर की केसरिया पट्टी तथा नीचे की हरी पट्टी क्रमशः साहस-बलिदान तथा विश्वास-पराक्रम की प्रतीक हैं। **नेपाल** का राष्ट्रध्वज कई बातों के लिए उल्लेखनीय है। विश्व में यही एकमेव पताका है जो चौकोर होने की बजाय त्रिभुजाकार है तथा जिस पर सूर्य और चन्द्रमा साथ-साथ दिखलाये गये हैं। दो त्रिभुजों वाली इस लाल पताका के किनारे नीले हैं। ऊपर के त्रिभुज पर श्वेत रंग में दूज का चाँद तथा चन्द्रमुख तथा नीचे के त्रिभुज पर श्वेत सूर्यमुख अंकित है। स्वदेश का मानचित्र केवल **सायप्रस** के

राष्ट्र-ध्वजाएँ

राष्ट्रध्वज पर ही दिखलाई देता है। श्वेत धरातल पर सुनहरे रंग में चित्रित यह मानचित्र बहुत ही सुन्दर लगता है। मानचित्र के नीचे अंकित जैतून की दोहरी टहनियाँ शांति एवं सद्भाव का संदेश देती हैं। मंदिर के दर्शन केवल **कम्बोडिया** की पताका पर ही होते हैं। सूर्यवर्मन द्वितीय द्वारा बारहवीं शताब्दी में निर्मित प्रसिद्ध वैष्णव मंदिर ऐंकोरवाट को, जो विश्व में विशालतम है, इस राष्ट्रध्वज में बीच की चौड़ी लाल पट्टी पर श्वेत रंग में चित्रित किया गया है। ऊपर तथा नीचे की नीली पट्टियाँ कम चौड़ी हैं।

धार्मिक भावनाओं से प्रेरित राष्ट्रध्वज

अनेक इसाई देशों ने धार्मिक भावना से प्रेरित होकर अपने राष्ट्रध्वज पर ईसा-मसीह के बलिदान का चिन्ह 'क्रॉस' अंकित किया है। **डेन्मार्क** की लाल पताका पर अंकित श्वेत क्रास के पीछे एक इतिहास है। १२१९ ई० में सम्राट वाल्डेमर द्वितीय को जब युद्ध के समय लाल आकाश पर श्वेत क्रॉस दिखलाई दिया तो उन्होंने तत्काल उसे राष्ट्रध्वज पर स्थान दे दिया। एक अन्य कथा के अनुसार एस्टोनियन जाति की पराजय के पश्चात् यह ध्वज स्वर्ग से धरती पर उतरा था। **नारवे** का राष्ट्र-ध्वज डेन्मार्क के समान ही है केवल अन्तर दिखलाने के लिए सफ़ेद क्रॉस के मध्य एक नीला क्रॉस अंकित कर दिया गया है। **आइसलैण्ड** के नीले राष्ट्रध्वज पर पहले सफ़ेद रंग में और फिर लाल रंग में 'क्रॉस' अंकित हैं। रंगों का विशेष महत्व है। नीला, देश की पर्वतमालाओं का, सफ़ेद ग्लैसियर्स की तथा लाल रंग ज्वालामुखी पहाड़ों का प्रतीक है। **स्वीडेन** के आसमानी रंग के ध्वज पर अंकित पीले क्रॉस का इतिहास भी अत्यन्त प्राचीन है। बारहवीं शताब्दी में सम्राट् एरिक नवम् को यह 'क्रॉस', फिनलैण्ड में तुर्कों के विरुद्ध एक धर्मयुद्ध में भाग लेने के पूर्व, प्रार्थना करते समय आकाश पर दिखलाई दिया था। **फिनलैण्ड** की श्वेत राष्ट्र-पताका पर नीला क्रॉस अंकित है। नीला रंग देश की अनिगिनत झीलों का तथा सफ़ेद रंग हिमपात का प्रतीक है। १८२२ ई० में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् **यूनान** ने नीले तथा सफ़ेद रंग की नौ समान बेड़ी पट्टियों वाले ध्वज को राष्ट्रध्वज के रूप में स्वीकार किया। दंड के समीप ऊपर एक नीले चतुर्भुज में श्वेत 'क्रॉस' भी अंकित किया गया है। **लैटिन अमरीकी राष्ट्र डोमिनिकन गणतंत्र** के नीले तथा लाल रंग के ध्वज के मध्य एक श्वेत 'क्रॉस' अंकित है, जिसके बीचोबीच देश का सैनिक-चिह्न बना हुआ है। **इंग्लैण्ड** के राष्ट्रध्वज पर दो 'क्रॉस' दिखलाई देते हैं। नीले धरातल पर सफ़ेद और उसके मध्य लाल रंग में एक सीधा 'क्रॉस' अंकित है तथा इसी तरह का एक दूसरा दुरंगा 'क्रॉस' ध्वज के कोनों को मिलाता है।

इस्लामी राष्ट्र :

इस्लामी राष्ट्रों की राष्ट्रध्वजाओं पर पवित्र कलमा केवल **सऊदी अरब** की राष्ट्र-पताका पर ही लिखा दिखलाई देता है। हरे चौकोर ध्वज पर सफ़ेद अरबी अक्षरों में 'ला इलाह इलिल्लाह, मुहम्मद उर्रसूलिल्लाह' लिखा हुआ है, जिसके नीचे एक सफ़ेद तलवार भी बनी हुई है। राष्ट्र-

ध्वज पर केवल **अफ़गानिस्तान** ने ही मस्जिद को स्थान दिया है। तिरंगे ध्वज पर सफ़ेद-रंग में अनाज की बालियों के मध्य मीनारों से युक्त एक सुन्दर एवं विशाल मस्जिद बनी हुई है। ध्वज की काली, लाल, तथा हरी पट्टियाँ क्रमशः अतीत की कठिनाइयाँ, स्वतन्त्रता-संग्राम तथा भावी समृद्धि की सूचक हैं। पाँच मुस्लिम राष्ट्रों की पताकाओं पर दूज का चाँद तथा तारा दिखलाई देता है। **पाकिस्तान** के हरे ध्वज पर यह चाँद-तारा सफ़ेद रंग में अंकित है। दंड के समानान्तर सफ़ेद पतली पट्टी अल्पसंख्यकों की प्रतीक है। **तुर्की** के लाल ध्वज पर सफ़ेद चाँद-तारा बना हुआ है जब कि अफ्रीकी राष्ट्र **ट्यूनिशिया** के लाल ध्वज पर सूर्य के श्वेत वृत्त के मध्य लाल रंग में चाँद-तारा चित्रित किया गया है। **लीबिया** के तिरंगे ध्वज में बीच की चौड़ी काली पट्टी पर सफ़ेद चाँद-तारा जगमगाता है। ऊपर तथा नीचे की क्रमशः लाल तथा हरी पट्टियों की चौड़ाई कम है। **मलाया** के राष्ट्र-ध्वज में बनी लाल तथा सफ़ेद रंग की ग्यारह समान बेड़ी पट्टियाँ संघ में सम्मिलित ग्यारह राज्यों की प्रतीक हैं। दंड के समीप ऊपर एक नीले चतुर्भुज में पीला चाँद तथा ग्यारह कोनों वाला एक पीला तारा चमकता है। शेष मुस्लिम राष्ट्रों में से पाँच ने अपने ध्वज पर केवल तारे ही अंकित किये हैं। **मोरक्को** की लाल पताका पर एक हरा पचकोना तारा जगमगाता है। **यमन** के लाल ध्वज पर पाँच सफ़ेद तारे अंकित हैं, जो पाँच वक्त की नमाज़ तथा इस्लाम के पाँच सिद्धांतों के प्रतीक हैं। बीच में एक सफ़ेद तलवार भी दिखलाई देती है। **संयुक्त अरब गणराज्य** के तिरंगे ध्वज में शांति एवं सद्भाव की प्रतीक सफ़ेद पट्टी पर दो हरे तारे अंकित हैं। ऊपर तथा नीचे की लाल एवं काली पट्टियाँ क्रमशः क्रांति तथा अतीत की दासता की सूचक हैं। **ईराक़** के तिरंगे ध्वज की काली, सफ़ेद तथा हरी खड़ी पट्टियाँ ईराक़ी इतिहास के तीन युगों की प्रतीक हैं। बीच की पट्टी पर सूर्य के पीले वृत्त के चारों ओर आठ लाल त्रिभुज बने हुए हैं जो तारे के समान प्रतीत होते हैं। **जोर्डन** के काले, सफ़ेद तथा हरे तिरंगे ध्वज में दंड के समीप राजतंत्र का प्रतीक एक लालपट त्रिभुज बना हुआ है जिसके मध्य एक सफ़ेद तारा अंकित है। शेष मुस्लिम-राष्ट्रों के ध्वज धार्मिक भावना से प्रेरित नहीं हैं।

विश्व के एकमेव यहूदी राष्ट्र **इसरायल** के सफ़ेद राष्ट्रध्वज पर ऊपर तथा नीचे थोड़ी जगह छोड़कर दो पतली नीली पट्टियाँ बनी हैं जिनके बीच एक नीला षटकोण अंकित है, जिसे 'डैविड का तारा' कहा जाता है।

राष्ट्र-पताकाओं पर वन्य पशु-पक्षी :

पशु-सम्राट् सिंह को चार राष्ट्रों ने अपने ध्वज पर स्थान दिया है। प्रसिद्ध मुस्लिम राष्ट्र **ईरान** के तिरंगे ध्वज में बीच की सफ़ेद पट्टी पर सिंह को तलवार लिये हुए दिखलाया गया है। उसके पीछे से चारों ओर किरणें बिखेरता सूर्य उदय हो रहा है। ध्वज की हरी, सफ़ेद एवं लाल बेड़ी पट्टियाँ क्रमशः धर्म, शांति एवं पराक्रम की प्रतीक हैं। **श्री लंका** के ध्वज में दाईं ओर एक गुलाबी रंग के चतुर्भुज में एक पीले रंग का सिंह तलवार उठाए हुए दहाड़ रहा है। बाईं ओर बनी हुई हरी तथा हल्के भूरे रंग की दो

आड़ी पट्टियाँ देश के तमिल तथा सिंहली भागों की प्रतीक हैं। **इथियोपिया** के राष्ट्र-ध्वज में एक हाथ में पताका लिये हुए, साज पहने हल्के भूरे रंग के सिंह को विचरण करते दिखलाया गया है। ध्वज की हरी, पीली, एवं लाल बेड़ी पट्टियाँ क्रमशः दृढ़ विश्वास, आशा तथा दानशीलता की सूचक हैं। **बल्गेरिया** के तिरंगे ध्वज में ऊपर शांति की प्रतीक सफ़ेद पट्टी पर बाईं ओर गेहूँ की बालियों के बीच एक सिंह दो पैरों पर खड़ा है। बीच की तथा नीचे की हरी एवं लाल पट्टियाँ क्रमशः कृषि एवं साहस की प्रतीक हैं। केवल **लाओस** की लाल रंग की पताका में बौद्ध पंचशील की प्रतीक पाँच सीढ़ियों से युक्त एक सफ़ेद वेदी पर तीन मुख वाले एक श्वेत हाथी को खड़े दिखलाया गया है जिस पर सीढ़ीदार पिरामिड के आकार का एक श्वेत छत्र लगा हुआ है।

अल्बानिया के गुलाबी ध्वज पर दो मुख वाले काले गरुड़ को इसलिए स्थान दिया गया है क्योंकि वहाँ के देशवासी अपनी उत्पत्ति गरुड़ से मानते हैं।

स्पेन की पताका में बीच की चौड़ी पट्टी पर पंख फैलाये गरुड़ को हरक्यूलीज़ के स्तम्भों के मध्य खड़ा दिखलाया गया है। ऊपर तथा नीचे की पट्टियाँ लाल हैं। **मेसिक्को** के ध्वज में बीच की सफ़ेद पट्टी पर कैटक्स वृक्ष की हरी डाल पर चोंच में साँप दबाए एक भूरे गरुड़ को बैठे दिखलाया गया है। प्राचीन युग में आस्तिक जाति का यही चिन्ह था। **ग्वाटेमाला** की राष्ट्र-पताका में बीच की सफ़ेद पट्टी पर हरे रंग की माला के बीच देश की स्वतन्त्रता के घोषणा-पत्र, जिस पर स्वतन्त्र होने की तिथि १५ सितम्बर १८२१ भी लिखी हुई है, के ऊपर राष्ट्रीय पक्षी रंगीन क्वेट्ज़ल को बैठे दिखलाया गया है। पीछे दो बंदूकें एक-दूसरे के आर-पार रखी हैं। किनारे की पट्टियों का रंग नीला है।

राष्ट्रध्वज पर सूर्य :

जापान की श्वेत राष्ट्रपताका पर अंकित प्रातःकाल का लाल सूर्य इस बात का प्रतीक है कि इसी भाँति नवोदित राष्ट्र जापान की ख्याति भी एक दिन प्रखर गति से चमकेगी। **कोमितांग चीन** के लाल ध्वज में बाईं ओर ऊपर एक नीले चतुर्भुज के मध्य में किरणें बिखेरता सफ़ेद सूर्य अंकित किया गया है। **फ़िलिपाइन्स** के नीले एवं लाल रंग के ध्वज में बाईं ओर एक श्वेत त्रिभुज के मध्य रश्मियाँ बिखेरता एक सुनहला सूर्य चमक रहा है। त्रिभुज के कोणों पर अंकित सुनहरे तारे देश के तीन भागों के प्रतीक हैं। अफ्रीकी राष्ट्र **नाइजर** का ध्वज बिल्कुल भारत जैसा है केवल चक्र के स्थान पर सुनहला सूर्य चमक यहा है। **अर्जेण्टाइना** के ध्वज में बीच की सफ़ेद पट्टी पर अनगिनत किरणें बिखेरता सुनहला सूर्यमुख अंकित है। ऊपर तथा नीचे की पट्टियों का रंग समुद्री नीला है। **उरेगुवे** के श्वेत राष्ट्रध्वज में बाईं ओर ऊपर सोलह दिशाओं में किरणें बिखेरता सुनहला सूर्य अंकित है। ध्वज पर चार समान नीली बेड़ी पटिटयाँ बराबर दूरी पर अंकित हैं।

राष्ट्रध्वज पर तारे :

संयुक्तराष्ट्र अमेरिका के ध्वज पर सबसे अधिक तारे अंकित किए गए हैं। लाल एवं सफ़ेद तेरह समान बेड़ी पट्टियों वाले

इस ध्वज के बाईं ओर ऊपर एक नीले चतुर्भुज में नौ पंक्तियों में जगमगाते पचास तारे संघ में सम्मिलित पचास राज्यों के प्रतीक हैं। **वेनुज़ुएला** के पीले-नीले तथा लाल रंग के तिरंगे ध्वज में बीच की पट्टी पर अर्धवृत्ताकार सात तारे अंकित हैं जो प्रांतों के प्रतीक हैं। पीली पट्टी पर बाईं ओर सैनिक-चिह्न अंकित है। **होन्डुरोस** की पताका में बीच की सफ़ेद पटटी पर पाँच तारे अंकित हैं। ऊपर तथा नीचे की नीली पट्टियाँ समुद्र की प्रतीक हैं। **पनामा** का राष्ट्र-ध्वज चार वर्गों में विभाजित है। लाल तथा नीला वर्ग राजनैतिक दलों के प्रतीक हैं। शांति के प्रतीक शेष दोनों वर्गों पर एक-एक तारा अंकित है। नीला तारा विश्वास का तथा लाल तारा शक्ति का सूचक है। **क्यूबा** के तीन नीली तथा दो सफ़ेद समान बेड़ी पट्टियों वाले राष्ट्रध्वज में बाईं ओर बने एक लाल त्रिभुज के मध्य में स्वाधीनता एवं यश का प्रतीक एक सफ़ेद तारा अंकित है। **चिली** के दुरंगे ध्वज में ऊपर बाईं ओर एक नीले चतुर्भुज में प्रेरणा देता एक तारा चमक रहा है। ध्वज के सफ़ेद, लाल एवं नीले रंग क्रमशः बर्फ़ीली पहाड़ियाँ, बलिदान तथा स्वर्ग के प्रतीक हैं। **ब्राज़ील** के हरे ध्वज के मध्य एक पीले चतुर्भुज में चित्रित नीले रंग के वृत्त में देश के इक्कीस प्रांतों तथा राजधानी बैसीलिया के प्रतीक बाईस सफ़ेद तारे अंकित हैं। वृत्त के मध्य सफ़ेद पट्टी पर पोर्तुगाली भाषा में 'आर्डेमो प्रोग्रेसो' लिखा है। **पैरागुए** के तिरंगे ध्वज में बीच की सफ़ेद पट्टी पर एक वृत्त में वृक्ष की शाखाओं के मध्य एक तारा चमकता है तथा चारों ओर गोलाई में देश का नाम भी लिखा है। ऊपर तथा नीचे की पट्टियाँ क्रमशः लाल तथा नीली हैं। ध्वज के दूसरी ओर खजाने की मुहर अंकित है। एकमेव यही ध्वज है जो आगे-पीछे भिन्न है।

नीग्रो राष्ट्र **लाइबेरिया** के राष्ट्रध्वज में अमेरिका के समान ग्यारह पट्टियाँ बनी हैं क्योंकि देश की स्वतन्त्रता के घोषणा-पत्र पर इतने ही व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे। ऊपर नीले धरातल पर एक सफ़ेद तारा अन्य राष्ट्रों को प्रेरणा रहा है। **घाना** के तिरंगे ध्वज के लाल, सुनहरे एवं हरे रंग क्रमशः स्वाधीनता, समृद्धि तथा वन-सम्पत्ति के सूचक हैं। सुनहली पट्टी पर एक बड़ा-सा काला तारा अंकित है।

सोमाली गणराज्य के आसमानी राष्ट्र-ध्वज के बीच में एक बड़ा सफ़ेद तारा जगमगाता है। **टोगो** के तीन हरी तथा दो पीली समान बेड़ी पट्टियों वाले ध्वज की बाईं ओर ऊपर एक लाल वर्ग में जगमगाता सफ़ेद तारा समृद्धि का मार्ग-दर्शक है। **मध्य अफ्रीकी गणतन्त्र** का ध्वज पचरंगा है। नीली, सफ़ेद, हरी, तथा पीली बेड़ी पट्टियों को बीच में से एक लाल पट्टी काटती है। ऊपर की नीली पट्टी पर सुनहरा तारा अंकित है।

कांगो गणतन्त्र के आस्मानी ध्वज के बीच चमक रहा एक सुनहला तारा अफ्रीका के अन्धकार में प्रकाश लाने वाले प्रसिद्ध यात्री स्टैनले का प्रतीक है। दंड के समानान्तर अंकित तारे कांगो के छः प्रान्तों के प्रतीक हैं। **सेनेगल** के तिरंगे ध्वज की हरी, पीली, तथा लाल खड़ी पट्टियाँ राजनीतिक दलों के प्रतीक है।

आस्ट्रेलिया एवं **न्यूजीलैण्ड** के नीले ध्वजों

में बाईं ओर ऊपर इंग्लैण्ड के राष्ट्रध्वज को स्थान दिया गया है। अंतर केवल तारों की संख्या में है। न्यूजीलैण्ड के ध्वज में दाहिनी ओर सफ़ेद किनारों वाले चार पंचकोने लाल तारे चमकते हैं जब कि आस्ट्रेलिया के ध्वज में छोटे-बड़े सफ़ेद तारे अंकित हैं। **बर्मा** के साहस के प्रतीक लाल रंग के ध्वज में बाईं ओर ऊपर एक नीले चतुर्भुज में एक बड़े तारे के चारों ओर पाँच तारे जगमगाते हैं। **यूगोस्लाविया** के तिरंगे ध्वज में पीले किनारों वाला एक बड़ा-सा लाल तारा जगमगाता है। **रूस** के लाल ध्वज में ऊपर बाईं ओर एक पीले हँसिये-हथौड़े के ऊपर एक पीले तारे की रेखाकृति बनी हुई है। **यूक्रेन** के रूस जैसे ध्वज में केवल नीचे एक पतली नीली पट्टी जोड़ दी गई है। **श्वेत रूस** का ध्वज भी यूक्रेन जैसा है, केवल नीचे की पट्टी का रंग हरा है तथा दंड के समानान्तर एक लाल पट्टी पर सफ़ेद रंग में कालीन का नमूना बना हुआ है।

राष्ट्रध्वज पर वृक्ष, नदियाँ एवं पर्वतमालाएँ :

लेबनान के ध्वज में बीच की सफ़ेद पट्टी पर देवदारु वृक्ष बना हुआ है, जो सदियों से देश की राष्ट्रीय सम्पत्ति रहा है। ऊपर तथा नीचे की लाल पट्टियाँ अपेक्षाकृत कम चौड़ी हैं। **हैती** के ध्वज में नीली तथा गुलाबी बेड़ी पट्टियों के बीच एक श्वेत वर्ग में देशाभिमान का सूचक ताड़-वृक्ष अंकित है। **पेरू** के ध्वज में दो आड़ी लाल पट्टियों के बीच की सफ़ेद पट्टी पर सिकोना वृक्ष की शाखाओं के मध्य राष्ट्र का सैनिक-चिह्न अंकित है। **रूमानिया** के तिरंगे ध्वज की नीली, पीली, एवं लाल आड़ी पट्टियाँ क्रमशः आकाश, धरती तथा साहस की प्रतीक हैं। बीच की पट्टी पर पर्वतमालाएँ, जंगल तथा उर्वरा भूमि दिखलाई गई है जिनके ऊपर साम्यवादी चिन्ह लाल तारा चमकता है। **नाइकारागुआ** के ध्वज में बीच की सफ़ेद पट्टी पर एक वृत्त के बीच बने हुए त्रिभुज में पर्वत-माला दिखलाई गयी है। ऊपर तथा नीचे की पट्टियाँ नीले रंग की हैं।

राष्ट्रध्वज पर सैनिक-चिन्ह :

देश पर बलिदान होने वाले सैनिकों का सम्मान करने के लिए अनेक राष्ट्रों ने ध्वज में सैनिक वर्दियों पर अंकित चिह्न को स्थान दिया है। **आस्ट्रिया** के राष्ट्रध्वज की प्रेरणा घायल सम्राट् लियोपोल्ड की उस सफ़ेद पोशाक से मिली थी जो खून से तर थी, केवल पेटी बँधा भाग ही सफ़ेद बचा था। अतः दो लाल पट्टियों के बीच की सफ़ेद पट्टी पर सैनिक चिह्न अंकित है। **पुर्तगाल** के ध्वज की हरी एवं लाल आड़ी पट्टियों पर सैनिक-चिह्न अंकित है, जिसमें एक सुनहरे वृत्त के मध्य विजय के प्रतीक सात क़िले तथा मूरों की पराजय की सूचक सात ढालें बनी हुई हैं। **कनाडा** के लाल ध्वज में सैनिक-चिह्न दाहिनी ओर अंकित है और इग्लैण्ड का राष्ट्रध्वज बाईं ओर। **बोलीविया** के ध्वज की लाल-पीली तथा हरी बेड़ी पट्टियाँ क्रमशः देश के पशु, खनिज एवं वन-संम्पत्ति की सूचक हैं। सैनिक-चिह्न पीली पट्टी पर अंकित है। **कोस्टारिका** के पाँच बेड़ी पट्टियों वाले ध्वज में बीच की चौड़ी लाल पट्टी पर एक श्वेत वृत्त में सैनिक-चिह्न अंकित है। ऊपर तथा नीचे की सफ़ेद एवं नीली पट्टियाँ कम

चौड़ी हैं। **युकैडोर** के तिरंगे ध्वज में पीली एवं नीली पट्टियों पर सैनिक-चिह्न बना हुआ है। तीसरी पट्टी लाल है। **एल-साल्बाडोर** के ध्वज में दो बड़ी नीली पट्टियों के बीच की सफ़ेद पट्टी पर अंकित सैनिक-चिह्न के चारों ओर देश का नाम तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति का वर्ष १८२१ लिखा है।

राष्ट्रध्वज पर मानव-आकृति :

केवल **माली** के तिरंगे ध्वज में बीच की पीली आड़ी पट्टी पर काले रंग में मानव आकृति बनी है। ऊपर उठे हुए हाथ आशा एवं विश्वास के प्रतीक हैं। दाईं एवं बाईं ओर की पट्टियाँ क्रमशः लाल एवं हरी हैं।

सादे राष्ट्रध्वज :

शेष राष्ट्रध्वज बिल्कुल सादे हैं। उन पर कोई चिह्न अंकित नहीं हैं। इनमें से नौ देशों के तिरंगे ध्वजों की पट्टियाँ आड़ी हैं। **फ्रांस** के नीले सफ़ेद तथा लाल तिरंगे ने १७८९ में प्रथम बार स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व की घोषणा की। **इटली** ने प्रजा तंत्र, स्वतन्त्रता तथा एकता के प्रतीक क्रमशः हरे, सफ़ेद, एवं लाल तिरंगे को अपनाया। **बेल्जियम** ने काली, पीली तथा लाल; और **आयरलैण्ड** ने हरी सफ़ेद तथा नारंगी पट्टियाँ ध्वज के लिए चुनीं। **गिनी** के ध्वज में लाल, पीले तथा हरे और **चाड** के ध्वज में नीले, पीले एवं लाल रंग का प्रयोग किया गया है। **आइवरीकोस्ट** की पट्टियाँ नारंगी, सफ़ेद तथा हरे रंग की हैं। **कैमरून** की हरी, लाल एवं पीली पट्टियाँ क्रमशः वन-सम्पत्ति, सार्व-भौमिकता तथा सूर्य के प्रकाश की सूचक हैं। एक छात्र द्वारा निर्धारित **नाईजीरिया** के ध्वज की दो हरी पट्टियाँ कृषि तथा बीच की सफ़ेद पट्टी एकता एवं शांति की प्रतीक हैं।

कुछ तिरंगे राष्ट्रध्वजों में बेड़ी पट्टियों का प्रयोग किया गया है। **हंग्री** का तिरंगा लाल, सफ़ेद, एवं हरा है जब कि **नीदरलैण्ड** का ध्वज लाल, सफ़ेद एवं नीले रंग का है। **लक्सेमबर्ग** ने लाल, सफेद तथा समुद्री रंग, **गैबन** ने हरे, पीले तथा नीले रंग, तथा **कोलम्बिया** ने पीले, नीले तथा लाल रंग ध्वज के लिए चुने। **सूडान** के तिरंगे की नीली, पीली एवं हरी पट्टियाँ हैं। **थाइलैण्ड** के पाँच पट्टियों वाले ध्वज के लाल, नीले तथा सफ़ेद रंग क्रमशः स्वतन्त्रता, राज-तंत्र तथा बौद्ध धर्म के प्रतीक हैं। बीच की चौड़ी नीली पट्टी के दोनों ओर की सफ़ेद एवं लाल पट्टियाँ समान हैं।

एक अध्यापक द्वारा निर्धारित **मैलगासी** राष्ट्रध्वज की लाल एवं हरी पट्टियाँ तो बेड़ी हैं परन्तु दंड के समीप की सफ़ेद पट्टी आड़ी है। **दहोमी** के ध्वज में भी पीली एवं लाल पट्टियाँ तो बेड़ी हैं परन्तु दंड के समीप की पट्टी हरी है। **जेकोस्लोवाकिया** के ध्वज में बेड़ी पट्टियाँ तो सफ़ेद एवं लाल हैं परन्तु दण्ड के पास एक नीला त्रिभुज बना है जो पर्वतों का प्रतीक है।

फ्रेंचकांगो के ध्वज में हरे तथा लाल त्रिभुजों के बीच दोनों कोनों को मिलाती एक पीली पट्टी बनी है। **पोलैण्ड** का दो बेड़ी पट्टियों वाला ध्वज सबसे पतला है। पट्टियों का रंग सफ़ेद एवं लाल है।

इंडोनेशिया का राष्ट्रध्वज अत्यन्त प्राचीन है। लाल एवं सफ़ेद रंग के इस दोरंगे ध्वज का सर्वप्रथम प्रयोग १३ वीं शताब्दी में राजा जयवर्धन ने किया था।

● ● ●
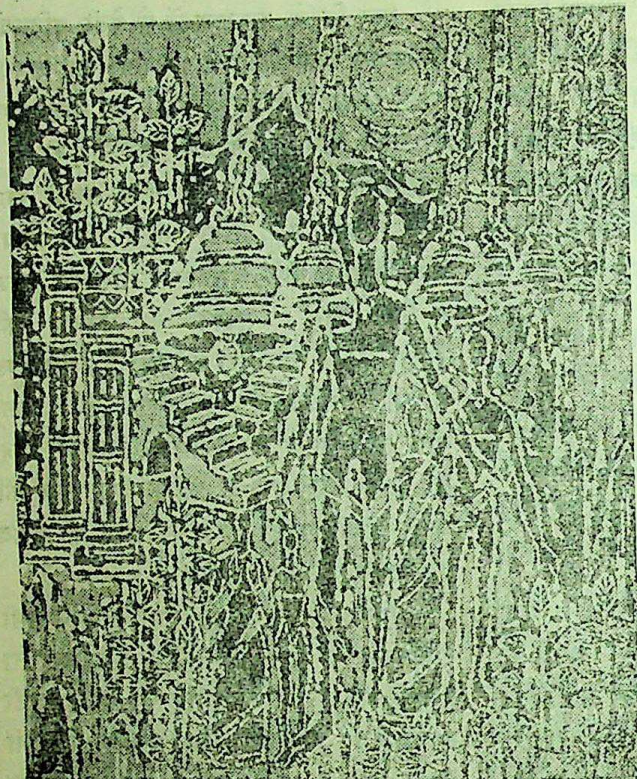
मुरियल रूकीज़र

अपने पूर्ण यौवन में अर्द्धरात्रिमयी गुफा में आया
रगें प्रचालित; तथा यह काम मैंने स्वयं किया
युद्धस्थल नहीं, अपनी सम्पूर्णता की कामना में,
विध्वंस की ओर उन्मुख विश्व के लिए, एक तारा--
वर्मवुड नामधारी उगा, टिमटिमाया,
धरती पर उबलते हुए मृतकों पर प्रकाश छिड़क गया
हमारे समस्त शब्दों को ठुकराकर,
भ्रष्ट जीवन के पीले दंश को
युद्ध के प्रति प्लावित कर गया।
विषाक्त मौसम में विश्व-भ्रमण

अ ज न्ता

और छायाहीन अजन्ता के अतिरिक्त
कुछ भी अवशिष्ट नहीं।
बादलों में डरावने सपने, पाषाणी हास्य,
तूफ़ान पर छाता हुआ पर्वत-वज्र
कुछ भी अवश्यंभावी नहीं—
केवल मात्र शान्ति का एक क्षण,
अविध्वंसनीय जल-प्रपात के पीछे एक छेद।
गुफा का सम्पूर्ण मार्ग
मृत्यु के अनेक स्वरूपों द्वारा ग्रस्त
और मृत्यु—हवा के समान सस्ती,
जीवन का मूल्य !
मैंने पश्चाताप की इस यात्रा में
अपने हृदय को आशीर्वाद दिया।
क्योंकि यह कभी भी सहने में असमर्थ नहीं था :
जबकि मैंने उस व्यक्ति को देखा जिसका चेहरा
भविष्य जैसा लगा,
जबकि मैंने उस रमणी को देखा जिसके लाल केश थे,
अपने बालक को देखा जो मेरा घातक है।
इस तरह मैं स्वर्ग और अपनी समाधि के मध्य जा पहुँचा,
यात्री की प्रशान्त मुस्कराहट के पार
इस गुफा तक जहाँ आख्यान हृदय में पुनः
प्रवेश करता है।

२. वह गुफा

मस्तिष्क में स्थल, स्वप्न की रंगीन गुफा।
यह गर्भाशय नहीं, अच्छाई ही यहाँ एक मात्र उदय होती है :
यह तो रंगमंच है, न काल्पनिक, न वास्तविक
जहाँ भित्तियाँ ही दुनिया है
चट्टानें व महल यहाँ पल्लवित धरती पर स्थित हैं।
यदि तुम अपना हाथ बढ़ाओ,
तो विश्व की परिधि को छू लोगे—
देवताओं, जानवरों तथा मनुष्यों में अन्तर्निहित।
यहाँ कोई पृष्ठभूमि नहीं। ये मूर्तियाँ
गत्यात्मकता के जाल में भी शान्ति से स्थिर हैं।

यहाँ कोई कुण्ठा नहीं, हर मुद्रा का स्थान है,
प्रत्येक वस्तु सम्बन्धशील है।
ये दीर्घ मांसल कंधे, जाँघें, ये रक्त-जीवित मांसपेशियाँ,
तथा पृथ्वी-रंगों में परिवर्तित,
शीशे में परिवर्तित जल,
आकार में परिवर्तित अग्नि
जीवन टिमटिमाता-सा
प्रेम की नाज़ुक भुजाओं में अन्-अंकित।
इन भित्तियों का आधार शरीर का जीवित स्थल है;
पसलियों को नोचकर बाहर निकालो
और समय के रंग को आत्मसात् करलो
जहाँ कि कुछ भी बहिर्मुखी नहीं, जहाँ विश्व
प्रज्वलित चक्रों में प्रकट होता है।

खंभे तथा फानूस
सवार और घोड़े, चेतना की मूर्तियाँ,
लाल गाय बढ़ती है--सारे विश्व में बढ़ती जाती है।
मांसल पवित्रता के प्रचलन में फेंके हुए,
ये शरीर बन्द किये गए हैं--गर्म ओठ और
शीशई हाथ
ज्योति के जंगल में।

रंग की चादर ओढ़े, कामुक
भविष्यसूचक पलक लम्बी आँख पर खिंची है
तरल और कमज़ोर। शरीर के ये स्थल
एकाएक सीमा-मुक्त हो चले हैं,
और गतिशील मांस
सुनहरे वक्ष पर
ब्रह्मांडों का सृजन करता है,
सुगन्धों का जमघट तथा अलौकिक स्पर्श---
पैशाचिक स्पर्श, ज्योति से मुद्रित कंठ,
दीर्घ रूपरेखा से सज्जित मुद्रा जहाँ पर शरीर स्थिर है।
घण्टे, तथा चेतना आलोड़ित।
ये धार्मिक घंटियाँ,

सूर्यप्रकाश में ताँबे की घंटियाँ जैसे जानवरों से बज रही हों,
कुंठित पवन में ताँबा, भित्तियों की स्मृति,
समय के जाल में महान, मांसल कंधे।

३. वह स्नेहिल पाशविकता

दुलारों का एक जुलूस प्राचीन आकाश को बदल देता है,
जब तक कि नए अन्तरिक्ष का शरीर ज्योतिर्मय हो :
यहाँ वह हाथ है जो हाँकता है,
वहाँ वह क्षितिज-वक्षस्थल,
तथा वो द्रवित गिरि को सुलगाते हुए महान तारे।
सब-के-सब कमरे तिलस्मी डिब्बों में ही खुलते हैं,
कुछ भी बाँकापन नहीं, सब टिमटिमाता-सा
कामुक और अद्वितीय।
मेरे कंठ पर अपना पंजा रखे हुए वो चीता
काला पड़ जाता है और बह जाता है।
समस्त मार्गों के बीच एक बदन-विहीन रमणी
गुजरती है और,
सम्मिलित व्यक्ति केवल एक शब्द फुसफुसा रहे हैं।
वो चेहरा जिसे मैं पहचानता हूँ
एक काला स्याह गुलाब बन जाता है।
वो तीखा चेहरा अब एक बिजली का पंखा है
और मुझे एक शब्द कहता है।
पासा, शराब और विनाश——
स्वयं को पी चुके हैं और ढल भी चुके।
हानि की विकृत बोतल और शीशा
चेहरे में रक्तिम हो गये हैं।
अब दृश्य सामने आता है——अत्यन्त निर्मल।
स्वप्न संभाषी, वायुपंखी, बुलाये हुए अब
आत्मसमर्पण करते हैं।
वक्ष पर चढ़कर मुद्राएँ पहुँचती हैं,
गीतमयी, प्रगीतमयी, यह मुलायम नृशंसता,
कर और नाख़ूनी पंजे पहने हुए रजत भिखारी;
ओ प्रेम, मैं सेब की शाखा के नीचे खड़ा था,

मैंने मरोड़ें खाती हुई खाड़ी और छोटे काले
द्वीपों को देखा,
...और रात्रि द्वारा प्रवहमान सरिता
तथा धुंधला शब्द ।

मेरे जीवन ने तुम्हें कहा : मैं तुम्हें पूर्णतः प्रेम
करना चाहता हूँ ।
पहिया पीछे मुड़ेगा, और मैं पुनः जीने आऊँगा,
परन्तु लहर मचलती है, मेरा जन्म होता है
और भरे वक्ष पर मेरी क़ब्र वाले विश्व को
बिखेर देती है, और तुम्हारी आँखें धरती
की ओर खुल जाती हैं! तुमने मेरे जीवन का
स्पर्श किया है!
मेरे प्राण चर्म तक पहुँचते हैं, तुम्हारी मुस्कुराहट
में समाते हैं,
और तुम्हारा कंधा, तुम्हारा कंठ, तुम्हारा चेहरा
और तुम्हारी जाँघें सब खिल उठते हैं ।

अवरोधित प्रक्रियाएँ मेरा पीछा करती रहती हैं
एक कोढ़ी जैसा अन्तर्पेक्षी,
एक वीभत्स संकेत द्वारा आल्हादित,
अंग-प्रत्यंगों का एवं दीर्घ और भगोड़ा
प्रचालन ।
क्या यही वह प्रेम है जिसने दीपों को
प्रज्वलित किया ?
हवा के थपेड़ों में ढँके हुए जनपथ
थपथपाते हैं,
फटी हुई सड़कें तथा जंगली बगीचे ।
मैं काफ़ी नीचे प्रविष्ट हो गया हूँ ।
मुझे अवश्यमेव अर्धरात्रिमयी गुफा ढूँढ़ लेना है ।

४. काला रक्त

मौत तक पहुँचने वाली आदत,
धूमिल हास्य सर्वप्रथम तो घृणास्पद माना गया,
बाद में आवश्यकता हो गई ।

भावनाओं का परिवर्तन। शिखर के नीचे
आसपास के परित्याजित बन्दरगाह में
आपद्ग्रस्त-सा जड़ रहना,
जब तक कि वीणा में गूँथी हुई यह महिला
खूब ज़ोर से चीखे, खूब चीखे,
और वह घंटाल बजे--चेहरे से भीमकाय मूर्तियों
को झुलाता हुआ।
वह प्रवहमान पुरुष विगलित सूर्यास्त पर चढ़ा जा रहा है,
पूछता जाता है,
क्या कहते हो? किसने प्रेम किया?
कौन प्रेमिका थी? किसने सर्वाधिक भोग किया?
आक्रोश का कवचधारी प्रेत
उद्दाम संभाषी पर अशक्त।
बस, केवल मुझे ढूंढ़ निकालो,
और मेरे रक्त का पुनः स्पर्श करो।
मुझे ढूंढ़ो। एक लड़की गली में दौड़ी जाती है
गाती हुई : मुझे संभालो,
चीखती है : मुझे सँभालो, सँभालो,
घंटाल से मुझे फाँसी लगा दो
और तुम जल्लाद बनकर इसे बड़े
मधुर स्वर में बजाना,
क्योंकि जो कुछ भी मुझमें पवित्र है
वह एक मेघ पुंज से ज्यादा नहीं
वशर्तें तुम इसे पुकारो--
झे दौड़ते हुए यह सुनाई दी,
इस सब रक्त के मध्य गूंजती हुई यह काली ध्वनि
'यह समझकर जिओ कि कहीं परमात्मा है।'

५. विच्छिन्न संसार

तो अजन्ता आ पहुँचा, वक्ष का अतिरंजित स्थल,
वास्तविक संसार जहाँ सबमें पूर्णता है,
यहाँ परछाइयाँ नहीं हैं
कोई अपूर्णता का स्वरूप भी नहीं।
प्रकाश में वह घंटाल बज उठता है

सवार और सवारी आ पहुँचे हैं
कंधे मुड़े और उपहार बँटते हैं।
परछाइँ नहीं गिरती।
विघटन का केन्द्र यहाँ नहीं है।
हमारी दुनिया में : एक वृक्ष से महिला की
परछाइँ गिरती है,
एक पुरुष से शिश्न की
एक उतिष्ठ हाथ से कोड़े की।
यहाँ हर वस्तु स्वयंसिद्ध है,
यहाँ चाहे हर व्यक्ति ग्रीष्म-धरती पर खड़ा हो जाय।
हर दीप को दीप्ति ने अपना लिया है,
हर आख्यान ने स्वयं को मांसल रूप दे दिया है।
नव स्रोत,
सम्पूर्ण प्रशान्ति,
तथा जीवन्त चेतना।
छाया-विहीन गुफा में
कोरा हाथ उठता है।
पशु आते हैं झुण्ड में
और मिल-जुलकर देवता भी;
और ज्वाला-निर्मित मानव।
मैं स्थिर और पूर्ण हूँ।
सारे विश्व की परछाइँ
दरवाजे से रेंगती हुई
मेरे पाँवों के पीछे तक पहुँचती है।
विश्व, जो अब तक विच्छिन्न है।
पुनः हृदय में प्रविष्ट होता है,
यह नग्न विश्व,
और आँसुओं का वही प्राचीन शोर,
वही भय, वही ग्लानि और प्रेम,
छायाग्रस्तों और एकाकी व्यक्तियों की दुनिया,
यह यात्रा और चन्द्रमा का यह संघर्ष।

[रूपान्तर : नरेन्द्रकुमार सेठी]
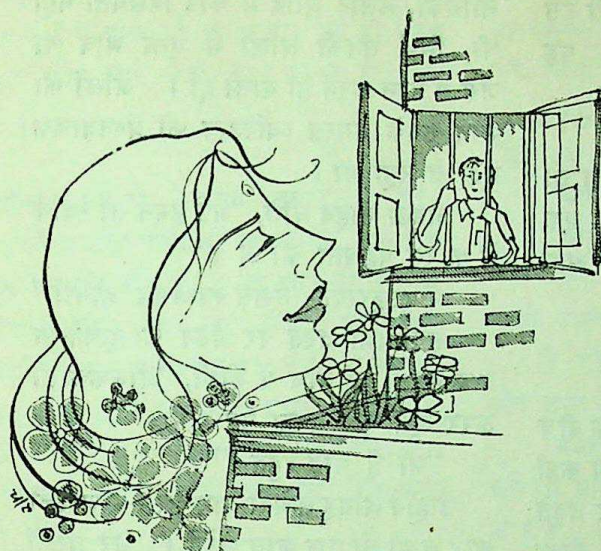
ममता अग्रवाल

जीवन वैसा ही तो नहीं जैसा दीखता है। इस संदर्भ में प्रस्तुत है यह मनोविश्लेषणात्मक कहानी जिसमें मातृत्व की ललक बड़े ही करुण रूप में चित्रित की गयी है।

इस कमरे में बहुत अँधेरा रहता है। खिड़की - झरोखा एक भी नहीं है। लेते समय मकान-मालिक से कहा तो उत्तर मिला : "वह तो जी बरसाती है। खिड़की का के करोगे, आगे-पीछे घनी बड़ी छत है, सुबह-शाम तुम्हारी रहेगी। बिचली मंजिल वाले तो सिर्फ रात में सोने आवें। दुपहर में बड़ियाँ-पापड़ भले ही सूख ले, बाकी तो पूरे दिन तुम बरतो।"

मैंने उन्हें ख़ुश करने के लिए कहा: "इतनी सुन्दर छत पर पापड़-वड़ी सूखेंगे ?"

वह तपाक से बोला: "वह तो जी खाली मकान-मालिक का हक़ है, हमारे सिवा कोई एक बनियाइन भी तो सुखा ले। अरे सारी शोभा खत्म हो जावे इन फूल-पौधों की।"

मैंने छत पर तीन कतारों में रखे गमलों पर नज़र डाली।

कमरा विशेष पसन्द नहीं आया पर ग़रज़ मेरी थी। बड़ी मुश्किल से बस-स्टॉप के पास घर मिला था। सोचा, चलो और कुछ नहीं तो रूफ़-गार्डन का ही आकर्षण रहेगा। पुराने ढंग का होने पर भी मकान-मालिक ने डिफेन्स-कॉलोनी की नक़ल का घर बनवाया था। छत पर काफ़ी फूल लगवाए थे। तीन तरफ़ से नीची मँडेर पर सटकर क़रीब सत्तर-अस्सी गमले रखे हुए थे। एक क़तार में सुर्ख और सफेद गुलाब थे, दूसरी में डेलिया, पॉपी, और क्रिसे-

यों ही झर जाएँगे

न्थिमम बेतरतीब उग रहे थे और तीसरी इस मौसम में 'स्वीट सुलताना' से खिली पड़ रही थी।

०

पान खा के ख़याल से नीचे उतरा तो बड़े दरवाज़े पर नाइट-सूट पहने एक सज्जन मिले। देखकर मुस्कुराए, "आप ऊपर आए हैं शायद ?"

"जी, आप ?"

"यहीं नीचे रहता हूँ।"

इधर-उधर की औपचारिक बातों के बीच वे बोले, "अरे घर के होते हुए भी हम कहाँ खड़े हैं, आइए!" फिर अन्दर की ओर बढ़ते हुए बोले, "चाय वगैरह तो नहीं पिला पाऊँगा—सुनीता बीमार है; आज बातों की ही खातिर सही।"

पत्नी से परिचय कराया। चाय न पिला पाने की उनकी असमर्थता से मुझे लगा था, पत्नी के नाम पर कोई बीमार, पीली, बुझी, बदमिज़ाज काया होगी, पर वे बहुत स्वस्थ और चुस्त थीं। उनके बोलने के ढंग में इतनी स्फूर्ति थी कि बीमारी क्या, कोई और स्वास्थ्य की कमज़ोरी की भी संभावना नहीं नज़र आती थी। मुख विशष सुन्दर नहीं था। गठन की बारीकियों की बहुत-सी उलझनें उस चेहरे में नहीं थीं, अलबत्ता संवेदन-शीलता से उभर आया तीखापन अवश्य कौंध जाता था। आकार लम्बाई लिये था इस· लिए पहला ध्यान जाता था ठोढ़ी पर। ठोढ़ी खिंची हुई और पतली थी जैसी प्राय: चिन्तन-शील व्यक्तियों की होती है। उसके ऊपर ओठ थे, कुछ कसकर दबे हुए, मानो कहते-कहते ज़बरन रोक दिया हो। माथे पर बिन्दी नहीं थी पर उसका अभाव खटका नहीं। नासिका, ललाट आदि में कोई विशषता नहीं थी, सिर्फ़ उनकी आँखों में ऐसा भाव था जैसे वे प्रश्न करने ही वाली हों। आँखों का भाव उनके समस्त व्यक्तित्व को प्रश्नवाचक मुद्रा दे रहा था।

चड्ढा साहब बोले, "भई हमने तो स्वार्थ के कारण पहचान की है।"

मैं मुस्कुराया—"मुझसे क्या सिद्ध होगा?"

सुनीताजी तख्त पर बैठन का हल्का-सा यत्न करती हुई बीच में बोलीं, "आजकल तो ऊपर खूब फूल गदरा रहे होंगे।"

"जी हैं थोड़े-बहुत।"

उन्होंने आग्रह से मेरी ओर देखा—"आपको कष्ट न हो तो एक काम करेंगे। मेरे घुटनों में आजकल बहुत दर्द है। रोज़ संध्या करने के लिए तीन-चार गुलाब चाहिए। आप छत से डाल दिया करेंगे? मैं चढ़ूँगी तो दर्द बढ़ जाएगा।"

मैं झिझका—"संध्या के फूल यों दो मंज़िल से नीचे डालूँ.... ?"

"आवाज़ दे दीजिएगा, मैं लोक लूँगी। और फिर मेरी असमर्थता देख भगवान् इस धृष्टता पर रुष्ट नहीं होंगे।" उनके स्वर में आस्था थी।

साँझ को मैंने दो फूल तोड़े। बड़ा संकोच हुआ, आवाज़ कैसे दूँ, फिर आँगन की ओर मुँह करके कहा, "चड्ढा साहब!"

थोड़ी ही देर में सुनीताजी बाहर आईं और साड़ी का आँचल बाँए हाथ की बग़ल से निकालकर आगे फैला लिया।

कुछ दिन मुझे डर लगा। कहीं मकानदार देख लेगा तो मेरी ही गर्दन नापेगा। पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। क्रम बँध गया तो मैं मन्त्रवत् फूल तोड़ता, आवाज़ देता और फूल

नीचे डाल देता। फेंकने वाले की सावधानी या लोकने वाले की कुशलता, जो हो, फूल प्रायः लोक लिए जाते, गिरे शायद ही कभी हों।

०

शनिवार को मैं सिनेमा जानेवाला था। एक ज़ीना उतर गया तो याद आया, संध्या के फूल! बड़ी खीझ हुई, यह कहाँ की मुसीबत मोल ले ली। ऊपर गया, छत से दो गुलाब तोड़े और चलते-चलते उन्हें थमाने के लिए नीचे उतर द्वार थपथपाया। वे बोलीं, "मैंने आपके लिए अच्छी परेशानी कर दी। शनि, रवि, कोई छुट्टी नहीं होती इस काम की।"

ठीक वही भाव जो मेरे मन में ज़ीना उतर आने पर आया था, उनके मुख से सुन, मैं मुस्कुरा दिया—"नहीं-नहीं, मुझे कोई परेशानी नहीं है।"

वे बाहर बरामदे तक आईं : "कहीं जा रहे हैं क्या ?"

"हाँ, बहुत दिनों से सिनेमा नहीं गया, आज शायद निकल जाऊँ।" और फिर यों ही मैंने कहा, "आपलोग तो कभी ऊपर नहीं आते। किसी-किसी दिन आ जाया कीजिए टहलने।"

वे खिलखिलाकर हँसीं—"टहलने के लिए और छत पर! और बग़ीचे नहीं रहे! सच मानिए, मुझे तो इस चलन पर बड़ी हँसी आती है। उल्टी हवा चली तो बाग़-बगीचे भी छत पर पहुँच गए। फल ज़मीन और मिटटी में खिलते अच्छे लगते हैं, न कि सीमेंट और चूने की मुंडेरों के पीछे से यों सहम कर झाँकते हुए।"

मैं अचकचाकर उनकी ओर देखने लगा। ये बातें कहकर मेरे, ऊपर रहने को वे हास्यास्पद बना रही थीं या यह सिर्फ़ उनका एक विचार था ?

उन्होंने एकदम सहज भाव से पूछा, "कौन-सी पिक्चर जा रहे हैं ?"

"कोई भी, शायद 'धूल का फूल।"

"प्लेबैक किसका है ?"

"पता नहीं, कास्ट मालूम है।" मुझे उनके प्रश्न पर आश्चर्य हुआ था।

वे बोलीं, "कास्ट का क्या है। ऊँचे-ऊँचे नाम ठूँस देने से क्या बनता है!"

"गीतों का भी क्या है, रेडियो पर भी सुने जा सकते हैं।" मैं उसी टोन में बोल उठा।

उन्होंने सिर हिलाया—"तभी तो मैं सिनेमा नहीं जाती। लता की आवाज़ का दर्द, गीता का उन्माद, और आशा की अल्हड़ता यहीं सुन लेती हूँ।"

मैं चला तो बड़ा अजीब-सा लगा। फ़िल्मी गायिकाओं को भी सुनीताजी इतनी सीरियसली लेती हैं।

०

चड्ढा-परिवार मेरा बहुत ख़याल रखते थे। इतवार को प्रायः नाश्ता उन्हीं के यहाँ करता। यों भी कभी भी सुनीताजी आवाज़ लगा देतीं—"राकेशजी, जामुन खानी है ?" या "आज मैंने प्याज भर कर पराठे बनाए हैं।"

उस दिन ऑफ़िस से लौट ऊपर जा रहा था कि सुनीताजी ने पुकारा—"राकेशजी!"

नीचे गया तो मुस्कुराईं—"आज चड्ढा साहब नहीं लौटे अब तक। हमारे साथ चाय पी लीजिए, इफ़ यू डोण्ट माइण्ड।"

फिर मेरी फाइल, काग़ज़, अख़बार सब देखने लगीं। बैग में से किताब निकालकर

देखी, हेनरी जेम्स की कहानियाँ। पूछा—"पढ़ते हैं या दिखावे को रखते हैं ?"

मुझे अच्छा नहीं लगा : "क्यों, किताब भी क्या दिखावे की चीज़ है ?"

"हाँ, अँग्रेज़ी किताब। आपने नहीं देखा, बस-स्टाप पर आदमी के पास अँग्रेज़ी की किताब होती है तो शान से पढ़ने का अभिनय करते हैं, और हिन्दी की फ़ाइलों को सात तहों में छुपाकर रखते हैं।"

"मैं आपसे सहमत नहीं हूँ।"

"क्योंकि आप बात अपने पर रख कर देख रहे हैं। निरपेक्ष रूप से सोचिए, हममें-आपमें क्या, सारे देश में अँग्रेज़ी का प्रदर्शन ज़ोर पर है। निरक्षर भट्टाचार्य भी अँग्रेज़ी फ़िल्में देखते हैं, देश के कर्णधार शपथ अँग्रेज़ी में ही लेते हैं, खेती और खाद पर गाँवों में जाकर अँग्रेज़ी में भाषण झाड़े जाते हैं....।" सुनीता जी उत्तेजित हो आईं।

तभी चड्ढा साहब आ गए। सुनीताजी एकदम उठीं। उन्हें स्लीपर लाकर दीं, पानी पिलाया और चाय बनाने लगीं।

सुनीताजी पत्नी अधिक है या व्यक्ति, मैं निश्चय नहीं कर पाता। हर चीज़ पर उनका अपना दृष्टिकोण है जिसे वे पूरे आत्मविश्वास के साथ दूसरों के आगे रखती हैं। उनकी बहुत-सी थ्योरी हैं और फिर किन मसलों पर, रोज़मर्रा की छोटी-छोटी बातों पर। जब उत्तेजित होकर विवाद करती हैं, उनका मुँह तनिक आगे आ जाता है। या वैसे भी जब वे चुप रहती हैं, उनकी मुद्रा कोई अधिक शांत प्रतीत नहीं होती। उनकी आँखें बहुत सजग हैं और उनमें हमेशा प्रश्न का उतावला-पन रहता है। जब वे बोलती हैं, उस समय उनकी ओर ध्यान से देखने से चौंध-सी होती है इसलिए उनके बारे में सिर्फ़ उनकी अनुपस्थिति ही में सोचा जा सकता है। ऐसी ही उनकी बातें होती हैं। कहती वे इस ढंग से हैं कि उस समय महसूस नहीं होता। बाद में सोचो तो लगता है कि वह स्वयं को बहुत सुपिरियर मानती हैं क्या? मुझे याद है जब पहले-पहल मैं चड्ढा साहब के पास गया था तो वे बरामदे में किसी से बात कर रही थीं और उनसे बड़े लहजे में कह रही थीं—"आपको बैठने को कहती, पर अन्दर ड्राइंग-रूम नहीं, सिर्फ़ 'रूम' है।"

०

कल कोहली मेरे साथ आया। चाय पीकर हम रूफ़ गार्डन में टहल रहे थे। कोहली का अजीब स्वभाव है। कहता है, फूल देखने से उस पर उदासी आ जाती है। मैं क्रिसैंथि-मम की गिनती कर रहा था, वह ऊबकर

आनन्द

किसी भी महान् कलाकृति से मन पर क्या प्रति-क्रिया होती है ? उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति लन्दन संग्रहालय में टिटिएन की 'समाधि' देखता है, या 'मेइस्टर सिंगर' में पंचध्वनि का संगीत सुनता है तो उसकी आत्मा पर क्या असर पड़ता है ?

मुझे ज्ञात है कि मुझ पर इनकी क्या प्रतिक्रिया होती है। मुझे लगता है कि मैं सांसारिकता से ऊपर उठ गया हूँ। एक विचित्र और अभिव्यक्तिहीन आनन्द से मेरी आत्मा प्रफुल्लित हो उठी है, मैं स्वस्थ और सुरक्षित हो गया हूँ और जड़-जगत के समस्त बन्धनों से मुक्त-विमुक्त हो चुका हूँ। इसके साथ ही मैं अपने अन्तःकरण में ऐसी कोमलता अनुभव करता हूँ, जो मानवीय सम्वेदना से परिपूर्ण होती है।

नीचे झाकने लगा। अचानक ज़ोर से चौंका—"अरे यह यहाँ कैसे आ गई, कौन है ?"

मैंने देखा, सुनीताजी 'डिलाइट बेकरी' से डबल रोटी लिए आ रही थीं।

"अवे, नीचे रहती हैं। कोई चड्ढा साहब हैं, उनकी बीवी हैं।" और मैंने कोहली को कोंचा, "देखा, यह होती है स्मार्टनेस ! चलने का ढंग देखो, नहीं तो शादी के बाद स्त्रियों की चाल में ऐसी निश्चिन्तता आ जाती है कि उठती नज़र भी गिर जाए।"

कोहली लगातार मुझे घूरे जा रहा था।

"क्यों, तुझे क्या हो रहा है ?" मैं चिढ़ा।

कोहली ने नज़र उठाते हुए ओंठ दबा लिये—"कुछ नहीं, फँस गए तुम भी राकेश। होक्स है यह होक्स।"

"हू ? सी ! ह्वाई होक्स ?"

"पता चलेगा धीरे-धीरे। अपना तो आज दिन बुरा बीतेगा अब।"

कोहली के जाने के बाद मैं सोचता रहा, उसने ऐसे क्यों कहा ! शायद उसे इनके बारे में, इनके अतीत के बारे में कुछ मालूम हो। जो बीत गया उसका क्षोभ क्या ? वैसे भी मुझे उस सबसे क्या लेना-देना। हो सकता है, कोहली कभी इनके निकट सम्पर्क में आया हो, और इनके व्यक्तित्व से बौखला गया हो। सुनीताजी साधारण स्त्री नहीं हैं। इनके पास विज़न (Vision) है। हर स्थिति को वे युनिवर्सिलिटी में रखकर देख सकती हैं। उनकी दृष्टि सुलझी हुई है और बात स्पष्ट। यह देखकर मुझे हमेशा कितना संतोष मिला है कि वे कभी अपने मनोभावों के साथ बेई-मानी नहीं बरततीं। अभी उस दिन 'ईनोज़' लेने गया तो चड्ढा साहब ने बैठा लिया। बहुत देर तक आफ़िस की बातें कहते-सुनते रहे। सुनीताजी चाय दे गईं। उठते समय मैंने पानी माँगा। सुनीता जी लेकर आईं, मैंने शरारत से पूछा, "आप नहीं थीं यहाँ, लड़ाई हो गई क्या इनसे ?"

सुनीताजी उनकी ओर देखकर बोलीं, "मुझे आफिस की बातों में ज़रा भी रुचि नहीं है। इस बीच बैठे-बैठे एक कपड़ा-सी लिया।"

मुझे लगा, चड्ढा साहब बुरा मान सकते हैं। पर फिर स्वयं पर हँसी आई। विकार-रहित स्पष्टता का बुरा नहीं माना जाता।

सुनीताजी का व्यक्तित्व मुझे स्तम्भित करता है। उनकी बातें सुनकर कभी-कभी ऐसा चकित होता हूँ जैसे 'क्यूरिओ'

> **वास्तव में कोई महान मूर्त्ति या चित्र देखते समय, कोई तन्मय कर देने वाला संगीत सुनते समय मुझे जिस आनन्द की अनुभूति हुई है, उसे मैं उन्हीं शब्दों में व्यक्त कर सकता हूँ, जिन शब्दों में रहस्यवादी सन्तों ने आत्मा और परमात्मा के मिलन के आनन्द को व्यक्त किया है। इसी कारण, मैं यह मानता हूँ कि किसी ईश्वरीय यथार्थ से सम्मिलन, किसी स्वर्गिक आनन्द की अनुभूति, केवल धर्म के मार्ग से ही संभव नहीं है, प्रार्थना और उपवास के अतिरिक्त भी ऐसे मार्ग हैं जिनसे वहाँ तक पहुँचा जा सकता है।**
>
> —सॉमर्सेट मॉम
> ('द पार्शियल व्यू')

देखकर। वे स्त्री हैं, स्त्री-सुलभ आकर्षण से मंडित, यह बात मेरी चेतना में नहीं आ पाती। यों कई-कई बार उनके बारे में सोचते हुए मैं देर-से सोया हूँ पर ऐसे ही जैसे 'किंग लियर' पढ़कर घंटों-घंटों के लिए मेरी नींद उड़ गई है। उस असमय जागरण में रागात्मकता की कोई कड़ी नहीं जुड़ी।

o

यहाँ रात का कोई पहर शान्त नहीं रह पाता। दिन में काफ़ी सो लिया था, बस नींद उचट गई। पलँग पर हाथ का पंखा झलते-झलते लेटा रहा। ग्यारह बजे तक डी.टी.यू. बसों की घर्र-घर्र के साथ-साथ हल्के भारी क़दमों की आवाज़ें आती रहीं। फिर सामने नागिया पार्क के गेट खुलने की चरमराहट—वहाँ का चौकीदार पाँच-पाँच रुपए पर खोमचेवालों को अन्दर सोने देता है। आध-एक घंटे में ठिगनी फियाट की बैठी-बैठी भर्र-भर्र उठी और बंद हुई—लाला रतनदास ब्रिज से लौट आये। गली के कुत्ते बदतमीज़ी से बार-बार भूँकते रहे और मैं झुँझलाता रहा, कभी मकान पर, कभी इस मुहल्ले पर। नींद नहीं आनी थी, नहीं आई। बहुत देर तक आँख बन्द कर सोने की कोशिश की, पर आँखें विरोध करते-करते दुखने लगीं, खीझकर मैंने अच्छी तरह से पूरी खोल लीं और पंखे की डंडी से पीठ खुजलाता रहा।

कभी-कभी ऐसे ही सवेरा हो जाता है और मैं एक पल नहीं सो पाता। फिर पूरे दिन सिर भारी रहता है और ख़ूब उबासियाँ आती हैं।

अँधेरे के आखिरी दौर में दूध वालों के साइकल-डोल खड़के, और बहुत-से घरों से नल चलने की आवाज़ आई। पलँग [illegible] बिल्कुल पास खट् से सुतली बँधा अख़बा[र] आकर पड़ा। याद आया, 'वीकली' ख़रीद[नी] थी, पर अख़बार वाला दिल्ली के चलन [के] मुताबिक साइकल पर चढ़े-चढ़े अख़बार [...] मंज़िल ऊपर फेंककर जा चुका था। ले[टे-] लेटे कमर दुःख आई थी, सो खड़ा हो गया। सतवन्ती के छप्पर में दूध लेने वालों [की] लम्बी-सी लाइन लगी थी और वह [...] बड़े-बड़े हाथों से गाय ठेल रही थी।

साढ़े पाँच से ज्यादा नहीं बजा था। घरों के आगे पत्थर के कोयलों की धुएँद[ार] अँगीठियाँ धीरे-धीरे चेत रही थीं। [...] पर नज़र डाली तो देखा, एक औसत क़द [की] आकृति बाईं पटरी पर धीमे-धीमे क़दमों [से] आ रही थी। ज़रा ध्यान दिया तो च[ौंक] गया, अरे यह तो सुनीताजी हैं! मुझे [हँसी] आई, सुबह घूमने का शौक़ चर्राया है।

o

आज आफ़िस में काफ़ी सरगर्मी रही। डा[इरे]क्टर साहब ने गंगाराम चपरासी को बुला[कर] पूछ लिया : कल तुम दफ्तर की गाड़ी [में] कहाँ जा रहे थे ?"

गंगाराम अपने औघड़पन के लिए म[शहूर] है। सीधा जवाब दिया : "कुतुब जा[रहे] थे साब। छुट्टी के रोज़ बस नहीं मिल[ती], सो हमने डिराइवर को परसूँ ही कह दि[या] था, हमें पहुँचा देना।"

साहब लाल-पीले हो गए। [...] डाँट-डपट की और 'एक्शन' लेने की ध[मकी] दी। गंगाराम आदतन बिखर गया, "[...] आँखें मत दिखाओ। ऊपर का लोग कि[तनी] बेईमानी करे, सब माफ़। हमें पकड़ते [...]

एक दिन चला गया तो क्या हुआ ! आप रोज़ दफ्तर की गाड़ी में घर जाते हैं, मंगलवार को मेमसाहब इसी गाड़ी में हनुमान जी को प्रसाद लगाने जाती हैं। पिछली मर्तबा आपने भगवान सिंह को सिर्फ़ इलायची लेने गाड़ी में दौड़ाया था। साब लोगों की खुद की गाड़ी हफ्तों गराज से नहीं निकलती। साब, हम एक्सन से नहीं डरते, साफ़-साफ़ कह देंगे।"

सारे दिन आफिस में आतंक रहा। पता नहीं, कब सर उबल पड़ें, क्या हो ! गंगाराम मज़े में स्टूल पर बैठा बीड़ी पीता रहा।

पाँच बजे छूटे तो जैसे सबको नई आवाज़ें मिल गईं। भाटिया चलते-चलते बीच में ठहर-ठहरकर जोश दिखाता रहा : "आज कपूर साहब को याद रहेगा। डायरेक्टर हैं इसीलिए जो मर्ज़ी आए, करते हैं।"

हरवंश क्रांतिकारी विचारों का है : "अपर क्लास से करप्शन तभी जाएगा, जब नीचे वाले बग़ावत करें।"

मैं चुप सब सुनता रहा। फिर सब अपनी रूट के क्यू में खड़े हुए। कोहली बोला : "ज्यादती कहाँ नहीं है। अब देखो इक्कीस और छः नम्बर की कितनी लम्बी लाइन है और यह राकेश खड़ा है इनेगिनों में।"

भाटिया बोला, "क्या ख़याल है, आज चाय रूपनगर चलकर पी जाए।"

परिणाम यह हुआ कि भाटिया और कोहली दोनों मेरे साथ आ गए।

शाम अच्छी बीती। कोहली शादी के पहले अपने अफेयर्स के क़िस्से सुनाता रहा। भाटिया ने कमरे को सजाने के ढंग सुझाए। आठ-साढ़े आठ पर बस-स्टाप पर उन्हें छोड़ने गया तो देखा सुनीताजी मोड़ के उस ओर से जी. टी. रोड पर चली आ रही हैं। मैं चौंका होऊँगा क्योंकि कोहली ने ताड़ लिया। पास आते-आते उसने भी पहचान लिया और सस्ता-सा एक गाना गुनगुनाता आगे बढ़ गया। मैंने सुनीताजी से पूछा, "कहिए, कहाँ जाने का विचार है ?"

"ऐसे ही," वे टाल गईं।

बस-स्टाप पर धौल जमाया कोहली ने मुझे : "तुझे बताकर जाएगी न ! इससे घर में बैठकर रोटी न पकाले। तू तो आँखें बन्द रखता है, खोलकर चलाकर, खोलकर।"

मुझे बराबर आशंका और उत्सुकता हो रही थी। उन लोगों से विदा लेकर पहुँचा, तो देखा, चड्ढा साहब बरामदे में खड़े थे। मेरी नमस्ते के जवाब में हाल-चाल पूछा। इधर- उधर की बातों के बीच मैंने कहा, "सुनीताजी दिखाई नहीं दे रहीं....?"

चड्ढा साहब मुँह फेरकर अनसुना कर गए।

न जाने क्यों कोहली की बात, सुनीताजी का 'ऐसे ही' और चड्ढा साहब का दूसरी ओर देखते हुए अनसुना कर देना, सब मन में चक्कर लगाते रहे। महसूस हुआ, जैसे इन सबमें कोई सिलसिला है। कहीं कुछ है जो मुझे मालूम नहीं है। इस बीच एक दिन भी नीचे से पुकार नहीं आई। चड्ढा साहब खुद थके-थके-से ऊपर आते और फूल ले जाते। मैंने कई बार मार्क किया, सुनीता जी आठ-नौ बजे घर से निकलती हैं और कभी सुबह, कभी दो घंटे में, कभी उसी वक्त लौटतीं।

न चाहते हुए भी न जाने कैसे-कैसे क़िस्से याद आते रहे। अभी अखबार में उस दिन

पढ़ा था : 'रोहतक रोड की एक महिला को दो वर्ष की क़ैद। उसने सिर्फ़ अपने-आप से इतना कमा लिया था कि उसका मकान खड़ा था।' ध्यान आया, छुटपन में, माली का अपनी बीवी पर चीखना : 'नाक काट लूँगा बाहर पैर धरा तो'। आँखों के सामने अजीब-अजीब बेतरतीब चित्र बनते-बिगड़ते रहे। बाबूजी का दीदी के पीछे-पीछे नौकर भेजना। अम्मा का बाबूजी के आगे धोबन को न आने देना। पड़ोस की सीता पर रातों में मार पड़ना। फिर स्वयं पर क्रोध आया, ख़ामख्वाह दिमाग़ ख़राब कर रहा हूँ। मुझे क्या ?

उठकर घूमने चल दिया। बंगलो रोड होता हुआ रिज पर जा पहुँचा। झाड़ियों से घिरी पतली-सी सड़क के अन्त पर किसी क़िले का छोटा-सा अवशेष था। बहुत-सी सीधी सीढ़ियाँ थीं, ऊपर जाकर, एक छत और चबूतरा। रिज रोड के इस भाग से बसें नहीं गुज़रतीं, इसलिए शांति थी चारों ओर। पैकेट में पड़ी पाँचों सिगरेटें ख़त्म हो गईं तो मैं लाइटर से खेलता हुआ रिज की पहली सीढ़ी पर बैठ गया। बहुत-कुछ अगला-पिछला याद आता रहा और वर्तमान जैसे बिल्कुल लोप हो गया। मुँदती साँझ के साथ आँखें मूँदे न जाने कब तक बैठा रहता कि परिचित-सा संबोधन सुनाई पड़ा : 'राकेशजी !' मेरी हड़बड़ाहट के बीच ही प्रश्न हुआ—"तबियत ठीक नहीं है क्या ?"

सँभलकर देखा तो सुनीताजी थीं। मन में उदासीनता स्पष्ट करने की तीव्र इच्छा हुई, सायास दाबी—"नहीं यों ही बैठा था।" और मैं उठ खड़ा हुआ। चाहा पूछूँ, "आप इस समय कहाँ जा रही हैं ?" पर रहने दिया। वे सहज मेरे साथ-साथ चलने लगीं। उनके प्रति मेरा सारा सरल संवेदन जैसे चुक गया था। बिल्कुल चुप मैं चलता रहा। सुनीताजी ने दो-एक बार कनखियों से देखा, फिर हल्की-सी हँसी के साथ बोलीं : "राकेश जी, आप शादी कर लीजिए।"

"क्यों ?" न चाहते हुए भी मेरे स्वर में व्यंग था।

"अविवाहित व्यक्ति गंभीर रहे तो उदास लगता है। और यों हर समय उदास रहना बड़ा भ्रांतिपूर्ण होता है।" वे मेरी ओर बात की स्वीकृति के आग्रह से देख रही थीं।

"हाँ, विवाह के बाद कई बातों का सर्टिफिकेट मिल जाता है।" मेरी टोन नहीं बदली थी।

सेंट स्टीफेन्स के मोड़ तक कोई नहीं बोला। साँझ पूरी धुँधुआ गई थी। सुनीताजी उन्नाबी रंग की साड़ी में लिपटी ऐसी लग रही थीं मानो मेरे साथ गहराते अँधेरे का एक अंश चल रहा हो। सारे सुनसान को जब-तब कालेज के लड़कों की टोलियाँ बेध जाती थीं। धीरे-से बाँह पर मैंने उँगलियों का दबाव महसूस किया। मैंने अरुचि और उपेक्षा से उन्हें देखा। सुनीता जी का स्वर बिल्कुल मद्धिम था : "राकेश, तुम्हें क्या हो जाता है ? अचानक इतने अनप्लेज़ेन्ट हो जाते हो ? बुरा मत मानना, यह कड़वाहट सिर्फ़ तुम्हें ही नहीं, दूसरों को भी तोड़ती है।"

मैं ओठों को मोड़-मोड़कर आकृतियाँ बनाता-बिगाड़ता रहा।

उनकी आवाज़ भींगती जा रही थी : "इतने दिनों से तुम चड्ढा साहब से भी नहीं

बोले। राकेश, आजकल वे बहुत दुःखी हैं। परेशानी भी नहीं बाँट सकते दूसरों की ?"

मेरे मुँह से निकल ही गया—"पति की परेशानी पत्नी के अलावा कौन दूर कर सकता है।"

सुनीताजी के समगति से चलते क़दम यकायक थम गए : "उनका दुःख दूर करने की सामर्थ्य मुझमें होती तो क्या तुमसे कुछ कहती। नहीं राकेश, भगवान ने मुझे इतनी शक्ति नहीं दी कि उनका दर्द दूर कर सकूँ।"

नया मोड़ आ गया था।

"आप उन्हें अकेला मत छोड़ा कीजिए, उससे आप्रेशन बढ़ता है।" मैंने द्रवित होने का अभिनय किया।

सुनीताजी के शब्द बदहवासी के कारण अस्पष्ट होते जा रहे थे—"न छोड़ूँ तो.... तो.... हम दोनों पागल हो जाएँगे। ओफ़! तुम नहीं समझते। घर-बार होता, गृहस्थी होती तो जान जाते....कैसे बताऊँ! ये पिछले तेरह साल....हर बार ....हर बार उनकी आस टूटी है।" और शब्द टूटकर फुसफुसाहट बन गए, फिर धीरे-धीरे तेज़ होते गए। हम.... हम हमेशा दो ....हमेशा दो रहेंगे....हमेशा....दो.... ओफ़...रा...के....श, वह....ती..तीन होने का सुख....वह कच्चे - कच्चे दूध की गंध....वह घर में खिलखिलाते गुब्बारे....कभी हमारे नहीं होंगे। कोई नन्हें-नन्हें हाथ मेरा आँचल नहीं खींचेंगे.... यह ऐसा ही रहा आएगा....चुना....जमा-जमाया.... । राकेश, तेरह साल से.... जब-जब इसका आभास तीव्र होता है, वे विक्षिप्त-से हो जाते हैं....नीता, हम अब भी योंही हैं, यों-के-यों....उनकी दयनीय मुद्रा मैं सह नहीं सकती राकेश! एक-दूसरे की शक्तिहीनता का वह बोध! घर उस समय जलता हुआ रेगिस्तान लगता है...।"

मैंने उनके कंधे पर हाथ रखा।

सुनीताजी ने मुख उठाया। आँखों में आँसू नहीं थे; उनकी पीड़ा आँसू से परे थी। उनकी साँस जल्दी-जल्दी चल रही थी। अब वे सँभलने की पूरी कोशिश कर रही थीं।

"अगर....अगर पास में यह अस्पताल न होता तो....तो आज मैं पागलखाने में होती....ओह, यहाँ खड़े हो चिल्ड्रेन्स-वार्ड से आती बच्चों की रुलाहट सुनने की तृप्ति तुम नहीं जानोगे राकेश! मैं बरसों इस दीवार से चिपकी खड़ी रह सकती हूँ, वे नन्हे, मासूम, दन्तहीन आलाप सुनने के लिए।"

गाढ़ी रात में घर का आकार अस्पष्ट-सा दीख रहा था। सुनीताजी पैर रखते रखते पूरी सिहर गईं : "नहीं, घर नहीं.... यहाँ आने से लगता है, हम रूफ़ गार्डन के फूल हैं; स्वयं खिल लिये पर कभी मिट्टी के अन्दर-अन्दर अपनी जड़ें फैला कर अँकुए नहीं फोड़ पाएँगे। हम गमले की परिधि में अपनी अवधि समाप्त कर जाएँगे.... बिना ....एक भी अंकुर दिए....!"

●
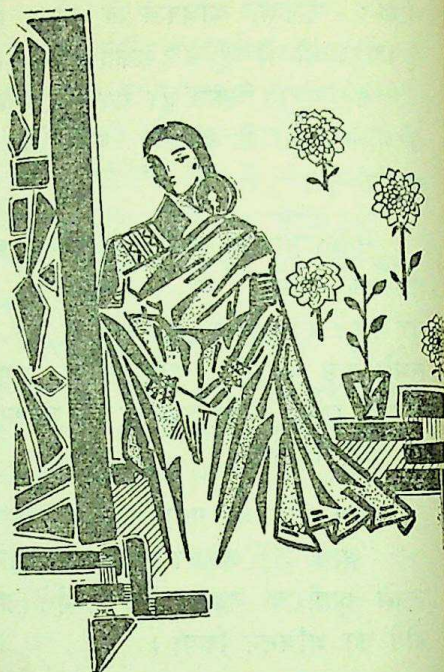
डॉ० निर्मला जैन

•

मेरी संवेदना, पुंजीभूत भावना—
मर गई !
सिर्फ़ बाक़ी हैं—
मौत के बियाऽबान साऽऽये
और कोहराम की पीन-पीन जमती परतें।
बहुत चाहा—
ज्ञान की, विवेक की संजीवनी से
जिला सकूँ
फिर हँस सकूँ, गा सकूँ, रो सकूँ
तुम्हारे प्यार पर, दुलार पर
निर्मम प्रवंचना पर !
पर अपने ही हाथों :
सब्र की ठंडी, संगमरमरियाई क़ब्र में
भावना इतनी गहरी दफ़नाई गई
औरंगज़ेब के संगीत-सी
कि जी उठने की सभी संभावनाएँ नष्ट हो गईं।
और मैं स्तब्ध-सी, अवाक-सी
इस मौत पर रो भी सकती नहीं !

बहुत दिन पहले, ज्ञानजीवी संतों ने
मोह-ममता की जिस मौत को, विरक्ति को
तटस्थता को, निर्विकारता को,
सोऽहं भी साधना कहकर पुकारा था
यह नहीं वह
भावना की मौत पर, जब हम रोते नहीं,
दुखी होते नहीं
इसे मुक्ति मानकर
मनःव्याप्त, तपःपूत शान्ति से
उल्लसित होते हुए, आश्वास्त हो जाते हैं
हम सन्त कहाते हैं।

किन्तु--
आज के मनःज्ञानजीवी की भाषा में--
यही 'कुण्ठा' है। शमन नहीं, 'दमन' है।
'फ्रस्ट्रेशन' है, 'मनोग्रंथि' है
'विकार' है--तन का नहीं मन का।
काश! कर पाती रूपान्तरण इस रुदन का
कोहराम का, उद्वेलन का, दमन का।
शम में, शान्ति में, शमन में।
पर मैं सन्त नहीं मानव हूँ।
इसीलिए--
भावना की इस मौत पर
उल्लसित हो पाती नहीं।
मैंने स्वयं इसका गला घोटा है,
और भावना के हिंसक,
पूर्णकाम होते नहीं।

संवेदना की मौत पर

अहमद सलीम

●

उर्दू के प्रसिद्ध शायर और कहानीकार 'अख्तरुल ईमान' के व्यक्तित्व और रचनाओं का विवेचन--साहित्य-एकाडेमी ने १९६३ में जिनकी कविता-पुस्तक 'यादें' को पुरस्कृत किया है।

●

कितनी ख़ुशबूएँ, रंग रंग के फूल
मुन्तज़र राहरौ की आमद के
सुबह से शाम तक सँवरते हैं
रोज़ोशब इन्तज़ार करते हैं !

अख्तरुल ईमान की शायरी, जिसे संकेतों और रहस्य की शायरी कहा जा सकता है प्रगतिशील-लेखक-संघ की हमसिन है। ४१–४२ में अपनी चन्द इनी-गिनी नज़्में पेश करते ही उन्होंने जमी-जमायी महफ़िल में अपनी जगह बना ली। उनके लहजे के नयापन के अलावा जो चीज़ दिल का दामन खींचती है, वह है ख़यालों की थमी-थमी कैफ़ियत और दर्द की हल्की-सी लहर, जैसे बादलों में बिजली कौंध जाये। उनकी कविताओं का अन्दाज़ ऐसा होता है जैसे कोई चिन्ता में डूबा अपने-आपसे बातें कर रहा हो और उसे दूसरों के पास होने का एहसास न हो।

'अख्तरुल ईमान' की पहली कविता जो मैंने देखी वह 'नक्शे-पा' थी, उससे शायर की कल्पना कुछ इस तरह बँधी थी, जैसे कोई आदमी खड़े-खड़े धरती की ओर देख रहा हो; और चल रहा हो तो आँखें झुकाए धीरे-धीरे बढ़ रहा हो।.... कल्पना गोया ठहरी और जमी हुई थी।

'अख्तरुल ईमान' की शायरी के बारे में यह एक बात विशेष रूप से कही जा सकती है कि उन्होंने जो कुछ लिखा—उस वक्त नहीं
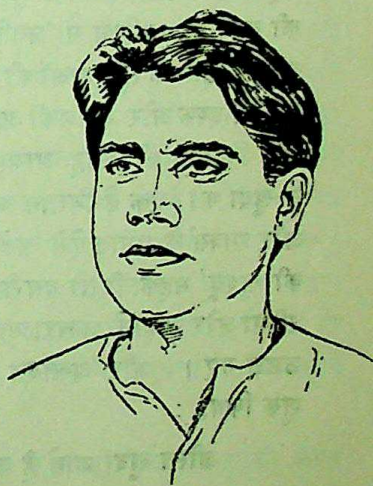
संकेतों और रहस्य का शायर

अख्तरुल ईमान

लिखा जब वह उन अनुभवों से गुज़र रहे थे बल्कि उस वक्त लिखा जब वे अनुभव, यादें बन गये थे। और शायद इसीलिए उनकी अधिकतर शायरी में किसी-न-किसी याद-को-सा रंग है :

दूर तालाब के नज़दीक वह सूखी-सी बबूल
चन्द टूटे हुए वीरान मकानों से परे
हाथ फैलाए बरहना-सी खड़ी है ख़ामोश
जैसे ग़ुरबत में मुसाफ़िर को सहारा न मिले
उसके पीछे से झिझकता हुआ एक गोल-सा चाँद
उभरा बेनूर शुआओं के सफ़ीने को लिए।

हर ज़माना अपने कोलम्बस साथ लाता है, जो नयी दुनियाओं की खोज करते हैं। कभी बगिया की सैर करते हैं और कभी जंगल और पहाड़ों में भटकते हैं। और ये खोजी हुई दुनियाएँ अपने रंग-महल और अपनी कठपुतलियाँ अपने साथ लाती हैं। और फिर पुरानी दुनिया को बनाती-सँवारती हैं और नयी ग़लतियाँ करती हैं।

हमारे युग ने भी नए बाग़ सजाए हैं और नये जंगलों में भटकना सीखा है। यह ज़माना ज़्यादा उलझा हुआ और ज़्यादा गहरे-सोच-विचार का है। इस युग की हदबन्दी, साहित्य में प्रगतिशीलता के आन्दोलन से हुई जिसकी अगवानी में नयी साहित्यिक समस्याओं की आवाज़ फैली। औरत के चेहरे से रोमानी नक़ाब उतरे। इश्क़ और आशिक़ी आस्मानी न रहकर इसी धरती के होकर रहे। धर्म और विश्वास की जगह आज़ादख़याली कुछ इतनी बढ़ी कि 'नून-मीम-राशिद' ने ख़ुदा को एक बे-निशान जादूगर कहकर उसकी अर्थी तक उठा दी। फ्राइड और मार्क्स के प्रभाव ऐसे पड़े कि 'मीराजी' ने एक तरफ़ औरत के 'रसीले पापों की ख़ुश्बू' महकायी तो दूसरी तरफ़ शायरों ने अपने व्यक्तित्व के अन्दर झाँकना सीखा और उन्होंने अन्तरात्मा की झाँकी कुछ यों दिखायी कि हम सब उसमें उलझ गए। और 'अख़्तरुल ईमान' ने गम्भीरता से इस ज़िन्दगी पर सोचना शुरू किया :

ज़ीस्त ख़ुदा जाने है क्या शय; भूख, तजस्सुस, अश्क, फ़रार !
फूल-से बच्चे, ज़हरा-जबीनें, मर्द मुजस्सम बाग़ो-बहार !
मुरझा जाते हैं अक्सर क्यों ? कौन है वह जिसने बीमार !
किया है रूहे-अर्ज़ को आख़िर और ये ज़हरीले अफ़कार !
किस मिट्टी से उगते हैं सब, जीना है क्यों एक बेगार !

जीना एक बेगार सही, पर जिज्ञासा की धूल में बैठकर ज़्यादा देर खेला भी तो नहीं जा सकता। जबकि अख़्तर को इसका भी ज्ञान है कि :

नर्म हवा के झोंकों ही से खुलती है फूलों की आँख;
वरना दोनों साथ रहे हैं ठहरा पानी, बन्द कँवल ।

यों अख्तर के यहाँ यह विश्वास बाद में आया । इससे पहले तो इन्हें उस दोराहे पर खड़ा होना पड़ा था, जहाँ :

ज़िन्दगी इश्क की आहों के सिवा कुछ भी नहीं ।

सच पूछिए तो, दूसरे विश्वयुद्ध से पहले चीन में जापानी साम्राज्य की जीत, हस्पानिया में प्रजातन्त्र की हार, अबीसीनिया में मुसोलनी की जीत और हिटलर के आगे चैम्बरलेन की बेजान राजनीति और दूसरी ओर अपने ही हिन्दुस्तान में अँग्रेज़ों का ज़ुल्म और अपनी लीडरशिप की बेबसी—ऐसी बातें थीं जो शायरी में तरह-तरह से अपना छवि दिखा रही थीं । कभी आदर्श में लिपटे हुए रोमान्स के रूप में और कहीं दम घुटने वाली निराशा के रूप में । और ये दोनों धाराएँ 'अख्तर' की शायरी में भी साथ-साथ चल रही थीं । शायर हालात से अलग कहाँ रहता !

कहते हैं 'अख्तररुल ईमान' को शायरी की प्रेरणा 'अश्फ़ाक़' नाम के एक आदमी से मिली जो दिल्ली की गलियों में अपनी शायरी गा-गाकर, छोटी-छोटी किताबों की शक्ल में छापकर बेचा करता था । 'ऐसा शेर तो मैं भी कह सकता हूँ !' यह ख़याल एक दिन अख्तर के दिल में आया और उन्होंने ग़ज़लें कहनी शुरू कर दीं । ये उन दिनों दिल्ली के एक यतीमखाना मुईदुल-इस्लाम में रहते थे और छठवीं या सातवीं क्लास में पढ़ते थे । सन् ३४ में ये यतीमख़ाने की पढ़ाई पूरी करके फ़तहपुरी मुसलिम हाई स्कूल चले आए और ग़ज़ल छोड़कर एकाएकी नज़्म कहने लगे । स्कूल की पढ़ाई ख़त्म करके ये ऐंग्लो अरबिक कॉलेज चले गए और कुछ दिनों शेर कहने के बाद शायरी छोड़ दी और उसकी जगह कहानियाँ लिखने लगे । फिर एक वक्त आया जब कहानियों से भी जी उचाट हो गया । और 'अख्तर' के शब्दों में : "शेर कहना इसलिए छोड़ दिया था कि वह शायरी बड़ी बे-रस और बे-नमक लगी थी । कहानियाँ लिखना इसलिए छोड़ दिया कि वह बहुत मामूली लगी ।

एक ज़माना गुज़र गया, लिखना-लिखाना ख़त्म हो गया । उसकी जगह पढ़ने की ओर ध्यान दिया मगर कभी-कभी बड़ी उलझन होती थी । जी कुछ करने को चाहता था पर समझ में नहीं आता था क्या किया जाये । पागलपन इतना बढ़ा कि सर मुँड़वा दिया । जब पढ़ने से जी उचाट होता, कसरत करता । सुबह-सबेरे घर से निकल जाता, मीलों नंगे पाँव घास पर दौड़ता । दिन भर और रात भर दिल्ली की सड़कों पर भटकता फिरता—फिर एक दिन एक नज़्म कही—'नक्शे-पा' और उसके प्रेरक थे फीरोज़शाह कोटला के खण्डहर :

ये नीमख़्वाब घास पर उदास-उदास नक़्श-पा;
कुचल रहा है शबनमे-लिबास की हयात को।
वो मोतियों की बारिशें हवा में जज़्ब हो गयीं;
जो ख़ाकदाने तीरह पर बरस रही थीं रात को।"

हाँ तो ये अरबिक कालेज में से बी. ए. करने के बाद 'एशिया' को एडिट करने के लिए मेरठ चले आए। दिल्ली छोड़ना उनके लिए मुश्किल था। यहाँ आकर सप्लाई-डिपार्टमेंट और फिर रेडियो-स्टेशन में नौकरी कर ली। फिर एम. ए. करने के लिए अलीगढ़ चले गए। अलीगढ़ से पूना चले गए और फ़िल्म के लिए लिखने-लिखाने का पेशा अपना लिया जिससे आज तक लगे हैं।

अख़्तरुल ईमान ने शायरी शुरू की तो दिल्ली में उस्ताद 'हैदर देहलवी', पण्डित अमरनाथ 'साहिर', नवाब 'सायर देहलवी' और उस्ताद 'बेख़ुद' का ज़माना था। मिसरों पर गिरह लगाना, और मक्खी-पर-मक्खी बिठाना ही शायरी समझा जाता था। और दिल्ली में उर्दू शायरों का वातावरण कुछ इस तरह था कि :

एक मासूम उत्तर

एमिली डिकेन्सन के एक प्रशंसक ने उनकी कविताओं की प्रशंसा के बाद पत्र में साथियों सम्बन्धी कुछ व्यक्तिगत जानकारी भी माँगी। एमिली ने उत्तर दिया, "साथियों के नाम पर मेरे पास है—मुझे घेरे हुए पहाड़, डूबता हुआ सूरज और मेरी ही लम्बाई का एक कुत्ता.... दोपहर के समय पियानों-सा संगीतता हुआ घर का तालाब भी...

पहुँचे जो रात ख़्वाब में उनके मकान पर,
सोये जमीं पे, आँख खुली आस्मान पर।

वह तो 'अख़्तर' की ख़ुशक़िस्मती थी जो ग़ज़ल के इस उस्तादाना माहौल से अपनी शायरी का दामन बचा लेने में सफल रह सके। और अपने दिल में जीवन का प्यार समेटकर धरती पर बिखेरते रहे—उस धरती पर, जिसकी मिट्टी में फूलों की महक है, जो गुज़रे हुए प्यार का रक्षा स्थल है :

यहाँ की हर मुश्ते-ख़ाक फूलों का इत्र है, रूहे बर्गे गुल है;
ये मदफ़ने-इश्क़े-रफ़्तगाँ है, जमीं को नख़वत से यों न रौंदो।

और यह गुज़रा हुआ इश्क़ भी बड़ा महत्व रखता है। 'अख़तरुल ईमान' की एक नज़्म है 'तज्दीद'! यों तो नए सिरे से कुछ करने को 'तज्दीद' कहते हैं, लेकिन इस कविता से ज़ेहन अख़्तर के इश्क़ की ओर ज़रूर जा लगता। पुरानी शायरी में मुहब्बत का जहाँ-कहीं भौतिक अर्थ होता है तो उसकी ओट से अक्सर वेश्या की झलक भी दिखायी दे जाती है, और कहीं वह मुहब्बत ही सारी ज़िन्दगी की पूँजी ठहरती है। 'ग़ालिब' के यहाँ जब हमें **'मुद्दत हुई है यार को मेहमाँ**

किये हुए', 'आज फिर दिल को बक़रारी है' और ये कि : 'फिर मुझे दीदए-त्तर याद आया' जैसे ख़याल नज़र आते हैं तो ऐसा लगता है कि मुहब्बत सारी जिन्दगी नहीं बल्कि एक पल की ख़ुशी है जिसकी तरफ़ बराबर लौट जाने को जी चाहता है। 'अख्तरुल ईमान' की शुरू दिनों की शायरी में भी मुहब्बत का कुछ यही अन्दाज़ है। प्यार का दर्द उनके जीवन पर भी कुछ इसी तरह छाया है :

यों चाहो तो आ सकती हो; मैंने आँसू पोंछ लिए हैं।

०

मुस्करा उठता हूँ अपनी सादगी पर मैं कभी,
किस क़दर तेज़ी से ये बातें पुरानी हो गयीं।

०

तुम से कहना था कि
अब आँख में आँसू भी नहीं,
किसी ढलके हुए आँचल
का सहारा भी नहीं।

पर आज की मुहब्बत किसी 'देवदास', किसी 'वान गॉ' को तो जन्म नहीं दे सकती। आज का नौजवान तो 'नज़ीर' अकबराबादी की इस खरी सच्चाई का क़ायल है कि :

टुक देख लिया दिल शाद किया
ख़ुश - वक्त हुए और चल निकले।

और इन बदले हुए हालत में 'अख्तरुल ईमान' की आज की शायरी के ये चन्द नमूने देखने योग्य हैं :

फिर मैं काम में लग जाऊँगा
आ फुर्सत है प्यार करें।

०

तेरी मुहब्बत भरी निगाहों की दिलकशी भूलता नहीं हूँ;
मगर तेरा आस्ताँ न छूटे गुमाँ है मैं नक्शे-पा नहीं हूँ।

०

जीवन की इस दौड़ में नादाँ याद अगर कुछ रहता है;
दो आँसू, एक दबी हँसी, दो रूहों की पहली पहचान।

०

....मेरे ख़याल में मैंने आपके प्रश्न का उत्तर दे दिया है—फिर भी आपको उत्तर मिला या नहीं —यह आप अवश्य सूचित करें।"

यह मासूम पत्र क़रीब १०० वर्ष पूर्व अप्रैल १८६२ में लिखा गया था।

—परेश

विताओं
क्तिगत
साथियों
ा हुआ
पहर के
भी...

सरे-राह यों न बहकके चल कि ज़मीं पे रहते हैं और भी
जिन्हें हुस्न से भी लगाव है जिन्हें ज़िन्दगी भी अज़ीज़ है ।

'अख्तरुल ईमान' की शायरी की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उन्होंने नये ज़माने के व्यस्त लोगों की भावनाओं का चित्रण किया है—वह अनुभव, जो इस पीढ़ी के अपने अनुभव हैं और जिनसे आज से पहले लोगों को वास्ता नहीं पड़ा था, जिन्हें अचानक जीवन के फैलाव का एहसास हुआ है, जिन्हें अचानक दुनिया की फैलती-बढ़ती आबादी और अपने ही बोझ का घाव सहना पड़ा है—जहाँ लोगों को एक ऐसी ज़िन्दगी गुज़ारनी पड़ती है जिसमें सम्बन्ध की पवित्रता एक सपना बनकर रह गयी है, जहाँ मुहब्बत और भाईबन्दी के सारे बन्धन टूटकर रह गए हैं।

किसी ने कहा है कि सभ्यता तो समझौते का नाम है। और देखा जाए, तो अख्तर की शायरी—आदमी और बीसवीं सदी की सभ्यता के बीच समझौते की ही कहानी है। समझौता करने वाला बीच का वह नौजवान है जो आमों के बाग़ों और हरे-भरे खेतों से धुआँ उगलती चिमनियों के शहर में आ गया है और आशाओं के इस देश में उस बच्चे की तरह खो गया है जिसने मेले में अपने बाप की अँगुली छोड़ दी हो। 'अख्तरुल इमान' की शायरी का विषय यही है। आप चाहें तो इसे आदमी की कशमकश भी कह लें। लेकिन अख्तर इस सारे खेल में कभी हार कर पीछे की ओर पलट जाने को नहीं कहते, कभी खेतों की ओर लौट जाने और सभ्यता का दामन छोड़ने की सलाह नहीं देते बल्कि मेहनत और समझौते को ही समाज के लिए ज़रूरी समझते हैं।

सवाल पैदा होता है कि आज की दुनिया में वह कौन-सा आदमी है, जिसकी अपनी ही आवाज़ ने रह-रहकर टोका न हो और जिसने जीवन की कड़ी सच्चाइयों के आगे सर झुकाया न हो। वह कौन-सा कलाकार है, जिसने दूसरों के आगे अपने कला की झोली न फैलायी हो—और अब 'अख्तरुल इमान' के व्यक्तित्व में वह फैलाव आ गया है जो शायर की महानता की पहली मंज़िल कही जा सकती है, और 'एक लड़का' इसकी अच्छी मिसाल है। जिसके बारे में अख्तर ने 'यादें' की भूमिका में लिखा है :

"मैंने छोटी कविताएँ कभी प्लान करके नहीं कहीं, हमेशा चलते-फिरते कही हैं। हाँ, लम्बी कविताएँ सदा ही प्लान करके कही हैं। 'एक लड़का' पहली बार मैंने विषय के रूप में महसूस नहीं की थी, तस्वीर के रूप में देखी थी। मुझे अपने बचपन की एक घटना सदा याद रही है और यह घटना ही 'एक लड़का' की प्रेरक बनी है। हम एक गाँव को छोड़कर दूसरे गाँव जा रहे थे। उस वक्त मेरी उम्र तीन-चार साल की होगी। हमारा सामान एक बैलगाड़ी पर लादा जा रहा था और मैं उस गाड़ी के पास खड़ा यह सब-कुछ देख रहा था। मेरे

चेहरे पर दर्द और बेबसी थी, इसलिए कि मैं उस गाँव को छोड़ना नहीं चाहता था। ये बातें मैं उस वक्त नहीं समझता था, अब समझता हूँ।

वक्त के साथ उस लड़के की तस्वीर मेरे ज़ेहन से उतर गयी। मैं दुनियाँ के हंगामों में खो गया और शायर बन गया। फिर एक दिन ख़याल आया, मैं एक नज़्म कहूँ जिसमें अपने नाम का इस्तेमाल करूँ। देखा जाए तो यह लड़का और अपने नाम का इस्तेमाल वाला एहसास दोनों एक-दूसरे से अलग हैं मगर असल में एक हैं। वह लड़का जिसकी तस्वीर कभी मेरे ज़ेहन में थी उसका नाम अख्तरुल ईमान है। एहसास की इस दूसरी मंज़िल के बाद मुझे उस लड़के का जगह-जगह सफ़र याद आया। यह लड़का एक राही था। कोई एक इसका घर न था। इसके पास जीने के सामान न थे। इसका कोई भविष्य न था। मुझे इस लड़के से हमदर्दी हो गयी। यह हमदर्दी असल में अपने-आपसे थी, मगर मैंने अपने को इस लड़के से अलग कर लिया था, इसलिए मेरा व्यक्तित्व दब गया, इस लड़के का व्यक्तित्व उभर आया। मैंने इस लड़के को अपना हीरो बना लिया। मैंने इस लड़के के व्यक्तित्व को उजालना चाहा और 'एक लड़का' मनुष्यता की अन्तरात्मा का 'सिम्बल' बन गया। एक साल गुज़र गया—दो साल—तीन साल—चार साल—इन्द्र-धनुष के सारे रंग ग़ायब हो गए। फिर एक दिन रात के एक बजे मेरी आँखें खुल गयीं, ज़ेहन में एक मिसरा गूँज रहा था :

यह लड़का पूछता है, अख्तरुल ईमान तुम्हीं हो ?

मुझे मालूम था, यह लड़का कौन है ? मगर मुझसे यह इस तरह की पूछ-गूछ क्यों कर रहा है ? मुझसे मेरे किए का हिसाब क्यों माँग रहा है ? अब मैं सोचने लगा। समाज और उसकी अच्छाइयों में प्रतिकूलता, जीने के लिए मरना और बुराइयों के साथ सहयोग, धर्म का बाहरी और भीतरी रूप—ज़ेहन अपने किए का हिसाब देने लगा और हिसाब लेने वाला यह लड़का था। अख्तरुल ईमान का व्यक्तित्व दो हिस्सों में बँट गया। एक यह मासूम लड़का और दूसरा जिसने दुनिया के साथ समझौता कर लिया था।"

'अख्तरुल ईमान' के यहाँ आदर्शों के लिए जीने और मरने की लगन है और साथ ही इन आदर्शों की हार का दर्द है। पर अख्तर की शायरी खून में गर्मी प्रैदा करके हमें किसी इनक़लाबी नारों के लिए नहीं उकसाती; हाँ, ज़िन्दगी का एहसास ज़रूर दिलाती है, इतना ज़रूर बताती है कि :

बुरे भले यही सब लोग अपनी दुनिया हैं;
नक़ीबे-सुब्हे-बहाराँ इन्हीं की ख़ैर मनायें !

●

अयोध्याप्रसाद गोयलीय

प्रति मास यह स्तम्भ उर्दू काव्य के मर्मज्ञ श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय द्वारा संचालित होगा। उस्तादों की क़लम का जादू, कलाम के चमत्कार, साहित्यकारों के रोचक प्रसंग, नहलों की फुहार पर दहलों की बौछार, गुदगुदाने वाले शेर, झकझोरने वाले व्यंग्य; ग़र्ज़ यह कि इस स्तम्भ का हर मज़मून एक ऐसा गुलदस्ता होगा, जो अपनी सुरभित सुरुचि से पाठकों को मोहेगा।

० जुगनू की दुम

एक दिन राजा साहब के दरबार में अशरफ़ अली ख़ाँ 'फ़ुग़ाँ' ने ग़ज़ल पढ़ी, जिसका क़ाफ़िया था—लाइयाँ, जाइयाँ, आदि।

ग़ज़ल की सभी सुख़नफ़हमों ने तारीफ़ की। राजा साहब के यहाँ एक 'जुगनू' नाम का विदूषक था। उसकी ज़बान से निकला: "फ़ुग़ाँ साहब ने सब क़ाफ़िये तो बाँधे, मगर 'तालियाँ' क़ाफ़िया न बाँधा।"

'जुगन' की बात पर 'फ़ुग़ाँ' साहब ने ध्यान नहीं दिया। मगर जब राजा साहब ने फ़र्माइश की तो बोले—"हुज़ूर, इस क़ाफ़िये को अयोग्य समझकर छोड़ दिया। अगर आपकी ख़्वाहिश है तो अब भी हो सकता है।"

महराज के आदेश पर उन्होंने फ़िलबदी शेर कहा:

जुगनू मियाँ की दुम जो चमकती है रात को
सब देख-देख उसको बजाते हैं तालियाँ।

सुनिये, शायद पसन्द आये!

० क़ज़ा ले चली, चले

मुग़ल-साम्राज्य के अन्तिम सम्राट् बहादुरशाह 'ज़फ़र' अपने दो-चार दरबारियों के साथ वार्त्तालाप कर रहे थे। शैख ज़ौक़ भी उपस्थित थे। तभी एक हज़रत कोई आवश्यक सन्देश लेकर बादशाह की सेवा में उपस्थित हुए और उत्तर पाकर तुरन्त वापिस होने लगे तो एक दरबारी ने जिज्ञासा प्रकट की :

'ऐसी भी क्या जल्दी ? इधर आए, उधर चले।'

सन्देशवाहक के मुँह से अनायास जवाब मिला :

'अपनी खुशी न आए न अपनी खुशी चले।'

बादशाह ने उस्ताद की तरफ़ देखकर कहा—उस्ताद ! देखना क्या साफ़ मिसरा हुआ है ?

उस्ताद ज़ौक़ ने तुरंत गिरह लगाई :

लाई हयात[1] आये, क़ज़ा[2] ले चली, चले।
अपनी खुशी न आए, न अपनी खुशी चले॥

यह संयोग की बात है कि उक्त गिरह लगाने के दो-तीन वर्ष बाद 'ज़ौक़' सचमुच क़ज़ा के साथ चले गए।

० बंदे की क्या चोरी

रमज़ान के दिन होते हुए भी किसी वजह से शैख 'ज़ौक़' उस रोज रोज़े से नहीं थे। गर्मी की अधिकता के कारण उनके पीने के लिए शर्बते-नीलोफ़र बनाया गया तो दो-चार मुलाक़ाती आ गए, अतः मुलाज़िम ने उनसे थोड़ी देर को ऊपर तशरीफ़ ले चलने के लिए अर्ज़ किया। वार्तालाप में लीन होने के कारण वे नौकर के आशय को न समझ पाए और ऊपर चलने का सबब पूछ बैठे। नौकर ने आँखों-आँखों में शर्बत पीने का संकेत किया तो ज़ौक़ ने फ़र्माया—"यहीं ले आ, ये हमारे यार हैं, इनसे क्या छिपाना ?"

जब नौकर ने शर्बत का कटोरा दिया तो आपने तत्काल यह शेर कहा :

पिला मै आश्कारा[3] हमको, किसकी साक़िया चोरी ?
खुदा की जब नहीं चोरी तो फिर बन्दे की क्या चोरी ?

और कटोरा मुँह से लगा लिया।

---

१ ज़िन्दगी। २ मृत्यु। ३ मदिरा खुलेआम, प्रकट रूप में।

० मिसरे पर मिसरा

एक बार मिर्ज़ा 'दाग़' रामपुर के मुशाअरे में ग़ज़ल पढ़ रहे थे; इस मतले पर :

यह तेरी चश्मे-फसूँगर[1] में कमाल अच्छा है।
एक का हाल बुरा एक का हाल अच्छा है ॥

आपने दाद-तलब नज़रों से 'जलाल' की तरफ़ देखा तो जलाल ने मुस्कराते हुए संकेत किया कि मिसरा ठीक नहीं लगा और अपनी बारी आने पर जलाल ने उसे इस तरह पढ़ा :

दिल मेरा, आँख तेरी, दोनों हैं बीमार मगर,
एक का हाल बुरा, एक का हाल अच्छा है ॥

० दाग़ का इम्तहान

मिर्ज़ा 'दाग़' एक बार रामपुर से कलकत्ते जाते हुए अपने इष्ट-मित्रों और शिष्यों के आग्रह पर कुछ दिन पटने भी ठहरे। उनके स्वागत-सत्कार में पटने वालों ने अपनी आँखें बिछा दीं। वे जब तक वहाँ रहे, एक हलचल-सी मची रही। मुलाक़ातियों का ताँता लगा रहता था। रोज़ाना दावतों, महफ़िलों, और मुशाअरों के आयोजन होते थे। उनके सम्मान में जो सबसे प्रथम मुशाअरा हुआ, उसके लिए 'वहीद' इलाहाबादी के इस मतले का पहला मिसरा-तरह मुक़र्रर हुआ :

उधर आईना रक्खा है, इधर वो तनके बैठे हैं।
जो अपना देखना मंज़ूर है, क्या बनके बैठे हैं ॥

मिर्ज़ा दाग़ से भी ग़ज़ल की फ़र्माइश की गई। गर्मी का मौसम था। आप सहन में टहल रहे थे। फ़र्माया—"बेहतर है, अभी ग़ज़ल कह लूँ, फिर लोग मिलने को आ जाएँगे तो मुश्किल से मौक़ा मिलेगा।" दो शख्स क़लम-दावात और काग़ज़ लेकर सामने बैठ गए। क्षण भर सोचने के बाद फ़र्माया : "अच्छा यह मिसरा लिख लो :

भँवें तनती हैं, खंजर हाथ में है, तनके बैठे हैं।"

फिर कुछ देर ताम्मुल करके लिखवाया :

किसी से आज बिगड़ी है, जो वो यूँ बनके बैठे हैं।

ग़रज़ इसी तरीक़े से आपने दोनों कातिबों को वहीं बैठे-बैठे बहुत-से अशआर लिखवा दिए और उनके काग़ज़ लेकर फिर स्वयं देखकर आवश्यक

---

[1] जादूभरी आँखों में।

संशोधन के बाद कुछ अशआर चुनकर अपनी ब्याज़ में नोट कर लिये, शेष रद्द कर दिये। एक साहब ने दरियाफ्त किया कि इतने ज़्यादा अशआर अपने क्यों क़लमज़द कर दिए तो हँसकर फ़र्माया—"जिसको पसन्द आए, वह उन्हें ले ले।"

मुशाआरे में एक-एक शेर को लोगों ने कई-कई बार पढ़वाया और इस क़दर दाद दी कि वाह-वा और सुब्हान अल्लाह की सदा से मकान गूँज उठा। जान अली खाँ और मुनव्वर अली खाँ दो बुज़ुर्ग, जो उस मजमे में मौजूद थे, बयान करते थे कि इस शेर को लोगों ने दस बार से कम नहीं पढ़वाया होगा और मजमे में शायद ही कोई शख्स होगा, जिसको यह शेर याद न रह गया हो :

बहुत रोया हूँ मैं, जबसे यह मैंने ख्वाब देखा है।
कि आप आँसू बहाये सामने दुश्मन के बैठे हैं॥

'अमीर' मीनाई साहब को दाग़ की यह ग़ज़ल इतनी अधिक पसन्द आई कि जब उन्होंने इस काफ़िये-रदीफ़ में ग़ज़ल कही तो मिर्ज़ा दाग़ का मुक्त कंठ से दाद देते हुए यह मक्ता कहा :

'अमीर' अच्छी ग़ज़ल है, 'दाग़' की जिसका यह मिसरा है
भवें तनती हैं, खंजर हाथ में है, तनके बैठे हैं।'

पटने के इसी प्रवास में वहाँ के एक मनचले रईस ने दाग़ का शाइराना-अभ्यास परखने के लिए अपने यहाँ एक मुशाअरे का आयोजन किया, जिसके लिए यह मिसरा-तरह रक्खा गया :

आबाद कभी खानए-ज़िन्दाँ[2] नहीं देखा

दाग़ को जान-बूझकर इस मुशाअरे की पहले से सूचना नहीं दी गई और ऐन वक्त पर माफ़ी माँगते हुए दाग़ को लेने के लिए पहुँच गए। दाग़ ने बरजस्तः कातिब को ग़ज़ल लिखवा दी और शरीके-मुशाअरा हुए। इस ग़ज़ल के चन्द शेर यूँ हैं :

हम जैसे हैं, ऐसा कोई दाना[3] नहीं पाया।
तुम जैसे हो, ऐसा कोई नादाँ[4] नहीं देखा।
नज़रों में समाया हुआ सामाँ[5] नहीं जाता।
लैला ने कभी क़ैस को उरियाँ[6] नहीं देखा॥
जो देखते हैं, देखनेवाले तेरा अंदाज़।
तूने वह तमाशा ही मेरी जाँ नहीं देखा॥
जो दिन मुझे तक़दीर की गर्दिश[7] ने दिखाया।
तूने भी वह ऐ गर्दिशे दौराँ[8] नहीं देखा॥

---

१ डॉक्टर मुबारक हुसैन अज़ीमाबादी, निगार—जनवरी १९५३ पृ. ८७।
२ कारागार। ३ योग्य, भोला। ४ अनाड़ी। ५ दृश्य। ६ नग्न। ७ भाग्यचक्र ने।
८ ज़माने के इन्क़िलाब।

क्या दाद मिले उससे परेशानिएँ-दिल की।
जिस बुत ने कभी ख्वाबे परीशाँ[1] नहीं देखा ।।
तुम मुझसे कहे जाओ कि देखा है, ज़माना ।
आँखें तो यह कहती हैं, कि हाँ-हाँ नहीं देखा ।।

० बेपर की उड़ान

मीर वज़ीर अली 'सबा' अपने उस्ताद 'आतिश' से एक ग़ज़ल पर इस्लाह लेने आए। उनके यह शेर पढ़ने पर 'आतिश' ख़ामोश रहे :

फ़स्ले-गुल में मुझे कहता है कि गुलशन से निकल,
ऐसी बेपर की उड़ाता न था सैयाद कभी।

सबा ने खीजकर कहा, "हज़रत,, यह शेर मैंने ख़ूने-जिगर पीकर कहा है, आपसे दाद का तालिब (प्रोत्साहन पाने का इच्छुक) हूँ।"

आतिश मुस्कराकर बोले—यह शेर अगर यूँ पढ़ा जाय तो कैसा रहे !

पर कतरकर मुझे कहता है कि गुलशन से निकल,
ऐसी बेपर की उड़ाता न था सैयाद कभी।

सबा के पहले मिसरे में बेपर की उड़ाने का कोई सबूत न था। शुरू के दो लफ़्ज़ों के बदल जाने से किस क़दर हुस्न पैदा हो गया है ?

० तुरुप पर तुरुप

शैख इब्राहीम ज़ौक़ ने 'चाल के', 'निकाल के' की क़ाफ़िया-रदीफ़ में एक ग़ज़ल पढ़ी, जिसका मतला यह था :

नरगिस के फूल भेजे हैं बटुए में डाल के,
ईमाँ यह है कि भेज दें आँखें निकाल के।

शाह नसीर ज़ौक़ के उस्ताद थे, किन्तु किसी बात पर अनबन हो जाने के कारण नसीर ज़ौक़ के कटु आलोचक बन गये थे। शाह नसीर भी उस मुशाअरे में मौजूद थे। मतला सुनते ही एतराज़ किया—मियाँ इब्राहीम ! फूल बटुए में नहीं होते, मतले को यूँ कहो :

नरगिस के फूल भेजें हैं दोनों में डाल के

ज़ौक़ ने कहा—हज़रत ! गुस्ताखी मुआफ़ ! दोनों में रखना होता है, डालना नहीं होता। ज्यादा मुनासिब यूँ होगा :

बादाम दो जो भेजे हैं, बटुवे में डाल के,
ईमाँ यह है कि भेज दें आँखें निकाल के।

---

[1] चिन्ताओं के स्वप्न।

० हवा के आँखें नहीं होतीं

मीर नवाब मूनिस ने एक मर्सिया बहुत परिश्रम और लगन से छः महीने में कहा। वे ख्यातिप्राप्त मर्सिया-गो अनीस के पास आकर बहुत गर्व के साथ बोले, "इस मर्सिया में अगर आप एक इस्लाह भी दे दें तो यह मर्सिया मैं आपको दे दूँ।

अनीस के आदेश पर मर्सिया पढ़ा गया और जब यह बन्द पढ़ा :

ज़र्दी शफ़क़ में और वोह मीनाए-लाजवर्द
मखमल-सी नर्म गाह में गुल सब्ज़ सुर्ख-ज़र्द,
रखती थी देखकर क़दम अपना हवाए-सर्द
यह ख़ौफ़ था कि दामने-गुल पर पड़े न गर्द

बन्द सुनकर मीर अनीस ने फ़र्माया कि—"इन चारों मिसरों में अगर कहीं कोई सिक़म (दोष) हो तो तीन घण्टे का वक्त दिया जाता है, उसे खुद दुरुस्त कर लीजिए।"

मूनिस ने हर चन्द बहुत ग़ौर किया और तीन घण्टे कामिल उसी को सोचा किये, मगर उन्हें कोई ग़लती महसूस न हुई। मजबूर होकर कहा—"मेरी नज़र में चारों मिसरे सही हैं। कोई नुक़्स नहीं मालूम होता।"

तब अनीस साहब ने फ़र्माया—तीसरे मिसरे में आप कह गए हैं :

'रखती थी देखकर क़दम अपना हवाए-सर्द'

हवा के आँखें नहीं होतीं, फिर वह क्या देखकर क़दम रख सकती है ? इस मिसरे को यूँ बना दो—

'रखती थी फूँककर क़दम अपना हवाए सर्द'

मूनिस ने सर झुकाकर अर्ज़ की—"वाक़ई—जाय उस्ताद खाली अस्त। ऐ सुब्हान अल्लाह, क्या इस्लाह दी है। फूँककर क़दम रखना कितना प्यारा मुहावरा है और फिर हवा के लिए कैसा बरमहल है!"

० अब कोई उस्ताद नहीं

यह उन दिनों की बात है, जब कि ख्वाजा 'आतिश' शेरो-शाइरी का शौक़ छोड़कर एकान्त जीवन व्यतीत कर रहे थे। न वे स्वयं शेर कहते थे और न किसी शिष्य की ग़ज़ल का संशोधन करते थे। न अपने मकान से कहीं बाहर जाते थे, और न किसी से मकान पर मुलाक़ात करते थे। वृद्धावस्था के अन्तिम दिन यादे-इलाही में व्यतीत कर रहे थे।

उन्हीं दिनों लखनऊ में एक शाइर ऐसे भी थे, जिन्हें अपने शाइराना कमाल

पर बहुत अभिमान था। एक रोज़ उन्होंने अपने मित्र से जलाल में आकर यहाँ तक कह दिया—"अब मेरे कलाम पर कोई भी हर्फ़ रखने वाला लखनऊ में नहीं हैं।"

मित्र ने जवाब दिया—"भाई! अभी तो लखनऊ में ख्वाजा 'आतिश' ज़िन्दा हैं। अगर हौसला है तो अपना कलाम उनकी ख़िदमत में पेश करो, देखिए हर्फ़ रखते हैं, या नहीं।"

दोनों मित्र आतिश के निवासस्थान पर पहुँचे। कई बार दरवाज़ा खटखटाने पर भी जब न अन्दर से जवाब मिला और न द्वार खुला तो आस-पास के लोगों से दरियाफ़्त करने पर विदित हुआ कि एक बुढ़िया खाना बनाने वाली के अतिरिक्त ख्वाजा साहब के पास किसी अन्य की पहुँच संभव नहीं।

ये दोनों मित्र बुढ़िया के यहाँ पहुँचे और उसे दो अर्शाफ़ियाँ भेंट करके अपनी अभिलाषा व्यक्त की कि वह किसी तरह ख्वाजा साहब को इस्लाह देने के लिए रज़ामन्द कर दे। बुढ़िया दो अर्शाफ़ियाँ पाकर ख़ुशी-ख़ुशी उनके पास पहुँची और अनुनय-विनय करके किसी तरह मुलाक़ात का शर्फ़ बख्शने के लिए मना लिया। संकेत पाकर दोनों मित्र अन्दर गए और बोरिए पर एक ओर विनयपूर्वक बैठकर पहले तो मुलाक़ात की इजाज़त देने के लिए कृतज्ञता प्रकट की, फिर कलाम सुनाने की आज्ञा मिलने पर यह मतला पढ़ा :

बात में फ़र्क न आने दीजे,
जान जाती है तो जाने दीजे।

सुनकर फ़र्माया—"मतला बहुत अच्छा है। इस्लाह की ज़रूरत नहीं।"

शाइर साहब ने बा-अदब अर्ज़ किया—"मेरी आर्ज़ू है कि हुज़ूर इस मतले में कोई लफ़्ज़ रख दें।"

आग्रह को मान देते हुए फ़र्माया—अच्छा इसे यूँ बना लो :

आन में हर्फ़ न आने दीजे,
जान जाती है तो जाने दीजे।

० नकटों की निगाह में

मुहम्मद अमीन 'अश्क' अमृतसरी जीविकोपार्जन के लिए कलकत्ते में रहा करते थे। उनकी नाक कुछ बेडौल-सी थी। अक्सर लोग नाक के बारे में मज़ाक उड़ाया करते थे। शाइरों की एक गोष्ठी में मजीद अब्दुल साहब कार्टूनिस्ट ने उनकी नाक पर फ़ब्ती कसी तो अश्क ने तुरन्त कहा :

नकटों की निगाहों में खटकती ही रहेगी,
शेरो-सुख़न के बाप की यह नाक हमेशा।

इस बरमहल शेर पर उपस्थित समूह तो लोट-पोट हो ही गए, कार्टनिस्ट साहब ने भी दिल खोलकर दाद दी।[1]

० तस्वीर बोल उठे

लखनऊ के एक बड़े मुशाअरे में 'आतिश' और 'नासिख़' अपने शिष्यों के साथ उपस्थित थे। आतिश के उस्ताद हज़रत 'मुसहफ़ी' अभी तक तशरीफ़ नहीं लाए थे कि मुशाअरा शुरू हो गया और एक नवीन अभ्यासी शाइर ने अपनी ग़ज़ल का यह मतला पढ़ा :

> **जिस कमसुख़न[2] से मैं करूँ तक़रीर[3] बोल उट्ठे,**
> **मुझमें कमाल वोह है कि तसवीर बोल उट्ठे।**

मतले का सुनना था कि मुशाअरे में दादो-तहसीन की धूम मच गई। उस्ताद नासिख़ ने इस मतले को कई बार पढ़वाया और बेहद दाद दी। इस नौ-मश्क़ शाइर के ग़ज़ल पढ़ लेने के बाद, उस्ताद मुसहफ़ी भी तशरीफ़ ले आए। मुशाअरे के अन्त में मुसहफ़ी जब ग़ज़ल पढ़ने के लिए प्रस्तुत हुए तो नासिख़ ने कहा—"उस्ताद ! आपके तशरीफ़ लाने के क़ब्ल इस लड़के ने ऐसा बेमिसाल मतला पढ़ा कि जिसकी तारीफ़ में ज़बान क़ासिर है।"

सुनकर मुसहफ़ी ने कहा—"हाँ पढ़ा होगा।"

नासिख़ बोले—"मेरी ख़्वाहिश है कि वह मतला आप भी सुन लें।"

नासिख़ के शागिर्द ने मुसहफ़ी के आगे से शमा उठाकर उस लड़के के आगे रख दी और नासिख़ के संकेत पर लड़के ने वही मतला फिर पढ़ा।

आतिश अपने उस्ताद के आगे से शमा उठा लेने पर आग हो गए। और नासिख़ से मुख़ातिब होकर बोले—"क्या एक ग़लत मतले पर नाज़ किया जाता है। तस्वीर का कमसुख़न होना, दूर-अज़-क़यास है," और लड़के की तरफ़ मुख़ातिब होकर फ़र्माया—मियाँ इस मतले को यूँ पढ़ो :

> **जिस बेज़बाँ से मैं करूँ तक़रीर बोल उठ्ठे,**
> **मुझमें कमाल वोह है कि तस्वीर बोल उठ्ठे।**

आतिश की इस इस्लाह पर मुसहफ़ी उछल पड़े और नासिख़ सूरते-तस्वीर ख़ामोश रह गये।

---

१ यह घटना मुझे अश्क साहब के शिष्य मुहम्मद सलीम साहब सहसरामी ने सुनाई थी। २ थोड़ा बोलने वाले से। ३ वार्त्ता।

[पृष्ठ १६ का शेष : मरे, अधमरे और जीवित]

से कैसे बचाई जाए, यह भी पढ़ाते हो इसमें।

हीरेश : (**अटपटाकर**) जी...जी नहीं। हम लोग तो सिर्फ ज़िन्दगी के पहलुओं पर सोच-विचार करते हैं। उसमें यह लड़ाई-झगड़े की बात नहीं आती।

सूबेदार : जहाँ ज़िन्दगी है वहाँ झगड़े होंगे ही। जहाँ राज करने की बात है, वहाँ राज्यों की लड़ाई भी होगी। तुम इसे ज़िन्दगी से अलग कैसे करोगे। (**हीरेश चुप रहता है। सूबेदार तम्बू से घर का नक्शा निकालता है**) अच्छा यह देखो, यह रहा नक्शा...यहाँ अस्पताल आभा के लिए और....

हीरेश : आभा आ रही है।

सूबेदार : (**अपनी धुन में**) आने दो...। हाँ, यहाँ दवाई रखी जायेगी।

आभा : (**पास आकर**) पापा, दिखता है, लोगों को नक्शा दिखलाते-दिखलाते आपके नक्शे का नक्शा बदल जायेगा। (**सूबेदार आभा को देखता है**) सच तो कह रही हूँ। रोज़ ही किसी-न-किसी को आप ये नक्शा दिखलाते रहते हैं। (**कनखियों से हीरेश की ओर ताककर मुस्कुराती है।**)

सूबेदार : हीरेश को मैंने आज तक नहीं दिखलाया था। हीरेश की दूसरों से तुलना नहीं की जा सकती। हूँ, हीरेश, (**नक्शे पर उँगली रखते हुए**) यहाँ आपरेशन.... (**अटकते हुए**) आपरेशन....थ-थ (**आभा को देखता है।**)

आभा : पापाजी, मैं अभी डिस्पेंसरी खोलूँगी? (**रुककर**) नौकरी करूँ

सूबेदार : (**चिढ़कर, उचकते हुए**) नौ करोगी। नहीं-नहीं, तुम नौ नहीं करोगी।

आभा : पर इसमें बुराई क्या है पापा समय के अनुसार ही आदमी काम करना चाहिए।

सूबेदार : तुम्हारे लिए ऐसा कौन-सा समय आ गया जो नौकरी करो

आभा : मैं अभी डीन के घर से आ रही कल कॉलिज में, फौज में डॉ की भर्ती के लिए सरकार से चिट्ठी आई थी। (**सूबेदार खोले आभा को देखता है**) डी मेरे नाम की सिफ़ारिश कर कह दिया है। बस अब तय समझिए।

सूबेदार : तो....तो.... तुम फौज में करोगी ?—क्या काम है औरतों का वहाँ ?

आभा : औरतों का नहीं, काम डॉक् का है।

हीरेश : पर अभी तो तुम पूरी डॉक्टर नहीं हुई हो।

आभा : फाइनल-इयर, (**सूबेदार को देख** यानें पापाजी, जो डॉक्टरी आखिरी साल में पढ़ रहे हैं डीन की सिफ़ारिश पर चुने जाएँ चुने जाने के बाद ही उन्हें दो रुपए मिलने लगेंगे और प के साथ-साथ फौज में सेवा

ट्रेनिंग भी मिलेगी। (प्रसन्न होते हुए) और पास होते ही कमीशन मिल जाएगा।

सूबेदार : (समझते हुए) कमीशन। याने तुम आफिसर हो जाओगी।

आभा : (मुस्कुराते हुए सिर हिलाकर) हूँ। सेकंड लेफ्टिनेण्ट!

सूबेदार : (अचानक ऊँचे स्वर में) नहीं-नहीं, मैं यह नहीं चाहता। मैं तुम्हें फ़ौज में नहीं भेजना चाहता। (उतरते स्वर में) बेटी,—मैं तुम्हें फौज में नहीं भेज सकता।

हीरेश : (व्यंग्य से) पर चाचाजी, अभी तो आप फौज की बड़ी तारीफ़ कर रहे थे।

सूबेदार : (चिढ़कर) विना समझे बोलोगे, तो गोली मार दूँगा। फौज औरतों के लिए नहीं है। (रुकते हुए) मैं मर्दों की बात कर रहा था।

आभा : पापा, आप पुरानी बात कह रहे होंगे। आपने तो मुझे लड़के की तरह ही पाला है। और फिर मैं हमेशा के लिए फौज की थोड़े हो जाऊँगी। साल-दो साल की बात है। जहाँ देश की झंझटें दूर हुईं कि बस लौटकर आपके पास—आपकी बनवाई डिस्पेंसरी में—(सूबेदार की मुद्रा देखकर अचानक रुक जाती है) पर आप इस तरह चुप क्यों हो गए?

सूबेदार : (धीमे-धीमे) बेटी, जब कहने को बहुत-कुछ होता है तो मुझसे कुछ नहीं कहा जाता।

हीरेश : (ख़ुशामद के ढंग से) कहने के लिए अब बचा भी क्या है? चाचाजी ने मन की बात कह तो दी।

आभा : (कुछ रूखे स्वर में) मैं पापा जी के मन की बात समझती हूँ। (घूमकर सूबेदार से स्नेह भरे स्वर में) पापाजी, आपने ही बतलाया है कि जब आप फौज में भर्ती हुए थे तब परिवार के सभी लोगों ने आपका विरोध किया था। (रुककर) उस समय तो फौज दूसरों के लिए थी.... और मैं जिस फौज में जा रही हूँ वह तो अपनी...(तेज़ी से लछमन को प्रवेश। आभा रुक जाती है। सूबेदार और हीरेश उसकी ओर देखते हैं। सबको चौकन्ना देखकर लछमन कुछ क्षणों के लिए ठिठक जाता है।)

लछमन : (हिचकते हुए) थोड़ा इधर आइए सूबेदार साब!.... कुछ काम है।

सूबेदार : (रूखे स्वर में) ऐसा क्या काम आ गया। मज़दूर नहीं आ रहे हैं क्या?

लछमन : अभी मज़दूरों के पास तो मैं गया ही नहीं। दूसरा काम है।

सूबेदार : (चिढ़कर) क्या काम है, बोलते क्यों नहीं।

लछमन : (अटकते हुए) आप पहिले जो हबीब मियाँ के पास से सिमेंट लाए थे उसके बारे में पूछताछ करने के लिए कोई आए हैं?

सूबेदार : (घूमते हुए कड़े स्वर में) क्यों?

लछमन : कह रहे हैं कि वह चोरी की सीमेंट है...मैं...क्या कहूँ?

सूबेदार : (कड़े स्वर में) चोरी की है तो

हबीब मियाँ जानें। मुझसे इस बारे में कोई उलझा तो गोली मार दूंगा।

आभा : **(स्नेह से)** पहिले आप जाकर उनसे मिल लीजिए। आपके पास तो रसीद होगी।

सूबेदार : **(चिढ़कर)** हाँ, हाँ, हबीब मियाँ के हाथ की रसीदें हैं।

हीरेश : फिर आपको किसका डर है। चाचाजी, आजकल घर बनवाना भी मुसीबतें मोल लेना है।

सूबेदार : **(लछमन की ओर बढ़ते हुए)** गोली मारता हूँ मैं मुसीबतों को। चलो लछमन, देखें कौन सूरमा मेरी आबरू को ललकारने आया है।

(लछमन और सूबेदार का प्रस्थान। आभा और हीरेश दृष्टि से उनका पीछा करते हैं। बाद में दोनों एक-दूसरे की ओर देखते हैं। आभा कुछ लजाकर सिर झुका लेती है।)

हीरेश : **(शरारत से)** इतनी लाज लादे, फौज में जा सकोगी?

आभा : **(हीरेश की ओर देखकर मुस्कुराते हुए)** निर्लज्जता, फौज की भर्ती के लिए आवश्यक नहीं है।

हीरेश : **(सँभलते हुए)** वहाँ सिपाहियों की देखभाल और दवा-दारू करना होगा। ये लाज से झपती आँखें और संकोच में काँपते हाथ क्या कर पाएँगे!

आभा : **(घूमकर)** वहाँ हीरेश तो होगा नहीं, इसलिए मन शान्त रहेगा और दिमाग वही करेगा जो मुझे करना चाहिए।

हीरेश : मैं तो समझ रहा था कि तु[म] अपने पापा को चिढ़ाने और [मुझे] कुढ़ाने के लिए यह सब यों [ही] कह दिया था।

आभा : पापा की चिढ़ और तुम्हारी कु[ढ़न] का अनुमान तो मैंने कर लि[या] था। फिर भी जो कहा था, [वह] सच है। (रुकते हुए) मैंने [...] फार्म भर दिया है।

हीरेश : मैं नहीं मानता कि आभा कि तु[मने] सारी परिस्थिति को ठीक से सो[चा] है। (आभा की आँखों में दे[खते] हुए) यदि सोचा होता तो [मेरे] विषय में भी सोचतीं।

आभा : सोचा तो है तुम्हारे वि[षय] में भी।

हीरेश : क्या सोचा है?

आभा : (शरारत से) यही कि तुमसे [...] ग्रेजुएट कमीशन के लिए कहूँगी।

हीरेश : तुम यह क्यों सोच रही हो कि [...] आज की राष्ट्रीय उलझनों से अ[...] हूँ; पर साथ ही-साथ मैं यह [...] सोचता हूँ कि अलग-अलग वर्ग[ों के] लोगों का अलग-अलग कर्तव्य हो[ता] है। (रुककर) मेरा कर्तव्य पढ़ा[ना] है और तुम्हारा समाज के स्वास्[थ्य] की रक्षा।

आभा : और घायल सैनिकों की देख[भाल] नहीं। हीरेश, शांति के स[मय] सैनिक भी पढ़ते-पढ़ाते हैं, युद्ध[के] समय पढ़ने-पढ़ाने वाले यदि स[...] सैनिक बन जाएँ तो क्या बुरा है[?]

हीरेश : तुम्हारा दृष्टिकोण पूरी तरह भौति[क ...]

हो गया है। मैं तो यह मानता हूँ कि हर स्थिति में, हर समाज में पढ़ाई-लिखाई की आवश्यकता होती है इसलिए न विद्यार्थी-वर्ग को तोड़ा जा सकता है और न शिक्षक-वर्ग को छुआ जा सकता है।

आभा : (शरारत से) मुझे पूरे शिक्षक-वर्ग से मतलब नहीं। मैं क्यों छुऊँ उस वर्ग को; मुझे तो एक ही शिक्षक से मतलब है। इसलिए चाहती हूँ कि वह भी मेरे साथ चले ताकि जब समय मिले, वही मुझे जीवन-दर्शन पढ़ा दिया करे। (आभा मुग्ध दृष्टि से हीरेश की ओर देखती है। हीरेश भावहीन ताकता है) क्यों, मेरी बात नहीं रुची ?

हीरेश : (विचारों में खोते हुए) आभा, बात वह रुचती है, जो भावनाओं के साथ समझौता करती है। तुम्हारी बात... (किसी के आने का शब्द होता है और हीरेश रुककर उस ओर देखने लगता है। सिर पर पानी का घड़ा रखे गहना आती दिखती है और हीरेश और आभा को देखकर ठिठक जाती है।)

आभा : (गहना को ओर स्नेह से देखते हुए) रुक क्यों गई। चली आ। पापा का पानी है न।.... रख दे तम्बू के अन्दर। (गहना सकुचाती हुई तम्बू के अन्दर जाती है।)

हीरेश : (चालाकी से) यहाँ चाचाजी केवल पानी ही रखते हैं—खाना नहीं खाते न ? (आभा सिर हिलाती है) प्यास में अधिक शक्ति होती है इसीलिए। हर मनुष्य प्यास की बात सोचे बिना कहीं भी नहीं रह सकता।

आभा : पर स्थान और समय के अनुसार प्यास बुझाने का ढंग बदल जाता है। ठीक है न....? (फिर किसी के आने का शब्द होता है। आभा उस ओर देखती है। परसादी आगे बढ़कर सकुचाता है। आभा हँस पड़ती है) तो तू भी है गहना के साथ..(गहना तम्बू से निकलती है और परसादी को सामने देखकर तम्बू में घुसना चाहती है)... अरी चली कहाँ ?

गहना : (मुँह घुमाये हुए) भीतर सूबेदार साहब का सामान ठीक करना है।

आभा : (हँसकर) वो सब मैं समझती हूँ। (रुककर) ऐसा समझ रही है जैसे मैं कुछ समझती ही नहीं। (परसादी को देखकर) देख रे, गहना मुझे इतना नासमझ समझती है।

परसादी : आज मुझसे रूठी है इसलिए....

आभा : क्यों रूठी है ? कुछ कह-सुन दिया होगा। (गहना से हँसकर) मुझे बतला तो, क्या कहा है इस परसदिया ने ?

परसादी : वो नहीं बतला सकती, मैं ही बतलाता हूँ। (रुककर) मैं कल फौज में भर्ती हो गया हूँ....एक-, दो दिनों में चला जाऊँगा इसीलिए...

हीरेश : यह तो बिलकुल ठीक है। नासमझी पर कोई भी समझदार नाराज़ होगा ही।

परसादी : (चौंककर) नासमझी ? (हीरेश सिर हिलाता है। गहना के मुख पर मुस्कान की रेखा खिंच जाती है।)

आभा : (गहना के पास आकर) इसमें रूठने की कौन-सी बात है। ये तो खुश होने की बात है। (गहना की ओर देखकर) फ़ौज में तो मैं भी जा रही हूँ।

गहना : (चौंककर) आ··आप··फ़ौज में जा रही हैं। वहाँ आप·· ?

आभा : मैं लड़ाई नहीं करूँगी। लड़ाई का काम तो परसादी जैसे सिपाही करेंगे। मैं तो सिपाहियों की देख-रेख करूँगी ?

हीरेश : देखरेख क्या करेंगी। जो वहाँ कटेंगे-मरेंगे। वहाँ की कठिनाइयों में कराहेंगे उनकी दवा-दारू करेंगी। (रुकते हुए) जैसे सारे सिपाही मरकर या घायल होकर दवा लेने के लिए इनके ही पास दौड़े आएँगे।

आभा : (हीरेश की ओर देखकर) मरे क्या दौड़ेंगे और मैं उनकी दवा क्या करूँगी। (गहना को देखकर) पर जो अधमरे हैं, उन्हें जीवित करने की कोशिश करूँगी। (परसादी को देखकर) और जो जीवित हैं उनकी शक्ति बचाने का काम करूँगी। (रुककर) और जहाँ तक मार-काट, बीमारी, दुख-दर्द का प्रश्न है वह तो हर जगह है।

परसादी : इसका कहना है कि मेरे जाने के बाद ये अकेली रह जाएगी।

आभा : (हीरेश की ओर देखकर) बहुत-से लोग ऐसा समझते हैं। इतनी बड़ी दुनिया में वे अकेले कैसे र[illegible] जाएँगे मैं तो नहीं समझती। और किसी एक के जाने से ज[illegible] अकेलापन का अनुभव करता है उसे भी उस किसी के साथ च[illegible] जाना चाहिए।

हीरेश : (कुछ चिढ़कर) तो तुम्हार[illegible] मतलब है कि मैं भी सैनिक ब[illegible] जाऊँ।

गहना : और मैं भी फौज में जाऊँ। (रुकक[illegible] पर वहाँ मैं क्या करूँगी ? मैं त[illegible] कुछ नहीं जानती।

परसादी : (प्रसन्न होकर) आप पता लगाएँ[illegible] तो इसके लिए भी वहाँ कुछ का[illegible] निकल आएगा। (घूमते हुए) आप अभी भर्ती-दफतर चलक[illegible] पता लगा दीजिए।

आभा : (कुछ हिचकते हुए) अभी....

परसादी : हूँ। देर-अबेर अच्छी नहीं होती।

गहना : (याचना के स्वर में) थोड़ी देर क[illegible] काम तो है।

आभा : (सोचते हुए) अच्छा चलो, [illegible] पीछे-पीछे आ रही हूँ।

परसादी : जी अच्छा। (परसादी और आभ[illegible] का प्रस्थान।)

आभा : (हीरेश को देखकर) तुम दस मिन[illegible] यहीं रुको, मैं अभी इन्हें समझाक[illegible] आती हूँ। नहीं तो ये मुझे च[illegible] नहीं लेने देंगे, मैं उन दोनों क[illegible] खूब जानती हूँ। तब तक मेर[illegible] और अपनी भावनाओं की समान[illegible]ताएँ और असमानताएँ गिनो औ[illegible] सोचो कि दर्द क्या है, मृत्यु क्या है मुक्ति क्या है। समझे····

● ●
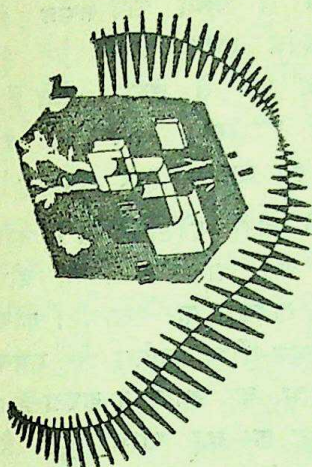
परशुराम की प्रतीक्षा

कवि : दिनकर; प्रकाशक : उदयाचल, पटना ४; पृष्ठ-संख्या : ८०(डिमाई); मूल्य : ३.००

पिछले दिनों भारत पर हुए चीनी आक्रमण ने देश के जीवन को बुरी तरह झकझोर दिया। समाज के हर कक्ष में उसने एक हलचल उत्पन्न कर दी। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि साहित्य भी इस नवीन गतिशीलता और जागर्ति से अप्रभावित न रहता। हिन्दी ने राष्ट्र-भाषा होने के नाते इस जन-जागरण में सर्वाधिक योग देकर अपने राष्ट्रीय दायित्व का निर्वाह किया है। यद्यपि यह भी सत्य है कि देश में चीनी आक्रमण-विरोधी कविताओं का जो थोक उत्पादन हुआ है, उनमें कम ही ऐसी हैं, जो इतिहास-पुरुष की दीर्घा में सम्मानित स्थान पा सकेंगी। 'परशुराम की प्रतीक्षा' सामयिक आवेश की मुद्रा में लिखी ऐसी तमाम कृतियों में शायद सबसे अधिक आदर के साथ याद की जायगी।

'परशुराम की प्रतीक्षा' कवि दिनकर की १८ ओजस्विनी कविताओं का आग्नेय संग्रह है, जिसमें तीन अथवा चार कविताएँ १९५३ ई० के पहले की हैं, शेष सर्वथा नवीन हैं और पहली बार पुस्तकाकार सामने आई हैं। इनमें भी 'परशुराम की प्रतीक्षा' संग्रह की न केवल पहली एवं सर्वप्रमुख कविता है, बल्कि पाँच खंडों में विभक्त बत्तीस पृष्ठों का आयतन सम्हाले यह दिनकर की सबसे बड़ी मुक्तक कविता भी है। कथा यह है कि परशुराम ने जब अपने पिता जम-

साहित्यार्चन

दाग्नि की आज्ञा से माता रेणुका का वध कर डाला, तो परशु उनकी मूठ में जकड़ गया। वे तमाम तीर्थों में भटकते रहे, पर वज्रमूठ न खुल सकी। अन्त में पिता की प्रेरणा से उन्होंने कैलाश के समीप ब्रह्मकुण्ड में स्नान किया, जहाँ उनके हाथ से परशु छूटकर गिर पड़ा, उनके मन का पाप धुल गया। शायद इसीलिए इस कुंड का नाम 'लोहित कुंड' भी है। यह भी कहा जाता है कि इस कुंड का जल सर्वसुलभ बनाने के उद्देश्य से परशुराम ने इससे एक धारा काटकर निकाली, जो 'ब्रह्मपुत्र' अथवा 'लोहित' के नाम से विख्यात है। लोहित में गिरकर पवित्र हुए कुठार से परशुराम ने एक सौ वर्षों तक युद्ध किया और अभिमानी क्षत्रियों का दर्पदलन किया। कवि ने कल्पना की है कि पिछले वर्षों की अकर्मण्यता और अनीति के कारण देश के माथे पर जो पाप चढ़ चुका है, वह इस लोहित के जल से ही धुल सकता है। लोहित देश के कलंकमोचन का सिद्धपीठ है।

'परशुराम की प्रतीक्षा' शीर्षक कविता में कवि एक ओर जीवन में भौतिक शक्ति का महत्व घोषित करता हुआ कहता है :

तलवार पुण्य की सखी धर्मपालक है,
लालच पर अंकुश कठिन, लोभसालक है।
असि छोड़ भीरु बन जहाँ धर्म सोता है,
पातक प्रचंडतम वहीं प्रकट होता है।
तलवारें सोतीं जहाँ बन्द म्यानों में,
क़िस्मतें वहीं सड़ती हैं तहखानों में!

दूसरी ओर बड़ी निर्भीकता से नेफ़ा में भारतीय सेना की असफलता के लिए ज़िम्मेदार वह शासन-तंत्र से पल रहे भ्रष्टाचार को ठहराता है :

चोरों के जो हैं हितू, ठगों के बल
जिनके प्रताप से पलते पाप सकल
जो छल-प्रपंच सबको प्रश्रय देते
या चाटुकार जन से सेवा लेते
यह पाप उन्हीं का हमको मार गया
भारत अपने ही घर में हार गया है

भारत को किसी विदेशी शक्ति ने नहीं परास्त किया, उसे आंतरिक वैषम्य और क्लीव दर्शन से कमजोर कर रखा है। कवि इसी अन्याय–अनय और कदर्यता के शमन के लिए परशुराम का आवाहन करता है। परशुराम भारत का वह प्रतीक पुरुष है जिसके एक हाथ में परशु और दूसरे में 'कुश' है। साधना और शक्ति, त्याग और वीरता, ज्ञान और कर्म के समानुपातिक संयोग से उसके व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है :

यह वज्र वज्र के लिए, सुमों का सुम है
यह नहीं और कोई, केवल हम-तुम है
यह नहीं जाति का, न तो गोत्र-बंधन का
आ रहा मित्र भारत भर के जन-जन का।

'परशुराम की प्रतीक्षा' में आरंभ से अंत तक दिनकर तार-सप्तक में बोलते हैं। इतनी लंबी कविता में भी अपने आवेग को सदैव उद्दीप्त रख सकना—यह दिनकर के लिए ही संभव था। पूरी कविता में कहीं एक भी पंक्ति शिथिल या प्रभावहीन नहीं मिलेगी। यहाँ न्यून स्वर कहीं नहीं है, अधिस्वर की शिकायत भले किसी को हो।

शूरधर्म का आख्यान करने वाली संग्रह की अन्य श्रेष्ठ कविताओं में 'जौहर', 'आपद्धर्म' और 'इतिहास का न्याय' विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। 'जौहर' में इतिहास के एक ज्वलन्त पृष्ठ के स्मरण द्वारा भारत की रमणी

के जातीय गुणों का निरूपण किया गया है। भारतीय नारी त्याग और तप, वीरता और बलिदान के क्षेत्र में सदैव पुरुष-जाति की प्रेरणा बनती आई है। कवि के शब्दों में :

पर, जातीय कलंक देश की माताएँ सहती नहीं,
परंपरा है चीख-चीखके पीड़ाएँ कहती नहीं
हारे नर को देख देवियाँ दबी ग्लानि के भार से
जल उठती हैं,अगर काट सकती न कंठ तलवार से

'आपद्धर्म' कविता का प्रारंभ इस प्रकार हुआ है, जैसे वीर रस साहित्य का आपद्धर्म हो। किन्तु आगे चलकर कवि शूरत्व को 'स्वस्थ जाति का चिर-पवित्र जाग्रत स्वभाव' घोषित करता है। इस कविता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कवि ने वीरत्व को हृदय के धरातल से उन्नति कर बुद्धि के धरातल तक पहुँचा दिया है। विशेष रूप से इस संदर्भ में मैं इन पंक्तियों को रेखांकित करना चाहूँगा :

विजयकेतु गाड़ते वीर जिस गगनजयी चोटी पर
पहले वह मन की उमंग के बीच चढ़ी जाती है
विद्युत बन छूटती समर में जो कृपाण लोहे की,
भट्ठी में पीछे विचार में प्रथम गढ़ी जाती है।

आँख खोलकर देख बड़ी-से-बड़ी सिद्धि का
कारण केवल एक अंश तलवार है;
तीन अंश उसका निमित्त संकल्प शुद्धि है,
आशा है, साहस है, गूढ़ विचार है!

'इतिहास का न्याय' मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिए अहिंसक देश के हाथों में बंदूक पकड़ाने का समर्थ आयोजन है और है निर्वीर्य दर्शन की तीव्र भर्त्सना!

लेकिन इन सबसे भिन्न स्वर है 'एनार्की' शीर्षक कविता का। यह इस संग्रह की ही नहीं, समस्त दिनकर-काव्य की एक नई दिशा है। तुलना प्रासंगिक न होते हुए भी मैं कहना चाहूँगा कि दिनकर के सम्पूर्ण कृतित्व में इसका वही स्थान है, जो 'निराला' के कृतित्व में 'कुकुरमुत्ता' का। प्रस्तुत संग्रह में इस व्यंग्यात्मक कृति के स्थान पाने का यही औचित्य हो सकता है कि कवि ने इस सामरिक पराजय के लिए जिन सामाजिक और राजनीतिक विकृतियों को उत्तरदायी ठहराया है, उनका सबसे तीखा चित्रण इस कविता में हुआ है। इस कविता का रचना-काल ११-१०-६२ दिया गया है, यानी चीनी आक्रमण से सिर्फ़ नौ दिन पूर्व। उस समय सारे देश में जो एनार्की, अराजकता फैली थी, और जो आज भी सर्वथा उन्मूलित नहीं हुई है, उसकी परिणति इस राष्ट्रीय गौरव के ह्रास के अतिरिक्त और हो भी क्या सकती थी? आज़ाद भारत का कितना यथार्थ चित्र इन पंक्तियों में उतरा है :

सुनिए क्रोपाटकिन-गोरकी!
भारत में फैली है, आज़ादी बड़े ज़ोर की।
सुनता न कोई फ़रियाद है।
देखिए जिसे ही वही ज़ोर से आज़ाद है।
....
जहाँ भी सुनो वहीं आवाज़ है,
भारत में आज, बस, जीभ का स्वराज है।

इस कविता में कथ्य की भिन्नता शिल्प की भी नवीनता लेकर उभरी है, जिससे व्यंग्य की धार कहीं-कहीं काफ़ी तेज़ हो गई है। भाषा पर तो दिनकर जी का असाधारण अधिकार है ही। जिस प्रकार छाया-युग की काव्य-भाषा की चरम प्रौढ़ि पंतजी की

कृतियों में लक्षित होती है, उसी प्रकार छाया-वादोत्तर युग की भाषा अपनी सारी सजीवता, शक्तिमत्ता और निखार के साथ दिनकर की कृतियों में ढली है।

दिनकर मध्यम मार्ग के कवि नहीं। वे हरदम इस या उस छोर पर रहते आए हैं। इसीलिए 'उर्वशी' के बाद 'परशुराम की प्रतीक्षा' देखकर कुछ लोगों को आश्चर्य हो सकता है। पर जिन्हें 'हुंकार' की कविताएँ भूली नहीं हैं, वे प्रस्तुत कृति को कवि के स्वाभाविक और समयीकृत विकास के रूप में ही स्वीकार करेंगे। वस्तुतः 'परशुराम की प्रतीक्षा' में कवि के कंठ से जाग्रत भारत का रोष ही गरजा है। हाँ, यदि इसमें कहीं कवि की पिछली मान्यताओं से असंगति दीख पड़े, तो उसे भी युगीन परिस्थितियों के संदर्भ में ही देखना उचित होगा। युद्ध का आवेश शांतिकाल के चिंतन को सदैव रेखांकित ही नहीं करता, कभी-कभी काट भी देता है।

——(प्रो०) आनन्दनारायण शर्मा

अनदेखे अनजान पुल

लेखक : राजेन्द्र यादव; प्रकाशक : राजपाल एण्ड संज, दिल्ली; पृष्ठ: १५८ ; मूल्य ३.००

इस उपन्यास में निन्नी (विधु) नामक एक काली और अत्यन्त कुरूप लड़की की कहानी है, जो अपनी कुरूपता के कारण बचपन से ही उपेक्षिता रहती है। पर निन्नी का मन बड़ा संवेदनशील है, और वह न केवल प्रेम के लिए तरसती रहती है, बल्कि उसे लेकर निरंतर अनगिनती सपने मन-ही-मन बुनती रहती है, और उन्हीं में जीती है। कोई लड़का उसकी ओर आकर्षित नहीं होता। किन्तु एक बार वि विवाह-समारोह के अवसर पर बैंजल ना एक अत्यन्त सुन्दर युवक किसी अन्य ल के धोखे में एक अँधेरी सीढ़ी पर उसे में भरकर चूम लेता है। इस वि अनुभूति से उसके तन-मन दोनों झन उठते हैं। वह इस अनुभूति को भूल पाती और उसकी पुनरावृत्ति के आतुर रहती है। इसी प्रकार पड़ोस कहीं बाहर से अपने रिश्तेदार के यहाँ दिनों के लिए आने वाले एक युवक के भी निन्नी एक प्रकार का 'संस्पर्श सुख' प्र करती है जो उसे उत्तेजित रखता है। बार वह अपने दादा के साथ दिल्ली नुमा देखने जाती है और उसके दर्शन नामक चित्रकार मित्र के घर ठहरती है। वहाँ द के सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार के कारण यह आशा और विश्वास करने लगती है दर्शन उसे प्यार करने लगा है। पर में वह भी किसी दूसरी लड़की से विवाह लेता है। निन्नी का विवाह नहीं हो वह उपेक्षिता और अतृप्त ही रहती है। दर्शन का स्नेह और सहानुभूति उसे प्रा जिससे उसे कुछ शान्ति मिलती है, य दर्शन से मन-ही-मन असंतुष्ट भी वह है। एक बार जब वह बहुत बीमार पड़ती है उसी बीमारी में दर्शन वहाँ आ जाता और उसकी अर्ध-अचेतावस्था में स्नेह उसके होठ चूम लेता है। बैंजल के पुरुष के चुम्बन की यह दूसरी अनु उसे होती है, पर इससे उत्तेजना की ब उसके मन की कटुता धुलती है और हलका पड़ता है। उसके मन की भावना भी इसके बाद कम होती है और

जैसे यह प्रतीति पाती है कि 'अनुपात सुन्दरता नहीं है, अनुपात के पीछे उद्भासित होने वाला प्राण, प्रसन्न उत्साह और आस्था ही सौंदर्य है।' इस प्रतीति के सहारे जीवन बिता सकना उसके लिए आसान हो जाता है।

इस प्रकार इस छोटे-से उपन्यास में एक महत्वपूर्ण मानसिक स्थिति का बड़ा संवेदनशील अध्ययन है जिसमें लेखक के बड़े सहानुभूतिपूर्ण और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक पर्यवेक्षण के प्रमाण मिलते हैं। साथ ही निन्नी के मन की विभिन्न स्थितियों के संयोजन और वर्णन में पर्याप्त विविधता और रोचकता है। लेखक ने उसके प्रति सस्ती भावुकता जगाने या उसे उत्तेजक विकृतियों का शिकार होते दिखाने के बजाय ऐसे उपेक्षित व्यक्तित्व की गहरी मानसिक पीड़ा और प्यार के लिए सहज स्वाभाविक ललक और लालसा को ही दिखाया है। यह बात लेखक के गहरे मानवीय विवेक की भी सूचक है और इस उपन्यास की सार्थकता की भी। पर कई कारणों से इस उपन्यास में निन्नी के मानसिक जीवन का चित्रण अधूरा और अपर्याप्त लगता है। एक कुरूप उपेक्षिता बालिका के व्यक्तित्व में मानसिक क्षतिपूर्ति के कई एक उपायों की आज़माइश लगभग अवश्यंभावी है। ऐसे एकाधिक उपाय पर सूक्ष्मता से ध्यान दिये बिना ऐसे व्यक्तित्व की मानसिक प्रतिक्रियाएँ और उनकी परिणति को कलात्मक स्तर पर विश्वसनीय बनाना आसान नहीं। इस दृष्टि से निन्नी के संपूर्ण मानसिक जगत और व्यक्तित्व के विकास के कई अनिवार्य और आवश्यक पक्षों पर ध्यान नहीं दिया गया है। निन्नी का जैसा स्वभाव और व्यक्तित्व लेखक मानकर चला है, उसे देखते हुए उसकी परवर्ती मानसिक स्थितियाँ और प्रतिक्रियाएं अनिवार्य नहीं लगतीं। उपन्यास के स्तर पर इन स्थितियों तक आने के लिए और उन्हें विश्वसनीय बनाने के लिए निन्नी के व्यक्तित्व के अन्य कई पक्षों का, उसके मानसिक प्रतिक्रियाओं के और भी कई स्तरों का, चित्रण और विश्लेषण आवश्यक था। इसी से निन्नी के व्यक्तित्व का विकास उपन्यास में जितना विश्वसनीय होना चाहिए था उतना नहीं हो सका है। उसके व्यक्तित्व के कई चित्र अपने-आपमें रोचक और संतुलित लगते हैं पर उनके संपूर्ण सम्मिलित प्रभाव में पर्याप्त संगति या अनिवार्यता नहीं है और उनकी तीव्रता कम हो जाती है।

निन्नी की समस्या का केन्द्र और चरमोत्कर्ष दर्शन और उसके संबंधों में है। पर इन सम्बन्धों के विकास में ही सबसे अधिक सरलीकरण और अस्वाभाविकता है। वह बहुत-कुछ इच्छित चिन्तन-सा लगता है और उसके मानसिक और कलात्मक आधार बहुत अपर्याप्त हैं। इसलिए इस प्रसंग का और समूचे उपन्यास का अंत बड़ा आकस्मिक है और पिछले विस्तार के अनुरूप नहीं लगता। वह जैसे कहीं नहीं ले जाता, भावुक और रोमेंटिक ढंग की आदर्शवादी परिणति में खो जाता है। इसी प्रकार पूर्वापर औचित्य का निभाव भी उपन्यास में अपर्याप्त है—जैसे बैंजल और दर्शन के चुम्बनों का अंतर निन्नी के लिए इतनी बड़ी अनुभूति बन जाए कि दर्शन के चुम्बन के बाद उसका मानसिक तनाव ढीला हो सके, इसका औचित्य स्थापित नहीं हो सका है।

वास्तव में इस उपन्यास में एक दिलचस्प

प्रकार का अंतर्विरोध मौजूद है। एक ओर तो उसमें निन्नी के मानसिक जगत और जीवन के विकास को इतनी संपूर्णता में तथा इतने विभिन्न स्तरों पर नहीं दिखाया जा सका है कि अलग-अलग अंशों में तथा अंतिम परिणति में अनिवार्यता और विश्वसनीयता हो। दूसरी ओर उसका समग्र प्रभाव विषय-वस्तु की स्फीति का और पुनरावृत्ति का पड़ता है। ऐसा लगता है जैसे एक कहानी के उपयुक्त सामग्री की छोटी-छोटी बातों को बहुत विस्तार दे दिया गया हो। इस कारण प्रभाव की प्रखरता कम हो जाती है। दूसरे शब्दों में, निन्नी के मानसिक जगत और अन्य संबंधों के कुछ पक्षों की बहुत-सी अनावश्यक तथा छोटी बातों को भी बहुत विस्तार से या बार-बार कहा गया है; और कुछेक अन्य आवश्यक पक्षों की इतनी उपेक्षा कर दी गयी है, कि उसकी मूल परिणति अनिवार्य नहीं लगती। फलस्वरूप उपन्यास के समग्र प्रभाव में सार्थकता और तीव्रता की कमी महसूस होती है।

शिल्प के स्तर पर, पूर्वावलोकन की युक्ति का अत्यधिक उपयोग भी प्रभाव की तीव्रता कम करने का एक साधन बना है। दर्शन और निन्नी की भेंट वाले प्रसंग आरंभ में लाने से वे अधिक उखड़े-उखड़े लगते हैं। यदि निन्नी के मानसिक जीवन के घटनाक्रम का सीधा विकास प्रस्तुत किया गया होता तो संभवतः उसमें अधिक तीव्रता और प्रभावशीलता होती। इसी प्रकार उपन्यास की परिणति भी शायद कुछ भिन्न होनी चाहिए थी। दर्शन के चुम्बन की घटना चरमोत्कर्ष के विन्दु पर आकर अस्वाभाविक लगने लगती है,; पर यदि वह सहज रूप में, नाटकीय उत्कर्ष के विन्दु से बहुत पहले कहीं आ... तो अधिक विश्वसनीय भी होती, और नि... के मानसिक जीवन में उसका स्थान कि... अधिक निश्चित परिप्रेक्ष्य में स्थापित... पाता।

निस्संदेह इस उपन्यास के ये सब अ... एक समग्र रचना की दृष्टि से ही हैं। उसमें ऐसे कितने ही प्रसंग हैं, जो अपने-आ... बड़े संपूर्ण और आकर्षक भी हैं और भ... भाँति अभिव्यक्त भी हुए हैं। निन्नी... अँधेरी सीढ़ी पर चूमने की घटना, नुमा... में दर्शन के साथ भटकती हुई निन्नी की वि... मनोदशाएँ, अथवा दर्शन से निन्नी की प... भेंट आदि स्थल ऐसे हैं, जिनमें लेखक... सहानुभूति और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि... साथ अभिव्यक्ति में पर्याप्त कलात्मक प्रख... और स्वच्छता है। पर ऐसे स्थलों की सफ... प्रायः स्वतंत्र है, वह उपन्यास के ... प्रभाव की निर्मिति में सदा योग नहीं देती...

'अनदेखे अनजान पुल' में कथा... राजेन्द्र यादव की कला के, उनकी कुशलता... बहुत-से पक्ष और प्रमाण मौजूद हैं। ... ऐसा भी लगता है कि अभी वे अपनी रोमा... और इच्छित-चिंतन-परक दृष्टि से पूरी त... छुटकारा नहीं पा सके हैं। यह प्र... प्रायः उनकी कला-दृष्टि की प्रखरता... धूमिल कर देती है। इसी कारण अ... समस्त संभावनाओं और आंशिक सफलता... के बावजूद अंततः इस उपन्यास का प्र... उपलब्धि से अधिक संभावनाओं का प... है। उसमें पूर्ण कलाकृति के स्वाद... अपेक्षा अभ्यास की-सी आत्मसजगता... कुशलता अधिक है।

—नेमिचंद्र ...

मेज़ पर टिकी हुई कुहनियाँ

रमेश बक्षी की इक्कीस कहानियाँ; प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६३; पृष्ठ-संख्या : २०४ ; मूल्य : ३.५०

सताईस वर्षीय नवयुवक कलाकार बक्षी की यह छठी पुस्तक है, दूसरा कहानी-संग्रह। मुझे इस संग्रह की कुछ कहानियाँ बहुत ही अच्छी लगीं, जैसे; अगले मुहर्रम की तैयारी, तवाँ करदम तमामी उम्र, थर्मस में क़ैद कुनकुना पानी, आया गीत गा रही थी, बहती नावों में सपनों का तैरना, मेज़ पर टिकी हुई कुहनियाँ, वही का वही सवाल....

मैंने अपने-आपसे पूछा : क्यों अच्छी लगीं ? मुझे अपने भीतर से उत्तर मिला : इनमें ताज़गी है, विविधता है। जीवन की तरल क्षण-क्षण परिवर्ती रंगीनी को पूरी उत्कटता से, गहराई से देखने की क्षमता है और वह भी आँखें न झिपकाए हुए। सत्य को, यथार्थ को देखते हुए कई कलाकारों की आँखें चौंधिया जाती हैं, वे एक आँख मूंद लेते हैं या दोनों आँखें अधमुंदी कर उसे पूरा न देखकर अधूरा देखकर ही संतुष्ट हो जाते हैं, कई तो रंगीन चश्मा पहने बिना इस प्रखरता को देख ही नहीं सकते। फिर कहानी कहने का बक्षी के पास 'नया' शिल्प है, वह परिश्रम-साध्य है पर सहज लगता है——काफ़ी लिखकर फिर से सुधारा गया है; बहुत-सा लिखकर फाड़ डाला गया है तभी यह बारीकी हासिल हो सकती है। बक्षी की हर कहानी पढ़ने की उत्सुकता इसीलिए जागती है। उसे लिखते रहना चाहिए : अपने या औरों के लिखे पर फ़तवे देने या अखाड़े में उतरने में शक्ति व्यय नहीं करनी चाहिए।

बक्षी की कहानी कहने की शैली से मैं आकर्षित हूँ। वह न-कुछ को कितना अर्थ-पूर्ण बना दे सकता है। यह 'इम्प्रेशनिस्ट' चित्रकार जैसा करतब है।

तब मैंने उससे कुछ सवाल पूछे——जिनके जवाब उसने मुझे यों दिए——वे इस पुस्तक के पढ़ने में सहायक होंगे ऐसा मैं मानता हूँ।

प्रश्न : १. अपनी कथाओं में आप क्या 'नया' देने का प्रयत्न करते हैं ?

उत्तर : कथा के माध्यम से 'सिम्बल' देने का मैं हमेशा प्रयास करता रहा हूँ। जिन कहानियों में मैं एक 'परफेक्शन' पा सका हूँ, वे ही मेरी अच्छी कहानियाँ हैं।

प्रश्न : २. मसलन इस संग्रह की कौन-सी कहानियाँ आपको अधिक प्रिय हैं ?

उत्तर : 'थर्मस में क़ैद कुनकुना पानी', 'वायलिन पर तिलक कामोद', 'एक पौधे की जीवनी', ' अगले मुहर्रम की तैयारी'।

प्रश्न : ३. क्या आप कहानियाँ लिखने के लिए 'मूड' की प्रतीक्षा करते हैं, और जल्दी में एक झटके में जैसे चित्रकार बनाता है, वैसे रेखाचित्र लिख डालते हैं; या अपने लिखे को बार-बार सुधारते है, सँवारते हैं ?

उत्तर : मूड से संबंधित कहानियाँ बग़ैर जिये लिखी नहीं जा सकतीं। काव्य और चित्रकला का जो संगम इस सृजन-प्रक्रिया में होता है उसी से इनके लेखन में सर्वाधिक समय भी लगता है, जैसे, 'मेज़ पर टिकी हुई कुहनियाँ' और 'बहती नावों में सपनों का तैरना'।

प्रश्न : ४. आपको किन विदेशी कथाकारों की कहानियाँ पसन्द हैं ? वैसे अँग्रेज़ी साहित्य के अध्ययन के नाते आपने बहुत पढ़ा ही होगा, फिर भी ....

उत्तर : बचपन में ओ 'हेनरी, मोपासां।

फिर दास्ताएवस्की, आन्द्रेजीद, सार्त्र और डी० एच० लारेंस।

प्रश्न : ५. और भारतीय कहानीकारों में ? (मुझे पता था कि रमेश सिर्फ़ बंद अँधेरे कमरे में नहीं रहते। हिन्दुस्तान भर घूमे हैं, और कई भाषाओं से उनका परिचय है। 'हमतिनके' नामक उनके उपन्यास में एक सिंधी पात्र है और सिंधी लोग जैसी हिन्दी बोलते हैं, उसका पहला प्रयोग मैंने उसमें देखा।)

उत्तर : बँगला में समरेश बसु, जरासन्ध अवधूत, शंकर। पंजाबी में कर्तारसिंह दुग्गल।.... यूँ 'नई कहानी' का हिमायती हूँ हर साहित्य में।

मैंने 'नई कहानी' पर बहस बढ़ाना बेकार समझा। मार्च १९६३ की 'ज्ञानपीठ पत्रिका' में 'कहानी-रचना की पृष्ठभूमि' शीर्षक लेख उनका मैं पढ़ चुका था। और अभी हाल में 'लहर' में 'सारिका' के संपादकीय का प्रतिवाद भी....

सो मैंने विषय बदलकर 'क़िस्से पर क़िस्सा' के कारण उठी वितण्डा की ओर संकेत कर 'कहानी में सेक्स के चित्रण की मर्यादा' पर चर्चा शुरू की। क्या सब मर्यादाएँ और परम्पराएँ तोड़ देनी चाहिए ? क्या विदेश का अनुकरण, यानी पश्चिम के नर-नारी-संबंधों के आदर्श हमारे यहाँ ग्राह्य होंगे? कहानीकार की कोई नैतिक ज़िम्मेदारी है क्या ?

उत्तर : हाँ, मेरा ऐसा ही विचार है कि नर-नारी संबंधों के बारे में जिस विचारहीनता और प्राचीनता में हम जीते हैं वही दोषी है, इसके लिए। मैं नहीं सोचता कि 'थर्मस में क़ैद...' 'कोरे कार्ड के ४ टुकड़े' उस विदेश में लिखी जा सकती हैं जहाँ सेक्स-ग्रंथि नहीं है।

मेरा अन्तिम प्रश्न था : क्या कहानी-लेखक का कोई सामाजिक दायित्व नहीं ?

उत्तर : सामाजिक दायित्व को मैं डाइरेक्ट नहीं लेता। वह ध्वनित हो तो ठीक। यूँ एक व्यक्ति के 'इंट्रोस्पेक्शन' की कहानी भी समाजबोध देनेवाली होती है। मेरा कथाशिल्प 'अब्स्ट्रैक्ट' है सो दोस्त मुझे व्यक्तिवादी कहते हैं।

इधर हिन्दी में जो दो-चार कहानी-संग्रह गए दो वर्षों में ऐसे पढ़े, जो मैं सहसा भूल नहीं सकता उनमें यह रमेश बक्षी की पुस्तक है। बक्षी को अपनी पुनरावृत्ति करने से बचना चाहिए। ऐसे लेखन में यह खतरा बहुत सूक्ष्म परन्तु अनिवार्य रूप से लगा रहता है। अनुभव-विश्व को व्यापक बनाते रहना चाहिए।

—प्रभाकर माचवे

भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान

लेखक : डॉ० हीरालाल जैन एम० ए०, डी० लिट्, एल० एल० बी०, अध्यक्ष संस्कृत, पालि, प्राकृत विभाग, जबलपुर, विश्वविद्यालय; प्रकाशक : मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् भोपाल; पृष्ठ-संख्या ४९७; मूल्य, १०.००

प्रस्तुत ग्रंथ मध्यप्रदेश शासन साहित्य-परिषद का ९ वाँ ग्रंथ है जिसमें उक्त परिषद् की व्याख्यानमाला के अन्तर्गत १९६० में संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य के मान्य विद्वान् डॉ० हीरालाल जी जैन द्वारा दिये गए गवेषणापूर्ण चार व्याख्यानों का संग्रह है। ये व्याख्यान अपने मूल रूप से अधिक पल्लवित और सुसंस्कृत कर अच्छे कागज़ पर सुन्दर छपाई द्वारा प्रकाशित किए गए हैं। उस ग्रंथ में भारतीय संस्कृति के सम्वर्द्धन में

जैन धर्म के विशिष्ट योगदान के रूप में जैन इतिहास, साहित्य, तत्वज्ञान एवं कला के विविध रूपों का सर्वांगीण पर संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

यह तो अब भली-भाँति अनुभव किया जा रहा है कि भारतीय संस्कृति को समग्र रूप में समझने के लिए वैदिक, बौद्ध एवं जैन धारा की त्रिवेणी को समझना परमावश्यक है। इन तीनों में से किसी एक की उपेक्षा भारतीय मानस को समझने में उलझन पैदा करेगी। वैदिक और बौद्ध परम्परा को लेकर पाश्चात्य एवं भारतीय भाषाओं में बहुत-कुछ लिखा गया है। पर जैन परम्परा पर अधिकारी विद्वानों द्वारा प्रणीत ग्रंथ बहुत कम हैं। प्रस्तुत पुस्तक बहुत अंश में इस अभाव की पूर्ति है और राष्ट्रभाषा के माध्यम से उक्त परम्परा का परिचय देकर एक महती राष्ट्र सेवा की गयी है।

प्रथम व्याख्यान में जैन धर्म की राष्ट्रीय भूमिका के साथ उसके 'उदगम और विकास' की कथा दी गयी है जो बड़ी ही रोचक है। तथ्यों को इस प्रकार निष्पक्ष दृष्टि से रखा गया है कि वे भारतीय संस्कृति के बन्द पृष्ठों को अपने-आप खोलते-से लगते हैं। पर विषय के विस्तार को देखते हुए यह भाग बहुत छोटा लगता है। जैन-इतिहास पर कुछ और अधिक लिखने की आवश्यकता थी। उदाहरणस्वरूप पूर्व और उत्तर भारत में धार्मिक प्रसार का इतिहास गुप्तकाल तक ही लिखकर छोड़ दिया गया है जब कि मध्य-कालीन उत्तर-भारत में जैन-धर्म की स्थिति पर कम-से-कम २–३ पैराग्राफ़ अच्छी तरह लिखे जा सकते हैं। चतुर्थ व्याख्यान में जैन कला की कहानी जिस तरह मध्यकाल के अन्त तक पहुँचायी गयी है उसी तरह इस अध्याय में भी होना चाहिए था। जैन संघ के इतिहास का भी यहाँ अत्यल्प परिचय है। डॉ॰ जैन जैसे विद्वान से इस विषय में अधिक प्रकाश मिलने की आशा थी। आशा है, अगले संस्करण में उनकी लेखनी से विशेष तथ्य-ज्ञान हो सकेंगे। फिर भी ४६ पृष्ठों में अनेक महत्वपूर्ण बातें प्रकाश में ला दी गयी हैं।

दूसरा व्याख्यान का शीर्षक 'जैन साहित्य' है। यह अपने ढंग की नयी देन है। अब तक प्रकाशित आंग्ल, गुजराती या हिन्दी भाषाओं में इस प्रकार का समग्र परिचय नहीं मिलता। जैन साहित्य को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में समानान्तर रूप से प्रस्तुत करना इस व्याख्यान की बड़ी विशेषता है। इस भाग में अर्धमागधी जैन आगमों के साथ शौरसेनी जैन आगमों का परिचय अभूतपूर्व है और प्राकृत और अपभ्रंश जैन साहित्य का इस प्रकार का परिचय अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। १५० से अधिक पृष्ठों में विषय का विवेचन न तो अधिक विस्तृत है और न संक्षिप्त ही। इसमें प्रायः ज्ञातव्य सभी बातें आ गयी हैं। फिर भी विषय की कथा पूरी करने के लिए प्रान्तीय भाषाओं में मध्यकालोत्तर जैन साहित्य पर अधिक नहीं तो दिगदर्शन के रूप में २–४ पृष्ठ देने चाहिए थे।

तृतीय व्याख्यान 'जैन दर्शन' पर है। इस दुरूह विषय का भी डॉ॰ जैन ने बड़ी सुगम शैली में प्रतिपादन किया है। वे एक बड़े ही कुशल अध्यापक हैं और इस विषय के निरूपण में उनका यह गुण सर्वत्र परिलक्षित होता है। यह गहन विषय विशदता से ६३ पृष्ठों में छपा है मानों गागर में सागर

ही भर दिया गया हो।

चतुर्थ व्याख्यान में जैन कला के विविध रूपों—वस्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला का युगक्रम से एक सुन्दर एवं रोचक परिचय दिया गया है जो ९५ पृष्ठों में विस्तृत है। इस भाग को ३६ चित्रों से सुसज्जित किया गया है जिससे विषय-वस्तु की कहानी सुगम बन गयी है। जैन कला सम्बन्धी अनेक महत्व-पूर्ण रचनाएँ यहाँ संकलित की गयी हैं।

ये चारों व्याख्यान भारतीय संस्कृति की अविभाज्य जैन धारा की महत्ता और विशालता को सिद्ध करने में बड़े ही समर्थ हैं। इस ग्रंथ के प्रणयन में पाश्चात्य गवेषकों जैसी पैनी दृष्टि से काम लिया गया है तथा सभी बातें निष्पक्ष भाव से कही गयी हैं। डॉ० जैन विगत ४० वर्षों से भी अधिक समय से विभिन्न भारती वांगमय के साथ जैन साहित्य की सेवा करते आ रहे हैं। उनकी कुशल अध्यापन-कला ने इस दिशा में चार चाँद लगा दिए हैं। उनके निर्देशन में कई ग्रंथमालाओं का प्रकाशन हो रहा है। वे साहित्य-क्षेत्र में युगनिर्माताओं में से हैं। उनकी लेखनी से प्रस्तुत यह कृति श्लाघनीय है। इसका सर्वत्र समादर, संग्रह एवं प्रचार होना चाहिए। एतदर्थ इसके सस्ते संस्करण की भी आवश्यकता है। ग्रंथ में पीछे २४ पृष्ठों की वर्गीकृत ग्रंथ-सूची एवं ७०५ पृष्ठों की उपयोगी अनुक्रमणिका भी है।

—गुलाबचन्द्र चौधरी
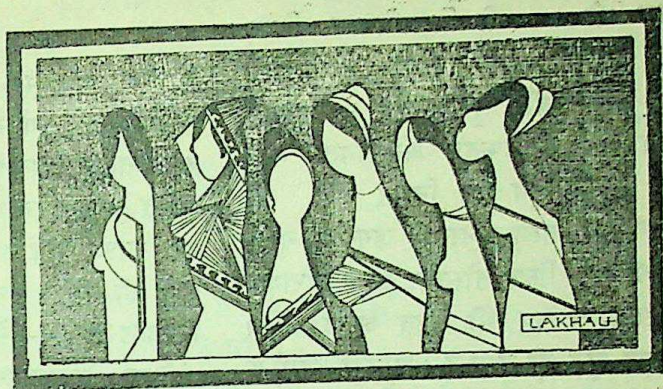
नई दिल्ली, २६-११-६३

ज्ञानोदय का पत्र-अंक मेरी ग़ैरहाज़िरी में यहाँ आया और उसकी लोकप्रियता का प्रमाण है कि वह ग़ायब हो गया और अब मैं उसकी तलाश में हूँ ! इस बीच किसी पुस्तकालय की प्रति हाथ लग गई । स्थाली-पुलाक न्याय से मैंने श्री लक्ष्मीचन्द्र जी जैन का पत्र श्रद्धेय पंडित जी के नाम पढ़ लिया । निस्संदेह वह महत्वपूर्ण है । ऐसा ही एक पत्र श्रीमान हरिशंकर जी शर्मा ने ७–८ वर्ष पहले पंडित जी को भेजा था, जो कई पत्रों में उद्धृत भी हुआ था ।

आपने मुझ नाचीज़ का भी एक ख़त दे दिया है । पत्र-व्यवहार मेरा तो एक व्यसन रहा है और मैंने हज़ारों ही पत्र लिखे होंगे । स्वभावतः यह अंक मेरे लिए एक महत्वपूर्ण ग्रंथ की तरह सुपाठ्य सामग्री का भण्डार है । मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार कीजिए ।

—बनारसीदास चतुर्वेदी

●

खंडवा, १२-११-६३

ज्ञानोदय का पत्र-अंक समचा पढ़ गया । सचमुच, हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांकों की परंपरा में यह एक सर्वथा नवीन प्रयोग है और अपने उद्देश्य

सृष्टि और दृष्टि

में सफल भी। श्री विद्यानिवास मिश्र, अमृता प्रीतम और शरद जोशी की रचनाएँ बहुत ही सुन्दर हैं। उनमें एक पत्र की मौलिकता, आत्मीयता और लालित्य सभी खूब ही निखरे हैं। श्री किशनचन्दर अमृतलाल नागर, जगदीश गुप्त, लक्ष्मीचन्द्र जैन, फ़िक्र तौंसवी, लक्ष्मीनारायण लाल आदि के पत्र भी बहुत अच्छे लगे। इनमें व्यंग्य खूब ही सधा है। भारती भाई के यात्रा-संस्मरण ज्ञानोदय की विशिष्ट देन हैं। मनोभावनाओं का ऐसा सूक्ष्म चित्रण समूचे यात्रा-साहित्य की दुर्लभ वस्तु है। भूमध्य सागर के पूर्वी छोर पर पतली फाँक के रूप में होनेवाले सूर्योदय की झलक और कोहरे के नगर की मधुर स्मृतियाँ बड़ी देर तक मन को घेरे रहीं। सब मिलाकर इतने सुन्दर विशेषांक के लिए हार्दिक बधाई स्वीकार करें।

—रामनारायण उपाध्याय

●

दिल्ली, ६-११-६३

'पत्र अंक' पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। ज्ञानोदय की परम्परा को आगे बढ़ाने वाला है। सहसा मुझे बहुत पुराने 'चाँद' के 'पत्र-अंक' की याद आ गई। और भी कई अंक देखे पर ज्ञानोदय का अंक कई कारणों से विशिष्ट स्थान रखता है। अभी पूरा तो नहीं पढ़ पाया पर कई रचनाएँ देख गया हूँ और अन्तर स्पष्ट देख सका हूँ।

मेरी बधाई लें।

—विष्णु प्रभाकर

वाराणसी, २२-११

ज्ञानोदय का पत्र-अंक देखा। विशे के लिए हर वर्ष नये-नये विषयों का च कर लेना ज्ञानोदय-परिवार की समृद्ध कल शक्ति का परिचायक है। सब तो पर काफ़ी पत्र पढ़ गया। जहाँ पत्रों की संख्या लम्बी है, वहाँ कुछ बहु विशिष्ट लगे—जैसे सर्वश्री इलाचन्द्र ज संदीपन चट्टोपाध्याय, प्रभाकर म कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर और लक्ष्मी जैन के पत्र। सम्पादकों को पाठको ओर से बधाइयाँ और धन्यवाद।

—डॉ० दे

पटना, ८-११

पत्र-विशेषांक के सुन्दर संपादन के एक लाख एक बधाइयाँ।

मेरे पत्रों में अर्थात् छोटनबाबू के प मेरी, आपकी [तुम्हारी] अथवा किसी ग़लती से, तारीख़ ग़लत छपी है—कई में। सभी चिट्ठियाँ १९६२ साल की यदि संभव हो तो अगले अंक में इसकी छाप दो भाई!

इलाहाबाद, २०-११

'ज्ञानोदय' के विशेषांक हिन्दी की के मानदण्ड हैं। यह पत्र-अंक आपकी गौरवपूर्ण परम्परा के अनुकूल मुझे तो बड़ा सुख मिला कि पत्र-साहित्य ओर भी आपका ध्यान गया। यह

बिल्कुल उपेक्षित है। १९२९ में मैंने अपनी सम्पादित पत्रिका 'त्यागभूमि' में 'पत्र-साहित्य' नाम का एक स्तंभ ही शुरू किया था। आज की पीढ़ी पुरानी बातों की ओर ध्यान देना शायद अपना अपमान समझती है। इसी से हिन्दी का इतिहास, शोध ग्रंथों के रूप में भी, बड़ा विकृत एवं अपूर्ण है।

इस क्षेत्र में अभी बड़ी सामग्री पड़ी है। समय-समय पर वह बराबर निकलती रहे तो कितनी ही बातों और साहित्य के Personal aspects पर भी प्रकाश पड़ेगा।

आप लोग मासिक साहित्य का एक नया मानदण्ड बनाने का जो प्रयत्न कर रहे हैं, उसका मैं अभिनन्दन करता हूँ।

—रामनाथ सुमन

●

वाराणसी, १४-११-६३

ज्ञानोदय का पत्रांक आज ही ले आया हूँ। डॉ० धर्मवीर भारती का पत्र शैली में लिखा गया यात्रा-संस्मरण, कुँवरनारायण की कविता पहले देख गया। ये दोनों रचनाएँ मुझे बहुत अच्छी लगीं। भारती की अपनी एक विशिष्ट गद्य शैली है जिसमें लालित्य तो है ही, एक ख़ास तरह का अन्तर्गठन भी उनके इधर के गद्य में विकसित होता दीख रहा है। संदीपन के निबंध को पढ़ रहा हूँ। वह मेरे अत्यन्त प्रिय मित्र हैं—एक ऐसे मित्र जिसकी हर पंक्ति को मैं बहुत निष्ठापूर्वक पढ़ता हूँ। ज्ञानोदय के विशिष्ठ अंकों की समुन्नत परम्परा में प्रस्तुत विशेषांक भी एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इस अंक के प्रत्येक पृष्ठ में ज्ञानोदय के सम्पादकद्वय की निष्ठा, सतत जागरूकता और आधुनिकता-बोध की तीव्र संवेदनाओं की जीवनमयता मिलती है। ऐसे सुसम्पादित अंक के लिए आप मेरी बधाई स्वीकार करें।

—नागानन्द मुक्तिकण्ठ

●

भोपाल, १३-११-६३

विशेषांक की सूझ और सामग्री के लिए बधाइयाँ।

विशेष मैं राही, सन्दीपन, इलाचन्द्र जी और लक्ष्मीचन्द्र जी के लिए लिख रहा हूँ। राही ने बड़े मौलिक इण्टरप्रिटेशन्स दिये हैं और बात में इतनी साफ़गोई है कि पत्र-अंक का आत्मावाला अंश उसी में दृष्टिगत होता है। संदीपन की जैसी यह रचना है वैसी और रचनाएँ भी ज्ञानोदय में आनी चाहिए। इलाचन्द्रजी का यह लेख पुरानी पीढ़ी के ग़लत क़दमों वाले संपादक भी पढ़ें तो सुन्दर रहे। नेहरू के नाम ख़त में आज की तारीख़ें बोलती हैं। बढ़ते युग में ऐसे ख़त पुराने तो हो जाते हैं लेकिन उनकी सामयिकता परफेक्ट होती है।

अभी तो परिशिष्टांक और देखना है सो मेरा अधूरा ख़त भी मौज़ू लगेगा।

—रमेश बक्षी

●

प्रयाग, १४-११-६३

पत्र-अंक पहले ही मिल चुका है—इतने आकर्षक आयोजन के लिए बधाई स्वीकार करें। 'ज्ञानोदय' अपने स्तर का निर्वाह कर रहा है, यह निश्चय ही संतोष का विषय है।

रचनाओं में श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन तथा

श्री इलाचन्द्र जोशी के पत्र काफ़ी सुगठित तथा प्रभावपूर्ण हैं। समसामयिक जीवन तथा साहित्य के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि विचारोत्तेजक है।

—(डॉ०) रामस्वरूप चतुर्वेदी

●

इलाहाबाद, ११-११-६३

विशेषांक बहुत रोचक और सुसंपादित लगा है। अभी तक दो-तीन पत्र पढ़े हैं, आकर्षक लगे, विशेष रूप से जैन जी और जोशी जी का पत्र।

—(डॉ०) रघुवंश

●

चाईबासा, १८-११-६३

इन दिनों 'ज्ञानोदय' का पत्र-अंक चाव से पढ़ रहा हूँ—इतनी अच्छी पाठ्य-सामग्री, रुचि के विन्यास और आत्मपरक शैली की ताज़गी की दृष्टि से इधर पढ़ने को नहीं मिली। पत्र-विधा की अधिकांश संभावनाओं को इसमें नियोजित करने का संपादकीय और लेखकीय प्रयास स्पृहणीय है। गुलदस्ते जैसी एक भेंट है 'पत्र-अंक'। रचनाओं के पुरज़ोर व्यंग्य की दृष्टि से कृश्नचन्दर, रेणु, श्रीकांत वर्मा ने झिंझोंड़ा है—अमृता प्रीतम, स्टीफ़ेन ज़्विग के अनुवाद, डॉ० देवराज, कैलाश वाजपेयी, धनंजय वर्मा ने अस्तित्व के पारदर्शी स्तरों को छुआ है। पत्र-माध्यम लेखन का कितना सशक्त और प्रसन्न माध्यम हो सकता है—यह साफ़ पता लग गया है। मेरी बधाई स्वीकारें।

—श्रीराम तिवारी

सांस्कृतिक जागरण, साहित्यिक विकास-उन्नयन और
राष्ट्रीय ऐक्य एवं राष्ट्र-प्रतिष्ठा की साधिका
एवं
भारतीय भाषाओं की सर्वोत्कृष्ट
सर्जनात्मक साहित्यिक कृति पर
प्रतिवर्ष एक लाख रुपये
पुरस्कार योजना प्रवर्तिका
विशिष्ट संस्था

उद्देश्य
ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्री का
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा
लोक-हितकारी मौलिक
साहित्य का निर्माण

संस्थापक : साहू शान्ति प्रसाद जैन
अध्यक्षा : श्रीमती रमा जैन

प्रधान एव सम्पादकीय कार्यालय : ९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७
प्रकाशन कार्यालय : दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी—५
विक्रय केन्द्र
३६२०/२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, दिल्ली-६

जिनकी प्रतीक्षा थी और अब जिनकी चर्चा होगी

भारतीय ज्ञानपीठ

के

नये चार पठनीय प्रकाशन

बातें, जिनमें सुगन्ध फूलों की

अहमद सलीम

कह भले कोई दे कि काग़ज़-क़लम रहें, फिर पत्र लिख ही जाता है। होता भी है ऐसा क्या? पत्र यदि सचमुच पत्र है तो उसमें दिल की धड़कनें बोलेंगी, भीतर की पीड़ा या ख़ुशी फूट आयी होगी, और कुछ अगर सोचा गया है तो क्यों और कसे यह भी झलकता मिलेगा। जैसे हमारे भावों और हमारी भावनाओं के उन क्षणों की अनजाने उतरी एक्स-रे प्लेट होता है पत्र!

हिन्दी और अँगरेज़ी में ऐसे बहुत-बहुत पत्र हैं, पर उर्दू में भी कम नहीं। सच यह कि उर्द पत्रों में एक कुछ और भी निराली बात मिलती है जो किसी को भी कहीं-न-कहीं छुए-छेड़े बिना नहीं रहती, और तब बेबस-से हम स्वयं घंटों-घंटों वहीं रमे रहना चाहते हैं। जिन अनूठे उर्दू पत्रों की झाँकी इस पुस्तक के द्वारा दी जा रही है उनकी विशेषता एक और भी है: ये एक्स-रे प्लेट हैं दिल की भूख और प्यास की और बेबसी के सब्र की, मगर एक्स-रे प्लेट ये ग़ालिब और दाग़ की हैं, इक़बाल और मौलाना आज़ाद की हैं, और उन ऐसे ही औरों की हैं जिनकी क़लम की दाद ज़माना देता आया है। मूल्य ३.००

रत्नावली

हरिप्रसाद 'हरि'

'साकेत' ने भगवती उर्मिला-जैसे चरित्र-रत्न को उजागर करके हिन्दी साहित्य की दीपमाला का एक बिसरा हुआ भाग अँजोर दिया। गोस्वामी तुलसीदास की प्रेयसी, जीवनसंगिनी और परित्यकता रत्नावली एक और ऐसा ही छोटा-सा भाग था जो अब तक अनदेखा - सा रहा। प्रस्तुत खण्डकाव्य कृति इसी दिशा में एक मुग्धकर प्रत्यन है।

कृति का आधार भले ही किंवदन्तियाँ और कल्पनाएँ अधिक हों, पर इतना निर्विवाद है कि अपने भावांकन और वस्तुचित्रण को लेकर यह सचमुच ही अनूठी बन उठी है। इस लघुकाय काव्यकृति की कल्पनाएँ भावुक पाठक को बाँध-बाँध लेंगी और इसकी रस-निर्झरिणी की फुहारों से वह अछूता

रह जाए यह असंभव है। वास्तव में यह तो इसलिए भी पठनीय और संग्रहणीय है कि इस चरित्र को साढ़े तीन शती से हम जानते आये मगर साहित्य का विषय बनाकर उसे उसका अपेक्षित मान-पद देना भूले ही रहे। मूल्य २.००

हम सब और वह

दयानन्द वर्मा

मानव और मनोविज्ञान दोनों गति में है। रफ्तार एक है इसलिए पहले वाला आगे है और बादवाला पीछे।

लेकिन कभी यदि गतिशील मानव तनिक रुककर, मुड़कर, अपने से सम्बन्धित अधूरे ज्ञान की एक झलक पा लेता है तो चकित रह जाता है। उस दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखकर कभी वह अपने को पहचानने से इनकार करता है, कभी अपने रूप के परिष्कार की सोचता है, और कभी तो उस दर्पण को ही तोड़ डालना चाहता है।

बिलकुल कहानियों-जैसे ये लघु ललित-निबन्ध इसी मानव के विराट् रूप के कुछ अंशों का प्रतिबिम्ब मात्र हैं। अपने द्रुतगामी मानव पाठक को, हम सभी को, ये तनिक नहीं, बहुत-बहुत रोकेंगे, और बार-बार। हम इनकी प्रेरणा को भी सिर-आँखों लें यही अभीष्ट है। मूल्य २.००

चाय पार्टियाँ

सन्तोषनारायण नौटियाल

आज की दुनिया में जनमे और आज के जीवन में जीते किसी के लिए भी असम्भव है कि तीन शब्दों से घना परिचय न हो : टैक्ट, डिप्लोमेसी, और बुद्धि का चमत्कार। मूल भाव तीनों का एक है और वही जैसे युग का बीजमन्त्र है।

हर 'समझदार' व्यक्ति मन में यही मन्त्र जपा करता है और 'संसार देवता' के प्रसाद के लिए उसका सारा व्यवहार-आचरण उसके अनुकूल ही ढला हुआ रहता है। ऐसे व्यक्ति, और तो और, पत्नी, और बच्चों तक से 'टैक्ट' और 'डिप्लोमेसी' चलाते नहीं चकते।

पर न सही भगवान् का, 'संसार देवता' का भी उससे प्रसाद मिला है क्या? युग की गति-विधि देखते यह प्रश्न आज सौ के मुँह पर है, तो हज़ार के मन में। नौटियाल जी की यह हास्य नाटक-कृति भरपूर मनोरंजन तो आपका करेगी ही, भीतर-भीतर सोचने को भी कहेगी। मंच पर इसका सफल अभिनय हो चुका है। मूल्य २.००

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

श्रेष्ठ प्रकाश

लोकोदय ग्रन्थमाला

राष्ट्रभारती

प्रतिनिधि रचनाएँ	नार्ल वेंकटेश्वर राव (तेलुगु)	३.५०
प्रतिनिधि रचनाएँ	'परशुराम' (बंगला)	३.००
प्रतिनिधि रचनाएँ	व्यं० दि० माडगूळकर (मराठी)	४.००

उपन्यास

महाश्रमण सुनें, उनकी परम्पराएँ सुनें !	'भिक्खु'	२.२५
सूरज का सातवाँ घोड़ा	डॉ० धर्मवीर भारती	२.००
पीले गुलाब की आत्मा	विश्वम्भर मानव	४.००
पलासी का युद्ध	तपनमोहन चट्टोपाध्याय	३.५०
अपने-अपने अजनबी	अज्ञेय	३.००
गुनाहों का देवता (सातवाँ सं०)	डॉ० धर्मवीर भारती	५.००
शतरंज के मोहरे (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	अमृतलाल नागर	६.००
शह और मात	राजेन्द्र यादव	४.००
राजसी	देवेशदास आइ०सी०एस्०	२.५०
संस्कारों की राह (पुरस्कृत)	राधाकृष्णप्रसाद	२.५०
रक्त-राग	देवेशदास आई०सी०एस्०	३.००
तीसरा नेत्र	आनन्दप्रकाश जैन	२.५०
ग्यारह सपनों का देश	सं०—लक्ष्मीचन्द्र जैन	४.००
मुक्तिदूत (द्वि० सं०)	वीरेन्द्रकुमार एम. ए.	५.००

कहानी

खोयी हुई दिशाएँ	कमलेश्वर	२.५०
मेज पर टिकी हुई कुहनियाँ	रमेश बक्षी	३.५०
बोस्ताँ	मूल : शेख़ सादी	२.५०
जय-दोल (द्वि० सं०)	अज्ञेय	३.००
जिन्दगी और गुलाब के फूल	उषा प्रियंवदा	२.५०

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

श्रेष्ठ प्रकाशन

पुस्तक	लेखक	मूल्य
अपराजिता	भगवतीशरण सिंह	२.५०
कर्मनाशा की हार	डॉ० शिवप्रसाद सिंह	३.००
सूने अँगन रस बरसै	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	३.००
प्यार के बन्धन	रावी	३.२५
मोतियोंवाले (पुरस्कृत)	कर्तारसिंह दुग्गल	२.५०
हरियाणा लोकमंच की कहानियाँ	राजाराम शास्त्री	२.५०
मेरे कथागुरु का कहना है (१–२)	रावी	६.००
पहला कहानीकार (पुरस्कृत)	रावी	२.५०
संघर्ष के बाद (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	विष्णु प्रभाकर	३.००
नये चित्र	सत्येन्द्र शरत्	३.००
काल के पंख	आनन्दप्रकाश जैन	३.००
अतीत के कम्पन (द्वि० सं०)	आनन्दप्रकाश जैन	३.००
खेल खिलौने	राजेन्द्र यादव	२.००
आकाश के तारे : धरती के फूल (तृ०सं०)	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	२.००
नये बादल	मोहन राकेश	२.५०
कुछ मोती कुछ सीप (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.५०
जिन खोजा तिन पाइयाँ (तृ० सं०)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.५०
गहरे पानी पैठ (तृ० सं०)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.५०
एक परछाईं : दो दायरे	गुलाबदास ब्रोकर	३.००
ऑस्कर वाइल्ड की कहानियाँ	डॉ० धर्मवीर भारती	२.५०
लो कहानी सुनो	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.००

कविता

पुस्तक	लेखक	मूल्य
रत्नावली	हरिप्रसाद 'हरि'	२.००
वाणी (द्वि सं० परिवर्धित)	सुमित्रानन्दन पन्त	४.००
सौवर्ण (द्वि० सं० परिवर्धित)	सुमित्रानन्दन पन्त	३.५०
परिणय गीतिका	सं०–रमा जन, कुन्था जैन	५.००
आँगन के पार द्वार	अज्ञेय	३.००
वीणापाणि के कम्पाउण्ड में	केशवचन्द्र वर्मा	३.००
रूपाम्बरा	सं०—अज्ञेय	१२.००
वेणु लो, गूँजे धरा	माखनलाल चतुर्वेदी	३.००
अनु-क्षण	डॉ० प्रभाकर माचवे	३.००
तीसरा सप्तक (द्वि० सं०)	सं०—अज्ञेय	५.००
अरी ओ करुणा प्रभामय	अज्ञेय	४.००

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

देशान्तर	डॉ० धर्मवीर भारती	१२.००
सात गीत-वर्ष	डॉ० धर्मवीर भारती	३.५०
कनुप्रिया	डॉ० धर्मवीर भारती	३.००
लेखनी-बेला	वीरेन्द्र मिश्र	३.००
आवा तेरी है	राजेन्द्र यादव	३.००
पंच-प्रदीप	शान्ति एम० ए०	२.००
मेरे बापू	हुकुमचन्द्र बुखारिया	२.५०
धूप के धान (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	गिरिजाकुमार माथुर	३.००
वर्द्धमान (महाकाव्य) (पुरस्कृत)	अनूप शर्मा	६.००

शाइरी

गंगोजमन	'नज़ीर' बनारसी	३.००
शाइरी के नये मोड़ (भाग १—५)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	१५.००
नग्मए-हरम	,,	४.००
शाइरी के नये दौर (भाग १—५)	,,	१५.००
शेर-ओ-सुख़न : १—५ (द्वि.सं.पुरस्कृत)	,,	२०.००
शेर-ओ-शाइरी ,, ,,	,,	८.००
ग़ालिब	रामनाथ 'सुमन'	८.००
मीर	,,	६.००

नाटक

चाय पार्टियाँ	सन्तोषनारायण नौटियाल	२.००
आदमी का ज़हर	लक्ष्मीकान्त वर्मा	३.००
घाटियाँ गूंजती हैं	डॉ० शिवप्रसाद सिंह	२.५०
तीन ऐतिहासिक नाटिकाएँ	परिपूर्णानन्द वर्मा	४.००
नाटक बहुरंगी	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	४.५०
जनम क़ैद (पुरस्कृत)	गिरिजाकुमार माथुर	२.५०
कहानी कैसे बनी ?	कर्तारसिंह दुग्गल	२.५०
पचपन का फेर (पुरस्कृत)	विमला लूथरा	३.००
तरकश के तीर	श्रीकृष्ण	३.००
रजत-रश्मि (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	डॉ० रामकुमार वर्मा	२.५०
और खाई बढ़ती गयी (पुरस्कृत)	भारतभूषण अग्रवाल	२.५०
चेखॅव के तीन नाटक	राजेन्द्र यादव	४.००

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

महत्वपूर्ण प्रकाशन

बारह एकांकी	विष्णु प्रभाकर	३.५०
कुछ फ़ीचर कुछ एकांकी	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	३.५०
सुन्दर रस (द्वि० सं०)	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	१.५०
सूखा सरोवर	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	२.००
भूमिजा	सर्वदानन्द	१.५०

विधा-विविधा

अंकित होने दो	अजितकुमार	४.००
खुला आकाश : मेरे पंख	शान्ति मेहरोत्रा	४.५०
सीढ़ियों पर धूप में	रघुवीर सहाय	४.००
काठ की घण्टियाँ	सर्वेश्वरदयाल सक्सेना	७.००
पत्थर का लैम्पपोस्ट	शरद देवड़ा	३.००

ललित-निबन्धादि

हम सब और वह	दयानन्द वर्मा	२.००
बातें जिनमें सुगन्ध फूलों की	अहमद सलीम	३.००
महके आँगन चहके द्वार	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४.००
शिखरों का सेतु	डॉ० शिवप्रसाद सिंह	३.५०
बाजे पायलिया के घुँघरू	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४.००
फिर बैतलवा डाल पर	विवेकीराय	३.५०
आँगन का पंछी : बनजारा मन	विद्यानिवास मिश्र	३.००
नये रंग : नये ढंग	लक्ष्मीचन्द्र जैन	२.००
बना रहे बनारस	विश्वनाथ मुखर्जी	२.५०
कागज़ की किश्तियाँ	लक्ष्मीचन्द्र जैन	२.५०
अमीर इरादे : ग़रीब इरादे (द्वि०सं०)	माखनलाल चतुर्वेदी	२.००
सांस्कृतिक निबन्ध	डॉ०भगवतशरण उपाध्याय	३.००
वृन्त और विकास	शान्तिप्रिय द्विवेदी	२.५०
ठूंठा आम	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	२.००
हिन्दू विवाहमें कन्यादान का स्थान (द्वि.सं.)	डॉ० सम्पूर्णानन्द	१.००
ग़रीब और अमीर पुस्तकें	रामनारायण उपाध्याय	१.००
क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ ?	रावी	२.५०
माटी हो गयी सोना (द्वि० सं०)	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	२.००
जिन्दगी मुसकरायी (द्वि० सं०)	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४.००

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

महत्वपूर्ण प्रका

यात्रा-विवरण

एक बूंद सहसा उछली	अज्ञेय	७.००
पार उतरि कहँ जइहौं	प्रभाकर द्विवेदी	३.००
सागर की लहरों पर	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	४.००
हरी घाटी	डॉ० रघुवंश	४.५०

संस्मरण, रेखाचित्र, जीवनी आदि

समय के पाँव	माखनलाल चतुर्वेदी	३.००
पराड़करजी और पत्रकारिता	लक्ष्मीशंकर व्यास	५.५०
आत्मनेपद	अज्ञेय	४.००
माखनलाल चतुर्वेदी	'बरुआ'	६.००
दीप जले : शंख बजे	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	३.००
द्विवेदी पत्रावली	बैजनाथ सिंह 'विनोद'	२.५०
जैन-जागरण के अग्रदूत	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	५.००
रेखाचित्र (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	बनारसीदास चतुर्वेदी	४.००
संस्मरण (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	,,	३.००
हमारे आराध्य (पुरस्कृत)	,,	३.००

आलोचना, अनुसन्धान, रचना-शिल्प

साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य	डॉ० रघुवंश	५.००
जैन भक्ति-काव्य की पृष्ठभूमि	डॉ० प्रेमसागर जैन	६.००
रेडियो वार्ता शिल्प	सिद्धनाथकुमार	२.००
रेडियो नाट्य शिल्प (द्वि० सं०)	,,	३.००
ध्वनि और संगीत (द्वि० सं०)	ललितकिशोर सिंह	४.५०
प्राचीन भारत के प्रसाधन	अत्रिदेव विद्यालंकार	३.५०
संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद	,,	३.००
संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन (द्वि०सं०)	डॉ० भोलाशंकर व्यास	५.००
भारतीय ज्योतिष (तृ० सं०)	नेमिचन्द्र जैन ज्योतिषाचार्य	६.००
हिन्दी नवलेखन	डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी	४.००
मानव मूल्य और साहित्य	डॉ० धर्मवीर भारती	२.५०
शरत् के नारी-पात्र	डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी	४.५०
हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन (१–२)	नेमिचन्द्र शास्त्री	५.००

महत्वपूर्ण प्रकाशन

इतिहास-राजनीति

कालीदास का भारत : भाग १ (द्वि० सं०)	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	५.००
कालिदास का भारत : भाग २	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	४.००
भारतीय इतिहास : एक दृष्टि	डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन	८.००
चौलुक्य कुमारपाल (द्वि०सं०, पुरस्कृत)	लक्ष्मीशंकर व्यास	४.५०
एशिया की राजनीति	परदेशी	६.००
समाजवाद	डॉ० सम्पूर्णानन्द	५.००
इतिहास साक्षी है	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	३.००
खोज की पगडण्डियाँ (द्वि०सं०, पुरस्कृत)	मुनि कान्तिसागर	४.००
खण्डहरों का वैभव (द्वि० सं०)	मुनि कान्तिसागर	६.००

दर्शन-अध्यात्म

भारतीय विचारधारा	मधुकर एम० ए०	२.००
अध्यात्म पदावली	डॉ० राजकुमार जैन	४.५०
वैदिक साहित्य	पं० रामगोविन्द त्रिवेदी	६.००

सूक्तियाँ

सन्त-विनोद	नारायणप्रसाद जैन	२.००
शरत की सूक्तियाँ	रामप्रकाश जैन	२.००
ज्ञानगंगा भाग १ (द्वि० सं०)	नारायणप्रसाद जैन	६.००
ज्ञानगंगा भाग २	नारायणप्रसाद जैन	६.००
कालिदास के सुभाषित	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	५.००

हास्य-व्यंग्य

चाय पार्टियाँ	सन्तोषनारायण नौटियाल	२.००
जैसे उसके दिन फिरे	हरिशंकर परसाई	२.५०
तेल की पकौड़ियाँ	डॉ० प्रभाकर माचवे	२.००
हास्य मन्दाकिनी	नारायणप्रसाद जैन	६.००
आधुनिक हिन्दी हास्य-व्यंग्य	सं०—केशवचन्द्र वर्मा	४.००
मुर्ग छाप हीरो	केशवचन्द्र वर्मा	२.००
अंगद का पाँव	श्रीलाल शुक्ल	२.५०

मूर्त्तिदेवी ग्रन्थमाला

तत्त्वज्ञान और सिद्धान्तशास्त्र

समयसार (प्राकृत-अँगरेज़ी)	...	८.००
तत्त्वार्थराजवार्तिक (संस्कृत) भाग १–२	...	२४.००
तत्त्वार्थवृत्ति (संस्कृत)	...	१६.००
सर्वार्थसिद्धि (संस्कृत-हिन्दी)	...	१२.००
पंचसंग्रह (प्राकृत-हिन्दी)	...	१५.००
जैन धर्मामृत (संस्कृत-हिन्दी)	...	३.००
कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न (हिन्दी)	...	२.००

जैन न्याय और कर्मग्रन्थ

सिद्धिविनिश्चयटीका (संस्कृत) भाग १–२	...	३०.००
न्यायविनिश्चयविवरण (संस्कृत) भाग १–२	...	३०.००
महाबन्ध (प्राकृत-हिन्दी) भाग २ से ७	...	६६.००

आचारशास्त्र, पूजा और व्रत-विधान

वसुनन्दि श्रावकाचार (प्राकृत-हिन्दी)	...	५.००
ज्ञानपीठ पूजांजलि (संकलन)	...	४.००
व्रततिथिनिर्णय (संस्कृत-हिन्दी)	...	३.००
मंगलमन्त्र णमोकार : एक अनुचिन्तन (हिन्दी)	...	२.००

व्याकरण, छन्दशास्त्र और कोश

जैनेन्द्र महावृत्ति (संस्कृत)	...	१५.००
सभाष्य रत्नमंजूषा (संस्कृत)	...	२.००
नाममाला सभाष्य (संस्कृत)	...	३.५०

पुराण, साहित्य, चरित व काव्य-ग्रन्थ

हरिवंशपुराण (संस्कृत-हिन्दी)	...	१६.००
आदिपुराण (संस्कृत-हिन्दी) भाग १–२	...	२०.००

सांस्कृतिक प्रकाशन

उत्तरपुराण (संस्कृत-हिन्दी) ... १०.००
पद्मपुराण (संस्कृत-हिन्दी) भाग १–३ ... ३०.००
पुराणसार-संग्रह (संस्कृत-हिन्दी) भाग १–२ ... ४.००

चरित व काव्य-ग्रन्थ

मयणपराजयचरिउ (अपभ्रंश-हिन्दी) ... ८.००
मदनपराजय (संस्कृत-हिन्दी) ... ८.००
पउमचरिउ (अपभ्रंश-हिन्दी) भाग १–३ ... ९.००
जीवन्धरचम्पू (संस्कृत-हिन्दी) ... ८.००
जातकट्ठकथा (पाली) ... ९.००
धर्मशर्माभ्युदय (हिन्दी) ... ३.००

ज्योतिष और सामुद्रिक शास्त्र

भद्रबाहु संहिता (संस्कृत-हिन्दी) ... ८.००
केवलज्ञानप्रश्नचूड़ामणि (संस्कृत-हिन्दी) ... ४.००
करलक्खण (प्राकृत-संस्कृत-हिन्दी) ... ०.७५

विविध

वर्ण, जाति और धर्म ... ३.००
जिनसहस्रनाम (संस्कृत-हिन्दी) ... ४.००
थिरुकुरल (तमिल) ... ५.००
आधुनिक जैन कवि (हिन्दी) ... ३.७५
हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (हिन्दी)... २.८७
कन्नड प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थ सूची ... १३.००

माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला

(जो अब भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा संचालित है)

पुराण

महापुराण (आदिपुराण) भाग १; अपभ्रंश १०.००
महापुराण (उत्तरपुराण) भाग २; अपभ्रंश १०.००
महापुराण (उत्तरपुराण) भाग ३; अपभ्रंश ६.००

सांस्कृतिक प्रका

पद्मपुराण (संस्कृत) भाग १	१.५०
पद्मपुराण (संस्कृत) भाग २	२.००
पद्मपुराण (संस्कृत) भाग ३	२.००
हरिवंशपुराण (संस्कृत) भाग १	२.००
हरिवंशपुराण (संस्कृत पद्य) भाग २	१.५०

शिलालेख

जैन शिलालेख संग्रह (संस्कृत, हिन्दी) भाग १	२.००
जैन शिलालेख संग्रह (संस्कृत, हिन्दी) भाग २	८.००
जैन शिलालेख संग्रह (संस्कृत, हिन्दी) भाग ३	१०.००

चरित, काव्य और नाटक

वरांगचरित (संस्कृत)	३.००
जम्बूस्वामीचरित (संस्कृत)	१.५०
प्रद्युम्नचरित (संस्कृत)	.५०
रामायण (अपभ्रंश)	२.५०
पुरुदेवचम्पू (संस्कृत)	.७५
अंजनापवनंजय (नाटक)	३.००

जैन-न्याय

न्यायकुमुदचन्द्रोदय (संस्कृत) भाग १	८.००
न्यायकुमुदचन्द्रोदय (संस्कृत) भाग २	८.५०
प्रमाणप्रमेयकलिका (संस्कृत)	१.५०

सिद्धान्त, आचार और नीतिशास्त्र

सिद्धान्तसारादि (प्राकृत-संस्कृत)	१.५०
भावसंग्रहादि (प्राकृत-संस्कृत)	२.२५
पंचसंग्रह (संस्कृत)	०.८१
त्रिषष्टिस्मृतिसार (संस्कृत, मराठी अनुवाद)	.५०
स्याद्वादसिद्धि (संस्कृत, हिन्दी-सारांश)	१.५०
रत्नकरण्डश्रावकाचार (मूल, संस्कृत टीका)	२.००
लाटी संहिता (संस्कृत)	.५०
नीतिवाक्यामृत (शेषांश) (संस्कृत टीका)	.२५

देश रक्षा में इससे क्या मदद मिलेगी ?

अच्छी खेती से और अधिक उपज—खाने के लिए और अधिक अनाज, उद्योगों के लिए कच्चा माल—विकास के लिए और अधिक साधन तथा देश रक्षा के लिए और रसद व साज-सामान।

देश रक्षा में आपका काम बहुत महत्व का है

ग्रामोदय

फरवरी, १९६४

मूल्य १)

साहित्यिक विकास-उन्नयन
सांस्कृतिक अनुसन्धान-प्रकाशन
राष्ट्रीय एकता एवं राष्ट्र-प्रतिष्ठा की

साधिका
विशिष्ट संस्था

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

[स्थापित सन् १९४४]

संस्थापक
श्री शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

फरवरी १९६४

अनुक्रम

लेख

● स्थायी-स्तम्भ

सम्पादक
लक्ष्मीचद्र जैन : शरद देवड़ा

संचालक
भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता

कार्यालय
९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७

फ़ोन : ४५-४२५२
४५-४४३२

एकमात्र वितरक
बैनेट कोलमैन एण्ड कम्पनी लि०,
बम्बई-१

चित्र-परिचय | एडिनबरा के पास कैनटन पहाड़ी पर लेखक (बायें से दूसरा)। पीछे वाल्टर स्काट-स्मारक है और दूर पर एडिनबरा का क़िला। लेकिन मैकेंजी महोदय (दायीं ओर अन्तिम) एक हाथ घुमाकर गर्दन टेढ़ी कर आस्मान में क्या दिखा रहे हैं?

डॉ० धर्मवीर भारती

पुराने किले : घुमावदार नदी

पता नहीं क्यों यह लगने लगता है कि मानो आप एक बहुत पतले अन्तरीप पर चले आए हैं—सैकड़ों मील; और यहाँ आकर अकस्मात ज़मीन खत्म हो गयी है और दाएँ, बाएँ, सामने, हर तरफ़ अथाह महासागर है। लेकिन विक्षुब्ध नहीं, गरजता हुआ भी नहीं—बहुत शान्त, बहुत स्थिर, बहुत नीला, बहुत गहराई वाला और इसीलिए शायद थोड़ा खिन्न, थोड़ा उदास! या शायद यह समुद्र-तट भी उतना ही खुशनुमा, उतना ही लुभावना, उतना ही जगमगाता हुआ था जितना खूबसूरत पहाड़ों, बेशुमार झीलों, हरे धारीदार खेतों, पहाड़ी ढलानों और अत्यन्त

यादें यूरोप यात्रा की—३

मिलनसार लोगों वाला बाक़ी सारा स्काटलैण्ड था। लेकिन यह उदासी सिर्फ़ मुझे इसलिए लग रही थी कि यह मेरे स्काटलैण्ड - प्रवास का आखिरी दिन था।

यों यहाँ से हमें लेक डिस्ट्रिक्ट जाना था जिसके लिए स्टेशन कोई और था। लेकिन हम लगभग चालीस-पचास मील घूमकर इस समुद्र-तट पर आए हैं, क्योंकि मैकेन्ज़ी ने बहुत प्यार से मेरे कंधे पर हाथ रखकर कान के पास धीमे-से कहा था—"सौ मील का चक्कर ज़रूर पड़ेगा मगर वहाँ एक अद्‌भुत समुद्र-तट है। समुद्र-तट पर नितान्त निर्जन बियाबान में एक बहुत विशाल, बहुत रौनक़अफ़रोज़ समुद्री होटल है।" और फिर थोड़ा मुस्कुराते हुए उसने कहा, "उस होटल में मेरी एक बहुत प्यारी दोस्त है जिससे मैं साल-छः महीने में सिर्फ़ एक बार मिल पाता हूँ। उसे बिना देखे तुम पछताओगे कि तुमने स्काटलैण्ड अधूरा देखा।"

मैंने मुस्कुराकर मैकेन्ज़ी की ओर स्वीकृति सूचक दृष्टि से देखा और लम्बी चमचमाती काली गाड़ी घाटी की ढलवाँ सड़क पर समुद्र की दिशा में मुड़ गयी। दिमाग़ पर ताज़ा-ताज़ा प्रभाव था, उन साफ़-सुथरे खूबसूरत स्काटिश क़स्बों का जहाँ हम प्रख्यात गीतकार कवि रावर्ट बर्न्स की कुटी और स्मृतिचिन्ह देखने गए थे। आयर (AYR) में बर्न्स की खूबसूरत कुटी थी, सफ़ेद चूने से पुती। अन्दर कुछ स्मृति-अवशेष ! उसके पिता की बाइबिल, बर्न्स की कविताओं का सर्वप्रथम संस्करण, बर्न्स के पत्र और कितनी ही पाण्डुलिपियाँ और चित्र। कहते हैं कि यह किसान-परिवार बहुत निर्धन था; और खाते समय उनके सामने एक [illegible] रहती थी और ए[illegible] किताब। वे लोग पढ़ने के शौक़ीन थे[illegible] किशोर राबर्ट बर्न्स भी जब हल लेकर खेतों[illegible] जाता था तो उसकी जेब में एक कोई कवित[illegible] पुस्तक होती थी और वह हल चलाते-चला[illegible] गीतों की पंक्तियाँ गुनगुनाता था।

क़स्बे से बाहर निकलते ही मैं चा[illegible] ओर का दृश्य आँखों से मानो पी रहा था[illegible] यहीं कहीं वह छोटा-सा पहाड़ी चश्मा हो[illegible] वे घने पेड़ होंगे, वे हरे-भरे चरागाह हो[illegible] जहाँ बर्न्स ने अपने गीतों की प्रख्यात [illegible] लैण्ड मेरी के साथ दोपहरें गुज़ारी होंगी[illegible] कौन जाने यह पक्की मोटर की सड़क [illegible] वक्त खेत की मेंड़ों के पास से गुज़रने वा[illegible] कच्ची पगडण्डी रही हो जिस पर बर्न्स महो[illegible] अपने गीतों की पांडुलिपियाँ लादकर [illegible] कुदाते हुए प्रकाशक के यहाँ गए हों। स[illegible] मैकेन्ज़ी ने दिखाया—"वह रही टाम [illegible] शैन्टर्स की सराय जिसका ज़िक्र बर्न्स ने कि[illegible] है।" जहाँ वे पांडुलिपियाँ लादकर प्रका[illegible] की खोज में गए थे, वह क़स्बा किलमॅनरो[illegible] (kilmanrock) आते समय हम लो[illegible] के रास्ते में पड़ा था। मैकेन्ज़ी ने निरा[illegible] से सिर हिलाकर मुझ पर बहुत तरस [illegible] हुए कहा—"यूँ देखने को यहाँ किलमॅनरो[illegible] में और भी बहुत अच्छी चीज़ें हैं, साहित्[illegible] चीज़ों के अलावा। लेकिन तुम [illegible] पात्र कहाँ हो ?" "मसलन ?" [illegible] उत्सुकता से पूछा। उसने घमंड से [illegible] ऊँचा कर कहा—"सारे संसार में म[illegible] जानीवाकर शराब इसी प्रख्यात कस्बे [illegible] बनती है, लेकिन हज़ारों मील चलकर [illegible] आदमी स्काटलैण्ड आए और मशहूर स्[illegible] ह्विस्की को छोड़ कर होटलों में ठंडा [illegible]

शता घूमे ऐसे आदमी पर मैं पता नहीं इतने दिनों से अपना वक्त बरबाद कर हूँ।" इस बात पर दूसरी ओर बैठी भी मुस्कुराई और बोली, "कम-से-कम के नाम पर तो एक घूँट चल सकती है।" यह इन दोनों का बहुत प्रिय मज़ाक था। ी तरह स्काटिश साहित्य के साथ-साथ टिश शराब की महत्ता का बखान और प्रसंग में मुझे अत्यन्त कुपात्र और स्काट- का अपमानकर्ता साबित करना। लेकिन ही दिनों में वे सभी मुझे नितान्त परदेशी रचित व्यक्ति को कितनी ममता और देने लगे थे यह मैं ही जानता हूँ। इस ले में स्काटलैण्ड इंगलैण्ड से थोड़ा अलग 'स्काच' और कुछ हो, अँग्रेज़ नहीं है। आदतन् हम लोग ग्रेटब्रिटेन के किसी व्यक्ति को 'इंग्लिशमैन' कहते हैं। मगर ी स्काटिश को इंग्लिशमैन कह कर ये। वह तुरन्त प्रतिवाद करेगा। आज वे यह नहीं भूल पाये हैं कि वे स्वतंत्र उनके अपने सम्राट अंग्रेज़-सरदारों सेनापतियों से कहीं ज्यादा बहादुर, ज्यादा प्रतापी और वैभवशाली थे। वे तक स्टर्लिन कासिल दिखाते हैं जहाँ ात स्काटिश विद्रोही वैलेस का स्मारक है। वैलेस जो एक नितान्त साधारण आदमी स्काटलैण्ड के उच्च वर्गीय नेताओं और र सामन्तों ने जब अँग्रेज़ों के आगे घुटने दिये थे तब वह किसानों और चरवाहों इकट्ठा कर गाँव की भट्ठियों में देहाती रों से बरछे, तलवारें और कुल्हाड़ें ता था और गिरोह बाँधकर अंग्रेज़ ों का मुक़ाबला करता था। लेकिन उच्च कुल के स्काटिश सरदार से गाँव के एक अत्यन्त सामान्य व्यक्ति का यह बढ़ता-हुआ यश सहन न हुआ। उसने धोखा देकर वैलेस को अँग्रेज़ों के हाथ बेच दिया। वैलेस पकड़ा गया और उसे बाँधकर उसी टावर आफ़ लंडन में ले जाया गया जिसके बाहर एक कुत्ता जानवरों पर दया करने का नोटिस गले में लटकाए बाहर बैठा रहता है। अन्दर
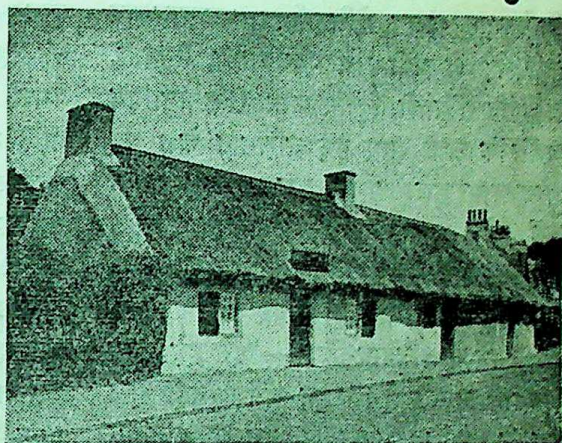
गीतकार रावर्ट बर्न्स की कुटी

अँग्रेज़ जल्लाद के एक कुल्हाड़े ने वैलेस का तना हुआ विद्रोही सर हमेशा के लिए धड़ से जुदा कर दिया।

एक महान् स्वतन्त्रता-प्रेमी जाति जो दूसरी जाति की धूर्तता से पराजित हो गयी हो उसके लिए अपने पुराने इतिहास का एक दूसरा ही मूल्य होता है। इसीलिए जब बचपन में चरवाहों से सर वाल्टर स्काट ने स्काटलैण्ड के पुराने गौरव की गाथाएँ सुनीं और फिर पुराने क़िलों के टूटे कमरों का और बन्द तहख़ानों में वे स्काटिश साम्राज्ञी का मुकुट ढूँढ़ते घूमे तब वे केवल अपने उप-न्यासों की कथा-सामग्री नहीं खोज रहे थे। वे एक महान् जाति का खोया हुआ नैतिक

साहस फिर से प्रतिष्ठित कर रहे थे। स्काट-लैण्ड में क़दम रखते ही एडिनबरा के क़िले के सामने बाज़ार के प्रमुख राजपथ पर स्थापित वाल्टर स्काट की प्रतिमा और नीचे खिले हुए फूलों की क्यारियाँ जब पहली बार देखीं थीं तब उनका महत्व इतना नहीं समझा था। ज्यों-ज्यों स्काटिश लोगों को जाना त्यों-त्यों यह जाना कि सर वाल्टर स्काट सिर्फ़ एक महान ऐतिहासिक उपन्यासकार नहीं थे; वे प्रतीक थे एक भोली, मेहनती, खुले दिल वाली दिलेर और स्वतन्त्रताप्रिय जाति के चोट खाए हुए अभिमान के। वह चोट खाया हुआ अभिमान आज भी ज्यों-का त्यों है। आदतन् मैंने उस दिन ईनी से कहा—"आप सब अँग्रेज़ लड़कियाँ"... वाक्य पूरा भी नहीं हो पाया था कि उसने तेज़ स्वर में प्रतिवाद किया—"इसे हम लोग अपमान मानते हैं। हम अँग्रेज़ नहीं हैं। हमारी जाति अलग है, हमारा इतिहास अलग है, हमारे मिज़ाज अलग हैं। कुछ आर्थिक और राजनीतिक कारणों से हम अँग्रेज़ों के साथ मिलकर एक राष्ट्र हो गए हैं। हमें आप 'ब्रिटिश' कह लीजिए लेकिन 'इंग्लिश' कहकर हमें लज्जित मत कीजिए।"

● ●

वही ईनी इस समय खुश है। हम समुद्री होटल की ओर जा रहे हैं। मैकेन्ज़ी खुश है क्योंकि वह अपनी दोस्त से मिलने जा रहा है। हम बर्न्स के गाँव से चले हैं और बर्न्स हमारे दिल-दिमाग़ पर छाया हुआ है। हज़ारों मील दूर मेरे घर की स्टडी में एक कत्थई स्वेड की ज़िल्द वाली, सुनहरे अक्षरों और रेशमी फ़ीते वाली बर्न्स की कविताओं की एक किताब है जिसमें की कुछ बहुत प्यारी कविताएँ आज भी मुझे याद आती हैं। सबसे पहले उनकी ओर इसलिए आकर्षित हुआ था क्योंकि उनमें शब्दों के हिज्जे बिल्कुल दूसरे थे। लव के हिज्जे L-O-V-E न होकर L-U-V-E ही थे। और उस अत्यन्त किशोर मन को यह लगता था कि L-U-V-E वाला लव, L-O-V-E वाले लव से ज़रूर ज्यादा गाढ़ा, ज्यादा तुर्श होता होगा। और इसीलिए मुझे बर्न्स की वह कविता सबसे प्यारी लगती थी—"माई लव इज़ लाइक ए रेड रेड रोज़....।" पढ़ते समय मैं उसे हमेशा पढ़ता था—"माई ल्यूव इज़ लाइक ए रेड रेड रोज़...." मैंने यह बात मैकेन्ज़ी को बतायी तो वह बहुत हँसा। बोला—"तुम सुनोगे कि स्काटिश लोग इस शब्द को कैसे बोलते हैं?" फिर मुस्कुराकर कान में बोला, "तुम जैसे अपात्र व्यक्ति इस शब्द का सिर्फ़ उच्चारण ही तो जान सकेंगे। जो स्काटलैण्ड में आकर पानी तलाश करे उसे स्काटिश लड़कियाँ इस शब्द का उच्चारण ही सुनायेंगी बस!"

ईनी को यह कविता याद थी। ईनी गाड़ी चलाते-चलाते खिड़की से टिक गयी और उसने धीमे स्वरों में गाना शुरू किया—"माई लव इज़ लाइक ए रेड रेड रोज़...." (उसके स्वर में उल्लास तो था ही आभार भी था कि उनके अत्यन्त प्रिय कवि की कविता हज़ारों मील दूर से आए हुए एक परदेशी को याद थी।) वही बर्न्स के प्रिय चरागाह और वही बर्न्स का मीठा गीत :

माइ लव इज़ लाइक ए रेड रेड रोज़,
दैट इज़ न्यूली स्प्रंग इन जून,
माइ लव इज़ लाइक द मैलोडी,
दैट इज़ स्वीटली प्लेड इन ट्यून,

गीत का आ[illegible] ईनी का [illegible] खिड़की से टिका हुआ था। गीत के मध्य में ईनी सीधी बैठ गयी थी; पीठ ज़रा तनी हुई और गर्दन ज़रा घूमती हुई। और जब गीत अपने चरमोत्कर्ष पर आया तो ईनी का सर बाँयी ओर झुका हुआ और दृष्टि सीधी मेरी ओर।

एण्ड फेयर दी वेल, माई आन्ली लव
एण्ड फेयर दी वेल ए व्हाइल
एण्ड आई विल कम, आगेन माई लव
दो'टू वेयर टेन थाउज़ैण्ड माइल !

पर यक़ीन मानिए कि स्थिति पहले वाली ही अच्छी थी। यह सीधी दृष्टि मुझे खलने लगी क्योंकि ड्राइविंग के लिए ईनी ने जो मोटा फ़ौलादी फ्रेम का बड़ा-सा चश्मा चढ़ा रखा था उससे बर्न्स की कविता के लाल गुलाबों का कोई मीज़ान नहीं बैठता था। मैकेन्ज़ी अपनी छेड़छाड़ की आदत के मुताबिक कोई छींटाकशी करे इसके पहले ही आत्म-रक्षा में अकस्मात ईनी सर झटक कर, मुँह बिचकाकर और मूड बदलकर बोली—"अब हम लोग पचास मील चल रहे हैं सिर्फ़ मैकेन्ज़ी ी ल्यूव को देखने। हाय दुर्भाग्य!" मैकेन्ज़ी कुछ नहीं बोला, मुस्कुराकर चुप हो गया।

रास्ते में ट्रून क़स्बा पड़ा और उसके बाद फिर सुनसान। फिर एक रेल की क्रासिंग और उसके बाद एक बहुत बड़ा हवाई अड्डा। मालूम हुआ कि अब हम लोग समुद्री होटल के नज़दीक आ गये। होटल सचमुच नितान्त निर्जन में स्थित मगर बहुत ख़ूबसूरत था। बाहर की ठंडक से अन्दर जाकर गैस से गर्म लाउंज में बैठकर सुख [illegible] थी। बेहद उत्सुकता कि इस चाकू जैसी ज़बान और पारे जैसे स्वभाव वाले मैकेन्ज़ी की वह दोस्त आख़िर कौन होगी जिससे मिलाने वह हम सबों को लाया। मैकेन्ज़ी अन्दर चला गया। मैं चुपचाप बाहर देखता रहा। एक बहुत बड़ा हरा-भरा गोल्फ़-कोर्स, उसके बाद ऊँची-नीची बालू की पहाड़ियाँ, बीच-बीच में सरपत और झाऊ के झाड़। दो पहाड़ियों के बीच समुद्र का नीला तिकोना प्रसार! कितना शांत, कितना गहरा और जाने क्यों उदास!

और अकस्मात उमंग भरे मैकेन्ज़ी का प्रवेश! नाटकीय मुद्रा से द्वार की ओर इशारा करते हुए घोषित करना कि हम सम्हल जाएँ, उसकी प्रिय मित्र आने वाली है। हमारा दम साधकर प्रतीक्षा करना। धीरे-धीरे खुलना दरवाज़े का और प्रवेश करना बहुत आकर्षक गाउन, बहुत रंग-बिरंगे पंखों वाली टोपी में एक पैंसठ वर्ष की भद्र ख़ुशमिज़ाज और बहुत वात्सल्यमयी वृद्धा का। (पाठक ज़रा मेरी हालत का अन्दाज़ा करें!) मैकेन्ज़ी की आँखों में एक अद्भुत शरारत भरी चमक और वृद्धा से मेरा परिचय कराना—यह बताना कि मैं सौ मील चलकर मैकेन्ज़ी की प्रिय मित्र को देखने आया हूँ। वृद्धा का बहुत ममता से मैकेन्ज़ी के कन्धे पर हाथ रखकर मुझसे कहना, "यह मेरा सबसे प्रिय दोस्त है। आज बीस वर्षों से मैं अपने पति से भी ज्यादा इसकी बात मानती हूँ।" मैंने अस्फुट स्वरों में क्या कहा यह मुझे याद नहीं। लेकिन मेरा वाक्य सुनकर वृद्धा की बाँछें खिल गयीं। मुझसे बोली, "मेहरबानी करके फिर यह बात कहो।" मैं फिर कुछ बोला

और तब वह मैकेन्ज़ी से बोली, "तुम्हारे ये दोस्त अच्छे हैं। मैं इनसे अँग्रेज़ी में बात कर सकती हूँ। पिछली बार तुम्हारे कोई दोस्त आए थे उनसे मैं बात ही नहीं कर पाई। मुझे उनकी भाषा नहीं आती थी, उन्हें मेरी भाषा नहीं आती थी।"

मालूम हुआ कि वह वृद्धा एक बहुत रईस अमरीकन थी। युद्ध के ज़माने में यहीं विवाह कर बस गयी। उसे यह समुद्री तट इतना पसन्द था। यहीं यह होटल उसने बनवाया। पास का हवाई अड्डा प्रैस्टविक स्काटलैण्ड का अंतर्राष्ट्रीय हवाई अड्डा है। एक उड़ान में अटलांटिक पार करने वाले सुपर जेट विमान पहले यहीं से पेट्रोल भरते हैं, चेकिंग करते हैं और तब उड़ान भरते हैं। अंतर्राष्ट्रीय यात्रियों का यह एक बहुत बड़ा केन्द्र है। मैकेन्ज़ी बोला, "काश कि तुम कभी नृत्य करते हुए मेरी मित्र को देखो। इस उम्र में भी स्काटिश छोकरियाँ उसका मुक़ाबला

नीली आँखों और भूरे बालोंवाली रूसी लेखिका

काव्य-प्रतिभा और सृजन-प्रतिभा तो किसी प्रकार की प्रतिगामी मान्यताओं की अनुगामिनी नहीं होती है! प्रतिभा ग़लत सामाजिक मान्यताओं और विश्वासों से विद्रोह करती है। मरीना स्वेतायेवा (**Marina Tsvetayeva**) ने विद्रोह किया। मायाकोवस्की, एसेनिन, और पास्तरनाक, रूस के इन तीनों अग्निप्राण कवियों की क़तार में खड़ी होकर मरीना ने कविताएँ लिखीं। क्रांति की, और नवजीवन की, और वर्ग-संघर्ष की, और नए समाज की स्थापना की कविताएँ लिखीं।

किन्तु, क्रांति के बाद रूस का नक्शा बदल गया। इतना बदल गया कि मरीना स्वेतायेवा को अपने इर्द-गिर्द के समाज और परिस्थितियों को पहचानने में भी दिक्कत होने लगी। सतरह फरवरी, १९२३ को मरीना ने अपने लेखक-मित्र, सर्जी एसेनेव को पत्र लिखा (एसेनेव तबतक रूस छोड़कर फ्रांस आ चुका था):

> ....मैं वही हूँ, नीली आँखों और भूरे बालों वाली वही नन्हीं-सी लड़की, जो अपने हृदय में तरह-तरह की सुखद कल्पनाएँ और सपने सँजोए जीती रही है; मगर दोस्त, मेरे आस-पास का सारा कुछ बदल गया है। एक ज़माना पहले हमने विद्रोह किया था, कि हमें लिखने और पढ़ने की आज़ादी नहीं है। जाने क्यों, अब नहीं लगता है कि यह देश अपना है—पुश्किन और दास्त्यावस्की और चेखव और तोलस्तोय का देश! यह देश और यहाँ के लोग बहुत पराए लगते हैं। कोई किसी को प्यार नहीं करता, कोई किसी के आगे अपना दिल खोलकर नहीं रखता, सभी लोग भीड़ बन गए हैं, और राशन की दूकानों की तरफ़, मैदानों और फैक्ट्रियों की तरफ़ चलते चले जा रहे हैं।

१९२४ में वह रूस से भागकर इटली चली आयी। पास्तरनाक और मरीना बड़े ही घनिष्ट मित्र थे, और पास्तरनाक उसकी रचनाओं का घोर प्रशंसक था।

१९३५ में पेरिस में 'एण्टी-फासिस्ट कांग्रेस' का अधिवेशन हुआ, जिसमें भाग लेने बोरिस पास्तरनाक और मरीना स्वेतायेवा दोनों ही गए। मरीना विदेश में खानाबदोशी की जिन्दगी काटती हुई बेहद थक गयी थी। उसने

पास्तरना... अपने प... वहाँ उस... दूर रहक... प्यारी है, और, १... उसके पति... उसको भी... गयी और... का एकम... को एक ए... उसे जीवि... उसने कुछ... मगर, बो... वह कहीं... घर नहीं, ...भूति देने... खुशी थी... के नीचे... ज़माना प... थीं:

मेरे... मेरे... मेरे... पल्ल...

और, इसी... थी, और... अपने कम... नहीं रही, ...की कवित... गुनगुनाते

मैं उ... किस... किस... जो ह... जिसे... धुएँ

...दें यूरो...

पास्तरनाक से पूछा कि यह उचित होगा या नहीं कि वह अपने पति और बच्चों के साथ स्वदेश वापस चली जाए। वहाँ उसका परिवार है, सगे-संबंधी हैं, और वह उनसे दूर रहकर मरना नहीं चाहती हैं। रूस की मिट्टी उसे प्यारी है, प्राणों से अधिक प्यारी है।

और, १९३९ में मरीना स्वेतायेवा अपने देश लौट आयी। उसके पति को गिरफ्तार कर लिया गया, और जेल में ही उसकी मौत हो गयी। उसकी लड़की भी गिरफ्तार कर ली गयी और कैदियों की भीड़ में पता नहीं कहाँ खो गयी। मरीना का एकमात्र पुत्र भी वार-फ्रण्ट पर मारा गया। और मरीना को एक ऐसे छोटे-से कस्बे में रहने को भेज दिया गया, जहाँ उसे जीविका के लिए कोई काम नहीं मिल सकता था। उसने कुछ दिनों तक एक होटल में नौकरानी का काम किया, मगर, बीमार रहने के कारण वहाँ भी नहीं टिक सकी। वह कहीं भी नहीं टिक सकी।

घर नहीं, परिवार नहीं, मित्र नहीं, सहयोग और सहानुभूति देने वाला कोई नहीं, फिर भी मरीना स्वेतायेवा को खुशी थी कि वह अपने देश लौट आयी है, और उसके पाँवों के नीचे वही जमीन थी, जिस पर वह जन्मी थी। एक जमाना पहले उसने इसी जमीन के बारे में कविताएँ लिखी थीं:

मेरे ही रक्त से सुखी हो गयी है यह धरती
मेरे ही रक्त से सिंचे हैं यहाँ के सुर्ख फूल
मेरे ही मांस-पिंडों की खाद से
पल्लवित हुआ है यह संपूर्ण उपवन

और, इसी उपवन में अब मरीना स्वेतायेवा अजनबी थी, और मृत्युमुखी थी। १९४१ के शीतकाल में मरीना अपने कमरे की छत में रस्सी लगाकर लटक गयी। मरीना नहीं रही, लेकिन मरीना की स्मृति में लिखी गयी पास्तरनाक की कविता अब भी रूस की नयी पीढ़ी के कवि और लेखक गुनगुनाते हैं:

मैं उस स्थिति में नहीं रह गया हूँ कि चिन्ता करूँ
किस वृक्ष की टूट गयी कौन-सी डाल
किस फूल के चेहरे पर खिंच गयी मृत्युरेखा!
जो हो रहा है, वह तो उस उपवन की तरह है
जिसे फैक्ट्रियों की चिमनियों के निकलते
धुएँ ने लपेट लिया है।

नहीं कर सकतीं।"

● ● ●

खूब बीती वह दोपहर। मैकेन्ज़ी ने यह तो बताया कि युद्ध के दौरान में बड़ी अजीब स्थितियों में यहीं प्रैस्टिविक में वह पहली बार इस दम्पति से मिला था। लेकिन कब और किन परिस्थितियों में, यह मैंने पूछा नहीं। युद्ध एक ऐसी स्मृति थी जो मैकेन्ज़ी के समक्ष बार-बार लौटती थी। वह उसके हल्के मनोरंजक पहलुओं पर हँस-हँस कर क़िस्से सुनाया करता था, मगर फिर उसे पता नहीं क्या हो जाता था कि वह बिलकुल चुप हो जाता था। पत्थर के मानिन्द चुप और ठस।

न केवल मैकेन्ज़ी वरन पूरे स्काटलैण्ड के लिए युद्ध एक विचित्र-सा अनुभव रहा है। इस बहुत खूबसूरत प्रदेश के सीधे-सादे सरल जीवन में युद्ध का यथार्थ एक अजीब ढंग से गुथा हुआ है इसका एहसास मुझे पहले ही दिन से होने लगा था। युद्ध इन मेहनती पहाड़ी लोगों के लिए एक अभिमान, आत्म-

प्रदर्शन और नैतिक गौरव की वस्तु रहा है। लोगों का कहना है कि खून स्काटिश टुकड़ियों ने बहाया, फ़ायदा अँग्रेज़ सेनापतियों ने उठाया। एशिया हो या अफ्रीका जहाँ भी दुस्तर कठिनाइयों के बीच लड़ाइयाँ लड़ने का मौक़ा आया अँग्रेज़ों ने या तो स्काटिश टुकड़ियाँ भेजीं या स्थानीय देशी सैनिक भर्ती किए। इसीलिए आज भी अँग्रेज़ जहाँ मुश्किल से भूल पाता है कि वह काले नेविट लोगों का शासक रहा है वहाँ स्काटिश व्यक्ति बराबर याद रखता है कि नेविट युद्ध में उसके साथी थे। अगर खिलाफ़ भी थे तो बहादुर योद्धा दुश्मन थे जिनके साथ दूसरी बहादुर योद्धा जाति सहज ढंग से बराबरी का नाता मानने लगती है। एडिनबरा के क़िले में ऊपर चढ़ते हुए बड़ी तोपों के पास से गुज़र कर पुराने स्काटिश राजाओं और रानियों के मुकुट और गहनों को दिखाने के बाद वे लोग आपको युद्ध-स्मारक-हाल में ले जाएँगे। उसमें प्रथम महायुद्ध के बहुत-से स्काटिश सनिकों और उनके साथियों के नाम हैं। गाइड ने घमंड से बताया कि ख़ुश्चेव को उसने इसी जगह दिखाया था कि एक रूसी भी स्काटिश सेना के साथ मारा गया था। भारतीयों के तो कितने ही नाम बीच-बीच में अंकित थे। बाद में एक स्काटिश अध्यापक ने मुझसे कहा, "मौत के साथी सबसे पहले पक्के साथी हैं। हमारे जवान बहुत-सी जातियों के जवानों के साथ मारे जा चुके हैं। हम इसीलिए उस प्रकार के झूठे घमंड का बोझ अपने अन्तःकरण पर नहीं रख पाते जैसा अक्सर अँग्रेज लोग रख ले जाते हैं।"

लेकिन यह युद्ध-स्मारक, यह पत्थर पर खुदे नाम, यह सब प्रथम महायुद्ध के थे। उस युद्ध तक ब्रिटिश साम्रा[ज्य का] सूर्य बीच आकाश में चमक रहा [था।] ब्रिटिश युवक एक महान गौरव की [रक्षा] के लिए युद्ध करने जाते थे। [...] ग्रेन्फ़ाल का स्मारक साक्षी है। और [उसके] बाद ही शुरू हुआ था वह युग जिस[में साम्राज्य] का एक दूसरा पक्ष सामने आया। [...] भी खोखली और निःसार दीखने [लगी...] साम्राज्य में जगह-जगह दरारें पड़ [...]

और तभी शुरू हुआ दूसरा म[हायुद्ध।] उसमें लोग किस मनःस्थिति में ग[ए...] क्या अनुभव हुआ, इसे भी बहुत नज़[दीक से] जानने का मौक़ा मिला मैकेन्ज़ी के ही [...] से। बातचीत के दौरान में एक वि[...] हिन्दी शब्द के द्वारा यह आभास मि[ला...] मैकेन्ज़ी द्वितीय महायुद्ध में सैनिक [...] गया था और उसकी टुकड़ी हिन्दुस्[तान में] रखी गयी थी ताकि सन् १९४२ का [...] और बंगाल का अकाल कहीं सशस्त्र [...] न उपस्थित कर दे। यह मैकेन्ज़ी! [...] शरारती, हर वक्त खुश रहने वाला, यह [...] चंचल मैकेन्ज़ी! मैं उस वक्त तार [...] रेल की पटरियाँ उखाड़ते घूमता था। [...] उस वक्त मैकेन्ज़ी से भेंट होती तो [...]

वह एडिनबरा में मेरी पहली ही [...] थी। पता नहीं क्यों मुझे पहुँचते ही [एडिन]बरा में बड़ा सुकून मिला था। [...] जैसे भाषा और भूगोल दूसरे हैं, बाहरी [वाता]वरण दूसरा है — मगर अन्दर से यह [...] इलाहाबाद है। बिल्कुल वैसा ही; [...] फिर भी अपने ढंग की एक रौनक़। [...] इतना कि धुएँ से इमारतें काली [...] भी यूनिवर्सिटी के चन्द तरुण अ[...]

और छात्रों की नवलेखन में बेहद रुचि और इस बात की मुकम्मिल शिकायत कि लन्दन के लेखकों और चित्रकारों के आगे एडिनबरा के कहीं ज्यादा प्रतिभाशाली लेखकों और चित्रकारों को कोई नहीं पूछता। अपने शहर से एक गहरा प्यार और कहीं भी जाकर बसना मगर एडिनबरा को याद करना; यह सब इलाहाबाद से कितना मिलता है। कैलिडोनिया होटल के ब्रेकफ़ास्ट रूम में बैठकर जो सामने निगाह डाली तो पाया कि अरे यहाँ तो एक पुराना क़िला भी है। बिल्कुल इलाहाबाद की तरह। जब हॉल पोर्टर ने ही मुझे नव-आगंतुक जानकर यह बताना शुरू किया कि क्लोरोफ़ार्म, ऐंजिन, पेन्सिलीन और टेलीविज़न का प्रथम आविष्कार एडिनबरा में ही हुआ लेकिन अब एडिनबरा को कोई पूछता ही नहीं, तब तो मन में सोलह आने विश्वास जम गया कि मैं पश्चिम के इलाहाबाद में बैठा हुआ हूँ। और जब मैकेन्ज़ी महोदय आये और कॉफ़ी के प्याले पर उन्होंने क़िस्सेबाज़ी शुरू की तो कॉफ़ी-हाउस की सुबह का मज़ा आने लगा।

यूं शायद उस कम्बख्त ने मुझे डराने के इरादे से एक बेहद खौफ़नाक कहानी सुनानी शुरू ी। उसने बताया कि पहले कभी यहाँ दो व्यक्ति रहते थे जिनका काम यह था कि वे क़ब्रों में से ताज़े गड़े हुए मुर्दे निकाल कर मेडिकल कालेज के विद्यार्थियों के हाथ बेच आते थे। जब क़ब्रगाहों पर कड़ा पहरा लगने लगा तब उन्होंने जीवित व्यक्तियों का गुप्त बध करना प्रारंभ किया। बहुधा वे उस वध के लिए लोगों को इसी सामने वाले क़िले की खाई में लाते थे। एक दिन वे किसी ऐसी स्त्री का शरीर मेडिकल विद्यार्थियों के पास ले गए जो रुंडी थी और उससे कुछ मेडिकल विद्यार्थी भी परिचित थे। उन्होंने बताया कि पिछली शाम तक तो यह स्त्री जीवित थी। संदेह बढ़ा और वे दोनों वधिक पकड़े गए।

"रुंडी क्या ?" मैंने अँग्रेज़ी भाषा के प्रति अपना अज्ञान प्रकट करते हुए उससे पूछा। मैकेन्ज़ी ने आश्चर्य से आँखें फाड़कर मेरी ओर देखा। "रुंडी तो हिन्दी शब्द है, अँग्रेज़ी में जिसे हम 'डांसिंग गर्ल' कहते हैं।" उसके शब्द-ज्ञान पर अब मेरी आश्चर्य से आँखें फाड़ने की बारी थी। "क्या यह शब्द स्काटलैण्ड में प्रचलित है ?" मैंने पूछा। और तब मालूम हुआ कि मैकेन्ज़ी द्वितीय महायुद्ध में भारत रह चुका था और उसे बहुत से हिन्दी वाक्य पहले आते थे जो अब वह धीरे-धीरे भूल गया है। फौज में एक अजीब ज़िन्दगी होती है, शायद उतनी करुणाजनक और गहन अनुभूतियों वाली नहीं जैसी हम बाहर से अनुमानित करते हैं। मौत के समक्ष एक बेफ़िक्री और सब कुछ भुला देने वाली मस्ती जिसमें हर चीज़ मनोरंजन का उपकरण बनी रहती है। यह तो मैकन्ज़ी ने कई दिनों बाद कबूला कि वह बेफ़िक्री सिर्फ़ एक चेहरा होता है जिसे हर सैनिक लगा लेता है मृत्यु के भय को न देखने के लिए। लेकिन उस वक्त तो मैकेन्ज़ी मियाँ अपनी सैनिक ज़िन्दगी के दिलचस्प क़िस्से बयान करने में तल्लीन थे। आसाम से लेकर अमरीका तक उनकी ज़ुबान एक ही स्पीड से चटखारे लेकर दौड़ रही थी। आसाम में उनके किसी बैरे ने उनको एक कविता सुनायी थी जो उन्हें अब भी याद थी। कविता

हिन्दी में थी—मैकेन्ज़ी के उच्चारण में :

"ठोरा ठोरा पानी, ठोरा ठोरा का।

बम्बई का मुलुक बहोट अच्चा।"

इस तुक और छंद-युक्त सुन्दर गीत-काव्य के प्रति मेरा प्रशंसाभाव जानकर उनका उत्साह बहुत बढ़ा और बाक़ी क़िस्से उन्होंने शाम के डिनर के बाद सुनाने का वायदा किया।

शाम की क़िस्त अमरीका के बारे में थी। रात बहुत सर्द थी लेकिन फिर भी ओवरकोट की जेबों में हाथ डालकर हम क़िले के सामने स्काट की मूर्त्ति के नीचे फूलों की रविशों के किनारे-किनारे टहल रहे थे। बिजली की मद्धिम रोशनी में फूलों की क्यारियों का रंग और भी रहस्यमय लग रहा था। टहलते हुए मैकेन्ज़ी ने बात शुरू की कलकत्ते से। युद्ध के ज़माने में उसे बहुत दिनों तक कलकत्ते के ग्रेट इस्टर्न होटल में टिके रहना पड़ा था और वहीं पहली बार उसकी टुकड़ी अमरीकनों के सम्पर्क में आयी। वे भी उसी होटल में टिके हुए थे। मैकेन्ज़ी ज़रा साफ़ दिल आदमी था। उसने स्पष्ट स्वीकार किया कि उनका ग़ुस्सा अमरीकन सैनिकों के खिलाफ़ मुख्य रूप से इसलिए था कि उनके पास पैसों की भरमार थी जबकि ब्रिटिश टुकड़ियाँ काफ़ी तकलीफ़ में थीं और पैसे खत्म हो चले थे। जापानी सेनाएँ विजय पर विजय पाती हुई बढ़ती चली आ थीं और इन लोगों को लगता था कि लावारिस से छूट गए हैं।

क्रिसमस के दिन नज़दीक आ रहे कलकत्ते में क्रिसमस की रौनक़ ही होती है। इन तमाम ब्रिटिश सैनिकों इस बात की चिन्ता थी कि बिना पैसे के इस बार क्रिसमस कैसे मनाया जाय दिन-दिन रात-रात इन लोगों की कान्फ्रेंस फिर भी कोई उपाय समझ में न आया। में किसी को एक उपाय सूझा। उन एक व्यक्ति मलाया से लौटते समय नि के तौर पर नक्काशी के काम वाला जापानी खंजर अपने साथ ले आया बस सारी योजना बन गयी। टाइपरा पर बैठकर एक नोटिस टाइप की जिसका आशय था : "बिकाऊ है ज

भगवान नरक में ही निवास करें!

अख़बारों में उपरोक्त शीर्षक पढ़कर चकित होना पड़ा सोचा कि भगवान् आत्मकृत अन्यायों के लिए स्वयं भुगतना चाहते हैं। दार्शनिक डॉ० राधाकृ कहते हैं—"भगवान् के लिए उपयुक्त निवास-स्थान नहीं, नरक है।"—फिर बाद का अंश पढ़कर समझा मेरा अनुमान अर्ध-सत्य है, पूर्ण सत्य नहीं। उन्होंने कहा है—"मैं बहुत सोच-विचार कर इस निष्कर्ष पर हूँ कि परिस्थितियों के अनुसार भगवान् के लिए कोई यदि हो सकती है, तो वह स्वर्ग नहीं है नरक है।" कुछ ठहरकर वे कहते हैं—"वहाँ के लोगों के लिए प्रेम और ममत्व-बोध की भावनाओं की अधिक आवश्य है।"

इस पर एक चश्मा-विक्रेता का उपदेश याद आ रहा वे अपने पुत्र को चश्मा व्यवसाय का गुर सिखाते हुए रहे हैं :

"मान लो कि इस चश्मे की क़ीमत दस रुपए है।

राजघराने का एक बहुमूल्य नक्काशीदार खंजर जिसके साथ द्वितीय महायुद्ध की एक अत्यन्त रोमांचकारी घटना जुड़ी हुई है। केवल उपयुक्त ग्राहक को ही घटना बतायी जा सकेगी। वह भी पेशगी पाने के बाद।" यह काग़ज़ अमरीकन कैंटीन के पास नोटिस-बोर्ड पर टाँग दिया गया। शाम तक तीन अमरीकन आए। तीनों को अलग-अलग बताया गया कि दूसरा व्यक्ति बहुत दाम देने को तैयार है। इस तरह भाव चढ़ता गया, और अन्त में खासी मोटी रक़म उस खंजर के लिए मिल गयी। ख़रीदने वाले ने जब घटना जाननी चाही, तब उसे गढ़कर एक कहानी सुना दी गयी कि किस तरह एक अकेले सैनिक पर पाँच जापानी टूट पड़े, किस प्रकार उसने अकेले पाँचों को मार गिराया और पाँचवें ने मरते-मरते बहादुरी पर खुश होकर यह खंजर स्मृतिचिन्ह के रूप में दिया। सारी कहानी टाइप करके सील-मोहरबंद लिफ़ाफ़े में ग्राहक को दी गयी। इस झूठ के गढ़ने में मैकेन्ज़ी महोदय को पसीने आ गए। मगर फिर क्रिसमस का जश्न दिल खोलकर मनाया गया। कलकत्ता कितना खुशनुमा होता है बड़े दिन के मौसम में।

और ऐसे ही छोटे-छोटे कितने ही लटके कितने ही लतीफ़े जिन्हें सुनकर मालूम हो कि मानो सैनिक जीवन स्वर्ग है! लेकिन वह कौन दिन था अब मुझे बहुत अच्छी तरह याद नहीं, शायद उस दिन जब हम ट्वीड नदी के आसपास भटक रहे थे तब मैकेन्ज़ी अकस्मात गंभीर हो गया। बात उसके परिवार की चल रही थी। उसने कहा, "मैं बहुत चाहता हूँ कि इतना कमाऊँ कि कभी-कभी बच्चे को भारतवर्ष या न्यूज़ीलैण्ड घुमा सकूँ।" भारत और न्यूज़ीलैण्ड का जोड़ा मेरी समझ में नहीं आया। पूछने पर वह बोला, "मैंने जो कुछ देखा है, युद्ध के दौरान में जो कुछ भोगा है, अक्सर उसे भूल नहीं पाता। जितने देशों में मशीनें लगीं और कारखाने बने उनके बच्चों को बरबस युद्ध में जाना पड़ा। मेरा वश चले तो संसार के हर देश को खेतिहर देश बना रहने दूं। किसान स्वभाव

* *

क़ीमत दस रुपए होने से क्या इसे दस रुपए में ही हमेशा बेचना पड़ेगा—यह बात नहीं है। चश्मे की क़ीमत बताना एक 'आर्ट' है जिसे तुम्हें अच्छी तरह सीख लेना चाहिए। पहले कहना चाहिए—'दस रुपए'—फिर ख़रीदार का चेहरा अच्छी तरह देखना चाहिए। यदि तुम्हें उसके चेहरे का भाव कुछ बदला हुआ नज़र न आवे तो तुम्हें कहना चाहिए—'चश्मे के शीशे की क़ीमत है दस रुपए।' फिर भी यदि उसके मुंह पर कोई भाव-परिवर्तन न हो तो तुम्हें कहना चाहिए—'हर शीशे की क़ीमत है दस रुपए'। ख़रीदार का चेहरा ग़ौर से देखते रहना। तुम्हारे यह कहने पर भी यदि ख़रीदार की मुद्रा ठीक रहे तो कहना चाहिए—'और इसके फ्रेम की क़ीमत है दस रुपए!' ....इस तरह तुम इसी चश्मे को तीस रुपयों में बेच सकते हो। लेकिन अगर पहले ही 'दस रुपया' सुनकर ख़रीदार चौंक पड़े तो चश्मे को दस रुपयों में ही निकाल देना चाहिए क्योंकि उसमें भी सात रुपयों का लाभ ही है।

—परिमल गोस्वामी

* *

से अमन-चैन वाले होते हैं। खाने लायक उगाते हैं और संतोष की साँस लेते हैं। भारत हुआ, न्यूजीलैण्ड हुआ, ऐसे देशों में मेरे बच्चे के संस्कार युद्ध के नहीं बन पाएँगे। वह बड़ा होगा तो मैं उसे किसी कृषि-विद्यालय में भेजूंगा। स्काटलैण्ड में काफ़ी ज़मीन है। फार्म बनाने के लिए इफ़रात मिलती है। मेरा बच्चा कभी हिन्दुस्तान गया तो तुम्हें लिखूंगा।"

उस दिन एक दूसरा मैकेंजी मेरे साथ था। गंभीर, अनुभवों से परिपक्व, कड़वी-मीठी स्मृतियों में खोया हुआ। अकस्मात बोला, "चलो, तुम्हें वाल्टर स्काट प्वाइंट दिखाऊँ।" एक पहाड़ी पर घुमावदार ख़ूबसूरत छायादार सड़क चढ़ती चली गयी। हम चुप थे। मीलों लम्बी चुप्पी। फिर मैकेन्ज़ी यादगारों में से लौटकर बोला, "हिन्दुस्तान में रात में लम्बी जंगली सड़कों पर गाड़ी चलाने का एक अजब सुख है। जंगल से आती हुई फूलों और झाड़ियों की ताज़ी महकें। मोटर की लाइट में सामने से आने वाले जानवरों की चमकती आँखें। उनकी चमक भी अलग-अलग होती थी। दो जोड़े लाल आँखें चमक उठें तो समझो सामने बैलगाड़ी आ रही है—दो बैल जुते हैं। दो चौकन्नी हरी आँखें क्षण भर ठिठक कर भाग जायें तो समझो लोमड़ी है। हेड-लाइट जला दो तो ऊपर पेड़ों की पत्तियों का हरा रंग विचित्र झलक देने लगता है। भारत कितना सुन्दर है!"

हम पहाड़ी के ठीक ऊपर एक ऐसी जगह आ गए थे जिसे 'वाल्टर स्काट प्वाइंट' कहते हैं। वहाँ एक पत्थर लगा हुआ है। नीचे घाटी का वह हिस्सा सामने आता है जिसमें ट्वीड नदी ने बेहद ख़ूबसूरत घुमाव लिए हैं। कहते हैं कि सर वाल्टर स्काट अपने दुर्ग-निवास से रोज़ अपनी बग्घी पर यहाँ तक आते थे। घंटों यहाँ बैठे-बैठे चुपचाप नीचे ट्वीड नदी को देखा करते थे। क्या देखते थे वे? समय की नदी? इतिहास के घुमाव? कहते हैं जब उनकी मृत्यु हुई, तो असंख्य जनसमूह उनके काफ़िन को श्रद्धासहित मीलों पैदल चलकर पहले यहाँ लाया, कुछ देर तक यहाँ टिका कर तब उन्हें समाधि तक ले जाया गया।

हम चुप खड़े थे। नीचे घने श्यामल वनों में ट्वीड नदी न जाने कितने बल खाकर घूम रही थी। पुराने क़िले, तहख़ानों में दफ़न राजमुकुट, अनगिनत लड़ाइयों के शोर, इतिहास के ख़ून रंगे पन्नों में दबी हुई सुकुमार प्रणयगाथाएँ और न जाने कितने अज्ञात विस्मृत सिपाहियों की भूख-प्यास, ज़ख्म और तकलीफ़ें। इतिहास का एक बहुत बड़ा क़िस्सा-गो यहाँ बैठकर अंतिम बार क्या सोच कर गया होगा? और ऐसे में मैकेंज़ी को फिर हिन्दुस्तान की याद आयी। बोला, "युद्ध में मैंने एक चीज़ देखी जिसने ज़िन्दगी के प्रति मेरा नज़रिया ही बदल दिया। वह था—बंगाल का अकाल। ग्रेट ईस्टर्न होटल में हमें उसकी सिर्फ़ एक झलक मिली थी मगर एक बार हावड़ा के पास जो देखा उसके बाद फिर मैं वह इंसान न रहा जो उत्साह से युद्ध में लड़ने गया था। हम किसके लिए लड़ रहे थे, किन सिद्धान्तों के लिए? कौन से हवाई सिद्धान्त बचाए जा रहे थे? किस मनुष्य के लिए? वही जो रेलवे लाइन के किनारे फेंके हुए दोने के लिए तीन-तीन कुत्तों से लड़ रहा था।"

ट्वीड नदी की बात से याद आती है इसी नदी के किनारे की एक दूसरी दोपहर। धूप खिली, मगर बेहद सर्द। एक तो स्काटलैण्ड यूँ ही बहुत सर्द है, मगर वह तो शायद उस ऋतु का सबसे सर्द दिन था। हम लोगों के पास एक जीप थी और साथ कई मित्र थे। एक का नाम था ब्लैकवुड, पेशा नामालूम, दूसरा उत्तरी स्काटलैण्ड के ऐबर्डीन क़स्बे से आया हुआ एक वकील, तीसरा एक किसान। एक पहाड़ी के पास जहाँ नदी कुछ चौड़ी और शान्त है, हम रुक गए। नदी के बीचोबीच एक छोटा-सा द्वीपखंड था जिसके पास एक बहुत बड़ा, काली आँखों पर पीले वृत्त वाला हंस तैर रहा था। मेरा ख़ून सर्द हो गया यह देखकर कि उस भयंकर सर्दी में कई लोग शिकारी पोशाक पहने घुटनों-घुटनों पानी में घुसे हुए हैं। मालूम हुआ कि वे मछली मारने और पिकनिक मनाने आए हैं। ट्वीड नदी की मछली स्काटलैण्ड में सबसे मीठी मानी जाती है। वे लोग ब्लैकवुड के परिचित निकले। बात शुरू हुई कि ब्लैकवुड का भाई अब कहाँ है? मालूम हुआ कि सब पुराने पैंशनयाफ्ता फौजी अफ़सर और सैनिक शासक थे। अब ज़िन्दगी के आखिरी दिन अपने वतन में चुपचाप गुज़ार रहे हैं। ब्लैकवुड के भाई का ज़िक्र इसलिए आया कि वह भी सेना में था और एक ज़माने में उसकी वीरता की कथाएँ चारों तरफ़ मशहूर थीं। यहाँ एक बहुत बड़ा-सा क्लब है जिसमें पुराने सैनिक मिलते हैं। जब युद्ध ख़त्म हुआ था तब उसकी रौनक़ दूसरी थी। मगर अब हर आदमी जैसे युद्ध के दिनों को भूल जाना चाहता है। युद्ध की तात्कालिक आवश्यकता ने तमाम क़िस्म के लोगों को एक क़तार में खड़ा कर दिया था। वे एक पंक्ति में चलते थे, एक मेज़ पर खाते थे, एक तम्बू में सोते थे, मगर उनमें एक भी तत्व ऐसा नहीं था जो एक-दूसरे से मेल खाता हो। युद्ध ख़त्म होने के बाद एक-दूसरे से मिलने में ऊब आने लगी। उन्हें ताज्जुब होने लगा कि वे युद्ध में कैसे हफ़्तों, महीनों, बरसों, साथ रहे थे। उनका कहना था कि बड़े-बड़े वक्तव्य, झंडे, बैंड, और तमगे एक ऐसा वातावरण बना देते हैं जिसमें हम अपने को भूल जाते हैं। सब अपने को भूल जाते हैं। सेनाएँ रह जाती हैं। हम नहीं मार्च करते, सेनाएँ मार्च करती हैं। हम नहीं लड़ते, सेनाएँ लड़ती हैं। हम नहीं हारते, सेनाएँ हारती हैं। हम नहीं जीतते, सेनाएँ जीतती हैं। और जब युद्ध ख़त्म हो जाता है, सेनाएँ भंग हो जाती हैं, तब हम फिर उभरते हैं। और उनमें से एक बुड्ढे ने कहा, "और तब हम रह जाते हैं और हमारे गाँव के पास की यह नदी रह जाती है। और रह जाते हैं बचपन और कैशोर्य के सीधे-सादे सुखों की याद।"

और उसके बाद उस दिन दोपहर भर एक विचित्र-सी, बचपन की ओर लौटा ले जाने वाली ताज़गी जैसे सबों में आ गयी। कोई पत्तों की नाव बहाता रहा, कोई जीप दौड़ाता रहा, कोई फार्म के खेतों में रंगबिरंगे जंगली मुर्गे ढूँढ़ता रहा। मुझे अपनी याद है कि मैंने देखा, दूर पर भेड़ के ख़ूबसूरत मेमने थे। तीन छोटे-छोटे बच्चे अपने से बहुत बड़ी साइकिलें लेकर पैंडिल मारते हुए उनके चारों ओर चक्कर लगा रहे थे।

मैं उधर बढ़ा तो वे बच्चे व्यग्र से मुस्कुराए और संदेह से चुप हो गए। लेकिन जब मैंने एक मेमने को प्यार किया तो उन्हें बड़ी सांत्वना मिली। लगा कि यह अपनी ही जाति का कोई परदेशी जीव है। उनमें से एक बच्चे ने तीनों मेमनों से मेरा शिष्टाचारपूर्ण परिचय कराया। उनका नाम था रुम्बा, सुम्बा और वूला। वे बार-बार नाम बताते थे। मैं हर बार भूल जाता था। वे हर बार मेरी भूल पर खिल-खिलाकर हँसते थे और फिर नए सिरे से नाम दोहराते थे। यह रुम्बा है, वह सुम्बा है और यह वाला वूला है। मैं फिर भूल गया और वे फिर हँसी से लोट-पोट। इतने में एक बच्चा दूध की बोतल ले आया जिसमें चुसनी लगी हुई थी। उसने कृपापूर्वक मुझे इजाज़त दी कि मैं चाहूँ तो मेमनों को पिला सकता हूँ। मैंने पहले ही मेमने की ओर बोतल बढ़ाई तो मेमना महोदय चुसनी खींचकर उछलते-कूदते यह गए—वह ग। अब तो बच्चों में ज़ोर का ठहाका लगा और मेरी अयोग्यता पर उनका शत-प्रतिशत विश्वास बैठ गया।

मित्रों का गिरोह भी बड़ी दिलचस्पी से देख रहा था। मैं वापस लौटा तो मैकेन्ज़ी फिर मुस्कुराकर बोला, "इन्हें स्कॉच के बजाय ठंडा पानी अच्छा लगता है, आदमियों के बजाय मेमनों की संगति।" और फिर दूसरा ठहाका लगा। वह दोपहर ट्वीड नदी पर फैली धूप की ही तरह उजली-उजली मेरे मन में बसी है।

● ● ● ●

..और अब! चन्द घण्टे और, फिर अलविदा! दोपहर यहाँ भी हो चली है। इस समुद्री होटल के डाइनिंग रूम में लंच की भीड़ आने लगी है। सामने गोल्फ का हरा मैदान धूप में सुनहला धानी लगने लगा है। बालू पर उमड़कर लौट गये, समुद्र की लहरें चमकने लगी हैं। मगर सब पर एक हल्की-सी उदासी है। मैकेन्ज़ी बार-बार घड़ी देख रहा है। अभी हमें स्टेशन जाना है, वहाँ से ट्रेन पकड़नी है लेक-डिस्ट्रिक्ट के लिए। विश्वास नहीं होता कि स्काटलैण्ड की यात्रा का आज आखिरी दिन है। हमेशा शरारत से चमकने वाली मैकेन्ज़ी की छोटी-छोटी आँखें असाधारण रूप से गंभीर हैं। स्काटलैण्ड खुली दोस्ती, खुला प्यार देना जानता है। थोड़ी देर में हम रवाना होंगे। एक चमकती लम्बी काली मोटर घाटी की घुमावदार पक्की सड़क पर घूमेगी, बालू की पहाड़ियाँ, झाऊ के झाड़, नीले समुद्र का तिकोना प्रसार, दाँयी ओर की खिड़की के शीशे में से काँपता हुआ पीछे और पीछे हटता जाएगा। अभी प्लेटफ़ार्म पर मैकेन्ज़ी और ईनी के हिलते हुए हाथ विदा देंगे। और मैं कभी-जब घर पहुँचूँगा यानी अपने देश, और अँधेरी जंगली रास्तों में से मोटर पर यात्रा करते हुए हैडलाइट में पेड़ों की पत्तियाँ चमकेंगी, या जंगल में खिले हरसिंगार या वनबेला की महक अँधेरे में आएगी तब मुझे स्काटलैण्ड याद आएगा और मैं प्रतीक्षा करूँगा कि मैकेंज़ी का लड़का भारत कब आएगा।

●

(१) व्यक्तित्व

चाहे जितनी बातें हो जायँ,
मगर, तुम तुम रहती हो
और मैं मैं रहता हूँ।

मन-ही-मन सोचता हूँ,
यह भी कैसी मजबूरी है!
सारी दूरियाँ ख़त्म हो चुकीं,
मगर, तब भी कहीं शेष एक दूरी है।

फिर भी, कोई ग़म नहीं है।
यह आनन्द कुछ कम नहीं है
कि मेरा पावक
तुम्हें ठीक से समेट नहीं पाता है।
बाँहें ख़ूब बढ़ाने पर भी,
तुम्हारा कोई रूप बाँहों से बाहर रह जाता है।

वह कौन-सी चीज़ है,
जो हाथ नहीं आती है?
तुम्हारे भीतर यह कौन है,
जो मुझे छूकर भाग जाती है?

मगर, मैं हार मानने वाला नहीं हूँ।
आख़िरी दम तक
मैं इस छाया की इन्तज़ारी करूँगा।
और मरते-मरते उसे अंक अवश्य भरूँगा।

तुम बढ़ी भले ही हो जाओ,
मगर, मैं तुम्हारी राह देखता रहूँगा।
और हमेशा यही कहूँगा

रामधारी सिंह 'दिनकर'

आत्मा की आँखें

(लारेंस के आधार पर)

कि तुम नयी की नयी हो

और मैं जवान हूँ।
तुम्हारे नजदीक रहता हूँ,
इसलिए भाग्यवान हूँ।

(२) प्रेम के बारे में झूठी बात

हम सब-के-सब झूठे हैं,
क्योंकि हम जानते ही नहीं
कि कौन-सी बात गलत,
और कौन सही है।
मसलन, कल जो बात सत्य थी,
उसका रूप बदल गया है
और आज वह उतनी सत्य नहीं है।

मगर, अक्षरों का तो रूप ही निर्धारित है;
वे रोज-रोज नहीं बदलते हैं।
इसीलिए, हम अर्थ को भूल
केवल अक्षरों के सहारे चलते हैं।

क्या प्रेम हमारा इस वर्ष भी वही है
जिसकी अनुभूति पिछले वर्ष हुई थी?
वही उतावलापन, वही ताजगी और बेचैनी,
जिसका पिछले साल हमें भान था?
सच तो यह है
कि इस साल प्रेम कुछ बूढ़ा हो चला है,
जब कि पिछले साल वह पूरा नौजवान था।

हमारे सारे भाव
घड़ी-घड़ी बदलते रहते हैं।
मगर, भाषा में इतने शब्द कहाँ हैं
कि हम हर हालत को
एक नया नाम दे सकें?

इसलिए, प्रेम को, हमेशा,
हम प्रेम ही कहते हैं।

मानो, प्रेम कोई पत्थर हो,
फूल नहीं,
जो एक बार खिलकर
मुरझा जाता है;
और उसकी जगह पर
वैसा ही कोई और फूल आता है।

(३) पाप से भागो

कुछ लोग उठें और पाप से भागें,
नहीं तो सब नष्ट होने वाला है।
समय आ गया है कि हम जागें,
नहीं तो हालत ठीक नहीं रहेगी।
ठीक है कि दुनिया ने, घूमते-घामते,
एक रास्ता पकड़ लिया है,
लेकिन, बहुत शीघ्र यह लीक नहीं रहेगी।

अनेक लोगों में जो पापमय विचार भरे हैं,
उनके कारण
दुनिया की रूह गुनहगार हो गयी है
हमने जो छुरी
अपने दुश्मन के लिए गढ़ी थी,
वह देवता के हृदय के आर-पार हो गयी है।

रहम से जमाने का दिल बिलकुल खाली है,
लगता है, दुनिया राख बननेवाली है।

पाप कहाँ-कहाँ छिपा है,
गिनाऊँ क्या ?

उसके रहने की जगहें तुम्हें
दिखाऊँ क्या ?

रुपये कमाने की आकुलता
पाप है।
हर औरत के पीछे भागने की व्याकुलता
पाप है।
यंत्र का चक्र घूमकर पाप करता है।
और मशीनें जब आदमी पर दौड़ती हैं,
पाप जीता है और पुण्य मरता है।
पाप है ज्ञान को अमूर्त्त बनाना,
अर्थ-पद्धति को उस तरह समझाना
जिसे समझता तो कोई नहीं,
लेकिन सब मानते हैं।
बिना समझे - बूझे
उसकी महिमा बखानते हैं।

विज्ञान का अमूर्त्तीकरण पाप है।
शिक्षा में से
मानवीयता का हरण पाप है।

आज संगीत, सिनेमा और रेडियो,
यह सब जीवन का अमूर्त्तीकरण है;
और राजनीति तो, प्रत्यक्ष ही,
मनुष्य की ऋजुता का हरण है।

पाप ने हमें गरस लिया है।
पाप हम पर छा गया है।
कुछ लोग उठें,
और पाप को चुनौती भेजें,
मेरे जानते, समय वह आ गया है।

उठो, और कोई द्वीप बसाओ,
या कोई बड़ा-सा क़िला बनवाओ,
जिसकी दीवारों को पाप नहीं तोड़ सके,
कोशिश करने पर भी, सेंध नहीं फोड़ सके। *

•

उर्दू 'फ़नकार' के भूतपूर्व सम्पादक द्वारा जैनेन्द्र जी से लिया गया एक इण्टरव्यू—साहित्य, राजनीति और जीवन के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नोत्तर-युगधर्म के आवश्यक दिशा-संकेत।

•

दरियागंज, दिल्ली के एक कमरे में बिछी दूधिया चादर पर बैठे हुए कुछ सोचते कुछ ऊँघते जैनेन्द्र जी से मैंने प्रश्न किया : आपने कब लिखना शुरू किया और आपको लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिली ?

और जैनेन्द्रजी ने उत्तर दिया : १९२८ में मैंने लिखना शुरू किया और जहाँ तक प्रेरणा का सम्बन्ध है, मैं किसी योग्य ही नहीं था। जीना दूभर था। आत्महत्या के ज़रिए छुट्टी पाना भी आसान न लगा। समय काटने की कोशिश में पेंसिल से कुछ काग़ज काले किए। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार डूबते आदमी को पानी ऊपर फेंकता है और उन क्षणों में उसका फेफड़ा काम करता है। यह तो एक चमत्कार ही हुआ कि मेरी वे चीज़ें छप गईं। उस समय से लोगों के तक़ाज़ों के कारण कुछ लिखता ही रहता हूँ। अन्य किसी प्रकार की प्रेरणा के बारे में मैं कुछ नहीं जानता।

प्रश्न : जीवन के बारे में आपका क्या दृष्टिकोण है ? और उसे विवेकात्मक रूप से आपने कब अपनाया ?

उत्तर : दृष्टिकोण कुछ नहीं है। मालूम होता रहा है कि कुछ है जो कण-कण में है। एक वही है, उससे अलग कुछ नहीं है और हो भी नहीं सकता। उसे खुदा कहिए या कुछ और। १९३० में यह चीज मेरा ईमान हो गई। तब मालूम हुआ कि खुद में और अपनी खुदी में हम नहीं हैं। वेदान्त का 'ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या है' यह दृष्टिकोण मेरे लिए सार्थक हो गया। केवल उसे वास्तविक मान कर मेरे लिए इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता है

महकती बातें : सिसकता प्रेम

प्रश्न : मेरा खयाल है कि इस सिलसिले में स्वयं आप स्पष्ट नहीं हैं। गोर्की जीवन भर राजनीति से सम्बन्धित रहे। इतिहास के पृष्ठ इसके गवाह हैं कि उन्होंने अपने यहाँ सशस्त्र क्रांतिकारियों को पनाह और प्रशिक्षण दिया। वे पार्टी-मेम्बर भले ही न रहे हों लेकिन पार्टी की कार्य-प्रणाली से वे पूरी तरह सहमत थे और इसलिए सहमत थे क्योंकि पार्टी उन्हें शोषित वर्ग की मुक्तिदाता नज़र आती थी। पार्टीमैन होने या न होने से कोई फ़र्क नहीं पड़ता।

उत्तर : तो क्या आपके दिल में यह प्रश्न पैदा नहीं होता कि इतना ताल-मेल और सहयोग होने पर भी वे पार्टी-मेम्बर होने से क्यों बचे रहे? मेरा खयाल है कि उन्होंने अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को कभी पार्टी को सौंपना पसंद नहीं किया। सशस्त्र क्रांतिकारियों को अपने यहाँ पनाह देना उनके स्वभाव के अनुरूप है। जहाँ तक प्रशिक्षण देने का सम्बन्ध है, हर उठती जवानी को उनसे प्रेरणा मिलती होगी। वे जीवन के साथ थे और मृत्यु के विरुद्ध हर मोर्चे पर सचेष्ट दिखाई देते थे। इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है। लेकिन यह निश्चित है—कम-से-कम मैं संतुष्ट हूँ कि उनका चिन्तन और उनकी प्रवृत्तिशीलता पंथगत या वर्गवादी नहीं थी। उनकी राजनीतिक भावना तो मानवीय थी, वर्गीय साम्प्रदायिक अथवा देशीय राजनीति नहीं थी। सच तो यह है कि साहित्य ही सही राजनीति का नाम है। इसमें भी विरोध है, इनकार है, लेकिन वह न्याय की ओर से अन्याय का, सत्य की ओर से झूठ का और सहानुभूति की ओर से हिंसा का विरोध है। यह सामयिक राजनीति से भिन्न वस्तु है और इसमें केवल दो दल हैं। एक सहानुभूति रखता है और देता है। दूसरा जो पराभूत करता है और बलिदान लेता है। साहित्य को राजनीति से पृथक् करने का मैं हामी नहीं हूँ लेकिन भलाई तब है जब राजनीति साहित्य में आकर अपने-आपको डुबो दे। अन्यथा साहित्य तो सभ्यता का प्रतीक होगा और राजनीति केवल बर्बरता का नमूना रह जायगी। अब तक तो अधिकतर यही देखने में आया है कि राजनीति वह है जहाँ मानवी मूल्यों का ख़ून किया जाता है।

प्रश्न : क्या आपके ख़याल में अच्छी और बुरी दो तरह की राजनीति नहीं हो सकती?

उत्तर : हो सकती है और अच्छी की शर्त ऊपर आ गई है। अर्थात् जो मानवीय मूल्यों के अधीन होकर चले और किसी अवस्था में भी उससे डिगने पर तैयार न हो।

प्रश्न : आप अपनी रचनाओं को राजनीति में किस प्रकार समाते हैं और वह कौन-सी राजनीति है?

उत्तर : शिकायत तो यह है कि राजनीति मेरी रचनाओं में ज़रूरत से कम है। शायद है ही नहीं और मुझे इस पर कभी सोचने की ज़रूरत भी महसूस नहीं हुई। इधर कुछ एहसास हो रहा है कि स्टेट नाम की चीज़ उनचास प्रतिशत से अधिक अच्छी

हो ही नहीं सकती। [illegible] इक्यावन प्रतिशत भाग लाज़मी तौर पर बुरा है। इस रूप से मेरे मन की चीज़ सोसाइटी है। यों राजनीति में मुझे गाँधीजी के अहिंसावाद का प्रयोग अपनी ओर खींचता है। अकेन्द्रीय राजनीति का आख्यान मुझे पसंद है। मैं भविष्य में इस आख्यान की काफ़ी गुंजाइश देखता हूँ। प्रतिस्पर्द्धा से सहयोगी राजनीति का क्षेत्र आगे उत्तरोत्तर फैलेगा और शक्तिशाली बनेगा।

प्रश्न : अपने उपन्यास 'विवर्त' में आपने बड़े स्पष्ट रूप से अपने राजनैतिक विचार प्रकट किए हैं। उपन्यास के क्रांतिकारी नायक से आपने जिस तरह प्रायश्चित कराया है और एक बेहतर जीवन-व्यवस्था के हामी दृष्टिकोण को जिस प्रकार तिरस्कृत और त्याज्य सिद्ध करते हुए गाँधीवाद का प्रचार किया है, उसके बारे में आपकी क्या राय है ?

उत्तर : मेरे खयाल में मैंने उसमें किसी एक क़िस्म की राजनीति को तिरस्कृत नहीं ठहराया और न ही किसी दूसरी क़िस्म को उभारने की कोशिश की है। मैं हृदय के निहित भेदों में उतरना चाहता हूँ। उस तह तक पहुँचना चाहता हूँ जिसे आत्मा कहा जाता है। आध्यात्मिक स्तर वह है जहाँ भेद-भाव मिट जाता है और दूई केवल देखने की रह जाती है। क्रांतिकारी मानी जानेवाली कारगुज़ारी में कोई आंतरिक खटक काम करती रहती है। इस विश्वास और तलाश में अनायास ही मैं जिस परिणाम पर पहुँचता हूँ वह यह है कि कहीं का रोष कहीं और उतारा जाता है। इस प्रकार की तोड़-फोड़ की प्रवृत्ति मनुष्य की जता में से नहीं आती। इसके नीचे ठोकर है, चोट है जिसका घाव अभी नहीं पाया है। इस विचार के तो मुझे अपने में किसी दूसरे प्रकार ज़िद मालूम नहीं होती।

प्रश्न : कुछ घाव ऐसे भी तो हैं जो आए हमारे जीवन में लगते रहते हैं और समय तक नहीं भरेंगे जब तक यह लगाने वाला समाज क़ायम है।

उत्तर : समाज कभी कोई ऐसा न होगा व्यक्ति के लिए घाव लगने बंद हो जायें समस्या यही है कि हम उस घाव के क्या व्यवहार अपनाते हैं। मूल या वास्तविकता को मैं प्रेम का नाम हूँ। प्रेम में हम हथियाना भी करते हैं। इस चाह को चोट ज़रूरी है। इस प्रकार की चाहना खाकर घृणा बन जाती है। लेकिन खयाल है कि यह मनुष्य के अपने वश कि उसे घृणा न बनने दे। यही के अर्थ हैं। यह भी तभी संभव है प्रेम के प्रतिदान पर ज़िद न करें और प्रदान पर खुश होना सीखें। इससे पड़ता है। एक शब्द है सेवा। प्रेम में अपनी पूर्णता तलाश करता है। मेरे में यही इस समस्या का समाधान है।

प्रश्न : मैंने जिन घावों की ओर संकेत था आपने उनका उत्तर न देकर प्रेम के घाव पर बात समाप्त कर दी उन घावों के सम्बन्ध में भी तो कुछ जो प्रेम के नहीं, ठोस भौतिक घाव

[शेष पृष्ठ ७६ पर]

दो घाटियाँ : दो गूँजें
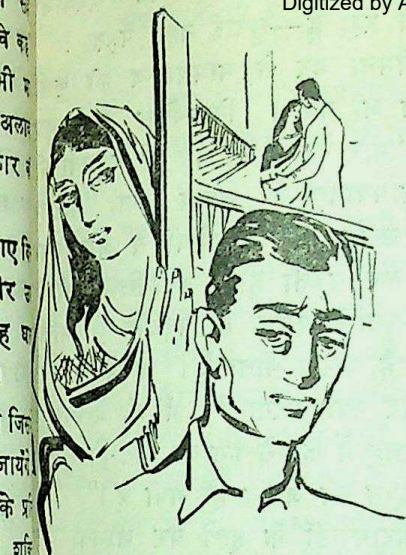
कमल जोशी

दो दम्पत्ति--बाहर से देखने पर एक सुखी और सम्पन्न तथा दूसरा दुःखी और पीड़ित। लेकिन वस्तुस्थिति की तह तक एक कथाकार की पैनी दृष्टि ही पहुँच सकती है।

सोने से पहले अपने नियमानुसार बड़ी आरामकुर्सी पर पैर फैलाए हुए माधवानन्द काफ़ी की चुस्कियाँ ले रहा था। और ड्रेसिंग टेबल के सामने बैठी हुई शोभना एक कुशल कलाकार की सूक्ष्मता से अपने गालों पर क्रीम मल रही थी।

कमरे के एक कोने में रखे हुए रेडियो में बहुत धीमे स्वर में अंतिम प्रोग्राम हो रहा था। सितार पर मालकोष की द्रुत लय में झाला। शांत व शौक़ीन मुहल्ले की प्रायः निद्रित निर्जनता पर निरुद्विग्न रात्रि का सुर। शांत जल में एका-एक जैसे मछलियाँ उछलती हैं वैसे ही कभी किसी उल्लू की आवाज़ और कुत्ते के भौंकने का शब्द सुनाई पड़ता है। रात को रागिनी जैसे और भी अधिक उद्भासित हो जाती है।

शोभना के गालों पर जब उँगलियों का चलना निश्चिन्त भाव से रुक गया और माधवानन्द ने जब कॉफ़ी की आख़िरी चुस्की ली, तब ही आवाज़ हुई।

बहुत दूर पर नहीं, बग़ल वाले फ्लैट में ही। शराबी की टूटी और कुछ भर्रायी हुई आवाज़ में जैसे किसी ने दो-तीन बार पुकारा : "लछमन की माँ--ओ लछमन की माँ !" और उसके बाद ही बंद दरवाज़े पर लातें पड़ने लगीं।

गद्दीदार स्टूल पर ही शोभना घूमकर बैठ गयी। भौंहें कुंचित कर कुछ तीखे स्वर में बोली, "वह आया है।"

दाहिनी ओर कुछ झुककर माधवानन्द ने नीचे ज़मीन पर कॉफ़ी का प्याला रख दिया। ज़रा मुस्कुराया, लेकिन कोई जवाब नहीं दिया।

शोभना बोली, "देखो न, कितनी शराब पीकर आया है।"

लछमन की माँ ने तबतक दरवाज़ा नहीं खोला था। वह किवाड़ों को पीटे जा रहा था। सिर्फ़ दरवाज़ा ही नहीं, ऐसा लगता था जैसे मकान ही टूट जाएगा।

माधवानन्द ने अनुभवी की तरह शांत भाव से कहा, "आज शनिवार है न, इसलिए ज़रा सैर-सपाटा करके आया होगा।"

"सैर-सपाटा करके आया है!" अपने सुन्दर मुख को चिढ़ से विकृत कर शोभना बोली, "बाहर जो मर्ज़ी हो सो करे, लेकिन मुहल्ले में यह सब क्या?" रेडियो में उस समय शुभ रात्रि की घोषणा हो रही थी। शोभना उठी और उसे बीच ही में बंद कर बोली, "तुम लोगों का भी जवाब नहीं! यह पब्लिक न्यूसेंस बर्दाश्त क्यों करते हो? पुलिस को फ़ोन कर दो। आजकल तो गुंडा-क़ानून से जिसे चाहें उसे पकड़ लेते हैं—इसे भी घसीटते हुए ले जाएँ।"

"उचित तो यही है।" संक्षिप्त उत्तर देते हुए माधवानन्द ने आरामकुर्सी पर शरीर फैला दिया। पर पुलिस को फ़ोन करने का कोई उत्साह उसने नहीं दिखाया। व्यर्थ ही झगड़े में पड़ने को उसकी क़तई इच्छा नहीं है।

ऐसा लगा जैसे उधर दरवाज़ा खुला। उसके बाद ही चटाक से ज़ोर से एक तमाचे की आवाज़—एक दबा हुआ आर्त्तनाद। शराबी की टूटी हुई तेज़ आवाज़ : "कमरे में नहीं थी क्या. . . . ? आध घंटे से द खटखटा रहा हूँ—सुनाई नहीं पड़ता

शोभना डर से माधवानन्द की के पास आ गयी। फिस-फिस कर बोली, "मार रहा है।" वैसे ही अनु तरह माधवानन्द ने जवाब दिया, " ही। उसके जैसे आदमियों से और आशा कर सकती हो? पढ़ा-लिखा नहीं—दलाली करता है, घुड़दौड़ में लगाता है, शराब पीता है। इसके वह और क्या करेगा? मैं तो दे कि सप्ताह में कम-से-कम दो दिन पि उस औरत की आदत हो गयी है।"

आरामकुर्सी के हत्थे पर शोभ गयी। अपना बायाँ हाथ उसने माध के कंधे पर रखा। अलस भाव से भरी आवाज़ में शोभना ने कहा, "यह भी कैसी है? क्यों इस तरह पड़ी पिटती रहती है? ऐसे पति की की तैसी, उसे छोड़ क्यों नहीं देती?"

माधवानन्द का बाहु-बंधन स और भी कस गया : "सभी तो शोभना की तरह ग्रेजुएट नहीं हैं . . . पिता दो हज़ार रुपया माहवार पाते इंजीनियर नहीं हैं। अगर वह जा चाहे तो कहाँ जाएगी? संभव है औरत के मायके में कोई न हो।"

"हूँ, ठीक कहते हो। ऐसा ही है!" शोभना ने हाँ में हाँ मि

बग़ल वाले फ्लैट से उस स क्रुद्ध पौरुष की हुंकार और सिस कर रोने की दबी हुई आवाज़ आ कटोरी और ग्लास फेंकने की आव सुनाई पड़ी। बहुत संभव है कि

लिए रखे गये खाने की यह अंतिम परिणति हुई हो।

"जंगली जानवर!" स्वगोक्ति की तरह शोभना ने कहा, फिर कुछ देर तक चुप बैठी रही।

बग़ल वाले फ्लैट की घटना चाहे जितनी भी बुरी क्यों न हो, लेकिन उससे शोभना को जाने कैसा एक प्रकार का आत्मसंतोष अनुभव होता है। माधवानन्द एम. ए., एम. काम है। अच्छी नौकरी करता है। पार्टियों में जाता है, लेकिन कभी शराब नहीं छूता। घुड़दौड़ के मैदान की सीमा के क़रीब से भी कभी नहीं गुज़रता। शोभना बग़ल के फ्लैट के उस विकृत व पशु जैसे जीवन से अपनी तुलना करती है कि वह कितनी सुखी है। उसे लगता है जैसे वह बहुत सौभाग्यशाली है।

कुछ देर चुपचाप अपने सुख का मंथन कर शोभना ने कहा, "एक दिन की बात हो तो चुप रहा जा सकता है। लेकिन यहाँ तो रोज़ का ही यह क़िस्सा है। अब सहन नहीं होता। तुम ही कहो, आधी रात को यह मार-पीट, चीख़-पुकार कितनी बुरी बात है! चलो, हम लोग शरीफ़ों के किसी मुहल्ले में चले चलें।"

"इससे ज्यादा शरीफ़ों का मुहल्ला कलकत्ता में और कहाँ है, कहो? बालीगंज का यह श्रेष्ठ मुहल्ला है।" माधवानन्द हँसा।

"तो फिर मकान बदलो, कहीं और लो।"

माधवानन्द की हँसी का रंग कुछ फीका पड़ गया: "इसमें आपत्ति नहीं है। लेकिन जानती हो, क्या बात है? पार्क के सामने दक्षिण खुला हुआ ऐसा फ्लैट दो सौ रुपये में यहाँ कहीं नहीं मिलेगा। बग़ल के फ्लैट में यदि दैनिक एक नर-हत्या भी होती हो, तब भी हमारे छोड़ने के साथ-साथ इस फ्लैट में तीन सौ रुपया माहवार किराया देने वाला कोई-न-कोई ज़रूर आ जाएगा।"

यह इतना भयंकर सत्य है कि शोभना को खोजने पर भी प्रतिवाद नहीं मिला। माधवानन्द की बाहुओं से धीरे-धीरे स्वयं को छुड़ाकर वह उठ खड़ी हुई।

बोली, "लेकिन एकदम बग़ल में ही इस तरह की नीच हरकतें...."

सोने से पहले माधवानन्द ने आख़िरी-सिगरेट जलाकर बात ख़त्म करनी चाही: "मुझे तो बहुत बुरा नहीं लगता। चारों ओर के इस सभ्य और परिमार्जित वातावरण में कभी-कभी कुछ आदिम बर्बरता का अनुभव हो जाता है, इससे अनुभव बढ़ता जाता है।"

शोभना ने तिरछी नज़रों से कटाक्ष किया: "छी-छी, दिन-ब-दिन तुम क्या होते जा रहे हो!"

उत्तर में अकृत्रिम भाव से माधवानन्द हँसने लगा। शोभना कमरे के बाहर चली गयी।

तीन-चार मिनट सिगरेट पीने के बाद माधवानन्द को ख़याल आया कि बरामदे की बिजली बुझाने शोभना जो गयी तो अभी तक लौटकर नहीं आयी।

"क्या हुआ? अँधेरे में खड़ी-खड़ी क्या कर रही हो?"

बाहर से शोभना की रहस्यमय दबी हुई आवाज़ आयी: "चुप!"

"क्या बात है? कोई चोर-वोर है?"

"ओह, तुमने तो आफ़त कर दी!"

धीमी आवाज़ [illegible] में आ गयी। मुस्कुराहट से उसका चेहरा खिल रहा था : "एक मजेदार नाटक चुपके-से सुन रही थी। तुमने सब चौपट कर दिया !"

"क्या ?"

शोभना बहुत हँस रही थी : "मार-पीट के बाद अब पश्चाताप हो रहा है, समझे ? शराबी सोने की एक चेन ख़रीदकर लाया है। शायद उसी को अपनी पत्नी के गले में पहना कर रोते-रोते कह रहा था : 'तुम्हारी जैसी सुशील स्त्री पर मैंने हाथ उठाया--बहुत बुरा किया--नरक में भी मुझे जगह नहीं मिलेगी। देखो, आज यह चेन लाया हूँ--अगले महीने नयी चूड़ियाँ बनवा दूँगा।' हा-हा !" अपनी हँसी रोककर शोभना एकाएक गंभीर हो गयी : "जानते हो, उस स्त्री को क्या करना चाहिए ? उस चेन से ही अपना गला घोंट लेना चाहिए।"

"छोड़ो भी इस झगड़े को। इन लोगों की ज़िन्दगी ऐसे ही चलती है।" सिगरेट का अंतिम अंश एश-ट्रे में डालते हुए माधवानन्द ने कहा, "काफ़ी देर हो गयी है, चलो अब सोयें।"

पाँच मिनट में ही शोभना सो गयी। बिछौने में लेटते ही उसे नींद आ जाती है। शुरू से ही उसकी यह आदत है। माधवानन्द के सीने में अपना सिर लगाकर, परम विश्वास से अपना एक हाथ उसकी गर्दन पर रखकर परितृप्त निद्रा में शोभना डूब गयी।

पर माधवानन्द नहीं सो सका।

[illegible] में नहीं, दस मिनट एक घण्टा में भी नहीं। सारे शरीर विषक्रिया की जैसी एक जलन हो मस्तिष्क में कुछ ज्यादा गर्मी है। कर दिल की धड़कन बढ़ जाती है पर शोभना के हाथ की चूड़ियाँ मा अस्त्र की तरह काटने के लिए तैया उसके सुगंधित मुलायम केश उड़कर गालों को छू रहे हैं।

माधवानन्द से अब लेटा नहीं ग बहुत धीरे से उसने शोभना का हाथ तकिये पर कर दिया। धीरे-धीरे बैठा। अपनी शून्य जगह पर तकिये रख दिये। फिर पलँग पर गया।

आरामकुर्सी पर और एक जलाकर अपने दफ्तर की नयी सुन्दरी निस्ट के बारे में सोचने लगा जि उसने आज शाम को सिनेमा देखा है शाम को भी उसके साथ गोपन ए है--विक्टोरिया मेमोरियल के साम

बग़ल वाले फ्लैट में निद्रित नींद में ही शायद अपनी सोयी हुई प्यार कर रहा है। माधवानन्द को हुए निद्रिता शोभना बग़ल में रखे हु को बार-बार पकड़ने लगी। और अंधकार में माधवानन्द की सिगरेट ए तृतीय नेत्र की तरह जलने ल रिसेप्शनिस्ट के साँचे में ढले हु शरीर की माधवानन्द बार-बार लगा

●
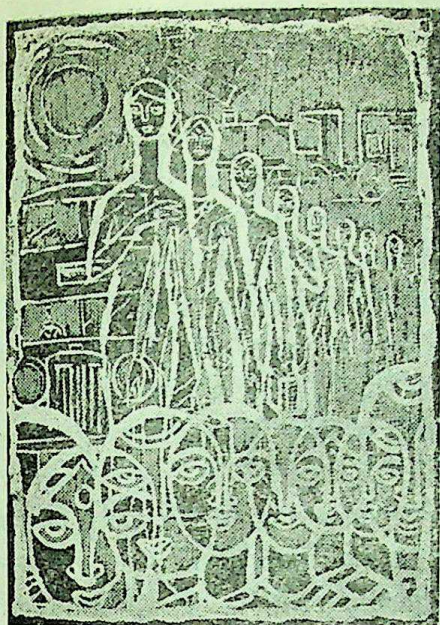
जी हाँ, यह क्यू का ज़माना है, लेकिन ऐसे अवसर भी आते हैं जब लाइनवालों को भी बेलाइन हो जाना पड़ता है।

क्यू

चन्द्रभूषण त्रिवेदी 'रमईकाका'

इस भीड़-भाड़ के ज़माने में जब भेड़िया-धसानी से काम न चला तब विवश होकर लोग लाइन लगाने लगे। राशन लेना है, तो जनाब लाइन में लगिए, बस में घुसना है, तो लाइन में लगिए। बेलाइन होकर सिनेमा, बस या ट्रेन का टिकट आप खरीदना चाहेंगे तो समस्या विकट हो जाएगी। घुसकर तमाशा देखने की आदत न हो तो जनाब लाइन के बीच में धँसने की कोशिश न कीजिये नहीं तो मार-मरौझा और सिर-फुटव्वल के सिवाय और कुछ हाथ न लगेगा। सिरफिरों की बात दूसरी है वर्ना क्या किसी को कुत्ते ने थोड़े ही काटा है जो लाइन के बीच में धँसकर बैठी हुई मक्खियाँ हुसकायेगा। आप लाइन में धँसने चले नहीं कि आपके आगे-पीछे भनभनाहट शुरू हो जाएगी। सहूलियत-सुभीते के लिए यह आवश्यक है कि लोग लाइन में अपने नम्बर पर खड़े हों। आज सभ्यता का तक़ाज़ा है, ज़माने का नारा है : 'लाइन लगाओ'। यह बात दूसरी है कि कुछ लोग इस नारे का अर्थ ग़लत दिशा में भी लेने लगे हैं। तभी तो देश की आबादी ने अपनी बढ़ती हुई गति से महाजन के व्याज तथा घोड़े की दौड़ को भी पछाड़ दिया है। सन्तानों की संख्या रुपये के पैसों की तरह बढ़ती ही जा रही है। नरेश, महेश, सुरेश, दिनेश, ब्रजेश, रमेश, गणेश तथा महेन्द्र, नरेन्द्र, सुरेन्द्र, ब्रजेन्द्र, जितेन्द्र, वीरेन्द्र, देवेन्द्र इत्यादि, एक के बाद एक क्यू में चले आ रहे हैं। युग की सभ्यता ने एक नारा दिया तो उसका दुरूपयोग भी शुरू हो गया। आला

अदना सबके लिए सामाजिक नियम की पाबन्दी ज़रूरी है, परन्तु कुछ लोग धन, बल तथा पद के मद से लाइन बाहर होकर काम करने के आदी हो जाते हैं। ऐसे लोग अपना उल्लू सीधा करने के लिए नियमबद्धता को ताक पर रख देते हैं। ग़र्ज़बन्दा बावला के अनुसार कुछ लोग दूसरों को तो उपदेश देते हैं मगर अपनी ग़र्ज़ पर ग़लत रास्ते से आकर अपना काम बनाने में नहीं चूकते। आप लाइन में बड़ी देर से लगे हैं, अभी तक टिकट नहीं मिला। एक सज्जन (सज्जन इस-लिए कि वह बड़े आदमी हैं) अभी-अभी आए हैं। उन्होंने लम्बी लाइन देखी तो पीछे के दरवाज़े से भीतर घुस गए और आनन-फ़ानन टिकट लेकर चलते बने। ऐसे लोग अपनी पाँचों अँगुलियाँ घी में रखना चाहते हैं, दूसरों के सिर चाहे कड़ाही में ही पड़े रहें। आप थोड़ा-सा भुनभुना लें, ज़माने को दोष दे लें और कर ही क्या सकते हैं? अपनी-अपनी तक़दीर है। बैल के मुँह मुस्का बाँधा जाता है और साँड़ तो हर एक का खेत चरता है; उसकी सींगों से सब डरते हैं। महिलाओं को लाइन में लगने की ज़रूरत नहीं है, उन्हें समाज ने छूट दे रक्खी है, परन्तु महिलाओं की ही तरह इस दिशा में बड़े आदमी भी आचरण करते हैं, यह आश्चर्य की बात है। लाइन में भी लगे हुए सभी लोग दूध के धोये नहीं होते। कुछ तो इस मतलब से क्यू में लग जाते हैं कि दाँव लग जाए तो आपकी जेब काट कर नौ-दो ग्यारह हो जाए और आप हाथ मलते रहें। तभी तो खिड़की के पास लिखा है: "पाकिटमार से होशियार"। लाइन में लगकर जो सावधान न रहा, वह अपनी जेब से हाथ धो बैठा।

मुझे कानपुर से अपने गाँव जाना था। मेरे लड़के का तिलक और गंगा-स्नान दोनों एक ही दिन पड़े थे। मुझे गाँव पहुँचना ज़रूरी था। भक्तों की अपार भीड़ टिकट लेने के लिए आतुर थी। लाइन दोहरी होकर दो-मुँही साँपिन-सी बन गयी थी। पता हीं नहीं चलता था कि उसका कौन-सा मुँह चालू है। मैं टोह लेने के लिए खिड़की के पास खड़ा ही हुआ था कि कई आवाज़ें आईं- 'ए भाई! लाइन से।' ये आवाज़ें बहुत खलीं मगर मैं कानों से कड़वे घूँट पी गया। एक ही गाड़ी थी जिससे मैं गाँव पहुँच सकता था। बे-लाइन मैं हो नहीं सकता था और इतना बड़ा आदमी भी नहीं हूँ कि पीछे के दरवाज़े से भीतर चला जाता। लाइन अनादि-अनन्त थी। मैं क्या तेजसिंह भी होते तो इस लाइन को पार करने में घबड़ा जाते। एक ही उपाय था कि मैं किसी से अपना टिकट खरीद लेने के लिए कहूँ, चुनांचे मैं मुँह चीन्हतने लगा कि शायद कोई परिचित दिख जाए। जिसकी ओर मैं निहारता था वह ऐसा मुँह फेरता था कि जैसे मैं कर्ज़ वसूलने पहुँच गया हूँ। एक चेहरा कुछ परिचित-सा लगा; मैंने उनसे नमस्कार किया तो तो वह एक फ़िल्मी गीत गुनगुनाने लगे—ठीक वैसे ही जैसे चाऊ माऊ दूसरों की बातें सुनी-अनसुनी करके अपना एक अलग राग अलापते रहते हैं। मैं आगे बढ़ा, मेरी निगाह एक खद्दरधारी सज्जन पर टिक गयी, वह वेश-भूषा से नेता प्रतीत होते थे, मैंने उनसे अर्ज़ की: "श्रीमानजी, मुझे अपने गाँव एक बहुत ही ज़रूरी . . . ." मेरी बात बीच में ही काट कर वह बोल उठे, "महाशय, लाइन में लग जाइए। क़ायदे को न तोड़िए। देखिए

मैं कितनी देर से क्यू में खड़ा हूँ । मैं चाहता तो भीतर से टिकट ला सकता था, मगर नहीं, मैंने ऐसा नहीं किया । हमीं लोग नियम भंग करेंगे तो इस दुनिया का क्या होगा ?"

....मेरा एक भी वाक्य उन्होंने नहीं सुना था मगर मुझे कई वाक्य बरबस पिला दिये । मैं निराश होकर किसी दूसरे को खोजने लगा । एक सज्जन सिर पर साफा बाँधे, माथे पर चन्दन लगाए और गले में दुपट्टा डाले खड़े थे; मैंने उनसे कुछ कहना चाहा तो वह मूँछों पर ताव देने लगे । "मैं आपको बीच में नहीं खड़ा होने दूँगा । सबसे पीछे जाइए । मैं अखंडता में विश्वास करता हूँ; आपको बीच में आने दूँ तो इसका अर्थ होगा कि मैंने इस पंक्ति को खंडित कर दिया ।" उनकी मुद्रा और उनके वचनों को देख-सुनकर मेरी भी हिम्मत न पड़ी कि उनसे कह दूँ —मैं लाइन के बीच में नहीं खड़ा होना चाहता, मैं तो सिर्फ़ यह चाहता हूँ कि आप मेरा टिकट खरीद लें । उनके थोड़ा पीछे एक रूखे तथा लम्बे बालों वाले दुबले-पतले सज्जन चश्मा लगाए हुए खड़े थे; मैंने उनसे निवेदन किया, "महाशय, आप मेरा भी एक टिकट ख़रीद लें तो बड़ी मेहरबानी होगी ।" वह तुरन्त बोल उठे, "मैं आपका टिकट खरीदूँ तो मेरे पीछे जितने लोग खड़े हैं मुझे उन सबका टिकट खरीदना चाहिए । मेरे लिए तो सब बराबर हैं । मैं तो ऐसे विचार का आदमी हूँ कि मेरे पास एक रोटी हो तो उसके टुकड़े-टुकड़े करके सबको बाँट दूँ ।" बात लाजवाब थी । आशंका हुई कि कहीं मेरा टिकट ख़रीदकर उसके भी टुकड़े-टुकड़े करके यह सबको न बाँट दें । उनको भी छोड़कर मैं अपने पीछे की ओर बढ़ा । छः-सात स्थानों पर आदमियों की जगह केवल झोले और अटैचियाँ रखी थीं । आगे की लम्बी लाइन से ऊबकर लोग बेंच पर बैठे आराम कर रहे थे और उनकी आँखें अपने-अपने सामान पर थीं । इस प्रकार शरीर से न सही मन और नेत्रों से वे लाइन में ही उपस्थित थे । अतः वहाँ भी खड़ा होना खतरे के बाहर नहीं था । कुछ लोग खड़े-खड़े थक गए थे, अतः लाइन में ही ऐसे ढंग से बैठ गए थे जैसे ब्रह्म-भोज की पूड़ियों की प्रतीक्षा में कुदुवा बैठते हैं । उनके पीछे कुछ लोग खड़े थे; उनमें से एक व्यक्ति पर जैसे ही मेरी निगाह पड़ी वह अपरिचित होते हुए भी एक गहरे दोस्त की तरह बोल पड़े, "ओहो ! आप हैं ! मैं तो बड़ी देर से इस फ़िराक में था कि कोई जान-पहचान का मिल जाए तो उसे अपनी जगह पर खड़ा करके मैं एक हाजत रफ़ा कर आऊँ । आप मेहरबानी करके मेरी जगह पर आ जाइए ।" इतना कहकर उन्होंने मुझे अपने आगे खड़ा कर लिया । आगे-पीछे कुछ भनभनाहट हुई तो उन्होंने लोगों को समझा दिया कि वह एक काम से जा रहे हैं । दो मिनट रुककर वह चले गए । मुझे ख़ुशी थी कि मैं अब लाइन में लग गया था । आगे निगाह डाली तो पता चला कि नेताजी को, जो अभी बहुतों के पीछे खड़े थे, टिकट मिल चुका था । उन्होंने अपने एक मित्र को टिकटघर के भीतर भी भेज रखा था । इस प्रकार देश की सामयिक पुकार के अनुसार उन्होंने भीतर और बाहर के दोनों मोर्चे सँभाल रखे थे । लाइन में खड़े होकर वह नियम के पाबन्द भी बने रहे और भीतर मित्र को भेजकर उन्होंने मोर्चा

भी फ़तह कर लिया था। "साँप मर गया और लाठी भी न टूटी।" उनकी दोहरी नीति कारगर हो गयी और वह ट्रेन में बैठने जा रहे थे। चंदनधारी पंडितजी अपने आगे खड़े हुए व्यक्ति को टिकट के पैसे देकर आराम से बेंच पर बैठ गए थे। इस प्रकार उन्होंने लाइन की अखंडता भी क़ायम रखी और उनका काम भी बन रहा था। रूखे बालों वाले महाशय लाइन के बाहर आ गए थे। बात यह हुई कि जहाँ बहुतों ने अपने-अपने सामान लाइन में लगा कर बेंच पर बैठना मुनासिब समझा था वहीं यह महाशय बेंच के नीचे सामान रखकर निश्चिन्ता से लाइन में लग गए थे। मौक़ा पाकर किसी ने उनका सामान झाड़ दिया था और वह अब साम्यवाद का सही अर्थ खोज रहे थे। रोटी टुकड़ों में नहीं वरन कोई समूची ही निगल गया था।

ट्रेन छूटने में थोड़ा ही समय बाक़ी था, इसलिए बाबू ने टिकट बाँटने की रफ्तार तेज़ कर दी थी। लाइन धीरे-धीरे ट्रेन के पेट में पहुँच चुकी थी। अब पाँच-छः मुसाफ़िरों के बाद मुझे टिकट मिलने वाला था। मेरे आगे जो सज्जन खड़े थे उन्होंने अपनी जेब में हाथ डाला और उसके बाद वह मुझे घूर-घूर कर देखने लगे: मैंने पूछा, "क्या बात है?" वह रोष से भरकर उबल प[ड़े] "जनाब, मेरी ज़ेब साफ़ हो गयी है और आ[प] पूछते हैं, क्या बात है?" उनकी रोष-भ[री] निगाह का अर्थ था कि मैंने ही उनकी जे[ब] काट ली है। आशंका से मैंने भी अप[नी] सदरी की जेब में हाथ डाला तो समाता ह[ी] चला गया—ज़ेब दो-रुखी हो गयी थी औ[र] उसकी लक्ष्मी दूसरे रुख से अपना रास्त[ा] नाप चुकी थी। अब समझ में आया [कि] जो महाशय मुझे अपनी जगह ख[ड़ा] कर गए थे वह यहीं अपनी हाजत पू[री] करके रफू-चक्कर हुए थे। उन्होंने [दो] लिफ़ाफ़े बेरंग कर दिए थे। हम दोनों को एक-दूसरे के साथ सहानुभूति हो गयी। पूछताछ से पता चला कि वह मेरे लड़[के] के भावी साले थे जो तिलक का सामान लि[ए] मेरे घर जा रहे थे। टिकट के पैसे न उन[के] पास रह गए थे न मेरे। अब ट्रेन भी छू[ट] चुकी थी, अतः हम दोनों ने मिलकर तिल[क] की दूसरी तिथि तय करने का निश्चय किया। हमारी ज़ेबें क्या खाली हुईं, मुहूर्त्त हीं खंडि[त] हो गया। क्यू को भी गिरहकटों ने अपने हाथ साफ़ करने का एक साधन बना लि[या] है। लाइन वालों को भी ये बेलाइन क[र] देते हैं।

●

सूचना

लेखकों से सूचनार्थ निवेदन है कि केवल स्वीकृत रचनाओं की सूचना दी जाती है, और केवल वही अस्वीकृत रचनाएँ लौटायी जाती हैं जिनके साथ आवश्यक टिकट होता है।

—सम्पादक
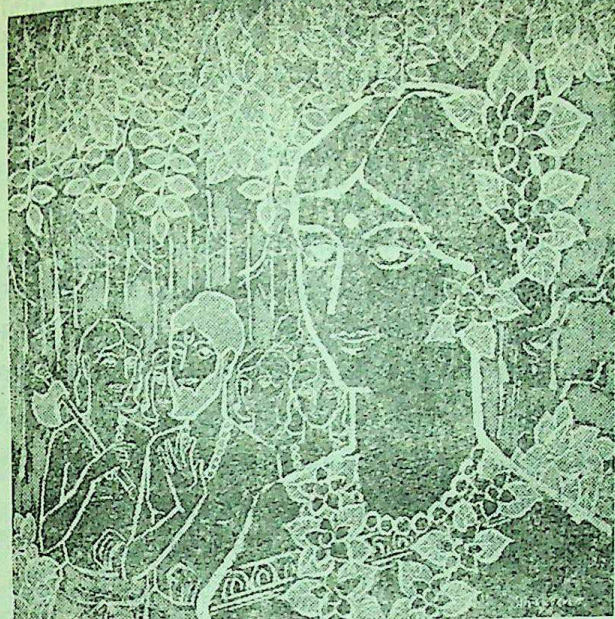
प्रस्तुत कहानी महाभारत से ली गयी है किन्तु महाभारत में जो मात्र घटना के रूप में आयी, वही कहानी यहाँ मनोविश्लेषणात्मक शैली में ढलकर लेखक की संवेदन-क्षमता की परिचायक बन गयी है।

●

सुदर्शन चोपड़ा

●

महातपस्वी जमदग्नि अपनी कुटिया में चित्त लेटे किसी गहरी चिन्ता में डूबे हुए थे। दो पहर रात बीत चुकी थी पर नींद नहीं आ रही थी। कुटिया के खुले दरवाज़े की राह भीतर छिटक रही चाँदनी भी उन्हें सुखद नहीं लग रही थी। चारों का वातावरण एकदम शान्त था। पास ही मंद गति से बहती हुई नदी की मद्धिम-सी कलकलाहट उस सन्नाटे को भयावह होने से बचा रही थी। मगर फिर भी एक अजाने आतंक से जमदग्नि बेचैन थे।

इसी वन में तपस्या करते-करते वह पचास को छू चले थे। वेदाध्ययन में ही उन्होंने सदा अपने को खोए रखा था। उन्हें सारे वेद कंठस्थ हो चुके थे। कठिन तपस्या में तपा हुआ उनका शरीर पहले कभी भी इस प्रकार विचारग्रस्त नहीं हुआ था। पर इधर कुछ दिनों से उन्हें अनिद्रा रोग ने आ घेरा था, और अक्सर पूरी-पूरी रात तिनकों की शैय्या पर करवटें लेते बीत जाती थी।

आज रात भी वह सोने की सब कोशिशें कर-करके हार गए थे। पूरे बदन पर तिनकों की सरसराहट रेंगने लगी तो हताश होकर चित्त लेट गए और

क व च

अपनी मनःस्थिति का विश्लेषण करने लगा।

रात भर के चिन्तन के बाद जो सूत्र पकड़ में आया, उसने जमदग्नि को इस बुरी तरह जकड़ लिया कि वह छटपटा उठे। नंगे बदन पर तिनकों की रेंगने वाली सरसराहट अब बिच्छुओं के डंक-सी लगने लगी। आत्मविश्लेषण ने तपस्वी के सामने उनके भीतर की जिस गाँठ को खोलकर रख दिया था, उसे देखकर वह विकल हो आये। उन्हें अपने प्रौढ़ शरीर से पिघला हुआ शीशा तैरता अनुभव होने लगा।

और उन्हें लगा कि दिग्दिगन्त में फैला हुआ उनके तप का सारा यश क्षण भर में जल कर भस्म हो गया है और अब तक का अर्जित ज्ञान एक छलावा था जो उन्हें छल गया।

मगर इस एहसास के बावजूद जमदग्नि के भीतर जल उठी अग्नि का ताप इतना प्रबल था कि वर्षों का तप भी उन्हें वह निर्णय लेने से न रोक सका, जिससे प्रेरित होकर वह सुबह होते ही राजा प्रसेनजित के पास जा पहुँचे।

राजा प्रसेनजित महातपस्वी जमदग्नि को अपने यहाँ अतिथि-रूप में पाकर धन्य हो गए। उन्होंने हर प्रकार से तपस्वी का आदर-सत्कार करने के बाद हाथ बाँधकर पूछा, "महामुने! अब मैं आपका आदेश सुनना चाहता हूँ। मेरे राजमहल को आपने अपने चरणकमलों से पवित्र करके निश्चय ही मुझे कृतार्थ कर दिया। मुझ अकिंचन का आतिथ्य ग्रहण कर आपने मुझे अपार पुण्य का भागी बना दिया है। आदेश दीजिए, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ!"

"हम राजकुमारी रेणुका का पाणिग्रहण करना चाहते हैं। रेणुका को हमें सौंप सकोगे राजन?"

राजा प्रसेनजित इतना सुनते ही सन्न में आ गए। उन्हें वज्रपात की-सी अनुभूति हो आई। लगा जैसे दिल के बीचोंबीच किसी ने कटार भोंक दी हो। कई पल तक वह पक्षाघात के रोगी की-सी स्थिति में अवाक् बैठे रहे।

धीरे-धीरे जब उस आकस्मिक आघात का प्रभाव कुछ घटा, तब राजा ने स्थिति को समझने की कोशिश की और माथे पर उभर पड़ी पसीने की बूँदों को पोंछते हुए कुछ कहना चाहा। मगर उनके होंठ फड़फड़ा कर रह गए। कोई भी बोल उनके मुँह से निकल न सका।

राजा को कष्टकर मनःस्थिति में देखकर जमदग्नि गम्भीर स्वर में मात्र 'राजन' ही कह पाए थे कि प्रसेनजित ने सिहरकर तुरंत ही उन्हें बीच में टोक दिया, "महामुने! क्षमा करें। उत्तर में विलम्ब की धृष्टता हुई। मेरे इस मौन को अन्यथा न लें। आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।" प्रसेनजित एक ही साँस में कुछ इस प्रकार यह सब कह गए मानो किसी सम्मोहन के प्रभाव में बोल गए हों।

तपस्वी की माँग की अवहेलना कर उनके कोप का भाजन बनने का साहस प्रसेनजित न जुटा सके।

और फिर जमदग्नि की इच्छानुसार राजा ने उसी दिन अपनी नव-रजस्वला पुत्री रेणुका का विवाह पचास वर्षीय तपस्वी के साथ 'विधिपूर्वक' कर दिया।

रेणुका अपने पति जमदग्नि के आश्रम में रहकर दिन बिताने लगी।

समय पाकर रेणुका को क्रमशः पुत्र हुए: पहले रुक्मवान, फिर सुषेण,

और विश्वासु तथा अंत में परशुराम।

परशुराम अपने भाइयों में सबसे छोटा था, मगर था बहुत ही तेज और गुस्सीला। सारे आश्रमवासी इस बात से हैरान थे कि तपस्वी का बेटा होते हुए उसका स्वभाव इतना तामसी क्यों है।

रेणुका अपने पाँचों बेटों का लालन-पालन बड़े मनोयोग से करती रही। पति की हर सुविधा का भी ध्यान रखती।

हालाँकि जमदग्नि अब तक काफ़ी बूढ़े हो चुके थे और रेणुका अभी युवती थी, मगर फिर भी वह पति को किसी प्रकार का असुविधा-जनक अनुभव होने देना नहीं चाहती थी। न ही उसने कभी किसी असंतोष को प्रकट होने दिया था। वह यथासंभव हर ऐसे अवसर को टाल जाती। और ऋतुस्नान के बाद कई-कई दिन का उपवास करके अपनी कामाग्नि का हठपूर्वक दमन करती।

व्रत-उपवास का यह कार्यक्रम परशुराम के जन्म के बाद से ही अधिक कट्टरता से शुरू हुआ था। रेणुका अभी अठारहवें वर्ष में ही थी कि जमदग्नि मुनि ने वर्ष भर की अखण्ड समाधि लगाने का निश्चय किया।

रेणुका उन दिनों पति की हर सुविधा का ध्यान रखती। बच्चों की देख-रेख भी करती और पति की साधना को सफल बनाने के लिए उनकी सेवा का दायित्व भी बराबर निबाहती।

हर महीने ऋतु-स्नान के बाद वह कई-कई दिन तक निराहार रहने लगी, ताकि ऐसे दिनों में उभरने वाली विरोधी-शक्तियों को यथासम्भव अशक्त बना सके।

व्रत के दिनों वह सुबह से शाम तक अपने को स्नान-पूजा-पाठ तथा आश्रम के छोटे-मोटे कामों में इस प्रकार उलझाए रखती कि रात होते-होते दिन-भर की भूख और श्रम से टूटा हुआ उसका शरीर चूर-चूर हो तृण-शैय्या पर बेसुध लुढ़क पड़ता।

जमदग्नि ने अपनी वर्ष भर की अखंड तपस्या पूरा करने के बाद से अपनी दिन-चर्या कुछ इस ढंग की बना ली थी कि आश्रय के कामों से उनका सम्बन्ध लगभग कट-सा गया था।

रात को अपने सोने का प्रबन्ध भी उन्होंने अब आँगन के पश्चिमी कोने वाली कुटी में कर लिया था। दोपहर को थोड़ी-बहुत देर के लिए कभी-कभार पत्नी और बच्चों के सामना होने पर वह केवल औपचारिक ढंग की दो-चार बातें कर लेते।

ऐसे ही औपचारिक वार्तालाप के दौरान एक दिन जमदग्नि ने पत्नी को अस्वस्थ-सी जानकर पूछा, "रेणुके! जी कैसा है?"

"ठीक है स्वामी।"

"लगता है, कोई रोग है!"

"जी नहीं।" रेणुका ने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया। इस प्रसंग पर बातचीत करना उसे रुचिकर नहीं लगा। मगर जमदग्नि फिर प्रश्न कर बैठे, "तो फिर तुम्हारा स्वास्थ्य क्यों गिरता जा रहा है?"

"इन दिनों व्रत में हूँ स्वामी!" इतना कहते ही रेणुका की दृष्टि झुक गयी और वह पाँव के अँगूठे से धरती की मिट्टी कुरेदने लगी।

"पर इन दिनों तो कोई व्रत नहीं है!"

"जी.... मैं...." रेणुका हकलाने-सी लगी। कुछ क्षण तक जब उसे कोई सांकेतिक शब्द नहीं मिले तो उस

असुविधाजनक स्थिति से उबर पाने के लिए उसे स्पष्ट कहना ही पड़ा। जी कड़ा करके वह एक ही साँस में उगल-सी गई : "ऋतुस्नान के बाद मैं हर महीने कुछ दिन उपवास करने लगी हूँ।" परंतु कहते ही उसके चेहरे पर एक विचित्र-सी लाली लकीर बनकर खिच-फैल गई।

जमदग्नि के सामने पल-भर में ही सारी वस्तुस्थिति स्पष्ट हो गई। और वह बिना एक भी शब्द कहे तत्काल वहाँ से चले गए।

उस रात तपस्वी अपनी कुटी में अकेले पड़े-पड़े ध्यान--चिन्तन की बजाय चिन्ता और ग्लानि में डूबते-उतराते रहे। रेणुका के शब्द रह-रहकर उनके कानों में गूँज-गूँज जाते और उसके मुख पर फैल जाने वाली लालिमा अंधकार की कालिख में शेर की चमकती हुई आँखों के समान उन्हें डराने लगी।

और आज एक बार फिर से उन्हें अपना सम्पूर्ण ज्ञान अधूरा और लकवाया हुआ लग उठा तथा अपनी जीवन भर की कठोर तपस्या के प्रति एक न-कुछ की अनुभूति हो आई।

रेणुका को पाँच पुत्र देकर महातपस्वी अपने विचार से आश्वस्त हो गए थे कि रेणुका के नारीत्व का लक्ष्य सिद्ध हो गया है। वेद-शास्त्रों के ज्ञान से महातपस्वी ने जाना था कि संतान ही यौन-आवेग की चरमोपलब्धि है। पर आज उन्हें अपने पाँचों पुत्र पाँच बेजान मिट्टी के खिलौने जान पड़ने लगे। और साथ ही यह भी लगा कि रेणुका अब खिलौनों से बहलने की उम्र को लाँघ चुकी है।

रेणुका की भरी-बिफरी जवानी अब जमदग्नि को किसी बाढ़ग्रस्त तूफ़ानी नदी की तरह डराने लगी और वे उस बा के प्रकोप से बचने के लिए रात भर कल्प के फैले खेतों में आश्रय ढूँढ़ते हुए बेतहा भागते रहे। पर भाग-भागकर जब थ गए और पनाह कहीं न मिली तब उन्होंने ए बूढ़े बरगद के मोटे तने को कसकर पक लिया और उसके सहारे ऊपर चढ़कर ल गए। और फिर उसी बरगद के तने लटके-लटके ही वह रेणुका की बेक बाढ़ को शास्त्रों का विधान सुनाकर श करने लगे।

अगले ही दिन से अपने व्य कार्यक्रम में से समय निकालकर वह नियमि रूप से थोड़ी-थोड़ी देर के लिए प्रायः रो ही रेणुका को उपदेश देने लगे।

महातपस्वी जमदग्नि ने गम्भीर आवा में कहा, "रेणुके! मन की प्रकृति चंच अश्व की-सी होती है।"

रेणुका ने लज्जा डूबे अनमने स्वर हुँकार भर दिया, "जी!"

तपस्वी का उपदेश फिर गूँज उठा : "औ संयम की लगाम से उस अश्व की गति दिशा देना विवेक के सारथी का काम है।"

"जी।"

"नारीत्व की चरम परिणति मातृ में है।"

"जी।"

जमदग्नि ने इस बार रेणुका को ए अर्थपूर्ण दृष्टि से सिर से पाँव तक देखा। दे का अंदाज़ कुछ इस क़िस्म का था कि रेणु देखो, मैं तुम्हें किस दृष्टि से देख रहा! जब जमदग्नि आश्वस्त हो गए कि रेणु ने उन निगाहों का अर्थ पकड़ लिया है अपने पहले कहे हुए वाक्य के आगे की

जोड़ते हुए शब्दों को टिका-टिकाकर कहने लगे, "मातृत्व की कामना से आगे बढ़कर यौन-वृत्ति जिस क्षेत्र में पदार्पण करती है, उसे शास्त्रों ने वासना की संज्ञा से अभिहित किया है।"

रेणुका को आँखें झुकाकर फिर कहना पड़ा : "जी।"

महामुनि ने अपना प्रवचन जारी रखा : "अतः चित्त-वृत्तियों पर अंकुश रखना मनुष्य का धर्म है। इसी धर्म से च्युत होना अधर्म है, पाप है, महानाश का लक्षण है. . . ."

परन्तु महानाश के यह सब डरावे भी रेणुका के उस अश्व की गति को दिशा न दे सके।

और महातपस्वी जमदग्नि अपने नित्य के प्रवचनों के बावजूद यह देखते रहे कि रेणुका को हर महीने ऋतुस्नान के बाद निराहार व्रत रखने की ज़रूरत पड़ रही है।

रेणुका को व्रत में देखकर जमदग्नि के सामने हर बार अपने ज्ञान की निरर्थकता उजागर हो-हो आती। मगर उन्होंने अपने प्रवचन वाले कार्यक्रम को नहीं छोड़ा। उस बरगद के तने को छोड़कर त्राण का कोई दूसरा उपाय उनके सामने नहीं आ पाया।

●

और इसी तरह महीने और वर्ष सरकते गए। पन्द्रह बसंत आए, पर रेणुका ने पतझर समझकर बिता दिए।

पाँचों नन्हें बेटे अब किशोरावस्था को प्राप्त कर चले थे। रेणुका बराबर अपने भीतर के अंधड़ों को अपने कवच से दबाए रही। आवेगों का दमन करते करते वह विक्षिप्त-सी हो गयी थी। पर हर ऋतुस्नान के बाद वह व्रत रखना कभी न भूलती थी।

एक दिन की बात है कि उसके पाँचों पुत्र फल लेने गये हुए थे। पति तपस्या में तल्लीन थे और रेणुका व्रत में थी। जी गिरा-गिरा-सा हो रहा था। आलस्य उसके अंग-अंग को निढाल किए हुए था। इसी से स्नान करने के लिए वह देर से निकली।

सन् १९५१–५२ की बात है। गुजरात के प्रख्यात साहित्यकार विजयराय वैद्य की मासिक पत्रिका 'मानसी' आर्थिक संकट में पड़ गई। संकट-काल से मुक्ति पाने के लिए विजयराय वैद्य के मित्रों ने नवसारी नगर में एक संगीत-समारोह के आयोजन का निश्चय किया। इसके लिए, सरकारी अनुमति की आवश्यकता पड़ी। अतः प्रार्थना-पत्र दिया गया। प्रार्थना-पत्र अँग्रेज़ी में था और उसमें लिखा था : 'टु कलेक्ट फंड फार विजयरायज मानसी' (विजयराय की मानसी के सहायतार्थ अर्थ-संचय के लिए)।

हफ्ते भर बाद ही जवाब में सरकारी पत्र आया, जिसमें पूछा गया था, "विजयराज की विधवा 'मंछी' के लिए आपलोग कितनी रक़म इकट्ठी करना चाहते हैं? फिर ये विजयराय कौन थे, यह भी बताइएगा। यह जानने के बाद ही कुछ निर्णय हो सकता है।"

स्नान-ध्यान करके जब रेणुका अपने आश्रम को लौट रही थी, तब सहसा उसकी दृष्टि जल-क्रीड़ा करते हुए राजा चित्ररथ पर जा पड़ी। नग्नप्राय अवस्था में उस युवक राजा को देखकर रेणुका के भीतर कुछ कसक-कड़क उठा।

बरसों तक जिस आवेग को वह अपने

हठ के कवच से ढके-दबाए रही थी, वह आज क़ाबू से बाहर हो गया था। उस क्षण रेणुका को स्पष्ट आभास हुआ कि वह कवच टूट गिरा है।

कवच टूटते ही दमित अग्नि भड़-भड़ जल उठी और रेणुका वहीं-की-वहीं ठिठक गयी। लाख चाहने पर भी उसके क़दमों ने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। उसने विवेक के ठण्डे छींटे मार-मारकर बेतरह उस आग को बुझाना चाहा। जलती हुई आँखों को ज़ोर-ज़बरदस्ती मींच-मींचकर उसने उस तरफ़ से हटाना चाहा, जहाँ चित्ररथ नहा रहा था। चित्ररथ का एक-एक अंग उसे कल्पना ही कल्पना में जकड़ता चला गया। उस युवक राजा की मांसल-गरिमा की कल्पना ने रेणुका को भीतर बहुत गहरे तक छू दिया। और उस गर्म छुअन ने कुछ ऐसा कर दिया कि विवेक को अंतर्वेग ने दबोच लिया और रेणुका की रगों में वर्षों से रुका हुआ 'कुछ' बाँध तोड़ने पर उतारू हो उठा।

परन्तु फिर भी जब वह उफान किनारे काटने लगा तब रेणुका ने इस बुरी तरह अपने को झटक दिया कि उस झटके से वह लगभग टूट-सी गई।

और आश्रम पहुँचते-पहुँचते वह इस सीमा तक निढाल हो गई थी कि उसका एक-एक क़दम मन-मन का हो आया था। इस तरह अपने से लड़-लड़कर टूटी, अचेत और त्रस्त हुई रेणुका ने आश्रम में प्रवेश किया।

जमदग्नि जप समाप्त कर चुके थे। पत्नी को ऐसी स्थिति में देखकर पूछने लगे, "रेणुके ! जी कैसा है ?"

रेणुका ने अपने को चुराने का प्रयत्न करते हुए कहा, "यूँही, जरा बदन गिरा[illegible] गया है।"

"तो फिर स्नान नहीं करना [illegible] था रेणुके !"

"स्नान तो करना ही था स्वामी"

"सो क्यों ?"

"व्रत में हूँ न ।"

और फिर व्रत की बात सुनते ही ज[illegible] कुछ विचित्र असुविधाजनक मनःस्थि[illegible] आ गए। बात को आगे बढ़ाने को [illegible] हुआ। आत्मग्लानि और वितृष्णा के [illegible] जुले भावों में डूबते-उतराते वे बाह[illegible] गए।

रेणुका वहीं एक कोने में तृण[illegible] पर बिछ गई। लेटी-लेटी ही अपने [illegible] जूझती-भिड़ती रही। रह-रहकर [illegible] आँखों के सामने राजा चित्ररथ का [illegible] सुडौल शरीर झूम-झूम जाता और वह [illegible] बेचैन हो छिड़-थिरक पड़ती। जल-[illegible] करते हुए मदमस्त पौरुष की एक-एक [illegible] रेणुका की कल्पना को गुदगुदा कर[illegible] पोर-पोर में एक अचीन्ही पीर रसम[illegible] थी। अनियंत्रित आवेग के उन [illegible] उसे धकिया-थकाकर स्वेद कणों से [illegible] दिया। उसे लगा कि वह गली-घुल[illegible] रही है।

"....उफ !" रेणुका के मुँह से [illegible] यास यह शब्द कुछ इस तरह फिसल[illegible] गोया वह कहना चाह उठी हो कि "[illegible] नहीं सहा जाएगा।" उसे लगा कि [illegible] स्पंदनों की गति सीमा-रेख लाँघ गई [illegible]

रेणुका ने जल्दी से उठकर कोने [illegible] मिट्टी के पात्र में से पानी का कटोरा [illegible] और गट्ट-गट्ट कर एक ही साँस में पी [illegible]

फिर बाहर निकलकर आँगन में टहलती हुई फिर मन-ही-मन गायत्री-मंत्र का जाप करने लगी।

थोड़ी देर बाद जब जी कुछ टिका तब फिर से कुटी में जाकर तृण-शैय्या पर लेट गई। मगर नींद फिर भी नहीं आई। घंटों लेटी-लेटी करवटें बदलती रही।

तिनकों पर करवटें लेते-लेते रेणुका को अपने तन पर तिनके रेंगते हुए अनुभव होने लगे। इस सरसराहटी अनुभूति ने उसके अंग-अंग में फिर से झुरझुरी तैरा दी, जो धीरे-धीरे उसके पोर-पोर में रमती चली गई।

रेणुका को ऐसा जान पड़ा कि जमदग्नि की कठिन तपस्या भी उनके विकारों का ठीक वैसा ही कवच है जैसा कि रेणुका ने अपने आवेगों को ओढ़ा रखा था। अंतर सिर्फ़ इतना लगा कि पति का कवच एक कमज़ोरी का कफ़न था और उसका कवच एक उफनते जल वाले पात्र का ढक्कन। कफ़न के नीचे शव है और ढक्कन तले है उबाल।

ऐसा विश्लेषण करते ही रेणुका को अपनी धमनियों में लावा उबलता हुआ महसूस होने लगा। लावे की तपन उससे सहते नहीं बन रही थी। उसके नथुनों से गर्म भाप निकलनी शुरू हो गई। और कुछ ही देर बाद वह इस हद तक हाँफने लगी कि उससे लेटे रहना मुश्किल हो गया।

रात आधी से ज्यादा बीत चली थी। जमदग्नि आँगन पार वाली अपनी कुटिया में सोए पड़े थे। रेणुका अपनी कुटी में रगों में उबलते लावे से परेशान पड़ी छटपटा रही थी। नासिका-रंध्रों से निकलनेवाली गर्म भाप उसे बुरी तरह तपा रही थी।

और फिर जब उस भाप ने संयम और विवेक के ढक्कन को उछाल फेंका तब रेणुका वहाँ पड़ी न रह सकी। बेक़ाबू होकर उठ पड़ी और बिना कुछ सोचे-विचारे बाहर निकल गई। तेज़ क़दमों से आँगन पार किया और सीधे पति की कुटी में जा पहुँची।

रेणुका के पैरों की आहट पाकर जमदग्नि की आँख खुल गई। भीतर अँधेरा होने के कारण वह उसे पहचान न सके। पूछा, "कौन है?"

"मैं हूँ स्वामी।" रेणुका की आवाज़ में कम्पन था। जमदग्नि उठकर बैठ गए। कुछ क्षण रुककर पूछने लगे, "क्या बात है रेणुके?"

और उस क्षण रेणुका को अपने भीतर का लावा फट पड़ा जान पड़ा। उस भूकम्प के धक्के से उछलकर वह पति के पैरों पर जा गिरी और गिड़गिड़ाकर कह उठी, "आपकी धर्मपत्नी आपसे ऋतुदान माँगने आई है स्वामी!"

जमदग्नि पत्नी के मुँह से यह शब्द सुनकर स्तंभित रह गए। उन्हें उस समय कुछ भी सुनाई नहीं दिया कि स्थिति को किस तरह सम्हाला जाए। उनके पैरों में लिपटी पड़ी रेणुका सुबकती रही। और जमदग्नि पत्थर की मूर्त्ति बने ख़ामोश बैठे रहे।

रेणुका को इस मनःस्थिति में देखकर जमदग्नि को अपनी वर्षों पूर्व की वह दशा स्मरण हो आई, जिससे मजबूर होकर वह राजा प्रसेनजित के द्वार पर जा पहुँचे थे। तब उन्होंने निःसंकोच होकर अपना आशय राजा के सामने प्रकट कर डाला था।

और आज उसी संकोचरहित भाव से रेणुका ने अपनी माँग उनके आगे सरका

दी। यह देखकर जमदग्नि बड़े धर्म-संकट की स्थिति में आ पड़े। सोचने लगे : पत्नी द्वारा ऋतुदान की माँग सर्वथा नीतिसंगत है और मुझमें वह दान देने की सामर्थ्य नहीं। तो फिर ऐसे में मुझे क्या करना होगा ?

इसी उचित-अनुचित के जाल में उलझते हुए जमदग्नि घंटों इसी मुद्रा में बैठे रहे। रेणुका उसी तरह तपती-सिसकती अर्द्ध-विक्षिप्त-सी उनके पैरों में लिपटी पड़ी रही।

बाहर पौ फटने लगी थी। पक्षियों का कलरव रात के सन्नाटे को विदाई दे रहा था। आँगन के एक कोने में बँधी गाय रम्भाने लगी तो सबसे बड़े पुत्र रुक्मवान् ने उठकर उसके आगे चारा डाल दिया। सुषेण, वसु और विश्वासु आश्रम की सफ़ाई करने लगे। परशुराम कुल्हाड़ा लेकर जंगल में समिधा लाने के लिए चला गया।

परन्तु जमदग्नि अभी तक उस गुत्थी को सुलझा नहीं पाए थे। पूजा का समय निकला जा रहा था। नित्य के इस अनिवार्य कर्म में जिस कारण अवरोध उत्पन्न हो रहा था उसकी अपेक्षाकृत तुच्छता का विचार आते ही महातपस्वी झुंझला उठे। कुछ देर पहले का उचित-अनुचित का विचार अब धुँधला चला था।

पूरी परिस्थिति अब जो रूप धर कर जमदग्नि के सामने उपस्थित हुई, उसे देखकर वह और भी ग़ुस्से में भर आए। विचार आया कि ऐसे में अगर रेणुका किसी अन्य पुरुष से भी ऋतुदान माँग बैठे, तो भी वह अनैतिक नहीं। क्योंकि प्रचलित नैतिकता में इसके लिए विधान है। इसके अलावा उस 'दान' के फलस्वरूप उत्पन्न संतान भी मेरी ही संतान कहलाएगी। तो क्या भृगुवंश अपने ऊँचे मस्तक पर संतान का काला टीका सहन कर ले

इस आशंका ने तो जमदग्नि की क्रो को और भी भड़का दिया। और फि आग के सेंक में जब उन्हें यह लगा कि वर्षों का उपदेश इस नारी ने निष्फ दिया है और संयम के सारे प्रवचन कर भी इसके विकार का शमन कर पाए हैं तो महातपस्वी का अहं सिंह की तरह गरज उठा। के 'महापुरुष' का घायल दर्प अपने मंदिर के कंगूरे पर चढ़कर फुंकार और ऋचीकनंदन जमदग्नि के मुँह से के स्वर में निकल पड़ा : "कुलकलंकि तू ब्रह्म-तेज से च्युत हुई। धिक्का तेरे जीवन पर।"

इतना कहते ही जमदग्नि ने अपने में लिपटी रेणुका को ठोकर मार क गिरा दिया और क्रोध में काँपते हुए खड़े हो गए।

फिर उसी भयानक स्वर में वह पड़े, "रुक्मवान !"

बाहर आँगन में गाय के नीचे बैठ निकालता हुआ रुक्मवान पिता की सुनकर दौड़ा-दौड़ा भीतर आया और बाँधकर खड़ा हो गया—"क्या आ पिताजी ?"

घुटनों में मुँह डालकर रोती हुई की ओर तर्जनी का संकेत करते हुए बोले, "रुक्मवान ! अपनी इस पापिनी को अभी मार डालो !"

रुक्मवान कुछ पल तो किंकर्तव्य खड़ा स्थिति को समझ पाने का प्रयास करता रहा; फिर उस

तरह हाथ बाँध लिए, सिर झुका लिया और नम्र स्वर में पूछने लगा, "पिताजी ! माता जी पर आपका इतना क्रोध किस कारण है ?"

पुत्र के इस प्रश्न ने जमदग्नि के गुस्से की आग में घी डाल दिया। वह बोले, "तुम्हारा कर्त्तव्य पिता का आज्ञा-पालन है या विवाद करना ?"

"मैं विवाद नहीं कर रहा पिताजी, परन्तु यह मातृवध-सा जघन्य कर्म मुझसे बन नहीं पड़ेगा। विवश हूँ। क्षमा करें!" रुक्मवान का इनकार सुनकर महातपस्वी की आँखों से अंगार बरस पड़े। चिंघाड़ती आवाज़ में जमदग्नि बोले, "क्या कहा ! इतना दुस्साहस ! मेरे आदेश का अपमान ! जाओ तुम्हें शाप देता हूँ कि तुम अभी, इसी क्षण जड़-बुद्धि हो जाओ !"

रुक्मवान को शाप देकर जमदग्नि दूसरे पुत्रों को पुकारते-पुकारते द्वार तक गए। आँगन बुहारते हुए सुषेण, वसु और विश्वासु पुकार सुनकर तुरंत भीतर चले आए।

उन्होंने देखा, पिता क्रोध में भरे खड़े हैं; माता बैठी रो रही हैं; बड़ा भाई बौराया-सा खड़ा है। ऐसी स्थिति देखते ही तीनों हक्के-बक्के खड़े रह गए और फिर ऊपर से गरजते स्वर में पिता का आदेश गूँज उठा, "सुषेण ! अपनी माता का बध कर दो !"

सुषेण को लगा जैसे किसी ने उसके सिर में मूगरी मार दी है। उसकी ज़बान तक को जैसे लकवा मार गया। कई क्षणों तक जब वह कुछ न बोला, तब जमदग्नि ने वसु को संबोधित कर पूछा, "वसु, तुम ?"

वसु भी चुपचाप सिर झुकाए खड़ा रहा। उसकी ओर से भी जब कोई उत्तर नहीं आया तब जमदग्नि के स्वर में आक्रोश तड़प उठा। विश्वासु की ओर देखकर बोले, विश्वासु, बोलो तुम क्या कहते हो ?"

विश्वासु भी ठगा-सा खड़ा रह गया। कोई जवाब न दे सका। इस पर जमदग्नि उन तीनों की ओर आग्नेय नेत्रों से देखते हुए दहाड़ पड़े, "तुम तीनों की विचार-शक्ति भी अभी नष्ट हो जाय ! जाओ यह मेरा शाप है।"

इतने में पाँचवा पुत्र परशुराम समिधा का गट्ठर सिर पर लादे हुए लौट आया। पिता की दहाड़ सुनी तो गट्ठर पटक कर भीतर लपक आया। कुल्हाड़ा अभी भी उसके हाथ में ही था।

जमदग्नि ने उसे देखते ही आदेश दे डाला, "परशुराम ! अपनी इस पापिनी माँ को अभी इसी कुल्हाड़े से दो टूक कर दो !"

आदेश सुनते ही परशुराम ने आव देखा न ताव, झट-से कुल्हाड़ा उठाया और रोती हुई माँ के सिर पर खड़ाच् से दे मारा। कुल्हाड़ा लगते ही खोपड़ी दो फाँक हो गई, लहू की तेज़ पिचकारी-सी फूट पड़ी और देखते-ही-देखते रेणुका का शरीर एक बार फड़फड़ाकर ढेर हो गया।

●

और फिर यही जमदग्नि-नन्दन परशुराम आगे चलकर भगवान परशुराम के नाम से प्रसिद्ध हुए। और इनकी यही शोणित स्पृहा बाद में धर्म का कवच ओढ़कर क्षत्रिय-संहार के रूप में सामने आयी। इन्होंने इक्कीस बार इस पृथ्वी को क्षत्रियहीन कर दिया और समंतपंचक नामक क्षेत्र में पाँच सरोवर खून से भर डाले।

● ● ●

इन्दु जैन

*

*

होठ सी कर
हाथों में हथकड़ी डाल ली है,
गति बाँध दी है,
गले में फंदा पहन
डोर तुम्हें सौंप दी है--
मैंने ।

आँखें भी कर लूँगी बन्द
और तुम्हारी मुट्ठी में दबे
भवितव्य के सहारे
छोड़ दूँगी

अपने सारे किनारे--
तूफ़ान--
रेत के घरौंदे--
सीपी के सेतु--

प्राणार्पण की वेला में
निष्कंप रहूँगी,
तनी हुई.... सीधी....

एक कविता

पृथ्वीनाथ शास्त्री

०

ग़रीबी और अमीरी का प्रश्न आज प्रमुखता के साथ चतुर्दिक मुखर है। पर ऊपरी सोच-विचार से कोई छोर हाथ नहीं आ पाता। आवश्यकता गहराई छूने की है——इसी संदर्भ में प्रस्तुत हैं वे तथ्य जो हमें किसी निष्कर्ष तक ले जाने में सहायक हो सकते हैं।

०

प्रश्न :

(१) भारत में ग़रीबों की वास्तविक संख्या कितनी है? और उनकी ग़रीबी का मापदण्ड क्या है? औसत आय?

(२) सरकारी पदाधिकारी और कांग्रेसजन 'सादा जीवन उच्च विचार' की प्रतिमूर्त्ति क्यों नहीं बनते, गद्दी से चिपके क्यों रहना चाहते हैं? केरल की कम्युनिस्ट सरकार के मंत्री ५००) प्रतिमास लेते थे। दूसरी सरकारों के मंत्री क्या ऐसा नहीं कर सकते? क्या आय की सीमा बाँधने की यह सबसे अच्छी मिसाल नहीं होगी?

(३) खेती-बारी की उपज के दाम बढ़ते ही इतनी 'चिल्लपों' क्यों मचने

ग़रीबी और अमीरी प्रश्नों के प्रकाश में

लगती है ? सभी चीजों के दाम बढ़ रहे हैं। सरकारी योजनाओं में करोड़ों की लागत और बढ़ गयी है चूँकि विश्व-व्यापार में चीज़ों की क़ीमतें बढ़ गयी हैं। बेचारे खेतिहरों को ही तब क्यों नुक़सान हो ?

(४) अधिकांश कृषक-मजूरों को भुखमरी, जहालत, बीमारी, और महाजनी चंगुल से छुटकारा क्यों नहीं मिलता ? १५ अगस्त १९४७ और २६ जनवरी १९५० को जो उम्मीदें बँधायी गयी थीं वे कभी पूरी होंगी भी या नहीं ? पक्की दीवारों और छतों वाले कोठे-काठरियाँ तो अभी उनके लिए सपने हैं पर जब कुछ असहाय औरतें-बच्चे तन ढकने को कपड़े और पेट भरने को दाने भी नहीं जुटा पाते तब आक्रोश होना स्वाभाविक है। बहुत-से कृषक-मजूरों की अपनी जमीनें नहीं हैं। साल में आधे दिन उन्हें मजूरी तक नहीं मिलती। जो शहर जाते हैं, वे तरह-तरह की बीमारी लेकर गाँव लौटते हैं। सैकड़ों में से एकाध ही अच्छी हालत में आता है, नहीं तो सत्तू खाकर और कुली-मजदूर बनकर वे अपना 'सर्वस्व' शहर को ही दे आते हैं। इसकी रोक-थाम का क्या कोई उपाय नहीं है, हमारी अपनी सरकार के पास ?....

(५) क्या धरम-करम, नीति-आचार, संयुक्त परिवार, हमारी घरेलू दुनिया के मौज-मज़े—ये सब भारत-भूमि से उठ जायेंगे ? हम क्या 'इंगलिस्तानी' बनकर ही उन्नति कर सकेंगे ? तरक्क़ी का रास्ता क्या सिर्फ़ पँछाह-वालों के ही कब्जे में है ? सब जगह—अर्दली से लेकर राष्ट्रपति तक—अँग्रेज़ी का ही बोलबाला है। उस दिन एक चलचित्र में भारत के राष्ट्रपति और नेपाल के महाराज की मुलाक़ात देखी। अपने राष्ट्रपति तो अँग्रेज़ी में बोले और नेपाल के महाराजा अपनी नेवाड़ी में। बताइये तो यह हालत कब तक रहेगी ? गाँधी बाबा ने बुढ़ापे में भी उर्दू-बँगला सीखी थी, लेकिन १६ बरस के दौरान में भी हमारे कुछ नेताओं ने हिन्दी के चार लफ्ज तक नहीं सीखे ? क्या अँग्रेजी और 'अँग्रेजियत' हमारे सिर पर 'भूत' की तरह सदा लदी रहेंगी ?....

उत्तर :

ये प्रश्न समय-समय पर हमारे सामने आते हैं—किसी न-किसी रूप में मुझसे भी पूछे गए हैं। उत्तर में समस्या और समाधान का जो रूप मेरे चिन्तन-मनन में या वाद-प्रतिवाद में सामने आया उसे यों प्रस्तुत किया जा सकता है :

प्रगति : एक प्रश्नचिन्ह

भारत के युग-युग के इतिहास में सर्वोन्नित सत्ता का उद्दाम विकास और सम्पत्ति का उन्मत्त विलास सदा-सर्वत्र दरिद्रता के साथ-साथ युगपत् दिखाई देता रहा है। प्राचुर्य और अभाव के द्वन्द्व से, तीव्र कष्टकर अनुभूति से, सारे ईमानदार जननेता जनता का परित्राण चाहते रहे हैं किन्तु अभीतक सफल नहीं हुए।

और आज तो वे स्वयं ही सहयोग और प्रतिद्वन्द्विता, पार्टी और मॉनोपली उपयोग और उपभोग, सत्ता और संपत्ति आदि के आधुनिक द्वन्द्वों में बुरी तरह फँस गए हैं। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के मूलतत्व समन्वय की भावना को वे सर्वत्र भक्त की तरह अपनाते हैं। फलतः पूँजीवाद और समाजवाद में गठ-बंधन, राष्ट्रीयता और अन्तरराष्ट्रीयता में मेल-मिलाप, राजनीति और 'धर्म' का अन्तर्विरोधापहार, आत्महित और जगत्कल्याण की युगपत्साधना उनके आदर्श बन जाते हैं। परन्तु इनकी पूर्त्ति के लिए महान् स्वार्थ-त्याग और 'अना-शक्तियोग' की जरूरत है। इनका दिनों-दिन उनमें अभाव होता जा रहा है। अहिंसा और शान्ति कायरता में परिणत होने लगी है। निष्पक्षता और त्यागवृत्ति उदासीनता बन बैठी है। उदारता अपने देश में न बरत कर संसार के किसी कोने में व्यक्त की जाती है।

ग़रीबी का प्रश्न भी इसी सदर्भ में विचारणीय है। आँकड़े न तो डॉ० राममनोहर लोहिया के पूरी तरह सही हैं और न श्री नेहरू या श्री नन्दा के ही। प्रो० रंगा के अनुसार श्री प्रशान्त महलानबीस का भी अगर यही मत है कि भारत की साठ प्रतिशत आबादी की औसत आय ५ आने प्रति व्यक्ति है,तो शायद यही ज्यादा सही है। ठीक तो उनकी रिपोर्ट से ही पता लगेगा। निकट भविष्य में शायद यह प्रकाशित होगी।

ग़रीबी के सवाल के साथ ही कुछ और भी अन्य सवाल जुड़े हैं : जैसे कम-से-कम बीस करोड़ की आबादी—भयकर ग़रीबी में—कैसे और क्योंकर जी रही है ? क्या ये ही वे लोग हैं जिनके जीवन की प्रत्याशा पिछले दस बरस में ३२ से ४२ हो गयी है ? क्या इन्हीं की मृत्युसंख्या सन् ४७ में प्रतिहज़ार १९.७ थी जो अब सिर्फ़ ४ प्रतिहज़ार है ? क्या इन्हीं के ८६ प्रतिशत स्कूल जाने लायक बच्चे शिक्षा पा रहे हैं ?....

सच तो यही जान पड़ता है कि ४५ करोड़ की आबादी में से सिर्फ़ बीस प्रति-शत लोग ही ऐसे हैं, जिन्हें एक प्रतिशत सम्पन्न व्यक्तियों के मुक़ाबले में 'आदमी' माना जा सकता है। बाक़ी के अस्सी प्रतिशत में से लगभग बीस प्रतिशत निम्न-मध्य वर्ग के हैं और शेष साठ प्रतिशत लोग ग़रीब। इनमें भूखों मरने वाले हैं—यानी वे भी जिन्हें भरपेट खाना नहीं मिलता, जो पौष्टिक तत्ववाली ख़ुराक के दर्शन नहीं कर पाते। और इन्हीं में दोनों जून पेट भर सकने वाले भी हैं। इसमें से हर एक का मासिक व्यय साढ़े नौ रुपए से साढ़े अट्ठाईस रु. तक हो सकता है। न्यूट्रिशन कमिटी की रिपोर्ट में, कई साल पहले, जब क़ीमतें कुछ कम ही थीं, कहा गया कि प्रत्येक भारतीय के लिए कम-से-कम पैंतीस रु. प्रतिमास तो खाने के लिए ही चाहिए। तब ये लोग क्या खाते हैं, क्या पहनते हैं, कहाँ सर छुपाने का बन्दो-बस्त करते हैं ? सेहत की देखभाल, शिक्षा, मनोरंजन, बच्चों के खिलौने और

बीवी की साड़ियों पर क्या खर्च करते हैं, यह श्री नेहरू, नन्दा या 'नेशनल सेम्पल सर्वे' वाले ही बता सकते हैं। संसद में श्री मोरारका और हिम्मतसिंहका ने उपभोग की मदों पर मात्रा और व्यय की बढ़ती बताकर इन लोगों की खुशहाली का हवाला दिया था, किन्तु उसका कच्चा चिट्ठा यह है कि नमक, दियासलाई, साबुन और कच्चे तम्बाकू के उपभोग में कोई ख़ास बढ़ती नहीं हुई जबकि कपड़े, चाय, कॉफ़ी और शक्कर में हुई है। कारण, इसी दौरान में शहरों की आबादी दुगुनी हो गयी है और शहरियों और देहातियों की आय (प्रतिदिन एवं प्रतिव्यक्ति) में तो अन्तर रहता ही है। अतः शहरियों के ज्यादा काम आने वाली चीज़ों में काफ़ी बढ़ती हुई है। यही बात सिलाई की मशीन, साईकिल की ख़रीदारी और सिनेमा देखने वालों की सख्या के आँकड़ों से भी स्पष्ट होती है।

यही हाल शिक्षा का भी है। १९५१ में साक्षरता १६.६ प्रतिशत थी, १९६१ में यह २४.० प्रतिशत हो गयी। प्रारम्भिक शिक्षा में १.५७ करोड़ बच्चों के नाम लिखे गए थे, १९४९–५१ में। १९६१ में ये ही ३.९४ करोड़ हो गए। दुगुने से भी ज्यादा। शहरों में अधिक, गाँवों में कम। इसी अवधि में क्रमशः फ़ीस से प्राप्त ख़र्चा २१ से ७० करोड़ हो गया और सरकारी ख़र्चा, ५८ से २४९ करोड़। आबादी भी इन बारह सालों में लगभग २७ प्रतिशत बढ़ी है।

यह साफ़ है कि ग़रीबी की नाप-जोख का ऐसा कोई निर्विवाद तरीक़ा न तो सरकार ने अपनाया है और न किसी विरोधी दल ने या निजी क्षेत्र के 'जनसेवक' ने, जिससे कि करोड़ों की यथार्थ आर्थिक हालत का ठीक-ठीक चित्र सामने उभर आता।

निष्पक्ष दृष्टि से यही कहा जा सकता है कि १६ बरस की आज़ादी के बाद भी क़रीब तीन-चौथाई आबादी की माली हालत में कोई ख़ास तबदीली या तरक्क़ी नहीं हुई है। ग़रीब आज भी उतने ही ग़रीब हैं। कुल जमा राष्ट्रीय आय पिछले दस बरस में क़रीबन ४५ पाइण्ट बढ़ी है और प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय २० पाइण्ट, लेकिन साथ ही कर और क़ीमतें भी इतनी बढ़ी हैं कि इसका कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।

अतः यह कहना कि प्रतिव्यक्ति आय बढ़ी है ग़रीबों की उपभोग-क्षमता के संदर्भ में कोई विशेष मानी नहीं रखता। कुल राष्ट्रीय आय पर करवृद्धि भी कम नहीं हुई। ५५–५६ में जबकि राष्ट्रीय आय ९९८० करोड़ थी, कर ७६१·१ था। अब ६३–६४ में ये संख्याएँ क्रमशः १६००० करोड़ और २०७२·९ करोड़ हो जावेंगी।

यह गत्यवरोध !

सचमुच मंत्रियों और मंत्रिमंडलों के खर्च काफ़ी बढ़ गए हैं। नेहरू जी पर या अन्य मंत्रियों पर सरकारी कोष से कितना व्यय होता है, इसका ठीक-ठीक लेखा-जोखा तो मुश्किल है। एक संसद-सदस्य ने इससे संबधित काग़-ज़ात मँगाने की ज़िद की तो उसे सदन से बाहर होना पड़ा था! इस बारे में डॉ० लोहिया के कथनों का खंडन आँकड़े रखकर कभी नहीं किया गया है। क्या मंत्रियों की सुख-सुविधा पर वेतन के अतिरिक्त लगभग ७ हज़ार रुपए प्रतिमास प्रतिव्यक्ति व्यय होता है? इस संदर्भ में हाल ही में सरकारी प्रवक्ता ने संसद को आश्वासन दिया है कि अनुमानित व्यय के आँकड़े सदन के सामने प्रस्तुत किए जाएँगे। केन्द्रीय और राज्य सरकारों में मंत्रियों की संख्या में कमी, उनकी यात्राओं और बिजली व टेलीफ़ोन के बिलों की हद बाँधना फ़िज़ूलखर्ची के प्रति सरकारी जागरूकता के लक्षण हैं पर ये क़दम पहले ही क्यों नहीं उठाए गए, इसका कौन जवाब देगा? पार्टी के दीर्घकाल-व्यापी शासन का यही फल है। दूसरी पार्टी कोई है भी नहीं इतनी मज़बूत! यही दुर्भाग्य है।

भारत में अभी औसत आदमी की खुराक में सिर्फ़ ३०० कैलोरियाँ बढ़ी हैं अर्थात् कुल २१०० सौ (औसत खुराक़) हैं। पर समृद्ध और उन्नत देशों में इसकी चौगुनी खुराक 'औसत' मानी जाती है। इसी के नतीजे होते हैं—वहाँ के आदमियों की अच्छी बढ़वार, काम करने की अधिक शक्ति, सोचने का ज्यादा माद्दा, उत्पादन एवं सुरक्षा में प्रगति।

पैदावार की कमी और पैदाइश की बढ़ती—हमारी सारी समस्याओं के ये दो छोर हैं। समाज के शासक और नेतृवर्ग में अगर त्याग और तपस्या, कष्ट-सहिष्णुता और मितव्ययिता के दृष्टान्त बनने की प्रवृत्ति और क्षमता होती है तो 'यथा राजा तथा प्रजा' सर्वत्र व्यवहार्य पद्धति बन जाती है।

राष्ट्रीय सम्मान की भावना या प्रतिष्ठा तो कोरी शान-शौक़त दिखाने से नहीं होती। जो देश अन्न के लिए अभी दूसरों का मुहताज हो, जिसकी विकास-योजनाओं में—३१ मार्च ६४ तक—७२८६ करोड़ का क़र्ज लिया जा रहा हो, और जिसे विदेशों में १७६९ करोड़ और देना हो उसकी थोथी प्रदर्शनी प्रवृत्ति—क्रूर तरीके में—मजाकिया ही मानी जा

> **रूसी उपन्यास-लेखक दास्तावस्की की पुत्री ने अपनी आत्मकथा में तुर्गनेव को 'प्रवासी रसियन' कहा है; और यह भी कि यदि उसके पिता की रचनाओं में राष्ट्रीय-स्वर अधिक मुखर है, तो इसका कारण यही है कि वे घूमते हुए कभी नहीं लिख पाते थे—जो कुछ लिखा, अपने देश और घर में बैठकर लिखा। अधिकांश अमेरिकन लेखक भी यह स्वीकारते हैं कि प्रवास पर रहते समय लेखन में सहजता नहीं रहती।**

सकती है।

कहीं भी चले जाइए, गरीबी की नग्नता मुँह बाए खड़ी रहती है। गोबर में अनाज के दाने बीनकर खाना, जूठन के लिए कुत्तों से लड़ना, भुखमरी से परेशान होकर आत्महत्या कर लेना जहाँ मानवीय विवेक और अनुभूति को नहीं कचोटते, वहीं तो शादी-ब्याह, सरकारी दावत और जलसे आदि में लाखों खर्चे जा सकते हैं। एक ओर संस्कृति और मानवतावादी दर्शन की चीख़-पुकार, दूसरी ओर यह अमानवीय औदासीन्य—इसे नेता और समाज के मुखिया नहीं तो और कौन रोकेगा? प्रस्तर या पित्तल की मूर्ति बनाकर महात्मा गान्धी को खड़ा करने से क्या लाभ, अगर उनके 'सप्त महाव्रतों' को मानने के लिए कोई भी तैयार नहीं है?

ये 'प्रतिप्रश्न' इसलिए हैं कि, वास्तव में, कुछ प्रश्नों के उत्तर प्रश्नों के रूप में ही दिए जा सकते हैं! उन्हीं से उनका 'मर्म' उघड़ता है। ज़मीन और व्यक्तिगत आय पर—भारत में पूर्ण विकास की स्वकीय क्षमता न आने तक—हदबन्दी शायद ठीक हो! शायद राजनैतिक सत्ता और आर्थिक शक्ति समाज स्वत्वीकरण भी ठीक हो, पर इतना ध्यान रहे कि व्यक्तिगत और आर्थिक वैषम्य पूर्णतः कोई नहीं मिटा सकता। शक्ति और संपत्ति का प्रजातंत्रीय समाज स्वत्वीकरण तो इस रूप में भी हो सकता है कि सारी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं का प्रबन्ध जन-समितियों द्वारा हो और उन जन-समितियों का आवधिक निर्वाचन व्यवस्था-विशेष से नियंत्रित एवं परिचालित व्यक्तियों एवं संस्थाओं द्वारा हो। असाधारण व्यक्ति-शासन के भय से साधारण जन या व्यक्ति तभी मुक्त हो सकेगा। नहीं तो क्रांतियाँ ही होती रहेंगी। और वास्तविक क्रांति कभी अहिंसक और संरक्षणशील नहीं होती। १९४७ के बाद की खून-खराबी इस संदर्भ में याद रहनी चाहिए।

बहुत अधिक वेतन लेने वाले जब बहुत अधिक नफ़ा करने वालों से कुछ कहते हैं, तो वह बड़ा ही हास्यास्पद होता है। यह तो सत्ता को अधिगत या सत्ताधीशों को प्रभावित करने के लिए संघर्ष भर होता है। वर्तमान परिस्थितियों में, प्रति सक्षम व्यक्ति १०००) की मासिक आय अथवा ५ एकड़ उपजाऊ जमीन वैयक्तिक आय एवं मिल्कियत की हदें बनें तो यही क्रम उपयोग की अन्य वस्तुओं एवं आवास आदि के मूल्य-निर्धारण पर चलाया जाय। उत्पादन की सभी तरह की यूनिटों पर राष्ट्र या सरकारी स्वत्व न हो तो व्यवस्थापिका-समितियों एवं उसके निर्वाचकों का हो सकता है।

पर ये बातें बहुत अहम् हैं, विचारणीय हैं। इनका यों सहजीकरण हल्की बात लगती है!

खेतीबारी की उपज की क़ीमतें : एक बैरोमीटर

हमारी जैसी आर्थिक व्यवस्था में क़ीमतों का निर्धारण बड़ा ही जटिल है। उपज की कमी या बढ़ती, माँग की बहुतायत या न्यूनता, कर एवं मुद्रा-स्फीति, संसार के व्यापार-वाणिज्य एवं निर्माण, उत्पादन तथा मुद्रा-नीति आदि के प्रभाव सभी शामिल रहते हैं। खेती-बारी की उपज में मूल्य-वृद्धि इन सभी कारणों से हो सकती है किन्तु ये ही दूसरी चीजों की मूल्यवृद्धि में बुनियादी वजहें भी बन सकती हैं। कारण, खाने की चीज़ों पर लोगों की आय का—विशेषतः अधिकांश ग़रीब भारतीयों की आय का— लगभग साठ प्रतिशत अंश खर्च होता है। अन्न और कच्चे माल की क़ीमतें बढ़ते ही निर्मित माल और दूसरी चीज़ों के दाम भी बढ़ने लगते हैं और फिर तो बस बेबसी का एक दुश्चक्र-सा घूमने लगता है। एक वस्तु की मूल्यवृद्धि का दूसरी पर भी असर होता है। मजूर मज़दूरी ज्यादा माँगते हैं, कच्चे माल वाले ज्यादा क़ीमतें। सरकार सोचती है, नफ़ा ज्यादा हो रहा है, सो अपना कर बढ़ाओ (हाथ या टैक्स ?)।....बिचौलिए भी कमीशन ज्यादा माँगते हैं। और अगर साथ ही विकासमान आर्थिक व्यवस्था में मुद्रास्फीति भी हुई तो फिर यह क्रम रोकना प्रायः असम्भव हो जाता है। तब ख़रीदारों के पास पैसे ज्यादा होते हैं, बेचने वालों के पास माल कम।

दुर्भाग्य से आज के भारत में थोड़े या बहुत ये सभी कारण मौजूद हैं। उपज की कमी पहली वजह है, तो मुद्रास्फीति दूसरी, और नफ़ाखोरी तीसरी ! इसी तरह गिनते जाइये ! बस !

उत्पादन की दृष्टि से ४८–४९ की क़ीमतों पर नेट राष्ट्रीय उत्पादन का सूचकांक ८६.५ से १२६·९ था १९६०–६१ में। किन्तु पिछले दो बरसों में कोई खास उन्नति नहीं हुई। रिज़र्व बैंक के बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स की नई रिपोर्ट में ३० जून १९६३ तक आर्थिक प्रगति की तस्वीर यही दिखाती है। खेती-बारी की दशा वही रही है और औद्योगिक प्रगति ७ से ८ पाइण्ट तक ही पहुँची है। यद्यपि तीसरी पंचवर्षीय योजना के अनुसार इसे ११ तक पहुँचना चाहिए था। क़ीमतें ६१–६२ में १.५ प्रतिशत बढ़ी थीं तो अब ४·५ प्रतिशत बढ़ी हैं (कुछ लोग आठ प्रतिशत भी बताते हैं)। खाद्य मूल्य तो निस्संदेह ७ प्रतिशत बढ़ा ही है। इधर मुद्रा-खपत (प्रसार) भी पिछले वर्ष १०·६ प्रतिशत अधिक हुई है।

संकटकालीन जोशो-ख़रोश और कमर कसने का भी इस स्थिति पर कोई असर नहीं पड़ा है। योजना की लागत ज़रूर बढ़ी है। पहले वर्ष में के १,११२ करोड़ से यह तीसरे वर्ष में १,६५० करोड़ हो गयी है। पाँच वर्षों में जो कर लगना चाहिए था, उससे ज्यादा इस तीसरे वर्ष में ही लग गया है, यानी १९०० करोड़ रुपए। लेकिन निर्यात में थोड़ी-सी वृद्धि के सिवाय प्रगति का कोई और

विशेष लक्ष्य नहीं [illegible] रहा । यही है हमारा आर्थिक गत्यवरोध । संकट-काल में आर्थिक विकास, सुरक्षा की तैयारी, योजनाएँ——इन सब बातों के प्रति जनमन में कोई उत्साह नहीं हो रहा । मानों कहीं बहुत बड़ी गड़बड़ है, भयानक गोलमाल है, जिसे कोई भी पकड़ नहीं पा रहा । सिर्फ़ डॉक्टरों की रद्दोबदल से तो मरीज़ को लाभ नहीं होता——यदि मर्ज़ का निदान ही नहीं किया जा सके ।...

लोकसभा में होती बहसों को देखकर लगता है कि जैसे किसी मरीज़ के सामने ही कुछ डाक्टर बैठे इलाज के बजाय आपस में सिर्फ़ इस बात पर झगड़ रहे हों कि किसकी जानकारी सही है, किसकी ग़लत । और अन्त में कोई-कोई तो यह भी कहने से नहीं चूकता कि 'मरीज़ के शव-परीक्षण' से उसी की बात ठीक निकलेगी । श्री नाथ पाई ने इसीलिए संसद में कहा था ; 'किसी माँ से, जिसे यह पता हो कि उसका बच्चा पौष्टिक खाद्य के अभाव से साल भर में मर जायगा, यह कहना बेकार है कि भारत में प्रतिव्यक्ति जीवन प्रत्याशा ३२ से ४२ बरस हो गयी है !'

उन्नति की प्रतिज्ञा

कटु सत्य तो यह है कि पैदाइश में कमी और पैदावार में बढ़ती जब तक नहीं होगी तब तक कुछ नहीं होगा । कृषि में विस्तार और उन्नति के लिए सामुदायिक विकास और गाँव-विस्तार की योजनाएँ अमरीकी नक़ल पर शुरू हुई थीं, लेकिन बेचारा 'गाँवसाथी' या 'ग्रामसेवक' सिर्फ़ 'सरकारी' एजेंसियों, का कार्य-साधक, छोटा-मोटा व्यापारी-सा बन गया । उसे एक मात्र धुन थी——बीज, खाद, पौध वगैरः बाँटने और उधार देने की लक्ष्यपूर्त्ति की । उसे न कुछ अधिकार थे, न सही साधन मिले । उसकी प्रशिक्षा की उतनी सबल नहीं थी ।

सहकारी कृषि-फार्म अगर पाँच करोड़ से ५० लाख बना दिये जायँ और पूरी तरह सुप्रबन्ध हो तो कुछ हो सकता है । यों अब ५-५ गाँवों की एक-एक यूनिट बनाने और खेतिहरों को मूल्य का प्रोत्साहन देने की भी घोषणा की गयी है । सारी कमियों को दूर करने की इच्छा से राष्ट्र की कमर कसी जा रही है । कृषि-सामुदायिक विकास और खाद्य-मंत्रालय के संगठनों में हेर-फेर हो रहे हैं, फिर भी कुछ कहा नहीं जा सकता । राम आसरे रहने वाले दिन तो गए, अब तो सामूहिक प्रयत्नों से ही कुछ हो सकेगा । अति-वर्षा, सूखा, बाढ़ आदि से भी जूझना होगा——सिर्फ़ प्रकृति का कोप या ईति-भीति कहना ना-काफ़ी होगा । कृषि में अनुसंधान से प्राप्त ये तथ्य——कि गेहूँ, चावल और मकई की क़िस्मों की खेती से ज्यादा लाभ होता है, कि कपास और जूट की खेती के नए तरीक़ों ने इनकी आयात बन्द करा दी है, कि गन्ने ऐसे भी होते हैं कि जिनसे पहले से शक्कर कहीं ज्यादा बन सकती है, कि रेगिस्तान की 'मार्च' रोकी जा सकती है और उसे उपजाऊ बनाया जा सकता है, कि खेती-बारी के पौधों में भी महामारियाँ फैलती हैं, जिन्हें रोका

जा सकता है--हर किसान तक पहुँचाने होंगे हमें ।

हमेशा सरकार का ही मुँह न जोहते रहें । हमें स्वयं भी अपनी ज़रूरत और माँग, हक़ और फ़र्जों को समझें, पूरा करें। उस दिन संसद में जब यह कहा गया था कि एक किसान को तक़ावी कर्ज़ में स्वीकृत ८०० में से सिर्फ़ ५० ही हाथ लगे तो सभी को बेहद तकलीफ़ हुई थी--लेकिन बीच के खानेवालों को यह हिमाक़त करने का मौक़ा ही क्यों मिला ? पंचायतें इन कामों को खुद क्यों नहीं कर सकतीं ? अगर पंच भी ईमानदार नहीं मिलते तो....

गाँवों में शुद्ध पानी या जल की व्यवस्था, आने-जाने के रास्तों का सुधार, छोट-मोटे उधोगधन्धों की शुरूआत, सिंचाई और कृषि-विभाग आदि से मिली मददों का सदुपयोग—ये सब काम पंचायत की देखरेख में हो सकते हैं। अच्छे हल एवं अन्य औजार-यंत्र आदि अगर न मिलें तो उनके लिए स्थान-स्थान पर सामूहिक रूप में माँग और आन्दोलन किए जा सकते है। और इन सबके नेतृत्व के लिए उत्साही लोगों की ही जरूरत है। समाज-सेवीगण उन्हें यह समझा सकते हैं कि दो या तीन बच्चों के बाद परिवार-नियोजन किस प्रकार हो सकता हैं, कचहरी और दफ्तरों में किसानों से मजूरों से, रिश्वत लेने वालों को किस तरह 'परास्त' किया जा सकता है। हम भारतीयों ने विप्लवी और अहिंसक उपायों से प्रतापी ब्रिटिश साम्राज्य के घुटने टिकवा दिये थे तो क्या इन 'स्वदेशी' शोषकों या भूले-भटकों के होशोहवास दुरुस्त नहीं कर सकते ?....

अबकी बार जो भी वोट माँगने आये हमें उसे साफ़-साफ़ कहना चाहिए कि पहले यहाँ बिजली लगवाइए; खाद्य, कपड़ा, तिल, गुड़, खाने और जलाने के लिए तेल, शक्कर-चीनी के कारखाने गाँवों के बीच ही खोलिए, तब हम वोट देंगे। बिजली और खेतीबारी के लिए औजार-यंत्र आदि बनाने वाले कारखाने, शिक्षा के तकनीकी स्कूल, अच्छे रास्ते, सामुदायिक सांस्कृतिक केन्द्र जबतक आपके गाँवों में नहीं खुलेंगे और उन पर ग्रामवासियों का ही समवेत आधिपत्य नहीं होगा, तब तक गाँवों की समस्याओं का समाधान कभी नहीं हो सकेगा। साथ ही जात-पाँत,धर्म-कृत्य , छुआ-छुत, शादी-ब्याह और जन्म-मृत्यु की फिजूल-खर्ची में सुधार नहीं होगा तो सामाजिक उन्नति कभी नहीं होगी।

कहावत मशहूर है कि, हमें नेता और सरकार भी वही मिलते हैं, जिनके लायक़ हम बन पाते हैं।

आज की आर्थिक स्थिति कितनी ही अवरुद्ध क्यों न हो, अपने ज्ञान और इच्छा के संगठन से बहुत-कुछ हो सकता है। नालायक सरकारें बदली जा सकती हैं, आलस्य और अभावों को मिटाया जा सकता है, बशर्ते कुछ कर गुज़रने की हमारी इच्छाएँ न मर चुकी हों। वितरण-वैषम्य की विडम्बनाओं के लिए राजनीतिक नेताओं को लड़ने-भिड़ने दीजिए किन्तु उत्पादन की कमियों की

तो हम सब पूर्त्ति कर ही सकते हैं।

हमारी उन्नति की दर इस वक्त ३.८ प्रतिशत है, हमें इसे कम-से-कम ७ प्रतिशत करना है। हमारा उत्पादन १।। प्रतिशत बढ़ता है तो आबादी २।। प्रतिशत। प्रतिव्यक्ति उत्पादन-योग्यता भी दूसरे देशों के काम करने वालों की अपेक्षा बहुत कम है। हमें ये सारे दोष व्यक्तिगत प्रयत्नों से और सहकारी प्रयत्नों से दूर करने हैं; तभी बेकारी, भुखमरी, बीमारी, और जहालत से पीछा छूटेगा। "नान्य: पन्था विद्यते।"

> **एक पत्र : एक तथ्य**
>
> **मदाम रोनाल्द का १७९० में लिखा हुआ एक पत्र आज भी सुरक्षित है जिसमें उन्होंने लिखा है कि किसी भी लेखक को अपनी पुस्तक तब तक प्रकाशित नहीं करवानी चाहिए जब तक कि वह किसी महिला को ज़ोर से पढ़कर नहीं सुना दी गई हो।**

अगर सारे विश्व में सम्पत्ति का वैयक्तिक स्तर एक-सा कर दिया जाय तो प्रति व्यक्ति एक प्याला चावल और एक टुकड़ा मछली या थोड़ी-सी दाल-दही के अलावा सबके हिस्से में और कुछ नहीं पड़ेगा। आख़िर हर अमरीकी फॉर्मर अपने अलावा २६ और व्यक्तियों का पेट क्यों भर सकता है? यह भी तो सोचना चाहिए। आज अमरीकी कृषि-उत्पादन का यह हाल है कि 'पी-एल ४८०' के अन्तर्गत अमरीका ११४ देशों की खाद्य-समस्या का निवारण कर रहा है। इस तरह की मदद लेने वाले देशों को कितने ही नुक़सान सहकर भी अमरीका से अन्न खरीदना पड़ रहा है। रूस भी इसका अपवाद नहीं रहा अब!

युद्धबंदी : एकमात्र सबल उपाय

पिछली बार वाशिंगटन में जो अंतर्राष्ट्रीय खाद्य-कांफ्रेंस हुई थी उसमें यह अनुमान लगाया गया था कि आजकल संसार में क़रीब १०,००० व्यक्ति प्रतिदिन भूखों मरते हैं। सारे संसार की खेती में उन्नति के लिए क़रीब दो अरब (दो सौ करोड़) रुपये की रासायनिक खाद चाहिए। लेकिन फिर भी संसार के राष्ट्र १२० अरब रुपये फौज और हथियारों पर ख़र्च करते हैं। दुनिया से भूख मिटाने की ओर ध्यान नहीं देते।

साफ़ है कि भूखों और ग़रीबों को अगर अपनी हालत सुधारनी है तो उन्हें ख़ुद ही कोशिशें करनी पड़ेंगी। जापान अगर अपने चावलों की उपज चौगुनी कर सकता है तो भारत क्यों नहीं कर सकता?....

संसार के बड़े-बड़े धर्मशास्त्री, राजनेता यह समझ रहे हैं कि जब तक विकासमान देश उन्हें अपना सामान न बेचें और उनसे उनका न ख़रीदें, उनकी विकसित अवस्था

(शेष पृष्ठ ६९ पर)

●

छोटे-से परिवार के सदस्यों की छोटी-मोटी इच्छा-आकांक्षा को रंग देती हुई यह कहानी मनुष्य की सूक्ष्मतम, सरस अनुभूतियों का आईना है ।

●

परेश की नींद सहज ही में टूट गई । खिड़की से सुबह की नरम धूप पलँग के एक कोने में बिछ गई है । आलमारी के पीछे से हलकी खड़-खड़ की आवाज़ आई। दो-तीन चूहे इधर-उधर निकलकर भाग गए । हर तरह के सामानों से भरा यह कमरा बड़ा अजीब लगता है––कपड़े रखने के हैंगर, बक्से, किताबों के रैक, छोटा टेबिल, लिखने के सामान, एक रेडियो सेट, और भी घरेलू सामान जिन्हें पत्नी ने सहेज कर रख दिया है । कुल मिलाकर बस दो ही तो कमरे हैं, छोटा-सा बाथ और किचन । छोटे बरामदे को घेर कर पत्नी ने एक और कमरा बना लिया है––छः फ्लैट्स की यह पीली, तिमंज़ली ईमारत, न कोई ढंग से रह सकता है, न कोई काम कर सकता है । उसने कितना चाहा था, एक छोटी-सी ज़मीन ले । फिर एक छोटा-सा बाग हो । पीछे किचन-गार्डन हो.... किचन से व्यस्त-सी पत्नी कमरे में आती हैं, "वाह, आज तो बड़ी देर सोए ? उठिए-उठिए, नाश्ता तैयार है । आज कॉलेज नहीं जाना है क्या ?" हाथ आँचल से पोंछती पत्नी फ़िर वापिस लौट जाती हैं ।···वह आँखें मूँदे कुछ सोचने लगता है । उँगलियों पर कुछ गिनता है––कितने क्लास आज लेने हैं....एक.... दो....तीन....फर्स्ट पेपर,....सेकेण्ड....और एक झटके में वह उठकर खड़ा हो जाता है । तौलिया कन्धे पर डालकर बाथ-रूम की तरफ़ चल देता है ।

बगल के फ्लैट में एक बच्चा बुरी तरह चीख़ रहा है । बर्त्तन धोने की आवाज़ आती है और नल का बेसुरा-सा राग ।

सेब

"दूध ले जाइए बहनजी ।"

पत्नी बर्तन लिए सीढ़ियों तक आती हैं—"बड़ी देर लगाते हो भई। अबेर हो जाती है।"

"एक, दो, तीन...." ग्वाला बर्तन में दूध डालता है।

"बस, बस।" पत्नी ज़ोर से कहती हैं।

"बहनजी, आप तो सेर भर लेती रहीं।"

"तुमने दूध का भाव बढ़ा दिया, क्या करें!"

तीन नम्बर फ्लैट से शुक्ला की छोटी लड़की बर्त्तन लिए आती है—"आधा सेर।"

"क्यों री बिन्तो, अम्मा जागीं?"

"हाँ चाची, नहा रही हैं।"

"इतनी जल्दी! रात बच्चा बहुत चीखा था?" पत्नी पूछती हैं।

"अम्मा ने पीटा था।"

परेश बरामदे से आवाज़ देता है, "सुनो, चाय बन गई?"

पत्नी दूध का बर्तन लिए आती हैं—"पहले चाय ही पीओगे?"

"हाँ भाई।"

"सी-ए-टी कैट, कैट माने बिल्ली। डी-ओ-जी डौग, डौग माने कुत्ता—" चिन्नू झूम-झूम कर पढ़ रही है। उससे बड़ा बबलू कोई हिसाब बना रहा है। वहीं फ़र्श पर बैठी नीली गुड़िया खेल रही है। परेश बच्चों को देखकर मुस्कुराता है, "तुम लोग आज बड़ी जल्दी तैयार हो गये! देखूँ तो बबलू, क्या बना रहे हो? व्यवहारगणित?"

"बाबूजी, मुझे चप्पल खरीद दीजिए। देखिए, टूट गई है।"

"सुबह-सुबह फ़र्माइश शुरू हो गई तुम लोगों की।" पत्नी किचन से मुस्कुराकर कहती हैं, "यह नहीं कि बाबूजी को [illegible] में।"

"कल बाज़ार चलेंगे—है न चि[illegible]

परेश किचन की तरफ़ देखने लगता है—[illegible] का सफ़ेद आँचल, साड़ी का हरा कि[illegible] दीखता है। सफ़ेद ज़मीन पर जगह[illegible] बदरंग धब्बे, हल्दी के दाग़ दीखते हैं। [illegible] कभी कुछ नहीं कहतीं किन्तु वह जान[illegible] वह उन्हें कुछ भी नहीं दे पाता—डा[illegible] कश्मीरी और रॉ सिल्क की साड़ियाँ, [illegible] तमन्ना हर स्त्री को रहती है।

वह एक लम्बी साँस खींचता है। [illegible] की खिड़कियों पर गीले कपड़े यहाँ से वहाँ टँगे हैं—जाँघिया, बनिआइनें, फ्राक, [illegible] के बुशशर्ट, निकर.... न जाने कितनी [illegible] पत्नी ने इन्हें साफ़ कर सूखने के लिए [illegible] होंगे; परेश सोचता है और उदास [illegible] है।

पत्नी नाश्ता टेबिल पर रखती है [illegible] पराठे और आलू की सब्ज़ी।

"यह लीजिए, आप तो अभी तैयार नहीं हुए?"

"आज तबीयत कुछ ठीक नहीं [illegible] होती लता! सोचता, हूँ आज कैजुअल [illegible] ले लूँ।"

"देखूँ, बुख़ार तो नहीं है?" व्यस्त [illegible] पत्नी माथे पर हाथ रखती है।

"अरे नहीं भाई। तुम बेकार परे[illegible] हो जाती हो।" वह स्नेह से पत्नी [illegible] देखकर मुस्कुरा देता है। पत्नी के गोरे [illegible] पर पसीने की बूँदें उभर आई हैं। [illegible] बेतरतीब हैं। ब्लाउज़ का निचला [illegible] पसीने से गीला हो गया है।

"तुम्हें बहुत तकलीफ़ देता हूँ।"

"कहाँ," पत्नी सिर झुका लेती है ।
"इतनी कड़ी धूप में साईकिल पर दो-तीन मील आना-जाना पड़ता है । मेरा क्या, मैं तो आराम से घर बैठी रहती हूँ ।"

"अगले महीने एक नौकर रख लो ।"

"क्यों, दाई से तो काम चल ही रहा है, इतने पर भी तो कुछ बच नहीं पाता है । तीन बच्चों के लिए सब कुछ...." पत्नी चुप हो जाती हैं । सुबह-सुबह फिर वही अप्रिय-सी आलोचना के लिए वे तैयार नहीं हैं ।

"बबलू का बर्थ-डे कब है ?" ––परेश को सहसा याद आता है ।

"अट्ठाईस को ।"

"इस बार उसे एक साईकिल ख़रीद दूंगा ।"

पत्नी दुविधा से उसे देखती है––"साई-किल तो कम-से-कम १००) में आएगी ।"

"शायद किताबों का कुछ पैसा मिलेगा ।" परेश पत्नी को देखता है जो बबलू का शर्ट प्रेस कर रही हैं ।

"चाची, चाची, !" बिन्नो की आवाज़ दरवाज़े पर से आती है ।

"क्या है बिन्नो ?"

"अम्मा ने दो प्याले और छोटी चम्मचें माँगी हैं ।"

"क्या कोई आया है ?" पत्नी आयरन का प्लग निकालकर बाहर निकल आती हैं ।

"हाँ, चाची, मामा आए हैं ।"

किचन से दो प्याले और चम्मचें लाकर वे बिन्नो को थमा देती हैं ।

परेश सिगरेट जलाकर खिड़की के पास खड़ा हो जाता है । दूर-दूर तक ताड़ की लम्बी, बेतरतीब कतारें हैं । जगह-जगह मकान बन रहे हैं । बालू, ईंटों और चूने का ढेर है । ईंटें ढोने वाली ट्रकें जब-तब सड़क से गुज़र जाती हैं । .... धुएँ के वृत्त बनते हैं और सलाखों से बाहर शून्य में विलीन हो जाते हैं, जिन्हें न कोई देखता है, न समझता है । यही ज़िन्दगी है क्या ? बनने से पहले मिट जाना । दो-तीन चिड़िया आकर दीवार पर लगे बबलू के फ़ोटोग्राफ पर बैठ जाती हैं । फोटो के पीछे अनगिनत तिनके हैं जिन्हें सँवार कर चिड़ियों ने अपना घर बनाया है । अनेक बार पत्नी ने तिनकों को उठाकर फेंक दिया है किन्तु घर बनता ही रहा है । घर ? उसने पहले कब जाना था ? बचपन में माँ मर गई थीं । बाबू थे । न जाने क्यों एक अजीब-सा अलगाव बनाए रखते थे । वह आज तक नहीं समझ पाया है । आज बाबू नहीं हैं, शेष है उनकी धुँधली-सी स्मृति जो मन को टीस जाती है ।.... उसे याद है, गाँव का अपना छोटा-सा घर––वह नदी, रेत; जहाँ वह घण्टों बैठकर बालू के घर बनाया करता था । दूसरी सुबह वह आकर उसे देखता––मेरा घर कहाँ है ?....

पत्नी कपड़े सहेजकर हैंगर पर टाँग देती हैं । बाल खोलती हैं । क्लिप और काँटों को निकालकर दराज़ में रखती हैं । उँगली बालों में घुमाकर सुलझाती हैं । मीठी-सी गन्ध का अन्दाज़ उसे होता है । वह अख़बार लेकर बिस्तर पर लेट जाता है । कमरे में तीनों बच्चे कुछ खेल रहे हैं.... नहीं, आपस में कुछ सलाह-मशविरा कर रहे हैं । बबलू चित्तू से कुछ कह रहा है । चित्तू नीली से कहती है । फिर तीनों

मुस्कुराते हैं। "नीली, तुम बाबूजी से कहो न ?" बबलू नीली के कान में कहता है। "मैं क्यों कहूँगी। तुम बड़े हो, तुम कहो।" बबलू इस बार चित्तू से कहता है, "तुम कहो चित्तू, नीली बड़ी गन्दी है।"

चित्तू हँसती है, "मुझे शर्म आती है। लेकिन, तुम भी रहोगे न ?"

"क्या हो रहा है बबलू ?" परेश अखबार से सिर हटाकर उन्हें देखता है, "क्रिकेट चल रहा है तुम्हारा ? अरे, तुम सब हँस रहे हो ? क्या बात है भाई ?"

"बाबूजी, बात यह है कि ...." नीली कहती है।

"चुप रहो नीली।" बबलू उसे डपट देता है।

पत्नी कंघी लिए पास आती हैं। मुस्कुराती हैं, "लो अब तुम लोग बोलते क्यों नहीं ? मुझे परेशान करोगे। बाबूजी पूछ रहे हैं...."

"क्या है ?" परेश उत्सुकता से पत्नी को देखता है।

"अरे कल ५ नं० फ्लैट में जो ओवरसियर साहब हैं न, उनका लड़का...." बच्चे खिलखिलाकर बाहर भाग जाते हैं। पत्नी हँसकर बात जारी रखती हैं, "......सेव खा रहा था। बबलू और चित्तू मुझसे बोले—बाबूजी तो कभी सेव लाते नहीं। बबलू कहने लगा, बताओ तो माँ, मुन्नू के बाबू तो ओवरसियर हैं, मेरे बाबूजी प्रोफेसर। वह कैसे सेव खाता है रोज़-रोज। क्या वे ज्यादा पैसा कमाते हैं ?" परेश ज़ोर से हँस देता है। पत्नी हँसती-हँसती बाथ-रूम में चली जाती हैं।

किन्तु परेश को जाने कैसी घुटन महसूस होती है। पास के फ्लैट से ... का बवण्डर-सा उठ रहा है। तीसरी मं... पर सूखने के लिए डाले गए कपड़े ... सरसराते हैं। शुक्ला की पत्नी ढेर-... कचरा खिड़की से नीचे डाल देती है। ... सोचता है, उसने बेकार छुट्टी ली... वह रैक से एक किताब निकालता है। ... उधर दो-चार पन्ने उलटता है। ... वहीं रख देता है। पत्नी गीले ... लिये बाथ-रूम से निकलती हैं। ... पर उन्हें फैलाती हैं—साड़ी-साया-... ब्रेसियर्स.... फिर गीले बालों में तौ... से झाड़ती हैं। ब्लाउज़ का पिछला ... झड़ती हुई बूँदों से गीला हो गया है।

"तबीयत क्या ज्यादा खराब है ..." पूछती हैं।

"नहीं, एकदम ठीक हूँ। सुनो ... रुपए हैं ?"

"कितने ?" वे संदिग्ध भाव से पू... हैं।

"यही दो-तीन।"

"क्या करोगे ?"

"सोचता हूँ, बच्चों के लिए सेव ... दूँ।" वह हँसने की कोशिश करता ...

"अरे छोड़िए, आप भी बच्चों ... बात पर जाते हैं, पीछे देखा जायगा।"

"अच्छा, छोड़ दो।"

पत्नी किचेन में चली जाती हैं।

परेश उठकर खड़ा हो गया। ... हैंगर से निकाल कर कुर्ता पहना, ... डालीं और साईकिल लिये नीचे उतर ... बच्चे नीचे खेल रहे हैं। "बाबूजी कहाँ ... रहे हैं ?" नीली चिल्लाकर पूछती ...

"नीली, अम्मा से कह देना, मैं अभी आ रहा हूँ।"

बबलू फुसफुसाकर कहता है, "बाबूजी ज़रूर सेव लाने गए हैं।" "चलो माँ से पूछें"—चित्तू कहती है। तीनों ऊपर आ जाते हैं: "बाबूजी कहाँ गए माँ ?"

"शायद सेव लाने गए हैं।" माँ बच्चों को देखकर मुस्कुराती हैं।

"देखा चित्तू, मैंने कहा था न! खूब मज़ा।"—बबलू सीटी बजाता नीचे भाग जाता है। पीछे चित्तू और नीली।

"अरे ओ मुन्नू, सुनो, मेरे बाबूजी सेव लाने गए हैं," नीली चिल्लाती है।

"चुप रह नीली, जैसे कभी सेव देखे ही न हों।" बबलू नीली के बाल खींच देता है।

घण्टे भर बाद परेश लौटता है—काग़ज़ के पैकेट में सेर भर सेव। पत्नी खाना बनाकर कुछ सिलाई लिये बैठी हैं।

"कहाँ चले गये थे धूप में ?"

"सेव ले आया हूँ। बच्चों को दो!" वह उन्हें पैकेट थमा देता है। पत्नी मुस्कुराती हैं, "बच्चों से इतना नेह। और अगर मैं एक साड़ी के लिए कहूँ तो बहाने बनाएँगे।"

परेश पत्नी के उल्लास भरे चेहरे को देखता है। गहरी, काली आँखों को, जिनमें असीम तृप्ति और प्यार उमड़ आया है।

"कहाँ गए सब ?"

"नीचे खेल रहे होंगे। आवाज़ देती हूँ," रेलिंग पर खड़ी वे पुकारती हैं, "बबलू, नीली....!"

तीनों बच्चे दौड़ते, गिरते-पड़ते सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर आते हैं। दौड़ने से उनका सीना बुरी तरह धड़क रहा है। वे हाँफ रहे हैं, "बाबूजी, सेव लाए ?"

परेश एक-एक सेव तीनों के हाथों में देता है, "खाओ। देखो, मीठा है न ?" बच्चे एक-दूसरे को देखकर मुस्कुराते हैं। सेव को उलट-पुलट कर देखते हैं—कितना लाल, कितना चिकना! अब मुन्नू आए तो दिखा दें—हम भी सेव खाते हैं, एक तुम्हीं नहीं हो। बड़ा रोब गाँठा करता था....

"लो, अब सब खड़े मुँह ताक रहे हैं। खाते क्यों नहीं? नीली ने तो अपना काम शुरू कर दिया, चाहे कोई करे या नहीं।" पत्नी प्यार से बच्चों को डाँटती हैं। बच्चे हँसकर खाना शुरू कर देते हैं। फिर, सीढ़ियों की तरफ़ दौड़ जाते हैं। परेश मुस्कुराकर पत्नी की आँखों को देखता है जिनमें आलोक का अनन्त सागर लहरा रहा है।

●

सेव : शान्ता सिनहा

तुझमें मुझमें केवल हाँ-ना का ...
लेकिन वह भी तय हो न सकी मजबू...
तेरे मेरे क़दमों का कोई दोष ...
मंज़िल तक जानेवाली राह अधू...

●

व्यथा खुद गीत-सी बिखरी हुई है आज हो...
अजानी प्रीत-सी निखरी हुई है आज हो...
तुम्हारी याद ने ऐसे मथा मन-प्राण को...
हँसी नवनीत-सी उतरी हुई है आज हो...

●

औरों को अमृत देने का दम्भ नहीं ...
अपने ही मन का विष यदि पच जाये ...
जीवन में यदि सुख न मिल सके कोई ...
दुख सहने की क्षमता यदि रच जाये ...

●

आज तुम्हारे जीवन में क्या आई है ऐसी ...
मन में आँखों के आँसू हैं, आँखों में मन की ...
किसकी सुधि आने से इतनी बेसुध-सी संवरी ...
आँखों में मेंहदी रच बैठी, हाथों में आं...

●

गंध-बावरा पवन पूछता फिरता था ...
इस उजाड़ उपवन की काया पलटी है ...
वृक्ष दर्प से बोले जब हमसे अंकु...
मगर विहँसकर बोला भँवरा कली खि...

●

हाथी को मन, चींटी को कन, फ़र्क नहीं है ...
मिलन उम्र-भर, विरह एक क्षण, फ़र्क नहीं है ...
लघुता की हर कथा बहुत व्यापक हो ...
हर्ष गगन-भर, दर्द-नयन-भर, फ़र्क नहीं है ...

●
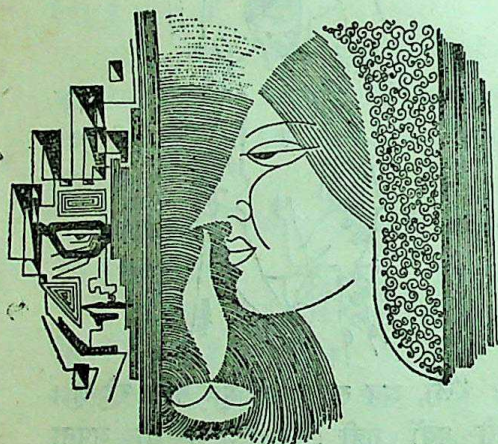
कुछ मोहक मुक्तक

रामरिख 'मनहर'

●

विवेकी राय

*

अभी अधिक दिन नहीं बीते जब हिमालय की घाटियाँ गोली-गोले के धड़ाकों से गूंज उठी थीं और हमारे कवियों ने अग्नि-लेखनी से हमारे पौरुष को पुकारा था। इसी संदर्भ में प्रस्तुत है--शौर्य और वीरता के ज्वलन्त प्रतीक श्री दोरजे कालजंग की मार्मिक-रोमांचक कहानी।

*

वर्तमान सीमा-संकट पर साहित्यकार क्या करें? मैं सोच रहा हूँ कि यह सवाल कुछ इस प्रकार का ही है कि चीनी-आक्रमण पर हमारे जवान क्या करें?

तो बात आ गई कवियों के जूझने की, शब्दों के गोले की, भावों के धड़ाके की और उनकी सर्दी-गर्मी की।

अब यहीं क्षण भर रुककर सुनिए, एक पहाड़-सी दहाड़:

'यह तुंग हिमालय किसका है?
उत्तुंग हिमालय किसका है?
भारत का यौवन गरज उठा,
जिसमें पौरुष है, उसका है।'

[श्री श्यामनारायण पाण्डेय]

यह है एक विश्वास, जैसे साक्षात् हिमालय! मुर्दों में भी जान फूंकने वाला! लेकिन जमाना बदला, भावना बदली कि मुर्दे बज्र हो गये। दूसरे महायुद्ध की डोंगरा-रेजिमेंट से रिटायर सैनिक श्री दोरजे कालजंग ने सुना कि शंकर के जटाजूट पर लोहा ठनठना रहा है और बर्फ़ में आग लगी है तो उसका शौर्य-स्वाभिमान दमदमा उठा। उसने देखा:

शौर्य की मर्माहत घाटियाँ और कवि

'लेके नजरों में अज़मत वतन के लिए
भर के दिल में मुहब्बत चमन के लिए
जंग करने हिमालय के राही चले
मोरचे पर बहादुर सिपाही चले।'
['कैस' बनारसी]

और, वह देश की आवाज़, माँ की पुकार पर मतवाला बनकर आगे बढ़ा। अब वह लद्दाख के मोर्चे पर दौलत बेग ओल्दी के निकट एक अकेली अग्रिम चौकी पर लंस-नायक था।

लेकिन, यह तो मैंने एक कहानी शुरू कर दी! अवश्य ही मैं एक कहानी सुनाने जा रहा हूँ। ऐसी एक तो क्या लाखों कहानियाँ नित्य चाव से पढ़ी-सुनी जाएँगी।

'बढ़ते हुए हमारे सैनिक
पिछड़ा हमें न पाएँगे,
जो स्वदेश पर बलि जाते हैं,
हम उन पर बलि जाएँगे।'
[राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त]

तो, हुआ क्या, अक्तूबर १९६२ में भारी संख्या में चीनियों ने भारत पर यकायक धावा बोल दिया। पहली बार हिमालय की समाधि टूटी। पहली बार नगराज पर गोले-गोलियों का धड़ाका सुनाई पड़ा।

'हिमालय की शुभ्र नीलम वादियों में भटकती
बारूद की दुर्गन्ध से बोझिल हवाएँ
अग्नि-गोलों के प्रबल आघात सहते
बर्फ़ आच्छादित धवल उत्तुंग शिखरों के
दरकते बज्र सीने।'
[रामविलास शर्मा]

उसी समय की बात है। बौने चीनियों का रक्तपिपासु पीत टिड्डी-दल आगे ब[illegible] गया। लंसनायक दोरजे कालजंग [illegible] अकेली चौकी पर था उस पर हमलाव[illegible] ध्यान नहीं गया। वह चौकी छूट [illegible] वे आगे बढ़ते गए। पूरे जोम में बढ़ते [illegible] उनमें हिमालय के शिखरों को छूने की [illegible] थी। एक मग़रूर नादानी! ज़माने [illegible] चेतावनी दी :

'चूर चूर होगे ओ उद्धत
इस गौरव-गिरि से टकराकर
छू न सकोगे रत्न-मुकुट यह
बौनो! अपने हाथ उठाकर।'
[कान्तानाथ पाण्डेय 'राज

परन्तु, वे कब माननेवाले थे। चौ[illegible] पर चौकियाँ हथियाते बढ़ते गए। [illegible] सही-सलामत बची उस अकेली एकान्त [illegible] पर दो दिन रहने के बाद दोरजे का मन [illegible] हो उठा। उसने अपने साथियों [illegible] अपने सदर मुक़ाम पर चलने का फ़ै[illegible] किया और निकल पड़ा। दुर्भाग्यवश [illegible] घाटी में साथियों का साथ छूट गया। डरा[illegible] अँधेरी रात, हड्डियों को गला देने [illegible] बर्फ़ीली हवा, थरथर काँपता शरीर, [illegible] आसमान के नीचे, साथी के नाम पर [illegible] इंची मोर्टार और एक हल्की मशीन[illegible] फड़कती भुजाओं में जोश, मन में उ[illegible] और कंठ में वतन का गीत :

'वतन की आबरू ख़तरे में है
हुशियार हो जाओ।
हमारे इम्तहाँ का वक्त है
तैयार हो जाओ।'
[साहिर लुधियान[illegible]

दोरजे आगे बढ़ा। आ गई [illegible]

चिपचिप नदी। परन्तु उसे पार करना कठिन नहीं था। यानी पूरी नदी मारे कड़क के जम कर सड़क हो गई थी। क्या समाँ है! नदी जम गई। पहाड़ जम गए। रास्ते, पेड़ और मैदान जम गए। ईश्वर की माया साक्षात् बर्फ़ बनकर बिछ गई। मगर, क्या यह वही बर्फ़ और निर्जनता की शान्ति थी जिसे दो रोज पहले देखा गया था ? हर्गिज नहीं :

'हमने देखा रंग बर्फ़ का बदल रहा है
शान्ति-सुन्दरी का तो दम ही निकल रहा है
विश्व-शान्ति की घायल देवी चीख रही है
सर्वनाश की डायन हँसती दीख रही है।'

[नागार्जुन]

उसी सत्यानाशी डायन का अट्टहास सुनते चलने की धुन में दोरजे ने १० मील धुन दिए। तभी उसे चीनियों द्वारा पीछे छोड़ी एक उजाड़ चौकी मिली। उस समय दोरजे के लिए एक क़दम आगे बढ़ाना भी असंभव हो गया था। पैर सुन्न हो गए थे। उनमें काफ़ी सूजन आ गई थी। सूजन के कारण जूते से पैर निकालना एक कठिन समस्या हो गई थी। अन्त में चमड़े की पट्टी चाकू से काटनी पड़ी। फूले हुए पैर मुक्त हुए। परन्तु मालूम होता था कि उनमें रक्त-संचार एकदम नहीं हो रहा है। उस समय की उस अनुभूति का हम क्या अनुमान कर सकते हैं ? क्यों इन संकटों में उसने अपने को डाला ? क्यों आपदाओं के श्रृंगार से उसने अपने प्राणों को सजाया ? वास्तव में बात ही कुछ ऐसी बेढब है! समय ही कुछ ऐसा है :

'नगपति के मदिरत - नयनों में
जगी आज फिर ज्वाला
शंकर ने फिर आज सँभाली
नर - मुंडों की माला
चलो देश के लिए शीश की
भेंट चढ़ाने वालो
डमरू के डिम-डिम निनाद पर
पियो गरल का प्याला।'

[श्रीपालसिंह 'क्षेम']

तो, यही गरल का प्याला था जिसे हर-प्रदेश का यह प्रहरी दोरजे पी चुका था। उसका सारा शरीर चूर हो रहा था। अंग-अंग फट रहा था। क़दम बढ़ाना असंभव था। उस ऊब से भरी तनहाई में रुक जाने की यह भारी विवशता थी। भाग्यवश चौकी की खाई में कुछ खाद्य-सामग्री शेष थी। हमने राबिसन क्रूसो का जीवन पढ़ा है। निर्जन एकान्त की उसकी मजबूरियों को पढ़-पढ़कर मनोरंजन किया है। पर यहाँ स्थिति कुछ और है। आँखों से रक्त के आँसू निकल आते हैं। यहाँ एक महान ज्वलन्त लक्ष्य है। यह बीहड़ एकान्तवास सोद्देश्य है। यहाँ ऐसा लगता है कि दोरजे इन्सान नहीं, हिमालय के भीतर एक और नया हिमालय है—शूर, महान और दृढ़। वह दुर्जेय है तो यह अजेय है। यह भी क्या-अल्हादकारक बात है :

'हर शक्ति हिमालय बन जाए
हर व्यक्ति हिमालय बन जाए
किस-किसको लाँघेगा दुश्मन
हम खड़े हुए, दुश्मन आए !'

[नरेन्द्र शर्मा]

और आगे सुनिये, जिस चौकी के बंकर

(खाई) में दोरजे ने शरण ली उसने अजब रूप धारण किया। वह बर्फ़ पड़ने से चारों ओर से ढककर एक गुफ़ा सरीखी हो गई। बर्फ़ हटाने की शक्ति दोरजे में कहाँ थी? पैरों में घाव होकर सड़ रहे थे। चमड़ी सफ़ेद पड़कर अवसन्न हो गई थी। हिलना-डुलना भी कठिन था। पता नहीं कब सूरज उगता और कब रात कहलाती! तारीख़, दिन और महीनों का कुछ पता नहीं। कितने दिन इस प्रकार बीते, उसे कुछ ज्ञात नहीं। उस जीवित-समाधि में भगवान से बढ़कर देश की याद बल देती थी। निस्संदेह देश भगवान से बड़ा है। हिमालय उससे भी बड़ा है। वह श्रद्धा का शिवालय है। उसका आह्वान कितना उत्तेजक है। दोरजे उसे सुन रहा था:

गंगा के किनारों को शिवालय ने पुकारा
चालीस करोड़ों को हिमालय ने पुकारा
आजाद रहा देश तो फिर उम्र बड़ी है
मंदिर भी है, गिरजा भी है, मसजिद भी खड़ी है'
[गोपालसिंह नेपाली]

दोरजे ने नहीं जाना कि चीनी जो आगे बढ़ते गए सो उनका क्या हुआ? चुशूल में क्या हुआ? पांगकोंग-त्सो झील के पास क्या हुआ? सत्रह हज़ार फुट की ऊँचाई पर कैसा पराक्रम दिखाया गया? परमवीरचक्र विजेता मेजर धनसिंह थापा ने कैसी वीरता दिखाई? महावीरचक्र विजेता मेजर अजीत सिंह ने जंकहाट स्प्रिंग की लड़ाई में कैसा असाधारण शौर्य प्रदर्शित किया? महावीर भीमूकामले, दौलतवेग ओल्दी के शेर, ने कैसा कीर्त्तिमान स्थापित किया? नेफ़ा में क्या हुआ? बोमदिला में क्या हुआ? और अन्त में किस प्र[कार] चीन ने एकतरफ़ा युद्धबन्दी की घोषणा की? उसने यह कुछ नहीं जाना। उसने [तो] इतना ही जाना कि चीनी चढ़ आए हैं [और] कोई पुकार रहा है:

'खड़ा हो कि धौंसे बजा कर जवानी,
सुनाने लगी फिर धमार!
खड़ा हो कि अपने अहंकारियों को,
हिमालय रहा है पुकार!
खड़ा हो कि फिर फूंक विष का लगा,
धूर्जटी ने बजाया विषाण!
खड़ा हो जवानी का झण्डा उड़ा,
ओ मेरे देश के नौजवान!'
[दिनकर]

सो वह उस अन्ध खाई में, बर्फ़ में द[बा] दबा दुश्मनों को शिकस्त देने का स[पना] देखता रहा। समय बीतता रहा। त[ब] सूर्य भगवान उत्तरायण हुए और बर्फ़ पिघली। पहाड़ में जीवन टुनमुना उठा। पर[न्तु] आह! हिमदंश से शून्य-मृतप्राय दो[रजे] के पैर आगे बढ़ने से रहे! फिर, इस त[रह] पड़े रहना भी असह्य था। उस एका[न्त] में गिरिराज के घाव उसके कलेजे को क[चोट] रहे थे। उसके कान क्षुब्ध जन-सा[गर] की हुंकार सुन रहे थे। कोटि-कोटि कं[ठों] की पुकार उसे ललकार रही थीं:

हर नौजवान सिर लेकर चला हथेली प[र]
बलिदानों की वेदी पर हवि धुधकार उठी
हिमवान हुआ घायल तो सागर हुंकार[ा]
चालीस कोटि लहरों से फिर फुफ़कार उठी
[शिवमंगल सिंह 'सुमन']

इतना काफ़ी था और वह शूर-वीर...

फिर एक दिन निकल पड़ा। बरानकोट का अस्तर फाड़कर पैरों के लिए उसने पट्टी बनाई। लकड़ी के दो कुन्दों की बैशाखी बनाली और उसके सहारे घिसटता, सूने पैरों को ढोता, अनजानी राह, अनजानी दिशा में चला। पता नहीं सदर मुक़ाम कहाँ है? भूख-प्यास पर तो विजय पा ली पर वह बीहड़ सुनसान कितना मारक था? वह बर्फ़ की क़दम-क़दम पर मृत्यु-मूर्त्तियाँ और जड़ पत्थरों का बज्र-संगीत! साहस ने कहा कि आगे बढ़ो पर शरीर साहस की भाँति असीम नहीं था। उसकी एक सीमा थी। फिर तो पुनः एक टूटी खाई को विवश होकर निवास-गृह बनाना पड़ा। ओफ़्! वह विवशता! हम सुख - सुविधाओं के मैदान में रहने वाले नागरिक उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। हम खाते-पीते और अखबार पढ़ते हैं। ये बातें हमें कहानी की तरह मनोरंजक लग रही हैं। हमने कब आत्मनिरीक्षण किया और जाना कि हमें क्या करना है। हमसे यह सवाल कितना स्वाभाविक है:

'वे जवान जो हमलावर से बढ़कर लोहा ले रहे
और वतन की नाव निरंकुश तूफ़ानों में खे रहे
शैतानों से भोली माँ का केश छुड़ाने के लिए——
कोई अपनी जान दे रहा,बोलो तुम क्या दे रहे'

[रूपनारायण त्रिपाठी]

तभी बर्फ़ पिघली और हवा में कुछ गर्मी आई। चिड़ियाँ दिखलाई पड़ीं। खरगोश उछलने लगे। और एक संत के कथनानुसार बाजू टूटे बाज को चारा देने वाला साहब देशभक्त शूरमा दोरजे को चिड़ियों-खरगोशों के रूप में चारा भेजने लगा। इस प्रकार तन को तो कभी-कभी कुछ चारा मिल जाने लगा पर मन के लिए क्या चारा था? वह बेचारा कहाँ-कहाँ भटकता रहा? क्या सोचता रहा! कुछ उलझनें तो स्पष्ट हैं:

'साम्य के नाम पर ऐसी विषमतायें!
ताओ के पंथ में हृदयहीन जिघांसा!!
आश्चर्य, आदमी के भेस में ये भेड़िए!!!'

[प्रभाकर माचवे]

अन्त में, जुलाई की एक सुबह में, आठ महीने एकान्त-यातना की खाई में पड़े धड़कनें गिनने के बाद दोरजे को आदमियों के पैरों की आहट सुनाई पड़ी। ओफ़्! चीनी आ गए क्या? वह टूटी खाई में दुबक गया। परन्तु ये तो शुद्ध हिन्दी बोल रहे हैं? यह तो अपने देशवासियों का सुपरिचित कंठस्वर है? दोरजे ने परम अल्हाद का अनुभव किया। उसने सोचा, यह कैसा परिवर्तन? पहाड़ की रोमांचक उपत्यकाओं में देश के पहरुआ, भक्त और उत्तरदायी चिन्तक घूम रहे हैं! यह कैसी नवीनता:

बूढ़ों की क्या बात युगों की
तरुणाई के दिन आए हैं!
चट्टानों, खन्दकों, पहाड़ों-
खाई के दिन आए हैं!'

[माखनलाल चतुर्वेदी]

मारे खुशी के दोरजे चिल्ला उठा। वह महीनों बाद दुर्लभ मनुष्य-दर्शन! देशवासियों का दर्शन! हमसफ़र सैनिक-साथियों का दर्शन! दोरजे फुर्ती से तनकर खड़ा हो गया। अटेंशन! भूल गया कि वह महीनों खोया-भूला भाग्यहीन लंसनायक है। नहीं, वह उस समय ऐसा कुछ नहीं। वह मात्र एक सैनिक है। देश का जवान

है। वह जवान जिसके बारे में हुक्म-ख़ुदाई यों है :

'जवानो !
आज अपने बज्र के-से
दाँत भींचो,
खड़े हो,
आगे बढ़ो,
ऊपर चढ़ो,
बेकंठ खोले।
बोलना हो तो
तुम्हारे हाथ की दो चोट बोले।'

[बच्चन]

और ठीक वही दो चोट के बोल निकालने के लिए बेचैन मर्माहत दोरजे साथियों द्वारा घर पहुँचाया गया। लेह के पास उसका गाँव, गाँव में झोंपड़ी और झोंपड़ी में बूढ़ी माँ जो लाल को खोकर आँसू पी चुकी है। पत्नी विधवा बन चुकी है। तभी ख़ुशी की बाढ़-सा दोरजे पहुँचा। माता को पुत्र मिला और पत्नी को पति। परन्तु इस स्नेह-मिलन को दोरजे ने बहुत नहीं माना। क्योंकि :

'विजयी अगर स्वदेश
प्रिया प्रियतम का फिर नाता है,
विजयी अगर स्वदेश
पुरुष फिर पुत्र, त्रिया माता है !'

[दिनकर]

विगत १० जुलाई'६३ को दोरजे लेह के सरकारी अस्पताल में भर्ती कराया गया। उसकी चिकित्सा हुई। उसकी इच्छा है कि शीघ्र स्वस्थ और समर्थ होकर मोर्चा सँभाले। जब तक उसके कानों स्वदेश-रक्षा की ललकारें सुनाई पड़ रही तबतक उसे चैन कहाँ? जब तक रणभेरी की आवाज़ सुनाई पड़ रही है तक उसे शान्ति कहाँ? उसे साफ़ सु पड़ रहा है :

'छिपते जाते हैं सूरज चाँद सितारे
आँधी बिजली के साथ गरजती आं
हो सावधान सँभलो अब ओ पीकिंग
भारत की धरती रण का बिगुल बजा

[नी

तब, यहीं आकर वह लंसनायक—की का मूल-प्रेरक कवि—महाकवि बन जा जिसकी अलक्षित काव्य-किरणें राष्ट्र आत्माओं के कोने-कोने में झाँककर सब का सन्देश देती हैं। वह उनकी गहराइयों की टोह लेता है। वह दे धरती, देश के जवान, देश की जनता सीमाओं से तनिक भी दूर नहीं। उ साँस-साँस अलख जगाती है। वी बलिदान और त्याग के हर क्षणों का स्वागत करता है। बल्कि इससे भी बढ़कर वह बोलता है :

'मन समर्पित
तन समर्पित
और यह जीवन समर्पित
चाहता हूँ देश की धरती
तुझे कुछ और भी दूँ !'

[रामावतार

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

•

पिछले अंक से प्रारम्भ हुआ नया स्तम्भ—सम-सामयिक विचारों-व्यवहारों, समस्याओं-समाधानों, घटनाओं-प्रेरणाओं के प्रसंग में सह-चिन्तन ।

•

पुराना शकुन : नया अनुभव

जम्मू - काश्मीर के पुंछ क्षेत्र में एक हेलीकोप्टर-दुर्घटना में हमारे लेफ्टीनेण्ट जनरल दौलतसिंह, लेफ्टीनेंट जनरल विक्रमसिंह, एयर वाइसमार्शल पिंटो, मेजर जनरल एन० के० डी० नाणावटी और ब्रिगेडियर एस० जी० ओबेराय की एक साथ मृत्यु हो गई ।

सरकार द्वारा कहा गया कि हेलीकोप्टर टेलीफोन के तार में फँस गया इससे दुर्घटना हुई और जनता में चर्चा रही कि यह पाकिस्तान के हाथों बिके किसी गद्दार की कारस्तानी का फल है । घटना का सत्य चाहे जो हो, पर इससे एक पुराने शकुन का, उसके जीवनसत्य का एक नया अनुभव अवश्य हुआ ।

पुराना शकुन है—"पिता-पुत्रैर्नगन्तव्यम्, न गच्छेत् भ्रातरद्वयम् !" पिता-पुत्र कभी साथ न जाएँ और न दो भाई ही ! इसका जीवनसत्य पाने के लिए हम अतीत में लौटें । तब मार्ग ऊबड़-खाबड़ थे, यात्रायें संकटपूर्ण थीं, जंगलों के खतरे थे । इस स्थिति में पिता-पुत्र साथ जाएँ या दो सगे भाई और रास्ते में वे मर जाएँ, तो घर चौपट हो जाता था, तो जीवन का सत्य यह हुआ कि खतरे में समान रूप से आवश्यक दो जन एक साथ यात्रा न करें ।

सुना है सैनिक जीवन में परम्परा है कि खतरे के स्थान में दो अफसर एक साथ

सह-चिन्तन

न जाएँ, पर उत्साह के अतिरेक में इस परम्परा का उल्लंघन हुआ है और भारतीय सेना को भारी नुक़सान उठाना पड़ा। हमारे राष्ट्रीय जीवन में सतर्कता की कितनी अधिक आवश्यकता है, यह इस दुर्घटना ने कहा।

सत्कर्म या क्रान्ति ?

एक सत्पुरुष मित्र का पत्र आया कि चुनाव-मतभेद पर जिन मित्रों के साथ कांग्रेस छोड़ दी थी, वे तो फिर कांग्रेस में लौट गए हैं और पदों पर आसीन हैं, पर मैं फिर कांग्रेस में नहीं लौटा और सर्वोदय का काम कर रहा हूँ।

पढ़कर मन में प्रश्न उठा––यह सर्वोदय काम क्या है ? इस प्रश्न की गहराई में हम उतरें—भारत को एक नई समाज-व्यवस्था की ज़रूरत है। स्वतंत्रता के बाद नेहरूजी ने जिस पश्चिमाभिमुख जीवन-पद्धति को प्रोत्साहन दिया, वह भारत को नई समाज-व्यवस्था देने में असफल रही है। परिणाम यह कि देश के जीवन में एक जड़ता और अन्धता आ गई है और हमारा राष्ट्रीय जीवन एक अस्तव्यस्तता अनुभव कर रहा है।

जड़ता और अन्धता के इस वातावरण को बदलने के लिए और राष्ट्रीय जीवन को एक समग्र रूप देने के लिए क्रांति की आवश्यकता है। यह क्रांति कम्युनिस्ट क्रांति हो सकती है या सर्वोदयी क्रांति, यानी गान्धीवादी क्रांति। तो यह सर्वोदय काम क्या है, इस प्रश्न का स्पष्ट स्वरूप यह है कि आज देश में जो सर्वोदय काम हो रहा है, क्या वह सर्वोदयी क्रांति लाने में सफल होगा ?

मेरा चिन्तन इस प्रश्न पर हाँ नहीं कहता; जो लोग उस काम के भीतर हैं शायद उनका मन हाँ कहता हो। ग़ुलाम भारत में छोटे-छोटे क़स्बों तक में सेवा-समितियाँ थीं, लोग धर्मशालाएँ भी बनाते रहे हैं, प्याऊ लगाते रहे हैं, औषधालय खोलकर रोगियों की सेवा करते रहे हैं। ये सभी काम अच्छे हैं—सत्कर्म हैं; इनके करने से स्वर्ग मिलता हो या नहीं, करने वाले को आत्म-संतोष मिलता ही है, और आत्म-संतोष का जीवन में बड़ा महत्व है। लगता है भारत में आज-कल जो सर्वोदय कार्य हो रहा है, उसका भी यही रूप है। जिनकी गाँधीजी में श्रद्धा है और जो आपाधापी की राजनीति में स्थान नहीं पा सकते, उनके लिए सर्वोदय कार्य एक शान्ति-उपवन है।

इस चिन्तन में निराशा नहीं है; क्योंकि मैं सर्वोदय को भारत के लिए समग्र जीवन-दर्शन मानता हूँ और मेरी नम्र सम्मति है कि उसे भारत की नई समाज-व्यवस्था का आधार न बनाकर नेहरूजी के नेतृत्व ने ऐसी भूल की है, जिस पर भविष्य का इतिहास-चिन्तक प्रशंसा के फूल नहीं बरसाएगा।

ऐसा क्यों हुआ ? इसका विश्लेषण यह है कि इसका कारण नेहरूजी का अहंकार है। उनकी पत्नी मान्या कमला नेहरू श्रीमती जवाहरलाल के रूप में नहीं, कमला नेहरू के रूप में ही अपने व्यक्तित्व का विकास चाहती थीं। बड़ा तीखा अहंकार था उनका। जवाहरलालजी का व्यक्तित्व बहुत तेज़ी से उठा और कमलाजी का व्यक्तित्व उनसे बहुत पीछे रह गया। इसी की कुढ़न में घुलकर वे क्षय का ग्रास हुईं।

जवाहरलालजी का अहंकार मीठा और

ख़ूबसूरत है। वे 'गान्धी का उत्तराधिकारी' होने के सब लाभों का शोषण करते हैं, पर गान्धी की प्रतिमूर्ति न बन नये युग के स्वयं गान्धी बन गए हैं। यह कोई बुरी बात नहीं है; क्योंकि स्वयं गान्धीजी ने भी यही किया था और तिलक महाराज के उत्तराधिकारी होकर भी वे तिलक की प्रतिमूर्ति नहीं बने थे, गान्धीजी के पास अपना स्वतन्त्र-सम्पूर्ण जीवन-दर्शन था और नेहरूजी के पास इसका अभाव है। आदर्श उन्हें कम्युनिज्म का पसन्द है, जीवन-पद्धति ऑक्सफोर्ड की और व्यवहार-पद्धति गान्धीजी की। इसी कारण उनका निर्माण खिचड़ी बन गया है और अपना स्वरूप नहीं पा रहा। जो उनके मन में है बुद्धि उसका साथ नहीं देती और जो बुद्धि में है हाथ (उनकी मैशीनरी, जो कार्यान्वियन करती है) उसके साथ नहीं। वे लेनिन और गान्धी को अपने में समन्वय करना चाह रहे हैं, पर कर नहीं पा रहे हैं; क्योंकि वे लेनिन की तरह क्रूर नहीं और गाँधी की तरह विराट भी नहीं। इस स्थिति में सर्वोदय-क्रांति कौन करे?

और ये बाबा विनोबा?

सर्वोदय-क्रान्ति के लिए देश के चिन्तकों की आँखें तैलंगाना काण्ड के बाद बाबा विनोबा पर आ टिकी थीं, पर पिछले १२ वर्षों में धीरे-धीरे उन्हें निराशा हुई है। सबसे बड़ा धक्का उन्हें डाकू-समस्या पर लगा। मध्य प्रदेश में जब विनोबाजी ने डाकू-समस्या को अपने हाथ में लिया और ख़ूख्वार डाकुओं को आत्मसमर्पण के रूप में उन्हें क्रांतिकारी सफलता मिली, तो देश में नए विश्वास की एक लहर दौड़ गई, पर मध्यप्रदेश के स्वार्थ-दृष्टि इंस्पैक्टर जनरल पुलिस और कायर गृहमंत्री ने उस सफलता को धूल में मिला दिया।

नेतृत्व का तकाज़ा था कि विनोबाजी इस पर जूझ जाते। निश्चित रूप से राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद और प्रधान मंत्री नेहरूजी का समर्थन उन्हें मिलता और सर्वोदय-क्रांति की राह खुलती, पर उन्होंने कुछ नहीं किया और अपने विश्वास पर आत्म-समर्पण करने वाले बीस डाकुओं को जेल में सड़ता छोड़कर ख़रामा-ख़रामा आगे निकल गए। इस तरह तैलंगाना में जो दीपक जला था, वह ग्वालियर में बुझ गया। कुछ ने कहा—बाबा में नेतृत्व की शक्ति नहीं है, कुछ ने कहा—उनमें यह इच्छा ही नहीं है।

जो मानसिक स्थिति बाबा की है, वही श्री जयप्रकाश नारायण की, कृपलानीजी की, ढेबर भाई की, धीरेन्द्र मजुमदार की और इसकी, उसकी है। यह सोचकर मन में उद्वेग होता है कि नेहरूजी के पास क्रांतिकारी कार्यकर्त्ताओं की मैशीनरी नहीं है, नेतृत्व है और विनोबाजी के पास कार्यकर्त्ता हैं, नेतृत्व नहीं, और इस तरह राष्ट्र की निर्माण-शक्ति बिखर रही है। पता नहीं सर्वोदयी नेता इस समस्या को किस दृष्टि से देखते हैं और अपने मन में इसका क्या समाधान पाते हैं?

एक गम्भीर विश्लेषण

बातचीत में मान्य श्री जगजीवनराम जी ने भ्रष्टाचार के फैलाव का एक विश्लेषण किया है। वह गम्भीर है। वे कहते हैं

कि समाज ने भ्रष्टाचार को मान्यता दे दी है—भ्रष्टाचार के द्वारा धनी बने मनुष्य को प्रतिष्ठित मान लिया है—इसलिए सरकार भ्रष्टाचार को दूर करने में असमर्थ रही है। इस संबंध में मन को उद्बोधन देता है उनका संस्मरण। भारत के केन्द्रीय मंत्री के रूप में वे १९४६ में लन्दन गए, तो वहाँ युद्ध के बाद का अभाव व्याप्त था और दूध-अंडा बीमारों को ही मिलता था।

आतिथ्य-अधिकारी ने कहा—"मैं प्रयत्न करूँगा कि आपके लिए कहीं से दूध-अंडे की व्यवस्था कर सकूँ।" उसने प्रयत्न किया, पर सफलता नहीं मिली। उसने क्षमा माँगी। जगजीवनरामजी ने उससे पूछा—"इतने अभाव में आपके यहाँ चोर-बाज़ारी क्यों नहीं होती ?" बड़ा मर्म-स्पर्शी प्रश्न था, पर उत्तर अन्तर्दर्शी मिला—"आरम्भ में दो मनुष्यों ने परिवार के बीमारों को मिले अंडे अधिक दाम पर दूसरों को बेचे, पर उस क्षेत्र में उनकी इतनी निन्दा हुई, उन पर घृणा की ऐसी बौछारें पड़ीं कि उन्हें अपना मुहल्ला बदलना पड़ा।" वही बात कि भ्रष्टाचार का उन्मूलन करना हो तो सामाजिक ढाँचे में, मानसिक संस्कार में परिवर्तन आवश्यक है।

सन्तान का शिकंजा

सारे संसार में सन्तान की उत्पत्ति जीवन के लिए एक शिकंजा बनती जा रही है। यह शिकंजा कितना दमघोंटू है, इसे जानते सब हैं, पर दो समाचार उसे अनुभव करने का अवसर देते हैं। पहले एक समाचार मिला था कि जापान में पुलिस को यह अधिका[र] देने पर विचार हो रहा है कि जो माता ती[न] सन्तान रहते गर्भिणी हो, उसे बल-पूर्व[क] गर्भपात-केन्द्र में ले जाया जा सके। अ[ब] समाचार मिला है कि चीन में परिवारों [से] कहा जाता है कि वे तीन बच्चों का ही राश[न] लें और इससे अधिक बच्चों को भूखों मर[ने] दें! हम संयम का व्रत लें या वैज्ञानि[क] साधनों का सहारा, भारत को भी इस शिकं[जे] के प्रति तुरन्त सम्भलना चाहिए और सरका[र] को परिवार-नियोजन-विभाग की घड़ी-मर्द[...] रिपोर्टों पर संतोष करने की बुरी आद[त] छोड़नी चाहिए।

नशाबन्दी का नशा

श्री मुरारजी देसाई के सभापतित्व [...] नशाबन्दी सम्मेलन हैदराबाद में हो गया। सम्मेलन ने शीघ्र ही सारे देश में पूर्ण नशाबन्[दी] की माँग की और माँग पूर्ण न हो तो सत्याग्र[ह] करने की बात कही।

बात उचित है, संविधान-सम्मत [है,] आवश्यक है, पर इस यथार्थ के साथ कि खंडि[त] नशाबन्दी कभी सफल नहीं हो सकती औ[र] सम्पूर्ण नशाबन्दी की सफलता के लिए जि[स] प्रशासन-मशीनरी की ज़रूरत है, वह आ[ज] सुलभ नहीं, सम्भव नहीं। इसलिए राज्य[...] सरकारों का रुख़ खण्डित नशाबन्दी को भ[ी] बन्द करने की ही ओर है और यह ठीक भ[ी] है कि जब हम आन्दोलन नहीं चल[ा] सकते, तो उसके नारे तख्ती पर लिखते रह[ने] से क्या लाभ ?

(पृष्ठ ५२ का शेषांश : ग़रीबी और अमीरी)

पिछड़ती जायगी। माँग ही न बढ़ी तो खपत कहाँ होगी ? इसलिए उन्नत देशों को अपने स्वार्थवश भी उन्नति में लगे देशों की मदद करनी ही पड़ेगी। बस, हमें इस मदद को ले सकने और उसका सदुपयोग करने की तैयारी और कोशिश में लगे रहना है। निराशा से बचना है पर वस्तुस्थिति से मुँह भी नहीं मोड़ना।

उदार एवं स्थिर दृष्टिकोण

सदियों की ग़ुलामी की बू हमारे कुछ देशवासियों के दिमाग़ से अभी भी नहीं निकली। इसीलिए यह 'सांस्कृतिक संकट' बना हुआ है। संकट जब है ही तो हमें उसके विरोध में कार्य भी करना है। यह दृष्टिकोण बिलकुल भ्रांत है कि जो एकदम भारतीय है, यानी देश की परम्परा से मिला है, वही ठीक है और सब ग़लत है, त्याज्य है। मानवीय संस्कृतियों का विकास एक-दूसरे के प्रति जाने या अनजाने में किए अवदानों के आदान-प्रदान से ही होता आया है। जो अच्छा है, वह चाहे किसी भी संस्कृति से आया हो, उसे आत्मसात करना ही चाहिए। जनमानस की स्वाभाविक शक्ति आगे या पीछे यही करती है। सिर्फ़ भोंडी नक़ल ज्यादा दिन नहीं टिकती––मानव-संस्कृति में परीक्षा में खरी पर ही कोई धारणा या वस्तु टिक पाती है। अपनी संस्कृति में ऐसी कितनी अवर्जनाएँ एकत्र हैं, जिन्हें बुहार-बटोर कर फेंक देना है। हाँ, यह बात अवश्य है कि हमें इस दिशा में सतत् जागरूक रहना पड़ेगा। परीक्षण-प्रवृत्ति को ज़िन्दा रखना होगा। आज अनावश्यक लगती प्रथा या परम्पराओं के दलदल से भी निकलना होगा।

'हिन्द राष्ट्र की वाणी हिन्दी'

रही भाषा की बात। सो यह भी निकट भविष्य में साफ़ होगी ही। ये मुट्ठीभर 'अँग्रेज़ी भक्त' लोग यों ही तो अपने स्वार्थ नहीं छोड़ेंगे––इनसे भी संघर्ष करना होगा। सारे देश में एक भारतीय भाषा राष्ट्रभाषा (राजभाषा) बने और अलग-अलग प्रदेशों की अपनी-अपनी भाषाएँ स्वक्षेत्र में प्रधान रहें––इस विचार को धीरे-धीरे प्रचारित करना होगा। हिन्दी को इतना समृद्ध और विकसित एवं उदार होना होगा कि वह सरलता से अँग्रेज़ी को इस पद से उखाड़ फेंके। मातृभाषा में ही जब सारे ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि होगी तो साधारण जन, कोई विशेष प्रयोजन न होने पर, क्यों अँग्रेज़ी में अपना समय और शक्ति बर्बाद करेगा ? जापान का उदाहरण सामने है। सर्वथा करणीय यही है कि हम सब अपना यह मूलमंत्र बना लें कि जहाँ तक हो सकेगा, 'संघर्ष' करेंगे, प्रत्येक राष्ट्रीय कार्य में हिन्दी के प्रयोग के लिए पहले अपने निजी कार्यों से ही इसकी शुरूआत होनी चाहिए। दृढ़ता से, शान्ति से। ●

शताब्दि-बोध

प्रेम शर्मा

इस रंगीन
शहर में मुझको
सब कुछ बेगाना लगता है
–आकर्षक चेहरे हैं लेकिन
हर चेहरा जलहीन नदी-सा !
दरवाजों तक
आते-आते
यहाँ रौशनी मर जाती है,
यूँही अन्धे
गलियारों में
सारी उम्र गुजर जाती है,
थके-थके
बोझिल माथों पर
अंकित अस्त सूर्य की छाया—
कैसे गीत सुबह के गाऊँ;
गायक हूँ जन्मान्ध सदी का !

हरियाली का
खून हो गया,
आग लगी है चन्दन-बन में,
भटक रहीं
नंगी आवाजें
कोलाहल-रत परिवर्तन में
—(देख रहा हूँ
खुली हथेली
आने वाले वर्त्तमान की)—
कटी भुजाएँ,
टूटे पहिये—
रेंग रही विकलांग सभ्यता !

अन्तरिक्ष—
यात्री-सा कोई
भेद रहा अज्ञात दिशाएँ,
भीतर चुभती
किरन नुकीली,
सिमट रही फैली सीमाएँ—
धँसती हुई
परिस्थितियों से
ऊपर आना सहज नहीं है,
—झुठलाए
आदिम सत्यों को
देनी होगी अग्नि-परीक्षा !

ज्याँ पाल सात्रं

कहते हैं न्याय अन्धा होता है और अगर यह प्रमाणित हो जाए कि किसी ने हत्या की है तो उसे दण्ड मिलना ही चाहिए,--लेकिन अगर हत्या मानव-कल्याण की दृष्टि से की जाए ?...आधुनिक युग के बहुचर्चित फ्रान्सीसी कथाकार सात्रं के द्वारा प्रस्तुत महत्वपूर्ण और जटिल प्रश्न ।

लंदन की अदालत में कल एक असाधारण मुक़दमे की पेशी है। मुजरिम के अपराध के बारे में कोई शक-सुबहा नहीं और साथ ही वह मुक़दमे में जीत जायगा, इसमें भी सन्देह नहीं। संक्षेप में, इस असाधारण अपराध-कांड का विवरण इस प्रकार है :

२० मई की बात है। लंदन के सुप्रसिद्ध फेफड़ा-रोग -विशेषज्ञ डॉ० हैलिडन हिल के दोनों बड़े-बड़े बैठकखाने रोगियों से भरे हुए हैं। हर रोगी के हाथ में एक कार्ड है, जिस पर नम्बर लिखा हुआ है। भीड़ तो हर रोज़ ऐसी ही होती है; क्योंकि सैकड़ों क्षय-रोगियों को नीरोग करने का यश प्राप्त है डॉक्टर हिल को।

निदान-गृह के चारों ओर काँच की खिड़कियों और दरवाज़े पर चीनी रेशम का लहराता हुआ पर्दा है। भीतरी दीवाल से सटाकर रखे हुए हैं बड़े-बड़े जापानी गमले, जिनमें ग्रीष्मप्रधान देशों में उत्पन्न होने वाले रंग-बिरंगे मौसमी फूलों के बड़े-बड़े पौधे करीने से रोपे हुए हैं। और इन सबके मध्य में एक बड़ी सुसज्जित मेज़ के सामने अभी-अभी डॉक्टर हिल आकर बैठे हैं—चेहरे पर सुख और संतोष की रेखाएँ, आँखों में दर्पभरी चमक ! सामने उनका असिस्टेंट बैठा है, जो आने-वाले रोगियों का संक्षिप्त व्यवस्था-पत्र डॉक्टर के आदेशानुसार शार्टहैण्ड में लिख लेता है। निदान-कक्ष के प्रवेश-द्वार पर, ज़ीने के ऊपर, डॉक्टर का अर्दली

न्याय की वेदी पर हत्यारा

मखमल की वर्दी, चमकीला पट्टा, ...वाली टोपी और दाहिने हाथ की दोनों ...लियों में सोने की अँगूठियाँ पहने खड़ा है। ...की दोनों कलाइयों में से एक में क्रास पर चढ़े ...मसीह का और दूसरे में एक नग्न, डैनेवाली ...का गोदना गुदा हुआ है। उसका काम ... डॉक्टर के बोलने के साथ ही दुर्बल क्षय-...गियों को—जिनकी परीक्षा हो चुकी है—...ने सबल-सशक्त हाथों का दृढ़ सहारा दे ...हर ले जाना और वहाँ से एक विशेष ...कार की बनी आरामकुर्सी पर बिठा, लिफ्ट ...की सहायता से उन्हें नीचे पहुँचा देना।

रोगी आते हैं—निष्प्रभ, हताश आँखें, ...ली हुई जर्जरित छाती और एक हाथ ...ढीले हुए कपड़े। आने के साथ ही डॉक्टर ...'प्लेकिमीटर' और छोटी नालिका ...रा उनकी छाती तथा पीठ की परीक्षा ...रते हैं—ठक्-ठक् किट्। .... साँस ...जिए। हाँ, ज़रा और ज़ोर से.... । ...तक गिनती गिनिए.... । ....बस, ..., ठीक है.... । इसके दो सेकेंड बाद ही ...वस्था-पत्र डिक्टेट करते हैं और सेकेंडों के भीतर ही उसे समाप्त करके कहते हैं, ...हाँ, इसके बाद किसका नम्बर है ?"

...गत तीन वर्षों से यह क्रम चलता आ रहा ...। इसी तरह रोज़ सुबह के नौ से बारह ...जे तक क्षय-रोगियों का काफ़िला एक-एक ...रके आता है और अपने जीवन-मरण का ...वस्था-पत्र लिये चला जाता है, फिर आता ...और फिर चला जाता है।

इसी अनवरत क्रम में एक दिन, अर्थात् ...वीं मई को ठीक नौ बजे एक रोगी डॉक्टर ...कमरे में दाखिल हुआ—लम्बा, अर्द्धनग्न ...देखने में हड्डियों का चलता-फिरता ढाँचा मात्र। उसकी आँखों की पुतलियाँ, लगता था, कपाललग्न हो अपना अस्तित्व विलीन कर देना चाहती हों, गाल धँसकर भीतर चला गया था और छाती खुली हुई थी, मानों चमड़े के आवरण से ढँका हुआ हड्डी का पिंजर। मांसहीन उसकी एक बाँह की चमड़ी नीली हो गयी थी। वह लम्बे पाँवों से काँपते हुए डग भरता आया, गमले में लगे एक जापानी फूल-पौधे की 'सशक्त' डाली पकड़ खड़ा हो गया और ज़ोर-ज़ोर से खाँसने लगा। खाँसने के साथ ही उसका सीना उठने-बैठने लगा। लगा, वह अब मरा, तब मरा। खाँसी का दौर क्षण भर को शान्त होते ही अर्दली ने उसे लाकर डॉक्टर के सामने बैठा दिया। नियमानुसार संक्षिप्त परीक्षा करके डॉक्टर ने निराशा-भरे स्वर में कहा, "ना-ना ! कोई उम्मीद नहीं। पूरा बायाँ फेफड़ा बेकार हो चुका है.... ! और, दाहिने का भी वही हाल है। ...."

रोगी ने संशक, भय-विह्वल, कम्पित स्वर में कहा, "डॉक्टर साहब ! ....कोई उम्मीद ....!" उसकी आवाज़ से लगता था, जैसे उसे दुनिया में अभी बहुत कुछ करना है और केवल बच जाने भर से ही वह सम्भव है।

"इसके बाद और किसका नम्बर?" की आवाज़ के साथ अर्दली आकर रोगी को ले जाना वाला ही था कि रोगी के भय-विजड़ित चेहरे की ओर देख अपनी दोनों भवों के बीच के रोमहीन भाग को बँधी हुई मुट्ठी से हल्की ठोकर देते हुए, सव्यंग्य मुस्कुराहट के साथ, विशेषज्ञ डॉक्टर ने कहा, "जीने का बड़ा मोह है।.... आप क्या बहुत दौलतमंद

है ?"

रोगी को मानो बल मिला। उसने अपनी धँसी हुई आँखों को सप्रयास विस्तारित करते हुए अश्रु-रुद्ध स्वर में कहा, "हाँ, डॉक्टर साहब !....मैं करोड़पति हूँ। धन की कोई कमी नहीं।"

"तब आप एक काम कीजिए...." डॉक्टर ने कुर्सी पर ज़रा उठँगने का -सा भाव दिखाते हुए कहा, "आप इसी एम्बुलेंस गाड़ी से सीधे विक्टोरिया - स्टेशन चले जाइए। वहाँ से ग्यारह बजे वाली एक्सप्रेस से जाइए 'डोवर', और वहाँ से जहाज़ से 'कैलेस', फिर 'मार्साई'; वहाँ से गर्म 'स्लीपिंग कार' में 'नाइस' जाइए। बस वहीं आप रहिए और छः महीने तक रोटी, शराब, फल, मांस आदि कुछ नहीं, सिर्फ़ 'वाटर-क्रेश' लीजिये। एक दिन के अन्तर से चम्मच भर वर्षा-जल में दो-चार बूंद आयोडिन मिलाकर पिया कीजिये। देखिए, 'वाटर क्रेश' के सिवा और कुछ नहीं— अच्छी तरह इसको छानकर.... हाँ, मैं आपको ज्यादा उम्मीद तो नहीं दिला सकता। एक 'चांस' भर ही समझिए। इस अंदाज़ी चिकित्सा का नाम मैंने बहुत सुन रखा है। लेकिन इससे अच्छा होना मुझे नामुमकिन ही लगता है। फिर भी आपको कह रहा हूँ, जाकर देखिए। संयोग है, यदि अच्छे हो गये, तो ठीक ही है। ....नहीं तो और क्या.... ! आज़माइए, दुनिया में कई बार असंभव भी संभव हो जाता है। अच्छा, अब दूसरा किसका नम्बर है ?"

रोगी को कुछ आशा बँधी। डॉक्टर को बार-बार धन्यवाद देता हुआ वह अर्दली के साथ बाहर चला गया।

●

उक्त घटना के छः महीने बाद दिसम्बर की तीसरी तारीख़ को ठीक नौ बजे क़ीमती 'फर' की पोशाक पहने एक विशाल आकृति का व्यक्ति बिना 'नम्बर-कार्ड' लिये सीधे चिकित्सक-प्रवर डॉक्टर हिल के कमरे में उपस्थित हुआ—पुष्ट मांसल बाँहें, बड़ी-बड़ी भूरी - छितनार आँखें, चौड़ी छाती और सशक्त क़दम। लगता था, पौराणिक या परी-कथाओं का कोई दानव आ पहुँचा हो।

डॉक्टर साहब अभी-अभी कमरे में आकर बैठे थे और लबादानुमा काला, लम्बा ऊनी कोट पहने हुए थे। सुबह की हल्की गुलाबी ठंड में उनका शरीर कुछ सिहरता-सा लग रहा था। उक्त आंगतुक ने आते ही अपनी सशक्त बाँहों में बच्चे - सा उन्हें उठा लिया और साश्रु-नेत्र उनका दीर्घ आलिंगन करते हुए हरे आवरण वाली आरामकुर्सी पर बैठा दिया। डॉक्टर हिल की हालत उस समय बिल्कुल निर्जीव-सी हो रही थी। लगता था, साँस ही उनकी बंद हो जाने वाली है।

उक्त आगंतुक ने डॉक्टर को साश्चर्य-सभीत अपनी ओर देखते हुए पाकर ऊँचे दृढ़ स्वर में निवेदन किया, "कितना चाहिए आपको ? बीस लाख ? तीस लाख ?...."

डॉक्टर मौन ही रहे। उनकी समझ में कुछ नहीं आया। वह कहता गया, "मैं आपकी ही वजह से आज साँस ले रहा हूँ। आज आपही की वजह से मैं पृथ्वी के समस्त आनन्दों का उपभोग करने में समर्थ हो सका हूँ। डॉक्टर साहब, मैं अपने जीवन के लिए आपका ही ऋणी हूँ। आप मेरे जीवन-दाता हैं।.... बोलिये, जो बोलिये, मैं आपकी सेवा के लिए तैयार हूँ। निःसंकोच

माँगिये, मेरे पास रुपये की कमी नहीं।.... यहाँ तो अपना सर्वस्व देकर भी मैं आपका क़र्ज़ नहीं चुका सकता। फिर भी, जो हो सके, वह करने के लिए मेरा हृदय व्याकुल है। डॉक्टर साहब, आदेश दीजिये, जो भी आप चाहें!"

क्षण भर बाद स्वस्थ होते हुए डॉक्टर ने अर्दली की ओर मुख़ातिब होकर कहा, "यह कौन पागल आ पहुँचा है? इसे निकाल बाहर तो करो।"

"अरे, ना-ना।...." कहकर उस व्यक्ति ने मुष्टि-योद्धा की तरह इतने ज़ोर से मेज़ पर मुक्का मारा कि अर्दली जहाँ-का-तहाँ खड़ा रह सभीत दृष्टि से उसकी ओर देखने लगा।

उसने फिर कहना शुरू किया, "डॉक्टर साहब, आप मुझे पहचान नहीं पा रहे हैं? मैं झूठ नहीं बोलता, दरअसल आप मेरे जीवन-रक्षक हैं। आप ही ने मुझे मृत्यु के मुँह से बाहर निकाला है। मैं वही व्यक्ति हूँ, जिसे आपने 'नाइस' भेजा था और सिर्फ़ 'वाटर-क्रेश' सेवन करने का आदेश दिया था। मैं वही अभागा नर-कंकाल हूँ जिसे आपने कहा था कि दोनों फेफड़े बेकार हो चुके हैं। नाइस में 'वाटर-क्रेश' और सिर्फ़ 'वाटर-क्रेश' पर मैं इतने दिन रहा हूँ। फलस्वरूप आज मुझे आप इस रूप में देख रहे हैं। यह सब आपकी चिकित्सा का प्रभाव है। और नहीं विश्वास हो, तो यह देखिए..." कहकर उसने अपनी छाती पर ज़ोर-ज़ोर से मुक्का मारना शुरू किया। निश्चय ही उस मुक्का-प्रहार से किसी के भी हाड़-पंजर ढीले हो सकते थे, पर उसकी वज्र-छाती पर जैसे कोई असर ही नहीं पड़ा।

कुछ क्षण डॉक्टर हतवाक् रहे। फि[र] उसकी ओर ध्यान से देखकर, एकाए[क] ताज्जुब में खड़े होते हुए बोले, "क्या आ[प] सचमुच वही करोड़पति.... हैं, जिसे...."

"हाँ, डॉक्टर साहब! मैं वही—व[ही] हूँ।" उसने उच्च कंठ से कहा, "कल ही मैं जहाज़ से उतरा। उतरते ही सबसे पहले जाकर आपकी एक आदमक़द काँ[से] की मूर्ति बनाने का आर्डर दे आया। और अब 'वेस्ट मिनिस्टर' में आपकी समाधि के स्थान की व्यवस्था कर रहा हूँ।"

इतना कहकर वह तपाक से एक ब[ड़े] सोफ़े पर बैठ गया। उसके बैठने से सोफ़े के स्प्रिंग मचमचा उठे, मानों उसका भा[र] सहने में अक्षम हों।

कुछ मिनट तक डॉक्टर उसकी ओर शोधक दृष्टि से देखकर कुछ तलाश कर[ते] रहे, फिर सेक्रेटरी और अर्दली को कु[छ] कहा; वे दोनों बाहर चले गये। डॉक्टर उस आगंतुक की ओर उदास, गंभीर, बेच[ैन] और कुछ क्षणों तक चंचल दृष्टि से देखते रहे। और, तत्काल गंभीर-दृढ़ मुद्रा बनाते हुए उन्होंने आगंतुक के चेहरे पर दृष्टि गड़ा कर कहा, "आपके कपाल पर एक मक्खी बैठी है, उसे उड़ा दूँ?"....

इतना कहकर डॉक्टर ने झुककर अपनी जेबी रिवाल्वर निकाला और दनादन आगंतुक की धमनी पर तीन फायर किए। क्षण मात्र में विशाल कृतज्ञताभरी कपाल-रेखाएँ रक्त के फव्वारे में विलीन हो गयीं और व[ह] व्यक्ति वहीं सोफ़े पर ढेर हो गया। कुछ दे[र] उसने हाथ-पैर छटपटाये और फिर निस्पंद [हो गया।] डॉक्टर यह सब सतृष्ण भाव से देखते रहे। उनके चेहरे पर कई भाव-रेखाएँ बनीं और

मिटीं, पर तृष्णाभाव यथावत रहा।—उसके बाद उन्होंने अपना सबसे तेज नश्तर का चाकू लिया, उसका प्रशस्त कलेजा चीर डाला और फेफड़ा निकालकर अपनी मेज पर जा बैठे।

थोड़ी देर बाद जब दारोग़ा डॉक्टर को अपने साथ चलने का अनुरोध लेकर आए, उस समय वे बड़ा लेंसवाला अणुवीक्षण यंत्र लेकर रक्त-रंजित मानव-फुसफुस पर 'वाटर क्रेश' के प्रभाव की परीक्षा कर रहे थे।

दारोगा ने जब उसके पास आकर साथ चलने का अनुरोध किया, तो डॉक्टर ने उठकर मुग्ध-दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए कहा, मैंने इस व्यक्ति की हत्या जान कर की है; क्योंकि बिना इसका कलेजा चीरकर देखे, यह जानना असंभव था कि, बिलकुल जर्जर हो गया क्षय-ग्रस्त फेफड़ा भी किस तरह फिर स्वस्थ हो सकता है। इसीलिए मैं निःसंकोच हो स्वीकार करता हूँ कि विश्व-कल्याण के महान् कर्तव्य के सामने मैंने साधारण मानवीय विवेक का त्याग करके इसको मार डाला।"

●

कहने की आवश्यकता नहीं कि डॉक्टर हिल व्यक्तिगत ज़मानत पर हवालत से रिहा हैं, क्योंकि उनकी रिहाई कल्याणकारी है।.... इसी मुक़दमे की पेशी कल अदालतमें होगी। शीघ्र ही सारे यूरोप और फिर समस्त दुनिया में इस मुक़दमे की धूम मच जाएगी।

जहाँ तक हमारा विश्वास है, इस 'तुच्छ' अपराध के लिए उस महान् मानव कल्याण-कामी डॉक्टर हिल को न्यूगेट के फाँसी के तख्ते पर नहीं जाना होगा। कल के मनुष्य के प्रति गंभीर प्रेम और उसके लिए आज के एक मनुष्य के तुच्छ जीवन की हत्या—इसे अपराध नहीं माननेवाले दुनिया के महा प्राण वैज्ञानिक चाहे जिस तरह हो, डॉक्टर हिल के अमूल्य जीवन को बचाने के लिए अपनी ओर से कुछ नहीं उठा रखेंगे! ●

[लीना जे० दास द्वारा अनूदित]

(पृष्ठ २४ का शेष :
महकती बातें : सिसकता प्रेम)
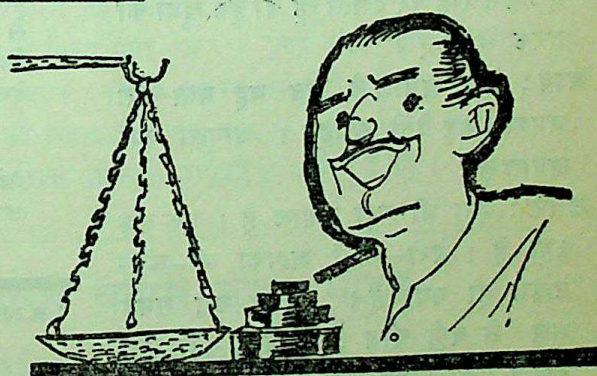
उत्तर : प्रेम के नहीं तो ऊपरी हैं। गहरे घाव वहीं तक पहुँचते हैं। वास्तविक घाव खाने वाली वही गहरी चीज़ है। यों तन के घावों की कौन परवा करता है। हम अपने प्यार में रहते हैं, इसलिए अपने मान में भी रहते हैं। इज्ज़त के ख़याल को साथ लिए चलते हैं और स्थान-स्थान पर चोट खाते हैं। समाज यही है ना कि जिसमें वर्ग है, ऊँच-नीच है, अमीर-ग़रीब है, शासक-शासित है—इन सब बहानों और रास्तों से हमारी ख़ुदी चोट खाया करती है और इसमें से तरह-तरह की कर्म-प्रवृत्तियाँ निकलती हैं। बदल दीजिए सामाजिक व्यवस्था को, चाहे किसी तरह की कर दीजिए, लेकिन ख़ुदी को चोट खाने की राह मिल ही जायगी। इसलिए मैं इस समस्या को सामाजिक-व्यवस्था का दोष कहकर ही सन्तुष्ट नहीं हो सकता। मैं इसे ख़ुदी से जुड़ा हुआ देखता हूँ और इसीलिए इस प्रश्न को आधार-भूत अर्थात् प्रेम का प्रश्न मानता हूँ और हल उस राह पर देखता हूँ जो हमें ख़ुदा की तरफ़ ले जाए।

प्रश्न : मेरा ख़याल है, अब यह बात-चीत समाप्त कर देनी चाहिए। आपका क्या ख़याल है?

उत्तर : मेरा भी यही ख़याल है। एक बज रहा है। मेरा—नहीं आपका भी—लंच-टाइम हो गया है। लेकिन इस समय भूख से बड़ी चीज़ तो आपको नहीं सता रही? उसे किसी दूसरे दिन पर रखा जा सकता है।

● **भारतीय इतिहास के ये कुछ पृष्ठ—जिनमें दक्षिण भारत और उत्तर भारत के संघर्ष को यथारूप प्रदर्शित किया गया है—और जिनसे उस भ्रान्ति का उन्मूलन होता है जो दक्षिण के लोगों ने उत्तर के लोगों के प्रति सहेज रखी हैं।**

●

भारत का इतिहास–लेखक श्री राय से लेकर अलाउद्दीन खिलजी और औरंगज़ेब के राज्य की समाप्ति तक के इतिहास का वर्णन करते हुए सदा यही लिखता है कि उत्तर भारत ने ही दक्षिण भारत पर चढ़ाई की। धारा-नरेश मुंज और भोज पराजित हुए, पर इन पर भी दक्षिण पर आक्रमण करने का आरोप है। भारतीय इतिहास-लेखक यह कभी नहीं बताता कि दक्षिण के राजाओं ने भी अश्वमेध यज्ञ किया था और इस सिलसिले में उन्होंने उत्तरी भारत पर आक्रमण किया था। यदि इतिहास का यह तथ्य सामने रखा जाता तो दक्षिण के लोग हिन्दी को साम्राज्यवादी भाषा कहने का कभी साहस न करते और न वे उत्तरी भारत की चढ़ाई की आशंका से भयभीत होते। पर चूँकि भारतीय इतिहास का तिथिवृत्त भी एकांगी पढ़ाया जाता है अतः दक्षिण के लोग यह जानते हैं कि जबसे इस देश में आर्य लोग आए दक्षिण भारत पर उत्तर भारत के सदा आक्रमण होते रहे। उत्तरी भारत का प्रभुत्व भविष्य में स्थापित न हो इस विचार से वे हिन्दी का विरोध कर रहे हैं। पर सचाई यह है कि जब दक्षिण भारत में कोई राज्य प्रबल हुआ तो उसने उत्तरी भारत पर आक्रमण किया।

आंध्रों ने सर्वप्रथम पाटलीपुत्र पर आक्रमण किया था और वे अयोध्या तक बढ़ आए थे। किन्तु यह आक्रमण नहीं माना गया। क्योंकि यह आक्रान्ता ग्रीक लोगों को भगाने के उद्देश्य से किया गया था। फिर आंध्र लोगों ने पटना पर राज्य भी बहुत दिनों नहीं किया। दक्षिण इस पर गर्व नहीं कर सकता था। पुलकेशी गौतमपुत्री सातकर्णी की लड़ाइयाँ क्षत्रप, नइपान, चष्टन आदि से हुईं। ये लड़ाइयाँ वस्तुतः उत्तर और दक्षिण भारत के शासकों के मध्य हुई थीं। परन्तु

दक्षिण भारत बनाम उत्तर भारत

एक भ्रान्ति : एक समाधान

उत्तर भारत के लोगों ने इसको भी आक्रमण नहीं माना। क्योंकि क्षत्रप विदेशी शासकों के एजेण्ट थे। यही नहीं इन शकों का नाश करने के कारण डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल के समान अनेक ऐतिहासिक गौतम पुत्री शातकर्णी को शकारि विक्रमादित्य मानते हैं और मानते हैं कि विक्रम-सम्वत् का आरम्भ उसी ने किया था।

सत्य तो यह है कि भारतीय इतिहास का इस प्रकार अध्ययन करना ही भ्रांतिपूर्ण होगा। क्योंकि जिन भारतीय सम्राटों ने दिग्विजय की इच्छा और चक्रवर्ती राज्य की स्थापना की इच्छा से उत्तर या दक्षिण भारत पर आक्रमण किया उन्होंने भारत को आज के राजनीतिज्ञों के समान कभी उत्तर और दक्षिण में विभक्त नहीं किया। इस नामावली और इस भाषा में भी नहीं सोचा। वे समस्त भारत को एक देश मानते थे चाहे उनका राज्य देश के किसी कोने में हो; वे अपने शौर्य और पराक्रम से अखिल भारतीय सम्मान और प्रतिष्ठा चाहते थे। उनको किसी पर किसी भाग का वर्चस्व प्रभुत्व स्थापित नहीं करना था। उनके ये आक्रमण भारतीय एकता की सुरक्षा को और अधिक दृढ़ करने के लिए थे, उसको भंग करने या नष्ट करने के लिए नहीं। इसी दृष्टि से चोल सम्राट् के उत्तर भारत पर किए गए आक्रमण को देखना चाहिए।

चोल सम्राट् पांडवों और चेरों के समान चालुक्यों से भी सदा युद्ध करते रहे थे। मूसंगी में चालुक्यों को राजेन्द्र ने हराया और रत्तापदी हस्तगत किया। किन्तु चालुक्य नरेश जयसिंह तुंगभद्रा और इसके परे तक अपने राज्य को कायम रखने में सफल रहा।

मिरज अनुदान (१०२४ ई०) मे[...] कि चालुक्यों ने शक्तिशाली चोल[...] को भगा दिया था। इस युग में [...] चालुक्य युद्ध दो मोर्चे पर लड़े जा[...] पश्चिमी मोर्चे पर मान्यखेट और [...] जहाँ कि तुंगभद्रा नदी दोनों राज्यों की [...] सीमा थी। पूर्वीय मोर्चा वेंगी पर केन्द्रि[...] दोनों पक्ष इस पर अपना अधिकार [...] करना चाहते थे। इस लड़ाई के [...] में चोल-सेनापति गंगा-तट पर पहुं[...] गंगा का पानी वह नए बन[...] सागर के वास्ते लाया। राजेन्द्र [...] तमिल प्रशस्ति में गंगा-अभियान का [...] वर्णन है।

वेंगी का उस समय शासक विम[...] था। वह अपने भाई शक्तिवर्मा [...] जगह गद्दी पर बैठा था (१०११)। [...] नहीं चाहता था कि विमलादित्य का [...] से उत्पन्न पुत्र राजादित्य (नरेन्द्र) [...] दित्य के बाद गद्दी पर बैठे, अतः उसने [...] शिवरम (अनन्तपुर ज़िला) में प्रा[...] के अनुसार——उसके सौतेले भाई [...] विजयादित्य सप्तम का पक्ष लिया [...] राजराजा का राज्याभिषेक न हो[...] इस पर इसने चोल-सम्राट् से मदद [...] चोल-सम्राट् राजराजा प्रथम ने अपने [...] सेनापति अर्यन को भेजा। वेंगी और [...] में सम्भवतः एक ही समय लड़ाई हु[...] के संग्राम में जयसिंह रय ने [...] सहायता के लिए कलिंग और [...] के नरेशों को भी बुलाया। कलिंग [...] ओडडा के नरेशों ने जयसिंह की [...] अतः उनको दण्ड देने के लि[...] सेनापति ने अपना अभियान [...]

र गंगा-तट तक जा पहुँचा । अभिलषित गा का पवित्र उदक लेकर वह नई चोल जधानी जा पहुँचा, जिसे उस समय राजेन्द्र नवा रहा था । वीर राजेन्द्र के चराल-ख से यह स्पष्ट है । तिरुवालंगाडू अभि-ख में यह लिखा है :—

सूर्यवंश के भानु (राजेन्द्र) भगीरथ उपहास करते हुए, जिसने कि अपनी ठोर तपस्या से गंगा को हमारे देश में वतरित किया था, उसी गंगा के पानी को पने बाहुबल से लाया ।

गंगा अभियान दो साल का था । इसका र्थ है कि चोल सेना आँधी के समान गई र तूफ़ान के समान वापस लौट गई । रुवालंगाडू-लेख से भी यह स्पष्ट है कि जेन्द्र स्वयं इस अभियान में न था । उसका नापति ही इसका नेता था । सेनापति ब गंगा से वापस लौट रहा था, तब दावरी के तट पर उसकी भेंट सम्राट से ई थी । इस अभियान का वर्णन तमिल शस्ति व अन्य लेखों में इस प्रकार किया या है : अनेक नद-नदियों को पार कर र अपनी सेना के हाथियों का पुल बनाकर र उनके सहारे पार होकर विक्रमचोल के नापति ने इन्दरथ की प्रबल सेना पर प्रथम आक्रमण किया और उस चन्द्रवंशी जा के देश और आभूषणों को छीन लिया । के बाद रणशूर के विशाल कोश को हस्तगत या और धर्मपाल के देश में प्रवेश करके सको अपने अधीन कर लिया । इस प्रकार गंगा के तट पर पहुँच गया और विजित रेशों को गंगा का जल घड़ों में भरकर ले लने को उसने बाध्य किया ।

तमिल लेखों में यह भी लिखा है कि चोल सेनापति ने गंगा-तट से लौटते हुए महीपाल को जीता । ये दोनों वर्णन परस्पर विरोधी हैं । इस विषय में प्रसिद्ध ऐतिहासिक डॉ० नीलकंठ शास्त्री ने तमिल-प्रशस्ति को प्रामाणिक माना है, क्योंकि वह गंगा-अभियान के तुरन्त बाद लिखी गई थी । इसलिए घटना क्रम के वास्ते इसको प्रामाणिक मानना अधिक उचित है । तमिल-प्रशस्ति के अनुसार उड़ीसा और बंगाल के मध्य जिस प्रदेश से चोल सेना कूच करती हुई गई वह दण्डमुक्ति होगा । इसका शासक धर्मपाल महीपाल का रिश्तेदार होगा । तमिल प्रशस्ति से यह प्रतीत होता है कि पाल वंशी राजा महीपाल सम्राट था और धर्मपाल, रणशूर और गोविन्दचन्द्र उसके सामन्त नरेश थे । चोलों और महीपाल के बीच लाड (राधा) में लड़ाई हुई । बंगाल के एक भाग का यह एक प्राचीन नाम है । यह मिथिला और वारेन्द्र नदियों के बीच का प्रदेश था । बंगाल युद्ध ने चोल सेना का मार्ग बदल दिया । वह कुछ पूर्व की ओर मुड़ गई । इसी कारण दक्षिणी कोशल का मार्ग उसने पकड़ा ।

तिरुवालंगाडू लेख में उल्लिखित यह दर्पोक्ति अतिशयोक्ति हो सकती है कि चोल सम्राट के दण्डनाथ (सेनापति) ने विजित नरेशों को गंगा का पानी घड़ों में भरकर सम्राट राजेन्द्र के पास ले चलने का आदेश दिया, पर एक बात तो स्पष्ट है कि तमिल लोग ११वीं शती में गंगा के प्रति अमित श्रद्धा रखते थे और उसके जल को गंगा-तट वासियों के समान पवित्र मानते थे । चोल अभियान का उद्देश्य गंगाजल को नई राज-धानी ले जाना मात्र न था, बल्कि नैतिक

शक्ति के प्रदर्शन द्वारा राज्य की सीमा से परे अपना अधिकार भी स्थापित करना था और गंगाजल को चोल-राजधानी लाने के मार्ग को निष्कंटक बनाना था। अन्यथा गंगा-जल के पहुँचने की स्मृति में सम्राट् राजेन्द्र गंगा जलमयम जयस्तम्भ स्थापित न करता। गंगा से लाए गए पानी से सम्राट् ने 'चोल गंगा' तालाब का निर्माण किया।

डॉ० राखालदास बनर्जी ने राजेन्द्र चोल प्रथम के गंगा अभियान के प्रभाव का वर्णन करते हुए लिखा है कि कुछ अज्ञात कर्णाट सरदार चोल सेना के साथ आए और पश्चिमी बंगाल में बस गए। इनका ही एक वंशज था सामन्त सेन। यह सेन-वंश का संस्थापक माना जाता है। मिथिला के कर्णाटों का मूल भी सम्भवतः यही हैं। त्रिलोचन शिवाचार्य रचित सिद्धान्त सारावली की एक टीका में लिखा है कि राजेन्द्र ने गंगा तट से शैवों को अपने राज्य में बुलाया। इनको उसने कांचीपुरम् में बसाया।

गोदावरी के तट पर राजेन्द्र ने सेनापति से भेंट की। कलिंग और ओड्डा को वैर प्रदर्शित करने के बदले दण्ड दिया और अपने भांजे राजराजा नरेन्द्र का (१६ अगस्त १०२२) धूमधाम से राज्याभिषेक किया। सम्भवतः इसी समय सम्राट् ने अपनी कन्या का शुभ विवाह राजराजा नरेन्द्र से किया। पर राजेन्द्र के राज्यकाल के ४१ वर्ष शान्ति से नहीं बीते। क्योंकि उसका सौतेला भाई विजयादित्य पश्चिमी चालुक्यों के साथ मिल कर उसको अपदस्थ करने का सदा यत्न करता रहा। अतः राजेन्द्र को भी बार-बार देश में युद्धों के सिलसिले में जाना पड़ा। यही नहीं विजयादित्य वेंगी को विजय करने में सफल हुआ और २७ जून १०३ उसने विष्णुवर्द्धन विजयादित्य के अपना राज्याभिषेक भी कराया। मौके पर चालुक्य सेनापति कावन वेंगी पर आक्रमण किया, विजयवा विजय किया और बहुत बड़े प्रदेश पर कर लिया। अतः राजराजा (नरे पुनः अपने मामा चोल सम्राट् से माँगी। इसका उल्लेख काली दि में है।

राजेन्द्र ने ब्राह्मण सेनापति राजरा महाराज और उत्तर चोल मिलाडूडै पा उत्तम चोल-चोल कोन के सेनापति एक विशाल सेना भेजी। वेंगी काल डिंडी में भयंकर संग्राम हुआ। चोल सेनापति रणक्षेत्र में मारे गए। बाद में हरेक की स्मृति में राजेन्द्र ने बनवाए। यद्यपि चोल सेनापति पर लड़ाई का उद्देश्य पूर्ण हुआ। राजराजा को हम १०३५ में पुनः पर बैठा हुआ देखते हैं। पर इस का अन्त नहीं हुआ। कल्याणी के नरेश सोमेश्वर प्रथम ने राजराजा पर में पुनः आक्रमण किया। राजरा पुनः अपने मामा व श्वसुर चोल स मदद माँगी। राजेन्द्र इस समय गया था। उसने राजधिराज प्र सेना देकर वेंगी भेजा।

चोल सम्राट् राजेन्द्र के गंगा-अभि ओर सर्वप्रथम ध्यान डॉ० एस० के० ने गंगाई कोंडा चोल द्वारा खींचा था। श्री आयंगर ने माना था कि चोल विहार भी गई थी। डॉ० नीलकण्ठ इसमें सहमत नहीं। श्री आयंगर

क्तवाद कि जैसा कि नाम से सूचित होता विहार किसी साम्राज्य की सीमा पार ना चाहिए, जिसकी शक्तिशाली शत्रु संरक्षण की आवश्यकता हो । अतः ण्डभुक्ति ही वस्तुतः विहार है । किन्तु ी आयंगर ने अपने कथन के पक्ष में कोई माण नहीं दिया । फिर मगध में नवीं ती के अन्त में राष्ट्रकूटों का राज्य था । जेन्द्र के विरोधी पालवंशी राजा महीपाल मगध राष्ट्रकूटों से छीना था । उसने र्मपाल को मगध का वायसराय बनाया ा । श्री बनर्जी भी इससे सहमत हैं ।

कामेश्वर का एक नाटक है चण्डकौशिक । स नाटक में कर्णाट की पराजय का वर्णन । तिरुमल्लाई-शिलालेख राजेन्द्र का है । समें लिखा है कि राजेन्द्र ने महीपाल को राया । इसी प्रसंग में एक बात और ामने आई । ओत्ता (उत्तरीय उड़ीसा) राजा का नाम भी महीपाल था, और गाल के राजा का नाम भी महीपाल था । ी आयंगर की मान्यता है कि चोल सेना बंगाल के राजा महीपाल से सर्वथा काबला नहीं हुआ । पर तंजौर का ालालेख स्पष्ट रूप से कह रहा है कि जा महीपाल को किसी उपाय से चोलों बन्दी बनाया । महीपाल बंगाल का जा था यह निर्विवाद है । चण्डकौशिक टक का रचयिता राज्य का आश्रित था । ह अपने स्वामी के बन्दी बनाए जाने की बात ैसे लिखता ? अतः उसके इस लिखने र कि महीपाल ने राजेन्द्र को पराजित कया, विश्वास नहीं किया जा सकता । गाल-नरेश महीपाल ने चोल सेना को गंगा ार करने से रोक दिया । इसका समर्थन तिरुकौली भर के लेख से होता है । डॉ० नीलकंठ का यह कहना है कि जब सैकड़ों लेखक इसके विरुद्ध हैं, तो इस अकेले लेख को प्रामाणिक नहीं मानना चाहिए । लेखक के प्रमाद से भूल हो गई है ।

तिरुवालंगाडू-लेख के चार पदों में चोल सेनापति यों की गंगा-जल की खोज में कूच और महीपाल की पराजय का वर्णन है । शेष में राजेन्द्र की सिद्धियों का वर्णन है । १२० और १२१ पद में लिखा है कि राजा ने स्वतः उतेत्ता के युद्ध का संचालन किया । यहाँ महीपाल और उसके छोटे भाई का वर्णन तक नहीं । राजेन्द्र के राजधानी लौट जाने के बाद इन दोनों का नाम आता है । इस युद्ध में ओत्ता को राजा ने पराजित किया । यही नहीं उसके भाई को भी हराया । इससे खिराज में हाथी लिए । महेन्द्रगिरि शिलालेख (३९६–१२९६) में लिखा है कि कुलूतेश्वर विमलादित्य राजेन्द्र द्वारा पराजित हुआ और विजयी सम्राट् को अपने अनेक हाथी देने को विवश हुआ ।

विचारने की बात यह है कि तमिल सेना के लिए बंगाल-विहार आक्रमण करणे के लिए सबसे सरल और छोटा मार्ग कौन-सा था ? स्वाभाविक संचार-मार्ग उड़ीसा - मेदिनीपुर, हुगली - हबड़ा का है । बंग और उत्तर राध पहुँचने के इसी मार्ग का तिरुमल्लाई-शिलालेख में वर्णन है । बनर्जी ने एक बड़े पते की बात कही है कि चन्द्रवंशी नरेश गोविन्दचन्द्र पूर्वी बंगाल का राजा था और वह चूँकि महीपाल का सामन्त हो गया था, अतः सेना ने बंगाल का मार्ग पकड़ा ।

प्रान्तीय-अभिनिवेश बुरा है और यदि

इतिहास के क्षेत्र में यह प्रवेश कर जाय तो सत्यान्वेषण संभव नहीं। आयंगर-बनर्जी इसी कारण भटक गए। श्री बनर्जी ने लिखा कि श्री आयंगर काम्बे लेख को भूल गए हैं, इसके अनुसार महीपाल प्रथम के सिंहासनासीन होने के कुछ समय बाद गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्य राष्ट्रकूट विजेता इन्द्र तृतीय के प्रबल आघात से छिन्न-भिन्न हो गया। सचाई यह है कि भारत में इसके कारण गुर्जर-प्रतिहार वंश की प्रभुता का अन्त हो गया। उसने मालवा पर आक्रमण किया, उज्जैन जीता और काल्पी के समीप जमुना को पार किया, कन्नौज को उध्वस्त कर दिया और महीपाल को अपने चालुक्य सरदार नृसिंह के ही सामने इलाहाबाद भागने को बाध्य किया। राष्ट्रकूटों के लौट जाने पर महीपाल कन्नौज लौटा, पर इस समय सामन्त स्वतन्त्र हो गए थे। गुर्जर-प्रतिहार वंशी महीपाल कर्नाटक सेना से पराजित नहीं हुआ। इसलिए चण्डकौशिक नाटक को प्रमाण मानना ठीक नहीं।

परन्तु गोविन्द के काम्बे-लेख का अर्थ प्रो० डी० आर० भाण्डारकर ने भिन्न ही प्रकार से किया है। आप पर प्रान्तीयता का आक्षेप भी इस प्रसंग में नहीं किया जा सकता। प्रो० भाण्डारकर का मत है कि इन्द्र तृतीय ने महोदय (कान्यकुब्ज) का विनाश किया, यह वर्णन यथार्थ नहीं, केवल कवित्वपूर्ण है। क्योंकि कवि का उद्देश्य 'महोदय' और 'कुशस्थल' इन शब्दों के आधार पर नाटक का आरम्भ करना है। यह इससे भी प्रकट है कि इसके बाद भी कन्नौज अनेक राजाओं की राजधानी रहा। इन्द्र तृतीय ने महोदय या कन्नौज पर [illegible] किया, इससे अधिक और [illegible] इस कारण उचित न होगा [illegible] तृतीय कुछ समय के लिए अवश्य [illegible] को कन्नौज से भगाने में सफल हुआ [illegible] पालवंशी राजा धर्मपाल और [illegible] हर्षदेव की सहायता से वह पुनः [illegible] और राजधानी पाने में सफल हुआ। [illegible] कौशिक नाटक के भरत-वाक्य में [illegible] का अर्थ समझने में कोई कठिनाई [illegible] चाहिए जब वह यह कहता है कि [illegible] कर्णाट भगा दिये गए। चण्डकौ[illegible] नाटककार ने कौटिल्य और चन्द्रगु[illegible] उसके किए कार्य का उल्लेख कर [illegible] कि उसके लिखने का अर्थ क्या है। [illegible] बताना चाहता है कि जैसे पटना विज[illegible] कौटिल्य को बहुत-कुछ राजनी[illegible] करनी पड़ी उसी प्रकार कन्नौज [illegible] विजय करने में महीपाल को भी [illegible] और उसने विदेशी राजाओं की [illegible] अपना खोया राज्य पाया। [illegible] नाटक की रचना गुर्जर प्रतिहार [illegible] प्रथम के समय हुई, जो कि बंगाल के [illegible] से एक सौ साल पहले हुआ था। [illegible] महीपाल के द्वारा राजेन्द्र के परा[illegible] या राजेन्द्र चोल की सेना के कन्नौज [illegible] की बात सर्वथा अमान्य है। राजे[illegible] की सेना बंगाल से आगे नहीं ब[illegible] गंगा-तट तक पहुँची और 'पानी [illegible] वापस लौट गई।

चोल का यह आक्रमण उन[illegible] भक्ति को सूचित करता है।

हर अब भी एक सम्भावना है
ड़ों की एक दोपहर
क व्यस्त सड़क पर
ता को विदा देते हुए
के मित्र-हाथों को छूकर मैंने जाना—
हाथ जरा-सी देर बाद
ल गये स्पर्श को,
र पहले की तरह अकेले
पास रह गये ।
फ़िक सिगनल पर रुकी हुई भीड़ में
ीं नहीं था मेरे शरीर के लिए कोई अर्थ;
ीं नहीं थी वह शान्त निजी गर्मी
से मैं अपना प्रेम कह सकता—
हलकी-सी अप्रासंगिक हवा थी
से झटका-सा देती हुई रुक गयी एक बस,
डल पकड़ते अपने हाथों को
दुखी होकर देनी चाही अपनी करुणा
मुझे याद आये वे मित्रहाथ,
अभी थोड़ी देर पहले उनमें थे,
से जुड़ा वह शरीर—
प्रतिफलित हो चुका था
और शरीर में—
र मुझे मिल गये कुछ शब्द,
हें मैं वहाँ रख सकता था
ाँ पहले वे हाथ थे—
ड़ों की हवा के ठण्डे झोंके से सिहरते हुए
हृदय में कविता के लिए, हाथों के लिए
एक आशा थी—
र अब भी एक सम्भावना है ।

अशोक वाजपेयी
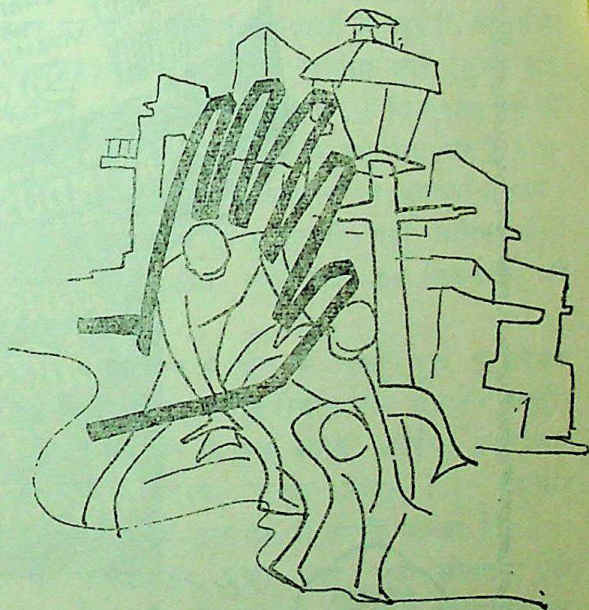
शहर अब भी एक सम्भावना है
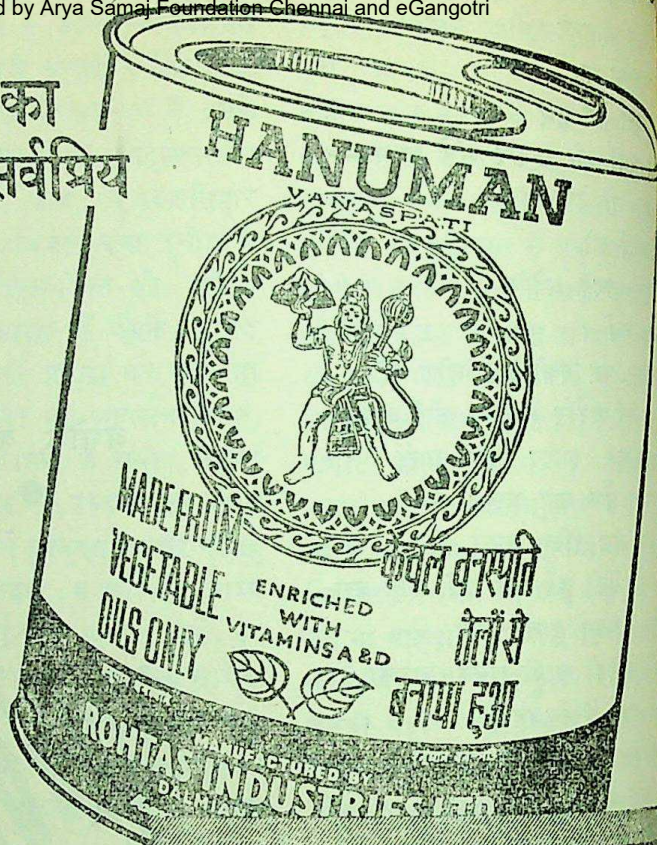
परिवार का
सर्वप्रिय
HANUMAN
VANASPATI
MADE FROM
VEGETABLE
OILS ONLY
ENRICHED
WITH
VITAMINS A & D
केवल वनस्पति
तेलों से
बनाया हुआ
MANUFACTURED BY
ROHTAS INDUSTRIES LTD
SAHU JAIN
INDUSTRIES
रोहतास इन्डस्ट्रीज लिमिटेड
डालमियानगर, बिहार
यदि आप अपने ४ किलोग्राम डिब्बों में भाग्य से एक कूपन पा जाँय तो उसके बदले में एक अपूर्व उपहार ले लें
332
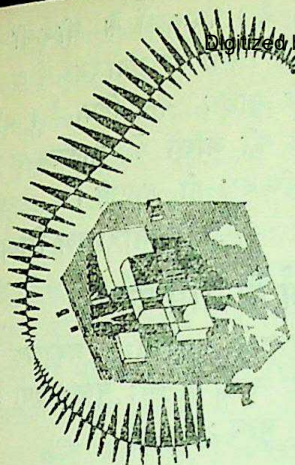
मंगलदीप

(दीपावली '६३ के अवसर पर प्रकाशित वार्षिक संकलन)

सम्पादक : रामरिख 'मनहर'; प्रकाशक : मंगलदीप प्रकाशन, १४, नजीर बिल्डिंग, कालीकट, फोर्ट, बम्बई-१; मूल्य : ३.०० ।

हर वर्ष दीपावली के अवसर पर प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं के बहुरंगी, बहुद्देशीय और बहुरुपिया विशेषांक आँखों को कुछ क्षणों के लिए चौंधिया जाते हैं, (यह बात दूसरी है कि इनमें बहुत कम ही आँखों को रमा पाते हैं !) किन्तु इस वर्ष जो सबसे अधिक रुचिर और पठनीय सामग्रियों का विशेषांक मुझे लगा, वह है, रामरिख 'मनहर' के सम्पादन में बम्बई से प्रकाशित 'मंगलदीप' का वार्षिक संकलन। पुरानी और नयी पीढ़ियों के साहित्यकारों द्वारा जलायी गयीं वर्त्तिकाओं के सम्मिलित मांगलिक आलोक को विकीर्ण करने वाले इस 'मंगलदीप' की ज्योतिर्मयी छटा बेहद लुभावनी लगी ।

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने प्रकाशन के क्षेत्र में अपने कुछ प्रारम्भिक प्रयोगों का उल्लेख करते हुए हिन्दी की तत्कालीन स्थिति और खासकर लाहौर के वातावरण का अपने 'हिन्दी प्रकाशन के कुछ प्रयोग' शीर्षक संस्मरणात्मक निबन्ध में बड़ा ही रोचक विवरण प्रस्तुत किया है। महावीर अधिकारी का 'जब हमारा कलफ़ उतरा' संस्मरण भी काफ़ी अच्छा है।

कुन्दनिका कापड़िया ने कन्हैयालाल मुंशी कृत 'जय सोमनाथ' की नायिका चौला, शरत्चन्द्र कृत देवदास की नायिका पारू तथा शेक्सपियर के

'रोमियो जलियट' की नायिका जूलियट के बीच एक काल्पनिक पारसंवाद की सृष्टि कर गुजराती, बंगाली तथा अँग्रेजी साहित्य के तीन विख्यात नारी-पात्रों के 'त्रिवेणी संगम' के द्वारा इनकी मनो-व्यथा का मनोरम विश्लेषण किया है। यह काफ़ी सफल है।

मुक्ता राजे ने 'अपराजेय निराला' के विद्रोही व्यक्तित्व की विशिष्टताओं से हमें परिचित कराया है। अमृतलाल के धूर्त-रत्न' हास्य और व्यंग का सुन्दर नमूना पेश करते हैं।

कृशनचन्दर, मन्मथनाथ गुप्त, शैलेश मटियानी, मनमोहन 'सरल', जयसिंह, यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र, छेदीलाल गुप्त, सलमा सिद्दीकी, प्रेमकपूर, दीनानाथ शरण आदि की कहानियाँ तथा शरद जोशी का 'परिवार टाइम्स की एक प्रति' शीर्षक हास्य-व्यंग्य और सियारामशरण प्रसाद का 'भ्रम की दीवार' एकांकी इस अंक के विशेष आकर्षण हैं। राजेन्द्र यादव और मोहन राकेश का नाम गिनाए बिना 'मंगल दीप' के सम्पादक को कहानीकारों की लिस्ट अधूरी लगी, लगता है इसीलिए उनका 'यों ही' कुछ छाप दिया गया है।

डॉ० धर्मवीर भारती, नीरज, वीरेन्द्र मिश्र, डॉ० शिवमंगलसिंह 'सुमन' स्व० नेपाली, डॉ० कैलाश वाजपेयी, रामा-वतार त्यागी रामावतार चेतन डॉ० प्रभाकर माचवे, नागार्जुन, भारतभूषण, सरस्वती कुमार 'दीपक', रामरिख 'मनहर', पुरुषोत्तम दास पंकज आदि की कविताएँ इस अंक की शोभा को और भी बढ़ाती हैं।

दो सौ पृष्ठों का यह सम्पूर्ण अंक मोटे आर्ट पेपर पर है। रचनाओं के बीच-बीच भावपूर्ण बहुरंगी चित्रों की संयोजना ने को और भी मोहक बना दिया है। हर देखने वाले की आँखों में आवरण की सुन्दरता तो बस ही जाएगी।

—कीर्त्तिनारायण मि...

धर्म के नाम पर

लेखक : सन्हैयालाल ओझा; प्रकाशक : आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली; पृष्ठ-संख्या ७२५; मूल्य : १०.०० ।

श्री सन्हैयालाल ओझा ने अपने उपन्यास 'धर्म के नाम पर' के प्रारम्भ में लिखा है "....इसमें स्वातन्त्र्योत्तर भारत के मध्यवर्गीय बौद्धिक-वर्ग का प्रतिनिधित्व तो है ही उन सभी श्रेणियों के व्यक्ति भी आपको इसमें मिलेंगे जिनसे पग-पग पर आपका साक्षात्कार होता है।"

उपन्यास पढ़ते हुए लगता है कि लेखक का उपर्युक्त दावा काफ़ी हद तक सही है। अगर आप ध्यान से देखें तो इसके प्रमुख पात्र आनन्दमाधव, गंगाप्रसाद, भीमसेन, मिस्टर गुप्ता, पोस्ता, तिलोत्तमा, कुं... मिसेज़ सिंह आदि आपको अपने आस-पास दीख जायँगे। क्या पता इनमें किसी में आपको अपना प्रतिबिम्ब भी नज़र आ जाए।

उपन्यास की कथा का आरम्भ भारत के स्वतन्त्रता प्राप्त करने के कुछ महीने आगे के समय से होता है। धर्म के नाम पर देश का बँटवारा होता है और धर्म के नाम पर हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के साथ जिस शैतानियत का व्यवहार करते हैं उसके वर्णन के साथ कहानी आगे बढ़ती है। गंगाप्रसाद और उसके छोटे भाई की

पोस्ता के पाकिस्तान छोड़ने और भारत में आकर उदयपुर में आ बसने के साथ उपन्यास अपनी पूरी रवानी पर आ जाता है।

नये स्वतंत्र भारत में गंगाप्रसाद को परिस्थितियों से मजबूर होकर यह कहना पड़ता है कि पोस्ता उसकी पत्नी है। दोनों के सांसारिक रिश्ते को देखते हुए दोनों के बीच जो एक अजीब मनोवैज्ञानिक उलझन पैदा हो जाती है लेखक ने बड़ी सफलता से उसका चित्रण किया है।

चूँकि उपन्यास का कैनवस काफ़ी बड़ा लिया गया है इसलिए कहानी सिर्फ़ पोस्ता और गंगाप्रसाद के आपसी संबंधों और संघर्षों को लेकर नहीं चलती, बल्कि अपनी लपेट में आनन्दमाधव और कपिल जैसे साहित्यकार, मिस्टर गुप्ता जैसे अफ़सर, भीमशंकर जैसे पाखंडी, राजवती जैसी प्रखर बुद्धि वाली नारी, जिसने अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के मार्ग में कोई भी नैतिक-सामाजिक बाधा नहीं मानी, भुवनमोहिनी जैसी कुण्ठा-ग्रस्त स्त्री जो अध्यात्म और रहस्य के झूठे आवरण में अपनी वासनाओं को चरितार्थ करती है, मलकानी जैसा स्वार्थ का पुतला जो गाँधी टोपी और खद्दर के लिबास में समाज-सेवा के बहाने अपना उल्लू सीधा करना ही अपना परम धर्म समझता है, चलती है। इनके अलावा इनसे संबंधित अन्य पात्र भी हैं जो काफ़ी प्रमुख भूमिकाएँ निभाते हैं।

वैसे तो उपन्यास के प्रायः सभी प्रमुख पात्र कुण्ठाग्रस्त हैं: (गंगाप्रसाद इसलिए कि उसकी अपनी पत्नी पाकिस्तान में गुंडों के हाथ पड़कर जान गँवा चुकी है; पोस्ता इसलिए कि उसका पति यमुनाप्रसाद अपनी जेठानी की तरह जान नहीं दे देने के कारण उस पर लांछन लगाकर उसे छोड़ देता है और जब वह गंगाप्रसाद को अपना पति मान लेती है तो भी उसे गंगाप्रसाद से दुलार तो मिलता है, पति के प्यार की गर्मी नहीं मिल पाती; आनन्दमाधव और कपिल इसलिए कि दोनों का ही पारिवारिक जीवन दुःखी है और दोनों ही कवि-हृदय होने के कारण अति भावप्रवण हैं और अपने आवेशों की पूर्त्ति के लिए जहाँ भी जाते हैं, उनकी अपनी मजबूरियाँ उनके साथ रहती हैं; राजवती इसलिए कि यद्यपि वह निर्बन्ध होकर जीवन का लुत्फ़ उठाती है फिर भी उसके मन में किसी का सच्चा प्यार पाने की आकांक्षा है और जिसकी पूर्त्ति में वह असफल होती है; मिसेज़ सिंह इसलिए कि उसे पति का प्यार और विश्वास तो प्राप्त है लेकिन उसकी गोद सूनी है;)—जिस कारण सभी अ-सुख के घने बादलों के बीच चलते-फिरते नजर आते हैं और जिनके लिए पाठक को सहानुभूति भी होती है, लेकिन सबसे ट्रैजिक चित्रण हुआ है आनन्दमाधव की किशोरी पुत्री तिलोत्तमा का जो परिस्थितिवश गुंडों के जाल में फँसती है, जिसके शरीर के साथ हर तरह का अत्याचार होता है और अपनी निर्दोषिता में न तो वह इसे पूरी तरह समझ पाती है और न चाहकर भी प्रतिरोध कर पाती है और अपने-आपको पूरी तरह दुर्भाग्य के हाथों समर्पित कर देती है। इसके बावजूद तिलोत्तमा गंगाजल की तरह पवित्र लगती है और उसका व्यक्तित्व, उसके द्वारा सही गई यातनाएँ, सचमुच पाठक के मर्म को हिला जाती हैं। तिलोत्तमा का चित्रण उपन्यास में सर्वाधिक सफल हुआ है।

विभिन्न पात्रों के चित्रण और उनकी कहानियों के द्वारा लेखक ने स्वाधीनता-प्राप्ति के तुरन्त बाद की सामाजिक परिस्थितियों का भी अच्छा दिग्दर्शन कराया है। दफ्तरों का भ्रष्टाचार, नैतिकता का पतन, स्वार्थान्धता की मात्रा की वृद्धि, मध्यवित्त परिवारों का विघटन आदि के जो चित्र प्रस्तुत किए गए हैं वे न सिर्फ़ सत्य हैं बल्कि आगे की पीढ़ियों के लिए इतिहास का काम करेंगे।

लेखक ने स्थान-स्थान पर कतिपय सामाजिक तथा आध्यात्मिक प्रश्न उठाए हैं, उन पर काफ़ी लम्बे विवाद भी प्रस्तुत किए हैं। संभव है कतिपय पाठकों को वे अनावश्यक प्रतीत हों और वे समझें कि घटना-प्रवाह में वे बाधा ही बनते हैं। लेकिन उपन्यासकार यदि अपने इस माध्यम के द्वारा अपने सिद्धान्त प्रतिपादित करना चाहता है तो उसे इसकी स्वतंत्रता तो देनी ही पड़ेगी, और यदि यथार्थ की ही बात लें तो कौन नहीं जानता कि जब कुछ प्रबुद्ध व्यक्ति मिल बैठते हैं तो समाजशास्त्र, दर्शन, विज्ञान आदि विषयों पर काफ़ी लम्बे विवाद अक्सर होते रहते हैं।

और उपन्यास (विशेषकर 'धर्म के नाम पर' जैसा उपन्यास) जीवन का यथार्थ चित्रण ही तो है!

उपन्यास के आरम्भ के २६ पृष्ठों पर फैला हुआ 'संक्रमण' नामक प्रथम अध्याय दरअसल उपन्यास की भूमिका है जिसे मूल उपन्यास का अंग नहीं बनाकर अगर भूमिका का नाम दिया जाता तो अधिक उपादेय होता। कुल मिलाकर प्रस्तुत उपन्यास साहित्य की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

—द्वारकाप्रसाद

स्वस्थ रहना हमारा जन्मसि[द्ध] अधिकार है

लेखक : धर्मचन्द सरावगी; प्राप्ति-स्था[न] एकमे कंपनी, ८।१ एस्प्लेनेड [ई]स्ट कलकत्ता–१; मूल्य : २.००

हिन्दी साहित्य का सम्प्रति सर्वां[गीण] विकास हो रहा है। कला-सा[हित्य] इतिहास, विज्ञान, चिकित्सा आदि वि[षयों] पर साहित्य का सृजन हो रहा है। कि[न्तु] प्राकृतिक चिकित्सा संबंधी सा[हित्य] का हिन्दी में प्रायः अभाव है। अ[वश्य] इस विषय की कुछ पुस्तकें प्रकाशित हुई [हैं] लेकिन प्राकृतिक चिकित्सा की सीमा जि[तनी] विस्तृत है, उस दृष्टिकोण से इस विषय [के] अधिकारी व्यक्तियों द्वारा लिखित प्र[चुर] साहित्य की आवश्यकता है। श्री धर्म[चन्द] सरावगी के लिए प्राकृतिक चिकित्सा [का] प्रचार और प्रसार उनके जीवन का मि[शन] है। प्राकृतिक चिकित्सा संबंधी उ[नके] ज्ञान की मान्यता न केवल अपने देश में [ही] अपितु विदेशों में भी है और वहाँ के प्रा[कृ]तिक चिकित्सा-प्रेमियों एवं विशेषज्ञों में उन[का] सम्मानपूर्ण स्थान है। ऐसी स्थिति [में] प्राकृतिक चिकित्सा के स्वरूप की व्या[ख्या] करने वाली एवं व्यक्तिगत अनुभवों [पर] आधारित ज्ञान से परिपूर्ण इस पुस्तक [का] स्थान महत्वपूर्ण है।

पुस्तक के प्रारम्भ में ही, अपने अनु[भव] के दो शब्द के रूप में लेखक ने यह स्पष्ट [कर] दिया है, कि प्राकृतिक चिकित्सा स्वयं [में] चिकित्सा-पद्धति नहीं है, बल्कि शरीर [को] अपने को रोगों से मुक्ति पाने एवं स्[वस्थ] रखने का एक जीवन-क्रम है।

शब्दों में यह कहा जा सकता है कि शरीर के प्राकृतिक विकास में बाधा डालने की प्रवृत्ति से हम बचें—वह बाधा चाहे अप्राकृतिक खान-पान से हो, अप्राकृतिक जीवन-यापन से हो या जादू की तरह आराम पहुँचाने वाली दवाओं का शरीर में प्रवेश कराकर उसे विशक्त करने से हो। लेखक का कहना है कि यदि शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य चाहते हैं, तो प्रकृति के ऊपर निर्भर करें। प्रकृति ही हमें स्वास्थ्य प्रदान करेगी।

अपने अनुभव के आधार पर लेखक ने यह सिद्ध किया है कि कोई भी रोग हो, वह दवा से नहीं, प्रकृति के सान्निध्य में जाने से दूर होगा। गत बीस वर्षों में अपने परिवार एवं परिचितों-मित्रों के ऊपर इस अचूक नुस्खे को उन्होंने सफल रूप से प्रयोग करके देखा है। यह सफलता जिस तरह विभिन्न रोगों को प्रकृति की सहायता से दूर करने में मिली, उसी तरह विभिन्न वय के व्यक्तियों के ऊपर भी उन्होंने सफल प्रयोग किया—अपने बच्चों से लेकर, वृद्ध माता-पिता तक।

इस पुस्तक में शरीर की कार्यपद्धति, रोगों के कारण और स्वास्थ्य की पुनःप्राप्ति, में लेखक ने दिखलाया है कि स्वास्थ्य और दीर्घजीवन प्राप्त करना हमारे अपने ही हाथ में है। उसके लिए हमें धन खर्च करने की आवश्यकता नहीं, मात्र अपनी आदतों में परिवर्तन करने की जरूरत है।

पुस्तक के अन्त में लेखक ने 'भोजन की विस्तृत और क्रमबद्ध तालिका' अध्याय के अन्तर्गत हमारे लिए पोषक एवं उपादेय खाद्य का विवरण प्रस्तुत किया है, साथ ही दिखलाया है कि किन महीनों के लिए कौन-कौन खाद्य पदार्थ उपादेय हैं। सबसे बड़ी विशेषता है यह कि इसमें विभिन्न आर्थिक स्थिति में एवं विभिन्न रुचियों के व्यक्तियों के लिए चुनाव करने की गुंजाइश रखी है। संपन्न व्यक्ति मँहगे आनेवाले फलों, साग-सब्जियों, तरकारियों आदि का उपयोग कर सकते हैं लेकिन मध्य वित्त एवं साधारण स्थिति के व्यक्तियों के लिए भी अपनी रुचि के अनुकूल खाद्य-पदार्थों का चुनाव करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। विशेष बात यह है कि लेखक ने जन-साधारण के इस भ्रम को दूर कर दिया है कि केवल मँहगे फलों में ही पोषणतत्व हैं; बल्कि उसने यह दिखलाया है कि मौसम में आनेवाले सस्ते बिकने वाले फलों, साग-सब्जियों आदि में भी पर्याप्त पोषणतत्व हैं और वह मँहगे फलों से किसी भी प्रकार कम नहीं हैं। इसके साथ ही लेखक ने इस भ्रम का भी निराकरण किया है कि प्राकृतिक चिकित्सा मँहगी है। उसने यह स्पष्ट दिखलाया है कि वह सब की पहुँच के भीतर है।

स्वास्थ्य संबंधी विश्लेषण करते हुए लेखक ने एक जगह लिखा है—'स्वास्थ्य एक ऐसा मूल्यवान रत्न है, जिसका मूल्य लोग उसके खो जाने पर ही आँकते हैं।' वास्तव में यह कथन सर्वथा सत्य है।

स्थान-स्थान पर चित्रों द्वारा भावाभिव्यक्ति से इस पुस्तक की उपादेयता और भी बढ़ जाती है। इस पुस्तक का अधिकाधिक प्रचार-प्रसार होना चाहिए, ताकि हमें अपने स्वास्थ्य के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी हो सके।

—हर्षनाथ

सीमा का पत्थर

लेखक : वेद राही; प्रकाशक : जे० आर० हरकिशनलाल चोपड़ा, जम्मू (जम्मू-कश्मीर); पृष्ठ-संख्या : १५१; मूल्य : ३.००

वेद राही की कहानियों में एक अजीब सादगी है, यह सादगी कथा के 'कथनढंग' से लेकर भाषा और विशिष्ट 'मूड' की सादगी है। मैं वेद राही की कहानियों का एक अर्से से पाठक हूँ और पाठक के धरातल पर साधारण ढंग से मैंने उन्हें पसंद किया है। दो-एक कहानियाँ छोड़ दी जायँ तो 'सीमा का पत्थर' की कहानियाँ साधारण आदमी की 'सेन्सिविटी' को जगाने और आदमी के 'इमोशन्स' को 'एक्सप्लायट' करने के अलावा कुछ नहीं है। क्योंकि अक्सर अपने तमाम यथार्थ परिवेश के साथ-साथ ऐसी कहानियाँ अबूझा 'फेयरी तत्व' अपने में लिए रहती हैं। हाँ, इस फ़न में वेद राही माहिर है कि वह बस में चलते हुए, कहीं बैठे हुए किसी भी हल्के क़िस्म के अनुभोग को कहानी दे देता है। और जहाँ कहीं साधारण अनुभव के माध्यम 'सामाजिक-न्याय' का संकेत उभरा है, वहाँ कहानी का नया अर्थ उभरता है। बहुत सादगी वेद राही की 'डिस्क्वालिफ़िकेशन' भी है। क्योंकि कहानी से नये व्यक्ति को समीप लाने का तरीक़ा जटिल भी है, इसलिए भाषा, शिल्प और प्रस्तुतीकरण के तीनों तत्वों में जटिलता आ जाती है। इन सब बातों के बावजूद वेद राही की कहानियाँ हिन्दी की अपने ढंग की कहानियाँ भी हैं क्योंकि उनमें कोई किसी तरह का कुंठित आग्रह नहीं है। इन कहानियों में आदर्श के परम्परागत रूप के प्रति 'व्यंग' आरोपित नहीं लगता। पहली कहानी में ही 'अतीत-की स्थिति 'पति' नामक जीव के प्रति क्षणिक विलगाव प्रस्तुत करती है। क्षणोपरान्त नायिका अपने पहले विचार में आलिप्त हो जाती है। 'होटल' इस संग्रह की एक अच्छी कहानी है क्योंकि वह [illegible] के जीवन की विचित्रता पेश करती है। उसमें अपनी पुत्री के प्रति एक [illegible] के आरोपित हो जाने से प्रकट स्थिति [illegible] विचित्रता है। इसके अतिरिक्त कई [illegible] कहानियाँ हैं—'बुलबुल', 'झील डल की शाम', 'विवश' इत्यादि—जो निःसंदेह [illegible] तरह की अच्छी कहानियों के मुक़ाबले में रखी जा सकती हैं।

—गंगाप्रसाद वि[illegible]

वातायन
(मूल्यांकन विशेषांक)

सम्पादक : हरीश भादानी; कार्यालय : डागा बिल्डिंग, बीकानेर (राजस्थान) पृष्ठ-संख्या : ४००; मूल्य : २.००

यह विशेषांक इस दशक के [illegible] की परिवर्तित सृजन एवं मूल्य सम्बन्धी सीमाओं का आभास [illegible] करने के उद्देश्य को ध्यान में [illegible] निकाला गया है। शिल्प, शैली, [illegible] आदि की नवीन उपलब्धियों और [illegible] विकासोन्मुख गति की दिशाओं का [illegible] मूल्यांकन हो सके, इसलिए नाटक-एकांकी, उपन्यास-कहानी, गीत-नयी कविता, सैद्धान्तिक विवेचन-व्यावहारिक आलोचना, पत्रिकाएँ, बाल-साहित्य—सब पर [illegible] लिखवायी [illegible] के द्वारा गंभीर समीक्षाएँ [illegible] हैं।

नयी पीढ़ी समसामयिक हिन्दी साहित्य को किस दृष्टि से आँकती है—वातायन का यह अंक इस प्रश्न का उत्तर है। अपनी उपलब्धियों का स्वयं मूल्यांकन-आत्मविश्लेषण भविष्यत साहित्य को निश्चित गति और सही दिशा देने में सहायक होता है। अतः वातायन की यह वृहत योजना समस्त सजग पाठक और साहित्य के विद्यार्थियों को लाभान्वित करेगी। सृजनपक्ष के अन्तर्गत इसमें कुछ विशिष्ट लेखकों की रचनाएँ—(कविता-कहानियाँ) दी गयी हैं जो उनके दृष्टिकोण में पिछले दशक की उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। यह मानदण्ड जहाँ पाठकों और लेखकों को वैचारिक धरातल पर अधिक निकट लाता है, वहीं मूल्यांकन के विभिन्न आयामों को भी उद्घाटित करता है। चयनिका-खण्ड में, नयी कविता : नया आयाम, समकालीन साहित्यबोध, एक दशक : दश कविता-संग्रह, दश उपन्यास और कहानियों के अन्तर्गत पिछले दशक की रचनाओं पर विचार किया गया है। सम्पादकीय में मूल्यांकन की समस्याओं पर गंभीर विवेचन के द्वारा अंक को अधिक उपादेय बना दिया गया है।

—कीर्तिनारायण मिश्र

चार काव्य-संकलन बनाम चार पीढ़ियों का दर्द

चार खेमे : चौंसठ खूंटे : बच्चन; प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली; पृष्ठ : २०२; मूल्य : ४.००

तुम्हारे लिये : गोपीकृष्ण गोपेश, प्रकाशक : साहित्यभवन, लि० प्रयाग, पृष्ठ : १०४; मूल्य : ४.००

बनफूल : रूपनारायण त्रिपाठी, प्रकाशक : शीतायन, प्रयाग पृष्ठ : १००; मूल्य : ३.५०

अंकुर की कृतज्ञता : दिनकर सोनवलकर; प्रकाशक : लोकचेतना प्रकाशन, जबलपुर; पृष्ठ : ८७; मूल्य : ३.५०

डॉ० बच्चन, गोपीकृष्ण गोपेश, रूपनारायण त्रिपाठी और दिनकर सोनवलकर के काव्य संकलन चार पीढ़ियों के होते हुए भी कहीं-कहीं एक है, कहीं-कहीं उनमें स्वाभाविक, अस्वाभाविक अंतर भी है।

जिन्होंने बच्चन की कविता-यात्रा सतर्कता से की होगी उन्हें लगेगा कि बच्चन का काव्य-व्यक्ति भारतीय परम्परा-धारण के अनुसार समय के हाथों विभिन्न स्वाभाविक दिशाओं में मुड़ता रहा है। आज भी बच्चन गीत लिखते हैं, सहज, मोहक, ताजे और प्रभाविष्णु किन्तु वह मस्ती नहीं, जोश नहीं। किन्तु क्या यह बच्चन के कवि के लिए सम्भावित पथ नहीं है? जब अपनी बाँहों पर भरोसा था तो ईश्वर की सत्ता तक में उन्हें पूर्ण विश्वास नहीं था। आज जब अपनी भुजाओं की शक्ति का अनुमान लग गया है तो वे कहते हैं :

मैं तो बहुत दिनों पर चेता।

*

प्रभु मंदिर यह देह री।

'चार खेमे : चौंसठ खूंटे' में आत्म परिचयात्मक—जैसे 'चलते रहो के कुछ माने', 'प्रार्थना', 'बंजारे की समस्या; भक्ति-ज्ञान सम्बन्धी —'चल बंजारे', 'कैसा मोह जगह का', 'मैं तो बहुत दिनों पर चेता', 'प्रभु मंदिर यह देह' प्रभृति....; लोक धुनों पर आधारित प्रेम तथा विराग राग की रचनाएँ जिसकी सीमा में मंचगान भी आते

हैं तथा सम-सामयिक चेतना से उद्भूत कविताएँ जो प्रायः अतुकांत किन्तु अत्यधिक सरल हैं।

पहले प्रकार की रचनाएँ पाठकों को बच्चन की परम्परा में ही लगेंगी। हाँ, दूसरा प्रकार भी उनकी परम्परा का ही परिष्कृत रूप है किन्तु नया और कुछ आश्चर्यजनक भी। सम-सामयिक चेतना की अभिव्यक्ति यहाँ भी उतनी ही सहजता तथा उत्कृष्ट व्यंग्य, पीड़ा से सन्नद्ध है जैसी 'त्रिभंगिमा' में देखी गई थी। और दरअसल बच्चन का यही रूप अधिक आकर्षक तथा जीवन्त लगता है क्योंकि बच्चन के कवि की प्रारम्भिक निर्भीकता, निश्छलता, स्पष्टता और जन-मन-रंजकता यहाँ भी अपने सम्पूर्ण गुणों के साथ विद्यमान है। यद्यपि कुछ रचनाएँ भरती की भी हैं, कमज़ोर हैं।

●

'तुम्हारे लिए' काव्य संकलन की अधिकतर रचनाएँ—१९५६ तक की हैं। गोपेश एक सहज प्रतिभावान गीतकार हैं और उनके गीत यहाँ भी मन को छूते हैं। अतुकांत कविताएँ भी 'प्रयोग' के नाम पर न लिखी जाकर भावोच्छवास-सी प्रतीत होती हैं, इसीलिए बोधगम्य और सरल हैं; इन कविताओं की मर्मस्पर्शिता ही इनकी सबसे बड़ी सशक्तता है, सफलता है।

यों गोपेश का यह संकलन—जैसा उन्होंने भूमिका में स्वीकारा है—उनकी सजीवता का परिचय तो देता है अवश्य; किन्तु इस सजीवता में अपेक्षित ताज़गी नहीं है। गीत पुराने और गाए हुए लगते हैं। अच्छा होता गोपेश ने अपने नए गीत (जो इधर पत्रों में आए हैं) भी इसमें सम्मिलित कर दिए होते। फिर भी पुस्तक प्रेमियों का मनोरंजन करेगी। हिन्दी का एक ऐसा भी पाठक वर्ग है जो विशेष प्रशंसा का साधन भी सिद्ध करेगी।

●

'वनफूल' में सभी प्रकार के फूल हैं प्रेम, विरह, स्नेह, करुणा, सुधियाँ आमंत्रण। यहाँ तक कि व्यंग्य के फूल हैं किन्तु ताज़े खिले हुए और फिर भी सभी फूल अत्याधुनिक सभ्यता से दूर के हैं—यानी कुछ गाँव की तलैया तट के हैं तो कुछ ऐसे बगीचे के जिसकी दीवारियाँ वर्षा में ढह चुकी होती हैं सभी की आँखें पहुँचती तो हैं, किन्तु प्रायः उधर देखकर भी नहीं देखते। कोई पारखी उधर से गुज़रता है तो निहाल हो जाता है। केवल आँखें ही तृप्त होतीं तन-मन सब अघा जाते हैं।

"बूढ़े बाबा-सा पड़ोस का पीपल बुला रहा"

या

'हो गया वह राह का पीपल बड़ा,
निमिया सयानी हो गई'

यों त्रिपाठी के गीत, मुक्तक, गीत (ग़ज़लें) सभी फूल ऐसी डाल के जिनकी जड़ें ज़मीन में बहुत दूर तक गई हैं! इसीलिए इनकी जीवन्तता नष्ट होने की आशंका नहीं होती।

●

'अंकुर की कृतज्ञता' एक नवीनतम की परिचायिका है; उस पीढ़ी की न तो परम्परा का परित्याग किया है न फ़ैशन के रूप में नवीनता को स्वीकारा है; वरन् जिसने युग और परिवेश को वाणी देकर अपने कविकर्म का

ही सही किन्तु समर्थ प्रकाशन किया है। 'अंकुर की कृतज्ञता' में नवजात अंकुर की पुरानों के प्रति श्रद्धा भी है और सद्भावना भी; किन्तु वहीं उसकी उपेक्षा भी द्रष्टव्य है तथा तिरस्कार भी। क्योंकि आखिर जब नए को यथोचित प्रोत्साहन न मिले तो फिर वह किसलिए किसी का कृतज्ञ हो? यों सोनवलकर की रचनाएँ अधिकांश परिपक्व और अपने कथ्य तथा शिल्प में मौलिक हैं। विशेषकर व्यंग्य में कवि को अद्भुत सफलता मिली है।

●

प्रस्तुत चारों संकलनों की भाषा एक-सी है। भावों की अभिव्यक्तिगत सहजता सर्वत्र है। यों आज की घुटन, कटुता व्यंग्य और राजनीतिक चेतना भी 'बच्चन', दिनकर सोनवलकर तथा त्रिपाठी की कविताओं में यत्र-तत्र प्राप्य है।

ये संकलन इस बात के द्योतक हैं कि आज का रचनाकार सभी दृष्टियों से सतर्क, समृद्ध तथा विशेष है।

—चंद्रदेव सिंह

●

पत्र-विशेषांक पर एक महत्त्वपूर्ण प्रतिक्रिया

इलाहाबाद, २७-११-६३

'ज्ञानोदय' का पत्रांक मिला। आदि से अन्त तक पढ़ डाला। वर्षों बाद ऐसा सुन्दर, सुसंयोजित, सुसम्पादित और वैविध्यपूर्ण अंक पढ़ने को मिला। मैं आदि से अंत तक एक-एक पंक्ति पूरी दिलचस्पी के साथ पढ़ गया। साहित्य, कला और विचारों के क्षेत्र में विभिन्न विषयों पर जो अलग-अलग दृष्टिकोण आज के अस्थिर, द्रुत परिवर्तनशील और निरन्तर प्रवहमान युग में संभव है वे सब पात्रों के माध्यम से इस अंक में संकलित कर सकने में ज्ञानोदय ने जो सफलता पायी है उसके लिए मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार कीजिये।

भारतीजी का पत्र—'कोहरे का नगर : ट्यूलिप के द्वार' शीर्षक—एक तटस्थ किन्तु भावुक और बौद्धिक द्रष्टा की ताजी दृष्टि से देखे गए अछूते चित्र—अतीत और वर्तमान इंगलैण्ड के—प्रस्तुत करता है। जिस कोहरे से आज का इंगलैण्ड भीतर से और बाहर से ढँका हुआ है उसके भीतर की गहराई में और उसके पार भी भारती जी ने दृष्टि डाली है। सबसे अधिक आनन्द का प्रसंग वह है जहाँ इस कवि-प्राण लेखक ने उपनिवेशवादी छाया के पार कवियों के इंगलैण्ड की आत्मा के दर्शन कराए हैं।

सृष्टि और दृष्टि

गोयलीयजी ने 'काग़ज़ पे रख दिया है कलेजा निकालकर' शीर्षक से उर्दू-लेखकों और लेखिकाओं के मन को पूरी तरह से गुदगुदाने वाले पत्रों का बहुत अच्छा संकलन किया है।

सर्वश्री अमृतलाल नागर, कृश्नचन्दर और फणीश्वरनाथ 'रेणु' के पत्र उन तीनों की विशिष्ट शैलियों के ही अनुरूप हैं। श्री फ़िक्र तौंसवी ने संपादक की मेज़ से जो पत्र लिखे हैं वे सब बड़े ही चुटीले हैं। श्री भँवरमल सिंघी का परिवार-नियोजन से सम्बन्धित पत्र, जो उन्होंने अपने एक मित्र को लिखा है, उपदेशप्रद और तर्कपूर्ण है।

अमृता प्रीतम ने अपने महबूब और तसव्वुर को जो पत्र लिखा है उसमें एक कवयित्री के अन्तर के भी अन्तर की सुकुमारतम मर्म-वेदना एक दर्द भरे संगीत की झंकार की तरह बज उठी है।

श्री कुँवरनारायण ने एक कलाकार मित्र को जो पद्यात्मक पत्र लिखा है उसमें केवल अभिव्यक्ति की सहजता ही नहीं, वैयक्तिक बोध की ईमानदारी भी भरी हुई है। श्री कैलाश वाजपेयी की प्रेरणा से 'दि ट्रायल' के नायक ने अपने स्रष्टा काफ्का को जो पत्र लिखा है उसमें आज के एक अस्तित्ववादी इन्टेलेक्चुअल की अन्तरात्मा की उलझन सुस्पष्ट रूप से मुखर हो उठी है।

'चौदह फूलों का एक गुलदस्ता' माचवे जी का एक अच्छा सूचनात्मक पत्र है।

डॉ० देवराज लिखित 'सीता के नाम क्लियोपेट्रा का पद्यात्मक पत्र' पिछले युग की एक अच्छी शैली की याद दिलाता है।

राही मासूम रज़ा ने 'प्यारे और प्रिय' का भेद अपने पत्र में पूरी तरह से दूर कर दिया है। उनका पत्र पढ़कर इच्छा होती है कि वर्तमान में एक बार 'टैगोर' की कविता सुनाऊँ, वाल्मीकि को तुलसी की और कालिदास को महादेवी, पंत और निराला की। सचमुच उन पुराने सुनने वालों को सुनकर बड़ा मज़ा आयेगा—और विश्वास मानिए वे सब इन नयों की कविता में भरपूर दिलचस्पी लेंगे। 'पुराणमित्येव'....... का नारा लगाने वाला और नयी कविता के महत्व की दुहाई देने वाला कवि कालिदास तो सुनकर उछल ही पड़ेगा—उसे केवल नए प्रतीकों का अर्थाभास भर बना देने की आवश्यकता पड़ेगी।

राही मासूम रज़ा के पत्र का जो उत्तर श्री शरद देवड़ा ने लिखा है उसमें बुज़ुर्ग लेखकों के प्रति भले ही कुछ हल्के छींटे कसे गए हों पर है यह बड़ा ही प्यारा और सहज हार्दिक भावना से भरा पत्र। मुझे पूरी आशा है, शरद जी अपना हर दृष्टिकोण से नया उपन्यास पूरा कर डालेंगे और बुज़ुर्ग आलोचकों की अनुमानित-सम्मति के डर से उसे अधूरा ही नहीं छोड़ देंगे। उस उपन्यास के कुछ अंश मैंने भी सुने हैं—मुझे उतना अंश संदर्भच्युत लगने पर भी बहुत प्यारा लगा था, और उसे पूरा देखने की इच्छा बनी हुई है।

विद्यानिवास जी ने इंटेलेक्चुअल भैया के पास परंपरा जीजी का जो पत्र पहुँचाया है वह बहुत ही स्नेह भरा और विवेकपूर्ण है, पर उसमें भरे उपदेश भैयाजी को कहाँ तक स्वीकृत होंगे, यह विचारणीय है।

दुष्यन्तकुमार जी ने बेघरबार इंसानों की ओर से विश्व के नेताओं के नाम जो पत्र लिखा है वह अंतर की सचाई से निखरा और दर्द से भरा है।

श्री धनंजय वर्मा का मौत की देहरी से लिखा पत्र अँतर की अंधेरी गहराइयों में पैठनेवाले एक सूक्ष्म संवेदनशील कलाकार का पत्र है।

पराए पत्रों की सुगंध सूँघकर मस्त रहने वाले कलाकार श्री शरद जोशी का लिखा स्वीकारोक्तिपूर्ण पत्र बहुत रोचक है।

डॉ० नगेन्द्र के पहले और एकमात्र अन्तरंग पत्र को बहिरंग बनाकर आपने सम्पादकीय कौशल का अच्छा परिचय दिया है। इसमें अंतरंग पत्र लिखने की वैयक्तिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक बाधाओं पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

'पाठक क्या कर सकता है?' यह श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' का अच्छा उपदेश पूर्ण और निबंधात्मक पत्र है।

'हमें अभिनेय नाटक दो'—में नेमिचन्द्र जी ने जो माँग की है वह मंच की व्यावहारिक आवश्यकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

'शोभा का पत्र : शोभा के नाम' भावुकता से भरा होने पर भी अंतर की सहज संवेदना और भावज्ञता के कुशल मिश्रण से सुन्दर हो उठा है।

'अपना और अपने यार-दोस्तों का विज्ञापन' बहुत ही सटीक शीर्षक है—श्री संदीपन चट्टोपाध्याय के पत्र का। 'ग्रंथ-ग्रंथ में मूत्र की गंध' सुँघानेवाले इन दोस्तों से मेरा भी अच्छा परिचय है। एक लम्बी परंपरा तक विभिन्न प्रकार की दिव्य और पार्थिव गंधों को सुँघाते रहने वाले साहित्यिक युगों के बाद आज के साहित्य-संसार को इस महागंध के वितरकों की ही तो आवश्यकता थी। तभी तो जीवन की दिव्य अनुभूति का स्वप्न देखने वाले दक़ियानूसी कवि रवीन्द्रनाथ की रचनाएँ 'तीन जोड़ी लातों की ठोकरों से पाँवपोश पर लुढ़कती' नज़र आ सकीं। समय का फेर है। साहित्यिक स्वर्णांचल के उस पार से आज के जीन्सवर्गियों का जो दल टिड्डियों की तरह आज की नयी काव्यभूमि पर उतरता चला आ रहा है, किसमें इतना बल है कि उसके अवतरण से आने वाली बाढ़ को रोक सके। बेचारे रवीन्द्रनाथ की इस दुर्गति पर एक-आध आँसू बहानेवाला भी अब कोई न रहा। और क्या लाभ है आँसू बहाने से? यथार्थ-वादी दृष्टि तो यही कहती है कि महाकवि की कृतियों के इस महापतन पर अर्थात् महाकाल के परिवर्तनशील चक्र के वर्तमान रूप पर खुलकर अट्टहास किया जाय।

अंत में, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन का जो खुला पत्र पंडित नेहरू के नाम छपा है उसके सम्बन्ध में मुझे यही कहना है कि लेखक की तीव्र विश्लेषण बुद्धि और ईमानदारी प्रशंसनीय है।

इन पत्रों के अलावा बीच-बीच में विदेशी लेखकों के जिन पत्रों के अनुवाद दिये गए हैं वे अंक की विविधता और शोभा को बढ़ाने वाले हैं। साथ ही कुछ स्वदेशी लेखकों के छिटपुट पत्रों से जो अंश बीच-बीच में सजाए गए हैं, उनसे भी पत्रांक की शोभा में वृद्धि ही हुई है। सम्पादकीय वक्तव्य से इस अंश का उद्देश्य बहुत अच्छे ढंग से सुस्पष्ट हो उठा है।

—इलाचन्द्र जोशी

सांस्कृतिक जागरण, साहित्यिक विकास-उन्नयन और
राष्ट्रीय ऐक्य एवं राष्ट्र-प्रतिष्ठा की साधिका
एवं
भारतीय भाषाओं की सर्वोत्कृष्ट
सर्जनात्मक साहित्यिक कृति पर
प्रतिवर्ष एक लाख रुपये
पुरस्कार योजना प्रवर्तिका
विशिष्ट संस्था

उद्देश्य
ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्री का
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा
लोक-हितकारी मौलिक
साहित्य का निर्माण

संस्थापक : साहू शान्ति प्रसाद जैन
अध्यक्षा : श्रीमती रमा जैन
प्रधान एवं सम्पादकीय कार्यालय : ९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७
प्रकाशन कार्यालय : दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी—५
विक्रय केन्द्र
३६२०/२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, दिल्ली-६

भारतीय ज्ञानपीठ

के

नये चार पठनीय प्रकाशन

० अर्द्धशती

बालकृष्ण राव

'अर्द्धशती' की कविताओं के लिए परिचय की अपेक्षा नहीं, जैसे प्रवाल के दानों के लिए या गन्धराज के टटके फूलों के लिए नहीं होती। ये कविताएँ 'बालकृष्ण राव' की हैं, यही कहना भर काफ़ी है। बालकृष्ण राव की अभिव्यक्ति एक बड़ा-स्वच्छ मुकुर है जिसमें समष्टि अपने को देखती है, जिससे वह चेतना ग्रहण करती है, और प्रेरणाएँ लेती है। प्रस्तुत कविताओं की बड़ी विशेषता यही है कि न इनकी अनुभूतियों में कोई दुराव है न अभिव्यक्ति में किसी प्रकार का उलझाव। बड़े सच्चे सधे हुए स्वर जिनमें प्रौढ़ पीढ़ी का बोध तो गूँजता ही है, नयी पीढ़ी की चेतनाएँ भी स्पन्दित हैं।

मूल्य ३.००

० काग़ज़ के फूल

भारतभूषण अग्रवाल

हिन्दी में एक बिल्कुल नयी चीज : 'तुक्तक', जो मिठाई से ज्यादा मीठे मगर ऐसे पैने-नोकदार कि सीधे निशाने पर बैठें और फिर मासूम बने वहीं मँडराते रहें ! लुत्फ़ की बात यह कि इनकी चोट न दिल पर होगी न दिमाग पर, ऐसी नाज़ुक जगह कहीं और ही होगी कि ख़ुद निशाना होकर भी बे-साख्ता: सबके साथ अपने को भी अपने ऊपर क़हक़हा लगाता पाएँगे। इन शरबती तीरों ने अपनी अन्दाज़ भरी छेड़छाड़ और चुहलबाज़ी कुछ ऐसे चोटी के हिन्दी कवियों तक के साथ भी की है जो आपके प्रिय हैं और जो अपने क़हक़हों में आपके क़हक़हे भी शामिल कर लेना चाहते हैं।

मूल्य २.००

० भाव और अनुभव

मुनि नथमल

जीवन पूरा विकसित हो और अपने को प्रमाणित भी कर सके, इसके लिए न केवल चलते जाना पर्याप्त होगा न देखते-दिखाते रहना। व्यवहार-जगत् में आँख और पाँव दोनों का रहना आवश्यक है। श्रद्धा हमारी आधारभूमि हो और बुद्धि उसके ओर-छोर की अंजोरनी आलोक शिखा। यहीं सूक्तियों और नीति-वचनों का विशेष उपयोग और महत्व होता है। इनमें श्रद्धा और बुद्धि दोनों का ऐसा समन्वित स्वर वाचा पाता है जो अनुभूतियों की आग में तपा हुआ भी होता है। प्रस्तुत संकलन तो अपनी सरसता, सौम्यता और व्यापक दृष्टि को लेकर और भी मूल्यवान हो जाता है।

मूल्य १.५०

० क्षण बोले कण मुसकाये

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

'क्षण बोले कण मुसकाये' प्रभाकर जी की कृति है, मात्र इतना कह देना इस बात का प्रमाण है कि यह पुस्तक पठनीय है, माननीय है, और यह प्रभाकरजी की जादू भरी लेखनी की नयी देन है। किन्तु 'क्षण बोले कण मुसकाए' इन सुपरिचित विशेषताओं के अतिरिक्त भी विशिष्ट है। और, यह बात इस पुस्तक को अद्‌भुत और अद्वितीय की श्रेणी में ला बैठाती है। पुस्तक सामग्री और विषयवस्तु की दृष्टि से ऐतिहासिक महत्व की है; यह उन उदात्त भावनाओं और अनुभवों की संश्लिष्ट छवि प्रस्तुत करती है जिनकी एक-एक रेखा में जीवन्त व्यक्ति और स्पन्दित राष्ट्र की अनेकों प्रतिच्छवियाँ झिलमिला रही हैं।

और विधा ? साहित्य के विकास-क्रम में नितान्त निजी और अलबेली। इसका प्रमाण ? स्वयं यह पुस्तक, श्री कन्हैयालाल मित्र 'प्रभाकर' की।

मूल्य ४.००

लोकोदय ग्रन्थमाला

राष्ट्रभारती

प्रतिनिधि रचनाएँ	नार्ल वेंकटेश्वर राव (तेलुगु)	३.५०
प्रतिनिधि रचनाएँ	'परशुराम' (बंगला)	३.००
प्रतिनिधि रचनाएँ	व्यं० दि० माडगूलकर (मराठी)	४.००

उपन्यास

महाश्रमण सुनें, उनकी परम्पराएँ सुनें !	'भिक्खु'	२.२५
सूरज का सातवाँ घोड़ा	डॉ० धर्मवीर भारती	२.००
पीले गुलाब की आत्मा	विश्वम्भर मानव	४.००
पलासी का युद्ध	तपनमोहन चट्टोपाध्याय	३.५०
अपने-अपने अजनबी	अज्ञेय	३.००
गुनाहों का देवता (सातवाँ सं०)	डॉ० धर्मवीर भारती	५.००
शतरंज के मोहरे (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	अमृतलाल नागर	६.००
शह और मात	राजेन्द्र यादव	४.००
राजसी	देवेशदास आइ०सी०एस्०	२.५०
संस्कारों की राह (पुरस्कृत)	राधाकृष्णप्रसाद	२.५०
रक्त-राग	देवेशदास आई०सी०एस्०	३.००
तीसरा नेत्र	आनन्दप्रकाश जैन	२.५०
ग्यारह सपनों का देश	सं०—लक्ष्मीचन्द्र जैन	४.००
मुक्तिदूत (द्वि० सं०)	वीरेन्द्रकुमार एम. ए.	५.००

कहानी

खोयी हुई दिशाएँ	कमलेश्वर	२.५०
मेज़ पर टिकी हुई कुहनियाँ	रमेश बक्षी	३.५०
बोस्ताँ	मूल : शेख़ सादी	२.५०
जय-दोल (द्वि० सं०)	अज्ञेय	३.००
ज़िन्दगी और गुलाब के फूल	उषा प्रियंवदा	२.५०

श्रेष्ठ प्रकाशन

अपराजिता	भगवतीशरण सिंह	२.५०
कर्मनाशा की हार	डॉ० शिवप्रसाद सिंह	३.००
सूने अँगन रस बरसै	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	३.००
प्यार के बन्धन	रावी	३.२५
मोतियोंवाले (पुरस्कृत)	कर्तारसिंह दुग्गल	२.५०
हरियाणा लोकमंच की कहानियां	राजाराम शास्त्री	२.५०
मेरे कथागुरु का कहना है (१–२)	रावी	६.००
पहला कहानीकार (पुरस्कृत)	रावी	२.५०
संघर्ष के बाद (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	विष्णु प्रभाकर	३.००
नये चित्र	सत्येन्द्र शरत्	३.००
काल के पंख	आनन्दप्रकाश जैन	३.००
अतीत के कम्पन (द्वि० सं०)	आनन्दप्रकाश जैन	३.००
खेल खिलौने	राजेन्द्र यादव	२.००
आकाश के तारे : धरती के फूल (तृ०सं०)	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	२.००
नये बादल	मोहन राकेश	२.५०
कुछ मोती कुछ सीप (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.५०
जिन खोजा तिन पाइयाँ (तृ० सं०)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.५०
गहरे पानी पैठ (तृ० सं०)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.५०
एक परछाईं : दो दायरे	गुलाबदास ब्रोकर	३.००
ऑस्कर वाइल्ड की कहानियाँ	डॉ० धर्मवीर भारती	२.५०
लो कहानी सुनो	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.००

कविता

रत्नावली	हरिप्रसाद 'हरि'	२.००
वाणी (द्वि सं० परिवर्धित)	सुमित्रानन्दन पन्त	४.००
सौवर्ण (द्वि० सं० परिवर्धित)	सुमित्रानन्दन पन्त	३.५०
परिणय गीतिका	सं०–रमा जैन, कुन्था जैन	५.००
आँगन के पार द्वार	अज्ञेय	३.००
वीणापाणि के कम्पाउण्ड में	केशवचन्द्र वर्मा	३.००
रूपाम्बरा	सं०—अज्ञेय	१२.००
वेणु लो, गूंजे धरा	माखनलाल चतुर्वेदी	३.००
अनु-क्षण	डॉ० प्रभाकर माचवे	३.००
तीसरा सप्तक (द्वि० सं०)	सं०—अज्ञेय	५.००
अरी ओ करुणा प्रभामय	अज्ञेय	४.००

देशान्तर	डॉ० धर्मवीर भारती	१२.००
सात गीत-वर्ष	डॉ० धर्मवीर भारती	३.५०
कनुप्रिया	डॉ० धर्मवीर भारती	३.००
लेखनी-बेला	वीरेन्द्र मिश्र	३.००
आवाज तेरी है	राजेन्द्र यादव	३.००
पंच-प्रदीप	शान्ति एम० ए०	२.००
मेरे बापू	हुकुमचन्द्र बुखारिया	२.५०
धूप के धान (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	गिरिजाकुमार माथुर	३.००
वर्द्धमान (महाकाव्य) (पुरस्कृत)	अनूप शर्मा	६.००

शाइरी

गंगोजमन	'नज़ीर' बनारसी	३.००
शाइरी के नये मोड़ (भाग १–५)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	१५.००
नग़्मए-हरम	"	४.००
शाइरी के नये दौर (भाग १–५)	"	१५.००
शेर-ओ-सुख़न :१–५ (द्वि.सं.पुरस्कृत)	"	२०.००
शेर-ओ-शाइरी " "	"	८.००
ग़ालिब	रामनाथ 'सुमन'	८.००
मीर	"	६.००

नाटक

चाय पार्टियाँ	सन्तोषनारायण नौटियाल	२.००
आदमी का जहर	लक्ष्मीकान्त वर्मा	३.००
घाटियाँ गूंजती हैं	डॉ० शिवप्रसाद सिंह	२.५०
तीन ऐतिहासिक नाटिकाएँ	परिपूर्णानन्द वर्मा	४.००
नाटक बहुरंगी	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	४.५०
जनम क़ैद (पुरस्कृत)	गिरिजाकुमार माथुर	२.५०
कहानी कैसे बनी ?	कर्तारसिंह दुग्गल	२.५०
पचपन का फेर (पुरस्कृत)	विमला लूथरा	३.००
तरकश के तीर	श्रीकृष्ण	३.००
रजत-रश्मि (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	डॉ० रामकुमार वर्मा	२.५०
और खाई बढ़ती गयी (पुरस्कृत)	भारतभूषण अग्रवाल	२.५०
चेखॅव के तीन नाटक	राजेन्द्र यादव	४.००

महत्वपूर्ण प्रकाशन

बारह एकांकी	विष्णु प्रभाकर	३.५०
कुछ फ़ीचर कुछ एकांकी	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	३.५०
सुन्दर रस (द्वि० सं०)	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	१.५०
सूखा सरोवर	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	२.००
भूमिजा	सर्वदानन्द	१.५०

विधा-विविधा

अंकित होने दो	अजितकुमार	४.००
खुला आकाश : मेरे पंख	शान्ति मेहरोत्रा	४.५०
सीढ़ियों पर धूप में	रघुवीर सहाय	४.००
काठ की घण्टियाँ	सर्वेश्वरदयाल सक्सेना	७.००
पत्थर का लैम्पपोस्ट	शरद देवड़ा	३.००

ललित-निबन्धादि

हम सब और वह	दयानन्द वर्मा	२.००
बातें जिनमें सुगन्ध फूलों की	अहमद सलीम	३.००
महके आँगन चहके द्वार	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४.००
शिखरों का सेतु	डॉ० शिवप्रसाद सिंह	३.५०
बाजे पायलिया के घुंघरू	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४.००
फिर बैतलवा डाल पर	विवेकीराय	३.५०
आँगन का पंछी : बनजारा मन	विद्यानिवास मिश्र	३.००
नये रंग : नये ढंग	लक्ष्मीचन्द्र जैन	२.००
बना रहे बनारस	विश्वनाथ मुखर्जी	२.५०
काग़ज़ की किश्तियाँ	लक्ष्मीचन्द्र जैन	२.५०
अमीर इरादे : ग़रीब इरादे (द्वि०सं०)	माखनलाल चतुर्वेदी	२.००
सांस्कृतिक निबन्ध	डॉ०भगवतशरण उपाध्याय	३.००
वृन्त और विकास	शान्तिप्रिय द्विवेदी	२.५०
ठूँठा आम	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	२.००
हिन्दू विवाहमें कन्यादान का स्थान (द्वि.सं.)	डॉ० सम्पूर्णानन्द	१.००
ग़रीब और अमीर पुस्तकें	रामनारायण उपाध्याय	१.००
क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ ?	रावी	२.५०
माटी हो गयी सोना (द्वि० सं०)	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	२.००
जिन्दगी मुसकरायी (द्वि० सं०)	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४.००

यात्रा-विवरण

एक बूंद सहसा उछली	अज्ञेय	७.००
पार उतरि कहँ जइहौ	प्रभाकर द्विवेदी	३.००
सागर की लहरों पर	डॉ०भगवतशरण उपाध्याय	४.००
हरी घाटी	डॉ० रघुवंश	४.५०

संस्मरण, रेखाचित्र, जीवनी आदि

समय के पाँव	माखनलाल चतुर्वेदी	३.००
पराड़करजी और पत्रकारिता	लक्ष्मीशंकर व्यास	५.५०
आत्मनेपद	अज्ञेय	४.००
माखनलाल चतुर्वेदी	'बरुआ'	६.००
दीप जले : शंख बजे	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	३.००
द्विवेदी पत्रावली	बैजनाथ सिंह 'विनोद'	२.५०
जैन-जागरण के अग्रदूत	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	५.००
रेखाचित्र (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	बनारसीदास चतुर्वेदी	४.००
संस्मरण (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	"	३.००
हमारे आराध्य (पुरस्कृत)	"	३.००

आलोचना, अनुसन्धान, रचना-शिल्प

साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य	डॉ० रघुवंश	५.००
जैन भक्ति-काव्य की पृष्ठभूमि	डॉ० प्रेमसागर जैन	६.००
रेडियो वार्ता शिल्प	सिद्धनाथकुमार	२.००
रेडियो नाट्य शिल्प (द्वि० सं०)	"	३.००
ध्वनि और संगीत (द्वि० सं०)	ललितकिशोर सिंह	४.५०
प्राचीन भारत के प्रसाधन	अत्रिदेव विद्यालंकार	३.५०
संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद	"	३.००
संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन (द्वि०सं०)	डॉ०भोलाशंकर व्यास	५.००
भारतीय ज्योतिष (तृ० सं०)	नेमिचन्द्र जैन ज्योतिषाचार्य	६.००
हिन्दी नवलेखन	डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी	४.००
मानव मूल्य और साहित्य	डॉ० धर्मवीर भारती	२.५०
शरत् के नारी-पात्र	डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी	४.५०
हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन (१-२)	नेमिचन्द्र शास्त्री	५.००

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

महत्वपूर्ण प्रकाशन

इतिहास-राजनीति

कालीदास का भारत : भाग १ (द्वि० सं०)	डॉ०भगवतशरण उपाध्याय	५.००
कालिदास का भारत : भाग २	डॉ०भगवतशरण उपाध्याय	४.००
भारतीय इतिहास : एक दृष्टि	डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन	८.००
चौलुक्य कुमारपाल (द्वि०सं०, पुरस्कृत)	लक्ष्मीशंकर व्यास	४.५०
एशिया की राजनीति	परदेशी	६.००
समाजवाद	डॉ० सम्पूर्णानन्द	५.००
इतिहास साक्षी है	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	३.००
खोज की पगडण्डियाँ (द्वि०सं०, पुरस्कृत)	मुनि कान्तिसागर	४.००
खण्डहरों का वैभव (द्वि० सं०)	मुनि कान्तिसागर	६.००

दर्शन-अध्यात्म

भारतीय विचारधारा	मधुकर एम० ए०	२.००
अध्यात्म पदावली	डॉ० राजकुमार जैन	४.५०
वैदिक साहित्य	पं० रामगोविन्द त्रिवेदी	६.००

सूक्तियाँ

सन्त-विनोद	नारायणप्रसाद जैन	२.००
शरत की सूक्तियाँ	रामप्रकाश जैन	२.००
ज्ञानगंगा भाग १ (द्वि० सं०)	नारायणप्रसाद जैन	६.००
ज्ञानगंगा भाग २	नारायणप्रसाद जैन	६.००
कालिदास के सुभाषित	डॉ०भगवतशरण उपाध्याय	५.००

हास्य-व्यंग्य

चाय पार्टियाँ	सन्तोषनारायण नौटियाल	२.००
जैसे उसके दिन फिरे	हरिशंकर परसाई	२.५०
तेल की पकौड़ियाँ	डॉ० प्रभाकर माचवे	२.००
हास्य मन्दाकिनी	नारायणप्रसाद जैन	६.००
आधुनिक हिन्दी हास्य-व्यंग्य	सं०—केशवचन्द्र वर्मा	४.००
मुर्ग छाप हीरो	केशवचन्द्र वर्मा	२.००
अंगद का पाँव	श्रीलाल शुक्ल	२.५०

मूर्त्तिदेवी ग्रन्थमाला

तत्त्वज्ञान और सिद्धान्तशास्त्र

समयसार (प्राकृत-अँगरेज़ी)	...	८.००
तत्त्वार्थराजवार्तिक (संस्कृत) भाग १–२	...	२४.००
तत्त्वार्थवृत्ति (संस्कृत)	...	१६.००
सर्वार्थसिद्धि (संस्कृत-हिन्दी)	...	१२.००
पंचसंग्रह (प्राकृत-हिन्दी)	...	१५.००
जैन धर्मामृत (संस्कृत-हिन्दी)	...	३.००
कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न (हिन्दी)	...	२.००

जैन न्याय और कर्मग्रन्थ

सिद्धिविनिश्चयटीका (संस्कृत) भाग १–२	...	३०.००
न्यायविनिश्चयविवरण (संस्कृत) भाग १–२	...	३०.००
महाबन्ध (प्राकृत-हिन्दी) भाग २ से ७	...	६६.००

आचारशास्त्र, पूजा और व्रत-विधान

वसुनन्दि श्रावकाचार (प्राकृत-हिन्दी)	...	५.००
ज्ञानपीठ पूजांजलि (संकलन)	...	४.००
व्रततिथिनिर्णय (संस्कृत-हिन्दी)	...	३.००
मंगलमन्त्र णमोकार : एक अनुचिन्तन (हिन्दी)	...	२.००

व्याकरण, छन्दशास्त्र और कोश

जैनेन्द्र महावृत्ति (संस्कृत)	...	१५.००
सभाष्य रत्नमंजूषा (संस्कृत)	...	२.००
नाममाला सभाष्य (संस्कृत)	...	३.५०

पुराण, साहित्य, चरित व काव्य-ग्रन्थ

हरिवंशपुराण (संस्कृत-हिन्दी)	...	१६.००
आदिपुराण (संस्कृत-हिन्दी) भाग १–२	...	२०.००

फरवरी १९६४

उत्तरपुराण (संस्कृत-हिन्दी)	...	१०.००
पद्मपुराण (संस्कृत-हिन्दी) भाग १–३	...	३०.००
पुराणसार-संग्रह (संस्कृत-हिन्दी) भाग १–२	...	४.००

चरित व काव्य-ग्रन्थ

मयणपराजयचरिउ (अपभ्रंश-हिन्दी)	...	८.००
मदनपराजय (संस्कृत-हिन्दी)	...	८.००
पउमचरिउ (अपभ्रंश-हिन्दी) भाग १–३	...	९.००
जीवन्धरचम्पू (संस्कृत-हिन्दी)	...	८.००
जातकट्ठकथा (पाली)	...	९.००
धर्मशर्माभ्युद (हिन्दी)	...	३.००

ज्योतिष और सामुद्रिक शास्त्र

भद्रबाहु संहिता (संस्कृत-हिन्दी)	...	८.००
केवलज्ञानप्रश्नचूड़ामणि (संस्कृत-हिन्दी)	...	४.००
करलक्खण (प्राकृत-संस्कृत-हिन्दी)	...	०.७५

विविध

वर्ण, जाति और धर्म	...	३.००
जिनसहस्रनाम (संस्कृत-हिन्दी)	...	४.००
थिरुकुरल (तमिल)	...	५.००
आधुनिक जैन कवि (हिन्दी)	...	३.७५
हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (हिन्दी)	...	२.८७
कन्नड प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थ सूची	...	१३.००

माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला

(जो अब भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा संचालित है)

पुराण

महापुराण (आदिपुराण) भाग १; अपभ्रंश	१०.००
महापुराण (उत्तरपुराण) भाग २; अपभ्रंश	१०.००
महापुराण (उत्तरपुराण) भाग ३; अपभ्रंश	६.००

पद्मपुराण (संस्कृत) भाग १	१.५०
पद्मपुराण (संस्कृत) भाग २	२.००
पद्मपुराण (संस्कृत) भाग ३	२.००
हरिवंशपुराण (संस्कृत) भाग १	२.००
हरिवंशपुराण (संस्कृत पद्य) भाग २	१.५०

शिलालेख

जैन शिलालेख संग्रह (संस्कृत, हिन्दी) भाग १	२.००
जैन शिलालेख संग्रह (संस्कृत, हिन्दी) भाग २	८.००
जैन शिलालेख संग्रह (संस्कृत, हिन्दी) भाग ३	१०.००

चरित, काव्य और नाटक

वरांगचरित (संस्कृत)	३.००
जम्बूस्वामीचरित (संस्कृत)	१.५०
प्रद्युम्नचरित (संस्कृत)	.५०
रामायण (अपभ्रंश)	२.५०
पुरुदेवचम्पू (संस्कृत)	.७५
अंजनापवनंजय (नाटक)	३.००

जैन-न्याय

न्यायकुमुदचन्द्रोदय (संस्कृत) भाग १	८.००
न्यायकुमुदचन्द्रोदय (संस्कृत) भाग २	८.५०
प्रमाणप्रमेयकलिका (संस्कृत)	१.५०

सिद्धान्त, आचार और नीतिशास्त्र

सिद्धान्तसारादि (प्राकृत-संस्कृत)	१.५०
भावसंग्रहादि (प्राकृत-संस्कृत)	२.२५
पंचसंग्रह (संस्कृत)	०.८१
त्रिषष्टिस्मृतिसार (संस्कृत, मराठी अनुवाद)	.५०
स्याद्वादसिद्धि (संस्कृत, हिन्दी-सारांश)	१.५०
रत्नकरण्डश्रावकाचार (मूल, संस्कृत टीका)	२.००
लाटी संहिता (संस्कृत)	.५०
नीतिवाक्यामृत (शेषांश) (संस्कृत टीका)	.२५

दार्जिलिंग में
कंचनजंगा का
दृश्यावलोकन
एक अनूठा अनुभव है।
जिधर भी आप जाएं,
विविध व मोहक दृश्यों का
प्राचुर्य है।

भारत सरकार के पर्यटक कार्यालय

स्वदेश घूमिये
जन-जीवन देखिये

दिल्ली • बम्बई • कलकत्ता • मद्रास • आगरा
जयपुर • वाराणसी • औरंगाबाद • कोचीन

Price Annual Rs. 10/- per copy Re. 1/- for abroad postage extra 18 nP. This C

Licensed to post without prepayment of postage. REGD. No C-4123

Published by Shri Munishwarlal for Bhartiya Jnanpith Calcutta from 9, Alipur P...
Calcutta-27 and Printed by him at United Commercial Press Ltd.,
1, Raja Gurudas Street, Calcutta-6

ज्ञानोदय

मार्च, १९६४

मूल्य १.००

साहित्यिक विकास-उन्नयन
सांस्कृतिक अनुसन्धान-प्रकाशन
राष्ट्रीय एकता एवं राष्ट्र-प्रतिष्ठा की

साधिका
विशिष्ट संस्था

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

[स्थापित सन् १९४४]

संस्थापक
श्री शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

मार्च १९६४

अनुक्रम

● लेख

● कविताएं

ज्ञानोदय : मार्च १९६४

कहानियाँ

एकांकी

स्थायी-स्तम्भ

सम्पादक
लक्ष्मीचन्द्र जैन : शरद देवड़ा

संचालक
भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता

कार्यालय
९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७
फ़ोन : ४५-४२५२
४५-४४३२

एकमात्र वितरक
बैनेट, कोलमैन एण्ड कम्पनी लि०,
बम्बई-१

विद्यानिवास मिश्र

●

●

●

हहकारती हवा उड़ती धूल
प्रेत पत्ते खड़खड़ाते द्वार दिन का
मन अकारण ही उचटता
नया योगी खींच सारे प्राण शव साधता क्या ?
गुजरते वर्ष की अशमित चिता के दाह पर उल्लास
सामूहिक हँसी, रंग का खुल खेल
विरह से बींधी मगर हर तान
अजब है यह नवरसन व्यापार
नग्न कुसुमन, मुक्त गायन, मुग्ध नर्तन
व्यष्टि के दुःख का खुला अवमान
विगत का उपहास, अनागत को
कींच काँदो खेलने की छूट
क्या यही ऋतुराज, यह विदूषक ?
वस्तुओं की व्यर्थता का बोल नीलामी, यही इसकी वृत्ति।
इस सहमती मंजरी की भेंट तब किसके लिए :
प्रत्युत्पन्न भव की शून्यता के बोध
लो करो स्वीकार, यह व्यर्थ जाती भेंट।

●

●

ऋतुराज — यह विदूषक !

सम-सामयिक विचारों-व्यवहारों, समस्याओं - समाधानों, घटनाओं - प्रेरणाओं के प्रसंग में सह-चिन्तन।

●

बिना धागे की माला

भुवनेश्वर कांग्रेस में स्वागताध्यक्ष श्री बीजू पटनायक ने अपना भाषण उड़िया भाषा में पढ़ा। अध्यक्ष श्री कामराज ने झंडा फहराने का भाषण तमिल में दिया और हिन्दी में उसका अनुवाद किया गया। श्री कामराज ने विषय - समिति में भी अपना भाषण तमिल में दिया और वहाँ उसका अनुवाद अँग्रेज़ी में हुआ। अध्यक्षीय भाषण भी श्री कामराज ने तमिल में पढ़ा और उसका अनुवाद उड़िया में हुआ।

यह सब क्या है? यह बिना धागे की माला है। भारत देश जातियों, धर्मों, प्रान्तों और भाषाओं के मनकों की माला है। हरेक मनका अपने में पूर्ण है, पर यदि हरेक मनके की पूर्णता को स्वीकार करें, तो फिर भारत का राष्ट्रीय व्यक्तित्व समान हो जाता है और उन मनकों की पूर्णता भी खतरे में पड़ती है; क्योंकि हरेक मनका पूर्ण तो है, पर उस पूर्णता की रक्षा करने में अकेले समर्थ नहीं है। इस स्थिति में हित की बात यह है कि वह दूसरे मनकों से अपने को जोड़े।

कन्हैयालाल मिश्र
'प्रभाकर'

●

लोहे को लोहे से जोड़ दिया जाता है, रस्सी को रस्सी से बाँध दिया जाता है और पत्थर को पत्थर से जड़ दिया जाता है, पर यह जोड़ना, बाँधना और जड़ना जड़कर्म है, चैतन्यकर्म नहीं। भारत की जातियाँ, धर्म, प्रान्त और भाषाएँ जड़ नहीं, चैतन्य हैं, इनमें हृदय का सजीव स्पन्दन है। इन्हें जोड़ा, बाँधा या जड़ा नहीं जा सकता,
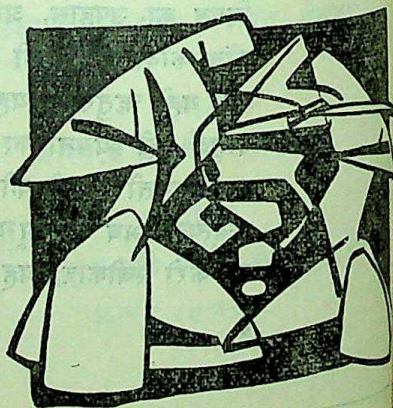
सह - चिन्तन

मिलाया जा सकता है। इसलिए राजनैतिक एकता यह काम नहीं कर सकती, उसके लिए हार्दिक सम्पर्क चाहिए, क्योंकि सम्पर्क के घर ही सम्बन्ध का जन्म होता है। सम्पर्क की बेल संलाप की भूमि में जन्मती हैं और संलाप का माध्यम है भाषा—बातचीत होती है भाषा के द्वारा, तो जातियों, धर्मों, भाषाओं और प्रान्तों के इन पूर्ण मनकों को राष्ट्रीयता की परिपूर्ण माला का रूप देने के लिए राष्ट्रभाषा की अनिवार्य आवश्यकता है और जो किसी भी स्वार्थ से राष्ट्रभाषा के शीघ्र-से-शीघ्र देश-व्यापी प्रचार में बाधा डालते या शिथिलता बरतते हैं, वह बिना धागे की माला बनाने का काम करते हैं।

और धर्म की डोर

क्या धर्म की डोर भारत की जातियों, धर्मों, प्रान्तों और भाषाओं की एकता में सफल नहीं हो सकती? यह भी एक प्रश्न है और उतर है—ना! जब भारत एक ही धर्म का क्षेत्र था, धर्म ने भावनात्मक एकता का काम बड़ी सुन्दरता से किया था, पर आज भारत अनेक धर्मों का क्षेत्र है और स्वयं उन धर्मों को किसी ऐसे सहायक तत्व की आवश्यकता है, जो उन्हें आपस में लड़ने से बचा सके।

फिर प्रश्न यह है कि क्या भावनात्मक एकता हमारी आज की ज़रूरत को पूरा कर सकती है? अनुभव का उत्तर है—ना! दक्षिण भारत का एक यात्री बद्रीनाथ की यात्रा करता है। इस यात्रा में वह उत्तर-प्रदेश में आता है, पर उसकी श्रद्धा उसे उत्तर-प्रदेश से नहीं, सिर्फ़ बद्रीनाथ की मूर्ति से ही जोड़ती है। यही हाल उन उत्तर प्रदेशियों का है, जो दक्षिण भारत की यात्रा करते हैं।

असल में ज़रूरत सामाजिक एकता की है, जिसकी पृष्ठभूमि में राष्ट्रीयता हो और उसके लिए सामाजिक सम्पर्क का सूत्र जोड़ने वाली राष्ट्रभाषा की आवश्यकता है, हम इसे जितनी जल्दी समझ लें, श्रेयस्कर है।

बेकार समर्पण

एक पुस्तक देखी। नई छपी है। उसके लेखक स्वयं देन आए थे। उनके सामने पन्ने पलटे, तो एक मिनिस्टर का शानदार फोटो छपा था और वह पुस्तक उन्हें ही समर्पित की गई थी, पर ख़ास बात यह कि इस समय वे मिनिस्टर महोदय मिनिस्टर नहीं थे, एक उथल-पुथल में अपनी मिनिस्टरी खो चुके थे अभी-अभी।

मैंने लेखक से कहा—"अब तो मिनिस्टर नहीं रहे!" सुनकर उनके मुँह से निकला—"जी हाँ, समर्पण ही बेकार हो गया।"

वे चले गए, मैं सोचता रहा—लेखक को आशा थी कि मिनिस्टर साहब के कहने से सूचना-विभाग पाँच सौ प्रतियाँ ख़रीद लेगा। अब वह आशा पूरी नहीं हो सकती, इसलिए लेखक का समर्पण व्यर्थ हो गया है और उनका मन उस व्यर्थता से दुःखी है। दुःख के प्रति सहानुभूति मानव का सहज संस्कार है। वह मुझमें उपजी, पर उसके साथ ही उपजा यह विचार कि राजनीति कितनी घटिया चीज़ है, जो आदमी को पल भर में फुटबाल की तरह उछालती है, तो पल भर में फुटबाल की तरह ही पटक भी देती है!

सह-चिन्तन : कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर

सम्राट् समुद्रगुप्त बड़े प्रतापी राजा थे। उनके एक मंत्री ने एक दिन उनसे पूछा—"महाराज, आपके जीवन की विशिष्टता का सर्वोत्तम प्रतीक आपका कौन-सा गुण है?"

सम्राट् ने उत्तर दिया—"वीणा-वादन में मेरी निपुणता ही मेरे जीवन की विशिष्टता का सर्वोत्तम प्रतीक है मन्त्री!"

मंत्री ने पूछा—"दूसरे क्रम पर महाराज?"

सम्राट् ने कहा—"मेरी कविता लिखने की शक्ति।"

मंत्री ने फिर पूछा—"और तीसरे नम्बर पर महाराज?"

सम्राट् बोले—"मेरी माता का मेरे प्रति प्रेम।"

भौंचक हो मंत्री ने पूछा—"महाराज, आप ने अपनी राजनीतिज्ञता का तो उल्लेख किया ही नहीं, जिसने आपको युद्धों में विजय दी?"

महाराज हँसे—"मंत्री, राजनीति और युद्ध तो क्षत्रिय के सामान्य धर्म हैं। वे मेरे जीवन की विशिष्टता के प्रतीक नहीं हो सकते।"

उर्दू 'फ़नकार' के भूतपूर्व सम्पादक प्रकाश पण्डित के नाम मशहूर ... इब्ने इंशा का एक रोचक पत्र।

५१५ जहाँगीर रोड ईस्ट, करांची-
१७ जनवरी १९...

प्रकाश पण्डितजी महोदय,

'फ़नकार' नं० २ आज मिल गया है, इसके लिए मैं तुम्हारा और ... टाऊन पोस्टआफ़िस के दाढ़ी वाले डाकिये का ममनून (आभारी) ... जो अब हर पर्चा मुझे हिफ़ाजत से पहुँचा देता है। मेरा पहले का डाकिया मुझ पर जो ज़ुल्म करता रहा है, उनको लिखने के लिए दुनिया के सारे पेड़ों को क़लम और सारे समुन्दरों को सियाही बनाना पड़ेगा, जिसकी अभी फ़ुर्सत नहीं।

चूंकि पर्चा आज मिला है, इसलिए जाहिर है कि अफ़साना तो ... पढ़ा नहीं और बेपढ़े राय देने की आदत प्रेक्टिस न रहने की वजह से ... रही है। हाँ, तुम्हारा एडिटोरियल पढ़ा है और पिछले 'फ़नकार' के बारे में लोगों की रायें, जो अक्सर एक-दूसरे के खिलाफ़ हैं। ... 'बेदी' के अफ़साने पर तीन ऐसे अफ़साने क़ुर्बान कर रहा है तो कोई ... पकड़ कर कह रहा है कि आइंदा पुरानी नस्ल के किसी आदमी से ... उम्मीद रखूं तो जो चोर की सजा सो मेरी। यह पुरानी और नई ... वाला मामला भी यहाँ अच्छा-खासा मस्ला (समस्या) ... रहा है। इधर मुहम्मद हस्न अस्करी साहब तो बड़े मजे की लिख रहे ... वह उर्दू के प्रोफ़ेसरों और उर्दू के एम० ए० हजरात पास का इतनी तह... (तिरस्कार) से जिक्र करते हैं कि मैं इस बात को लतीफ़ा ए-ग़ैबी (... संकेत) समझने लगा हूँ। मैंने लेक्चररशिप की दो-तीन पेशकशें ठु... दी हैं, बाक़ी रही एम० ए० की डिगरी—उसके बारे में मैंने यूनिवर्सिटी के रजिस्ट्रार को लिखा था कि अगर वह उसे वापस ले लें और मेरी ...

राज... 'पद' है। ... प्राप्ति हो... नरक का ... है संयम, ...

सारी न... रजिस्ट्रार... जनवरी) ... मजबूरी ... एलान क... नहीं हूँ। ... कोई शख... नहीं रहूँ... एम० ए... वजह से... खाकर ...

तुम... वायदा अ... ग़ैरत जस... कहने से ... फ़िरोमा... मुल्कों के ... जो एक ... अपनी क... 'फ़नकार... गिरने से...

सह - ...

राजनीति का सबसे बड़ा उपहार 'पद' है। पद से आदमी को अधिकार की प्राप्ति होती है। अधिकार का दुरुपयोग नरक का मार्ग है। इससे बचने का उपाय है संयम, पर मनुष्यमें संयम हो, तो वह विना पद के भी सम्मानित होता है। राजनीति के घटिया होने का कारण है उसकी अस्थिरता। इस समय भारत में २६० से अधिक भूतपूर्व मंत्री हैं, पर क्या कोई भूतपूर्व वीणावादक या भूतपूर्व लेखक भी है? सच्चाई यह है कि राजनैतिक पदों की होड़ इसलिए मची हुई है कि सार्वजनिक जीवन मे ऐसे आदमी भर गए हैं, जिनके जीवन में निजी विशिष्टता की कमी है और पद की विशिष्टता से अपने को मंडित कर ही वे विशिष्टता का अनुभव कर सकते हैं।

यह नया दौर

युगनेता नेहरूजी की बीमारी का धक्का खाकर देश में एक नया दौर आरम्भ हुआ है। कहना चाहिए— एक

सारी नहीं तो आधी ही वापस करदें तो मैं उनका सख्त ममनून हूँगा। रजिस्ट्रार, कराँची-यूनिवर्सिटी ने (बहवाला खत न० ७८१ मुवर्रिखा ३ जनवरी) मेरी दरख्वास्त को मंजूर करने से कुछ टेकनिकल वजहों से मजबूरी जाहिर की है लिहाजा अब यही रास्ता रह गया है कि अखबारों में एलान कर दूँ कि मैं "मुस्समी फ़लाँ एलान करता हूँ कि मैं उर्दू का एम० ए० नहीं हूँ। आइंदा से मेरा इस डिगरी से कोई तअल्लुक़ नहीं। अगर कोई शख्स मुझे ऐसा समझेगा तो नतामज (परिणामों) का मैं जिम्मेदार नहीं रहूँगा।" मुझे तुम पर रश्क (ईर्ष्या) आ रहा है कि तुम उर्दू के एम० ए० नहीं हो वर्ना मुझसे ज्यादा हस्सास (भावुक) होने की वजह से शायद अब तक असकरी साहब के तानों के हाथों कुछ खाकर मर गए होते।

तुमने 'फ़नकार' नम्बर ३ के लिए नज्म माँगी है। मैं नम्बर १ से वायदा और वायदा खिलाफ़ी कर रहा हूँ। मेरा खयाल था तुममें इतनी ग़ैरत जरूर होगी कि अब नहीं माँगोगे। लेकिन अब तुम्हारे बार-बार कहने से मुझे यह ख़याल होने लगा है कि मेरे न लिखने से उर्दू अदब इतना फ़िरोमाया (तुच्छ) रह जाएगा कि इसे दुनिया के मुहज्जब (सभ्य) मुल्कों के अदब के सामने पेश नहीं किया जा सकेगा। अगर यह बात, जो एक रोज शैतान ने भी मेरे कान में कही थी, सच है, तो मुझे वाक़ई अपनी कोताही का अफ़सोस है और मैं कोशिश करूँगा कि जल्द से जल्द 'फ़नकार' के लिए कोई नज्म भेजकर उर्दू अदब को तबाही के ग़ार में गिरने से बचा लूँ।

तुम्हारा
इब्ने-इन्शा

नाजुक दौर। इस युग का नामकरण होना उचित है; क्योंकि नाम से उसकी दिशा का बोध मिलता है। कुछ की राय है यह रुकने का युग है। उनकी राय है कि देश स्वतंत्रता के १५ वर्षों में बहुत आगे बढ़ गया है। इतनी तेज़ी ख़तरनाक है। उसे अब रुक जाना चाहिए। कुछ की राय है, यह मुड़ने का युग है। उनकी राय है कि देश स्वतंत्रता के इन १५ वर्षों में ग़लत दिशा में आगे बढ़ गया है। यह ख़तरनाक है। उसे मुड़ जाना चाहिए। इन दोनों मतों में एकांगी सचाई है। सचाई की समग्रता यह है कि यह सोच-समझकर पूरी मज़बूती से आगे बढ़ने का युग है।

बिना सोचे-समझे कोई आगे नहीं बढ़ता, पर अनुभव की साक्षी है कि अभी तक हमारे नेतृत्व की सोच-समझ में समग्रता का अभाव रहा है। जिसका जो बिल्ला पसंद आया, हमने लेकर अपने कोट पर लगा लिया और इस तरह हम बिल्लों का म्यूज़ियम हो गए। सबको अपना बिल्ला हमारे कोट पर दिखाई दिया, सबने हमारी प्रशंसा की। हम उस प्रशंसा में फूल गये, पर प्रशंसा का गैस उड़ जाने पर हम अपने गुब्बारे को पिचका हुआ सा पा रहे हैं और १५ वर्षों की महान बढ़ोतरी के बावजूद अपने को बिखरा-सा पाते हैं। तो अब ज़रूरत है कि समग्र भारत की समग्र समस्याएँ अपने समग्र रूप में नेताओं के मस्तिष्क में हों और उनके समग्र समाधान की योजना मुट्ठी में। इसी का अर्थ है सोच-समझकर मज़बूती के साथ आगे बढ़ना।

यह धुंवा, यह थूक

एक विचार मेरे मन में अक्सर आया है कि जिसने तमाखू पीना और तमाखू [खाना] इन शब्दों की रचना की, उसने हि[न्दी के] साथ ज़बर्दस्त बलात्कार किया; [क्योंकि] कम्बख्त तमाखू में न पीने को कुछ है, न [खाने] को कुछ! यही कारण है कि सारे [संसार] में एक भी आदमी ऐसा नहीं, जो तमाखू पीता हो, या खाता हो। हाँ, करोड़ों [आदमी] उसका धुवाँ उड़ाने या थूकने का शौक़ [रखते] हैं। अकेले अमरीका में १९६३ में [...] अरब सिगरेट और ७ अरब २० [...] सिगार पिये गये।

अब मैं ५८ साल का हूँ, जब ८ साल [का] था और एक स्वामीजी के पास पढ़[ता था] तो मैंने उनसे कहा था—"आप दाढ़ी र[खें तो] सुन्दर लगेंगे।" उनका उत्तर [था—] "सुन्दरता से साधु को क्या लेना और [...] के नाम पर जो दाढ़ी रख सकता है [...] का कोई काम नहीं, जिसे वह न कर [सके]।" उन्हीं दिनों एक साथी ने मुझसे सिगरेट [पीने] को कहा तो मैंने उत्तर दिया—"जो [...] लिए सिगरेट पी सकता है, मूर्खता का [कोई] काम नहीं, जिसे वह न कर सके।"

इस वार्तालाप के वर्ष ५० बाद [...] के चिकित्सा विशेषज्ञ सहमत हैं कि [...] गले और मुँह के कैंसर होने में मुख्य [...] तमाखू का पीना-खाना है। इसे [...] सुनने और सच मानने के बाद भी सं[सार में] तमाखू का शौक़ बढ़ता जा रहा है। [यह] सोचने लायक़ बात है कि क्या आद[मी ने] अक्ल से काम लेना छोड़ दिया है?

कमी किसकी है?

कांग्रेस - अध्यक्ष श्री काम राज ने [...]

(शेषांश पृष्ठ ११[...]

डॉ० प्रभाकर माचवे

विश्व-शान्ति और एकता की डींग हाँकने वाले चीन ने तो, पिछले दिनों, भारत पर आक्रमण कर अपनी साम्राज्य-लिप्सा का प्रमाण स्वयं ही उपस्थित कर दिया, यहाँ कलई खोली गयी है उन चीनी साहित्यकारों-कलाकारों की, जो अपने फौजी आक़ाओं के स्वर में स्वर मिलाकर कला और साहित्य म भी सैनिकवाद का नारा बुलन्द करते हैं।

'चीनी साहित्य' (मासिक) का १९६३ का आठवाँ अंक यानी सम्भव है, अगस्त का अंक मेरे सामने है। हिन्दी पाठकों के लिए मैं उस अंक से कुछ चुने हुए अंशों का अनुवाद पेश कर रहा हूँ, इस आशा से कि हम अपने देश के शत्रु को और समझें, और जानें कि उनके साहित्य-कला के क्षेत्र में क्या इरादे हैं। मैंने मूल का शब्दशः अनुवाद यहाँ दिया है। न अपनी ओर से एक अक्षर जोड़ा है, न घटाया है। हमारी भाषाओं के प्रगतिवादी बंधु इन अनुवादों को विशेष रूप से पढ़ें: उन्हें अपने लिखे हुए की अनुगूँज मिल जायगी, जो 'हृदय-परिवर्तन' में विश्वास करते हों, वे प्रायश्चित्त करें।

पहला लेख है 'लेखकों और कलाकारों का एक सम्मेलन'। उपशीर्षक है 'आज के चीनी साहित्य और कला का फौजी कर्त्तव्य।' इसके अंश यों हैं: "अखिल चीनी साहित्य-कला-संस्थाओं के संघ की तीसरी राष्ट्रीय कमेटी ने पेकिंग में अपना दूसरा वृहद अधिवेशन किया। इसमें इस बात पर विचार किया गया कि साहित्यिक और कलात्मक मोर्चे को कैसे मज़बूत बनाया जाय और इस तरह से आज की अंतर्गत और अंतर्राष्ट्रीय स्थिति में साहित्य और कला अपना पूरा फौजी हिस्सा कैसे अदा करें।

'चीनी साहित्य' का नवीनतम अंक

कला और साहित्य में सैनिकवाद

"इस कांग्रेस में २४० प्रतिनिधि सब प्रान्तों से आए। कवि और नाटककार कुओ मो-जो ने सदारत सँभाली। इस सम्मेलन में मा ओ तुन (उपन्यासकार), पा चिन (उपन्यासकार), लाओ शेह (उपन्यासकार और नाटककार) लू-ह्सुन की विधवा ह्सु कुआङ-पिङ, तीन हान (नाटककार); मा-स्सु-त्सुंग (संगीतकार) आदि थे।"

इस सम्मेलन में वहाँ के प्रधान मंत्री चाऊ एन-लाई ने सब लेखकों से व्यक्तिगत भेंट की। उसके अलावा एक भाषण दिया। उन्होंने चीन देश के लेखकों और कलाकारों को 'क्रांतिकारी' बनने का आदेश दिया और घर और बाहर के संघर्षों में भाग लेने का उपदेश दिया। उनके शब्द थे: "लेखक अपने-आपको इस्पात बना लें। लम्बे और उलझे हुए वर्ग-संघर्ष में वे अपने-आपको फिर से ढालें। ये संघर्ष अभी लड़ने बाक़ी हैं। वे जनवाद के आदर्शों से अपने-आपको मज़बूत करें। अपनी कृतियों की शैली को जनवादी बनायें। साहित्य के मोर्चे को मज़बूत बनायें।"

"प्रधान मंत्री के भाषण पर बड़ी तालियाँ बरसीं। कांफ्रेंस में भाग लेने वालों ने उसका पूरा-पूरा समर्थन किया। कम्युनिस्ट-पक्ष की पुकार पर सब कुछ करने का अपना निश्चय लेखकों ने दुहराया।"

"चाउ यांग ने अपने भाषण का शीर्षक दिया—साहित्य और कला का मोर्चा मज़बूत बनाओ! आधुनिक सुधारवाद का विरोध करो!"

१९६० के बाद अब तक चीन की साहित्यिक प्रगति का जायज़ा लिया गया और 'सैकड़ों फूल खिलें; सैकड़ों विचार आपस में टकरायें' तथा 'प्राचीन की काट-छाँट में से नया उपज' वाली पुरानी सिद्धांतावलि के बाद से दो वर्षों में साहित्य बहुत आगे बढ़ गया। "अब विषय-वस्तु, विधा, शैली, रूप आदि में खूब विविधता नज़र आती है। अब पुस्तकों, थियेटर, सिनेमा, चित्रकला, संगीत सब क्षेत्रों में उच्च स्तर—कलात्मक और सिद्धान्तात्मक—पाया जाता है। इसमें समसामयिक समाजवादी क्रांति और समाजवादी रचना का प्रतिबिम्ब सही-सही रूप से है। चीन का साहित्य अब अधिक प्राणवान और स्वस्थ है।"

सम्मेलन में इस बात पर भी विचार हुआ कि कैसे कुछ 'बोर्जुवा' (पूँजीवादी) प्रभाव साहित्य में अनर्थ मचा रहे हैं, जैसे 'मानवतावाद' या 'व्यक्ति की नियति' का विचार या 'आत्मिक सुख' की चिन्ता आदि। यह सब क्रांतिकारी समाजवादी, 'मार्क्स-लेनिनवादी और माओवादी' विचारधारा के विरुद्ध है। इससे डटकर लड़ना होगा।

"अब साहित्य और कला के सामने एक नया फौजी काम आ पड़ा है। सारे देशों के प्रतिक्रियावाद और आधुनिक सुधारवाद का साहित्य पर जो बुरा असर

पड़ रहा है, उससे लड़ना है। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वर्ग-संघर्ष तीव्र होता जा रहा है तब सच्चे क्रांतिकारी (?) लेखकों के सामने यह समस्या है: उन्हें साम्राज्यवाद-विरोधी रुख अपनाना है या नहीं, उन्हें समाजवाद के हित में लड़ना है या नहीं? या कि उन्हें साम्राज्यवाद के आगे घुटनें टेक देने हैं, समाजवाद की निन्दा करनी है और जनता की क्रांतिकारी फौजी आकांक्षाओं को तोड़ना है? उन्हें जनता के संघर्ष की जय-जयकार बोलनी है या तटस्थ रहना है? क्या क्रांतिकारी समाजवादी कला और साहित्य को अपना झंडा फहराना नहीं है, नए आशय और शैलियों के साथ? क्या उनकी शैली और विषयवस्तु पूँजीवादी कला-साहित्य जैसी होगी? क्या वे 'प्रयोगवाद' कहकर ह्रासोन्मुखता की जय-जय बोलेंगे और उसी नावदान में सड़ते रहें?"

"चीन के साहित्य-कला के क्षेत्र में सुधारवादी कीटाणु न घुस जायँ। उन पर कड़ी निगाह रखनी होगी।.... आज के युग की पूरी समझ के मामले में चीन के साहित्यिक-कलाकार और सुधारवादी (रूस का नाम स्पष्टतः नहीं लिया है, पर इशारा उसी तरफ़ है) साहित्यिक-कलाकारों में मौलिक अन्तर है। ये 'सुधारवादी' ज़ोर-ज़ोर से चीखते हैं कि 'शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व' और 'समाजवाद का शांतिपूर्ण विकास' हो सकता है। वे क्रांति का महत्व नहीं समझते, जनता की शक्ति में से उनका विश्वास उठ गया है। वे वर्ग-भेद से भरे 'मानवतावाद' और 'सब मनुष्यों से प्यार' का उपदेश देते हैं। चीनी लेखक और कलाकार इस आधुनिक सुधारवाद की मूर्खता का डटकर विरोध करता है। वह दुनिया के दूर-दूर के हिस्सों के क्रांतिकारी तबकों को गले लगाने के लिए आतुर है। हमारे लेखकों ने और कलाकारों ने ऐसी क्रांतिकारी कृतियाँ निर्मित की हैं, जिनमें समाजवादी क्रांति और रचना के दर्शन होते हैं।"

कांफ्रेंस में यह भी आदेश दिया गया कि लेखक किसानों में जाकर रहें, काम करें; मजदूरों के साथ, फौजी टुकड़ियों के साथ जायें, उनकी प्रशंसा में लिखें। उनकी हिम्मत बढ़ायें। ज़रूरत पड़ने पर वे फौज में भर्ती हों।

दस पन्नों के लेख में यही बातें दुहरा-दुहराकर कही गई हैं ताकि ठीक तरह से पढ़ने वालों के दिल-दिमाग़ में वे ठोंक-बजाकर डाल दी जायें। (सुई-फन-सी का विज्ञापन याद आता होगा, कुछ लोगों को!)

अंक में 'सुन ली' के एक लम्बे उपन्यास 'तूफ़ानी दिन' (जो मूल तीन लाख शब्दों का है) के अंश और प्राचीन साहित्य के उदाहरण छपे हैं। प्राचीन साहित्य में लू यू नामक ११२५ ईस्वी में जनमे कवि की कविताएँ छपी हैं जिनमें से तीन उदाहरण नीचे दे रहा हूँ। पाठक स्वयं निर्णय कर लें कि इस साहित्य से कैसी 'समाजवादी क्रांति का निर्माण' हो सकेगा?

१. अपने पुत्र के नाम

"मृत्यु सबका अन्त करती है, यह निश्चित है,
पर मुझे जो दुःख होता है वह इस बात का कि मेरा देश अखण्ड एक नहीं बना;
जब हमारी शाही सेना के शस्त्र मध्य देश को पुनः जीत लेंगे।
तब अपनी बलि पर ध्यान देना, इस बूढ़े को ख़बर देना!"

[इस कविता में शाही सेना के शस्त्र को अँग्रेजी में 'इंपीरियल आर्म्स' कहा है। लेखक-सम्मेलन में 'एण्टी इम्पीरियलिज्म' की बार-बार घोषणा है। पर जब यह साम्राज्यवाद 'अपना' हो तब वह महान प्राचीन साहित्य है; जब वह चीन के बाहर हो तो निन्दनीय है!]

२. तातारों के बीच लड़ाई की ख़बर आई

उस साल हम दक्षिणी पहाड़ियों के दक्षिण में विजय करने गये
बहुत बार रात को शराब पीकर घोड़ों पर चढ़कर शिकार करने जाते;
ख़ूब शिकार मिलते; काले भालू, भूरे गैंडे....
नंगे हाथों एक मारा हुआ शेर खींचकर लाया मैं।
कभी-कभी मैं ऊँचे चढ़कर चंगन की तरफ़ देखता
और आकाश को अपना दुःख सुनाता, मेरे आँसू वर्षा की तरह झरते।
अब तो मैं बूढ़ा हो चला, सफ़ेद बाल चुगली करते हैं।
फिर भी मैं अपने महान नेता के लिए अपनी जान देने को तैयार हूँ।
जब तातार जमातों में लड़ाई की ख़बर आती है
मैं अपनी तलवार खनखनाता हूँ। शिशिर की हवा में, आँसुओं से रुद्ध
मेरी वाणी लोयाङ की आठ क़ब्रों की याद में बोलने नहीं देती,
उत्तर में ठंडे पाहन-वृक्षों में धूल से ढँकी वे क़ब्रें हैं
मैं पचास बरस का हो गया, विद्वान की पगड़ी पहने हूँ
मेरी इच्छा होती है कि शिकार के बिरजिस पहनकर, युद्ध के घोड़े को एड़ लगाऊँ

[पाठक समझ लें कि गैंडे आसाम में होते हैं। काले भालू हिमालय की तराई में, शेर भारत में। यह आठ सदी पुरानी हविस हैशिकार की!]

३. इस कविता का शीर्षक बहुत विचित्र है। यानी आठ पंक्तियों का है:

"आधी रात के समय, पाँचवें महीने की ग्यारहवीं तिथि को, मैंने सपना देखा कि मैं बादशाह की सेना के साथ हान और तांग के सब प्रदेश पुनः जीतने जा रहा हूँ। मैंने एक अमीर, ख़ूब जन-संख्यावाला शहर देखा और मुझे बताया गया कि यह 'लिआंग-चाऊ' है। आनन्द से मैं घोड़े की जीन पर ही बैठे-बैठे एक कविता लिखने लगा, पर वह कविता पूरी नहीं हुई कि जाग पड़ा। अब मैं उसे पूरा कर रहा हूँ।" (यह सब शीर्षक है)

"तीन-पाओ के समय से, जब दो राजधानियाँ हूणों ने जीत लीं
कोई हूण दस्ते पश्चिमोत्तर में नहीं रखे गए।
क्योंकि पाँच सदियों तक यह देश वीरान था।
अब हमारे अक्लमंद शासन ने हुक्म निकाला है और
विजय अभियान का नेतृत्व किया है,
अब दस लाख वीर सिपाही, 'स्वर्ग के पुत्र' का अनुसरण करते हैं;
उनकी सिपहसालारी खत्म होने से पहले, हमारा प्रदेश हम फिर से जीतेंगे,
दूर-दूर तक मोर्चे बने हैं, नये नक्शे बनाये गये हैं,
बादशाह के खेमे के आसपास पहरेदार हैं;
जेल से कैदियों को मुक्त कर दिया है।....
जहाँ तक हमारी आँखें दौड़ सकें वहाँ तक पहाड़ियाँ और झरने सब हमारे हैं।
अलफल्फा पर्वत के नीचे हमारी रक्षा की सेना डट गई।
और सारे झंडे और भेरियाँ तुरफान की दिशा बता रही हैं....
लिआंग चाउ की लड़कियाँ, ऊँची मीनारों पर जमा हो गई हैं
अब वे हमारी राजधानी की औरतों की तरह से ही अपने बालों की कंघी
करेंगी (सजग करेंगी)।"

इन कविताओं का—प्राचीन महान चीनी साहित्य के इन्हीं नमूनों की श्रेष्ठता को पेश करने का—क्या उद्देश्य है, यह कुछ भोले पाठकों को छोड़कर सबके लिए स्पष्ट होना चाहिए।

लु यू पर आगे एक लम्बा लेख है, उसके प्रेम और सैनिक साहस की प्रशंसा में। अन्त में लिखा है: "लु यू की कविता की हर पंक्ति में देश-भक्ति टपकती है। संकट के समय अपने देश की रक्षा के लिए बड़े-से-बड़े त्याग करने का उसका निश्चय कवियों के लिए आदर्श है। सारे चीनी साहित्य में उसका स्थान अद्वितीय है!"

बाद में 'कु कुंग' नाम के तरुण कवि का एक रेखाचित्र छपा है। उनकी प्रसिद्ध काव्यकृति बताई गई है 'हिमालय के पैरों में'। कहीं से इस कृति का अनुवाद मिले तो हम पढ़ना चाहेंगे। भारत में क्या चीनी भाषा जानने वाले भारतीय मदद नहीं कर सकते?

इस अंक में कुछ चित्र भी हैं। एक का शीर्षक है: "एक जनता के कम्यून के 'शॉक'-मजदूर"—देखिये आदमी और साइकिलों को चित्रकार ने कैसे समान-भाव से चित्रित किया है; उस देश में साहित्य-कला सब यांत्रिक बनाने का यह प्रयत्न पता नहीं कब तक चलेगा?

इस अंक के कवर पर ही सींग मारते हुए दो भागते पहाड़ी भैंसे हैं। एक पीछा कर रहा है! इस 'साहित्य'(!) और 'कला'(!) को हम कब समझेंगे? ●

माखनलाल
चतुर्वेदी

झुरमुटों में घूमते देखा
चल रही थी सरसराती
लौटकर, जैसे बिगड़कर
याद है घर लौट आती

आज टीका ही स्वयं अभिशाप है
मूल का सब स्वाद उसने पा लिया है
नीम की इस बौरती-सी डाल को--
मीठी बनाकर
प्रकृति को समझा लिया है !

वे छुपे दो बोल
कानाफूसियाँ - सी कर उठे हैं
रात में ये हैं चमेली के कुसुम
यों झर उठे हैं ।

वे छुपे दो बोल

नदी

मलयज
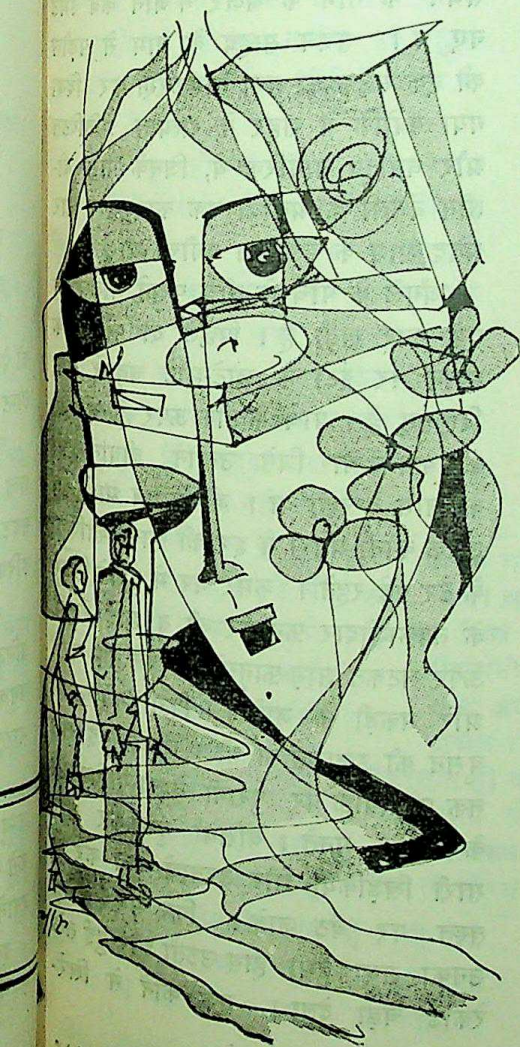
'जीजी के आगे के दो दाँत टूटे हैं, इससे जब वे बोलती हैं तब शब्द बीच ही में टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, लगता है सूखे-कड़े पत्ते चुरमुर कर रहे हैं. . . .'

●

कमरे में एक गंध है––मेरे जागने की। गले में कुछ अटका हुआ है, और वह गंध धूप से होकर आ रही है जहाँ एक नदी है जिसे गोमती कहते हैं. . . . मछली की बू-बास पुराने चिमगादड़ों की तरह सड़क-किनारे के ज़ईफ़ पेड़ों पर टँगी होती....पेड़ जिसके नीचे गंजेड़ियों की चिलम में पतझड़ की आग झड़ती होती. . . . आसमान में उड़ती हुई उदासीन चिड़ियाएँ सफ़ेद झंडियों-सी हिलतीं : आसमान ने मानों हथियार डाल दिए हों. . . .

नदी की झिर-झिर दूर से आकर उस गंध में मिल जाती है, जो मेरे जागने की है। कमरे में। कमरे की एक खिड़की को हवा ने गोया इस ख़याल से खोल रखा है कि उस झिर-झिर के आने में सुभीता हो. . . .

. . . . कमरे की दीवालों पर एक बुड्ढे क़िस्सागो की अन्तहीन दास्तान अंकित है, अँधेरे में है, क्योंकि कमरे में धूप से चलकर आई हुई रात है, और उसमें एक सफ़ेद धब्बे-सा मेरा बिस्तर बिछा हुआ है और उस दास्तान के मूक श्रोता की तरह मैं जगा हुआ हूँ जबकि क़िस्सागो के होठों में शब्द सो गए हैं. . . .

सिर्फ़ बाढ़ उतर जाने के बाद की एक नदी की झिर-झिर काले पत्थरों के बीच कहीं से निकल कर आ रही है।

चार अदद आम के पेड़ों का बगीचा। जीजी उसके नीचे बैठी हुई थीं। मेज़ पर दो प्यालियों में चाय थी। मैं ऊपर झाँककर आम के पेड़ों को देख रहा था जिनमें उस बुड्ढे क़िस्सागो की दाढ़ी के सफ़ेद बालों का घोंसला लगा हुआ था। जीजी के आगे के दो दाँत टूटे हैं, इससे जब वे बोलती हैं, तब शब्द बीच हीं में टूटकर टुकड़े-टकड़े हो जाते हैं, लगता है सूखे-कड़े पत्ते चुरमुर कर रहे हैं।....

उन्होंने कहा, "मेरे जेठ को शीशे के संदूक में चिमगादड़ पालने का शौक़ था....'

पर उनके टुकड़े-टकड़े शब्दों की चुरमुर में मैंने सुना कि एक दिन दोपहर की कड़ी धूप ने गोखले रोड वाले उनके बँगले के जोड़-जोड़ खोल डाले—जड़ी हुई दीवालें संतरे की फाँक-सी अलग-अलग हो गईं, खिड़कियों के सींकचे, दरवाज़ों के पल्ले, मोज़ेक की फ़र्श, छतें....सब घड़ी के पुर्ज़ों की तरह एक-दूसरे से अलग होकर शहर में भागने लगे—जिसको जो राह मिल गई वह उधर से ही भागने लगा, और जीजी नंगे पाँव, सिर उघाड़े, साड़ी को जिस तिस तरह बदन पर लपेटे उनके पीछे कभी इधर दौड़ती हैं कभी उधर, कि उन्हें आपस में जोड़-बैठाकर एक कर दें....जीजी चाहती हैं कि घड़ी के पुर्ज़े दुरुस्त रहें, वे उन्हें अपने भीतर छुपाकर ख़ुद ऊपर घड़ी के डायल-सा स्थिर हो जाना चाहती हैं, जिस पर छोटे-छोटे अक्षरों की लिखावट में अंकित रहेगा—'रायबहादुर प्रभाशंकर दुबे, सिविल-सर्जन' और उससे लोग वक्त का अंदाज़ लगाएँगे और जानेंगे कि चार अदद आम के पेड़ों की जड़ें ज़मीन के भीतर कितनी गहरी फैली हुई हैं....

जीजी जब पहले-पहल इस बँगले में
तो अपने साथ कुछ लतरें भी लाईं। एक
लॉन के बाहर फाटक पर भी चढ़ने के लि
लगाई कि वह चँदोवे-सी तन जाय।
बढ़ती और फैलती रहीं। एक दिन
ने बाहर जाते समय फाटक वाली लतर
उँगली से एक जगह हटाकर देखा तो
पर अंकित 'रायबहादुर प्रभाशंकर दुबे, सिवि
सर्जन' के नाम के अक्षर न जाने कब
गए थे। सर्जन साहब के नाम से
की एक सड़क का नया नामकरण कर
गया क्योंकि वे शहर के अत्यन्त प्रति
और धनाढ्य नागरिक थे, जिनके पास
तीन बँगलों के अलावा एक कार और
अदद आम के पेड़ों का बगीचा था....

बँगले के पोर्च के नीचे पुराने मॉडल
एक कार खड़ी है। पिछले दो पहियों
स्थान पर ईंटों के छोटे-छोटे चबूतरे
दिए गए हैं। पोर्च के ठीक ऊपर ही जेठ
का कमरा था जिसे उन्होंने दीवानखा
का नाम दे रखा था। जीजी जब आईं
उसके कोनों-अँतरों में इत्र की ख़ाली शीशि
के ढेर पड़े रहते। कमरे भर में पुराने
के नक्क़ाशीदार फ़र्नीचर की बू छाई
ऊपर लटकते झाड़-फ़ानूसों पर धूल की
और मकड़ी के जाले। किसी को
घुसने की इजाज़त न थी। जेठजी गई
तक फ़ोनोग्राफ़ पर पुरानी वेश्या-गायि
के रेकार्ड सुनते। बत्तियाँ गुल कर
सारी खिड़कियाँ और दरवाज़े बन्द कर
तख्त पर बैठ जाते। फिर अँधेरे में
उनका सधा हुआ हाथ उठता और सुई
रेकार्ड चढ़ा देता। एक कोने से

खिरं की आवाज़ दम साधकर बढ़ती और दमे के मरीज़-सी दोनों हाथों में सिर थामे पुराने फ़र्नीचरों, इत्र की शीशियों और झाड़-फ़ानूसों से टकराने लगती। जेठजी ख़ामोश उस आवाज़ का इन तमाम चीज़ों के साथ टकराना सुनते रहते। एक रेकार्ड के बाद दूसरा रेकार्ड निकालते, आहिस्ते-से छूकर सुई की नोक परखते। ढीली हुई चाभी को चुटकी से पकड़कर कसते। सब रेकार्ड बजा चुकते तब उसी तरह उनका सधा हुआ हाथ उठता और उन्हें एक शीशे के संदूक में बन्द कर देता....

जीजी चुप हो गई थीं। चार अदद आम के पेड़ों में लगे सफ़ेद बालों के घोंसले का हिलना रुक गया। शब्दों की चुरमुर के पीछे का दृश्य बहते-बहते थम गया। एक सन्नाटा। यहाँ के हर कमरे में सन्नाटा है। इतना बड़ा बँगला....पन्द्रह कमरे, चार बड़े हाल, छः बाथरूम, कॉरीडार, छतें, पोर्च.. सब सोए हुए हैं। बुड्ढा क़िस्सागो चुप है।

"अरे, तुमने चाय नहीं पी, पियो।"....

हवा चलनी शुरू हो गई है पर वह उन बन्द कमरों में नहीं जा सकती। एक में प्यानो रखा हुआ है। बाहर जहाँ काट-पीट करती आवाज़ों का गट्ठर लिये दुनिया सड़कों और गलियों में भागी जा रही है वहाँ से दूर एक कमरे के भीतर एक प्यानो सन्नाटे से बने हुए अँधेरे में डाल दिया गया है। की-बोर्ड उस अँधेरे में मैले बटनों की पंक्ति की तरह फीका लग रहा है। ऊपर रोशनदान से रोशनी महीन धूल की तरह गिरती रहती है और प्यानो पर रखी संगीत की कॉपी मुड़े हुए पृष्ठ की बाँह टेके एक करवट चुप पड़ी रहती है। जीजी के पति की उँगलियाँ उसे छेड़कर जगाया करती थीं। शोख़ नीले रंग के कमरे में मैले बटन तक चमकते थे। हवा सरसराती थी। पति के मस्तिष्क में संगीत की कॉपी के पृष्ठ फड़फड़ाते और एकाएक उनकी बेसब्र उँगलियाँ संगीत का यूँ बूँद-बूँद टपकना न बर्दाश्त कर पातीं, एक बेख़ुदी में वे प्यानो के उन बटनों को झिंझोड़ने लगतीं जो जीजी के ब्लाउज पर टँगे होते——शोख़ नीले रंग के कमरे में उनके कपड़े का रंग उबलता, बहता और दीवालों में जज़्ब हो जाता। पंखबद्ध हवा उमड़कर साड़ी में चिड़ियों-सी फँस जाती। रोशन-दान-सी उजली आँखों से चार अदद आम बेअख़्तियार पानी ढरकाने लगते। जीजी कमरे के शतरंजी फ़र्श पर एक चौकोर घेरे में स्थिर रहना चाहतीं, पति चाहते वह एक जोड़ी घुँघुरुओं वाला पाँव हो जो की-बोर्ड के ख़ानों पर खटखट चल सके, पंखबद्ध हवा के साथ झूम सके, जैसे पानी की तेज़ बौछार में गंध बिखेरती हुई बड़े-बड़े फूलों की

मायके जाने से पहले पत्नी ने नौकरानी को बुलाकर कहा, 'देखो अगर ये बीमार पड़ जायें तो मुझे फ़ौरन ही पत्र लिख देना।'

नौकरानी ने सिर हिलाया, 'अच्छा।'

'और अगर उदास-उदास दिखें, तब भी।'

'अच्छा।' नौकरानी ने फिर सिर हिलाया, पर अकस्मात ही वह पूछ भी बैठी, 'और अगर बहुत ख़ुश नज़र आयें तो?'

मालकिन ने घूरकर उसे देखा और चीख़-सी पड़ी, 'तब तो फ़ौरन से पेश्तर!"

लतर झूमती है....

शब्दों की चुरमुर कब शुरू हो गई थी। मैंने नहीं जाना। नीचे देखा, ज़र्द रंग की घास के चिथड़े लपेटे एक लॉन।....

"तुम्हें बाहर घूम आना चाहिए," उन्होंने कहा, "बाहर-बाहर, कहीं भी—इतना बड़ा शहर है,न हो गोमती के किनारे ही चले जाओ।"

शहर में घूमना.... सड़क पर उन गोलाइयों, कोणों और सीधी-टेढ़ी रेखाओं के समानान्तर चलना, जिसे पीढ़ियों के सम्मिलित अनुभवों ने पहले तो मकानों, गुम्बजों और मीनारों की शक्ल में खड़ा किया जो संयोग से सुडौल और सुघड़ भी निकल आए और फिर उन्हें प्यार करते-करते नष्ट हो गए। एक गंध छोड़ गए जो सूखी हुई लतरों में लिपटकर साँप-सी डँसती है। एक विरासत, जो बंद कमरों में अँधेरे की जली रस्सी-सी ऐंठी रहती है।

"देखो, शाम हो रही है और नदी पर से सूरज का डूबना अच्छा लगता है....ड्रइंग रूम में तुमने नदी पर सूर्यास्तवाली पेंटिंग देखी ?...."

मैंने यह भी देखा कि ऊपर वाले बड़े हॉल की एक मेज़ पर क़ानून की एक किताब है, जिस पर रंग के धब्बे पड़े हुए हैं। छोटा देवर क़ानून की किताब को ही प्लेट की तरह इस्तेमाल करने लगता। उसके हाथ में लंबा ब्रश ऐसे लपक-लपककर चलता गोया वह एक तलवार हो जिससे वह सबका सिर काट-काटकर रख देगा....

....चार अदद आम के पेड़ों पर वे तमाम कटे सिर हातिमताई वाले पेड़ की तरह टँग जाएँगे और हँसेंगे....कटे हुए सिरों की हँसी लकड़ी के ख़ूबसूरत फ्रेमों में जड़ दी गई है और उन्हें पेड़ से उतार कमरे की दीवालों पर टाँग दिया गया है उन्हें देखकर जिसके मुँह से बेसाख़्ता चीख़ निकलेगी, समझा जाएगा कि वह सुन्दर कला-पारखी है।....

"जीजी, तुम अपने दो टूटे दाँत ठीक करा लो। यह शब्दों की चुरमुर सुनते-सुनते मैं तंग आ गया हूँ, हाँ।".... जीजी हँसती हैं। उस हँसी से एक कलात्मक दूरी बनाने के लिए मैं अपने को झाड़ता हुआ उठता हूँ और तेज़-तेज़ क़दम चलकर बाहर आता हूँ और उस दिशा की ओर जाने की कोशिश करता हूँ जिधर से एक दिन घड़ी के पुर्ज़े तितर-बितर होकर उड़ गए थे।

आगे दूर तक बस्तियाँ थीं और बस्तियों के नंगेपन को तोपते हुए-से पेड़ों के कुंज। एक शहर शाम के झुटपुटे में झलमलाने लगा। एक सड़क वेसब्र होकर शहर की टाँगों से लिपटने लगी। एक रँगी-चुनी भीड़ एक दूसरे की परछाइयों को कुचलती हुई चलने लगी। चुइंग-गम खाती हुई लड़कियाँ, सिगार पीते हुए मर्द, नकली मूँछों पर हाथ फेरते हुए युवक, अख़बार में शक्तिवर्द्धक औषधियों के इश्तहार देखते हुए बुज़ुर्ग। इनके ऊपर इस्तेमाल किए हुए डाक-टिकटों से बादलों के टुकड़े। चौराहे। ट्रैफ़िक सिग्नल। सिग्नल का पीछा करती हुई आँखें। आँखों के पीछे मोल-तोल। जिस्म की बू। खनकता खोखला टिन। टिन में ईरानी पुलाव की खुदुर-बुदुर। सड़कों के समानान्तर चलती हुई गलियाँ, गलियों के समानान्तर चलते हुए कूचे, खोहें, कन्दराएँ जहाँ कोलतार

है, कीच में पैरों की निशान भी, चूहे की बीट, दरवाज़े पर ठुकी घोड़े की नाल और कौड़ी की फटी आँख जो चित भी मेरी और पट भी मेरी।....

....पार्क में एक पेड़ सड़क के शोर-गुल से घबराकर पतझड़ को अपने सीने से कसके चिपकाए था।....

वक्त रुक गया है क्या? घड़ी के पुर्ज़े कहाँ हैं?—मैं सोचने लगा, गोकि हर तरफ़ घड़ी की टिक-टिक सुनाई पड़ रही थी। रेडियो पर समाचार, लाउडस्पीकर पर नेता के भाषण, भोंपू पर तरक्की के नुस्खे। रूमाल से मैं चेहरे पर इस टिक-टिक को पोंछने लगा।

....चित और पट वाली कौड़ी से मात खाकर न्यूटन आकर पार्क में उस पेड़ के नीचे बैठ गया। पेड़ से फल नहीं गिरा। कोई सनसनीखेज़ घटना नहीं हुई। बस घड़ी की टिकटिक बदस्तूर चलती रही। अन्तहीन पतझड़....

गोखले रोड वाले बँगले के पन्द्रह कमरों, चार बड़े हॉलों, छः बाथ रूमों, छतों, पोर्चों पर टँगी हुई पेंटिंग्स एकाएक शहर के सीने पर कामयाबी के तमगों-सी टँग गईं। प्यानो के बटन शो-विन्डोज़ में बंद मॉडेल के ज़रूरत से ज्यादा उभरे अंगों पर टँग गए। इत्र की खाली शीशियाँ मज़ारों में दफ़न हो गईं। संगीत की कॉपी कॉफ़ीहाउस का मीनू बनकर बैरे की जेब में पहुँच गई। ग्रामोफ़ोन के रेकार्ड नाचते-नाचते कॉकटेल के प्यालों में ढल गए। क़ानून की किताब शक्तिवर्द्धक औषधियों का इश्तहार बन दीवारों पर चिपक गई। 'रायबहादुर प्रभाशंकर दुबे, सिविल-सर्जन' के नाम के अक्षर नगरपालिका के रजिस्टर में दीमक बनकर रेंगने लगे। अभी-अभी सड़क पर एक पुराने मॉडेल की कार रुक गई है और उसका मालिक चीख़-चीख़ कर लोगों को पुकार रहा है कि वे उसे पीछे से धकेलें... सिग्नल की लाल रोशनी घूरती है—ठहरो! जीजी सहमकर रुक जाती हैं। उनके हाथ से नदी पर सूर्यास्तवाली पेंटिंग छूट कर गिर जाती है। हरा सिग्नल मुस्कराता है—चलो! जीजी अपने ब्लाउज़ के मैले बटन तोड़ देती हैं और ऊँची एड़ी के जूते पहन खट-खट चलने लगती हैं। लाल सिग्नल गरज़ता है—ठहरो! जीजी बेबाक आँखों से पीछे चार अदद आमों को देखती हैं।....

> **रूदल्फ रूजिका ने जर्मनी के रोमैण्टिक मूवमेण्ट के सम्बन्ध में एक ही बात कही कि 'उसे औरतों ने जिया और मर्दों ने लिखा।' लेकिन क्या प्रत्येक साहित्यिक आन्दोलन के सम्बन्ध में यही बात नहीं कही जा सकती?**

....न्यूटन पेड़ के नीचे से उठा और कई बड़ी सड़कों को पार कर एक जगह पहुँचा जहाँ नदी थी, हालाँकि एक सड़क भी थी, जिसके किनारे गँजेड़ी चिलम सुलगा रहे थे और पतझड़ वाले पेड़ भी, जिस पर मछली की बू-बास चिमगादड़ों-सी लटक रही थी। वह नदी किनारे जाने वाली सीढ़ी के पास आया और कोशिश करके रोदाँ के चिन्तक की मुद्रा बनाकर वहाँ उपस्थित सारी चीज़ों का वैज्ञानिक विश्लेषण करने का प्रयत्न करने लगा। पर, इसके पहले थोड़ा ठंडा पानी पीकर मस्तिष्क शान्त कर लेना चाहिए, यह सोच वह नदी के भीतर घुसा तो क्या देखता है कि हातिमताई वाले पेड़

पर लटके कटे सिर पानी पर तैर रहे हैं।....

कटे हुए सिरों ने एक साथ ज़ोर का ठहाका लगाया और बोले, "ए मुसाफ़िर! तू कहाँ से आता है और किधर को जाता है? तेरी मंशा क्या है और तू किसकी जूस्तजू में मारा-मारा फिरता है? तेरा क्या सवाल है, पूछ।...."

न्यूटन ने एक बार अपनी उँगली में पड़ी चंद्रग्रहण के अवसर पर शोधी हुई अँगूठी की ओर देखा और निश्चिन्त होकर कहा, "ए कटे हुए सिरो! क्या तुम बता सकते हो कि आज पेड़ से फल क्यों नहीं गिरा? सड़क के बीच मोटर क्यों रुक गई? सुबह की धूप में से होकर आई चिड़ियों ने सफ़ेद झंडियाँ क्यों हिलानी शुरू कर दीं? यदि तुमने जान-बूझकर जवाब नहीं दिया तो तुम्हारे सौ टुकड़े हो जाएँगे...."

एक कटे हुए सिर ने उत्तर देना शुरू किया तो न्यूटन ने देखा कि सारी परिस्थिति ही अनायास बदली हुई है। सिर केवल एक ही बोल रहा था, बाक़ी ममी के पुते हुए चेहरों जैसे निश्चेष्ट, चुप पड़े थे। जो सिर बोल रहा था उसके अगले दो दाँत टूटे थे।

न्यूटन के मुँह से एक चीख़ निकलती है और गले में अटक जाती है.....

●

"घूम आए शहर?" जीजी ने पूछा और बहुत व्यस्ततावाले अंदाज़ में कोई बहुत ही मामूली काम करने लगीं। जहाँ वह काम कर रही थीं इत्तिफाक से वह पति का कमरा था, इसे लक्ष्य कर, युनिवर्सिटी से पढ़ाकर लौटेंगे तो कमरा दुरुस्त रहना चाहिए वाला भाव दिखाते हुए जीजी ने एक खूँटी पर टँगा हुआ कपड़ा उठाकर दूसरी खूँटी पर टाँग दिया और दूसरा वाला पहली खूँटी पर। फिर रेडियो के ऊपर रखा पति के फ़ोटोग्राफ़ का मुँह घुमाकर पीछे दीवाल की तरफ़ कर दिया, पर कुछ सोचकर उसे फिर पहले जैसा कर दिया। रैक में सजी किताबों पर हाथ फेरा पर वे अपनी जगह बिल्कुल दुरुस्त थीं। कमरे में ज़रा भी धूल नहीं थी। खिड़कियों पर पर्दे क़ायदे से टंगे थे। फ्लॉवर-वास में फूल भी ताज़े थे जो माली लगा गया था।.... तब वे चेहरे को दोनों हाथों में एक टूटे हुए आइने की तरह थामे दूसरे कमरे में जाकर पड़ गईं।

यह अनुमान लगाकर कि जीजी वाले कमरे में जो कुछ होने वाला होगा वह कितनी देर में होगा मैं प्रोफ़ेसर साहब वाले कमरे में ही खड़ा रह गया। फिर जब एक जगह बैठा तो वह तख़्त था जिस पर कालीन बिछी हुई थी और गावतकिये के नीचे फ्रेंच न्यूड्स की तस्वीरें थीं। रैक पर सजे हैवलॉक इलिस और 'मेन अोनली' के पन्ने उस न्यूड तस्वीरों के रहस्य मुझे मनोयोग से समझाने लगे। शेल्फ़ पर रखी 'वीनस डि मिलो' और खजुराहो की इमीटेशन मूर्तियाँ देखकर मुझे यक़ीन होने लगा कि कमरा अपनी कलात्मक रुचि का परिचय देने में सफल हुआ है।

तब उस टूटे चेहरे के पास जाकर, जिसे शीशे के हाथ दोनों तरफ़ से पकड़े थे, सम्बोधित करते हुए उससे कहा, "जीजी, बाहर आओ, वहाँ कम-से-कम चार आम के पेड़ तो हैं, ज़र्द घास को लपेटे हुए तो है!"....

जीजी की बाँहें टूटे चेहरे से हट

फ़र्श को अपनी हथेलियों और उँगलियों से यूँ टटोलती हैं मानो लतर की जड़ें ज़मीन के भीतर घुसने की दरार ढूँढ रही हों....

"वहाँ जाकर भी मैं जीती नहीं, महज़ साक्षी होती हूँ," जीजी ने सिर झुकाकर कहा—"छत की तरह...."

"तुम नदी की भी तो साक्षी हो जीजी, जो छत से दिखती है और जीती है?"

"उसे तुम जीना कहते हो?"

....हातिमताई वाले पेड़ पर टँगे हुए सिर एक साथ ठठाकर हँस पड़े—"समझे न्यूटन! जिस दिन फल पेड़ से गिरा वह इतिहास था—जिसके टूटे हुए पुर्ज़े हैं हम, जो सिर्फ़ टिक-टिक करते हैं—वक्त कहीं और है—रुका हुआ है—कहीं सड़क के बीच है—और लाल सिग्नल की घूरती हुई आँख-सा क्रुद्ध एक पतझड़ सड़क के किनारे नशे की चिलम-सा सुलग रहा है, जिसकी आँच में सुबह से निकली हुई धूप का रंग ज़र्द पड़ गया है—और चार अदद आम के पेड़ों पर सफ़ेद बालों का घोंसला लटक रहा है.... मिल गया तुम्हारे सवालों का जवाब! ..."

मैंने कहा, "तुम कौन हो जीजी?"

"जिन्हें इतिहास जज़्ब नहीं कर पाता, उन्हें फेंक देता है, मैं वही हुई हूँ—एक मिथ!

किसी परिचित खटखटाहट के उत्तर में सामने का दरवाज़ा खोलने तक जीजी जा चुकी थीं। उनके शब्द फ़र्श की ज़मीन पर लतर की तरह प्रवेश कर पाने की चेष्टा-से पड़े थे। उनमें अब भी हरकत थी। कटे हुए सिर से ख़ून की बूँदें टपक रही थीं और एक नदी को रँग रही थीं जिसे गोमती कहते हैं। चार अदद आम के पेड़ों पर लगा घोंसला नदी के ऊपर उठते-उठते दूर सफ़ेद चिड़ियों की झंडियाँ बन गया था और नदी पर तैरते ख़ून की परछाईं उस पर पड़ रही थी।....

किसी जगह बिताई जाने वाली आख़िरी रात एक ध्वनिरहित चीख़ बनकर मेरे गले में अटकी हुई है और मैं जगा हूँ। ●

शुक्र है भगवान का

मिलिटरी - कार्यालय में लेफ्टिनेण्ट माथुर अपने मित्र के फ़ोन की प्रतीक्षा कर रहे थे। ज्योंही घण्टी घनघनायी कि रिसीवर उठाकर वे झल्लाए—"गधे कहीं के! कब से इन्तज़ार कर रहा हूँ।"

पर दूसरी ओर से जो आवाज़ सुनाई पड़ी, उसे सुनकर लेफ्टिनेण्ट माथुर के हाथ काँप गये। कोई कह रहा था—"जानते हो, मैं कौन हूँ?"

लेफ्टिनेण्ट के 'नहीं' कहने पर पुनः आवाज़ आयी—"मैं जनरल टी० सिंह हूँ।"

लेफ्टिनेण्ट थोड़ा झिझका फिर अपनी आवाज़ का सन्तुलन सँभालता हुआ पूछ बैठा—"और आप जानते हैं, मैं कौन हूँ?"

"नहीं।"

जनरल का उत्तर सुनकर लेफ्टिनेण्ट के मुँह से निकला—"शुक्र है भगवान का कि आप नहीं जानते!" और उसने चुपके-से रिसीवर रख दिया।
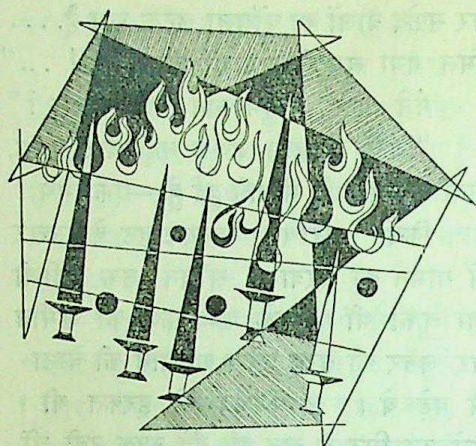
कैलाश वाजपेयी

बीसवीं सदी की इस चरमोत्कर्ष वाली सभ्यता की अन्तिम परिणति क्या युद्ध ही में होगी--उस युद्ध में जिसकी भयानक विभीषिका की कल्पना मात्र से इंसान का दिल दहल उठता है।

इस बीमार-युग की समस्त बाह्य एवं आन्तरिक समस्याओं का अवगाहन कर लेने के पश्चात् मन में रह-रहकर एक ही प्रश्न घुमड़ता है और वह यह कि इस जटिल सभ्यता की परिणति क्या होगी ? क्या आगे आने वाली दशाब्दियों में त्रस्त मानव-पीढ़ी अपने पुनरोद्धार का कोई मार्ग खोज सकेगी ? अथवा फिर संक्रान्त विन्दु (critical point) आने पर वह स्वत: ध्वस्त हो जाएगी।

संस्कृति की चक्राकार (cylical) गति के सिद्धान्तानुसार हम काले युग में जीवित हैं। ऐसे युग में जिसमें वित्त सर्वोत्कृष्ट मूल्य है। जिसमें विद्वत्ता का आधार प्रचार है। जिसमें दैहिक आकर्षण का नाम प्यार है। जिसमें कुचक्र आंतरिक धर्म का पर्याय है जिसमें अस्तित्व एक भद्दा मज़ाक है और मृत्यु अधिकतर अस्वाभाविक रूप से घटित होती है। यह युग मानव-जाति के लिए सबसे अधिक अन्धकारमय युग है। संस्कृति की चक्राकार गति के आधार पर कहा जा सकता है कि यह युग भी अपनी समस्त बुराइयों के साथ बीत ही जाएगा।

किन्तु यदि खोखली आस्था और झूठी भाग्यवादिता का सहारा न लिया जाए, और अव्यवहारिक चिन्तन से अलग हटकर वर्तमान युग की प्रकृति पर विचार किया जाए तो यह तथ्य स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आ जाता है कि कुछ दशाब्दि पूर्व जो पाप समाज की धमनियों में परोक्ष रूप से प्रवहमान था, वह अब फेन बनकर समाज के ऊपरी तल पर आ गया है। दूसरे शब्दों में पाप निर्मति हो गया है। उसके प्रति झिझक या नकार का भाव समाज से विलुप्त हो चला है।

युद्ध : एक निष्कृति

बुराई (evil) के प्रति अब हमारी प्रतिक्रिया स्वीकारात्मक हो गई है अथवा यह कि बुराई वर्तमान युग में सर्वमान्य (standardized) हो गई है।

संस्कृति का दूसरा सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक (dialectical) है, जो शाखा-प्रशाखाओं में बँटता-फलता जटिल से जटिलतर होता चला जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार लगता है दुनिया की विकृति का कारण मानव-जाति का मानसिक विकास है। और आगे आने वाली दशाब्दियों में जैसे-जैसे मानव-जाति का मानसिक धरातल वर्धमान होता जाएगा, पृथ्वी पर उसी अनुपात में जीवन जटिल और विकृत होता जाएगा।

ऐसी स्थिति में अब यह सोचना कि किसी अज्ञात प्रक्रिया द्वारा एक दिन मनुष्य के चेहरे पर फिर वही आदिम सरलता लौट आएगी—न केवल भ्रांति है वरन् एक भयंकर आत्मवंचना भी। नृतत्त्वशास्त्रियों के अनुसार अभी क्योंकि मनुष्य को बौद्धिक-विकास के चरमविन्दु तक पहुँचना है अतः मानवीय सम्बन्धों का उलझते चले जाना भी स्वतःसिद्ध ही है।

संस्कृति के उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों में चाहे जिसे आधार माना जाए इस सन्निपात ग्रस्त एवं मूल्यविहीन युग की परिणति एक दुर्घटना के रूप में ही सामने आती है। वर्तमान युग के हर बुद्धिजीवी का चिन्तन इस उखड़े हुए युग की समस्याओं से जूझता हुआ अन्त में जिस दीवार से जाकर टकराता है वह किसी भावी अपशकुन की आशंका के कारण काँपती-सी जान पड़ती है और यह आशंका और कुछ नहीं केवल युद्ध की है।

इतिहास कहता है, युद्ध प्रगति की अंतिम निष्कृति है। दार्शनिक उपलब्धियाँ, सार्वभौमिक प्रेम और उच्च मानवीयता के उद्घोष से अलग मनुष्य के रक्त में नृशंसता और बर्बरता के प्रति एक सहज आकर्षण प्रवहमान है। 'मैन इज़ प्रोन टु ईविल'—इस कथन को केवल एक दार्शनिक उक्ति कहकर बहुत दिन तक भुलाया जाता रहा है। किन्तु सत्य तो यह है कि मनुष्य अपने रक्त में ही दुष्टता की प्रवृत्ति लेकर जन्मता है। मूल रूप में वह पशु है, शेष सब-कुछ ही उसने अर्जित (cultivate) किया है। अतः युद्ध और रक्तपात का सबसे पहला कारण स्वयं समूची मानव-जाति है। यदि विश्व के इतिहास को साक्षी माना जाए तो आश्चर्य होता है पढ़कर कि पिछले पचहत्तर वर्षों में जर्मनी ने पाँच, फ्रांस ने उन्नीस और ब्रिटेन ने इक्कीस लड़ाइयाँ लड़ी हैं।

इस संदर्भ में प्रोफ़ेसर सॉरोकिन ने अपनी पुस्तक 'सोशल एण्ड कल्चरल डायनमिक्स' में जो आँकड़े दिए हैं, उन्हें देखकर तो यह तक कहने में कोई अतिशयोक्ति न होगी कि मनुष्य केवल युद्ध करने के लिए ही जन्मा है। पिछले नौ वर्षों के इतिहास में संसार के देशों ने जो युद्ध किए हैं, उनके आधार पर प्रोफ़ेसर सॉरोकिन ने किस विशिष्ट देश ने अपने कितने प्रतिशत वर्ष युद्ध में स्वाहा कर दिए हैं, यह स्पष्ट करने के लिए एक विस्तृत तालिका दी है। और इस तालिका के अनुसार बारहवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी के बीच के काल में रूस ने अपने छियालीस प्रतिशत, स्पेन ने सरसठ प्रतिशत, पोलैण्ड ने अट्ठावन प्रतिशत, ग्रीस

ने सत्तावन प्रतिशत, इंग्लैण्ड ने छप्पन प्रतिशत फ्रांस ने पचास प्रतिशत, हालैण्ड ने चवालीस प्रतिशत, रोम ने इकतालीस प्रतिशत, आस्ट्रिया ने चालीस प्रतिशत, इटली ने छत्तीस प्रतिशत तथा जर्मनी ने अट्ठाइस प्रतिशत वर्ष युद्ध करते हुए बिताए हैं।

इन सभी युद्धों के पीछे, शक्ति का मोह और सम्राटों की धमनियों में बहती बर्बरता की आसक्ति, ये दो कारण प्रमुख लगते हैं। हो सकता है एक कारण भूख भी रही हो। किन्तु वर्तमान युग में युद्ध का यह कारण बेमानी बन चुका है। हाँ, एक कारण जो सर्वथा नवीन है वर्तमान युग में जन्मा है। और वह है सैद्धांतिकता। सैद्धांतिक दृष्टि से दुनिया अब दो खेमों में विभक्त हो चुकी हैं और स्वागत सिद्धान्त का अनुसरण दूसरे देश भी करें इसलिए शक्ति-प्रदान की प्रथा कुछ वर्षों से कई देशों में चल पड़ी है। सैद्धान्तिक सिद्धि के लिए एक रास्ता 'भय-प्रदर्शन' भी माना गया है। यद्यपि यह सत्य है कि भय दिखाकर दूसरे को कुछ काल के लिए अपने सिद्धान्तों का अनुयायी बनाया जा सकता है किन्तु मानसिक रूप से भी मनुष्य पर शक्ति द्वारा विजय प्राप्त की जा सकती है यह कहना अब निरर्थक-सा जान पड़ता है।

यों देखने में समूचे ग्लोब पर मानव-जीवन बड़ा सुव्यवस्थित एव आदर्शयुक्त लगता है। हर दिन उच्च मानवीयता की घोषणाएँ होती हैं, अनेक प्राकृतिक दुर्घटनाओं पर विजय प्राप्त की जा चुकी है और हर समझदार व्यक्ति युद्ध को निन्दनीय मानते हुए शांति की उपासना का संदेश देता है, किन्तु थोड़ी गंभीरता से विचार करने में देशों के बीच खड़ी अदृश्य घृणा की दीवार स्पष्ट रूप से आँखों में झलक जाती है।

विश्व की बढ़ती हुई जनसंख्या का अन्तिम छोर किस प्रकार सँभाला जा सकेगा, आज का हर चिन्तक इस समस्या को लेकर बुरी तरह उलझ गया है। अपार भीड़ से भरे हुए समाज का नियंत्रण केवल तब तक संभव है जब तक कि वह उत्तेजनाहीन है, जब तक कि भीड़ के हर व्यक्ति में अपनी स्वतन्त्र सत्ता का बोध अनुपस्थित है किन्तु जैसे ही बाहरी दबाव के कारण व्यक्ति उत्तेजित होता है, उसे अपनी वैयक्तिकता का बोध होने लगता है और वह क्षण किसी भी देश की नियंत्रण-व्यवस्था के लिए सबसे अधिक ख़तरनाक होता है। तात्पर्य यह कि एक बार संक्रान्त विन्दु (critical point) आ जाने पर मनुष्य—चाहे वह अकेला हो अथवा साथ में—एकदम बर्बर पशु बन जाता है। यही सिद्धान्त शक्ति के साथ भी लागू होता है।

यह आवश्यक नहीं कि हर वह व्यक्ति अथवा हर वह देश जिसके पास शक्ति है उसका दुरुपयोग ही करे। किन्तु इस तर्क से समस्या की गम्भीरता में कोई अन्तर नहीं आता। क्योंकि कोई भी विस्फोटक केवल तब तक शांत रहता है जक तब कि उस पर अतिरिक्त आघात नहीं पहुँचता, किन्तु जैसे ही आघात का क्षण अथवा संक्रान्त विन्दु (critical point) आया कि वह फट पड़ता है। शक्ति के साथ भी यही ख़तरा है। जर्मनी में नाज़ियों द्वारा, भारत में अँग्रेज़ों द्वारा, फ्रांस में कैथोलिक्स द्वारा, इटली में राजकुमारों द्वारा की गई समस्त

सामूहिक हत्याओं के पीछे केवल एक ही कारण था और वह था संक्रांत विन्दु ।

जिस तरह हर वस्तु को खौलने की स्थिति तक लाने के लिए अलग-अलग तापमान की आवश्यकता होती है उसी तरह व्यक्ति अथवा राष्ट्रों के संक्रान्त विन्दु भी अलग-अलग हो सकते हैं। उसका अर्थ यह हुआ कि संक्रान्त विन्दु तक पहुँचने में केवल तादाद (physical bulk) ही प्रमुख कारण नहीं है, घनत्व एवं सहनशक्ति भी अपना महत्व रखती है। साथ ही कार्य और कारण सम्बन्ध भी अपना दायित्व निभाता है। यदि जेलर और पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट सदैव ही क्रूर और नृशंस हैं, तो इसका कारण यह नहीं कि वे अन्य व्यक्तियों की तुलना में अधिक बर्बर हैं, वरन् यह है कि उन्हें अपनी ज़िम्मेदारी का निर्वाह करने के लिए (क़ैदियों और अपराधियों पर नियंत्रण रखने के लिए) हर क्षण संक्रान्त विन्दु पर ही रहना पड़ता है। एक क्षण के लिए भी यदि यह विन्दु ओझल हुआ तो निश्चय ही वे उदार, सहृदय और दयालु बन जाएँगे और उनके सहृदय होने का अर्थ है अव्यवस्था (confusion) और नियमविहीनता (disorder)।

मनुष्य जैसा वह दिखाई पड़ता है उससे कहीं अधिक नृशंस है। मूल-रूप में वह परपीड़क (saddist) है। दूसरों को दुःख पहुँचाने में उसे एक विशेष प्रकार का आनन्द आता है और ऐसा वह अनजाने में भी करता है। काक्रोंच और चींटियाँ मारती नन्हीं बच्चियाँ, खिड़कियों के शीशे तोड़ते हुए बच्चे, विश्वासघात करते प्रेमी-प्रेमिकाएँ, अतिरिक्त सम्बन्ध रखने वाले स्त्री-पुरुष, कठोर शासक और सत्ता के मद-चूर राजनीतिज्ञ सबके - सब अपनी दैहिक सत्ता से कहीं अधिक पशु हैं, बर्बर हैं।

कोई भी देश केवल तब तक शांतिवादी रह सकता है जब तक कि उसकी शक्ति का संक्रान्त विन्दु नहीं आया। संक्रान्त विन्दु आने पर उसकी स्थिति बे-सँभाल हो जाने के लिए विवश होती है। वह आक्रान्त (aggressor) हो जाता है। वह देश चाहे जिस धर्म का अनुयायी हो, उसके नेता चाहे जितने धर्मभीरु हों, उस देश का इतिहास चाहे जितना आदर्शयुक्त रहा हो—शक्ति के चरमविन्दु पर पहुँचने के पश्चात् उसका बर्बर हो जाना स्वाभाविक है। यह सत्य है कि आज का युद्ध अपनी प्रकृति में सर्वध्वंसी बन चुका है किन्तु इस सार्वभौमिक नियम के अनुसार कि प्रत्येक वस्तु अपने चरमोत्कर्ष के पश्चात् ह्रासमान होती है यह कहने में कुछ विशेष अतिशयोक्ति न होगी कि युद्ध ही इस बीमार एवं आत्मविपन्न युग की परिणति है। युद्ध की इस अनिवार्यता के पीछे एक नया कारण आकर और जुड़ गया है जो पूर्ण रूप से मनोवैज्ञानिक है।

क्योंकि आज के व्यक्ति की समस्या एकरसता और ऊब की समस्या है अतः निर्मानवीकरण (dehumanization) की इस प्रक्रिया में जीवन को एक नया मोड़ देने के लिए अथवा दूसरे शब्दों में जीवन की एकरसता भंग करने के लिए एक बहुत-बड़े विश्वव्यापी आघात की प्रतीक्षा उन तमाम देशों में जन्म ले चुकी है जो वैज्ञानिक उन्नति के शिखर पर पहुँचते रहे हैं अथवा पहुँचने को हैं। पिछले कई वर्षों से उद्जन बमों से युक्त निरन्तर

आकाश में उड़ते वायुयान, वैज्ञानिक उपलब्धियों का विश्व-व्यापी प्रचार और सैद्धांतिक दृष्टि से भीतर घुमड़ता हुआ घृणा का विशाल समुद्र, सबके - सब इस आगत ख़तरे के सूचक हैं कि सब प्रकार की सुख-सुविधा और ऐश्वर्य में जीता हुआ मनुष्य अपने अहम् की तुष्टि के लिए उन समस्त वैज्ञानिक उपलब्धियों का प्रयोग करना चाहेगा जिनके माध्यम से वह विश्व पर अपनी शक्ति की छाप छोड़ सके। किन्तु क्योंकि इन तमाम अधुनातन शस्त्रों का दुष्प्रभाव स्वयं उसके भी अंत का कारण होगा यही सोचकर वह युद्ध करने से डरता भी है--परन्तु यह स्थिति बहुत दिन तक न रह सकेगी या केवल उसी दिन तक रह सकेगी जब तक शक्ति का संक्रान्त विन्दु (critical point) नहीं आया।

अब क्योंकि दोबारा समस्त मानवीय जाति का अबोध हो जाना सम्भव नहीं है अथवा दूसरे शब्दों में यांत्रिक एवं वैज्ञानिक प्रगति का पश्चायन (lag) में बदल जाना असम्भव है अतः जैसे-जैसे बाहरी तंत्र जटिल होता जाएगा, जनसंख्या बढ़ती जाएगी, [illegible] की चेतना के धरातल भी उलझते चले [illegible] वह उसी अनुपात में आत्मविपन्न [illegible] (robot) भी होता चला जाएगा [illegible] इस आधार पर यह कहना कि आगे [illegible] वाली दशाब्दियों में हेतुवादिता के [illegible] का अनुगमन करने वाला मनुष्य अपने [illegible] की रक्षा करने के लिए कोई भी क़दम [illegible] में न झिझकेगा—भले ही वह क़दम [illegible] ही देशों के विध्वंस का कारण क्यों न [illegible] कोई अतिशयोक्ति न होगी।

हो सकता है यह दृष्टिकोण अवसा[illegible] चिन्तन की संज्ञा प्राप्त कर ले। किन्तु [illegible] बेतहाशा बढ़ती हुई जनसंख्या [illegible] विश्व और हर क्षण तनाव में जीने [illegible] मनुष्य की असहाय स्थिति, उसका ईश्व[illegible] अकेलापन तथा यांत्रिकता के अन्धका[illegible] उड़ता हुआ उसका चिमगादड़ीय अस्ति[illegible] सबके-सब अन्त में एकमात्र निष्कृति [illegible] महान दुर्घटना (युद्ध) को मानने के लि[illegible] विवश हैं। ●

युद्ध-समाप्ति : आवश्यक सूचना

प्रथम विश्व-युद्ध के दिनों मार्शल फाक का मोटर-ड्राइवर पेरी इ[illegible] परेशान था कि प्रायः सैनिक उससे पूछते कि यह युद्ध कब समाप्त हो[illegible] उन्हें शायद यह विश्वास था कि इस सम्बन्ध में मार्शल द्वारा पेरी को [illegible] जानकारी हो सकती है। पेरी ने उन्हें आश्वासन दिया कि मा[illegible] यदि कुछ बताया तो वह फौरन सूचित करेगा।

कुछ दिनों बाद पेरी ने घोषणा की: "आज मार्शल ने इस सम्बन्ध में बा[illegible] की है।"

"'अच्छा !" सारे सिपाही उत्सुकतापूर्वक आ जमे, "क्या कहा उन्हों[illegible]

पेरी ने एक बार इधर-उधर देखा, फिर बोला, "मार्शल ने कहा— तुम्हारा क्या ख़याल है ? आख़िर यह युद्ध कब तक समाप्त होगा ?"

शिमला के देवदारुओं के रूप-चन्द्रमा

देवदारू की ग्रीवा से
मेरी कांच - खिड़की तक
बँधा है तांबे का
एक
ऐरियल तार
मेरे दिल की वेव-लैंथें
अमृत-झील में
नहा उठती हैं !
देवदारू से मेरे दिल के बीच
त्रिकाल की एक
आकाशगंगा झिलमिलाती गा रही है।
ये ऊर्वशि-संध्याएँ
अपने गेहुँएँ दिशा-कंधों पर
लाद लेती हैं
जब—
पर्वतों के कजरारे, रतनारे, नीले,
मटमैले और चाकलेटी मुँदे कमल;
जब सड़क की डोरी पर

डॉ० रमेशकुन्तल मेघ
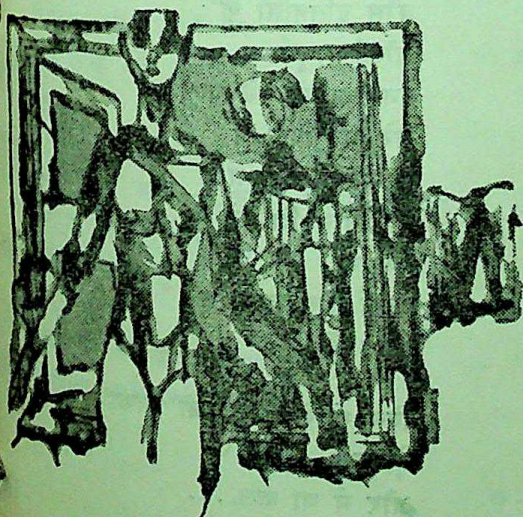
रंग-बिरंगी सीपों-सी मोटरें
बिंध जाती हैं,
जब हाथों के ट्रांजिस्टरों के
मोहक गीत
शहर की लुब्धक भीड़ों को
अलमस्त बना देते हैं
तब यह देवदारू
मुझे
सुनाते हैं
मिथकीय महाकाव्य;
मुझे
आदर्शों के व्यूह से
अभिमन्यु-सा
निकाल कर
बना देते हैं
एक लुढ़कता
चमकता
मोती।
काँप उठते हैं देवदारू
थर-थर, सर-सर, मर-मर,
कामायनी के सौंदर्य-दीप
इन्होंने जलाए थे कैलाश तक;
झूम उठते हैं झमाझम
पाण्डवों के बनवासी प्रेय
इन्होंने श्रेय में
बदले थे;
सज उठते हैं छमाछम
नहाती सिद्ध-पत्नियों को
मदगंधा चोलियाँ
इन्होंने पहनाई थीं।
तैरा देते ये पुरातन सपने
ऐरियल में।
मेरे दिल में

सभी कुछ
गा उठता है--
जो मेरा है;
जिसे भूला चुका है
मेरा यह जन्म,
जो मेरे अनन्त जन्मों की
माला होकर
यूँ—इनका कंठहार है!

इनसे अधिक ऊँचा नहीं है
शिमला का बर्फ़ीला चन्द्रमा,
चन्द्रमा को बर्फ़ बना
उत्तरीय-सा ओढ़ चुके हैं
ये दिग्विजयी
सहस्त्र वर्षों तक हर शिशिर में
मुझसे ये ऊँचे हैं
पाँच गुने, दस गुने, बीस गुने,
काल की शपथ लेकर
मुझसे कहेंगे ये :
मुझे बीस जन्मों से
जानते हैं ये,
बीस इतिहासों के
सौंदर्य-माधुर्य
इनके हाथों रचे गए।
मेरे भी दिल में
ये भी तो एक साथ
नन्हें-मुन्ने शिशुओं के
रूप में
अपने बीस जन्मों तक
पलते हैं!

दिल में मेरे बँधा जो इनका
ऐरियल--
और मैं था कल....

इनका
शिशु - अभिमन्यु ;
पर आज हूँ एक
रोबोट !

अभी भी मुझे
ये
समझते हैं
एक मोती !
एक मनु !!
एक प्रोमेथियस !!!
किन्तु मेरे हाथ में है
विज्ञान की लपलपाती मशाल
मेरे हाथ में है
जिजीविषा का सिंदूरी तिलक ।

ये पुरातन देवदारू
आज नये नहीं हैं ।
ये उतने ही ऊँचे हैं
मैं उतना ही छोटा हूँ !
शिमला की सड़कों पर
मुझे फूँक देते हैं ये
एक
अंगारव्रती पपीहे - सा ;
ऊपर लिये चलते हैं फिर, समानान्तर—
चन्द्रमा का रोमांस ।
मुझे ये मानते हैं
मनु-सखा ;
स्वयं भी तो ये मनुप्राण !
देवदारू अभी तक मेरे उस

आदिम दिल के
अभिषेक में
भूले हैं !
बेतहाशा मैं भागता हूँ
अपनी डायरी के पन्नों को
उड़ाता
इनकी छाँहों - तले :
भागता हूँ शिमला की माल पर ।
माल : कंदर्प की लाल रेखा से
वासना की काली रेखा से
रेखांकित प्यास की एक अनवरत वैभवशाली
प्रत्यंचा ।
जीन्स पहने हुए भटकती निम्फ़-रमणियाँ
कुबेर - से बौने कुठित नर
पी रहे हैं अनन्त प्यास
खा रहे हैं अनन्त भूख
ओह, ये शीतल देवदारू
नीले पड़ गए हैं !

ये पुरातन देवदारू
जाज-संगीत बरस देते हैं !
इनके कराहते विलासों पर ;
ये पुनः चले जाते हैं शीश उठा
दूर सुदूर कलहंस - कूजित
हिमालय तक ।

हाय, हमें छोड़कर
चले जाते हैं
देवदारू !
हाय, मुझे मोती से
मूँगा बनाकर
अलविदा लेते हैं देवदारू !!

●

शिमला के देवदारुओं के रूप - चन्द्रमा : डॉ० रमेशकुन्तल मेघ
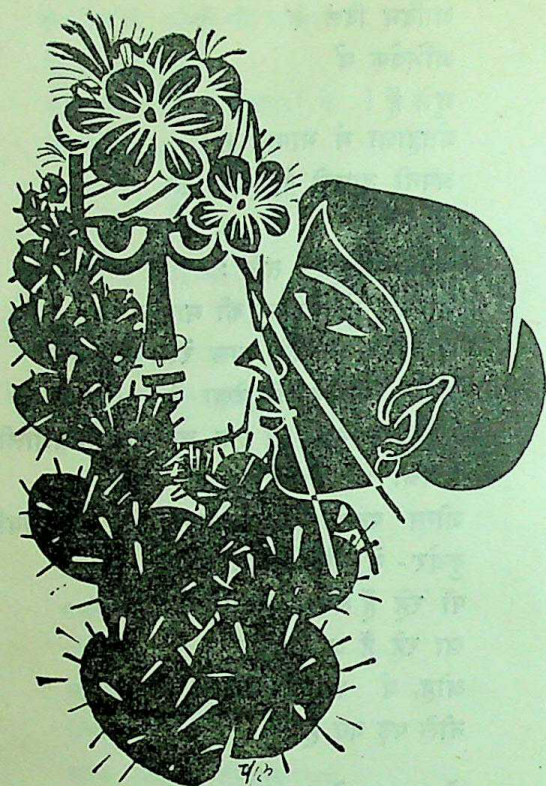
कुमारी विनीता

प्रश्न है कि कली इतनी ख़ूबसूरत और नाज़ुक होते हुए भी नुकीले काँटों से क्योंकर प्यार करती है। लेकिन क्या यही प्रश्न स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में भी नहीं पूछा जा सकता ?.... और यह दूसरा प्रश्न ही पहले प्रश्न का उत्तर है। एक प्रतीकात्मक कथा।

और मैं उसकी ओर एकटक देखते हुए कहा करता हूँ .... "सुनो, तुम कितनी सुन्दर हो !" उसकी आँखें झुक जातीं और मैं उसकी बड़ी-बड़ी आँखें, भारी-भारी पलकें और उसकी ठुड्डी का तिल देखता रह जाता हूँ।

पर आज उसकी आँखें ज़मीन देखती हुईं देर तक मुस्कुराती न रहीं बल्कि उन्होंने जल्द ही मेरी ओर देखा। उसके होंठ सिकुड़े और फिर फड़फड़ाए—"पर तुम....तुम....कितने सुन्दर हो !"

सफ़ेद फूल और आलू की कचौड़ियाँ

मैं ? मैं अकचकाया, गम्भीर हो गया और फिर फीकी-फीकी-सी हँसी हँसकर रह गया।

मेरे ऑफ़िस का वक्त हो चुका था और मुझे उस समय कुछ सोचने की सुध-बुध न थी।

आज मैंने जल्दी - जल्दी कौर नहीं उठाया, जल्दी से फ़ाइल उठाते हुए किसी भी कागज़ को गिराया नहीं। और न मैं उसकी ओर देखते रहने के कारण दीवाल से ही टकराया। इसीलिए आज उसे कुछ बोलने का मौक़ा ही नहीं मिला। नहीं तो वह कहती—"ज़रा धीरे-धीरे खाओ न," "तरकारी और ले लो न," "अच्छी नहीं बनी है क्या?" "अरे, ज़रा धीरे-धीरे चलो, फिसल जाओगे!" "यह लो, तुम्हारा कागज़ छूट गया।" इतना सब कुछ वह मुस्कुराती हुई कह सकती थी। पर आज ऐसा कुछ भी नहीं हुआ क्योंकि मैं बाक़ायदे सब कुछ कर रहा था।

मैं सोचता रहा, क्या इसने जो कुछ भी कहा वह मुझे ख़ुश करने के लिए कह दिया? मैं... काफ़ी साँवला रंग। छोटी-छोटी आँखें। हाथों पर गोटी का दाग़! कहो कि मुँह पर नहीं हुआ। मैं....और सुन्दर?...

मुझे याद आई, अपने कालेज की बातें। ड्रॅमेटिक सोसाइटी की ओर से ड्रामा होने वाला था। जब प्रोफ़ेसर वर्मा ने मेरे हीरो बनने का प्रोपज़ल बड़े दबे स्वरों में किया था तो हीरोइन बनने वाली रीता ने थोड़ा मुस्कुरा कर रम्भा को आँख दिखाई थी, जिसका मतलब यह था कि सूरत भी है? फिर जब मैंने संतोष का नाम हीरो के लिए लिया तब उसने बड़ी कृतज्ञता से मेरी ओर देखा जिसमें यह भी था कि आप अपनी कमी से वाकिफ़ तो हैं। ...मैं....सुन्दर! विचित्र बात....मेरा सर फटा जा रहा था।

●

एकाएक मैंने रास्ते में देखा, एक फूल सफ़ेद कमल की तरह खिला हुआ था। एक-एक पंखुड़ी को सर्जक ने मानो 'कम्पीटीटिव एक्ज़ाम' हॉल में बैठकर बनाई थी। मैंने साइकिल रोक दी। कोलतार की सड़क छोड़कर कीचड़ में उतर पड़ा और फूल की ओर हाथ बढ़ाया मैंने। पर तुरन्त ही मैं चिल्लाया क्योंकि एक काँटा हाथ में गड़ चुका था और फूल को भूल मुझे काँटा निकालने के लिए झुकना पड़ा था। मैंने ध्यान दिया—फूल के चारों ओर शायद नागफनी के काँटों की झड़ियाँ थीं। उसमें एक लम्बी-सी हरी डाँटी निकली थी। और उस पर वह फूल शान से खड़ा था। गोया उसे अपने रक्षक पर विश्वास और गर्व हो। मैंने काँटे को देखा और लौट पड़ा।

मैं ऑफ़िस में दिन भर सोचता रहा—क्या इस काँटे को इतनी सुन्दर कली प्यार करती होगी? और मेरी नज़र के आगे, वह गुस्ताख़ काँटा था जो बड़े प्यार से उस कली को बाहुपाश में जकड़े खड़ा था। जाने क्यों मेरे सामने एक ही प्रश्न बार-बार उभर-कर आ खड़ा होता रहा दिन भर —क्या उस काँटे को वह सुन्दर कली प्यार करती होगी? अन्त में हार कर मैंने चपरासी से ऐस्प्रो की दो गोलियाँ मँगवायीं।

●

शाम का वक्त। घर लौटकर मैंने साइकिल अभी रखी भी नहीं थी कि अन्दर से आवाज आई—"अजी, गोरा लड़का भी कोई लड़का

होता है। मुझे तो गोरा आदमी बिल्कुल अच्छा नहीं लगता।" मैंने खिड़की से देखा कि वह अपनी पड़ोसिन को पान देते हुए कह रही थी--"मुझे तो साँवला-सा रंग, छोटी-छोटी आँखें और अच्छी पर्सनलिटी वाला लड़का ही अच्छा लगता है।"

मैंने साइकिल को दीवार से टिकाते हुए अपनी सूरत याद की और मुस्कुरा पड़ा। मैंने पुकारा--"मन्नू !"

....और आँधी के वेग से दरवाजा खोलकर वह मेरे सामने खड़ी थी। मेरे बेतरतीब बालों को देखकर वह अन्दर भागती-भागती बोली, "एजी, ठीक से हाथ-मुंह धो लो। आज आलू की कचौड़ियाँ बनाई हैं मैंने!"

FORM IV
(See Rule 8)

1.	Place of Publication	9 Alipur Park Place, Calcutta 27.
2.	Periodicity of its publication	Monthly
3.	Printer's Name	Shri Munishwarlal
	Nationality	Indian
	Address	11, Clive Row, Calcutta 1.
4.	Publisher's Name	Shri Munishwarlal
	Nationality	Indian
	Address	11, Clive Row, Calcutta-1.
5.	Editor's Name	Shri Lakshmichandra Jain & Shri Sharad Deora
	Nationality	Indian
	Address	9, Alipur Park Place, Calcutta-27.
6.	Names and addresses of individuals who own the newspaper and partners or shareholders holding more than one percent of the total capital	Bhartiya Jnanpith 9, Alipur Park Place, Calcutta-27.

I, Munishwarlal, hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

Sd/- Munishwarlal
Signature of Publisher

Date 10–3–64

कीर्त्तिनारायण मिश्र

०

भारतीय लोकभाषाओं में मैथिली का इसलिए महत्वपूर्ण स्थान है कि उसने विद्यापति और चन्दा जैसे महाकवियों को पैदा किया। प्रस्तुत है उसी भाषा के सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातें—चन्द रसपूर्ण नमूनों के साथ।

०

मैथिली-भाषा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करने से पता चलता है कि प्राचीनता, साहित्य-रचना, व्याकरण एवं व्यापकता की दृष्टि से यह बहुत ही समृद्ध भाषा है। लिपि, उच्चारण, क्रियापद, छन्द-रचना, वाक्य-विन्यास, अर्थ-विवेचन आदि में वह हिन्दी से सर्वथा भिन्न है। पूर्ण वैज्ञानिक विश्लेषण के पश्चात् यह हिन्दी की उपभाषा या बोली न लगकर स्वतन्त्र भाषा की सारी विशेषताओं से युक्त लगती है। भारत की अन्य मान्यताप्राप्त भाषाओं की तरह इसका साहित्य भी विशाल और विकासोन्मुख तत्व से संपृक्त है।

मैथिली बिहार के चम्पारण, दरभंगा, मुँगेर, संथाल परगना, भागलपुर, सहरसा, पुर्णिया और मुजफ्फरपुर ज़िलों की मातृ-भाषा है। मैथिली का क्षेत्र भोजपुरी के पूरब और मगही के उत्तर-पूर्व तथा नेपाल के रौताहट, सरलाही, महोतरी एवं मोरंग तक फैला हुआ है। इसलिए मिथिला से तात्पर्य मात्र दरभंगे के आस-पास की भूमि से ही नहीं, वरन् समस्त मैथिली-भाषी क्षेत्र से है।

भाषा वैज्ञानिकों ने, जिनमें डॉ० ग्रियर्सन एवं डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी भी हैं, यह सिद्ध किया है कि बौद्ध सिद्धों ने जिस लोकभाषा के द्वारा धर्म-प्रचार किया, वह थी मैथिली-बँगला आदि भाषा का प्रारंभिक रूप। बौद्धों के कई दलों ने मिश्र रचना-नीति को अपनाया और उनकी भाषा बौद्ध-संस्कृति कहलायी, बौद्ध संस्कृत में संस्कृत

मैथिली और उसके लोकगीत

कम और प्राकृत अधिक थी। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन द्वारा संयोजित पुरानी हिन्दी के जो नमूने 'काव्य-धारा' में दिये गए हैं, उसे बंगला, उड़िया और मैथिली वाले भी अपनी-अपनी भाषा का प्राचीन रूप मानते हैं। इस तरह भाषा की परम्परा में मैथिली का एक विशेष स्थान है।

विद्यापति ने मैथिली को पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँचाया, किन्तु उनके पहले भी इसका रूप स्पष्ट हो गया था। 'लीरिक' काव्य की जन्म-भूमि मिथिला ही रही है और ज्योतिरीश्वर का 'वर्ण रत्नाकर' भी पहले ही लिखा जा चुका था। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता प्रो० राधाकृष्ण चौधरी का कहना है कि 'ज्योतिरीश्वर' के पूर्व भी अनेक ऐसे महारथी थे जिन्होंने मैथिली की शैली को परिमार्जित किया। उमापति का 'पारिजात हरण' नाटक के तत्वों से पूर्ण है। उसकी शैली भी काफ़ी परिष्कृत मालूम पड़ती है। प्राक्-विद्यापति-कालीन मैथिली का प्रभाव बँगला, उड़िया, असमी, नेपाली आदि के साहित्य पर भी है। विद्यापति ने भी उससे प्रेरणा ग्रहण की।

जिस समय आधुनिक मैथिली का रूप स्पष्ट हो रहा था, उस समय भी विद्यापति ने कीर्त्तिलता और कीर्त्तिपताका की रचना अवहट्ठ में की किन्तु 'देसिल बचना सब जन मिट्ठा' कहकर लोकभाषा की महत्ता भी स्वीकार की।

विद्यापति का युग मैथिली का स्वर्ण-युग माना जाता है। उन्होंने अपनी 'देसिल बचना' को जनप्रिय बनाया और मैथिली को अभूतपूर्व गौरव प्रदान किया। उन्हीं की तरह महाकवि चन्दा ने मैथिली राम[...] लिखकर तथा गोविन्ददास ने पदावलि[...] लिखकर अमरता प्राप्त की।

लोकसाहित्य के रूप में मैथिली-भाषा का उदय और विकास हुआ, इसलिए इसकी भाषा भी लोकभाषा की ऋजुता लिये रही।

मैथिली का परिमार्जित रूप १२ वीं शताब्दी से मिलता है। १२वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी के मध्य तक, शृंगार काल माना जाता है। इसी बीच मैथिल कोकिल महाकवि विद्यापति का आविर्भाव हुआ। १६वीं शताब्दी से १९वीं शताब्दी के मध्य तक भक्ति-काव्य की प्रधानता रही। इस काल में नाटक अधिक लिखे गए। स[...] १८५७ के बाद का समय आधुनिक काल व[...] गद्य-काल कहा जाता है।

मैथिली के लिए यह परम सौभाग्य की बात है कि विद्यापति और चन्दा जैसे उद्भट प्रतिभावाले महाकवि उसमें हुए। विद्यापति की पदावलियों से मिथिला की अमराइयाँ अब भी गूँज रही हैं। उन्हें अभिनव जयदेव की संज्ञा दी गई है। [...] ध्यातव्य यह है कि उन्हें बँगला और मैथिली दोनों अपना प्रतिनिधि मानते हैं। लेकिन सच पूछा जाय तो मैथिली का गौरव दस-बीस कवियों की सौ-पचास रचनाओं से ही बढ़[...] शील नहीं, अपितु इसका गौरव लोकसाहित्य के समुद्र में गीतों की वह रत्नराशि है [...] एक साथ गुम्फित होकर साहित्य की श्रीवृद्धि करती है और बिखरी रहने पर समुद्र[...] उन द्वीपसमूहों की तरह लगती है जो [...] की गहन निर्जनता को चीरकर दिग्भ्रान्त[...] का मार्ग-प्रदर्शन करते हैं।

मैथिली के विकास में ग्राम्य कवियों का बहुत अधिक योग रहा है। इन कवियों ने न केवल भावों की कलकल धारा बहायी है वरन् अपनी वाग्विदग्धता से हमें विस्मित भी किया है। भावों की नवीनता, भाषा की प्रांजलता, अनुभूति की गहराई, दृश्य-पर्यवेक्षण की सूक्ष्मता, उपमा की अनुपमेयता सौन्दर्याभिव्यक्ति की बारीकी, छन्दों का नयापन आदि में मैथिली किसी भी भाषा से कम नहीं। जहाँ संसार की अन्य भाषाओं का साहित्य केवल पुस्तकों तक सीमित है, मैथिली मिथिला के कण-कण में व्याप्त है। हर व्यक्ति आपको दो-चार पदावलियाँ सुना सकता है। दस-बीस सोहर, बटगमनी, नचारी, फाग, चैतावर, बारहमासा, समदाउनी सभी स्त्री-पुरुषों को कंठस्थ हैं। विद्यापति तो जैसे जन-जन के अन्तर्प्रदेश के एक मात्र अधिकारी ही हैं। गीतों का वर्गीकरण मिथिला की स्त्रियों की रुचि के अनुसार हुआ है। प्रेम कविताएँ 'तिरहुति' तथा अभिसार-गीत 'बटगमनी' के अन्तर्गत आते हैं। नायक को नायिका के वश में करने के भाव से जो गाये जाते हैं, उन्हें 'योग' कहते हैं तथा मनुहार के लिए लिखे गए गीतों को 'उचिती'।

हल जोतने वाले किसान, गाय चराने वाले चरवाहे, धान कूटने वाली मज़दूरिन चूल्हे-चक्की का भार सँभालने वाली स्त्रियाँ, यहाँ तक कि गलियों के भिखारी भी अपने गीतों से आपके मन-प्राणों को आप्लावित कर देंगे। शिशु-जन्म, उपनयन, विवाह-द्विरागमन से लेकर गोदोहन, खेतों की कटनी, पर्व-त्योहारों तक के लिए अलग-अलग गीत हैं। मिथिला की विशेषता बतलाते किसी ने लिखा है:

कोकटी धोती, पटुआ साग
तिरहुति गीत बड़े अनुराग,
भाव भरल, तन तरुणी रूप
एतवै तिरहुत होइछ अनूप।

मिथिला की कोकटी धोती, पटुआ साग, प्रेम परागपूर्ण तिरहुति गीत और सुन्दरी युवतियों का भावपूर्ण सौन्दर्य देखने योग्य है।

हिन्दी के अधिकांश कवियों ने राधाकृष्ण को ढाल बनाकर अपनी दमित वासनाओं और शृंगार का नग्न चित्रण करने में पर्याप्त कुशलता दिखलाई है। सूरदास ने कृष्ण के शैशव और कैशोर को ही छुआ, फलतः उनकी भक्ति निर्मल और निश्छल बनी रही। उनमें शृंगार का बड़ा ही संयमित रूप देखने को मिलता है। लेकिन विद्यापति और बिहारी ने अपनीं प्रतिभा के प्रदर्शन का उचित स्थल कृष्ण की रासलीला और गोपियों के विरह-वर्णन को ही चुना, राधाकृष्ण को आलंबन मानकर संयोग और वियोग के अनेक उद्दीपक चित्र प्रस्तुत किये गए :

माधव सब विधि थिक मोर दोषे
वयस अलप थिक तनु अति कोमल
तें नहि दरस परोसे
काँच कली जो हरि अँह तोडब
तौ प्रनि हएब उदासे।

श्रीकृष्ण एक किशोरी गोपी से छेड़खानी कर रहे हैं जो अभी पूर्ण यौवन को प्राप्त नहीं हुई है। गोपी इस असमय प्रेमालाप को पसन्द नहीं करती क्योंकि अपनी कच्ची उम्र की उसे याद आ जाती है। लेकिन इसके लिए वह कृष्ण को अपराधी नहीं

मानकर अपने को ही दोषी समझती है। कृष्ण का प्रेम ही कुछ ऐसा है कि अनायास ही वह खिंचकर उनके पास चली जाती है।

संयोग के चित्रों के साथ-साथ वियोग के चित्र की भी मैथिली में प्रचुरता है। विद्यापति का यह विरह-चित्र कितना मर्म-स्पर्शी और संजीव है :

हे सखि हमर दुखक नहिं ओर
ई भर बादर माह भूदर सून मंदिर मोर।

महाकवि रवीन्द्रनाथ इसे गाते समय अपने अश्रु नहीं रोक पाते थे।

रस में पागल नायक को नायिका सुन्दर मधुर शब्दों में समझा रही है :

हे हरि, हे हरि सुनिए श्रवनभरि
अब न बिलास क बेरा
गगन नखत छल से अवेकत भेल
कोकिल करइछ फेरा।

प्रात:काल का कितना स्वाभाविक वर्णन है। आकाश के सभी तारे अदृश्य हो गये हैं, कोयल बार-बार आकर कूक रही है। रात्रि शेष होने पर चक्रवात अपनी प्रिया से जा मिला और चाँद भी मलिन पड़ गया। गाँव की गायें चरने जा चुकीं और कुमुदिनि में मकरंद ढँक गया। मुँह के पान का रंग भी फीका पड़ गया फिर भी नायिका का पति रस-रंग में उन्मत्त है। नायिका कहती है, हे प्रिय उठो, इस अनुचित विलास की संसार भर में निन्दा होगी।

मैथिली लोकगीतों में बटगमनी का प्रमुख स्थान है। पावस-ऋतु में अमराई में हिडोले पर झूम-झूम मधुर-मदिर स्वर में गानेवाली स्त्रियों को देखकर आप दंग रह जायेंगे।

तिरहुति की तरह बटगमनी में भी एक अपूर्ण यौवना किशोरी का चित्रण किया गया है। माता-पिता ने उसका विवाह बहुत ही कम उम्र में कर दिया है। सहेलियाँ उसे सजाकर प्रियतम के पास भेज रही हैं। वह डरकर कहती है :

केलि भवन नहि जायब सजनी गे
हमर बयस थिक थोर
काँपत हृदय एखन सुनु सजनी गे
छाड़ि दिय कर अब मोर।

लोकगीतों की तरह मिथिला की लोक-कथाएँ भी बहुत प्रसिद्ध है। गोनूका के गप्पों का स्वाद लोग बड़े ही चाव से लेते हैं।

आधुनिक कवियों में स्व० भुवनेश्वर सिंह 'भुवन', जनार्दन झा जनसीदन, मुक्त यात्री (जिन्हें हिन्दी वाले 'नागार्जुन' के नाम से जानते हैं), आरसी प्रसाद सिंह दिवाकर शास्त्री, चन्द्रनाथ मिश्र अमर आदि ने मैथिली-साहित्य की ऐश्वर्य-वृद्धि में काफी योगदान दिया है।

नवीन उपमा अलंकार से युक्त नागार्जुन जी की यें पंक्तियाँ लोकजीवन की सहज को व्यक्त करते हुए व्यंग्य का एक अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती है :

हुनक मुखाकृति छन्हि, प्रसन्न
दीपित - अहिबात जकाँ,
हमर कोढ भुल थर-थर कपहत
कररिक पात जकाँ,
हम उदास हथिया में झपसीला घल
प्रात जकाँ
जो सिहकई छथि मुदा वसन्तक
मधुर बसात जकाँ।

भाषा में ठेठ शब्दों का प्रयोग नागा...

खूब करते हैं--हिन्दी ने भी, मैथिली में भी।

हास्य-व्यंग्य का बड़ा ही सुन्दर नमूना श्री दिवाकर शास्त्री की इन पंक्तियों में मिलता हैं :

हम रसगुल्ला खान सकब प्रिय !
हमतें छी अमरूद क भूखल
हमतें छी भातक बिन सूखल
बिना पसेरी भात खुऔने
हमरा अहा अघान सकब प्रिय !
भात खुऔने की हो जी भरि
दालि पिऔने की टोकना भरि
यावत मलिमलि देवन खैनी
तावत हम मुस्कान सकब प्रिय !
हम रसगुल्ला खान सकब प्रिय !

अँग्रेज़ी और हिन्दी की प्रगतिशीलता और प्रयोगशीलता ने भी मैथिली को काफ़ी प्रभावित किया। तरुण साहित्यकारों अभिव्यंजना की नवीनता को ध्यान में रखकर कितने ही शिल्पगत प्रयोग किए। श्री राजकमल चौधरी, प्रो० मायानन्द मिश्र, प्रो० हरिनारायण मिश्र, श्री दीपक, श्री वीरेन्द्र मल्लिक आदि ने भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से मैथिली में काफ़ी प्रयोग किए। अतः मैथिली का लोकसाहित्य काफ़ी समृद्ध और विकास की संभावनाओं से युक्त है।

०

नालायक दामाद

मि. चर्चिल की एक लड़की है, जो एकलौती होने के कारण अपने पिता को बहुत प्यारी है। उसका विवाह एक अमीर युवक से हुआ था। लेकिन, कुछ ही दिनों बाद चर्चिल की बेटी ने तलाक देकर उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया।

एक दिन मि० चर्चिल के यहाँ दावत थी। अपने भूतपूर्व दामाद को भी उन्होंने निमंत्रित किया। इस अवसर पर दामाद साहब ने अपने श्वसुर महोदय की प्रशंसा करके उन्हें खुश करने का विचार किया।

भोज समाप्त होने पर 'टेबुल-टाक' चल रही थी कि दामाद ने प्रश्न किया, "द्वितीय महायुद्ध में सर्वाधिक योग्य नेता कौन प्रमाणित हुआ ?"

उसे विश्वास था कि लोग चर्चिल का ही नाम लेंगे और इस तरह चर्चिल उससे खुश हो जाएँगे। परन्तु किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा जवाब दिये जाने के पूर्व ही मि० चर्चिल ने ही कह दिया, "मुसोलिनी !"

"यह कैसे ?" दामाद ने पूछा।

"कम-से-कम उसमें इतनी बुद्धि तो थी कि उसने नालायक दामाद को गोली मार दी।"

सुनकर दामाद साहब ठगे-से रह गए।
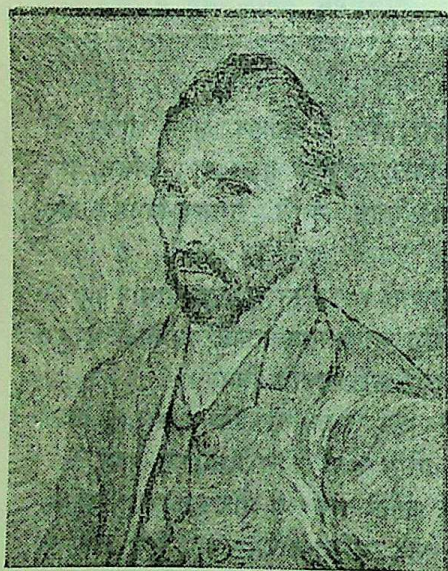
रेम्ब्राण्ड्ट का देश
घने कुहरों और समुद्री नहरों का नगर
आमस्टेरडाम
हीरों का धाम
पास ही वह ग्राम
जहाँ पिछली शती के मध्य में
जन्मा चित्रों का धनी
और भगवान् का भी
विन्सेण्ट वैन गौग़ ।

रेखाओं में कल्पना की, रंगों में जो
चाहता था बाँध लेना
जीवन का सौन्दर्य, स्वर्णिम प्रकाश
जो राशि-राशि प्राभूत
चारों ओर बिखरा पड़ा था
जो बाँधना चाहता था, शब्दों से
उस शक्ति को भी
जिसने जन्म दिया था
उस समस्त सौम्य द्युति को ।
परन्तु जीविकारक्षी, स्वार्थी पादरियों ने
उसे यह करने न दिया ।
बोले "यह पागल !
नाम लेता है ख़ुदा का व्यर्थ !
निकालो इसको चर्च से !"

बातों के अश्वों पर
कथा पहुँची पैरिस

हीरा कोयला

चित्रों का धनी
विन्सेण्ट वैन गौग़

भाई ने बुलाया
परिचय कराया
गोगें, मोने और सेज़ान से
और भी बहुत लोगों से
जो उस समय की योरप की कला के
प्रतिनिधि थे।

कला और काम
ईश्वरनाम से थककर
जगती थी गोग में एक और क्षुधा
शरीर की क्षुधा से यह क्षुधा अधिक थी,
चाह थी तीव्र,
ईश की महती सृष्टि के अनुरूप
अपनी एक छोटी सृष्टि बसाने की
सुन्दरी सृष्टिकर्त्री,
प्रतिकृतियाँ दो-चार,
उसकी नन्हीं, उनका हास
जीवन का कुछ उल्लास
जिसके अनिवार्य अंग हों।

पर दुनिया की आँखों में वह था कुरूप
आकृति अरूप, नासिका सूप, और
आँखें लक्ष्यहीन थीं,
नारी की निस्स्पन्दिनी-सुधा से
विहीन थीं।
पर होनी तो होनी थी,
पैरिस की सभाओं में एक दिन
उपस्थित थी सुन्दरी रूपसी
युवती जिसने जीत लिया उसका
प्राण, उसका मन,
पौरुष और मान और जीवन।
ज्वाला से खिंचा पतंग
विकल अंग-अंग, रूप के चहुँओर
लगा मँडराने,
पखों को जलाने।
भयानक भुनगे की माँस की दुर्गन्ध से
घबराई, पैरिस की रूपसी
हुई भयभीत, लगी ढूँढ़ने
उपाय उससे छटने का।

दिखायी दिये उसे प्रेम के आवेश में
कुरूपता के स्पष्ट प्रतिमान
ऊँचे और ऊपर को उठे
दोनों भद्दे कान! बोली :
'प्रातःकाल, प्रेम का उपहार
अपना कान मुझको भेज दो
तो कर लूँगी स्वीकार
मैं तुम्हारा प्रस्ताव।'

विन्सेण्ट वैन गौग़ घर लौटकर
रात में अकेला बैठकर—
अँधेरे में दर्पण के सम्मुख
करने लगा विचार,
इस विरूप चेहरे में
अकेले ये कान उसे भाये?
अहोभाग्य कान!
कान, मुंह, नाक, कान!
कान, कान, कान, कान....
असंख्य स्वरों से कर्णकुहरों में
शरीर के शत-शत विवरों में
भरने लगी ध्वनि—कान! कान!
का....न! का....न!
हृदय की धुकधुकी भी
चीख़ने लगी, कान! कान!

हुआ सवेरा

बैठा था, चितेरा
हाथ में छुरा
जिससे—
बिजली के झटके से
अलग किया कान
काग़ज़ में लपेटा
भेजा पास प्रेयसी के।
फैली ख़बर पैरिस की सभाओं में
वैन गौग़ हुआ है पागल !
ले जाओ अस्पताल !!

स्वस्थ हुआ, लौटा तो लग गया
चित्रकर्म में, बचा था अब केवल
यही माध्यम, सम्बल उऋण होने का
संसार के ऋण से।
सभ्य संसार की तितलियों पर
जब भी हुआ मुग्ध वह
उतनी बार क्रूरता से उन्होंने दुतकारा।
मनुष्य के प्रेम को
छोटी-सी सृष्टि के स्वप्नों को ठुकराया।
अन्त में स्वदेश के सुदूर उपनिवेश में
दक्षिणी एशिया के असभ्य जलदेश में
एक बार, केवल एक बार
जंगली युवती ने
मलेरिया से जलती उसकी देह को
अंक में भर लिया,
दया के दूध को छूँछे बासनों में
भर पिलाया।

पर यह दया जातीय सभ्यता के विरुद्ध थी
और इस काम के लिए उसके परिवार ने
उसे मार डाला।
जीवन का द्रोही, समाज का शत्रु
असफल, विफल कैनवेस समेटकर
लौटा कलाकार घर
और सुख और धन के अभाव में
एक दिन सैंतीसवें वसन्त से ऊबकर
उसने अपने हाथ से अपनी जान ली।

युग बीत गये
लोग वैन गौग़ को भूल गए
किसी ने कभी उसकी सुधि न ली।
अचानक सन् तीन में
एक दरजी ने दूकान सजाने को
उसके सब कैनवेस ख़रीदे,
और प्रदर्शित किए आमस्टेरडाम में।
उच्चवर्ग के कलापारखी
क़द्र करते थे अब इन चीज़ों की
क्योंकि मिल गयी थी उन्हें नयी साम[illegible]
जिसके सहारे अपनी सम्पत्ति की गेंद
वे उछाल सकते थे एक दूसरे पर
पहले से ज़रा भारी कर !
परसों न्यूयार्क में बिका वैन गौग़ !
मूल्य अढ़ाई करोड़, फिर भी होड़
कौन पहले से अधिक देता है !
अभिनव कला कीय ही परख है
कि कलाकार, भूखे, पागल कुत्ते को
मारो, खदेड़ो !
फिर उसके ख़ून और पसीने से [illegible]
चित्रों [illegible]
ऊँची-से-ऊँची बोलियाँ देकर ख़रीदो !

आख़िर कला का मूल्य धन है,
जो तुम दे सकते हो, और तुम्हीं
कला के पारखी बन सकते हो !

मुँह से निकली एक बात ! एक ग़लती ! कहते हैं आवेश में प्रतिक्रिया भी गहरी होती है लेकिन फिर ?.... क्षणिक श्रद्धा और स्नेह के टूटने पर ? यह कहानी इस प्रश्न का मनोविश्लेषणात्मक उत्तर प्रस्तुत करती है।

०

उसन अपनी कलाई से घड़ी उतारी और चुपचाप मेरी कलाई पर बाँध दी।

मैं सहम गया। जब कोई छोटे दिल का आदमी किसी आवेश में आकर कोई बड़ा काम कर बैठता है, तो चारों ओर वातावरण में आशंका की एक विचित्र-सी सिहरन होती है। मैंने उसकी ओर आशंका और आश्चर्य के भाव को दबाते हुए सहज आत्मीय ढंग से देखने का प्रयत्न किया। वह मुस्कुरा रहा था और इस बात की कोशिश कर रहा था कि इस दान के कारण लेशमात्र भी गर्व की भावना उसके चेहरे से प्रकट न हो। मेरी समझ में नहीं आया कि मैं क्या करूँ ! मैं घड़ी की ओर देखने लगा और मुझे उसकी टिक-टिक में उसके दिल की धक-धक भी सुनाई देने लगी। वह औसत मूल्य की अच्छी घड़ी थी, काफ़ी नयी।

"आप देख क्या रहे हैं ? मैंने दे दी तो दे दी। आपकी कलाई में बँधी देख मुझे ख़ुशी होगी।" और वह निर्विकार भाव से हँसने की कोशिश करने लगा। शायद उसने मेरे मन की बेचैनी भाँप ली थी। मैंने घड़ी से दृष्टि हटाकर एक बार फिर उसकी ओर देखा।

"ऐसे क्यों देखते हैं ! आपको यक़ीन नहीं होता ?"

"नहीं, नहीं ऐसी बात नहीं है।" मैंने तुरन्त उसे काटा क्योंकि मुझे लगा कि मेरी दृष्टि में कहीं अविश्वास है और उससे वह अपने को छोटा अनुभव कर रहा है।

सर्वेश्वरदयाल
सक्सेना

०

ग़ल ती

फिर अपने-आप ही वह अपनी इस उदारता की सफ़ाई देते हुए बोला, "आप तो जानते ही हैं, मेरे पास दूसरी घड़ी आ गयी है। ऑटोमेटिक। चचा ने स्वीटज़रलैण्ड से भेजी है। दो घड़ियाँ तो मैं कलाई में बाँधकर घूमूँगा नहीं; न मुझे कोई दूकान खोलनी है।" यह कहकर वह फिर हँस पड़ा। यह सिद्ध करने के लिए कि उसके मन में कहीं कोई चिंता या संघर्ष नहीं है। यह उसके लिए बहुत मामूली-सी बात है।

लेकिन उसकी इस हँसी से मेरी आशंका और दृढ़ हो गयी। पर मैं कर क्या सकता था। घड़ी लौटाना उसे और छोटा करना था। मैं मन-ही-मन अपनी ग़लती के लिए पछताने लगा। बात यह हुई थी कि कुछ ही देर पहले जब वह स्वीटज़रलैण्ड से आयी अपनी नयी घड़ी की तारीफ़ के पुल बाँध रहा था, मेरे मुख से निकल पड़ा, "अब तुम इस घड़ी का क्या करोगे?" जवाब में उसने अपनी घड़ी उतार कर मेरी कलाई पर बाँध दी थी। मेरे लिए निश्चय ही यह लज्जित होने की बात थी। क्योंकि हो सकता है, मेरे मन के किसी अदृश्य कोने में यह लालसा रही हो कि घड़ी मुझे मिल जाय। कम-से-कम उसने तो मेरे कथन का यही अर्थ लगाया। और उसके दान से मैं अपनी ही दृष्टि में याचक सिद्ध हो गया।

"आप क्या सोच रहे हैं?" मुझे चुप देखकर वह पूछ बैठा।

मैं चौंक गया, मुझे लगा जैसे मेरी चोरी पकड़ी गयी है। जिस सहज भाव से देने का अभिनय वह कर पा रहा है, उस सहज भाव से लेने का अभिनय मैं नहीं कर पा रहा हूँ। मैंने उत्तर दिया, "डरो मत, तुम्हें बहुत ... या उदार मानने की ग़लती मैं नहीं कर र... हूँ।" कहकर मैं भी हँस पड़ा।

"इसमें दान की क्या बात है! आ... माँगी तो नहीं थी, मैंने अपनी इच्छा से ... है।" उसने हँसकर कहा। और उसके ... वाक्य से मैं अपनी दृष्टि में फिर याच... सिद्ध हो गया।

"आपको क्या मालूम मैंने आपसे कित... पाया है! हर क्षण आपसे कुछ-न-कुछ ले... ही हूँ। आख़िर मैं आज जो कुछ हूँ उ... आपका भी हाथ है। आपसे क्या कुछ न... मिला है मुझे!" उसने भावावेश में क... और मैं उसकी इन बातों का अर्थ सोचने ल... शायद वह मुझे कृतज्ञ होने से बचाना चाहता है... क्योंकि सच्चा दान तो वह है जो याचक ... कृतज्ञता के भार से न दबाए। वह मु... कृतज्ञ होने का अवसर न देकर अपने ... और ऊँचा सिद्ध करना चाहता है। मु... रहा नहीं गया। मैं हँसकर बोल... "यह सौदेबाज़ी नहीं होगी।"

"सौदेबाज़ी के अतिरिक्त और इस जी... में क्या होता है भाई साहब! मुझ पर कि... गए आपके उपकारों की यह क़ीमत नहीं ... उनकी कोई क़ीमत हो भी नहीं सकत... इसे तो अपने प्रति मेरी श्रद्धा, मेरा स्ने... ज़ो आपको उचित जान पड़े मान लीजिए..." उसने पुनः भावावेश में कहा और उ... जाने के लिए खड़ा हो गया।

और मैं सोचने लगा, मैंने उसे क्या दि... है! उसके प्रति क्या उपकार किया है! ... मैं अपना आत्मीय मित्र भी नहीं कह सक... एक काफ़ी परिचित व्यक्ति की परिधि में ...

सकता हूँ। अक्सर वह मेरे पास आता है उठता-बैठता है। कला और साहित्य की सुनी-सुनाई बातें करता है, हँसता-बोलता है, पत्र-पत्रिकाएँ और किताबें पढ़ने के लिए माँगकर ले जाता है और कभी-कभी मेरे साथ घूमने-घामने भी चला जाता है। मैं इतना बड़ा लेखक भी नहीं हूँ कि मेरे साथ का ही दम वह भर सके। यूँ वह स्वयं एक सांस्कृतिक संस्था में काम करता है। पाँच-छः सौ रुपए के क़रीब वेतन पाता है।

"कैसी बातें करते हो तुम!" बड़े-छोटे की जो ज़मीन तैयार की थी उसने, उसे बराबर करने की नीयत से मैंने कहा।

"नहीं यह सच है, सेवक की तुच्छ भेंट।" उसने पूर्ण विह्वलभाव से कहा। बराबरी की भावना मेरी ओर से व्यक्त किए जाने के कारण शायद और उपकृत अनुभव करके वह आवेश में आ गया था। क्योंकि इतना कहते-कहते वह आवेश में रुक नहीं सका, चला गया।

आवेश में आकर जो श्रद्धा या स्नेह दिया जाता है, वह कितना क्षणिक होता है इसका अनुभव मेरे जीवन में काफ़ी तीखा रहा है। और मैंने पुनः एक नए अनुभव के लिए अपने को सौंप दिया।

अक्सर वह दूसरे-तीसरे मेरे पास आता था। लेकिन उस दिन शाम को ही आ गया। उसे देखते ही मैंने अनुभव किया कि उसके मन में कोई भयानक संघर्ष है। घड़ी मेरी कलाई में बँधी हुई थी। आते ही उसने दृष्टि चुराकर मेरी कलाई की ओर डाली। और अपने-आप जल्दी से अपने आने की सफ़ाई देते हुए बोला, "यह देखिए मेरी नयी घड़ी। मैंने कहा, चलें आपको दिखा आएं। कहीं आप यह न समझें कि मैं झूठ बोल रहा था; बिना घड़ी के हूँ।" और अपनी कलाई मेरे आगे कर हँसने लगा। एक सुनहरी बड़ी नयी घड़ी उसकी कलाई में दमक रही थी।

और वह फिर काफ़ी देर तक बैठा उस घड़ी की और स्वीटज़रलैण्ड की घड़ियों की तुलना आदि करता रहा। कला और साहित्य पर उसने उस दिन कोई बात नहीं की। उसकी बातों से उसके अन्तर के संघर्ष को मैं भाँप रहा था लेकिन घड़ी उतार कर उसे देने का न कोई बहाना मेरे पास था, न औचित्य ही। काफ़ी देर बाद वह चला गया। जाते-जाते उसकी दृष्टि मेरी कलाई पर अटकी। मुझे कुछ नहीं सूझा तो बोल बैठा, "तुम्हारी घड़ी काफ़ी ठीक टाइम देती है।" कहने के बाद मुझे लगा कि वह 'तुम्हारी' शब्द पर आपत्ति करेगा। कहेगा, अपनी कहिए अपनी। लेकिन यह सब उसने नहीं कहा; बल्कि दरवाज़े पर खड़े-खड़े उसकी मज़बूती आदि की तारीफ़ में क़िस्से सुनाने लगा: कैसे उसके छोटे भाई ने उसे टब में डाल दिया और दिन भर टब में पड़ी चलती रही, कैसे सैकड़ों बार गिर कर भी न टूटी, न बन्द हुई, कैसे जब से ख़रीदी गयी एक बार भी उसकी सफ़ाई की ज़रूरत नहीं पड़ी। और मैं पुनः अपनी ग़लती पर पछताने लगा।

कोई महीने भर तक वह दूसरे-तीसरे मेरे पास आता रहा। उसी तरह से सतृष्ण भाव से मेरी कलाई की ओर देखता रहा और पूछता रहा, "ठीक चल रही है न?" और फिर घुमा-फिराकर घड़ियों की क़ीमत

से लेकर उस घड़ी की अच्छाइयों पर प्रकाश डालता रहा। जितनी देर बैठा रहता उसकी निगाह मेरी कलाई की ओर ही रहती। एक दिन बोला, "कुछ मामलों में यह घड़ी मेरी इस घड़ी से बेहतर है। वह हल्की है, पता नहीं चलता आप कलाई पर कुछ बाँधे भी हैं या नहीं। वैसे यह नयी वाली भी हल्की है पर उतना आराम इसमें नहीं है। ज्यादा बड़ी होने पर कुछ अटपटी लगती है। लेकिन है आठ सौ की; इसकी शान ही और है।" मुझे लगा जैसे अन्तिम वाक्य उसने इस डर से कहे हैं कि कहीं मैं बदल लेने का प्रस्ताव न कर बैठूं। मैं उसकी बेचैनी समझकर भी लाचार था। किस तरह घड़ी उसे दे दूं यह समझ में नहीं आता था, क्योंकि कोई अशोभनीय स्थिति उत्पन्न करना नहीं चाहता था।

लेकिन लगता है ईश्वर ने मेरी मदद की। क्योंकि एक दिन वह आया तो उसकी कलाई में घड़ी नहीं थी। मुझसे बोला, "पुरानी चीज़ पुरानी ही होती है। कहावत है: नया नौ दिन पुराना सौ दिन। आपको मालूम है, अभी महीन भर भी नहीं हुए टाइम ग़लत देने लगी। आप ही बताइए, फिर इतनी क़ीमती घड़ी का फ़ायदा ही क्या। उससे कहीं अच्छी आपवाली घड़ी है। मैंने तो कल ही बम्बई पैक कर दिया। महीने भर से कम में क्या ठीक होकर आ पाएगी।"

इतना कहकर उसने मेरी कलाई की ओर देखा। मैं छूटते ही बोल पड़ा, "तब तक तुम इसे बाँधो।" और मैंने जल्दी से वह घड़ी अपनी कलाई से उतारकर उसी तरह उसकी कलाई में बाँध दी जैसे एक महीने पूर्व उसने मुझे बाँधी थी।

एक बहुत बड़ा बोझ मेरे ऊपर से उतर गया। क्योंकि अब मैं घड़ियों पर प्रवचन सुनने के स्थान पर उससे अन्य बातें भी कर सकता था। मैंने देखा, वह इस तरह संतोष से विभोर हो अपनी कलाई की ओर देख रहा है जैसे बहुत दिनों के बिछुड़े किसी साथी को पाकर कोई देखता है।

० ०

क़ानून बनाम ऑटोग्राफ़

ट्रैफिक-सिपाही को वायरलेस द्वारा सूचना मिली: "एक कार असाधारण स्पीड से तुम्हारी ओर जा रही है। उसे रोको!"

दस मिनट पश्चात् सिपाही ने जो रिपोर्ट भेजी, वह यों थी:

"वह कार एक प्रसिद्ध अभिनेत्री की थी। स्वयं अभिनेत्री ही कार चला रही थी। मैंने उसे रोका और नोट-बुक निकालकर चाहा कि नम्बर, नाम और पता लिख लूं कि उसने झल्लाते हुए मुझसे नोट-बुक छीन ली। फिर अपना हस्ताक्षर किया और नोट-बुक फेंककर आगे बढ़ गयी।"
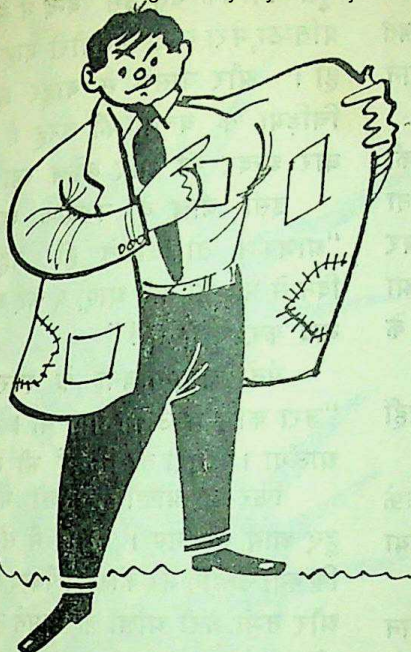
कोट का रफ़ू तो खैर लज्जाप्रद होता ही है, उन पैबन्दों को क्या कहा जाए जो हमारे सामाजिक जीवन में जगह-जगह चिपके हुए हैं ! एक चुटीला मार्मिक व्यंग्य।

°

रामनारायण उपाध्याय

°

हम सब रफ़ू हैं

°

मेरा नया गरम कोट एक जगह से फट गया, तो मैंने उसे रफ़ू करवा लिया। दर्जी ने उसे इतने सुन्दर ढंग से रफ़ू किया था कि एक-ब-एक वह दिखाई नहीं देता था। लेकिन दर्द चाहे जितना अन्दरूनी हो, जिसे होता है उसे तो उसके स्थान का पता रहता ही है। सो मैंने जब पहले-पहल उसे पहना तो मेरा मन बार-बार उसमें अटकने लगा। मैंने शीशे में अपनी शक्ल देखी लेकिन मत्स्यवेध के समय अर्जुन को दीखने वाली मछली की आँख की तरह मेरी आँखें अपने ही रफ़ू किए पैबन्द में उलझ गई। कुछ ऐसे लगा, जैसे किसी शानदार, चिकनी सड़क के बीच एक-ब-एक गड्ढा आ जाय, अथवा स्वच्छन्द चौकड़ी भरने वाला हिरन किन्हीं बाँसों की जाल में उलझ जाए। मैंने अपने मन को आश्वस्त किया और अपने काम पर चल दिया। रास्ते में एक परिचित मित्र मिले, मैंने उनसे कतराकर निकल जाना चाहा। लेकिन जब उन्होंने अत्यन्त स्नेह से नमस्कार कर मेरी राह रोकी तो मुझे बार-बार लगा कि वे मेरे पैबन्द की बात कहने ही वाले हैं। लेकिन वे सहज ढंग से इधर-उधर की बातें करते रहे। और मैं भी जाने कहाँ-कहाँ से अपने मन को पकड़कर हाँ-ना में उत्तर देता आगे बढ़ा।

रास्ते में एक अन्य परिचित बन्धु अपने मकान का रिपेयरिंग करा रहे थे; मुझे देखते ही बोले, "आइये ना, हमारा भी मकान देखते जाइएगा !"

लेकिन मेरा मन जाल में फँसे हिरन की तरह छटपटाकर वहाँ से निकल भागना चाहता था। और वे कहे जा रहे थे : "घर बहुत छोटा पड़ता था, चार मेहमान अगर आ जायँ, तो कहाँ बैठाएँ, इसीलिए सामने के हिस्से को ज़रा ठीक करा लिया है।"

मैंने पूछा, "पूरा मकान ही क्यों नहीं ठीक करा लिया ?"

वे बोले, "पूरा मकान तो अच्छा है, सिर्फ़ सामने का हिस्सा थोड़ा शिकस्त हो गया था, सो उसे दुरुस्त करा लिया है।"

और मैंने देखा, तीन-चौथाई मकान के सामने बना वह कमरा मेरे कोट में लगे पैबन्द की तरह दीख रहा था। मैंने जल्दी-जल्दी उनसे विदा ली तो पीछे से किसी ने पुकारा, "ऐसी भी क्या जल्दी पड़ी है, हम भी आ रहे हैं ना...."

मैंने घूमकर देखा तो मेरे एक वकील-मित्र अपनी नवविवाहिता पत्नी के साथ आ रहे थे। मुझे काटो तो ख़ून नहीं। आज कहाँ यह कोट पहन बैठा ! मित्र तो मित्र, मित्र की पत्नी के समक्ष लज्जित होने से बढ़कर और कौन-सी बात हो सकती है ! ऐसी क्या पड़ी थी जो इसे ही पहनने का शौक़ चर्राया। ठण्ड भी तो ज्यादा नहीं है। इससे तो बेहतर अपनी सूती जाकेट थी। ऐसा गरम कोट भी किस काम का जो ठण्ड से तो बचाए लेकिन हमारे अभावों को उधेड़ता चले।

मुझे लगा कि जैसे उस पैवन्द में से मेरी [illegible] प्रतिष्ठा, मेरी सारी कमज़ोरी बाहर झांक [illegible] हो। और घोंसले से बाहर झांकने [illegible] चिड़िया के बच्चों की तरह मैं उन्हें बा[र]-बार अन्दर की ओर ढकेल रहा था।

इसी बीच वे नज़दीक आकर बो[ले], "आजकल तो दीखते ही नहीं....[illegible] दिन से घर भी नहीं आए, ये कई बार तुम्हें याद कर चुकी हैं !"

मैंने क्षमा-याचना के स्वर में क[हा], "ज़रा काम में उलझ गया था। अब अ[वश्य] आऊँगा। हमारी तो मिठाई भी बाक़ी है।"

फिर वे आँखों-ही-आँखों में मुस्करा[ते] हुए आगे बढ़ गए। और मैं सोच रहा [था] कि क्या उन्होंने मेरे कोट का पैवन्द देख लि[या]। और तभी मेरी आँखों के सामने उनके [illegible] जीवन का एक दृश्य घूम गया.... एक [illegible] परिवार, जिसके एक सिरे पर पति, दूसरे [पर] पत्नी और आगे की ओर कुछ बच्चे ! [illegible] बीच जैसे जहाज़ में छेद हो जाए ऐसे [illegible] पत्नी चल बसी और उसके स्थान पर [illegible] भरे-पूरे परिवार में आई यह दूसरी पत्नी जो ऐसी लग रही थी जैसे गृहस्थी के [illegible] हुए जहाज़ में पैबन्द हो।

इन्हीं विचारों में डूबता-उतराता [illegible] आफ़िस पहुँचा, तो जैसे कोई घाव में [illegible] घुमाए ऐसे दफ्तर में आए नए-नए बा[बू] मेरे कोट के रफ़ू किए हुए हिस्से पर [illegible] रखकर, कहा, "क्या यार, इतनी उम्र [हो] गयी फिर भी कंजूसी नहीं जाती !"

और मुझे तब वह नया बाबू ऐसे [illegible] रहा था जैसे पुराने कर्मचारियों के [illegible] लगा एक नया पैबन्द हो। ०
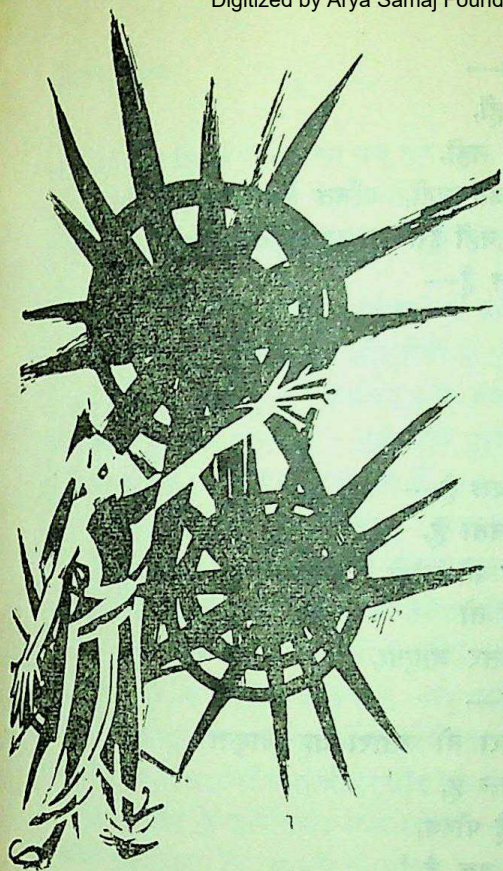
गोपीकृष्ण गोपेश

•

पिता मेरे

पिता, मत दुखो---
पुण्य मेरा क्षीण नहीं---
इतना ही है कि
शब्द-शर-बेधी यह तुम्हारा पुत्र
छद्म-छल-क्षुद्रता में किंचित् प्रवीण नहीं !

पिता, हो भगीरथ तुम---
साधना तुम्हारी यहाँ गंगा की धारा है....
शब्दों, विचारों और छूछी कल्पनाओं के
जटिल-चक्रव्यूहों में घिरे हुए
युग के अभिमन्युओं को
तुमने ही उबारा है
गंगा ने कम, अधिक तुमने ही तारा है !

पिता मत दुखो--
देखो मैं दीन नहीं,
पुण्य मेरा क्षीण नहीं,
क्योंकि यह संजित नहीं, अर्जित है--
कलुषित कुदृष्टि नहीं इस पर पड़ सकती है,
यहाँ सदा वर्जित है--

पिता मेरे,
मुझमें है पौरुष
और हाथों में बल है--
ये जो प्रलय बनता है,
ये जो हिमालय की चाँदी से छनता है,
आज यदि नहीं तो
कल को यह उतर जाएगा,
वर्षा का जल है--
और, नहीं उतरा तो उतारा यह जाएगा
व्यर्थ बहुत चंचल है,
क्योंकि मुझमें है पौरुष,
और हाथों में बल है !

मेरे पिता,
दुखो नहीं--
मैं जो हूँ तुम्हारा पुत्र
मैं तो दीन-हीन नहीं,
मेरा पुण्य क्षीण नहीं,
इतना ही है कि
शब्द-शर-बेधी यह तुम्हारा पुत्र
छद्म-छल-क्षुद्रता में किंचित् प्रवीण नहीं !!

●

हर्षनारायण

*

देवेन्द्र के नाम लिखा देवदूत का एक पत्र आप 'ज्ञानोदय' के 'पत्र-विशेषांक' में पढ़ चुके हैं, जो श्रीकृष्णचन्द्र के मार्फ़त भेजा गया था। यहाँ पढ़ें उससे भिन्न दृष्टि-कोण से लिखा देवदूत का दूसरा पत्र जो हमें श्री हर्षनारायण के मार्फ़त प्राप्त हुआ है।

*

उस दिन स्वर्ग की मुख्य नगरी अमरावती में कोई विशेष महोत्सव था। सहसा देव-गण की स्वर-लहरी गूँज उठी—'भारतीयों के भाग्य का क्या कहना! उनके आगे तो हम देव भी तुच्छ हैं। धर्माचरण के बल पर स्वर्ग और अपवर्ग की प्राप्ति उनके बायें हाथ का खेल है। पता नहीं पुण्य क्षीण होने पर हमें कहाँ जन्म ग्रहण करना पड़े। धन्य हैं वे जो भारत में जन्म लेंगे।'[1] इस पर एक सभासद् बोल उठा—'बन्द करो इस बकवास को। भारत की प्रशंसा सीमा लाँघती जा रही है। यह न भूलो कि भारत ही में कलियुग-नामक पाप-युग भी होता है।'[2]

शुकदेव जी बोले—'कलियुग में हज़ार दोष हैं किन्तु एक महान् गुण भी है, कि उसमें हरि-नाम के कीर्तनमात्र से मुक्ति हो जाती है।[3] घोर कलिकाल में भी तुलसी, सूर, मीरा, नानक, कबीर, दादू आदि ने नाम-जप से ही परमपद प्राप्त किया था। वस्तुतः यह भारत की ही विशेषता है कि घोर कलिकाल से ग्रस्त मध्य युग में भी सैकड़ों-सहस्त्रों धर्मात्माओं और भक्तों ने मृत्यु-लोक को पवित्र किया था।'

इस वक्तृता के फलस्वरूप सभासदों में काना-फूसी आरम्भ हो गयी। एक सभासद् बड़बड़ाया कि आधुनिक भारत मध्ययुग का भारत नहीं रहा। अब तो वहाँ कलिकाल अपनी सारी कलाओं के साथ ताण्डव-नृत्य कर रहा है। एक नवागन्तुक को यह कहते सुना गया—'मैं तो अभी-अभी भारत से आया हूँ। वहाँ तो

१—विष्णुपुराण ४.३.२४,२६. २—ब्रह्मपुराण १९–२०, लिंगपुराण १. ५२. ३२.–विष्णु पुराण २,३,१९ के अनुसार कलियुग (तथा अन्य तीनों युग भी) भारत की ही विशेषता हैं।
३—भागवत १२,३,५१

देवदूत का एक धार्मिक पत्र : देवेन्द्र के नाम

अब धर्म को अफ़ीम मानने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। ऐसा अनर्थ तो लोकायतों के युग में भी नहीं हुआ था।' कई अन्य नवागतों ने भारत में धर्म के ह्रास का भयावह चित्रण किया। सभाध्यक्ष देवराज इन्द्र ने इस प्रकार की अफ़वाहें सुनकर देवर्षि नारद को आदेश दिया कि वे स्वर्ग-लोक के विशेष देवदूत की हैसियत से भारत जायँ और वहाँ की धार्मिक स्थिति पर सही-सही रिपोर्ट दें।

देवदूत ने भारत में अवतरित हो स्थिति का सूक्ष्म अध्ययन किया। उसने देवराज को जो पत्र प्रेषित किया उसकी प्रतिलिपि नीचे दी जाती है :

सेवा में
देवराज देवेन्द्र महामहिम महेन्द्र,
स्वर्ग-लोक,
अमरावती

भगवन्!
आपका आदेश शिरोधार्य करके मैंने आधुनिक भारत की धार्मिक अवस्था का यथावत् निरीक्षण किया। स्वर्ग-लोक में नवागतों के मुख से जो अफ़वाहें सुनने को मिलती हैं वे निराधार नहीं हैं। यहाँ कलियुग सदल-बल विराजमान है।

मैं ब्राह्म मुहूर्त में इस धरती पर अवतीर्ण हुआ था। नित्यकर्मों से निवृत्त होकर मैं मर्त्यों की बस्ती में पहुँचा। लोग हाथों में लम्बे-लम्बे पत्र थामे बाँच रहे थे। पूछने पर पता चला कि अब बिस्तर से उठते ही ऐसे पत्र, जिन्हें वे समाचार-पत्र, दैनिक, आदि नामों से पुकारते हैं, बाँचे जाते हैं। इनमें मार-धाड़, लड़ाई-झगड़े, राजनीतिक चोंचले आदि भरे रहते हैं। देव! जब कि मध्य युग का भारतीय, कलि-काल के घोर प्रकोप के बावजूद, प्रत्यूष-वेला संध्या-वन्दन, भजन-पूजन में व्यतीत करता था, आज का भारतीय उस ब्राह्म-वेला को सांसारिक पचड़ों की जानकारी के निमित्त बर्बाद कर देता है। इतना ही नहीं, महामहिम! मध्य-युग में जहाँ घर-घर भजन-कीर्तन और रामायण, गीता, पुराण आदि का पठन-पाठन, श्रवण-मनन हुआ करता था आज वहां घर-दफ्तर, मुहल्ले-टोले, देश-विदेश की राजनीति-कूटनीति की चर्चा में अवकाश का सारा समय काट दिया जाता है।

मघवन्! आज का भारतीय परलोक को सर्वथा भूल बैठा है। जहाँ मध्य-युग का व्यक्ति अपना परलोक बनाने, नरक से बचने, स्वर्ग-प्राप्ति के योग्य होने, परमपद पाने की चिन्ता से ग्रस्त रहता था, मोक्ष और परलोक के लिए जीता और मरता था—वहाँ आधुनिक भारतीय इहलोक को ही सब कुछ जानता है। किसी भी क्षेत्र में अपनी कार्य-प्रणाली निर्धारित करते समय वह परलोक की दृष्टि से समस्या पर विचार करने की स्वप्न में भी आवश्यकता नहीं समझता। आधुनिक ऐहिकता की यह दशा है कि भारत के संविधान में किसी देवी-देवता, स्वर्ग-नरक का नामोल्लेख तक नहीं।

शतक्रतो! फलतः अब यहाँ श्रौत-स्मार्त यज्ञ-याग आदि का सर्वथा लोप हो चुका है। कुछ धर्मोद्धारकों ने उनके उद्धार के नाम पर महाअनर्थ का बीज बोया है। वे [illegible] हवन (द्रव्ययज्ञ) का मुख्य प्रयोजन [illegible]

शुद्धि मात्र बतलाते हैं। वे देखते हुए भी यह नहीं देखते कि वैदिक वांगमय में 'स्वर्गकामो यजेत्', 'पुत्रकामो यजेत्' आदि यज्ञप्रयोजन-बोधक वाक्यों की तो भरमार है किन्तु 'वायुशुद्ध्यर्थं यजेत्' अथवा 'वायुशुद्धिकामो यजेत्' जैसा एक भी वाक्य विद्यमान नहीं है।

सुरपते! इन धर्मोद्धारकों द्वारा पर-लोक-वासियों का जितना अपकार हुआ है उतना चार्वाक-युग में भी नहीं हुआ था। इन्होंने स्वर्ग-नरक की स्वतंत्र सत्ता ही अस्वीकार कर दी है। वेद में भूरिशः स्तुत वरुण, अग्नि, आदि विविध देवता इनकी दृष्टि में कोई सत्ता ही नहीं रखते। हद हो गयी देवाधिदेव! ये धर्मोद्धारक आप तक की सत्ता से इनकार करने लगे हैं। कोई आपके लिए प्रयुक्त 'इन्द्र', 'पुरन्दर' आदि शब्दों को किसी प्रागैतिहासिक मर्त्य-विशेष से सम्बद्ध करता है, तो कोई उन्हें सूर्य आदि जड़-पदार्थों का अभिधेय मानने लगा है। आपके प्रति इतना अनर्थ तो वासु-देव कृष्ण के युग में भी नहीं हुआ था जिसने मृत्युलोक में आपकी पूजा बन्द करा दी थी।

वृत्रहन्! शासन को धर्म का प्रतिभू होना चाहिए। किन्तु आधुनिक भारतीय शासन अपने को खुल्लमखुल्ला धर्मनिरपेक्ष घोषित करता है। इसके द्वारा वेद-शास्त्र की निर्मम उपेक्षा घोर चिन्ता का विषय है। शास्त्रों के अनुसार वेदविद् को ही विधि-विधान के प्रणयन्-प्रवर्तन का अधिकार है। मनु की व्यवस्था है कि केवल एक वेद का ज्ञाता भी सहस्त्रों अवेदज्ञ विधायकों से श्रेष्ठ है। किन्तु यहाँ विधान-मण्डलों और संसद् में अवेदज्ञों की ही भरमार है। इतना हीं नहीं, प्रभो! विधायकों के लिए वेदज्ञता की शर्त ही नहीं रखी गयी है। यदि कभी कोई वेद-प्रेमी वेदशास्त्रोक्त विधि-विधान का सुझाव देता है तो उसकी उपेक्षा की यह दशा है कि उसकी खिल्ली तक नहीं उड़ायी जाती।

पाकशासन! यहाँ वर्णाश्रम की मर्यादा छिन्नप्राय है। ब्राह्मण को कोई नहीं पूछता। भारतीय संविधान का महा-प्रणेता एक अन्त्यज था जिसने उसमें ब्राह्मण और शूद्र को समान अधिकार दे डाले हैं। वस्तुतः आज शूद्र वर्ण सर्वोच्च वर्ण बन गया है, क्योंकि शूद्रों को आज कई विशेष अधिकार और सुविधाएँ प्राप्त हैं। कैसी विडम्बना है, देव! विशेषाधिकृत वर्ण पहले ब्राह्मण था, आज शूद्र है। फलतः अब ब्राह्मण भी शूद्र होने के लिए तरसने लगे हैं। और तो और, शूद्रों को देवालय में प्रवेश का भी अधिकार मिल गया है। अभी उस दिन मेरी आँखों के सामने विश्वनाथजी के मन्दिर में सहस्त्रों शूद्र घुसने लगे थे। क़ानून उनके पक्ष में रहा। जब धर्मासन से ही अधर्म का समर्थन होने लगे तब यदि अधर्म की तूती न बोले तो कब बोले?

मेघवाहन! उस दिन कायस्थ की लड़की को वेद की कक्षा में प्रविष्ट हो जाने पर अमरावती में महान क्षोभ व्याप्त था। अब तो दशा यहाँ तक आ पहुँची है कि स्त्री और शूद्र जब चाहते हैं वेद को अपवित्र कर डालते हैं। मध्य युग में भी आद्य शंकराचार्य ने वेद के पठन-श्रवण के लिए शूद्र को दण्डनीय घोषित किया था, किन्तु

आज उनके अनुयायी और प्रशंसक भी उनकी इस व्यवस्था को भूल गये हैं।

देवराट् ! एक शूद्र ने तो मेरे देखते-देखते, भरी सभा में, तालियों की गड़गड़ाहट के बीच भगवान मनु के लोकविश्रुत धर्म-शास्त्र की एक प्रति जला डाली थी।

देवाधिदेव ! शास्त्रों में प्रतिलोम विवाह निषिद्ध ठहराया गया है, किन्तु अब सम्भ्रांत कुलों में इस मर्यादा का खुल्लमखुल्ला उल्लंघन आरंभ हो गया है। जो जिस वर्ग में चाहता है, विवाह कर डालता है। रोटी-बेटी, खान-पान, किसी चीज में स्पृश्यास्पृश्य का विचार नहीं रहा। समुद्र-यात्रा भी, जो कभी निषिद्ध मानी गयी थी, अब धड़ल्ले से होने लगी है।

पुरन्दर ! वेद में दस पुत्रों के लिए प्रार्थना है, किन्तु आज का भारतीय सन्तानों की संख्या कम-से-कम रखना चाहता है। एतदर्थ अनेक कृत्रिम उपायों की व्यवस्था शासन ने स्वयं कर रखी है। कुछ लोग तो पत्नी के रहते प्रजातन्तु--सन्तान-परम्परा--का उच्छेद कर डालते हैं।

कहाँ तक लिखूँ, भगवन् ! आधुनिक भारत में धर्म एक प्रकार से मर चुका है, भारतीय संस्कृति मरणासन्न है। उपेन्द्र (विष्णु) को चाहिए, देव ! कि वे धरती पर अविलम्ब अवतरित हो धर्म की पुनः प्रतिष्ठा करें।

किन्तु मेरे मन में आज एक शंका उठ रही है, भगवन् ! कि जहाँ एक ओर वेद-शास्त्र की मर्यादाओं के लोप के कारण धर्म मृतप्राय हो गया है वहाँ आज का भारतीय मध्य युग के भारतीय की अपेक्षा कई अर्थों में श्रेष्ठतर मानव बन गया है। मध्य यु[ग में] सती-प्रथा, दासता-प्रथा, स्त्री-निन्दा, बा[ल] विवाह, पशु-बलि (कभी नर-बलि भी) आदि-आदि का बोलबाला था। आधुनि[क] भारत में इनका प्रायः कहीं पता नहीं। प्राचीन और मध्य-युग में साम्राज्य-लि[प्सा] राजा का भूषण मानी जाती थी, जब कि [वह] अब दूषण समझा जाता है। आधुनि[क] भारत विश्व-शान्ति का अग्रदूत माना [जाने] लगा है। आज का मानव ज्ञान-विज्ञा[न] में प्राचीनों की अपेक्षा कई बातों में आ[गे] बढ़ गया है। आधुनिक सृष्टि-विज्ञा[न], भौतिक विज्ञान, प्राणि-विज्ञान, मनोविज्ञा[न], समाज-विज्ञान, अर्थशास्त्र, नृतत्वशास्त्र, भूगो[ल], खगोल सभी में आज का मानव प्राचीन मा[नव] को मात दे सकता है। कभी-कभी [तो] ऐसा प्रतीत होता है कि विज्ञान के प्रताप [से] मृत्युलोक का मानव देवलोक-स्वर्गलोक [को] भी मात देकर रहेगा। दुर्भिक्ष, महामा[री], बाढ़, आदि आधिदैविक विपत्तियों पर उ[स]ने जिस सीमा तक विजय प्राप्त कर ली है [वह] प्राचीनों के लिए ईर्ष्या का विषय हो सक[ता] है। आधुनिकों ने यह सारा अभ्यु[दय] धर्म-निरपेक्ष होकर कैसे सिद्ध कर लि[या] है, देव ! कुछ समझ में नहीं आता। व्या[स] ने बाँह उठाकर घोषणा की थी कि धर्म [से] ही अर्थ और काम की सिद्धि सम्भव है कि[न्तु] आधुनिकों ने जहाँ एक ओर धर्म को ... बताया है, वहाँ अर्थ और काम को भी सम्य[क] तया सिद्ध कर लिया है। मेरा सुझाव है [कि] अबकी बार उपेन्द्र धरती पर वैज्ञानिक का चो[ला] धारण कर इस समस्या पर रिसर्च क[रें]।

आपका, ना[रद]

आप पूछ सकते हैं कि जब बात 'ज़रा-सी' है... या शायद ज़रा-सी भी नहीं है, तब उसके आधार पर कहानी कैसे गढ़ी जा सकती है ? उत्तर में नए कहानीकार का प्रश्न है कि क्या कहानी के लिए किसी 'बड़ी बात' का होना अनिवार्य ही होता है ?

काशीनाथ सिंह

दशाश्वमेध। इससे थोड़ा हटकर एक घाट है। दूसरा घाट या संभव है यह भी वही हो। किनारे एक नाव है। बँधी और स्थिर। उस पर एक नवविवाहित जोड़ा बैठा है।

एक छोटी बहस के बाद वे चुप हो गए हैं। पत्नी थोड़ा झुककर पानी में हाथ हिला रही है। पति हथेलियों के बीच सिगरेट सुलगा रहा है।

इस भीड़ और हलचल से कहीं दूर बैठें—उन्होंने चाहा था। लेकिन तय हुआ कि वे इस वातावरण से बिलकुल अलग न रहें। कुछ ऐसे हो कि वे अलग भी रहें और इसे एन्ज्वाय भी कर सकें।

"दा को जानते हो ?" पत्नी सहसा पूछती है।

"कौन से दा ?"

"बड़े वाले।"

"हाँ।"

"लीला को नहीं जानते होगे ?"

पति धुआँ छोड़ता है।

"दा लीला को प्यार करते थे।"

वह कुछ सोचता है।

"यह बहुत बुरी बात है !"

घाट की बत्तियाँ जल उठती हैं। वे प्रकाश में जैसे हिल जाते हैं।

ज़रा - सी बात

पत्नी कुछ देर बाद बोलती है, "दा कहते हैं कि सब करते हैं।"

"सब करते हैं?"

"हाँ, शादी के पहले सब करते हैं।"

"तुमने भी किया है?"

पत्नी अचकचा उठती है। वह उत्तर ढूँढ़ने लगती है।

"हाँ, मैंने किया है।"

पति उसे घूरता है!

"लेकिन किसे किया है?" पत्नी बोलती है।

पति सिगरेट झाड़ता है। धीरे-धीरे।

"बाबूजी को। अम्मा को!"

"अम्मा को!" पति मुस्कराता है।

थोड़ी देर तक ख़ामोशी रहती है।

"और तुमने?" पत्नी पूछती है।

"मैंने?"

पति हँस पड़ता है। ज़ोर से।

"इसमें हँसने की क्या बात है?"

"तुम्हारे पास कोई और बात नहीं है?"

"और क्या हो सकती है?"

"नहीं हो सकती है। लहरें हो सकती हैं। चाँद, ठंढ, अँधेरा कुछ भी हो सकता है!"

"नहीं। मैं सिर्फ़ जानना चाहती हूँ।"

"अच्छा!" पति गंभीर हो जाता है।

"हाँ, तुमने किसे किया है?"

"क्यों, मेरे माँ-बाप नहीं हैं?"

"माँ-बाप तो दा के भी थे!"

"ओह!" वह चुप हो जाता है।

"तो तुम क्या समझते थे?"

"समझता नहीं, सोचता था।"

"क्या सोचते थे?"

वह सिगरेट पानी में फेंक देता है।

"सोचता था, दा के लिए तो लीला है और तुम्हारे लिए कोई क्यों नहीं था?"

"था तो।"

पत्नी मुसकराती है।

"तुम किसके लिए थे?"

पति हँसता है, "हाँ मैं किसके लिए था?"

फिर वह जेब से माचिस निकालता है और खेलने लगता है।

किनारे से एक ठेला गुज़रता है। उस पर एक पेट्रोमैक्स जल रही है। ठेले पर कई के सामान हैं। ठेले वाला घंटियां बजा रहा है और बेच रहा है।

"छोले खाओगी?"

"नहीं।"

"गोलगप्पे खाओगी?"

"नहीं।"

"मेरा सिर ही खाओगी?"

"क्या यह सिर खाना है?"

"लो रूठने लगी!"

पत्नी बुरा मानती है।

"मैं कौन होती हूँ, रूठने वाली?"

पति उसके हाथ अपने हाथों में ले लेता है। उसे प्रसन्न करने की कोशिश करता है।

"मज़ाक उड़ा रहे हो?" पत्नी पूछती है।

"नहीं, ऐसा नहीं।"

'तो बताते क्यों नहीं?"

"मैंने तो तुमसे कह दिया था।"

"लेकिन फिर सुनना चाहती हूँ।"

"यानी तुम्हें मुझ पर संदेह है?"

पत्नी रूठने का भाव व्यक्त करती है।

"लो, फिर वही बात!"

उनके पास से क़हक़हे लगाते हुए कुछ

जाते हैं। पति उनके चले जाने तक रुका रहता है।

फिर एक तीली जलाता है। और उसे ऊपर उठाता है!

"इधर देखो। मेरे चेहरे को।"

पत्नी देखती है।

वह तीली झटक कर फेंक देता है।

"अब बोलो।"

"क्या बोलूँ?"

"चेहरे पर प्यार के निशान हैं?" वह पूछता है।

पत्नी उसकी आँखें देखती है—अँधेरे में भी जिनके कोए चमक रहे हैं। वह उसके पास खिसक आती है, "तुम कितने अच्छे हो! कितने प्यारे हो!"

वह सुखी होती है। शहर के बाहर—भीड़ से अलग एकांत और खुली जगह में वह आत्मीयता अनुभव करती है। एक सुखद आत्मीयता। उसका हाथ अपने आप पति की कमर के गिर्द चला जाता है। "तुम्हारा सारा प्यार मेरे लिए है। सिर्फ़ मेरे लिए।"

पति अपने दाहिने भुजमूल पर उसका गाल महसूस करता है। गाल की तरलता-कोमलता का दबाव महसूस करता है। लगता है जैसे उसका सारा शरीर सिमट कर केवल भुजमूल रह गया है। और वह वहीं जीवित है। पत्नी की साँसों के संग है।

"....वह लड़की कितनी खुश होती जिसने तुम्हें प्यार किया होता।" वह आवेश में बुदबुदाती है और पति सुनता है।

वह सहसा सिर उठाती है।

"तुमने चाहा ही नहीं था.."

"कब कहा कि मैंने नहीं चाहा था?"

"तो क्या एक ने भी नहीं किया?"

"यही तो दुख है।"

पत्नी अपना मुँह उसके सामने करती है। उसकी आँखों के सामने।

"सचमुच किसी ने नहीं किया?"

"क्या मैं झूठ बोल रहा हूँ?"

पत्नी सिर झुका लेती है। वह कुछ-कुछ परेशान होने लगती है।

"इसका क्या कारण हो सकता है?" वह दबे स्वर से कहती है। पति से नहीं। अपने से भी नहीं।

"कारण? मैंने कभी नहीं सोचा।" पति बोलता है।

फिर एक चुप्पी छा जाती है।

पति कुछ देर तक जोहता है, "तुम चुप क्यों हो गईं?"

"जिसे किसी ने प्यार नहीं किया है, कभी नहीं किया है—उसे प्यार करना कितना कठिन हो सकता है, कितना मुश्किल? तुम सोच नहीं सकते।"

"क्यों?"

"तुममें ऐसा क्या हो सकता है?"

पति केवल मुँह ताकता है।

"तुममें ऐसा क्या है जिसके लिए तुम प्यार किए जाओगे?"

वह गरदन घुमाता है। दूसरी ओर देखने लगता है। अँधेरे की ओर।....

"अगर मैं कहूँ कि उस लड़की के बारे में तुम्हारा सन्देह सही है...?"

"तो क्या सचमुच तुमने उसे प्यार किया है?"

"न, मैंने सिर्फ़ एक बात कही है कि सही हो तो. . . ."

"क्या सचमुच तुमने किया है ?"

"मैंने नहीं, उसने किया हो ?"

"चाहे जिसने किया हो, लेकिन सच है ?"

"यह केवल एक बात है !"

"बात तो बहुत कुछ है !" पत्नी की आँखें भर आती हैं। गला फँस जाता है। वह क्षण भर के लिए रुक जाती है।

"आखिर यह क्या मज़ाक है ? तुम कुछ भी साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहते ?" वह आवेश में चीख़ उठती है।

"तुम सुनना क्या चाहती हो ?" के चेहरे पर एक भाव उगता है। झुंझला... का।

"यही तो। यही तो नहीं समझ... रही हूँ कि मैं क्या चाहती हूँ। लेकिन... चाहती हूँ। जरूर चाहती हूँ। और तुम... सच में मुझे ख़ुद नहीं मालूम, मैं क्या चाह... हूँ ?" वह अपना सिर हथेलियों के... कर लेती है और सिसक पड़ती है। उस... शरीर बेतरह हिल रहा है।

पति सशंकित होकर एक बार... ओर देखता है। फिर उठता है, ... तोड़ता है और बैठ जाता है। ●

औचित्यपूर्ण उत्तर

शहर के एक व्यक्ति को अपने मित्र के गाँव जाना था। कोई सवारी की राह न होने के कारण उसे पैदल ही चलना पड़ा। इस आशंका से कि बीच राह में ही कहीं रात न घिर जाए, उसने खेतों में काम करते एक किसान से पूछा "क्यों भई, रघुनाथपुर पहुँचने में कितनी देर लगेगी ?"

उस बूढ़े किसान ने सिर उठाकर उसकी ओर देखा, फिर कहा, "आगे बढ़ो।"

"हाँ, लेकिन कितना समय लगेगा ?"

"आगे बढ़ो !" बूढ़े किसान ने फिर कहा।

"वह तो करूँगा ही, लेकिन मैं समय के बारे में जानना चाहता हूँ।"

फिर भी जब बूढ़े किसान ने 'आगे बढ़ो' कहा तो यह समझकर कि किसान शायद बहरा है, उस यात्री ने आगे बढ़ना ही उचित समझा।

वह कुछ ही दूर गया होगा कि उसे उस बूढ़े किसान की आवाज सुनायी पड़ी: "लगभग डेढ़ घण्टे।"

"क्यों ?" यात्री ने मुड़कर आश्चर्य से पूछा, "तुम तो पहले भी यह बता सकते थे ?"

बूढ़ा किसान ने सिर हिलाते हुए उत्तर दिया, "भला कैसे बता सकता था, जब तक यह देख न लेता कि तुम्हारी चाल कितनी तेज है।"
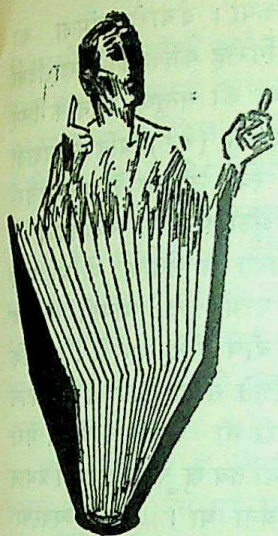
यशपाल को जयदेवपुरी का प्रत्युत्तर

०

ज्ञानोदय के सितम्बर '६३ के अंक में 'जयदेवपुरी का पत्र : यशपाल के नाम' आपने पढ़ा होगा; फिर पत्र-विशेषांक में यशपाल जी का उत्तर भी। यहाँ प्रस्तुत है, जयदेवपुरी का प्रत्युत्तर जो हमें पुनः श्री 'रहबर' के ही मार्फ़त प्राप्त हुआ है।

०

मोहतरमी यशपाल जी,

'ज्ञानोदय' के पत्र-अंक में आपका झुँझलाहट भरा जवाब पढ़ा। झुँझलाहट का कारण मैं यह समझ पाया हूँ कि मेरी शिकायत पर ठंडे दिल से ग़ौर करने के बजाय यह समझकर कि आप पर हमला किया गया है, आपने जवाबी हमला शुरू किया और मुझे शिखंडी बना दिया। यह तक नहीं सोचा कि किसी के हाथ में आपके हीरो का—मेरा—शिखंडी बन जाना मेरी नहीं आपकी कमज़ोरी है। आपको अच्छी तरह मालूम है कि भीष्म पितामह ने जानते-बूझते अन्याय का पक्ष धारण किया था क्योंकि उन्होंने दुर्योधन का अन्न खाया था। असल बात यह थी कि वह क़बीलों पर निर्द्धारित पुरानी व्यवस्था के हामी थे जबकि अर्जुन नयी व्यवस्था (केन्द्रीयकरण) और नयी विचारधारा का नायक था। यों देखा जाय तो शिखंडी भीष्म पितामह के रूढ़िवाद का प्रतीक था और मैं आपके रूढ़िवाद का। चौंकिए नहीं, बात सुनिये और समझने की कोशिश कीजिए।

ठीक है, आपने मुझे अच्छी-ख़ासी साहित्यिक परख और प्रतिभा दी थी, लेकिन साथ ही शोषण की इस व्यवस्था के ख़िलाफ़ लड़ने का आदर्श भी सौंपा था। इसलिए आपने मुझे कम्युनिस्टों का हमदर्द बनाया क्योंकि मार्क्सवाद से संघर्ष की प्रेरणा मिलती थी, इसीलिए मैंने अख़बार की नौकरी छोड़ी, इसीलिए तारा से ख़ामोश समझौता हुआ। और इसीलिए कनक मुझसे मुहब्बत करती

थी। मेरा संघर्ष, वर्ग-संघर्ष था, जिसमें महेन्द्र नाथ नैयर की भूमिका यह है कि वह इस पुरानी सामाजिक व्यवस्था का हामी है। हमारी कोई ज़ाती दुश्मनी नहीं, वह मुझसे मेरे आदर्शों के कारण चिढ़ता है। मुझसे कनक की मुहब्बत भी उसे इसीलिए गवारा नहीं कि कनक उसके अभिजात वर्ग की लड़की है--उसकी साली है--और मैं एक निम्न वर्ग का व्यक्ति--एक ग़रीब स्कूल-मास्टर का लड़का हूँ। अगर आप इस वर्ग-संघर्ष को उभारते तो मैं आखिर तक हीरो और नैयर विलेन रहता लेकिन आपने चन्द क़दम चलकर यह आधार ही छोड़ दिया। जब मैं रतन से कहता हूँ: "मैं कम्युनिस्ट नहीं, दिस इज हिस्ट्री' तो यहीं से कहानी उखड़ जाती है। आपने मेरे इस उत्तर की व्याख्या यह की है कि मैं एक चतुर आदमी था। चतुर आदमी समझता यह है कि वह दूसरों को धोखा दे रहा है। पर होता यह है कि वह धोखा ख़ुद को देता है। लोग चतुराई को नहीं सहृदयता और निष्ठा को मानते हैं। निष्ठावान कम्युनिस्ट की बात भी ध्यान से सुनते हैं और निरे चतुर को बातूनी समझते हैं। मुझे चतुर बनाने का नतीजा भी तो आपने देख ही लिया। यह आदर्शहीन चतुराई ऐसी फिसलन है कि आदमी फिसलता चला जाता है और उसे अपने पतन का एहसास तक नहीं होता। मैंने पहले बहन से बेइंसाफ़ी की और फिर फिसलते-फिसलते यहाँ तक फिसला कि सूद का 'चमचा' बनकर रह गया। आदर्शहीन व्यक्ति की आत्मा जब उसे कोंचती है तो वह विलासिता में डूबकर अपने-आपको भुलाने का प्रयत्न करता है। मैंने भी ऐसा ही किया। बेचारी उर्मिला को फुसलाया और निरीह कनक को धोखा दिया और मेरी आत्मा को सन्तुष्ट करने के लिए आपने 'कनक उसके (मेरे) प्रति उत्तरदायी थी। वह (मैं) स्वयं उर्मिला के प्रति उत्तरदायी था' का झूठा फ़लसफ़ा गढ़ दिया।

मेरी शिकायत के जवाब में भी आप ख़ुश्चेव और माओ के आपसी विवाद को ख़ाह-मख़ाह बीच में ले आए हैं। हालांकि आपको ख़त लिखते समय माओ ने मेरे कान में फूँक नहीं मारी थी और जब आपने मेरा निर्माण शुरू किया तब ख़ुश्चेव रूस का प्रधान मंत्री ही नहीं बना था। उसकी व्यवस्था को तर्कसंगत कहकर आपने कोई बड़ा तीर नहीं मारा। माओ के मुक़ाबले में उसे तर्कसंगत मानने से आपका मक़सद ज़ाहिर है।

मेरी महत्वाकांक्षा मार्क्सवादी हीरो बनने की कदाचित नहीं थी, लेकिन मैं त्याग के लिए मर मिटने वाला आदर्शवादी हीरो ज़रूर बनना चाहता था। 'दिव्या' का पृथु-सेन भी यही चाहता था, आप मानेंगे कि उसके मार्क्सवादी बनने का सवाल ही पैदा नहीं होता। मेरे मन में कोई आर्थिक महत्वाकांक्षा भी नहीं थी। अगर होती तो मैं अख़बार की नौकरी क्यों छोड़ता और दहेज के प्रलोभन में माँ-बाप की इच्छा के अनुसार शादी न कर लेता। आपने वह महत्वाकांक्षा मुझ पर ऊपर से उसी तरह ठूँसी है जिस तरह 'दिव्या' में दास-पुत्र पृथु-सेन पर राजसत्ता हथियाने की ठूँसी थी। 'झूठा-सच' की कहानी वहाँ उखड़ती है जहाँ मैं रतन को चतुराई का जवाब देता हूँ और फिर बहन से अन्याय करता हूँ और 'दिव्या'

की कहानी वहाँ टूटती है जहाँ पृथू सेन गर्भवती दिव्या से विश्वासघात करता है। इसके बाद आपने जो कुछ लिखा है, वह 'झूठा सच' में भी झूठा सच है और दिव्या में भी झूठा सच है, पाठकों का मनबहलाव मात्र है। इसी से मेरे मुक़ाबले में अभिजात वर्ग के महेन्द्रनाथ नैयर का उदात्त पहलू और पृथू सेन के मुक़ाबले में अभिजात वंश के रुद्रधीर का उदात्त पहलू आपकी इच्छा के विरुद्ध उभर आया है।

आप वर्ग-संघर्ष के जिस धरातल पर कहानी उठाते हैं उस पर आगे चला नहीं पाते क्योंकि वर्ण-व्यवस्था पर, शोषण के वर्ग-विभाजन पर क्रांतिकारी प्रहार करने में आपका अपना वर्ग-स्वभाव आड़े आता है और आपको विवश छोड़कर आपका क़लम ग़लत दिशा में बहक जाता है। वह 'दिव्या' में बहका, 'मनुष्य के रूप' में बहका, 'झूठा सच' में बहका। आप चाहें तो उदाहरण और भी दे सकता हूँ। मस्लन, 'दादा कामरेड' की नायिका शैल का विद्रोह, विद्रोह या क्रांति नहीं आवारगी है और आवारगी व्यक्ति को भले नुक़सान पहुँचाये सामाजिक व्यवस्था का कुछ नहीं बिगाड़ पाती। अतएव आवारा व्यक्ति आम तौर पर घूम-फिर कर फिर अपने वर्ग में लौट आता है। फिर 'प्रतिष्ठा का बोझ' कहानी लीजिए, जो क्लर्कों की हड़ताल से शुरू होती है, जो वर्ग-संघर्ष है। लेकिन हड़ताल की असफलता के बाद आपका नायक संघर्ष का मार्ग छोड़कर विलासी बन जाता है और कहानी एक सास-बहू का घटिया चुटकुला बनकर रह जाती है। इसी प्रकार 'पाप की कीचड़' (आदिम पाप) में आप प्रहार तो धार्मिक मान्यताओं पर करना चाहते हैं लेकिन प्रहार होता है कहानी के नायक ताँगे वाले पर जो पत्नी के साथ बीस वर्ष का विवाहित जीवन मेकेनिकल ढंग से बिताता है और उसे समझ तब आती है जब पादरी उससे कहता है कि भगवान पाप की कीचड़ में लिथड़ी हुई आत्मा को उसी तरह प्यार करता है जिस तरह तुम अपने कीचड़ में लथपथ बालक को करते हो। आप ज़रा इस पाप की कीचड़ के दर्शन पर विचार तो कीजिए। इसी दर्शन के कारण आपकी इच्छा के विरुद्ध ताँगे वाले के मुक़ाबले धर्म के प्रतीक पादरी के चरित्र का उदात्त पहलू उभर आया है। अब बताइए, क्या इस कहानी को लिखने से आपका उद्देश्य यही था?

इसमें शक़ नहीं कि आप कई बार सामाजिक और धार्मिक मान्यताओं पर और रूढ़िवाद पर बहुत ही तीखा व्यंग्य-प्रहार करते हैं, लेकिन आपके ये व्यंग्य-प्रहार कुएँ के भीतर बन्द मेढक की उछल-कूद हैं। आपके इन प्रहारों के बावजूद वर्तमान वर्ण-व्यवस्था अक्षुण्ण बनी रहती है। दिव्या में बनी रही। 'झूठा सच' में बनी रही—आप तारा का ब्याह असद से नहीं करा पाए—और उन कहानियों में बनी रही जिनका मैंने अभी ज़िक्र किया है। आप खुद अपनी किसी छोटी-बड़ी रचना का नाम लीजिए जिसमें इस सामाजिक व्यवस्था पर भरपूर वार हुआ हो—आपके हीरो ने संघर्ष में मर-मिटकर पाठकों का आदर-सम्मान प्राप्त किया हो। आप तो उसे आदर्श से गिराकर संघर्ष का आधार

ही नष्ट कर देते हैं ताकि यह वर्ण-व्यवस्था अक्षुण्ण बनी रहे। मार्क्सवाद-फार्क्सवाद को गोली मारिए और वैसे ही सोचिए, यह किसकी सेवा है? यह कहाँ का प्रगतिवाद है? यह कैसा सोशलिस्ट रीयलिज्म है? चेलीशेव और उसकी भूमिका का नाम न लेकर सीधे-सीधे बात कीजिए!

आदर्श के आधार पर ही पात्रों का विकास सम्भव है। आप चूँकि आदर्शों की परवाह नहीं करते इसलिए पात्रों का विकास भी नहीं कर पाते। आपकी सिर्फ़ वही रचनाएँ और वही पात्र स्वाभाविक जान पड़ते हैं जिन्हें आप उनकी जन्मगत और वर्गगत सीमाओं के भीतर चित्रित करते हैं। जैसे 'लखनऊ वाले' वाक़ई आपकी एक सुन्दर कहानी है और बहुत ही स्वाभाविक जान पड़ती है क्योंकि उसमें आपने हीरो के जन्मगत और वर्गगत स्वभाव का अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसी तरह महेन्द्रनाथ नैयर के व्यक्तित्व का उदात्त पहलू—जिस पर आप बहुत फ़ख्र करते हैं—यही तो है कि वह अपनी जन्मगत और वर्गगत मर्यादा का पालन करता है। इसीलिए वह सूद की चापलूसी पर आमादा नहीं होता, इसीलिए मुझे और कनक को साथ देखकर नाराज़ नहीं होता और शिष्ट बना रहता है। इस मर्यादा-पालन और अपने पारिवारिक जीवन के अतिरिक्त भी उसे किसी बात की चिन्ता है? सार्वजनिक या सामाजिक कार्य उसने सिर्फ़ इतना ही किया है कि साम्प्रदायिक दंगों में मुझे जेल से छुड़ा लाया था। यह भी कनक के कारण एक तरह से उसकी पारिवारिक समस्या थी और उसे अपने हिन्दुत्व की हिमायत करनी थी। लेकिन इतना सीमित और स्वार्थमय जीवन बिताने वाला व्यक्ति अगर आपके हीरो से—एक ऐसे हीरो से जिसने वर्ग-संघर्ष का मार्ग अपनाया हो—अन्त में बुलन्द उठ जाये और उसके मुकाबले में उदात्त चरित्र जान पड़े तो यह आपकी कला और चिन्तन की शिकस्त नहीं तो और क्या है?

नैयर व्यक्तिगत और वर्गगत स्वार्थ में बँधा है, इसीलिए वह विलेन है और मैं इसीलिए हीरो था कि मैंने जन्मगत और वर्गगत सीमाओं को लाँघकर सामाजिक जीवन बिताने का निश्चय किया था। लेकिन बाद में मैंने भी सूद का चापलूस और चाटुकार बनकर व्यक्तिगत स्वार्थ का मार्ग अपनाया। इसी को आप मेरा पतन कहते हैं, और ठीक ही कहते हैं—अर्थात् इससे व्यक्ति और समाज का भेद स्पष्ट हो जाता है। इस तथ्य को 'झूठा सच' में ही क्या आपने अपने प्रथम उपन्यास 'दादा कामरेड' ही में समझ लिया था। शैल राबर्ट से कहती है—"तुम क्रांति क्रांति चिल्लाते फिरते हो। व्यक्ति के मार्ग में आने वाला सामाजिक अत्याचार तुम्हें नहीं दिखायी देता! जीवन के हर मार्ग समाज में बन्द पाकर मुझे तो सबसे अधिक खिझलाहट समाज के प्रति ही होती है।" हालाँकि शैल जिस मार्ग की ओर इंगित करती है और जो उसमें अपना भी रहा है वह समाज-विरोधी और क्रांति-विरोधी अराजकता का मार्ग है, फिर भी आपकी वह अल्हड़ नायिका व्यक्ति और समाज के भेद को समझती है। गो समाज व्यक्तियों के समूह ही से बनता है, लेकिन इसके बावजूद

सामान्य बुद्धि का प्रत्येक व्यक्ति इस बात को समझता है कि जीवन का व्यक्ति-पक्ष और समाज-पक्ष अलग-अलग होता है। ये दोनों पक्ष एक-दूसरे के पूरक भी होते हैं और विरोधी भी। इसलिए व्यक्ति और समाज की हक़ीकत एक भी होती है और अलग-अलग भी होती है। यह सब जानते-बूझते हुए भी जब मैं कहता हूँ कि 'जिसे आपने हक़ीक़त बनाकर पेश किया है, वह अफ़राद की, व्यक्ति की हक़ीक़त तो है—पर ज़िन्दगी की हक़ीक़त नहीं है' तो आप मुझ पर व्यंग्य करते हैं 'क्या व्यक्ति का सत्य जीवन का सत्य नहीं होता?.... क्या व्यक्ति को नगण्य मानना ही मार्क्सवाद और समाजवाद है? तो फिर नाज़ीज्म और फ़ासीज्म क्या होगा?' यह तो आपने 'मारूँ घुटना फूटे आँख' की कहावत चरितार्थ कर दी। जिस तरह आप पहले ख़ुश्चेव और माओ के विवाद को व्यर्थ में घसीट लाए थे उसी तरह और उसी मक़सद से यहाँ फ़ासीज्म और नाज़ीज्म की बात उठायी है। हालाँकि नाज़ीज्म के बारे में आपकी सूझ यह है कि अपनी 'मार्क्सवाद' पुस्तक में हिटलर को आपने जर्मनी के मध्यमवर्ग का प्रतिनिधि बताया है। ज़रा सोचिए कि ख़ुश्चेव की 'तर्कसंगत व्याख्या' से आपकी यह स्थापना कहाँ तक मेल खाती है?

फिर आपने मुझे हीन भावना का शिकार बताया है और आपका नैयर भी मेरे बारे में यही विचार रखता है। लेकिन यह कोई नई बात नहीं है, क्रांति-विरोधी फ्रायड-वादियों और व्यक्तिवादियों का यह पुराना सिद्धान्त है। नैयर ऐसा सोचे तो कोई ताज्जुब नहीं, क्योंकि वह अपने वर्गस्वभाव से क्रांति-विरोधी है। हैरत की बात यह है कि आप भी उसका समर्थन करते हैं!

आपने मेरे व्यक्तित्व की कमज़ोरियों पर बड़ा ज़ोर दिया है और उन्हें सही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। पर यह नहीं सोचा कि मैं आपका मानसपुत्र हूँ और लोग इसका यह भी अर्थ लगा सकते हैं कि मुझे ये कमज़ोरियाँ विरासत में मिली हैं। आपने देखा होगा कि 'झूठा सच' की आलोचना करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने आप पर व्यंग्य किया है कि पुरी ख़ुद अपने बारे में इतना नहीं जानता जितना यशपाल जानते हैं। मालूम नहीं उनका इशारा 'जिस्मानी नालायक़ी' की तरफ़ है या हीन भावना की तरफ़। मुमकिन है दोनों की तरफ़ हो। लेकिन उनका ज़िक्र ले आने का मतलब यह नहीं कि मैं उनसे सहमत हूँ। उनकी आलोचना एकतरफ़ा होती है। कारण यह कि उनका वर्ग भी वही है जो आपका और नैयर का है, और उन्होंने भी मार्क्सवाद में से वर्ग-संघर्ष का काँटा निकालकर उसे उसी तरह ओढ़ना-बिछौना बना रखा है, जिस तरह आपने बना रखा था। इसीलिए 'दिव्या' की उन्होंने सिर्फ़ तारीफ़ की है। आदर्श-हीनता पर उनकी दृष्टि जाती ही नहीं, 'झूठा सच' में भी नहीं गयी, जा ही नहीं सकती थी। मेरा आपसे कोई वैयक्तिक राग-द्वेष नहीं। मैं तो आपका अज़ीज़ हूँ और निहायत अदब के साथ मैंने सैद्धांतिक बात उठायी है। आप ठंडे दिल से उस पर ग़ौर कीजिए!

° ° °

चन्द्रकान्त सोनवलकर

०

०

०

हाइकू हाइकू
प्रगति और प्रयोग
सारे ये लफड़े
कायकू रे कायकू

०

०

हाय रे, लगे
चक्कर पर चक्कर
मिली नहीं प्यारे
एक किलो शक्कर

०

०

नेताओं ने बना लिया
अच्छा खासा जू
दर्शक हैं पूछते
आफ्टर नेहरू हू ?

तीन हास्य - हाइकू

एक विनोदपूर्ण व्यंग्यात्मक एकांकी

●

दुष्यन्त कुमार

(कवि कमल कविता लिखने के मूड में)

कमल : मैं किसी की कल्पनाओं का क्षितिज हूँ,

छू दिया तुमने कि मेरी ज़िन्दगी में ज्वार आया

प्राण ! जाने किसलिए तुम पर बहुत-सा प्यार आया. . . .

सतीश : मैंने कहा, कविवर कमल ! ओ कविराज !

कमल : (चौंककर) कौन. . . .सतीश ! तुम हमेशा बेवक्त टपक पड़ते हो यार ! दिन भर लाइब्रेरी में मक्खियाँ मारते रहोगे--और जहाँ मेरा कुछ लिखने-पढ़ने का मूड आया--और मैंने कोई अच्छी-सी कल्पना उठायी कि तुम हाज़िर. . . .

सतीश : च च च च . . . . बड़ा अफ़सोस है भई, पर मैं तो सम्वेदना प्रगट करने के लिए आया था। मैंने सुना है कि कल टाउन-हॉल के कवि-सम्मेलन में तुम्हारी ऐसी ही किसी कल्पना पर मुग्ध होकर जनता जनार्दन ने सड़े हुए अंडों और टमाटरों से तुम्हारा स्वागत किया !

कमल: क्या बकवास करते हो ! कल का कवि-सम्मेलन मेरे जीवन का सबसे सफल कवि-सम्मेलन था ।

सतीश : हो सकता है तुम्हारी बात सही हो और यह भी हो सकता है कि जनता को बाज़ार में अच्छे अण्डे न प्राप्त हो सके हों, इसीलिए. . . .

कमल : कभी भी तो गंभीरता से बात किया करो सतीश ! एक तरफ़ तुम

म न के को ण

आई. ए. एस. और बड़ी ऊँची सर्विसेज के ख्वाब देखते हो——दूसरी तरफ़ चपड़क-नातियों वाली बातें करते हो। तुम्हारी इन बेहूदी हरकतों पर भला कौन तुम्हें किसी ज़िम्मेदार पद पर भेज सकता है!

सतीश : तुम्हारे मुँह में घी-शक्कर कविराज! अरे इतनी बात अगर पहिले कह दी होती, तो अब तक अपाइंटमेंट भी हो गया होता! देखो न, तुमने आज ये बद्दुआ दी तो आज ही मेरा रिजल्ट भी आ गया....

कमल : सच? क्या आई. ए. एस. हो गए तुम....!

सतीश : आई. ए. एस. कैसे हो सकता था–कवि की बद्दुआओं का कुछ तो असर होता–लिहाजा आई. ए. एस. प्रोपर में तो नहीं, हाँ इनकम-टैक्स में अलबत्ता मेरा सलेक्शन हो गया है।

कमल : मुबारक हो। भई, बहुत खुशी की बात है सतीश! अच्छा चलो, तो इसी बात पर चाय हो जाए।

सतीश : एक खुशखबरी अभी और है प्यारे भाई! तेरी वो है न, (**धीरे से**).... अरे वही.... क्या कहते हो तुम उसे हिन्दी में....प्रेमिका ....अपर्णा.... उसका रिश्ता भी तय हो गया है, आज लाइब्रेरी में बड़ी गर्म ख़बर थी!

कमल : क्या खबर थी?

सतीश : यही, लोग कह रहे थे, कि सेठ-कन्या सेठ के साथ ही जानी थी। अफ़सोस, बेचारा कवि कल्पनाओं के दायरे में ही घूमता रह गया। कुछ लोगों का यह भी ख़याल था कि अब तुम्हारी कविताओं में अनुभूति की गहराई आएगी, और तुम्हारे कवि-जीवन का एक नया अध्याय शुरू होगा। तुम्हारा क्या ख़याल है?

कमल : मेरा खयाल ये है कि इनकम-टैक्स आफ़ीसर होने की खुशी में तुम्हारा दिमाग़ अभी से ख़राब हो गया है—वो दोहा है न, प्यादे से फ़र्ज़ी भयो टेढ़ो-टेढ़ो जाय....

सतीश : कमल, दिमाग़ मेरा नहीं दिमाग़ तुम्हारा ख़राब हुआ है। जो आदमी अपनी ज़िम्मेदारियों को नहीं पहचानता, अपनी शक्ति और अपनी सीमाओं को नहीं जानता, मैं उसे साबुत दिमाग़ नहीं कह सकता।

कमल : क्या तुम गम्भीरता से बात कर रहे हो?

सतीश : मैंने गम्भीर मसलों पर हमेशा गंभीरता से बात की है। देखो, तुमने सालों से कोर्स की किताबें उठाकर नहीं देखीं, दो साल से बी. ए. में बराबर फेल हो रहे हो, और ख्वाब देखते हो प्रसाद और निराला बनने के! कभी तुमने यह भी सोचा है कि तुम्हारे पीछे एक परिवार है, तुम्हारी बूढ़ी माँ और बीमार बाप है जो तुम्हें बुलाने के लिए दो–दो तार और कई पत्र भेज चुके हैं और तुम्हारी इन हरकतों से तंग आकर तुम्हारे बड़े भाई तुम्हें खर्च भेजना बंद करने वाले हैं

कमल : घर तो मैं जा ही रहा हूँ—तय है।

सतीश : तुम्हें जाना ही चाहिए कमल।

तुम्हारे पिता बीमार हैं ।

कमल : लेकिन मैं पैसे को महत्व नहीं देता हूँ ! मैं चाहूँ तो आज, अभी इसी वक्त टेलीफ़ोन पर हज़ार रुपए मँगवा सकता हूँ; और तुम्हें याद होगा कि विहान-प्रकाशन वाले कई बार मुझे पत्र का संपादक बनाने की इच्छा प्रकट कर चुके हैं ।

सतीश : और तुमने उसे ठुकरा दिया—यही न ?....मैं कहता हूँ कि ये मिथ्या अहम् तुम्हारी सबसे बड़ी भूल है । और देख लेना, वो दिन दूर नहीं है जब दो सौ रुपए की नौकरी के लिए तुम दरवाज़े-दरवाज़े पर चक्कर लगाते घूमोगे और तुम्हें कोई दो कौड़ी को भी नहीं पूछेगा । आजकल इंटर पास की क़द्र ही क्या है—ज्यादा-से-ज्यादा ८०–९० रुपए की क्लर्की, और वो भी तुम्हारे बस की नहीं; और जिस टेलीफ़ोन के बल पर तुम कूदते हो वो शादी के महीने भर बाद तुम्हें पहचानेगी भी नहीं !...

कमल : सतीश, बहस में तुम्हारे साथ आज तक नहीं पड़ा क्योंकि तुम्हारे और मेरे सोचने-विचारने के धरातल ही अलग हैं ।

सतीश : और इसीलिए वो तुम्हें नहीं भूलेगी—तुम्हें जीवन-भर याद रक्खेगी; मन-मन्दिर में तुम्हारी प्रतिमा बनाकर उसकी पूजा किया करेगी !

कमल : पूजा चाहे न करे, लेकिन मुझे विश्वास है कि वह मुझे भूल नहीं सकती ! मन के कोण इतनी आसानी से नहीं बदलते सतीश ! भावनाएँ सोने-चाँदी का भाव नहीं होतीं जो बाजार में उतरती-चढ़ती रहें; उसका सामान्य स्तर एक होता है, प्रतिक्रियाएँ चाहे बदलती रहें ।

सतीश : यह बात जितनी सच है, उससे ज्यादा झूठ भी है । मैंने भी इसे बहुत जगह पढ़ा है और बहुतों से सुना है । लेकिन जिस क्लास की लड़की का तुम ज़िक्र कर रहे हो उसमें भावनाओं की ये ईमानदारी हो ही नहीं सकती । मैं एक बार को तुम्हें ईमानदार मान सकता हूँ, मैं यह मान सकता हूँ कि तुम जीवन भर उसके लिए वफ़ादार रहोगे, लेकिन वो भी ऐसी ही रहे इसमें मुझे शक़ है....

कमल : तुम बात-बात में जो क्लास और वर्ग की बात उठाते हो तो मैं यह पूछता हूँ कि किसी भी वर्ग के आदमी में क्या हृदय नहीं होता ? क्या वह सामान्य आदमियों के हृदय की तरह नहीं धड़कता ? क्या हर्ष, शोक और चिन्ताओं की प्रतीति उसे नहीं होती ?

सतीश : सुख-दुःख की बात छोड़ो, मैं प्रेम और प्यार की बात कर रहा हूँ । अव्वल तो जिसे वो प्रेम कहती है वह महज़ आकर्षण है, जो शायद तुमसे अधिक तुम्हारी कविता के प्रति है—क्योंकि उसमें भी उसके अहम् की तुष्टि होती है, कि कोई उसके लिए कविता लिखता है । दूसरे, प्रेम आजकल फ़ैशन या वक्त गुज़ारने के लिए शुग़ल के तौर पर भी चलता है ।

(दरवाज़े पर दस्तक)

पोस्टमैन : पोस्टमैन !

सतीश : खैर छोड़ो ! देखो तुम्हारा कोई

खत आया है शायद !

कमल : (दूर से) एक तो ये पत्रिका है जिसमें मेरी वही कविता छपी है, जो अपर्णा को बहुत पसंद है।

सतीश : और ये लिफ़ाफ़ा किसका है ?

कमल : लिफ़ाफ़ा उसी का है। (फाड़ता है)

सतीश : क्या लिखा है ?

कमल : (पत्र पढ़ता है) मेरी कल्पनाओं के क्षितिज,.... क्या लिखूँ और कैसे लिखूँ कुछ समझ में नहीं आता। दो-तीन-दिन से मन बहुत उदास है; लगता है, कहीं भाग जाऊँ। दिन भर इतनी झुँझलाहट रहती है, कि ज़रा-सी बात भी बुरी लगती है! बोलो कमल, ऐसा क्यों होता है? क्यों मन नहीं लगता? क्यों रोने की तबियत करती है? क्यों भाग जाने की इच्छा होती है? मुझे तो कुछ समझ में नहीं आता। तुम्हें कुछ समझ में आता हो तो कृपया मुझे भी बता दो न ताकि इस स्थिति से छुटकारा पा सकूँ! जानते हो इस मनस्थिति का कारण क्या है? मेरे घरवालों ने रिश्ता तय कर दिया है। हफ्ते-दो हफ्ते के बाद शायद विवाह भी हो जाए। हमारे समाज में लड़की की सहमति की ज़रूरत ही कौन समझता है? मन में विद्रोह की चिनगारियाँ उठती हैं और बुझ जाती हैं, तुम तो मेरे प्राण, मेरा जीवन बन चुके हो.... मेरी मनस्थिति को तुमसे अधिक कौन समझेगा? तन से दुनिया वाले मुझे तुमसे कितना ही दूर कर लें पर क्या मन से भी दूर कर सकते हैं? तुममें और मुझमें अन्तर ही कहाँ रहा है—कभी-कभी सोचती हूँ कि मैंने ज़रूर पिछले ज[न्म] में कुछ पाप किए होंगे जो सब कुछ पाकर भी कुछ नहीं पा सकी।.... याद है, तुमने एक बार अपने एक [illegible] की कविता सुनायी थी—तन की दूरी क[्या] कर लेगी, मन के पास रहो तुम मेरे मेरे प्रिय! मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ मैं हमेशा-हमेशा तुम्हारे मन के [illegible] रहूँगी—तुमसे कभी दूर नहीं रह सकती। तुम्हारी याद में, तुम्हारी अप[illegible]

सतीश : तुम्हारे सम्पर्क का इतना असर तो [illegible] कि पत्र अच्छा लिख लेती है! नाटक [illegible] अच्छा करती है यह तो मालूम था, [illegible] पत्र भी वो इतना अच्छा लिख सकती [illegible] इसकी मैंने कल्पना भी नहीं की [illegible]

कमल : हृदय की भावनाओं का उफान [illegible] अभिव्यक्ति के लिए खुद क़लम की [illegible] पर आ जाता है सतीश, उसके [illegible] सोचना-विचारना नहीं पड़ता। [illegible] तुम कहो कि ये भावनाएँ भी [illegible] हैं, ये भी नाटक है और इस [illegible] लड़कियाँ ऐसे नाटक आए दिन [illegible] रहती हैं।

सतीश : मैं नहीं, ये बात वक्त खुद ही [illegible] तुम घर हो आओ, तब तक शायद [illegible] शादी भी हो जाएगी और तभी [illegible] अपने सवाल का जवाब भी मिल जा[illegible]

(दृश्य-परिवर्तन)

कमल : भाभी प्रणाम।

भाभी : अरे लाला तुम, कब आए? [illegible] की कोई चिट्ठी-पत्री भी नहीं [illegible]

हम लोग तो निराश हो चुके थे, जब दो-दो तारों का भी तुमने कोई जवाब नहीं दिया तो हमने तो सोच लिया था कि घर वालों से माया-ममता तुमने तोड़ ली है।

माँ : (दूर से) कौन आया है बहू ? कमल आया है क्या ?....

कमल : हाँ माँ। मैं ही हूँ।

माँ : जीते रहो मेरे लाल ! देख तो कितना दुबला हो गया है। क्यों रे, तुझे वहाँ खाने को नहीं मिलता था क्या ?

कमल : नहीं माँ—देखो तो कितना मोटा हो रहा हूँ ! मेरा तो दो सेर वज़न बढ़ गया है। पिताजी की तबियत कैसी है ?

माँ : बस आते ही होंगे—बाजार तक गए हैं।

कमल : मुझे तो आप लोगों ने लिखा था, उनकी तबियत सख्त खराब है।

भाभी : वैसे लाला तुम कहाँ आते ! अब तुम्हारी नाक में नकेल डालनी है न— ऐसी बहू ढूँढ़ी है तुम्हारे लिए कि सारी उम्र अपनी भाभी के गुण गाओगे।

माँ : हाँ रे, ऐसी गुलाब के फूल जैसी लड़की है, बटुआ जैसा मुँह है—घर में आएगी तो ऐसी सजेगी कि मेरी तो आँखें सुफल हो जाएँगी।

कमल : माँ, मैं अभी शादी नहीं करूँगा।

पिताजी : (आते हुए) आ गए बरखुरदार ! बाप की बीमारी की इतनी फ़िक्र है आपको। इम्तहान खत्म हुए अर्सा गुज़र गया। मैं पूछ सकता हूँ, जनाब अब तक क्या कर रहे थे ?

कमल : मैं साहित्य-रत्न की तैयारी कर रहा था पिताजी !....

> **लोगों से बार-बार यह पूछे जाने पर कि 'क्या बजा होगा ?' बिचारा लिफ्टमैन परेशान हो उठा तो उसने अपने अधिकारी से कह-सुनकर लिफ्ट में ही एक घड़ी लगवा ली ताकि लोग समय पूछ-पूछकर उसे परेशान न किया करें।**
>
> **आश्चर्य कि इतना होने पर भी अधिक अन्तर न आया। केवल प्रश्न बदल गया। अब हर व्यक्ति उससे पूछता—"क्यों भई, घड़ी ठीक समय बताती है या नहीं ?"**

पिता : साहित्य-रत्न की तैयारी कर रहे थे या बाप के पैसे पर गुलछर्रे उड़ा रहे थे ?

माँ : लड़का थका हुआ आया है और तुमने आते ही डाँटना शुरू कर दिया। कुछ तो ख़याल किया होता। लड़का बराबर का हो गया है और....

पिता : लड़का बड़ा ख़याल करता है न हमारा—अभी क्या कह रहा था, शादी नहीं करूँगा। मैं जान सकता हूँ साहबजादे कि आपको शादी से इतनी नफ़रत क्यों हो गयी ?

कमल : पिताजी, मैं जब तक अपने पाँव पर नहीं खड़ा हो जाता....

पिता : अपने पाँव पर तो तुम ज़िन्दगी भर खड़े नहीं हो सकते, बल्कि हमें भी अपने पाँव पर खड़ा नहीं रहने दोगे। मैं पूछता हूँ, जब हम बहू की सारी ज़िम्मेदारियाँ सम्हालने को तैयार हैं, तो तुम्हें क्या एतराज़ है ?

कमल : इस प्रश्न का मैं कोई जवाव नहीं दे सकता पिताजी.... कुछ ऐसी ही बात है कि आपसे ...

पिता : तो ये क्यों नहीं कहते कि माँ- बाप के दकियानूसी ख़यालात की बहू जनाब को पसंद नहीं है। खैर.... अगर तुम कोई लड़की पसंद कर चुके हो तो अपनी माँ और भाभी को बता दो। लड़की का ख़ानदान वगैरह अगर ठीक हुआ, तो हमें कोई एतराज़ नहीं।

(संगीत का अन्तराल)

कमल : उस दिन मेरा जन्मदिन था। अपर्णा अपनी एक सहेली के साथ मुझे बधाई देने आई थी। शाम के वक्त घूमते हुए हम लोग पहाड़ी की ओर निकल गए। चुपचाप चलते हुए मन की भावनाओं के साथ आसमान का रंग भी बदलता जा रहा था। घंटों इसी मूड में हम एक पेड़ के नीचे बैठे हुए चुपचाप एक-दूसरे की ओर देखते रहे और जब होश आया तो मूसलाधार वर्षा शुरू हो चुकी थी। बस ये मेरी उससे पहली भेंट थी जिसने मेरे जीवन में एक तूफ़ान खड़ा कर दिया।

भाभी : बस इतने से ही तूफ़ान खड़ा हो गया। हमने तो एक सनीमे में देखा था कि वो लड़की ऐसी बकर-बकर बोले थी कि मैं तो उसके मुँह की तरफ कू देखती रह गयी।

कमल : सिनेमा ऐसी बातचीत तो हमारी कभी नहीं हुई भाभी,पर हाँ उससे दूसरी भेंट जरूर कुछ - कुछ सिनेमा जैसी ही थी। मैंने तब कविता लिखना शुरू ही किया था और उस दिन रात के हिन्दी-परिषद् के कवि-सम्मेलन में भाग लेने गया था।

(फ्लैशबैक संगीत)

कमल : दुनिया पहले से समझाती
तो मैं कुछ वश में कर लेता,
लेकिन अब तो प्यार—मनन या
चिन्तन से आगे जा पहुँचा।

स्वर–१ : मजनूँ का ख़ानदानी है वे...
दिन भर सिर्फ़ तुम्हारी बातें
सारी रात तुम्हारे सपने!

स्वर–२ : अबे कुछ पढ़ता-लिखता भी है
अब अपने कहलाने वाले क्षण
कहाँ रहे हैं अपने,
पहिले आँसू और आहों से
थोड़ी राहत मिल जाती थी,
लेकिन अब तो दर्द–रुदन या
क्रन्दन से आगे जा पहुँचा।

स्वर–३ : इस साल भी गए काम से...
बन्धन से आगे आ पहुँचा-
दुनिया पहिले से समझाती।

(जनता की ताली—हँसी—हूटिंग—मजनूँ को बुलाओ का शोर)

कमल : मैं ऐसे अशिष्ट लोगों में कविता नहीं पढ़ सकता !

['मजनूँ को बुलाओ, मजनूँ को बुलाओ' का शोर। धीरे-धीरे फेड आउट होता है। कुछ क्षण बाद)

अपर्णा : आप यहाँ अकेले बैठे हैं? (कोई **उत्तर नहीं)** आपने पूरी कविता क्यों नहीं सुनाई ?

कमल : वहाँ कविता का वातावरण था? कहने को साहित्य-परिषद् है पर दुनिया

भर के लोफ़र वहाँ इकट्ठे हो गए हैं ?

अपर्णा : मुझे आपकी कविता बहुत पसन्द आई कमल जी ! मेरी और सहेलियाँ भी उसकी बड़ी तारीफ़ कर रही थीं। सच, वह कविता सुनने के लिए ही मैं आपको ढूँढ़ती हुई यहाँ आई हूँ।

कमल : इस समय आप मुझे क्षमा करें, अपर्णा जी ! कल या फिर किसी दिन, जब भी आप कहेंगी मुझे आपको कविता सुनाने में प्रसन्नता ही होगी।

अपर्णा : तो फिर कल आप हमारे घर आइए। शाम की चाय भी वहीं पीजिएगा, पापा को आपसे मिलकर बहुत खुशी होगी। मैं गाड़ी भेज दूँगी।

कमल : गाड़ी की क्या ज़रूरत है। मैं खुद ही आ जाऊँगा।

अपर्णा : वाह मेरी ख़ातिर आप इतनी दूर से आयेंगे और मैं गाड़ी भी न भेजूँ, यह कैसे हो सकता है ? पर सुनिए, मैं कविताएँ संदर्भ और व्याख्या सहित सुना करती हूँ। मैं उनके बारे में भी कुछ जानना चाहूँगी जो आपको ऐसी सुन्दर कविताओं की प्रेरणा देती हैं। कौन है वह ख़ुशनसीब ?

कमल : उसी की तो तलाश है अभी तक।

(सम्मिलित हँसी—फ्लैश बैक समाप्त)

कमल : बस भाभी, इसी तरह की छोटी-छोटी बातों से वह छोटा-सा अँकुआ बढ़ते-बढ़ते एक बड़ा पेड़ हो गया। पर अब तो उसकी शादी भी हो चुकी होगी ! समाज की संकीर्णता....लेकिन अब ज़िन्दगी तो जैसे-तैसे गुज़ारनी ही है भाभी। पढ़ाई तो छोड़ ही दी। सोचता हूँ, कल को शहर चला जाऊँ और वहाँ कोई नौकरी कर लूँ। एक प्रेस वाले ने संपादक बनाने का वादा किया है। कल पिताजी से भी बातें हुई थीं। वे भी चाहते हैं कि मैं अब कोई नौकरी कर लूँ।

(दृश्य-परिवर्तन—संगीत के साथ)

कमल : मधुकर, आज कौन-सा फर्मा प्रिण्ट हो रहा है ?

मधुकर : आठवाँ है, सम्पादकजी ! आपने तो इस पत्र की काया ही पलट दी। साल भर में ही जितने आर्डर आए हैं उतने तो पिछले कई सालों में भी नहीं आए थे।

(कुछ क्षण बाद)

चपरासी : सम्पादकजी, आज की डाक..!

कमल : रख दो। अरे सतीश का पत्र ! देखूँ क्या लिखा है कम्बख्त ने—

(पत्र फाड़ता है)

सतीश का स्वर : प्रिय कमल, बहुत दिनों बाद तुम्हें आज यह पत्र लिख रहा हूँ। तुम्हें शिकायत तो जरूर होगी पर मैं भी कह सकता हूँ कि तुमने ही कौन-से पत्रों के ढेर लगा दिए। हाँ, तुम्हारी अपर्णा के इस शहर में, मुझे तुम्हारी बड़ी याद आती है, और हाँ, अगर झूठ-मूठ की प्रशंसा न समझो तो ये भी कहूँगा कि तुम्हारे संपादन में पत्र का स्तर उठा है। और इसका सबसे बड़ा आकर्षण है तुम्हारी वे कविताएँ जो शायद तुमने अपर्णा के विवाह के बाद लिखी हैं।

कमल : (स्वगत, बीच में) हाँ, सतीश दर्द

ही तो रह गया है जीवन में !

सतीश का स्वर : तुम्हारे जीवन का विष तुम्हारे काम के लिए चाहे जितना बड़ा वरदान सिद्ध हुआ हो, लेकिन मैं जानता हूँ कि तुम्हारा अपना व्यक्तित्व कितना टूट-फूट गया होगा। इसीलिए एक बार फिर मैं यही कहूँगा कि तुम उसे भूल जाओ क्योंकि इस इकतरफ़ा संबंध का कोई अर्थ नहीं है। विश्वास करो कि वह तुम्हें भूल चुकी होगी क्योंकि उसके पास सिवाय इसके और कोई चारा ही नहीं है। ख़ैर, यह बताओ कि तुम यहाँ कब आ रहे हो ? तुमसे मिलने की प्रबल इच्छा है। मुझसे नहीं सही, अपनी अपर्णा से मिलने की ख़ातिर ही यहाँ चले आओ; इंतज़ार करूँगा।

सस्नेह तुम्हारा,
सतीश।

कमल : (**स्वयं से**) आऊँगा सतीश ! एक बार—वो चाहे अंतिम बार ही क्यों न हो—अपर्णा से मिलने ज़रूर आऊँगा, और देखूँगा कि मेरे और तुम्हारे विश्वासों में कौन ज्यादा ठीक ज़मीन रखता है !

(दृश्य-परिवर्तन—रुकती गाड़ी का हार्न)

सतीश : ओ हो, कविराज कमल हैं ! जहे-क़िस्मत, जहे-नसीब ? वो आये हमारे घर ये ख़ुदा की क़ुदरत, कभी हम उनको कभी अपने घर को देखते हैं। कहो बे—ये गाड़ी किसकी मार दी ?

कमल : सेठ मनोहरलाल झुनझुनवाला....

सतीश : अच्छा-अच्छा, तो ये कहिए, अपर्णा से मिलकर आ रहे हैं आप ! गले में कोई हार तो पड़ा ही नहीं आपके ? अबे ग़ैरतमन्द, पहिले तुझे यहाँ नहीं आना चाहिए था ? अच्छा अब बता, क्या-क्या बातें हुईं ?

कमल : यार, क्या बताऊँ, बातें कुछ हुईं भी और नहीं भी हुईं। कुछ तो परिस्थितियों की विवशता और कुछ वातावरण के दबाव के कारण खुलकर बातें नहीं हो पायीं। हाँ, मगर ख़ातिर-तवाजह बहुत की....

सतीश : निष्कर्ष मैं अपने-आप निकाल लूंगा। आप शराफ़त के साथ मुझे पूरी बात बता डालिए।

कमल : भई, हुआ यह कि सामान वेटिंग-रूम में रखकर सीधा मैं उसके यहाँ गया, ताकि यहाँ आकर पहली बार जब तुमसे मिलूँ तो तुम्हें ये ख़ुशख़बरी दे सकूँ कि अपर्णा बदली नहीं—उसके घर पहुँचा तो सबसे पहले उसके पति सेठ मनोहरलाल से ही मुलाक़ात हुई....

(फ्लैश बैक)

सेठ : अच्छा मिस्टर कमल बैठिए, मेरा ख़याल है कि मैंने 'व्यापार' मासिक के जिस पोस्ट के लिए विज्ञापन दिया था, उसी के लिए आप आए हैं ...

कमल : जी नहीं, मैं तो अपने एक काम के सिलसिले में यहाँ आया था। सोचा, अपर्णाजी और आपके भी दर्शन करता चलूँ।

सेठ : अच्छा-अच्छा, आप अपर्णाजी से मिलने के लिए आए हैं। द्वारिका !....ओ

द्वारिका !

द्वारिका : (दूर से) जी साहब !

सेठ : ज़रा बीबी जी को तो भेजना । हूँ तो मिस्टर कमल, आप कहाँ से जानते हैं अपर्णा को ?

कमल : जी, कानपुर से ही । बस यों ही कविता लिखने का शौक़ है—कुछ इसी से जान-पहचान हो गई । उन्हें कुछ कविताएँ पसंद आईं. . . .

सेठ : अपर्णा को ?

कमल : जी हाँ । उन्हें यों भी कविताओं में बहुत रुचि है । लेकिन सौभाग्य से मेरी तो कई कविताएँ उन्हें याद भी हैं ?

अपर्णा : (आते हुए) आपने बुलाया था ।

सेठ : डार्लिंग, ये क्या सुन रहा हूँ मैं । तुम्हें कविताओं में दिलचस्पी है, ये तो तुमने कभी नहीं बताया । मैं समझता था ? तुम्हारी रुचि साड़ियों और फूलों तक ही है और अभी तुम उस दिन कह भी रही थीं कि कविताएँ. . . .

अपर्णा : पर मैंने इसमें ग़लत क्या कहा ?

सेठ : ये तो बताना ही भूल गया । देखो तो, ये कौन बैठे हैं । मिस्टर कमल तुमसे मिलने के लिए आए हैं ।

अपर्णा : ओह, आप ! (सँभलकर) नमस्ते ।

कमल : नमस्ते ।

सेठ : ये कह रहे थे कि तुम्हें कविताओं से बड़ी दिलचस्पी है और इनकी कई कविताएँ तुम्हें याद हैं ; पर तुमने कभी बताया भी नहीं ।

अपर्णा : (हँस कर) बताती तो तब जब दिलचस्पी क़ायम रहती । हाँ, कभी याद थीं कुछ कविताएँ । पर अब वे सब भूल - भाल गईं ।

सेठ : अच्छा तो तुम कविराज जी की ख़ातिर-तवाजह करो । मैंने वकील साहब को बुलवा रखा है । मैं ज़रा उनसे वो इनकम-टैक्स का केस डिसकस कर आऊँ ।

(कुछ क्षण के बाद)

कमल : बहुत बदल गई हो अपर्णा ? अब पहले से अधिक अच्छी लगने लगी हो ।

अपर्णा : आपका 'विहान' कैसा चल रहा है ?

कमल : तुम नहीं पढ़तीं ?

अपर्णा : कहाँ पढ़ पाती हूँ । घर के काम-काज से फ़ुरसत ही नहीं मिलती ।

कमल : अगर तुम पढ़तीं तो तुम्हें पता चलता कि मैंने इधर क्या-क्या लिखा है ? किन-किन मनस्थितियों से गुज़रा हूँ तुम्हारे जाने के बाद । ज़िंदगी के ये दिन कैसे बीते हैं ?

अपर्णा : द्वारिका ! ओ द्वारिका ! मोना से चाय के लिए बोल देना । जल्दी ।

कमल : तब से अब तक 'विहान' के हर अंक में मैंने अपनी कविता प्रकाशित की है । सिर्फ़ इसलिए कि तुम उसे ज़रूर

> पाठकों को प्रसन्न करने की कला में मराठी के एक सम्पादक सबसे आगे बढ़ गए हैं । उनके पत्र में प्रकाशित लेखों की आलोचना में पत्र लिखने वालों को वे एक पंक्ति का पत्र लिख देते हैं—
>
> "प्रिय महोदय (या महोदया), आप सही हो सकते (या सकती) हैं ।
>
> भवदीय——संपादक"

पढ़ोगी और तब तुम्हें मालूम होगा कि तुम मुझे कैसे रेगिस्तान में छोड़-कर चली आयी हो।

अपर्णा : द्वारिका! चाय के साथ कुछ नमकीन और मिठाई भी लेते आना।

कमल : तुम कहा करती थीं न कि तुम्हारी ज़िन्दगी को मैं रेगिस्तान नहीं होने दूँगी। तुमने जो स्थान अनायास ले लिया है, अब वह तुम्हारा है, केवल तुम्हारा है।

अपर्णा : आपकी कविताओं का कोई संग्रह निकला या नहीं ? आप....

कमल : हाँ, सोच रहा था कि तुम्हारी शादी के अवसर पर छपाकर तुम्हें वही संग्रह समर्पित कर दूँगा। पर कुछ तो साधनों की सीमा और कुछ परि-स्थितियाँ। हमेशा वो कहाँ होता है अपर्णा, जो आदमी सोचता है। तुमने मेरी कविता पढ़ी थी या नहीं ?

अपर्णा : कौन-सी कविता ?

कमल : वही 'विवश-विदाई' जो मैंने तुम्हारी विदाई के अवसर पर लिखी थी। सोचता रहा कि उसकी एक प्रति तुम्हें भेजूंगा। मगर तुमने तो अपना पता तक नहीं दिया। क्या एक बार भी तुम्हें मेरा ध्यान नहीं आया अपर्णा ? क्या एक बार भी तुमने ये नहीं सोचा कि तुम्हारे अतिरिक्त भी कोई व्यक्ति है, जो तुम्हारे लिए उतना ही सोचता है...

अपर्णा : (ज़ोर से) द्वारिका, कितनी देर लगा दी!

द्वारिका : (दूर से ही) जी अभी लाया।

कमल : चाय रहने दो अर्पणा। मैं तुमसे बातें करने के लिए, तुम्हें देखने के लिए आया हूँ। मेरा मन नहीं माना। तुम्हारे जाने के बाद से एक-एक दिन कैसा गुज़रा है, कह नहीं सकता। तुमने भी कभी ये बेचैनी महसूस की है?

अपर्णा : लीजिए, चाय आ गई! (द्वारिका से) अरे दो ही प्याले लाया, जा जल्दी से एक प्याला और ले आ। और सुन, बाहर सेठजी से कह दे कि अंदर चाय पर इंतजार हो रहा है।

(ट्रे रखने की आवाज़)

अपर्णा : आप कितनी शक्कर लेंगे ?

कमल : अब ये भी बताना पड़ेगा ?

अपर्णा : यूँ ही पूछा। आप तो एक चम्मच लेंगे न!

कमल : अब भी आदत नहीं बदली है। मैं शक्कर नहीं लूँगा।

सेठ : (**प्रवेश करते हुए**) अरे आप शक्कर लेते ही नहीं ?

कमल : (**हकलाकर**) जी—जी वो कभी.... कभी नहीं लेता।

सेठ : ये कभी-कभी वाली बात खूब है। कोई आदमी हमेशा फीकी चाय लेता है या नहीं लेता—ये बात समझ में आती है पर ये कभी-कभी वाली बात अजीब है। है न अपर्णा ?

अपर्णा : जी हाँ।

सेठ : तुम आज बहुत सुस्त नज़र आ रही हो। क्या बात है ?

अपर्णा : यूँ ही ज़रा सिर भारी-सा है।

सेठ : तो डाक्टर को फ़ोन किया होता। बड़ी बुरी बात है डार्लिंग! तुम अपना

बिलकुल ख़याल नहीं रखतीं ! अरे जितना मेरा ख़याल रखती हो उससे चौथाई भी अपना रखो तो कभी कोई गड़बड़ न हो।

अपर्णा : आप कब तक हैं कमल बाबू ?

कमल : जी मैं अभी दो-चार दिन तो हूँ।

अपर्णा : तब एक दिन खाने पर ज़रूर आइए।

कमल : नहीं-नहीं, इसकी क्या ज़रूरत है। वैसे मैं अभी यहाँ हूँ कुछ दिनों।

सेठ : आप कहाँ ठहरे हैं ?

कमल : जी एक दोस्त हैं, सतीश कुमार जायसवाल, इन्कम टैक्स आफीसर हैं, उन्हीं के साथ ठहरा हूँ।

सेठ : जी कुमार साहब के यहाँ ?

कमल : जी हाँ, अच्छा तो मुझे आज्ञा दीजिए फिर किसी दिन दर्शन करूँगा।

सेठ : अरे साहब, ऐसे कैसे जा सकते हैं ? बड़ा नाज़ुक रिश्ता है आपका हमारा तो। द्वारिका ! साहब को कुमार साहब की कोठी पर छोड़ आए – ड्राइवर से कह देना। अच्छा कमलजी, फिर...ज़रूर आइयगा ! हम दोनों को इन्तज़ार रहेगा! नमस्कार।

कमल : नमस्कार।

(फ्लैशबैक)

सतीश : भई कमल, सच्ची बात तो यह है कि तुम्हारे इन डायरुस से मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि वो तुम्हें टालने के चक्कर में थी और इसमें कोई बुराई भी नहीं है। आख़िर तुम्हीं सोचो कि शादी के बाद उसकी तुम्हारे प्रति सिन्सीयरिटी क्या अपने पति के प्रति विश्वासघात नहीं होती—इसलिए मैं तो इसके लिए अपर्णा या किसी एक लड़की को दोष नहीं देता। इस समस्या का सिवाय इसके कोई हल ही नहीं कि वह तुम्हें भूल जाये।

कमल : मगर तुमने यह कैसे मान लिया कि वह मुझे भूल गयी है।

सतीश : शरद के उपन्यासों की पात्र और आज की नारियाँ—दो अलग चीज़ें हैं कमल ! जिन्दगी को कविता में नहीं, ज़मीन पर रख कर देखो। मैं अपर्णा के व्यक्तित्व या चरित्र को कमज़ोर नहीं ठहराता, क्योंकि ये युग की एक सहज प्रक्रिया है– जिसमें एक व्यक्ति ही नहीं बल्कि पूरे समाज का मन और मस्तिष्क ढल रहा है। वैसे मैंने तुम्हारी ख़ामख़याली को दूर करने का इंतज़ाम कर दिया है, और एक-दो दिन में तुम्हें ख़ुद ही पता लग जायेगा।

कमल : वकीलों की तरह से तर्क देकर मेरे मन में संदेह क्यों पैदा कर रहे हो, मैं विश्वासों पर जीना चाहता हूँ सतीश !

सतीश : दोस्त, मैं तुम्हें ज़मीन पर रखना चाहता हूँ ताकि तुम कल्पनाओं के आसमान में बहुत ऊँचे न उड़ सको—और ताकि कल अगर तुम्हारा यह भ्रम टूटे, तो तुम ज्यादा ऊँचाई से पृथ्वी पर न गिरो।

(दृश्य परिवर्तन—टेलीफोन की घंटी)

स्टेनो : सर, कमल साहब का टेलीफ़ोन है।

अपर्णा : पूछो, कौन साहब हैं और क्या चाहते हैं ?

स्टेनो : साहब, सेठ मनोहरलाल का टेलीफ़ोन है वे आपको और कमल बाबू को शाम

के खाने पर निमंत्रित करना चाहते हैं।

सतीश : क्या मनोहरलाल पर वे 'आर्डर्स' 'सर्व' हो गए जो परसों मैंने तुम्हें डिक्टेट कराए थे ?

स्टेनो : जी हाँ, उनकी तो परसों तारीख़ भी है।

सतीश : तो सेठ जी से कह दो कि कमल साहब आज शाम की गाड़ी से घर जा रहे हैं और साहब उन्हें छोड़ने स्टेशन जाएँगे, इसलिए माफ़ करें !

कमल : मगर मैं तो आज नहीं जा रहा और इतन प्रेम से कोई बुलाता है तो मना नहीं करनी....

सतीश : तुम चुपचाप बैठे देखते रहो कमल !

स्टेनो : कह दिया सर।

सतीश : अब तुम जा सकते हो और इस केस की फ़ाइल मेरी मेज़ पर रखते जाना।

स्टेनो : ओ-के सर।

सतीश : प्यारे भाई, तुम सोचते होगे, अच्छा दोस्त है, आज शाम को ही टालने लगा। मगर प्यारे भाई, ऐसी बात नहीं है। खैर, जब तक काफ़ी आये तब तक अपना वह गीत सुना दो.. मुझ तक सीमित नहीं रहेगी ये बेचैनी ये लाचारी, थोड़े दिन पश्चात् तुम्हें भी वातावरण लगेगा भारी।

कमल : यार सतीश, मन सचमुच बहुत भारी है, अगर अन्यथा न लो तो थोड़ी देर चुपचाप बैठे रहो।

(थोड़ी देर का मौन)

चपरासी : साहब !

सतीश : क्या है, चाय-यहीं ले आओ... ओ, ये लिफ़ाफ़ा !

चपरासी : जी, सेठ साहब का ड्राइवर दे गया है।

कमल : अपर्णा का होगा—देखूं ?

सतीश : हाँ, अपर्णा का ही है, देखो।

कमल : नहीं, तुम्हीं सुनाओ। तुम कहते थे न, मन के कोण चार दिन में बदल जाते हैं।

सतीश : मुझे मालूम है, इस लिफ़ाफ़े का मज़मून क्या है ? इसलिए तुम्हीं पढ़ो।

कमल : (लिफ़ाफ़ा फाड़ता है और पढ़ता है)

प्रिय कमल जी,

आपके इतने सारे अहसान मुझ पर हैं कि इस जीवन में उनसे उऋण नहीं हो सकती। आपने कालेज-जीवन से लेकर अब तक हमेशा मेरी सहायता की है। आज भी मैं आपको एक कष्ट देने के लिए ही ये पत्र लिख रही हूं। आप शाम को जा रहे हैं वरना [illegible] आती। आपके मित्र कुमार साहब के यहाँ हमारा एक इन्कम-टैक्स का मुक़दमा है जिसकी परसों तारीख़ है। अगर वो केस हमारे ख़िलाफ़ हो गया तो हमारा लाखों का नुक़सान हो जायेगा। मैं जानती हूँ, कुमार साहब आपके पुराने मित्र हैं और आपकी बात नहीं टाल सकते। आशा ही, नहीं मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरी इस प्रार्थना को आप ठुकरायेंगे नहीं। मैं इस कृपा के लिए सदैव आपकी आभारी रहूँगी।

सादर—अपर्णा

सतीश : हूँ, सुन लिया खत ! तो क्या कहते हो कमल ?

कमल : मैं कह ही क्या सकता हूँ सतीश ! मुझे तो लगता है जैसे किसी ने सैकड़ों मील की ऊँचाई से उठाकर मुझे कठोर नंगी चट्टान पर पटक दिया है। मेरे सारे सपने चूर-चूर हो गए हैं। आज शाम की गाड़ी से मैं जा रहा हूँ सतीश ! तुमसे हो सके तो उसका काम कर देना।

(समाप्ति-सूचक संगीत)

●

बायरन और नारी

अंग्रेज़ी साहित्य के विख्यात कवि, अहम्-ग्रस्त बायरन समस्त नारी-जाति को खेल का साधन समझते थे। उनके कथनानुसार : "प्यार-व्यार सब बकवास है। झूठा जाल है। मैं पचास रमणियों को एक साथ बहला सकता हूँ।" नारी इनके लिए जी बहलाने का साधन थी। एक से ऊब गए तो दूसरी पर झुक गए। शैतान-सा आकर्षण भी तो था इस मोहक पाखंडी में। पर यही बायरन लिख रहे हैं, अपनी बहिन को : "यदि मैंने तुम्हारे पत्र का उत्तर शीघ्र नहीं दिया तो यह न समझना कि स्नेह में न्यूनता आ गई है। मुझमें स्वाभाविक दब्बूपन है। मैं तुम्हारी कृपा के भार तले झुक गया हूँ। तुम मेरी बहिन ही नहीं हो, सबसे निकट मित्र भी हो। मेरे बहुत क़रीब हो। कैसे तुम्हें प्रसन्न रखूँ ? तुम्हारे कुछ काम आ सकूँ ? एक भाई में विश्वास रखो, प्रिय, मैं कभी तुम्हें विचलित न होने दूँगा। जो तुम्हें प्रिय है, वह मुझे भी प्रिय है क्योंकि मैं 'तुम' जो हूँ...."

कई लोग सोचते हैं कि फ्रायड के अनुसार बायरन अपनी वृत्तियों का आरोप भगिनी-स्नेह पर कर रहे हैं। पुष्टि के लिए बहिन के नाम लिखा उनका एक पत्र और प्रस्तुत किया जाता है : "एक तुम ही ऐसी हो, जो मेरी भगिनी हो, मित्र हो। यदि तुम भी मुझे छोड़ दोगी तो.... तुम चाहती हो कि मैं तुम्हारे पत्रों को जला दूँ ? नहीं ! नहीं ! नहीं ! ऐसा नहीं हो सकता ! मैं इन्हें छुपाके रखूँगा, दिल में...."

मन के कोण : दुष्यन्त कुमार

ज्ञानोदय के 'पत्र विशेषांक' में आपने सन्दीपन चट्टोपाध्याय द्वारा प्रस्तुत आधुनिक बंगला कविता पर एक विचारोत्तेजक लेख पढ़ा था, उसी लेखक द्वारा प्रस्तुत यहाँ दूसरा लेख पढ़ें अति "आधुनिक बंगला कथा-साहित्य' पर।

साहित्य के इतिहास में ऐसा भी समय आता रहता है जब नयी साहित्य-भाषा की आवश्कता आ पड़ती है। यूरोप में यह आवश्यकता उन्नीसवीं शताब्दी के अपराह्न काल में आ पड़ी थी, उसी समय सुरियलिस्ट-आन्दोलन ने जन्म लिया था। उन देशों में यही अन्तिम प्रबल आन्दोलन हुआ, एवं आज तक के साहित्य के इतिहास में यही सबसे बड़ा आन्दोलन कहा जाता है, इतना बड़ा कि, बाद में अनेक कवि-साहित्यकारों द्वारा इसकी रूप-विभिन्नता स्वीकार करने पर भी, मौलिक रूप से इससे बढ़कर साहित्य के सम्बन्ध में और क्या विचार हो सकता है, इसकी धारणा नहीं की जा सकती। अतः साहित्य में आधुनिकता की बात १०० वर्ष पुरानी है।

वीसवीं शताब्दी के ३० के दशक में, बँगला कविता को वही काव्य-भाषा मिली, जब से उसे आधुनिक कविता कहकर माना गया। इसी समय से जीवनानन्द दास, विष्णु दे, सुधीन्द्र नाथ दत्त, बुद्धदेव बसु, संजय भट्टाचार्य आदि प्रमुख कवियों ने लिखना आरम्भ किया। खासकर जीवनानन्द दास ने तो बँगला-कविता के लिए सम्पूर्ण अप्रत्याशित भाषा में कविताएँ लिखनी शुरू कीं। क्या आज आधुनिक काव्य-भाषा को छोड़ पुरानी काव्य-भाषा में बँगला-कविता रची जा सकती है? नहीं रची जा सकती। तभी तो 'कविशेखर गण' अब और कविता नहीं लिख पाते, तुकबन्दी करते हैं। 'गीतांजलि', 'महुआ', 'शेष सप्तक' हो या 'सोनार तरी'---रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ये सब प्रसिद्ध पुस्तकें किसी अन्य व्यक्ति के नाम से फिर छापी जा सकती हैं---क्या यह बात कोई कवि या काव्य-पिपासु अब

बँगला के अति आधुनिक कथाकार

भी सोच सकता हूँ ? आशा करता हूँ—नहीं। इसलिए कि उन सब ग्रन्थों की भाषा आधुनिक नहीं है, वे सब आधुनिक कविता नहीं हैं। अगर डॉ० अमुक या अमर अध्यापक तमुक को ये बातें अच्छी नहीं भी लग सकती हैं, मन में वे सोच सकते हैं कि यह सब Sacrilege है, (क्योंकि जब तक रवीन्द्रनाथ जगन्नाथ बने हुए हैं, वे सब भी तब तक पण्डा बने ही रहेंगे,) किन्तु बात सच है।

खैर, जिस अर्थ में अभी बँगला कविता की डिक्टेटर की भाँति एक रवीन्द्र-परवर्ती आधुनिक काव्य-भाषा है, उसी अर्थ में हमारे पूर्ववर्ती गद्य-साहित्य की, यानी कहानी और उपन्यास की, रवीन्द्रनाथ के बाद कोई आधुनिक साहित्य-भाषा है क्या ? ३० के दशक के अग्रज कथाकारगण, जो शारीरिक रूप में बचे होने के कारण ही आज भी लिखते जा रहे हैं, (वस्तुतः आज हम सब यह जान गए हैं कि मृत्यु के एक दिन पहले तक ये लिखते ही जायेंगे और कभी दूसरा व्यवसाय नहीं अपनाएँगे), उनमें बुद्धदेव बसु के कहानी-उपन्यास को छोड़ क्या और किसी भी व्यक्ति की सारी रचनाओं में कोई आधुनिक साहित्य-भाषा है ? ३० के युग में विद्वान कवियों के लिए आज बंगाल में कविता कहने से जिस तरह सब कुछ समझ लिया जाता है, आधुनिक कहानी या आधुनिक उपन्यास कहने से उस तरह की कोई बात सामने नहीं आती। हालाँकि कविता में जिस तरह एकमात्र जीवनानन्द दास हैं, बँगला गद्य पर शासन करने के लिए एक ही और अद्वितीय रक्तचक्षु मानिक बन्धोपाध्याय आगे बढ़े थे। जीवनानन्द दास के साथ-साथ, उन दिनों उन्होंने बँगला साहित्य के लिए बिल्कुल अप्रत्याशित एवं सम्पूर्ण परम्परा-विरोधी भाषा में कहानी-उपन्यास लिखना शुरू किया। रवीन्द्रनाथ का 'गोरा' या शरदचन्द्र का 'गृहदाह' नहीं, ताराशंकर का 'हासुलि बाँकेर उपकथा' तो नहीं ही—मानिक बन्धोपाध्याय का 'पुतुल नाचेर इतिकथा' ही बँगला साहित्य का 'मास्टरपीस' है। जेम्स ज्वायस ने अनेक बार गर्व के साथ कहा था, "अगर कभी डबलिन को ध्वंस किया गया तो मेरे 'युलिसिस' से अविकल एक नया डबलिन तैयार किया जायेगा।" "यदि बँगला साहित्य किसी दिन विलुप्त हो गया, "हम लोग बंगाल में यह बात गर्व - पूर्वक कहते हैं, "तो 'पुतुल नाचेर इतिकथा' से बँगला साहित्य का पुनर्जन्म होगा।"

किन्तु, जो कुछ भी हो, यूरोप में आधुनिक साहित्य के प्रारम्भ होने के प्रायः १०० वर्ष बाद बँगला साहित्य में वही पुरानी आधुनिकता आयी थी। परम्परा-विरोधी एवं सम्पूर्ण अप्रत्याशित, दोनों ही आधुनिक साहित्य-भाषा के लेखकों ने साथ-साथ ही कविता और गद्य रचनाएँ लिखनी शुरू की थीं। एक साथ ही !

किन्तु इस आश्चर्यपूर्ण संयोग के बावजूद, दुख की बात है कि, जीवनानन्द दास के सम-कालीन अन्यान्य सचेत कवियों के लिए उसके बाद से बँगला कविता ने तो 'आधुनिक कविता' की संज्ञा धारण कर अपना जाति-धर्म बदल डाला, लेकिन मानिक बन्धोपाध्याय के चारों ओर शरदचन्द्र के वंशधरों, शिल्प चेतना-हीन अशिक्षित गद्य-लेखकों की भीड़ जुटी रही—यूरोप में आधुनिकता आने के १००

वर्षों बाद भी बँगला उपन्यास अपना जाति-परिवर्तन नहीं कर सका। इन्क्वायरी कमिटी के सामने ट्राम-ड्राइवर ने अपनी सफ़ाई में कहा था कि उसने बार-बार घण्टी बजायी थी, जीवनानन्द सुन नहीं पाये; वे मार्निंग-वाक लिए निकले थे। इसीलिए ट्राम दँतैले मगर की तरह उनके शरीर को दूर तक घसीटता ले गया। आह, उनके शरीर के हाड़-पंजर को चड़-चड़कर चूर-चूर कर डाला। भारतवर्ष के सबसे अधिक sensual कवि, उस भोर में, बहरे हो गए थे। किन्तु मानिक बन्धोपाध्याय अस्तित्ववादी लेखक थे, हृदय को सिंहासन से खींच-उतारकर मस्तिष्क को उस सिंहासन पर बिठा दिया था—मस्तिष्क ! मस्तिष्क ! मनुष्य का अपरित्याज्य शत्रु ! इसीलिए उनकी मृत्यु आकस्मिक नहीं हो पाई। लिवर में सिरोसिस रहते मद्यपान किया, मद्यपान करते-करते रणक्षेत्र में प्रत्यक्त एकाकी वीर की भाँति, उन्होंने आत्महत्या कर ली।

खैर छोड़िये जो कह रहा था। पचास के दशक में इमैजिनेटिव साहित्य के लक्षण पुनः दिखाई पड़ने लगे : ज्योतिन्द्र नन्दी और विमल कर ने कहानियाँ लिखीं, शान्तिरंजन बन्धोपाध्याय 'निष्ठुरता' को लेकर प्रयोग करने लगे। असीम राय ने एक के बाद एक, तीन उपन्यास लिख डाले—'एइ कालेर कथा', 'द्वितीय जन्म' एवं 'गोपाल देव'। अमिय भूषण मजुमदार ने 'एपिक' लिखने की चेष्टा की। किन्तु फिर भी शिल्प-सम्बन्धी असचेत लेखकों की ही भीड़ घेरे रही—विमल मित्र, अवधूत, शंकर, नीहार गुप्त आदि। समरेश बसु आदि कुछ प्रमुख लेखक सामने आए, जिनकी रचनाएँ काफ़ी सुपाठ्य [illegible] कभी-कभी सुन्दर कहानी या उपन्यास [illegible] लिखे, किन्तु यह सब आधुनिक साहि[illegible] था। अन्त में १९५९ साल में [illegible] अप्रसिद्ध पत्रिका के पूजा-विशेषांक में [illegible] कुमार मजुमदार का छोटा [illegible] 'अन्तर्जली यात्रा' प्रकाशित हुआ। [illegible] लेखक अब बंगला साहित्य के [illegible] हैं, काफ़ी हाउस वाले तरुण लेखकों [illegible] लेकर आलोचना का अन्त नहीं। [illegible] अन्नपूर्णा' नामक कहानी-संग्रह के अलावा [illegible] में उनका 'अन्तर्जली यात्रा' नामक उपन्या[illegible] इस तरह पुस्तकाकार निकला कि सहसा [illegible] पर वह धर्मग्रन्थ प्रतीत होता है।

●

प्रायः साथ-साथ ही यानी इसी [illegible] में, बँगला साहित्य, बहुत दिनों बाद [illegible] मुखरित हो उठा, तरुण लेखकों के ए[illegible] को लेकर—जिनकी कहानियों को आतं[illegible] गए 'नयी कहानी' कहकर मज़ाक उड़ा[illegible] यद्यपि उपन्यास की अपेक्षा कमल[illegible] मजुमदार की कहानियाँ ही असमान[illegible] (मुझे सचमुच लगता है, सिर्फ़ टामस म[illegible] 'डेथ इन वेनिस' ही उनकी कहानी '[illegible] सुन्दरी' की एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी कही [illegible] सकती है) फिर भी नयी कहानी लिखने [illegible] पर उनका कोई भी प्रभाव नहीं [illegible] बल्कि विमल कर और ज्योतिरिन्द्र [illegible] को ही इन लोगों का 'पाइयोनियर' [illegible] पड़ेगा। १९६१ में मेरा कहानी[illegible] 'क्रीतदास-क्रीतदासी' प्रकाशित हुआ, [illegible] नाथ बन्धोपाध्याय का 'चर्यापद की [illegible] भी इसी समय प्रकाशित हुआ, यह भी [illegible]

संग्रह है। दो एक नए ढंग के उपन्यास भी निकले जिनमें श्यामल गंगोपाध्याय का 'वृहन्नला' और दिव्येन्दु पालित का 'से दिन चैत्र मास' उल्लेखनीय हैं, फिर भी कहानियों के कारण ही कमोबेश उत्तेजना पैदा हुई। लिटिल मैगज़िनों में अनेक नयी कहानियाँ एवं उनके सम्बन्ध में आलोचनाएँ प्रकाशित होती रहीं। कमर्शियल पत्रिकाएँ भी इनसे हाथ नहीं छुड़ा सकीं--तथाकथित प्रतिष्ठित एवं बँगला देश की सर्वाधिक प्रचारित साप्ताहिक पत्रिका 'देश' में भी अनेक नयी कहानियाँ छपीं एवं अब भी छप रही हैं। नयी कहानियों के सम्बन्ध में देश में पचासों पत्र भी छपे थे।

नयी कहानी की प्रियता घट नहीं रही है, बढ़ रही है। अब तो नयी कहानी अपने पैरों पर खड़ी हो चुकी है। इन दिनों कोई उल्लेखयोग्य समालोचक नहीं दिखाई पड़ा, कुछ नए समालोचकों की अत्यन्त आवश्यकता थी, परिणामस्वरूप विचारे अभावग्रस्त कथाकारों को स्वयं ही समालोचकों की भी भूमिका निभानी पड़ी। इस बारे में अति-आधुनिक कविगण भी उत्साहित हो पड़े थे। नयी कहानी का समर्थन करने के उद्देश्य से तरुण कवियों की 'कृत्तिवास' नामक अप्रतिद्वन्द्वी पत्रिका ने उसी नाम से कहानी-अंक निकाला। कमलकुमार मजुमदार की 'फौजी बन्दूक' इसी अंक में छपी थी। फिर कुछ दिनों बाद, नयी कहानी लिखने वाले १८ लेखकों की कहानियों का संकलन 'एई दशकेर गल्प' के नाम से निकला। सम्पादन किया विमल कर ने। १९६१-६२ में बँगाल में यही पुस्तक सबसे अधिक अलोचना का विषय बनी।

●

साहित्य के ३० का दशक साधारणतः 'कल्लोल-युग' के नाम से पुकारा जाता है, कारण इन्हीं दिनों 'कल्लोल' पत्रिका को ही केन्द्रित कर साहित्य - आन्दोलन दृढ़ होता रहा था। इसी समय से ताराशंकर बन्धोपाध्याय, मानिक बन्धोपाध्याय, विभूतिभूषण बन्धोपाध्याय, बुद्धदेव बसु, अचिन्त्य कुमार सेनगुप्त, प्रेमेन्द्र मित्र, संजय भट्टाचार्य, प्रबोध सान्याल आदि प्रमुख लेखकों ने लिखना शुरू किया था। कल्लोल-काल के बाद, बँगला-कहानी में अब फिर काफ़ी चंचलता दिखाई पड़ रही है, कहना ही पड़ेगा। उस दिन ४० के दशक के एक लेखक मुझसे कह रहे थे कि उन लोगों के किसी भी लेखक को हम लोगों की तरह इस प्रकार आलोचित होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। इसलिए नहीं हुआ क्योंकि दो-एक को छोड़कर बाक़ी लेखक बिचारे केवल लिखते भर चले गए, प्रकाशकों या पत्रिकाओं का व्यवसाय सँभालने के सिवाय उन्होंने और कुछ नहीं किया , मैं नारायण गंगोपाध्याय या सुबोध घोष से लेकर समरेश बसु या हरिनारायण चट्टोपाध्याय तक के लेखकों की बात कह रहा हूँ। उनके केवल पाठक और खरीदार थे, योग्यता न होने के कारण ही इन लोगों के लिए किसी नए समालोचक का आविर्भाव नहीं हो पाया। बँगला भाषा के अशिक्षित अध्यापकों द्वारा लिखा साहित्य-इतिहास के नए अध्याय में अपने को मात्र जुड़ा पाकर ही इन्हें सन्तुष्ट होना पड़ा। बीच-बीच में सम्पादित वार्षिक संकलनों में, कल्लोल-

युग के लेखकों के साथ किसी-किसी को एक ही पंक्ति में खाने का निमंत्रण प्राप्त हुआ है। शेयर मार्केट की तरह इनका भाव भी कभी उठता रहा है, कभी गिरता रहा है।

इसी कारण कल्लोल-युग की द्वितीय श्रेणी का साहित्य ही आज भी बँगला का आधुनिक साहित्य है, वस्तुतः साहित्यिक कहने से यहाँ इन लोगों का ही बोध होता है। प्रबोध, अचिन्त्य, प्रेमेन्द्र, विभूति मुखोपाध्याय वनफूल, शैलजानन्द—ये साहित्यिक हैं। मानिक बन्धोपाध्याय एवं ताराशंकर स्वतन्त्र रूप से चिन्हित है। ४० के दशक में हैं सतीनाथ भादुड़ी। ज्योतिरिन्द्र नन्दी, विमल कर, असीम राय एवं कमलकुमार मजुमदार—ये मुख्यतः ५० के दशक के लेखक हैं।

●

इस परिप्रेक्ष्य में अति आधुनिक कहानी-लेखकों से पाठक के रूप में मुझे किस चीज़ की प्रत्याशा है, यह अभी कहना कठिन है। नई कहानी के लक्षण अच्छी तरह निर्धारित होने के लिए कुछ समय का बीतना आवश्यक है। इसके बावजूद हर तरह के तत्व को अस्वीकार करते हुए ही यह कहा जा सकता है कि आधुनिकता से सबसे पहले यह आशा तो है ही कि वह पुराने को अस्वीकार करेगी। यह अस्वीकृति अत्यन्त गौरवपूर्ण है। पूर्ववर्ती लेखकों के लिए यह बात चाहे कितना ही कष्टप्रद क्यों न हो, इस अस्वीकृति की भूमि पर ही अति-आधुनिक बँगला-कहानी-लेखक खड़े हैं।

थोड़े सोच-विचार के बाद कुछ और बातें भी कही जा सकती हैं। जैसे, यह हमारे पूर्ववर्ती साहित्य की अकृतार्थता है कि उसके बीच में ऐक्य है, जीवन है और है ... उसके अर्थ भी हैं। हालाँकि सच्ची बात यह है कि जीवन में कोई ऐक्य नहीं है, ... के कोई निर्दिष्ट अर्थ नहीं, स्टाइल ... एकमात्र शिल्प का ही स्टाइल है ... कहिए कि स्टाइल ही शिल्प है। ... इज़ आर्ट।

जीवन के कोई अर्थ नहीं, फिर भी ... जीवन जीवित मस्तिष्क की भाँति घूम ... है, हृदय के चारों ओर घूम-मँड़रा रहा ... मस्तिष्क के चारों ओर घूम-मँडरा रहा है ... आशा है कि जीवन को अब और आइडियलाइज़ करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, अकेले ... नाथ ने ही आयडियलाइज़ कर-करके ... बजा दिया है। अब और ज़रूरत नहीं ... मनुष्य के जीवन में आदर्शवाद कभी था ... कोई भी आदर्श नहीं है, कोई चीज़ ... करने की नहीं। मनुष्य के आगे ... कोई भी विशेषण नहीं जोड़ा जाता। ... होकर मनुष्य का कुछ उपकार किया ... सकता है, यह हम्बगिज्म अब समाप्त हो ... है; उनके प्रति अन्तिम धन्यवाद भी ... किया जा चुका है। पराधीन जातियों ... कन्धों पर भले ही दायित्व हो, हमें अपने ... के लिए सिर्फ़ काम करने के ... और कुछ करने को नहीं, कोई बोध ... सभी देश में पचास प्रतिशत लोग ... नहीं देते। उनके लिए आधुनिक ... का प्रयोजन है।

धर्म-अधर्म विहीन इस जीवन को ... करते-करते साहित्य अब लेखक की ... गत चीज़ बन गया है, लेखक अपनी ... में स्वयं उपस्थित रहता है, Talc ...

पूर्ववर्ती साहित्य की तुलना में अति-आधुनिक कहानियों में मैं इस स्वातंत्र्य की अधिक आशा कर उसे पढ़ने को तैयार होता हूँ। वस्तुत: आधुनिक साहित्य का एक लक्षण यह भी निश्चित है कि बाहर - भीतर दोनों ही में वह लेखक की इन्पर्सनल आत्मकथा होता है। आधुनिक शिल्पमात्र, अन्त तक, लेखक की अपनी व्यक्तिगत दुनिया में आत्मक्रीड़ा के सिवा और कुछ नहीं।

कुछ लोगों को आशंका है कि नयी कहानी कहने से मुख्यत: भिन्न प्रकार के रचना - कौशल मात्र का बोध होता है, जो देखकर ही पहचाना जा सकता है। कहना न होगा कि कुछ फुट-नोट, डैश, बोल्ड टाइप विरामचिन्ह - हीन लम्बा विशाल पारा या १ (क), २ (ख) अथवा ३ (ग) इस प्रकार विभाजित करने मात्र से ही नई कहानी नहीं बनती, कहानी की विषय-वस्तु (theme) बंगला साहित्य के पक्ष में सम्पूर्ण अप्रत्याशित एवं अभूतपूर्व होने के कारण ही वह नयी कहानी कही गयी है। इसकी जाति ही दूसरी है। और चूंकि इसकी विषय-वस्तु ही बिलकुल नयी होती है, इसलिए अति आधुनिक लेखक व्यवहृत भाषा अथवा कहानी कहने के प्रचलित नियम को सदैव नहीं मानते--मानना सम्भव नहीं है। बहुतों ने बहुत-कुछ ट्रैडिशन को मानते हुए नयी विषय-वस्तु पर कहानियाँ लिखी हैं, जैसे श्यामल गंगोपाध्याय, मति नन्दी एवं दिव्येन्दु पालित। दूसरी ओर दीपेन वन्धोपाध्याय, देवेश राय, स्मरजित वन्धोपाध्याय या शंकर चट्टोपाध्याय बिल्कुल न लिख सके। मैं भी ट्रैडिशन को न मान सका। हम लोगों के लिखने का विषय एक-दूसरे-से सर्वथा भिन्न है, हमारी साहित्य-भाषा (diction) भी भिन्न-भिन्न है। कहानी के साथ नाम न भी हो तो हमारी अलग-अलग विषय-वस्तु एवं स्वतंत्र साहित्य-भाषा होने के कारण एक नज़र में ही वह पहचानी जा सकती है। जैसे जिस युवक के बारे में मैंने लिखा है, मेरी सारी कहानियों में ही उसका नाम 'विजन' है। उसे लेकर लिखी गयी पहली कहानी का नाम है 'विजन-का रक्तमांस'। उसी विजन को लेकर मैं अब भी लिखता जा रहा हूँ। श्यामल, अपनी 'वृहन्नला' कहानी की सुधा और प्रमथ के नाम बदल कर कहानी - उपन्यास लिख रहा है--जिस प्रमथ को सुधा का प्रथम बार चुम्बन करने पर वैसा नहीं लगता जैसा लगना चाहिए था, एवं उसके बाद ही बाथ-रूम में जाकर उसने वमन किया था। वस्तुत: भाषा का नूतनत्व, शब्द के कारण (cause) एवं क्रिया (effect) के सम्बन्ध में सचेतनता, अथवा कहानी कहने में ट्रैडिशन की वर्जना--विषय-वस्तु (theme) के कारण ही नयी कहानी के लिए अनिवार्य हो पड़े हैं।

●

हमारे अति आधुनिक लेखक-सम्प्रदाय के लिए वहन करने को कोई साहित्य-परम्परा नहीं थी। हमारे अति आधुनिक कथाकारों के सामने, अति-आधुनिक कवियों की भाँति ३० के युग के अनुसरण योग्य कोई काव्य-आन्दोलन नहीं था, जो हमारे अग्रज हैं, वे कल्लोल-युग की उपज हैं। वर्तमान बँगला के प्रायः सभी लेखकों में साहित्य-शिक्षा के नाम पर कुछ नहीं है, इस प्रकार का निम्न साहित्य इतने

दीर्घ काल से और किसी भी देश में टिका हुआ है या नहीं, इसमें सन्देह है, हमारे बंगाल में कभी भी न था। यह हालत कब तक रहेगी ? बहुत दिनों तक रहेगी, चिर-काल तक रहेगी ! कारण हज़ार-हज़ार मैंट्रिकुलेटों की संख्या बढ़ रही है--भिलाई, राउरकेला, दुर्गापुर आदि के लिटरेट... को पापुलर लेखकों की ज़रूरत है।... लेखकों के पास कोई भी महफ़िल करने... लिए चन्दा माँगने पहुँच सकता है।... एवं इमैजिनेटिव--इन दो वर्गों में तो... यूरोपीय साहित्य भी बँटा हुआ है।

●

एक बधाई : एक विचार

सबसे छोटा क्रिसमस-कार्ड १९२९ में ड्यूक ऑफ विण्डसर को भेजा गया था--उन दिनों वे 'प्रिंस आफ वेल्स' थे।

यह चावल का एक दाना था जिस पर भारतीय स्याही से (अँग्रेज़ी में) लिखा था :

हिज़ रायल हाइनेस, प्रिन्स आफ वेल्स के लिए--क्रिसमस की हार्दिक बधाई --जोसेफ़ जी० जीलौट पेन कं०, लण्डन, इंगलैण्ड की ओर से।

चावल के इस दाने को एक बहुत छोटे कार्ड पर लगा दिया गया था।

●

अपनी जवानी के दिनों में प्युटार्क के इस कथन पर कि प्लेटो ने ८०... की उम्र में ग्रीक-भाषा सीखनी शुरू की थी, आश्चर्य किया करता था।

पर अब मुझे इस कथन पर कतई आश्चर्य नहीं होता। बुढ़ापा उन... कार्यों को वहन करने को तैयार रहता है जिनसे जवानी इसलिए जी चुराती है कि उनके करने में अधिक समय की आवश्यकता पड़ती है।

--सामरसेट...
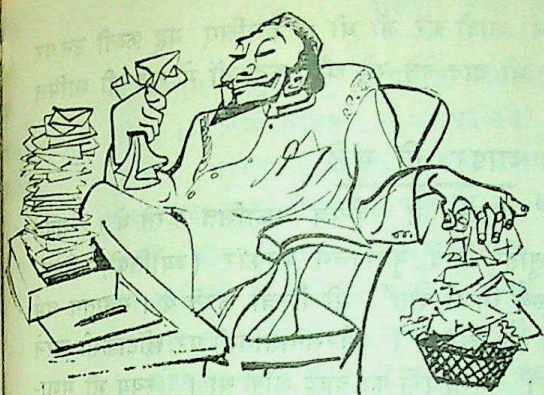
अयोध्याप्रसाद गोयलीय

उर्दू काव्य के मर्मज्ञ श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय द्वारा प्रस्तुत-स्तम्भ—जिसमें उस्तादों की क़लम का जादू, कलाम के चमत्कार, साहित्यकारों के रोचक प्रसंग, नहलों की फुहार पर दहलों की बौछार, गुदगुदाने वाले शेर, झकझोरने वाले व्यंग्य पेश किये जाते हैं।

शौहर उपनाम

ख़िलाफ़त - आन्दोलन के ख्यातिप्राप्त नेता मौलाना शौक़तअली शिमले के एक बड़े मुशाअरे में सम्मिलित हुए तो उन्होंने ग़ज़ल पढ़ने से पूर्व अपने वंश की शाइराना अभिरुचि का उल्लेख करते हुए कहा, "मेरे बड़े भाई मौलाना जुल्फ़क़ार अली 'गौहर' मिर्ज़ा दाग़ के शागिर्द और नामवर शाइर हैं। मेरे छोटे भाई मौलाना मुहम्मद अली 'जौहर' से कौन वाक़िफ़ नहीं ? और मैं ...."

मौलाना और कुछ कहें कि श्रोताओं में से किसी ने बुलन्द आवाज़ में कहा, "शौहर !"

कितना मौज़ूँ और चुस्त तख़ल्लुस (उपनाम) अता हुआ है मौलाना को ? और वह भी गौहर, जौहर का हमकाफ़िया। तख़ल्लुस सुनकर मुशाअरा-हॉल तालियों और क़हक़हों से गूँज उठा। मौलाना के छोटे भाई मुहम्मद अली की मृत्यु हो चुकी थी; और उनकी मृत्यु के बाद बुढ़ापे में मौ० शौक़त अली ने किसी

सुनिये, शायद पसन्द आये !

अमरीकन लेडी से उन्हीं दिनों शादी कर ली थी। इसलिए यह फ़ब्ती उन पर ख़ूब चस्पाँ हुई। मौलाना भी दाद देते रहे और क़हक़हों में ख़ुद भी शामिल हो गये।

शाइर की मूंछें

मुंशी राजनारायण 'अरमान' दिल्ली से उर्दू-पत्र प्रकाशित करते थे। अपने नाम के साथ 'षट् शास्त्री, तूतिए-हिन्द, मुनज्जिम जफ़्फ़ार (ज्योतिषी, भविष्य-ज्ञाता), जानशीन फ़सीहुल्मुल्क मिर्ज़ा दाग़' भी लिखा करते थे। सनातन धर्म के जलसों में अक्सर भाषण देने जाते थे। ग़ैरसनातनियों पर छींटाकशी करने में उन्हें बहुत लुत्फ़ आता था। मुशाअरों का बेहद शौक़ था। स्वयं भी मुशाअरों का पाक्षिक या मासिक आयोजन करते थे और दूसरों के मुशाअरों में भी सहर्ष जाते थे। जल्सों और मुशाअरों के अध्यक्ष बनने की लालसा बीमारी का रूप ले चुकी थी। १९२१ से १९२४ तक उन्हें दिल्ली के अनेक मुशाअरों में देखने का हमें भी इत्तफ़ाक़ हुआ है। चूड़ीदार पायजामा और काली शेरवानी, भारी भरकम जिस्म पर पहने होते थे। गोल-मटोल चेहरे पर बड़ी-बड़ी घनेरी मूँछें रखते थे। नाक की फ़ुनगी पर चश्मा सरकाकर मुंशियाना अन्दाज़ से कभी-कभी इस तरह घूरते थे कि देखकर ख़ौफ़ मालूम होता था।

इन्हीं से सम्बन्धित घटना का उल्लेख हज़रत 'अर्श' मलसियानी ने यूँ किया—अरमान साहब लाहौर में किसी कालेज के मुशाअरे की सदारत (अध्यक्षता) फ़र्मा रहे थे। ग़ज़ल पढ़ने को उठे, तो ख़ामोशी का आलम था। ग़ज़ल की ज़मीन थी—'दिलदार की आँखें बीमार की आँखें', शेर पढ़ते तो 'की' पर रुक जाते और 'आँखें' सामईन (उपस्थित समूह) के लिए छोड़ देते। कई शेर पढ़ने के बाद ज्यों ही उन्होंने 'दिलदार की' कहा और रुके ताकि लोग 'आँखें' कहें कि सामईन में से एक नौजवान उठा और बोला—'मूँछें'। अरमान साहब ने कहा, 'नहीं आँखें'। वह फिर बोला—'नहीं मूँछें'। दोनों में एक जंग छिड़ गई। चारों तरफ़ एक शोर बरपा हो गया। मुशाअरा दरहम-बरहम (छिन्न-भिन्न) हो गया मगर यह फ़ैसला न हो सका कि शेर 'आँखों' पर खत्म होता है या 'मूँछों' पर। दूसरे दिन अखबारों में इस वाक़ये का ज़िक्र हुआ। यार लोगों को शगूफ़ा मिल गया। एक नज़्म 'इंसान की मूँछें, शैतान की मूँछें' भी शाया (प्रकाशित) हुई। उसमें 'अरमान' का भी काफ़िया था। नज़्म का एक मिसरा तो हमें अभी तक याद है:

रावन के लबों पर है हनूमान की मूँछें।

उक्त दो लतीफ़े 'अर्श' मलसियानी द्वारा लिखित एवं उर्दू 'आजकल' में प्रकाशित लतीफ़ों के आधार पर लिखे गये हैं!

ग़लती हमीं से हुई

कन्हैयालाल 'कपूर' उर्दू के प्रसिद्ध व्यंग्य-लेखक हैं। आपके लेख बहुत चुटीले होते हैं। निजी व्यवहार में भी फ़ब्तियाँ कसने और चुटकियाँ लेने से नहीं चूकते। भारत-विभाजन से पूर्व आप लाहौर में डी. ए. वी. कॉलेज के प्रोफ़ेसर थे। 'स्टाफ़रूम' आपकी उपस्थिति में कहकहों से गूँज उठता था। आपके व्यंग्यों और परिहासों से खीजकर एक प्रोफ़ेसर ने आपको गालियाँ दीं तो आप संजीदगी से बोले--"प्रोफ़ेसर साहब ! हम तो आपको शरीफ़ समझते थे; आप तो गालियों पर उतर आए।"

प्रोफ़ेसर ने भी गुस्से की हालत में जवाब दिया, "हम भी आपको शरीफ़ समझते थे।"

कपूर साहब मुस्कराते हुए बोले--"आप तो ठीक ही समझे. ग़लती हमीं से हुई !"

कुरेंश साहब

कुरेंश साहब हिसार ज़िले के नामी वकील होने के साथ-साथ बा-मज़ाक और ज़िन्दादिल भी ख़ूब थे। हाज़िरजवाब ऐसे थे कि ज़िले में उनका जवाब नहीं। मगर कभी-कभी उन्हें भी लाजवाब करने वाले हज़रत मिल जाते थे।

एक बारात में कुरेंश साहब गये तो उसमें भाण्डों का भी आयोजन था। महफ़िल में भाण्डों ने अपना सब हुनर आज़मा डाला, मगर कुरेंश साहब ने उनका रंग जमने न दिया। महफ़िल में बैठे हुए बाराती कुरेंश साहब के लतीफ़ों, चुटकलों, बरजस्ता हाज़िरजवाबियों में रस ले रहे थे और बेचारे भाण्डों की तरफ़ तवज्जह नहीं दे रहे थे। बार-बार प्रयत्न करने पर भी भाण्ड जब अपना रंग नहीं जमा सके तो बेटे वाले के आगे हाथ जोड़कर बोले, "जब हुज़ूर, इन्हें लाना था तब हमारी ज़रूरत क्या थी ?"

जुमला भाण्डों ने कुछ इस अदा से कहा कि महफ़िल क़हक़हों से गँज उठी। और कुरेंश साहब पर घड़ों पानी पड़ गया।।

एक बार आपके पास एक इत्र-फ़रोश आया, उसके इत्रों के बहुत से नमूने देखने के बाद हिना पसन्द आया। भाव पूछने पर इत्र-फ़रोश ने एक शीशी के इत्र का भाव बारह रुपये और दूसरी शीशी के इत्र का मूल्य तीन रुपए तोला बतलाया।

कुरेंश साहब ने उसे छकाने की नीयत से शीशियों को देखते-परखते हुए बहुत सफ़ाई से इधर-उधर रख दिया। यानी बारह रुपए वाली शीशी तीन रुपए

वाले ख़ाने में और तीन वाली बारह रुपये भाव के ख़ाने में रख दी ग्रौर एक तोला इत्र, बारह रुपए तोले वाला, तीन रुपए में ख़रीद लिया।

इत्र-फ़रोश जब क़ीमत लेकर चलने लगा तो ग्रापने फ़रमाया—"मियाँ इत्र-फ़रोश साहब, इसी बिरते पर इत्र के माहिर बने फिरते हो! ग्रापको इत्र की इतनी शिनाख्त नहीं कि कौन-सा किस भाव का है। ख़ानों को देख कर इत्र का भाव कहते हो। हमने बारह रुपये वाली इत्र की शीशी को हेर-फेर करके तीन रुपये में ख़रीद लिया ग्रौर तुम्हें इल्म तक न हुग्रा?"

इत्र-फ़रोश हाथ बाँधकर बोला—"बेग्रदबी मुग्राफ़, यह तो हुज़ूर की दिलजमई की बात है। वरना मेरे पास तो दोनों शीशियाँ तीन रुपए तोले की हैं। गाहक को पटाने के लिए मुख्तलिफ़ दाम बता दिए जाते हैं। मैंने ग्रापके पारखी स्वभाव की बहुत तारीफ़ सुनी थी। इसीलिए हाज़िरी देने चला ग्राया। ग्राप जितना चाहें तीन रुपये में यही इत्र ग्रौर भी ले सकते हैं।"

कुरेंश साहब ग्रौर इत्र क्या ख़रीदते, उन्हें तो वही ख़रीदा हुग्रा इत्र मिट्टी के तेल से ज्यादा बदबूदार मालूम होने लगा।

क़िस्सा शेर का

मिर्ज़ा मुज़फ़्फ़र हुसेन साहब बारक़ एक मौक़े पर उस्ताद दाग़ देहलवी से फ़र्माने लगे कि ग्राप बड़ी ग्रासानी से शेर कह लेते हैं। मुझे तो शेर कहने में बड़ी तकलीफ़ होती है। पान बनवाकर दायें-बायें ख़ासदान रखता हूँ, चार-पाँच चिलमें हुक्के की भरी जाती हैं, पलँग पर लेटकर करवटें बदलता हूँ तो शेर कहता हूँ। यह सुनकर हँसते हुए 'दाग़' साहब ने फ़र्माया कि ग्राज मालूम हुग्रा कि तुम शेर नहीं कहते, बल्कि शेर जनते हो!

नाज़ुक मिज़ाजी

शेख़ ग़ुलाम क़ादिर 'ग़रामी' फ़ारसी के ग्रच्छे शाइर थे। सर इक़बाल ग्रौर हफ़ीज़ जालन्धरी जैसे ख्यातिप्राप्त शाइर ग्रपनी शाइरी की प्रारम्भिक ग्रवस्था में ग्रापसे मशवर-ए-सुख़न लेकर लाभान्वित हुए। ग्राप जालन्धर निवासी थे। किन्तु ग्राजीविका के लिए लाहौर, रामपुर, पटियाला ग्रादि के चक्कर काटकर हैदराबाद में शाइरे-ख़ास की हैसियत से रहे। ग्रापसे निज़ाम बहुत प्रसन्न रहते थे। वेतन ग्रौर पुरस्कार के ग्रतिरिक्त निज़ाम ने ग्रापकी शादी के ग्रवसर पर पाँच सेर सोने का उपहार प्रदान किया था।

निज़ाम के दरबार में सात शेर से ग्रधिक पढ़ने का नियम नहीं था। यदि निज़ाम पसंद फ़र्माते तो शाइर कलाम को जारी रखता, वर्ना ग्रपनी जगह बैठ

जाता। इसी नियम के अनुसार एक बार 'ग़रामी' ने क़सीदे के सात शेर सुनाए, इर्शाद होने पर आगे के सात शेर और पढ़े। तीसरी बार संकेत मिलने पर फिर सात शेर सुनाये। चौथी बार इर्शाद हुआ, तो आप झुँझलाकर पंजाबी में बोले, "ओ यार, छड, हुन खड़े-खड़े थक गया हूँ।" निज़ाम मुस्कराकर चुप हो गए।

आपकी नाज़ुक मिज़ाजी का एक वाक़या और सुनिए—एक मर्तबा सर इक़बाल ने अपने नौकर अलीबख्श को आपके यहाँ बुला लाने को भेजा, गर्मी का मौसम था। आज चलते हैं, कल चलते हैं, 'ग़रामी' इसी तरह चलते रहे और नौकर को एक महीना रोके रहे। नौकर के बहुत अनुनय-विनय करने पर किसी तरह चलने को प्रस्तुत हुए, परन्तु ताँगे पर बैठते ही नीचे उतर आए और नौकर से बोले, "जाओ, अल्लामा से कह देना, ताँगा गर्म हो गया था। मैं इंशाअल्लाह सर्दियों में हाज़िर होऊँगा।"

सर इक़बाल की दाढ़ी

सर इक़बाल सारी उम्र इस्लाम की प्रशंसा और मुसलमानों के हक़ में शाइरी करते रहे। परन्तु मुसलमानी रीति-रिवाज के अनुसार दाढ़ी नहीं रखते थे। एक मौलवी क़िस्म का मुसलमान उनके पास अक्सर अपने मुक़दमों के संबंध में आता रहता था। वह अपनी बहन को अपनी जायदाद के हक़ से महरूम करना चाहता था। सर इक़बाल इस तरह के मुक़दमों से कोई दिलचस्पी नहीं लेते थे। फिर भी वह कुछ सलाह-मशविरे के लिए वह आन टपकता था साथ ही मुसलमान होने के नाते सर इक़बाल को क्या-क्या फ़राइज़ अन्ज़ाम देना चाहिए—यह नसीहत भी देता रहता था। एक रोज़ बोला, "आप आलमे-दीन और शरीअते-हक़ के हामी हैं। लेकिन आप दाढ़ी नहीं रखते। जो एक इस्लामी शआर है।" सर इक़बाल इस मौलवीनुमा मवक्किल की नसीहत सुनते-सुनते ऊब चुके थे। तंग आकर फ़र्माया—"मौलवी साहब, आपकी तलक़ीन (नसीहत) का मुझ पर बहुत असर हुआ है और मैंने अहद (निश्चय) किया है कि आपके साथ एक मुआहदा करूँ। मुसलमान के चेहरे पर दाढ़ी न होना भी शरअन (मजहबन) एक नुक्स (दोष) और कोताही है। लेकिन अपनी बहन को विरासत से महरूम करने की कोशिश करना एक शदीद क़िस्म की माअसियत है (नीच मनोवृति) और शरिअत के ख़िलाफ़ है। लाइए हाथ बढ़ाइये, मैं दाढ़ी बढ़ाए लेता हूँ बशर्ते कि आप बहन को विरासत का हिस्सा दे दें।

मौलवी साहब इस अमली इम्तहान में नाकाम हो गए थे। न इनका हाथ आगे बढ़ा और न इक़बाल के चेहरे पर दाढ़ी बढ़ी।

हरामी आये

मौलाना वहीउद्दीन सलीम १८६७ ई० में पानीपत में पैदा हुए थे और २१ जुलाई १९२८ को उनकी मलीहाबाद में मृत्यु हुई। आप कभी बहावलपुर कालेज में उर्दू के प्रोफ़ेसर, कभी रामपुर स्टेट में हेड मौलवी, कभी सर सैयद के लिटरेरी-सेक्रेटरी और कभी अख़बारों के एडीटर बने। कभी प्रेस खोला, कभी बुकसेलर बने, पर क़िस्मत ने कहीं साथ नहीं दिया और ज़िन्दगी मुफ़लिसी और फ़ाक़ों में गुज़रती रही। पानीपत में मुसलिम हाई स्कूल की स्थापना होने पर उन्होंने अपनी इच्छा व्यक्त की कि उन्हें उर्दू-फ़ारसी पढ़ाने के लिए ३० रुपया माहवार पर रख लिया जाय। मगर सलीम साहब ३० रु० में भी मँहगे समझे गए। तब आपने तंज़न स्कूल पर कुछ अशआर लिखे जिनमें से एक शेर मुलाहिज़ा फ़र्माएँ :

कैसा बना मकाँ है, छत जिसकी आसमाँ है,
पत्थर पड़ेंगे इस पर अब आगरे से आकर।

आसमान को छत कहना और आगरे से आकर पत्थर पड़ने की बात में मौलाना ने जो व्यंग कसा है, वह तो अपनी जगह खूब है ही, साथ ही हक़ीक़त भी यही थी कि उस वक्त तक स्कूल की दीवारें खड़ी हुई थीं और आगरे से स्कूल की छत के लिए पत्थर आना बाक़ी था।

आपकी तुनकमिज़ाजी का यह आलम था कि ख़िलाफ़त - आन्दोलन के ज़माने में पानीपत में कुछ नेता आए तो स्वागत - समिति के कार्यकर्ता उनके अभिनन्दन में एक नज़्म लेने के लिए आपके पास आये। आपने यह कहकर उनको बहुत टालना चाहा कि मैं किसी की ख़ुशामद में नज़्म नहीं कहता, किन्तु जब आग्रह बढ़ता ही गया तो चिढ़कर फ़र्माया :

बनके अब तरके-मवलात के हामी आए
करके बर्बाद हरम को ये हरामी आये

स्वागत - समिति के सदस्य शेर सुनकर बहुत घबड़ाए और बहुत मिन्नत-समाजत करने के बाद आपको एक नज़्म कहने के लिए राज़ी कर लिया जिसका मिसरा था :

'मादरे-हिन्द के फ़र्ज़न्दे ग़रामी आए !"

●

झवेरचन्द मेघाणी

०

डाकुओं के हृदय-परिवर्तन का जो अभियान पिछले दिनों विनोबा भावे द्वारा चलाया गया था, कहते हैं, उसका सूत्रपात स्वतन्त्रता-संग्राम के दिनों रविशंकर महाराज द्वारा ही हो चुका था—इसी आधारभूमि पर गुजराती के विख्यात लेखक झवेरचन्द मेघाणी की क़लम से प्रस्तुत कहानी 'भाण साइगा दीवा' का अनुवाद प्रस्तुत है।

०

वात्रक नदी के किनारे जाने वाला रास्ता रात तो रात, दिन में भी डरावना लगता। कोई भी सज्जन व्यक्ति इस ओर रात-बेरात जाने की भूल नहीं करता। १९२२ की अँधेरी रात में तो यह प्रदेश और भी अधिक डरावना बन गया था। बाबर देव, नामवारिया और डाल्याभाई फौजदार, इन तीन डाकुओं के गिरोह वात्रक और मही के दोआबे में आतंक फैला रहे थे। डाल्या वाहखटिया तो अपने को डाकू नहीं, फौजदार कहलवाता था।

ऐसी एक रात को, गहरा अँधेरा छा जाने के बाद, एक ब्राह्मण बिना जूतों के, पैदल, ऊँची धोती पहने और गाँधी टोपी लगाए तहसील के भरकड़ा गाँव से सरसावयी की ओर जा रहा था। उम्र होगी कोई चालीस साल की। यों तो प्रतिदिन सबेरे से रात तक चलने की उसकी आदत थी। रास्तों में मिलने वाले किसान उसके पैर छूते और वह उनसे प्रेमपूर्वक बातें करता। लेकिन आज खेतों से भरकड़ा गाँव की ओर लौटने वाले लोगों का बर्ताव उसे कुछ अजीब-सा लग रहा था। पुरुषों और स्त्रियों में कुछ ऐसी उद्विग्नता दिखी जो पहले कभी नहीं लक्षित होती थी। पहले सदा ही ऐसा होता था कि चाहे मध्य दोपहर का सूरज ही क्यों न तप रहा हो लेकिन यदि महाराज मिल जाते तो अपने में से

मैं डाकू हूँ, मगर ....

किसी की पगड़ी या साफा भूमि पर बिछा कर वे उस पर उन्हें खड़ा करते, फिर उनका चरण-रज माथे पर लगाकर उनके साथ आदरपूर्वक बातें करते। लेकिन वे ही आज इस तरह दौड़ते-भागते हुए क्यों चले जा रहे हैं !

आबादी वाला इलाक़ा ख़त्म हो गया। राह में अब लोगों का दिखना बन्द हो गया। एक ओर पश्चिम की ओर बहने वाली वात्रक के किनारे की दरारें और दूसरी तरफ़ खेत, दोनों के बीच जाने वाले रास्ते का सूनापन गहरा होता गया। अँधेरा भी बढ़ने लगा। पथिक को अपना हाथ भी दिखायी नहीं देता था। अकस्मात छाती पर कुछ स्पर्श-सा हुआ। किसी जीवित मनुष्य का हाथ-सा लगा। पीछे की ओर धकेलता हुआ उसने पूछा, "कौन ?"

"कौन पूँजा ?" मुसाफिर ने कहा, उसने आवाज़ पहचान ली थी।

पूँजा ने धीरे-से कहा, "वापस लौटिये।"

"लेकिन बात क्या है ?"

"आगे बदमाश लोग हैं !"

"कौन बाहरवटिया है ?"

"हाँ, नामदारिया है।"

"तब कोई चिन्ता नहीं पूँजा। मैं उन्हीं की खोज में हूँ। मुझे उनसे भेंट करनी है।"

"नहीं महाराज, ऐसी बात आप न करें। मैं आपको आगे जाने न दूँगा। उन लोगों ने आप पर आक्रमण किया और मैं आपको बचा न पाया तो क्या होगा। आप वापस लौटिए। वे आपको रोक रखेंगे और फिर बड़ी-सी रक़म माँगेंगे।"

पथिक यह सुनते ही समझ गया कि डाकू लोगों को पकड़ लेते हैं, फिर उन्हें छोड़ने के लिए रुपयों की माँग करते हैं। मगर यह रक़म न मिले तो उस व्यक्ति को ... डालते हैं। उसे अपने प्राण गँवाने ... तो कुछ भय नहीं था किन्तु याद आया ... उसने अपने प्राणों की बाज़ी तो बारदो... संग्राम के लिए लगा दी है। महात्मा... को उसने वचन दे दिया है। सरकार ... चेतावनी दे दी है कि यदि दो महीने में स्वरा... नहीं दिया गया तो बारदोली का ... शुरू कर दिया जाएगा। इस विद्रो... उसे प्रथम अपना बलिदान देना है।

देशव्यापी संग्राम का प्रारम्भ बार... में होने जा रहा था। वहाँ सरकार ... ओर से गोलियाँ चलने की आशंका ... बन्दूक की गोलियाँ खाने के लिए दो ह... स्वयंसेवक महात्माजी ने माँगे थे, उन... नाम विशेष थे-- एक मोहनलाल ... और दूसरा उस मुसाफ़िर का।

मृत्यु का तो भय नहीं था, सिर तो ... ही हथेली पर रखा जा चुका था, किन्तु ... के हित, मंगलमयी मृत्यु को अर्पित ... हुआ जीवन डाकुओं के हाथों नष्ट हो ... यह उसे उचित नहीं लगा। नहीं, ... ही लौटना चाहिए !

तभी तीन दिन पहले हुई ... उसे स्मरण हो आया। उस दिन ... नामक देहात में डाकुओं के सन्मुख नि... पूर्वक प्राणों की बाज़ी लगाने का ... किया गया था, तब मेहमदाबाद तह... पट्टीदार ने अपना अनुभव सुनाते हु... था : "डाकू बहुत बड़ी संख्या में ह... आए। मैंने भागने में ही सुरक्षा ... मेरे पास बन्दूक़ तो थी पर उसके ...

उनका सामना करने में ख़तरा समझकर मैं अपनी बूढ़ी माँ और जच्चा-स्त्री को छोड़कर भाग गया। उन्होंने माँ और पत्नी को मारा, ऐसा मैंने दूसरों से सुना।" सुनकर इस ब्राह्मण ने उससे कहा, "क्या कभी तुम्हारी मृत्यु नहीं होगी? तुम्हें यह कहते हुए लज्जा नहीं आयी कि अपनी माँ और जच्चा-पत्नी को डकैतों के हाथ छोड़कर भाग आए।"

फिर ब्राह्मण ने कहा था कि चाहे मृत्यु क्यों न आय तो भी निर्भयता के साथ डाकुओं का सामना करना चाहिए। ...

....यदि मैं वापस लौटा, तो लोगों पर क्या प्रतिक्रिया होगी? वह पट्टीदार क्या कहेगा? वारदोली-संग्राम की बातें किसकी समझ में आयेंगी? उसने कहा, "पूँजा, तुम मेरे साथ न चलो, पर मुझे बता भर दो कि वे लोग कहाँ हैं?"

"वे पास के खेत में हैं।" पूँजा ने एक ओर इशारा किया।

अँधेरे में पूँजा ग़ायब हो गया। मुसाफ़िर आगे बढ़ा। आगे खेत का रास्ता दिखायी पड़ा। वह उधर ही जाने लगा। वहाँ एक बहुत लम्बा-चौड़ा आदमी दिखायी दिया। उसके हाथ में बन्दूक़ थी और वह चुप खड़ा था।

मुसाफ़िर बन्दूक़वाले आदमी को देखकर ज़ोर से हँस पड़ा। ऐसी भयानक परिस्थिति में हँसी कैसे आयी? यह बात वह ख़ुद भी समझ न सका। उसने बन्दूक़ वाले से पूछा, "क्यों, तुम अकेले ही हो? दूसरे सब कहाँ हैं?"

ज़ोर की हँसी और उसके बाद यह प्रश्न, बन्दूक़वाले को विस्मय में डालने के लिए काफ़ी था। उसने उत्तर नहीं दिया। इसलिए मुसाफ़िर खेतों में अन्दर की ओर बढ़ने लगा। वह आदमी भी उसके पीछे-पीछे चला।

कुछ आगे बढ़ते ही मुसाफ़िर को दो अन्य बन्दूक़वाले सामने खड़े दिखायी दिये। वे भी मौन थे। मुसाफ़िर आगे बढ़ा, दोनों बन्दूक़वाले मुसाफ़िर के दायें-बायें और तीसरा उसके पीछे चलने लगा। इतने में एक तेज़ आवाज़ आयी—"वहीं खड़ा रहो, नहीं तो मार दिए जाओगे।"

मुसाफ़िर खड़ा हो गया। बोलने वाला घोड़े पर सवार था और तीनों बन्दूक़ वाले मुसाफ़िर के तीनों तरफ़ खड़े थे। घोड़े पर बैठे हुए आदमी ने पूछा, "तुम कौन हो?"

"मैं वाहरवटिया (विद्रोही) हूँ।" मुसाफ़िर ने जवाब दिया।

"यहाँ कैसे आए?"

"तुमसे बातें करने। तुम सबसे मिलने। सब लोग कहाँ हैं?"

घुड़सवार चुप रहा। फिर आठ-दस लोग सामने आकर खड़े हो गए। कुछ देर की स्तब्धता के बाद मुसाफ़िर ने कहा, "दूर क्यों खड़े हो? पास आओ और बैठो।"

गोया आज्ञा का पालन होता हो, इस तरह आठ-दस लोग मुसाफ़िर के सामने ज़मीन पर बैठ गए। तीनों बन्दूक़धारी सजगता के साथ अपनी बन्दूक़ सँभाले तीनों तरफ़ खड़े रहे। चौथी तरफ़ घुड़सवार अपने स्थान पर सावधान और निश्चल होकर बैठ गया। घुड़सवार ने फिर पूछा, "तुम कौन हो?"

"मैंने कहा न कि वाहरवटिया

(विद्रोही) हूँ।"

"तुम किस गिरोह के हो?"

"महात्मा गाँधी के गिरोह का।"

इस पर फिर किसी ने कोई प्रश्न नहीं किया। गिरोह का नाम सुनते ही डाकुओं के मुँह बन्द हो गए। मुसाफ़िर बोलने लगा, "मैं महात्मा गांधी का एक सैनिक हूँ। मैं तुम्हें सच्चा विद्रोह सिखाने आया हूँ। मैं तुम्हें बताने आया हूँ कि गान्धीजी ने अँग्रेज़ों के विरुद्ध विद्रोह शुरू किया है। हम सबके दुःखों का मूल यह विदेशी सत्ता है। सच्चा विद्रोह उससे ही करना है। तुम्हारे इस छोटे विद्रोह से कुछ नहीं होगा। आज से दो मास बाद बारदोली में सरकार द्वारा गोलियाँ चलने वाली हैं। यदि सच्चे विद्रोही बनना चाहते हो तो चलो, महात्मा गान्धी के पास। वही लोगों का भला कर सकते हैं।"

घुड़सवार ने प्रश्न किया, "गान्धी महात्मा ने लोगों का क्या भला किया?"

"तुमने अहमदाबाद में नहीं देखा? मिल-मालिकों ने मज़दूरों की मज़दूरी नहीं बढ़ायी तो महात्मा गान्धी ने अनशन करके मज़दूरों की मज़दूरी में वृद्धि करवायी।"

सामने बैठे हुए लोगों में से एक ने पूछा, "इसमें गांधी महात्मा ने लोगों का क्या भला किया? इसमें उलटे लोगों का नुक़सान ही हुआ। मिल-मालिक तो उतने दाम कपड़े के भाव में ही जोड़ देंगे और हम सबको वही कपड़ा अधिक मँहगा मिलेगा।"

क्षण भर तो मुसाफ़िर चुप रहा। डाकुओं के मुँह से ऐसी दलील सुनकर, जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती, मुसाफ़िर ने उत्तर दिया, "मिल-मालिकों के शिकंजे में हम न फँसें इसलिए महात्मा गान्धी ने चरखा [...] को बताया है। मिल-मालिक चाहे [...] महँगा करें, पर हम तो चरखा कातकर [...] बना सकते हैं। गांधीजी ने यह [...] मार्ग बता दिया है। तुम चलो म[...] गान्धी के पास, मैं तुम्हें बुलाने आया [...] वे तुम्हें सब बातें समझा देंगे। [...] विश्वास न हो तो तुममें से एक व्यक्ति [...] साथ चले। यदि मैंने कोई विश्वास[...] किया, तो बाक़ी लोग बदला ले सकते हैं।"

"महात्मा गान्धी हमारे इस प्रदे[...] आवें, तब हम उनसे मिलेंगे। अभी त[...] फिर हम ग़रीबों को कहाँ लूटते हैं। [...] ही बताइए, हमने धनवान, और ग़री[...] अत्याचार करनेवालों के सिवा और कि[...] लूटा है।"

मुसाफ़िर बोला, "तुम प्रजा की [...] तक़लीफ़ क्या जानो। तुम्हारे आ[...] ख़बर मिलते ही सभी लोग घबड़ा जा[...] भागते-छिपते हैं। खेती या उद्योग न[...] पाते। और उन्हें सरकारी पुलिस [...] देती है। यह सब तुम्हारे कारण हो[...] यह तुम नहीं जानते।"

"पेट के लिए तो सब करना ही पड़[...]"

"पेट के लिए! तुम्हारा [...] महीने आधा मन अनाज भर मा[...] पर तुम उसके लिए हज़ारों रुपयों [...] करते हो। इसलिए कि तुम्हें आश्र[...] को तथा पुलिसवालों को भी देना प[...] अकेले तुम्हारा पेट भरने से का[...] चलता।"

डाकुओं के पास इसका कोई उ[...] [...]ा। वे चुप रहे। कुछ देर [...]

एक व्यक्ति बोला, "आपके पास कागज़-पेंसिल है ?"

पूछनेवाले की आवाज़ से मालूम होता था कि वह युवक है। मुसाफ़िर ने उत्तर दिया, "हाँ है।"

"तो कागज़ और पेंसिल दो, हमें आपके गाँव के एक ब्राह्मण सोमा माथुर के नाम पत्र लिखना है।"

"क्या लिखना है ?"

"यही कि पाँच सौ रुपया पहुँचा दो, नहीं तो मारे जाओगे। आप यह पत्र सोमा माथुर को दे दीजिएगा।"

अबतक की बातचीत मीठी और प्रेम-मय थी, लेकिन यह बात सुनते ही मुसाफ़िर की आवाज ऊँची हो गई। वह बोला, "न मेरे पास कागज-पेंसिल है और न मैं ऐसा पत्र पहुँचाने के लिए यहाँ आया हूँ। मैं तो गाँव में जाकर गाँववालों को सावधान करूँगा कि डाकू आनेवाले हैं, उनसे लड़ना है। तैयार हो जाओ।"

उनमें से एक अन्य व्यक्ति मुसाफ़िर की तरफ़ देखकर बोला, "महाराज, वह तो बेवकूफ़ है, उसकी बात पर आप विचार मत कीजिए। आपको जो-कुछ करना है, करिये। आपको अब जाना हो, तो जाइए। हम आपको साथ पहुँचाने चलते हैं।"

"यदि साथ की ज़रूरत होती तो अकेला कैसे आता। मैं यों ही चला जाऊँगा।"

कुछ देर बाद बन्दूक़ें छूटने की आवाज़ आयी। डाकुओं ने बन्दूक़ें हवा में छोड़ी थीं।

ब्राह्मण आधी रात को गाँव में पहुँचा और गाँव के लोगों को उसी समय जाकर कहा कि आज ही या बाद में संभव है कि डाकू आयें, अतः तैयार रहो, पर डाकुओं ने फिर कभी भी उस गाँव की ओर रुख ही नहीं किया।

(वर्षा देसाई द्वारा अनूदित)

०

सेवा डाक विभाग की

अधिकाधिक ग्रामों के निवासी डाक-विभाग की सेवा से लाभ उठा सकें, इस उद्देश्य से सरकार ने हर चार-पाँच गाँव पर एक ब्रांच-पोस्ट-आफिस खोलने का निश्चय किया, अतः अनन्तपुर ग्राम में भी एक ब्रांच-पोस्ट-आफिस खुला और थोड़ा-बहुत पढ़े-लिखे, गाँव के एक दुकानदार को ही पोस्टमास्टर बना दिया गया। अब उसकी दूकान पर लिफ़ाफ़े-पोस्टकार्ड भी बिकने लगे और पत्रादि डालने के लिए एक बम्बा लग गया। पर तीन महीने बीत जाने पर भी जब अनन्तपुर से कोई डाक का थैला बड़े पोस्टआफिस में नहीं पहुँचा, तो अधिकारियों ने पोस्ट-मास्टर को पत्र लिखकर कारण पूछा। उत्तर आया : "अभी तक डाक का थैला भरा नहीं है। भर जाए तो भेजूं।"
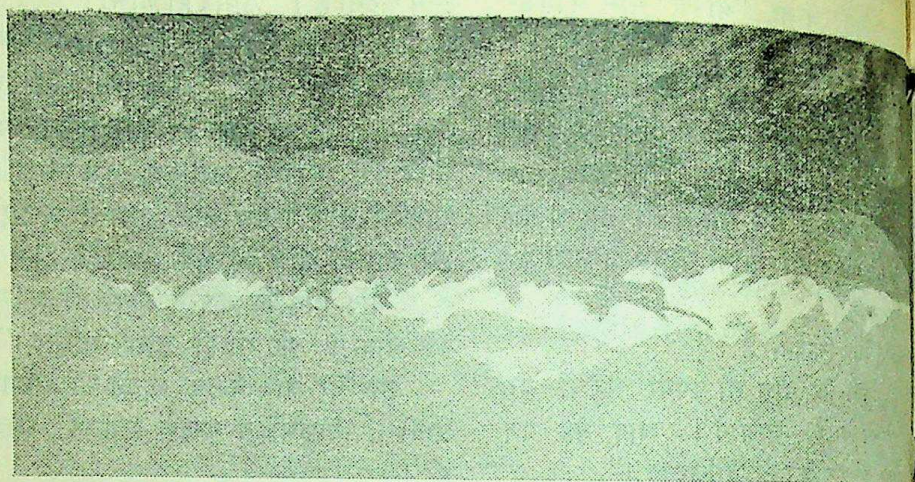
देवतात्मा हिमालय (१)

'महाप्रस्थानेर पथे', 'रशियार डायरी' आदि प्रसिद्ध यात्रा-वर्णनों के लेखक, बंगला के विख्यात साहित्यकार श्री प्रबोधकुमार सान्याल की श्रेष्ठ कृति 'देवतात्मा हिमालय' की पहली क़िस्त। प्रस्तुत यात्रा-विवरण की देश-विदेश में काफ़ी चर्चा हुई है, और जर्मन तथा अँग्रेज़ी में इसके अनुवाद भी प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रबोध कुमार सान्याल

पन्द्रह सौ साल पहले की बात है।

सिंहासन से नीचे उतरकर सम्राट् हर्षवर्धन ने परिव्राजक हु-एन त्सांग को अभिवादन किया, "महात्मन्, विदा देने से पहले यह अखण्ड, महान् भारत आपका आशीर्वाद चाहता है।"

प्रणत विनयपूर्वक पुरुषश्रेष्ठ हु-एनत्सांग ने उत्तर दिया, "इस योगासीन ध्यानावस्थित प्राचीन भारत के आशीर्वाद का पाथेय मैं भी अपने साथ ले जाना चाहता हूँ, राजन्! यह भारत भूस्वर्गमय है। हिमालय के इस ब्रह्मपुरा में रहकर मैंने बार-बार उस भूस्वर्ग के दर्शन किए हैं।"

हिमालय की छाया में

भारत की प्राचीन आर्य सभ्यता का आदिमंत्र इसी ब्रह्मपुरा ने प्राप्त किया था। सैकड़ों-हज़ारों साल से, इस ब्रह्मपुरा के पथ पर ही मुनि-ऋषि, योगी-संन्यासी, परिव्राजक और पर्यटक परिभ्रमण करते रहे हैं। हिमालय के इसी दुस्तर दुरारोह पार्वत्य प्रदेश के एक निर्झरिणी-तटस्थ तपोवन में बैठे महामुनि वेदव्यास ने शिवपुराण और केदार-खण्ड की रचना की थी। अन्यान्य पुराणों में भी इस ब्रह्मपुरा को भूस्वर्ग ही कहा गया है। महाकवि कालिदास ने इसे स्वप्नपुरी बताया है। महाभारत की रचनास्थली थी यही ब्रह्मपुरा। वैदिक भारत के कल्प में, सनातन भारत के पर्व में, बौद्ध भारत के काल में, ऐतिहासिक भारत के युगयुग में—मौर्य साम्राज्य के अशोक और उसके बाद समुद्र-गुप्त आदि के शासनकाल में—ब्रह्मपुरा ने ही ऋषियों के तपस्यालोक, आनन्द और शान्ति की लीलाभूमि होने का गौरव पाया था। पाँचों पाण्डवों ने इसी रास्ते से ब्रह्मलोक की यात्रा की थी, इसीलिए इस महाभारतीय भू-खण्ड का आदि नाम ब्रह्मपुरा पड़ गया। इसी के बीच से बहती हैं गोमुखी-समुद्भवा जननी जाह्नवी, दिव्य नदी अलकनन्दा, ब्रह्मलोक-विधौता मन्दाकिनी। यहाँ के सूर्य के करोज्वल तुषारकिरीट हिमालय का प्रथम स्तर ही ब्रह्मलोक है—लोकालय से बहुत दूर; उसी के नीचे, जहाँ शिवलिंग पर्वतमाला का दुर्रतिक्रम्य स्तर है, देवलोक है—देवताओं की विचरण-भूमि। भागीरथी जहाँ शिला-हत और ऊर्मिमुखर होकर ऋषिकुल के आश्रम-सीमान्त पर बह रही है, उस स्तर को ऋषिगण सदा से तपोलोक कहते आए हैं। उसके नीचे भी, जहाँ दिग्दिगन्त व्यापी हिमालय का चरणप्रान्त है, वह अरण्यमय स्तर—जहाँ गंगा मैया का राज है—मर्त्य-लोक है; नर-वानर, पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि की अव्याहत लीलाभूमि। इस भूखण्ड पर गंगा के उतरने से ही तो यह उपत्यका गंगावतरण कहलाती है, गंगाजी जहाँ जीव-लोक में अवतरित हुई हैं। वह आर्यावर्त के प्रतिपालनार्थ उतरी हैं। त्रिभुवन-तारिणी तरल तरंगे! जय जय गंगे!

लेखक

मेरे यौवन ने पहली बार अपनी आँखें ब्रह्मपुरा की इसी गिरिश्रेणी के नीचे गंगावतरण प्रान्त में खोली थीं। बत्तीस साल पहले उसी दिन सर्वप्रथम हिमालय का चरणस्पर्श किया था मैंने। किन्तु वह हज़ारों साल पहले का ब्रह्मपुरा तो अब नहीं है। अब तो उसका एक स्थलवर्ती नाम है—गढ़वाल। चार सौ साल पहले ही की तो बात है, राजा अजयपाल ने सारे ब्रह्मपुरा के बावन गढ़ों का एक साथ मिलाकर नया नाम रखा गढ़वाल, अर्थात्, दुर्ग प्रधान। उस दिन

आँखें तो खुलीं किन्तु कुछ देखा नहीं था। नवीन, विचित्र और भारत की श्रेष्ठ महिमा को देखकर मेरी दृष्टि अपलक एकाग्र ताकती ही रह गई थी। सिर्फ़ उसकी वह नीली धारा देख आया था, जो एक-से दूसरे रहस्य-लोक के भीतर से गुज़रती किसी पर्वतमाला के नीचे जाकर न जाने कहाँ खो गयी थी। उस दिन मेरा मन वाङ्मय नहीं था इसीलिए आस्वाद और उपलब्धि के पथ पर विचरती मेरी यह बुभुक्षु चेतना अपना खाद्य संग्रह करके ही लौट आयी थी। फिर भी उसमें उपलब्धिकी अपेक्षा आविष्कृति की ही अधिक चेष्टा थी।

उसके बाद तो इस ब्रह्मपुरा की प्रान्त-सीमा में बार-बार गया हूँ, गढ़वाल की पहाड़ियों के नीचे-नीचे नील धारा के किनारे-किनारे इसके बन-जंगलों में, गिरि-गुहाओं, इसकी वसन्त की शोभा में, उन्मादिनी निर्झरिणी के प्रस्तर संकुल तटों पर बार-बार घूमता फिरा हूँ। कितनी ही दुपहरियों की विजय-भावना, कितने ही प्रभातों का निस्संग एकान्त मुझे साथ लेकर इसकी करी पहाड़ियों पर, यहाँ-वहाँ, मन्दिर में, तपोवन में, उपत्यका में, और गहरी गुफ़ाओं में अपनी छाप छोड़ गए हैं। इनकी यादें भी नहीं हैं आज मन में। मैंने वहाँ बार-बार वही देखना चाहा था जो दिखाई नहीं पड़ता, वही विचारना चाहा था जो विचारातीत है, वही जानना चाहा था जो ज्ञानातीत है। निर्जन-भयंकर पर्वत-कन्दरा था नीचे शिलातल पर चुपचाप बैठा था, कल-कल बहती दिग्भ्रान्त नदी के इधर-उधर वासन्ती शोभा निरखता रहा हूँ; हाँ, कभी-कभी उन झाड़-झंखाड़ और काई से भरी अँधेरी गुफ़ाओं की ओर ताककर सारी-सारी देह काँप उठी है और फिर डरता-सहमता लौट आया हूँ। शायद उसमें भयानक अजगर था या कोई अनजाना विशाल जीव-जन्तु अथवा कोई अटल-अचल, योगतन्द्राच्छन्न महर्षि-जटाजटिल, ध्यानी, मौनी महास्थविर। प्राण अकुला उठे हैं, समस्त जीवन हाय-हाय कर उठा है। किन्तु फिर वहीं अपने रास्ते आ गया हूँ। ऐसा लगा है मानो हज़ारों साल पहले की विदेह आत्माएँ मेरे पीछे पड़ गयी हैं। उन्होंने अपनी पद-ध्वनि मेरी युगध्वनि सुननी चाही है, उन्होंने मुझमें अपना आविर्भाव देखना चाहा है, मुझे अपना आशीर्वाद जताना चाहा है। और अन्त में वे सब-की-सब छाया-मूर्तियाँ जैसे मेरी इस कायामूर्ति में विलीन हो गयी हैं।

गढ़वाल के साथ तिब्बत का कम सम्बन्ध नहीं है। जोशीमठ से ही इसका आभास मिलने लगता है, हनुमान चट्टी छोड़ते ही यह पता चल जाता है। मर्द-औरतों के चेहरे-मोहरे, वेश-भूषा देखते-देखते बदल जाती हैं। घर के पालतू जानवरों के डील-डौल भी और ही कुछ नज़र पड़ते हैं। जैसे कि नेपाल में, पुंछ-कश्मीर में, सारे सिक्किम और भूटान में—ठीक वैसे ही उत्तर-पूर्व गढ़वाल में भी तिब्बत के पहाड़ दीखने लगते हैं, वहाँ उनका छूना-छाना अधिक ही लगता है। वहाँ के आचार-आचरण, रीति-रिवाज और पहनाव-उढ़ाव में ही नहीं बल्कि बहुतेरे मन्दिरों पर, स्थापत्य शिल्प पर भी तिब्बत का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। जोशीमठ या उखीमठ अथवा केदार-बदरीनाथ के मंदिर

तिब्बत की गुफ़ाओं और मन्दिरों से जो हमारा थोड़ा-बहुत सम्बन्ध है वही छा गया इन सब पर। कश्मीर के लद्दाख में, कुलू घाटी के उत्तरी हिस्सों में भी यही रूपरेखा है, किन्नर देश में यही अभिव्यक्ति है, उत्तरी अल्मोड़ा में भी इसी की पुनरावृत्ति है। जिन्हें तुर्किस्तान और पामीर के पठारों से आते देखा है, जो हूणजातीय लोग कभी झेलम और सिन्ध के किनारे-किनारे आकर सीमान्त प्रदेश तक बस गए हैं वे भी इस शाक्त-शैव बौद्ध प्रभाव की सर्वग्रासिता से बच नहीं सके। तिब्बती या किसी बड़ी गुफा में घुसकर देखो तो वहाँ शक्तिरूपिणी महाकाली शायद किसी दूसरे नाम से विराजती मिलेंगी और हिमालय के बहुत-से मन्दिरों में प्रवेश करके देखा कि बौद्ध चमत्कार की कैसी परिणति हुई है! भारत के साथ पश्चिम तिब्बत एकाकार है।

गढ़वाल की उत्तरी सीमा को तिब्बत, कश्मीर और हिमाचल प्रदेश से अलग कर रखा है शतद्रु नदी ने। मानस सरोवर से उतरकर यह सतलज नदी तिब्बत पार करती गढ़वाल के उत्तर से उत्तर-पूर्व पंजाब चली गयी है—जैसे कश्मीर में पहलगाँव की नीलगंगा। इनकी मूल धारा का क्या कोई अनुसरण कर पाया है? सैकड़ों-हज़ारों गिरि-नदी-निर्झरणी सैकड़ों-हज़ारों शाखा-प्रशाखाओं में बहती इन्हें किस रास्ते कहाँ लिए जाती है, कौन जाने? इनके इस ओर उस ओर ऐसे अनेक अनदेखे-अनजाने पहाड़ी प्रदेश हैं जहाँ आज भी किसी आदमी के पैरों की छाप नहीं पड़ी। न वहाँ जीव-जन्तु जन्मते हैं, न कोई कीड़ा-मकोड़ा या सरीसृप ढूँढ़े मिलता है। उस निष्प्राण घास-पात-विहीन उजाड़ पर्वतलोक की निर्जनता मानो एक विभीषिका है—जिसे मैं खड़े-खड़े देखता रह गया हूँ कितने ही दिनों तक!

किन्तु गढ़वाल में इसका भी थोड़ा व्यतिक्रम मिलता है। एक पर्वत से दूसरे पर्वत तक जाना संभव है; एक शिखर से दूसरे शिखर तक कहीं भी रुक्षता नहीं है। बर्फ़ीली चोटियों को छोड़ दो, बस, सिर्फ़ ब्रह्मपुरा की ओर ताकते रहो। जहाँ तक निगाह जाती है केवल घनश्यामी आभा, चारों ओर हरियाली ही हरियाली। मन-चाही नदियाँ, मनचाही जलधाराएँ, इधर-उधर जहाँ भी ताको—फूलों से लदी-लदी वनभूमि! दुनिया भर के फूल यहाँ खिलते हैं, गुच्छों पर गुच्छे। जहाँ भी जाओ, जिधर भी ताको,—तपोवन। सुर्ख सेब और अनारों ने बड़े पहाड़ को लाल-लाल कर दिया है—संसार का आठवाँ आश्चर्य देख लो। उन पक्षियों की ओर देखो, जिन्हें तुमने कभी नहीं देखा, जिसका वर्ण-वैचित्र्य तुम्हारी कल्पना को नन्दन-कानन पहुँचा देगा—जी भर कर देख लो इन्हें। सुनील-नयना नदी की ओर ताकते रहो—जिसकी जलराशि में अनन्त उदार आकाश की परछाइँ पड़ रही है। यह रोमांचक कौतुक तुम भूल नहीं सकोगे कभी। ऊँचे पहाड़ की चोटियों पर चढ़ो, एक से दूसरी—चिरतुषारधवलित त्रिशूल पर्वत और नयनाभिराम नन्दा देवी की शोभा तुम्हें मंत्र-मुग्ध कर लेगी। पिण्डारी हिमानी की ओर आँखें लगाओ, नन्द-कोट पर नज़र डालो। वहीं से पिण्डार

गंगा उतरी है जैसे रामगंगा गढ़वाल से अलमोड़ा में आयी है। तुम्हारे दो अपलक नयन !....

गढ़वाल का प्रकृत रूप है गांगेय। उत्तरी ब्रह्मपुरा में गोमुख से गंगा निकली हैं, मालूम है। किन्तु यह पता है क्या कि अलकनन्दा और सरस्वती कहाँ से आयी हैं ? धवली गंगा की जन्मस्थली का पता है क्या ? आसानी से कुछ नहीं जाना जाता। असंख्य नामों के अगण्य जलस्रोत अन्त में गंगाजी में ही मिलते हैं—जिस गंगा को हम हरद्वार के चंडी पहाड़ की चरणतली में देखते हैं। चण्डी पहाड़ की ऊपरी चोटी पर अधिष्ठित हैं—असुरनाशिनी चण्डी। गंगा के इस पार है शिवपूजा में व्यस्त हरद्वार और उस पार चलती है शक्तिपूजा ! कनखल का रास्ता मायावती से गुज़रता मूलगंगा के किनारे-किनारे चला गया है, जहाँ से उत्तर में हिमकिरीट बदरीनाथ का गिरिशिखर दीखता है। आकाशमार्ग से लगभग पचास मील होगा। इसी गंगा के दोनों ओर की तीरभूमि से मैंने बीनी हैं बहुत-सी रंग-बिरंगी गोल-गोल बटियाँ, चिकने और कोमल प्रस्तरखण्ड।

गढ़वाल के अधिकांश मन्दिर प्राचीन हैं और पूजा अकिंचनों की है। शैव हरद्वार ही सारी पूजा खींच लेता है। यहाँ की विधि है बलिदान। पाकदण्डी पथ पारकर चढ़ते-चढ़ते चण्डी-मंदिर आता है। परिक्रमा का रास्ता लोहे की रेलिंग लगा है। अन्दर चंडी-मूर्त्ति है। वे भैरवी हैं—भीरुता की दुश्मन। भय माने मनुष्यता की अप-मृत्यु, मानवता का अपघात, इसीलिए वे भयनाशिनी हैं।

रास्ता मूलकर मैं पश्चिम की ओर उतर गया। किन्तु वहाँ वे मिले जिन्हें गुहावासी साधु कहते हैं। ये हैं हमेशा हिमालयवासी; संसारी जन-समागम से दूर रोज़मर्रा की ज़िन्दगी से अछूते। ये क्या खाते हैं, कौन इन्हें खिलाते हैं, ये सारी ख़बरें नहीं जुगाड़ीं मैंने। ये घूमते-फिरते ही खाते और सोते हैं। घाटवाट में ही इनका जीवन-मृत्यु खेल चलता है। ये नग्न, दरिद्र, सर्वत्यागी, स्नेह-मोह-मुक्त अद्वैतवादियों के दल के हैं, किन्तु इन्हीं ने असमान हिमाचल भारत को एकता के सूत्र में बांध रखा है। भभूत रमाने वाले ये नागा साधु ब्रह्मपुरा के पहाड़ों में जाड़े-गर्मी की परवाह किए बिना ही घूमते-फिरते हैं। इनकी कोई जाति नहीं है, ये लोग संन्यासी हैं, इनका कोई धर्म नहीं है—ये विश्व दार्शनिक हैं। कभी इन्हें गुफाओं में आत्मनिमग्न देखा है तो कभी हिमप्रदेश में बैठे जाप करते, कभी यह भी देखा है कि ब्रह्मपुरा की पहाड़ियों पर किसी पुराने पीपल के पेड़ के नीचे निष्कामव्रत लिए महीनों तक ध्यानमग्न पड़े हैं, कभी-कहीं अपने-आप अपनी दृष्टि से ताके हुए हैं। पठान, मुग़ल, अंग्रेज़ किसी के भी शासनकाल में इन्हें कभी तंग नहीं किया गया, इनका तपोभंग करने की हिम्मत नहीं पड़ी किसी को। यहाँ तक कि कट्टर मुसलमान सम्राट् औरंगज़ेब ने भी गुरु रामराय के लिए इसी ब्रह्मपुरा के उत्तर में मोहन दर्रे में एक संन्यास आश्रम निर्दिष्ट कर दिया था।

साधुओं की आश्रम-सीमा छोड़कर गंगा जी की रेती में उतर आया हूँ। किन्तु

को उसी जंगल के छोर पर रेतीले रास्ते में बाघ के पंजों की छाप देखकर देह सिहर उठी। बियाबान जंगल। बाघ के पंजों के निशान उत्तर से दक्षिण की ओर जाते साफ़ दिखाई पड़ रहे हैं, मानो अभी थोड़ी देर पहले ही गुज़रा है। सहमते क़दमों से जंगल का मोड़ पार कर नदी की ओर बढ़ चला।

●

इसी ब्रह्मपुरा के बीच से चार तीर्थपथ जाते हैं। केदारनाथ, बदरीनाथ और उत्तरकाशी होकर यमुनोत्री और गंगोत्री का रास्ता है। ऋषिकुल जाओ, गुरुकुल जाओ, कनखल या लालतारा बाग जाओ, ऋषिकेष जाओ या देवप्रयाग जाओ, जोशीमठ या उत्तर काशी जाओ-- अनुभव करोगे कि यहाँ जैसी विचित्र सुषमा तुमने कभी नहीं देखी थी। अपनी आधुनिक शिक्षा-दीक्षा, संस्कार - विचार, न्याय - नीति-- जो कुछ भी अब तक तुम्हारी मनोवृत्ति के उपादान रहे हैं—देखोगे कि यहाँ आकर उन सबकी व्याख्या बदली जा रही है। यदि तुम सच्चे भारतीय हो, यदि इस देश की संस्कृति के एक भी कण के साथ तुम्हारी अपनी मानवता की तिल-भर शिनाख़्त हो सके तो सिर्फ़ तुम्हीं नहीं बदलोगे—तुम्हारी इच्छा, अभिरुचि, संस्कार, अभ्यास, आदर्श, यहाँ तक कि तुम्हारी सहज प्रकृति में भी परिवर्तन अवश्यम्भावी है। हिमालय की हवा में मानो तुमने अपने को खो दिया हो!...

रास्ता बहुत लम्बा है, चढ़ाई कड़ी है। होने दो, ऋषिकेष से चलो, धीरे-धीरे चलो, नदी पार कर चलो, पहाड़ लाँघ कर चलो, उपत्यका पीछे छोड़ दो। यदि 'देवी सुरेश्वरी भगवती' भागीरथी को चाहते हो तो देवप्रयाग से जाओ। टेहरी से डुण्डागाँव और उत्तर-काशी के रास्ते जाओ। यदि यमुनोत्री जाना हो, तो सीधे उत्तर; गंगोत्री चाहो तो फिर वही पूर्व-पथ। पूर्व से उत्तर। कितनी भी दूर जाओ, कहीं भी जाओ, भागीरथी तुम्हारे साथ ही रहेंगी। हिमानी तो और भी उत्तर में है; वहीं निर्जन भयानक तुषार प्रदेश है, देवाधिदेव की हिमजटा है—जिसके भीतर से जाती जाह्नवी की धारा गोमुख की ओर खो जाती है। अन्त में तुम गंगोत्री के गंगामंदिर में विश्राम करो। गंगा का आदि और अन्त देखते रहो—गोमुख से गंगासागर प्रायः दो हज़ार मील। संसार के किसी भी राष्ट्र की संस्कृति ने एकमात्र नदी को इस प्रकार अपने प्रत्येक मांगलिक कार्य में इतनी श्रद्धा और अनुराग के साथ कभी ग्रहण नहीं किया। कन्याकुमारी जाओ, मदुरा और रामेश्वरम् जाओ, आबू पहाड़ या द्वारका

> **'यह फिर कभी नहीं आयेगा, कभी नहीं लौटेगा'—यह विचार ही जीवन को मधुर बना देता है। यह धारणा कि अब मुझे किसी वस्तु में विश्वास नहीं है सुख नहीं देती। अन्ततः हमेशा के लिए अलग हो जाने की स्थिति इसके ठीक विपरीत एक भूख पैदा करती है—हमेशा एक दूसरे में लीन रहने का भाव।**
>
> **—एमिली डिकेन्सन**

जाम्रो, जगन्नाथ या पंचवटी जाम्रो—सभी जगह तुम्हारा अंतिम पुण्यलाभ गंगाजल के दान से ही होगा। इस गांगेय सभ्यता ने ही विशाल और विचित्र भारत को सर्वकाल-जयीसूत्र (बन्धन) से बाँध रखा है।

देवप्रयाग से रुद्रप्रयाग—अलकनन्दा से मन्दाकिनी। चारों ओर केवल 'गिरि-शृंगमाला के महान् मौन में ध्यानस्थ वसुन्धरा' है। चिर दरिद्र गढ़वालियों में आत्म-परिचय-हीन होकर रहना ही ब्रह्मपुरा का वास्तविक परिचय पाने का मार्ग है।

सारा पश्चिमी तिब्बत भारत का ही एक अंश है, यह एक ऐतिहासिक सत्य है। हु-एन त्सांग के युग के ब्रह्मपुरा की सीमा में कैलास पर्वतश्रेणी, मानस सरोवर और रावण ह्रद थे। केदारनाथ और बदरीनाथ की चोटियों के पीछे तीन विराट गिरिशिखर खड़े हैं। श्वेत, वरुण, शिवलिंग और सुमेरु। इनके बीच में गोमुख से निःस्रावित गंगा की शोभा संसार के किसी भी देश के विज्ञानियों के लिए विस्मयकारी है किन्तु इन शिखरों के ऊपर से जो हिमानी-स्तर सैकड़ों वर्ग-मील में फैला है उसके जटिल तल-पथ का सन्धान क्या किसी के लिए भी अभी तक सम्भव हुआ है? भूतत्ववेत्ताओं ने यहाँ हार मानकर गंगा की उत्पत्ति गढ़वाल की सीमा में मान ली है। पर बाल्मीकि ने कहा है: वेगवती भागीरथी का प्रखर प्रवाह देखकर कैलासनाथ को ध्यान आया कि यदि इस 'उन्मादिनी दिशाहारा' को अबाध गति से बहने दिया गया तो यह कुलनाशिनी सर्वनाश कर देगी! आकाश के देवता डर से काँपने लगे, सृष्टि कहीं रसातल न चली जाय। किन्तु जब इन्द्र का ऐरावत भी बह गया तब कैलासनाथ शान्त नहीं रह सके, गंगा को समेट कर अपने जटिल जटा-सम्भार में धारण कर लिया। गंगा उनमें अपना पथ खो बैठीं। गोमुख के उत्तर की बर्फ़ीली चोटियाँ शिव की जटिल जटाओं जैसी ही हैं। इसीलिए गंगाजी का प्रथम दर्शन गढ़वाल में होता है। किन्तु जैसे गढ़वाल की उत्तरी सीमा से उत्तरकाशी के रास्ते भागीरथी गंगा आयी हैं वैसे ही इसी क्षेत्र में अलकनन्दा बदरिकाश्रम की ओर जाकर जोशीमठ के नीचे धवली गंगा में मिल जाती हैं। गंगोत्री की ओर गंगा के साथ मिलने वाली पहली नदी है केदार-गंगा—इसकी उत्पत्ति केदार-नाथ के बीच में हुई है।

देवतात्मा हिमालय की सारी कहानी और परिचय के साथ भागीरथी का इतिहास शुरू से अन्त तक जुड़ा है। गंगा की मूल धारा हिमालय की हिमानियों से संयुक्त है—इसीलिए इसकी तीरभूमि पर भारतीय सभ्यता का सूत्रपात हुआ। भारत की संस्कृति का प्रथम मंत्र गंगा का मंत्र है। गंगा के किनारे ही पहला मन्दिर बना था; गंगा तटवर्ती क्षेत्र में प्रथम जनपद बसा था। जैसे चारों ओर से सहस्त्र धारा ने आकर और गंगा में मिलकर उसे ऐश्वर्यशालिनी बना दिया है वैसे ही गंगा को केन्द्रित कर भारत सभ्यता और इतिहास की सहस्त्र-धारा भी नाना दिशाओं में चली गयी है। सगर राजवंश की साठ हज़ार सन्तानों की भस्मीभूत देहें गंगा के पुण्यस्पर्श से सजीव हो उठी थीं, यह कथा उस दिन की तरह आज भी सत्य है। कारण यदि किसी कुदरती
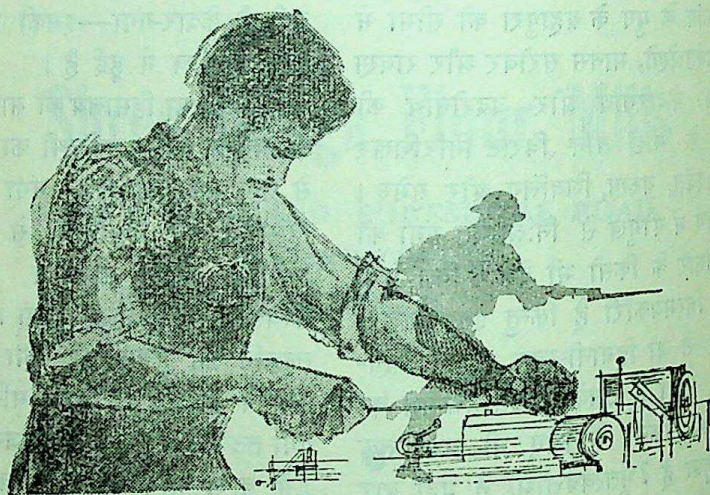
जादू से गंगा की धारा ब्रह्मपुरा में ही कहीं सूख जाय तो भारत के दस-बारह करोड़ से भी अधिक नर-नारियों की ज़िन्दगी ख्वार हो उठेगी। उत्तर भारत की सारी प्राकृतिक सम्पत्ति गंगा पर ही आधारित है। गंगा ही उत्तर भारतीयों के जीवन की मूलमंत्र है। गंगा माने मर्त्यगामिनी, जो निरन्तर गतिशीला हो। गति का अर्थ ही जीवन है, गतिहीनता माने मृत्यु!

गंगा का पथ ही ब्रह्मपुरा का पथ है। हिमालय की 'महाभारतीय' गिरिश्रेणी में श्रेष्ठ भूभाग है--ब्रह्मपुरा। समग्र हिमालय में बहुत-से शिखर और तुषार किरीट हैं किन्तु ब्रह्मपुरा गिरिश्रेणी के समान किसी को भी पूजा नहीं मिलती। गौरीशृंग और गौरीशंकर, धवलगिरि और कांचनजंघा, अमरावती तट पर भैरवघाट की नयनमोहिनी चोटी धवलाधार गंगा और हरमुख ये सब अपनी दिव्यगरिमा के बावजूद जैसे पड़े ही रह गए इधर-उधर।

ब्रह्मपुरा जितना हिमालय का और कोई भी अंचल भारतवासियों को प्रिय नहीं है, इसी से यात्रियों के कलकण्ठ से ब्रह्मपुरा सदा मुखरित रहता है। इसीलिए आचार्य शंकर की आध्यात्मप्रतिमा की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति यहाँ हुई। उनके पहले भी युगयुगान्तर भारतीय जनता इस गंगावतरण पथ पर यात्रा करती रही है। केवल प्रस्तर-मन्दिर ही तीर्थ नहीं हैं, वे आदमी के बनाए हैं। असंख्य मंदिर और मूर्तियाँ तो हैं आसपास! कलकत्ते में ही कम से कम पाँच सौ देवमन्दिर खड़े हैं, कौन लेता है उनकी सुध? काशी जाइए, वहाँ तो रास्ते में, घाट पर ज़रा-सा पैर चूका कि शिवमूर्ति से ठोकर खायी! कराँची में, गोआ में, पांडिचेरी में, श्रीलंका में, चटगाँव में--कहाँ नहीं हैं देवमन्दिर? फिर भारत के लोग जुग-जुग यही कहते आये हैं कि ब्रह्मपुरा का जोड़ भारत में दूसरा नहीं है कोई! मन्दिर नहीं, वास्तव में पथ ही तीर्थ है और वह पथ है गंगावतरण का पथ। पथ समाप्त होते ही तीर्थयात्रा सम्पूर्ण हो जाती है। तीर्थ-परिक्रमा का ही महत्व है। गंगा पथ जाऊँगा, ब्रह्मलोक के दर्रे से गंगा किनारे-किनारे गंगोत्री तक जाऊँगा--यही है वह तीर्थ परिक्रमा। इसी आनन्दोपलब्धि का नाम है भगवद्भक्ति। इस गंगापथ को ही तीर्थयात्रा कहा गया है!

देवतात्मा हिमालय के रहस्यलोक अलकापुरी को देखने के लिए मर्त्यलोक के तीर्थयात्री दौड़े आते हैं। इस कड़ी चढ़ाई के रास्ते में कितनों ही की छाती फट गयी, कुछ साँस न ले सकने के कारण मर गए, कुछ बर्फ़ की अंधड़ से हताहत हुए। कितने ही रोगपथ, श्रम और उपवास न सह सकने से भी मर गए--इतिहास में इनकी गिनती नहीं है कहीं भी। फिर भी ब्रह्मपुरा के गंगा-पथ के रम्य आकर्षण ने किसी भी युग के लोगों को स्थिर रहने नहीं दिया। दर्रे के अन्दर से दौड़ती उन्मादिनी गंगा की दुरन्त धारा के समान ही उसी के किनारे-किनारे तीर्थयात्रियों की अजेय प्राणधारा भी अनिवार गति से दौड़ती रही है। कभी आँधी, वर्षा, कड़ी सर्दी, कुहरा, महासूर्य की आग बरसाने वाली तेज़ धूप से वे परेशान होते हैं तो कभी ऋतुराज के नव घनश्याम बसन्तोत्सव से मुग्ध हो जाते हैं।

उनकी इस आनन्द - वेदना की तरंग-माला में मैंने भी अपने को बार-बार गाँथ दिया है। हास्य-रुदन की गंगा-यमुना में डुबकियाँ ले, घड़ा भरा है, विदा ली है। उनके बीच में हूँ; उनके आनन्द में, वेदना में शामिल हुआ हूँ मैं। वे थके पैरों की यंत्रणा से रोने लगे हैं तो मेरी आँखों में भी आँसू भर आये हैं। साँस न ले सकने से मेरा भी दम घुटने लगा है। वे सैकड़ों-हज़ारों हैं, वे हर साल, हर मौसम के हैं, वे जब से इस पथ पर आते रहे हैं मेरा धारावाहिक हृदय भी उनके साथ-साथ आया है। वे सब मेरी ही अभि-व्यक्ति हैं, मेरी ही इच्छा हैं, मेरी ही एकाग्रता हैं। मैं अकेला हूँ किन्तु बहु भी हूँ उनके बीच। 'एकोऽहं बहुस्याम्।' मैं उनके साथ अभिन्न अच्छेद्य हूँ। उन सबको लेकर ही मेरे जीवन की व्याख्या हो सकती है।

पीछे की ओर गगनचुम्बी महाहिमालय की असंख्य चोटियाँ हैं; पुराणों में किसी ने अपना नाम रखा है कनककान्त, मणिरत्नाभ, शोणितशिखर तो किसी ने स्फटिक पर्वत। इनके नाम सुनकर एक से दूसरे की उपलब्धि करनी चाही है मैंने। दोनों आँखों में दो वासनाओं के प्रदीप जलाकर यह खोजने चला हूँ कि प्राचीन हिमालय के वे खोये हुए शिखर कहाँ गए——कभी जिनका नाम था कदम्ब कुक्कुट् गौतम और वासव, श्यामांग और शोभिता। आज भी मौजूद तो हैं वे किन्तु दूसरे नामों से परिचित हैं अब वे। उनकी अँधेरी गुफाओं के नीचे शायद आज भी उस ज़माने की जंगली झाड़-झंखाड़ों से जली आँच की लौ जलती है——जिसकी सुनहली पीली रोशनी में प्राचीन हिमालय के शेर-शिकारी,किरात, यक्ष, राक्षस अपनी चीरहृ[illegible] अधनंगी रमणियों को छिपाये रखते थे। कैलास और मन्दार के छोरों पर वह 'अनव[illegible]प्तार' जलराशि है——बाद में जिसका नाम मानसरोवर हो गया था——तुषार की पृ[illegible] भूमि में जिसकी छाती पर आज भी सफ़े[illegible] और लाल कमल खिलते हैं। वही गन्ध-मादन और चित्रकूट के आसपास का अं[illegible] जिसे तब कन्नर खण्ड बोलते थे——आज [illegible] क्या वहाँ दिगम्बरा, हँसती-बोलती रमणि[illegible] की आवाज़ से गुहावासी पशुराज, केशरी सिं[illegible] चौंक पड़ते हैं? सर्वनाशिनी उर्वशी-मेनकाएँ क्या आज भी सुमेरु के आसपा[illegible] पुरुरवा-विश्वामित्रों को खोजती फिरती हैं?

●

किन्तु ब्रह्मपुरा के पथ पर आजकल तीर्थया[illegible] चलते हैं। प्यासे, थके-माँदे आँखों में [illegible] सँजोये, उत्कण्ठित; कौतूहल से गर्दन ऊँ[illegible] किए चींटियों की क़तारों-सा उनका का[illegible] चला जा रहा है, मानों चल नहीं रहा है, [illegible] है; गतिशील है पर जैसे गतिवेग नहीं [illegible] उसमें! वे कभी भागीरथी के किनारे च[illegible] हैं तो कभी अलकनन्दा पर और कभी मन्दा-किनी नन्दाकिनी और विष्णुगंगा पर,[illegible] पिण्डार और नायार में तो कभी मूलगंगा [illegible] नीलधारा पर पहुँचते हैं। कितनी ही बार [illegible] जीवन के छोटे-छोटे इतिहास भी सुने हैं। [illegible] अपनी खोई हुई संस्कृति खोजने आया है, [illegible] कोई जीवज्वाला शांत करने आया है। [illegible] पति ने दूसरी बार शादी की है इ[illegible] पहली पत्नी तीर्थयात्रा करने आई है। [illegible] न होने से सारी सम्पत्ति रसातल जाते [illegible] है; बहुत बड़े ज़मीन्दार सन्तान-कामना से [illegible]

हैं। संसार के किसी भी अखाड़े में जगह नहीं मिली, गुसाईं जी वैष्णवी को साथ लेकर यात्रा पर निकले हैं। एकमात्र योग्य संतान की मृत्यु हो गयी है, रोती-कलपती माँ अपनी सारी वेदना को हिमालय में प्रसारित करने आयी हैं। विश्वासघातिनी नारी का मोह त्याग कर निराशप्रेमी दूर-दूरान्तर की ओर चल पड़ा है। संशयाच्छन्न दार्शनिक आत्मशुद्धि के लिए आया है। वैरागी आत्मताड़ना के लिए। इन सबके साथ चले हैं, घूमते-फिरते व्यापारी, फ़कीर एवं बकने-झकने वाली स्त्रियाँ, निष्ठावती गृहिणी, नायक और नायिका; पंजाबी और दक्खिनी, गुजराती और मराठी ; साधु और संन्यासी। कोई घर-द्वार छोड़कर आया है तो कोई सारी रुकावटें तोड़कर आया है; कोई सुख-शय्या छोड़कर आया है तो किसी ने मोह- बन्धन काटकर इधर की ओर क़दम बढ़ाए हैं।

ऐतिहासिक युग ठीक कब से शुरू होता है, मुझे नहीं मालूम। किन्तु ऐतिहासिक युग में आकर देखता हूँ कि भौगोलिक और राष्ट्रीय सीमाओं में ब्रह्मपुरा बाँध दिया गया है। हम यह भूलने बैठे हैं कि आधुनिक पंजाब का एक अंश, सारी गढ़वाल और सहारनपुर का एक अंश, द्रोणाचार्य भूमि (आधुनिक देहरादून), कूर्मांचल (आधुनिक कुमायूँ), सारा पश्चिमी तिब्बत और पश्चिम नेपाल— ब्रह्मपुरा इस सारे भूभाग को कहते थे। इतिहास की कोई तिथि तो नहीं मालूम पर श्रुति और स्मृति के अतिरिक्त यह कोई नहीं जानता शायद कि विशाल भारत की राष्ट्र संहति एवं ऐक्य - साधना इसी ब्रह्मपुरा में शुरू हुई थी पहले-पहल। किसी को नहीं पता कि इसी ब्रह्मपुरा में बैठकर महाकवि व्यास ने समग्र वेदशास्त्र को चार अंशों में विभाजित किया था। किन्तु ब्रह्मपुरा में एक बार शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध, वैष्णव सभी प्रकार के धर्मों और मतों की परीक्षा चली थी। गुरु नानक, कबीर, महावीर, शंकर, दीपंकर, तुकाराम कोई भी नहीं छूटा था। ब्रह्मपुरा वही आदिम कसौटी है, जिस पर युग-युग में हिन्दू जाति के विभिन्न सम्प्रदाय, विभिन्न अध्यात्म-दर्शन, मतवाद और श्रद्धा-विश्वास कसे जाते रहे हैं। रामायण की संस्कृति ने इस ब्रह्मपुरा पर अधिकार जमाना चाहा था—रामपुर रामवाड़ा, राम-गंगा, हनुमान चट्टी का राम-मन्दिर, अगस्त्य मुनि, रामनगर, लक्ष्मण झूला, भरत मुनि की रेती के तपोवन में शत्रुघ्न का मन्दिर

'सामाजिक-प्राप्ति', 'सामाजिक लक्ष्य'.... आज हमारी भाषा के जीवनतत्व बन गए हैं। अस्तित्व-रक्षा के निमित्त और मनुष्य के सारे कर्मों की सच्चाई के लिए सामाजिक न्याय आवश्यक मान लिया गया है। कोई भी दूसरा प्रस्ताव इसके खिलाफ़ नहीं आता....। लेखक भी यह कहकर कि यह सब एक 'सार्वजनिक लाभ' के लिए है, एक स्वीकृति, लोक-प्रियता या नहीं तो कम-से-कम कुछ शान्त श्रोता-वर्ग का ध्यान अपनी ओर अवश्य आकृष्ट कर लेता है।

—एन० रैण्ड

इसके प्रमाण हैं। फिर आया महाभारत। हरद्वार के भीमगोड़ा से इसकी शुरूआत हुई। द्रोणभूमि इसी के पास है। आगे बढ़ते ही मिलेंगी व्यास गुहा और गंगा। मंदाकिनी के किनारे भीमसेन, बलराम और उखीमठ हैं। विष्णुप्रयाग के बाद पांडुकेश्वर है। पिन्दार और अलकनन्दा में कर्ण प्रयाग। उसके बाद बदरीनाथ के आगे पाण्डवों का स्वर्गारोहिणी पथ। इसके अतिरिक्त केदार-खण्ड और शिवपुराण का शुरू से अन्त तक आधिपत्य। बौद्धयुग में भी ब्रह्मपुरा का एक अत्यन्त दुस्तर पार्वत्यअंचल प्रधान हो गया था। यह हरद्वार से शुरू होता है। केदारनाथ के रास्ते बायीं ओर गुप्तकाशी और दाहिनी और उखीमठ हैं। इन्हीं को केन्द्र बनाकर नाला चट्टी और बेथुआ चट्टी के चारों ओर एक ज़माने में बौद्ध बिहार, स्तूप और बोधिसत्व की मूर्तियाँ निर्मित हुई थीं। यहाँ के प्रसिद्ध जय-स्तम्भ से बौद्ध स्तूप का सुसादृश्य देखकर चौंक उठता है कोई भी। इसके भी प्रमाण मिलते हैं, कि स्वयं बदरीनाथ अंचल भी कभी बौद्धप्रधान था।

किन्तु मेरा ज्ञान और विद्या सामान्य हैं। मैं तो सिर्फ़ देखता फिरा हूँ, विवेचना तो नहीं की। वर्णन ही किया बार-बार, विश्लेषण तो नहीं किया। इस ब्रह्मपुरा में आकर, इसके तीर्थ-पथ पर क़दम बढ़ाकर इसके दुरारोह पर्वतों की चढ़ाई या उतराई में क़दम बढ़ा कर कोई किसी का अपरिचित नहीं रहता। एक ही शिक्षा, एक ही संस्कृति, एक ही भावना लेकर सब चलते हैं। हज़ारों नर-नारी जो कि तीर्थ-यात्रिक हैं——मानो एक ही परिवार के हों। पुरुषों में अकर्मण्यता नहीं, स्त्रियों में पर्दा नहीं, यौवन की लाज-शरम वाली कुण्ठा नहीं। एक ही आहार, एक ही जगह टीन के नीचे रैनबसेरा, एक ही मार्ग पर सब का मेल-जोल, हँसी-ठट्ठा और मौज-मज़े का एक ही विषय, दुःख, वेदना, यंत्रणा और रोग-क्लेश में प्रत्येक परिचित यात्री का दूसरे के प्रति सम-वेदना-ज्ञापन। पग-पग पर, पथ-पथ पर देखा है कि पंजाबी-बंगाली के, बिहारी और मराठी के, तमिल और आसामी के, सिन्धी और मद्रासी के दिलों के तार जुड़े हैं।

भारत का कैसा आश्चर्यकर ऐक्य है। मंत्र-विद्या, पूजा, प्रणाम, श्राद्ध-तर्पण, आचार-व्यवहार सबमें विस्मयावह समन्वय है। जिसके साथ कभी परिचय तक नहीं हुआ उससे अपने सगे-सहोदर जैसी मदद मिलती है। रेलगाड़ी के डिब्बे में जिनके साथ बातें करने में भी झिझकते थे, यहाँ आकर उन्हीं के साथ खूब मिल-भेंट रहे हैं। हों न बिलकुल अपरिचित, आदमी हों या औरत—एक दूसरे का हाथ पकड़ कर मज़े-मज़े में आगे बढ़े जा रहे हैं; कष्ट होने पर जलपान कराते हैं, रसोई में हाथ बँटाते हैं; सोने के लिए बिस्तर लगा देते हैं। कोई किसी को नहीं जानता, एक मिनिट का भी परिचय नहीं है, एक की भाषा दूसरे को नहीं मालूम, किन्तु क्या आश्चर्य है कि इस नदीमेखली पार्वत्य शोभा की ओर ताककर अचानक दो अपरिचित स्त्री-पुरुष ठहर गए और पथश्रम के बावजूद दोनों हँस पड़े, संकेतों के सहारे ही एक-दूसरे की राजी-खुशी जान ली! और फिर उस विशाल पटभूमि के नीचे खड़े इन दो व्यक्ति-

का यह क्षणिक बन्धुत्व चिरकालिक गहरी छाप छोड़ गया मन पर।

कन्याकुमारी से कश्मीर का कृष्णगिरि, द्वारका से ब्रह्मदेश, इस विस्तीर्ण अंचल को लेकर अखण्ड भारत का जो क्षुद्र महादेश बनता है वे सभी गंगापथ से पहुँचते हैं इसी ब्रह्मपुरा गढ़वाल में। यहाँ के तपोवनों और मन्दिरों में सारे मत और सारे मार्ग मिल गए हैं। इसी गंगा-भागीरथी- अलक-नन्दा-मन्दाकिनी के किनारे-किनारे। देव-तात्मा हिमालय में सर्वाधिक प्रिय, सर्वाधिक पूज्य और लगता है, सर्वाधिक वन्य सुषमा संपन्न भूभाग है यह अविभक्त गढ़वाल। बहुकाल-व्यापी विज्ञापन द्वारा कश्मीर को भू-स्वर्ग कहा गया है। किन्तु दोनों आँखें खोलकर जिन्होंने कश्मीर और गढ़वाल का विचार किया है, वे जानते हैं, कि गढ़वाल में अनगिनत भूस्वर्ग बिखरे पड़े हैं। भारत से बाहर के जो भी घुमक्कड़ कश्मीर में सुइट्ज़रलैण्ड या आल्प-पर्वत वाली आवहवा पा जाते हैं, वे ही कश्मीर की शतमुखी प्रशंसा करते हैं। किन्तु कश्मीर हिमालय में देवतात्मा का स्वाद नहीं है। मौज-मज़े, घूमने-फिरने, सुयोग-सुविधा और विलास-व्यसन आदि की दृष्टि से कश्मीर आधुनिक घुमक्कड़ों के लिए बेशक अतीव आरामदेह है; किन्तु गांगेय ब्रह्मपुरा की तो बात ही दूसरी है। यहाँ आज भी आधुनिक काल की विज्ञानी सभ्यता आत्मश्लाघा का प्रचार नहीं करती। यह तो मानो अनादि-अनन्त काल का आधुनिक है; लाखों-करोड़ों सालों से भी अधिक आधुनिक है। अनन्तकाल के एक खण्ड को मानो इसने अपने सर्वांग में समेट रखा है। यहाँ आने पर दिखाई पड़ेगी भारत की मौलिक प्रतिभा। भारत की आदि संस्कृति, भारत का सर्वकालजयी संहति मंत्र। यहाँ सुख नहीं, आनन्द है। आराम नहीं, अनन्त मधुर अवकाश है। पर्याप्त मात्रा में आहार नहीं विदुर का साग-पात है। वहाँ भोग है तो यहाँ त्याग। सर्वत्यागी साधु सर्वनीतिभ्रष्ट भिखारी न हो जायें, इसीलिए ब्रह्मपुरा में पुरुषश्रेष्ठ काली कमली वाले बाबा का आवि-र्भाव हुआ था। उन्होंने यहाँ देखा कि जीव-मात्र शिव है; नरमात्र नारायण है। गोमुखी, गंगोत्री, उत्तरकाशी, अन्नपूर्णा, वृद्ध केदार, भैरवनाथ अथवा असी-वरुणा-भागीरथी का संगम सर्वत्र ही एक बात है। केदारनाथ, बदरीनाथ, तुंगनाथ, त्रियुगीनाथ, कमलेश्वर, गोपेश्वर, पाण्डुकेश्वर,—एक ही पत्थर के मन्दिर हैं, सब जगह। किन्तु प्रत्येक मंदिर की वेदी पर नित्य-प्रणाम करती आ रही है जुगजुग को भारती महाजनता।

० ० ०

सूचना

लेखकों से सूचनार्थ निवेदन है कि केवल स्वीकृत रचनाओं की सूचना दी जाती है, और केवल वही अस्वीकृत रचनाएँ लौटायी जाती हैं जिनके साथ आवश्यक टिकट होता है।

—सम्पादक

चारु चन्द्रलेख

लेखक : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी; प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, ८ फैजबाजार दिल्ली, पृ. सं० : ४४ मूल्य : १२.००

'बाणभट्ट की आत्मकथा' के प्रकाशन के १७ वर्ष बाद द्विवेदी जी का यह दूसरा उपन्यास है। १७ वर्ष की इस अवधि में हिन्दी उपन्यास साहित्य की काफ़ी प्रगति हुई है। क्या शैली, क्या शिल्प, क्या कथा सभी में हिन्दी उपन्यास ने प्रचुर विविधता और विकास उपलब्ध किया है, किन्तु द्विवेदीजी अपनी शैली और उपन्यास की इस विशिष्ट धारा में अभी तक अकेले ही रहे हैं—इसे यों भी कहा जा सकता है कि अद्वितीय रहे हैं। इस प्रकार के उपन्यासों में जैसी गहरी दृष्टि, विद्वत्ता, संस्कृति के प्रति आस्था और अध्ययनपूर्ण गवेषणा की आवश्यकता होती है, उससे भी यह स्वाभाविक है कि अन्य उपन्यासकार इस धारा में प्रवेश करने का साहस न जुटा पाए हों। बहरहाल, यह तथ्य है कि १७ वर्ष की अवधि में हिन्दी में इस धारा का अभी एक ही लेखक है, और उसके केवल दो उपन्यास ही उपलब्ध हो सके हैं।

स्पष्ट है कि उपन्यासों की प्रचलित परम्पराओं से इसका मेल नहीं बिठाया जा सकता। जो प्रतिमान हमने सामान्यतया उपन्यासों के लिए स्थिर कर रखे हैं, वे इसके लिए अपर्याप्त के साथ-ही-साथ अनुपयुक्त और भ्रामक भी प्रमाणित हो सकते हैं। यह भी प्रश्न उठाया जा सकता है कि स्वीकृत प्रतिमानों से मेल न खाने पर किस सीमा तक इसे उपन्यास कहा जा सकता है ?—केवल मनोरंजक कथा या किसी समाज का, किसी काल-विशेष का चित्र होने से ही कोई उपन्यास नहीं हो जाता। साहित्य के क्षेत्र में या उससे बाहर और भी ऐसी विधाएँ हैं,

जिनमें ये तत्व मिल जाते हैं, जैसे महाकाव्य, आख्यायिका या इतिहास-पुराण आदि।

सच तो यह है कि प्रस्तुत उपन्यास एक साथ ही महाकाव्य, पौराणिक - आख्यायिका, इतिहास और उपन्यास भी है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में महाकाव्यों की परम्परा का निर्वाह किया गया है, यद्यपि पात्र के आधुनिकतम मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तक की प्रचेष्टा उपन्यास में देखी जा सकती है। कथा का नायक राजा सातवाहन ही नहीं, अन्य पात्रों को भी यदि चरित्र-चित्रण के आधुनिक प्रतिमानों से परखा जाए, तो वे असम्पूर्ण ही नहीं, अस्वाभाविक और असंगत भी लगेंगे, किन्तु महाकाव्यों की नायक-नायिका परंपरा में सातवाहन, धीर शर्मा, विद्याधर भट्ट, बोधा, अलहना बघेला, या रानी चन्द्रलेखा, मैना, नाटी माता, विष्णु-प्रिया आदि भी पूरी तरह खप जाते हैं। सीदी मौला, अक्षौम्य भैरव, अमोघ वज्र, गोरक्षनाथ आदि पात्रों में केवल विशिष्ट-विचारों का प्रतिमूर्तित्व ही है, विशिष्ट-व्यक्तित्व नहीं!

सातवाहन अपनी समस्त उदारता के बावजूद एक निष्क्रिय, स्त्रैण, अन्तराभिमुख (introvert), और दूसरों के आनुगत्य में ही अपनी सिद्धि और सफलता देखने वाला पात्र ही रह जाता है! चन्द्रलेखा के प्रति भी प्रेम की अपेक्षा उसकी स्त्रैणता ही अधिक प्रतिपादित होती है। मैना के प्रति उसके मन की रुझान भी सातवाहन के मन की निष्ठा पर संदेह पैदा करती है। रानी की युद्ध-भूमि में मृत्यु के बाद चेत आने पर सातवाहन को बोधा से रानी के जीवित होने का समाचार मिलता है, तो वह रानी के बारे में चिन्ता... करता, उसके मन में आन्दोलित हो... इतिहास की घटनाएँ, धर्म का स्वरूप... और जैन का पारस्परिक द्वेष और उनके... विद्याधर भट्ट को मितभाषी कहा गया... पर जब वे बोलते हैं, तो पृष्ठ के पृष्ठ... चले जाते हैं। विष्णु-प्रिया द्वारा... भाषा के लिए कहा गया है कि उनकी... ग्राम्य किन्तु भाव स्वर्गीय है! किन्तु देखें... वह एकदम दार्शनिक और प्रांजल लगें... जब वे ताम्बूल के प्रसाद का विश्लेषण करें...

लेखक ने १२ वीं, १३ वीं शताब्दी... समाज का चित्रण करते हुए भी... आधुनिकता का रंग भरने का प्रयास कि... पर वह सर्वत्र स्वाभाविक नहीं हो पाया... लेखक साथ ही अपने पुरातत्व, मनोवि... आदि विषयों के ज्ञान को प्रकट करने का... भी संवरण नहीं कर सका है। अ... के द्वारा समाजवाद की भावना की... का एक ओर जहाँ प्रयत्न है, वहाँ '... ताल' के नामाभिधान में पुरातत्व की... भी विद्यमान है! बोधा और मैना... अन्तश्चेतना में अत्यन्त शैशव में दबी... दो घटनाओं के भय को उनके उत्तर... में मनोवैज्ञानिक-भय (phobia)... अवतारणा करके मनोविश्लेषण का... निकतम प्रयोग भी प्रस्तुत कर दिया... किन्तु, कथा की मूल महाकाव्य की भूमि... ये तत्व ऊपर से जोड़े हुए ही दिखाई... स्वाभाविक नहीं! मानों मध्ययुग... प्राचीन ढाके की मलमल में नायलन... का पैबन्द लगा दिया गया हो!

रानी चन्द्रलेखा का चरित्र भी...

ढुलमुल है। मानो उसकी सर्वांग सम्पूर्णता के बत्तीस लक्षण उसके शरीर ही से संबंध रखते हों, उसके व्यक्तित्व के अन्य उपादानों से नहीं। सातवाहन से उसका संबंध मानो उसकी इच्छा का फल नहीं, उसके अदृष्ट का ही फल हो!—नागनाथ के प्रति उसके मन की भावना कैसी थी, यह भी स्पष्ट नहीं कहा जा सकता! क्या यह युक्तिसंगत लगता है कि नागनाथ द्वारा कोटिवेधी रस की सिद्धि में वह सारी मानवता का कल्याण समझ बैठी हो? सिद्धरस के अनुमान से ही यदि व्यक्ति को जरा-मरण से मुक्ति मिलनी होती तो वह रस कितने व्यक्ति के लिए पर्याप्त होता? प्रबन्ध चिन्तामणि में तो रानी को मंत्रमुग्धा अथवा अवश भी बताया है, किन्तु प्रस्तुत उपन्यास में तो रानी अपनी समस्त चेतना में नागनाथ की वशवर्तिनी होती है! और यदि यह सब व्यापार जिसमें से रस-साधन के बाद रानी को गुज़रना पड़ता है, यदि रानी के मन का विकार मात्र हो—जैसा कि लेखक ने प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है—तो कहना होगा, कि इस बत्तीस लक्षणों से युक्त महिमामयी रानी को लेखक ने ज़रा-सा भी मनोबल न देकर एक अविश्वसनीय असंगति ही दी है।

सारी कथा सातवाहन स्वयम् कह रहा है किन्तु कहीं-कहीं कथन की भंगिमा सदोष भी हो गई है। जहाँ स्वयं सातवाहन का उल्लेख आया है, कहीं-कहीं 'मैं' के स्थान पर वे अन्यपुरुष बन गए हैं! एक ही दिन की घटना में भी लेखन में कहीं-कहीं असंगत अंतराल पैदा कर दिया गया है! पुस्तक में यह स्पष्ट नहीं है कि मुसलमानों को लेखक विदेशी मानता है, या स्वदेशी-अत्याचारी! दिल्ली के सुलतान से युद्ध की तैयारी के समय विद्याधर भट्ट कहते हैं कि आर्यभूमि को विदेशियों के पदाघात से निरन्तर जर्जर होने से रोकना है, किन्तु उसी सुल्तान के विरुद्ध उसके सेनापति शाह को वे विदेशी नहीं मानते। इस्लाम के प्रति आस्था प्रकट करने में भी लेखक ने एक प्रसंग पर कोताही नहीं की है!

विचारों में भी इसी तरह जगह-जगह पर असंगति दिखाई देती है। गोरक्षनाथ का वक्तव्य इसका प्रमाण है। सारे जगत को भूलकर अपनी मुक्ति की चिन्ता को वे माया मानते हैं! और मोक्ष का स्वरूप समझाते हुए कहते हैं कि सच्चा मोक्ष यह है कि मनुष्य सहज ही समाधि लगाकर अपने मन से अपने ही मन को देख सके! कहाँ है यहाँ जगत् की चिन्ता! आगे कहते हैं, इस शरीर को अगर तुमने नहीं समझा तो सिद्धि के लिए भटकना बेकार है, जो इस शरीर को नहीं जानता, वह इस ब्रह्मांड को भला क्या जानेगा! आगे वे उन्हीं लोगों को ललकारते हैं जो नर-देह को दुर्लभ वस्तु मानते हैं!—ऐसे लोग क्या बाहरी सिद्धि के लिए, दूसरों की सेवा के लिए भी क्या अपनी दुर्लभ नर-देह को खतरे में डाल सकते हैं? चीनाचार की भर्त्सना करने के बाद भी चीनाचार से वे विमुख नहीं होते! अमोघ वज्र के द्वारा लेखक कहलवाता है—'इच्छा-शक्ति के इंगित पर चलते रहने से जीव माया के पाश में बँध जाता है'; और दो वाक्य आगे ही कहते हैं कि माया के पाश में बँधकर व्यक्ति या समाज जब पशु अवस्था को प्राप्त करता है तो उसकी स्वतन्त्र इच्छा

समाप्त हो जाती है ! स्पष्ट है कि लेखक यहाँ स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का महत्व स्वीकार करता है और माया तथा इच्छा-शक्ति के पारस्परिक कार्य-कारण संबंध में भी असंगति और अस्पष्टता प्रकट करता है ।

कथा की कुछ असंगतियों का उल्लेख कथा प्रस्तुत करने वाले पं० व्योमकेश शास्त्री ने भी किया है । पता नहीं वे इन असंगतियों को भी स्वीकार करेंगे या नहीं, किन्तु स्पष्ट है कि इन असंगतियों की ओर उसका ध्यान नहीं जा सका है ।

पर, यह तो चित्र का एक ही पहलू हुआ ! इन कमियों के बाद तो जो कुछ बच रहता है, वही तो है, जो साहित्य की उपलब्धि है ! जैसा कि कहा जा चुका है, पुस्तक को प्रचलित पैमानों से परखना पुस्तक के साथ अन्याय होगा । प्रस्तुत पुस्तक बुद्धि को उन्मेष देने के लिए नहीं, उसके रमण के लिए यह एक रम्य उद्यान है, जहाँ वह जगत के श्रांत-क्लांत वातावरण से छुट्टी लेकर दो घड़ी विश्राम करके तरोताज़ा हो सके । प्रकृति के बड़े ही भावपूर्ण सजीव चित्र पुस्तक में भरे पड़े हैं, जो लेखक के गंभीर अध्ययन के सूचक हैं । स्थान-स्थान पर नवीन दार्शनिक उपपत्तियाँ लेखक के चिन्तन को प्रकट करती हैं । यदि इस प्रकार की पुस्तकें साहित्य में अधिक नहीं लिखी जातीं तो इसलिए कि प्राचीन संस्कृति के रत्नों को ढूंढ़ निकालना और उन्हें समाज के सामने प्रकट करना सामान्य कार्य नहीं है ।

—सन्हैयालाल ओझा

महादेवी वर्मा

लेखक : कुमार विमल; प्रकाशक : [illegible] प्रकाशन, पटना; पृष्ठ-संख्या : १४(डिमा[illegible]) मूल्य : १.५०

नई आलोचना के क्षेत्र में श्री कुमार वि[illegible] बिहार के एक समर्थ हस्ताक्षर हैं। [illegible] पुस्तक संभवतः उनकी दूसरी आलोचना[illegible] कृति है । स्पष्ट ही, इस छोटी-सी [illegible] लेखक का उद्देश्य छायावाद की [illegible] कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा के काव्य[illegible] विश्वविद्यालयीय छात्रों के लिए सुबोध [illegible]यन प्रस्तुत करना मात्र रहा है और [illegible] प्रयास में उसे कृतकार्यता भी प्राप्त हु[illegible] पर श्री कुमार विमल की उपलब्धि यहीं [illegible] उनकी पुस्तक केवल छात्रोपयोगी होकर [illegible] रह गई है । आधुनिक साहित्य के प्रबुद्ध [illegible] को भी, मेरा विश्वास है, यह पर्याप्त [illegible] प्रदान करेगी ।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने प्रचलित [illegible] के अनुसार श्रीमती वर्मा के काव्य के [illegible] और भावपक्ष की विश्लेषणात्मक [illegible] की है । कलापक्ष के अन्तर्गत उसने [illegible] विधान, अलंकार - योजना, भाषा-[illegible] छंद-विधान, काव्य - उपकरण, चित्र[illegible] आदि पर सोदाहरण विचार किया है, [illegible] इन सबके लिए अलग-अलग उपशीर्षक [illegible] नहीं क्यों, नहीं दिये गए हैं । इसी [illegible] तीन चार पृष्ठों में महादेवी जी की [illegible] पर भी प्रकाश डालने का प्रयास कि[illegible] है । यह प्रयास कहाँ तक आधिका[illegible] यह कहना तो कठिन है, पर इस विवे[illegible]

माध्यम से गीतों की भावधारा को समझने की एक उपयोगी पीठिका प्राप्त हो जाती है और संभवतः इतना ही लेखक का अभीष्ट भी है ।

पुस्तक का अधिक महत्वपूर्ण अंश उसका उत्तरार्द्ध है, जिसमें श्रीमती वर्मा के काव्य के भावपक्ष की सूक्ष्म विवेचना की गई है। यह बड़े संतोष की बात है कि कुमार विमलजी महादेवी वर्मा की कविताओं को छायावाद का ही सहज विकास मानते हैं, उस पर रहस्यवाद का भारी-भरकम लबादा डालकर आध्यात्मिक शब्दावली में उसकी व्याख्या नहीं करते हैं और न छायावाद का शुक्लजी अथवा डॉ० शिवमंगलसिंह 'सुमन' की भाँति दुहरे अर्थों में प्रयोग कर उसका अवमूल्यन करते हैं। अधिकांश आलोचकों ने महादेवीजी के काव्य में 'असीम', 'अज्ञात' आदि शब्दों का बार-बार प्रयोग देखकर आध्यात्मिकता की भाषा में उसका आख्यान शुरू कर दिया और इस प्रकार प्रस्तुत और सामाजिक पक्ष उपेक्षित रह गया। इसी प्रकार महादेवी के वेदनावाद की भी दार्शनिक व्याख्याएँ ही अधिक हुई हैं। कुमार विमलजी का आग्रह महादेवी के सम्पूर्ण काव्य को लौकिक धरातल पर रख कर परखने का है। वे अपनी गहरी पकड़ और संतुलित दृष्टिकोण का परिचय देते हुए कहते हैं—"महादेवी के काव्य में करुणा की प्रचुरता का एक कारण व्यक्तिगत रुचि और परिवेश के साथ उनका असफल दाम्पत्य भी है। परिवेश की प्रतिक्रियाओं और आवेष्टन के प्रभावों ने महादेवी के गद्य-साहित्य में अधिक अभिव्यक्ति पाई है तथा असफल दाम्पत्य की अतृप्तियों एवं कुंठाओं ने उनके काव्य में । असफल दाम्पत्य ने उनके व्यक्तित्व और अंतश्चेतना को ही विप्रलंभ का अधिकरण बना दिया है, जिसे कवयित्री ने बौद्धिक आयास से अधिक अभिधात्मक और प्रकट होने नहीं दिया है।" (पृष्ठ ६८) केवल एक बात मैं यहाँ और जोड़ना चाहूँगा । महादेवी जी के काव्य में असफल दाम्पत्यजनित पीड़ा तो है ही, विगत युग की भारतीय नारी की सामान्य विवशता और दयनीय स्थिति की गीली प्रतिक्रिया भी है। उन्होंने व्यष्टि के माध्यम से, दरअसल, समष्टि के असंतोष और वेदना को ही स्वर दिया है। इस दृष्टि से उनकी कविताएँ भी उतनी अधिक वैयक्तिक नहीं, जितनी साधारणतः समझी जाती हैं।

पुस्तक के अंतिम पृष्ठों में महादेवी के दुःखवाद पर बौद्ध-दर्शन के क्षणवाद का कहाँ तक प्रभाव है और किन-किन बातों में दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं, इस पर निपुण भाव से प्रकाश डाला गया है। इसी क्रम में लेखक ने बौद्ध धर्म की दार्शनिक मान्यताओं की भी किंचित् विस्तार से चर्चा कर दी है। इससे पुस्तक में थोड़ी-सी गरिष्ठता तो आ गई है, पर उसी अनुपात में उसकी प्रामाणिकता भी बढ़ी है।

कुल मिलाकर यह छोटी पुस्तक महादेवी वर्मा के काव्य पर अब तक की प्रकाशित आलोचनात्मक कृतियों में विशिष्ट स्थान रखती है। जो लोग नई समीक्षा का स्वाद पाने के लिए इसे उठाएँगे, उन्हें तो इससे संतोष होगा ही, रस-अलंकार के पुराने मापदण्ड के प्रेमियों को भी यह निराश न करेगी।

—प्रो० आनन्दनारायण शर्मा

सोना

लेखक : रमण; प्रकाशक : दिल्ली पुस्तक सदन, पटना—४; मूल्य : ४·००

'रमण' नाम हिन्दी में बहुत हद तक बदनाम है। शायद यही कारण है कि 'रमण' को जो आपदायें जीवन में सहनी पड़ीं और सोने-सी जवानी को मिट्टी बनाकर समाज के झंझावात में छोड़ देना पड़ा, वही स्थिति 'रमण' की साहित्य में भी रही है।

'सोना' रमणजी का एकदम ताज़ा उपन्यास है। पढ़ना प्रारंभ किया तो लगा फिर शुरू कर दिया लेखक ने वही चोंचला, बहकी हुई पगडंडी पर चलने का एक अजीब सिलसिला। पर मन को थामकर पढ़ता रहा—कलकत्ते की गलियों में भटकता रहा—सोना, प्रकाश, विनोद, वाणी के चारों ओर घूमता रहा और अंत में मारग्रेट भी मिली जैसे आँधी के बीच कुछ दूर की आवाज़ तैर आयी हो, तो लगा—'रमण' को इस बार माफ़ कर देना ही पड़ेगा। 'रमण' के उपन्यासकार का वह द्रव्य जो बहुत दिनों से जानबूझकर बन्दी कर लिया गया था आज खुलकर बाहर आ गया है। 'सोना' रमण की अब तक की कृतियों में सबसे मार्मिक और श्रेष्ठ कृति है जिसका मूल्यांकन करना ही चाहिए।

टेकनीक की दृष्टि से सुरुचिपूर्ण इस उपन्यास का एक प्रमुख पात्र लेखक स्वयं है जो कलकत्ते जाकर अपने मित्र प्रकाश का अतिथि बनता है। वहाँ वाणी बहन हैं, प्रकाश है और है वह सोना जो प्रकाश के जीवन की मजबूरी और वाणी बहन के जीवन की दुविधा बनकर उपस्थित है। विनोद (लेखक) को लगता है वह सोना अच्छी [illegible] भली है फिर भी प्रकाश के लिए एक [illegible] है। वाणी के मन में उद्वेलन है, ऐसा [illegible] जो ऐसी पत्नी के मन में होता है [illegible] आँखों के सामने उसका बसाया हुआ [illegible] जल रहा हो और वह चुप रहे। [illegible] मक्खन लगाती रहे, घुमाती रहे पर [illegible] नहीं। विनोद की वाणी के प्रति [illegible] जग जाती है। विनोद प्रकाश को [illegible] स्थिति बताता है और उससे कहता है [illegible] सोना को दूर कर दे। पर बम्बई से [illegible] गई त्याज्य सोना को जो संरक्षण [illegible] ने अनजाने में दिया है उसे छीनने को [illegible] प्रस्तुत नहीं है।

दुविधा के चक्रवाल में पड़ी हुई [illegible] और पति के साथ मिलकर लेखक के [illegible] का ताना-बाना चलता रहता है और [illegible] जो कलकत्ता मोटर खरीदने आया था [illegible] अर्से तक ठहर जाता है। इसी बीच [illegible] विनोद के प्रति प्रेम का स्वांग करती है [illegible] इस अभिनय से दुविधा सुविधा में बदलती [illegible] मन की परतें टूट जाती हैं, सोना को [illegible] करने के लिए प्रकाश जैसे तैयार हो, [illegible] उसके लिए प्रस्तुत हो जाता है! [illegible] का मन विनोद के प्रति कलंकित भी हो[illegible] पर मन का यह उद्वेलन जैसे उद्वेलन की [illegible] रसता को पार कर जीत जाता है। सोना [illegible] के साथ कलकत्ते से बाहर जाकर पढ़[illegible] लिए तैयार की जाती है, खर्च का [illegible] प्रकाश कर देता है। विनोद के कल[illegible] प्रवास में मिलती है, मार्ग्रेट, जो तन [illegible] मन को जुगाये रखने की कला में पारंगत [illegible] विनोद उसकी पीठ के दाग़ को [illegible]

बेटा गया परदेस

इनका बेटा गाँव से ८०० मील दूर एक फौलाद के कारखाने में काम करता है। कभी कभी वह माँ से मिलने चला आता है.. ......याने हर तीन साल के बाद ही वह गाँव आ सकता है। सौभाग्य से माँ के पास उसके स्वर्गीय पतिकी जीवन-बीमा-पालिसी की कुछ रकम बची है :

अब संयुक्त-परिवार-प्रथा धीरे धीरे मिटती जा रही है। यदि वह प्रथा आज रहती तो उसे चिन्ता करने का कोई कारण न रहता। तब घर के दूसरे लोग उसकी देखभाल करते और वह सुख से जीवन बीता सकती। अब बूढ़ों को इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए कि उनके बाल-बच्चे, कुछ कारणों से विवश होकर, अलाहिदा भी रह सकते है।... और फिर उनकी मदद नहीं कर सकते। जीवन बीमे का महत्व इस दृष्टि से आज बहुत हो बढ गया है। क्या आपने बीमा कराके अपनी वृद्धावस्था की आमदनी का कोई प्रबन्ध किया है?

जीवन बीमा सुरक्षा का बेजोड़ साधन है।

है—तन को जीत नहीं पाता। मारग्रेट की आत्मा की धवलता उसका मन मोह लेती है। तुलना करता है उपन्यासकार और विनोद दोनों ही : सोना बाहर से शुभ्र दिखाई पड़ती हुई कितनी गंदी है, घिनौनी है और यह मारग्रेट बाह्य रूप में कलंकिनी है, वेश्या है, पर मन से उज्ज्वल है।

सार्त्र के उपन्यासों में नियतिवादी दृष्टिकोण की जो विजय है कुछ वैसी ही स्थिति होती है मारग्रेट की, वह कलकत्ते से बाहर चली जाती है! विनोद के मन को एक आघात देकर, पर सर्वस्व लेकर! मारग्रेट की कथा, कलकत्ते से जमशेदपुर आने और किसी की पत्नी बनने की आकांक्षा की असफलता की मार्मिक स्थिति की ज्ञान विनोद को तब होता है जब वह वाणी बहन की पावनता को प्रकाश के मन में स्थापित करके सोना को लेकर जाता होता है। मिस्टर बादवानी से कथा सुनकर विनोद का मन झंझावात में टूटे हुए पत्ते - सा उड़ने लगता है और वह सोचता है; मारग्रेट के पास जाकर उसकी कलंक-कथा का तापमोचन कर पाए! तभी गाड़ी जमशेदपुर पहुँचती है और जब बादवानी के उठाने पर विनोद उठता है, तो पाता है कि सोना कहीं रास्ते में ही ग़ायब हो गयी है। तेरह हज़ार प्रकाश का तो लेती गयी थी पहले ही, विनोद का भी जो संचित था उड़ा ले गयी। बादवानी आश्चर्यचकित होता है—अजीब आदमी है विनोद! जैसे लूटे जाने का कोई शोक नहीं! जैसे लूटा जाना इसका कर्म हो गया है!! फिर विनोद उतर जाता है जमशेदपुर में, कहता है—"ठहरिए, मैं भी आपके साथ उतर जाना चाहता हूँ! मंज़िल वह नहीं जहाँ मुसाफ़िर पहुँचे। मंज़िल तो उसी का नाम है, जहाँ हर भटकता हुआ आदमी पहुँच जाय।" विनोद मारग्रेट को पा जाता है—ऐसा लगता है! उपन्यास का अंतिम लक्ष्य यही होना भी चाहिए। मुझे बार-बार इस उपन्यास को पढ़ते समय लगा 'सोना' का जो विनोद है वही 'रमण' है; साहित्य में या जीवन में जो 'रमण' है वही 'सोना का विनोद है; और चाहे लिखते-लिखते पाठकों को धोखा देने का सफल षड्यंत्र क्यों न करे, उसे धोखा नहीं दे सकता जिसने 'रमण' को देखा है! यही कहना होगा 'सोना' की कथा एक कथा है जिसमें लेखक की अनुभूति की तन्मयता ने मार्मिकता को उपस्थित करने का प्रयास किया है।

—कृष्णनन्दन पी[illegible]

कुब्जा सुन्दरी

लेखक : ठाकुरप्रसाद सिंह; प्रकाशक : हिं[illegible] प्रचारक पाकेट बुक्स, वाराणसी; मूल्य : १[illegible]

संज्ञा एक साधारण - असाधारण नारी है। साधारण शारीरिक सौन्दर्य में [illegible] असाधारण आत्मशक्ति में, आत्मनिर्णय [illegible] निष्ठा में।

संज्ञा सन्तानोत्पत्ति - क्षमता से हीन है। इसीलिए उसका पति उसे त्याग देता है [illegible] भी कि वह स्वयं पति का घर छोड़कर [illegible] देती है। उपन्यास का नायक सं[illegible] कुछ विचित्र प्रकार का आकर्षण पाता [illegible] उसकी बातें, हँसना, आचरण, आत्म[illegible] और इसी प्रकार की अन्य अनेक विशे[illegible]

संज्ञा विवाह कर चली जाती है [illegible]

घर और छोड़ जाती है अपनी छोटी बहन सुषमा को नायक की देख-रेख में। नायक इस नयी परिचिता के प्रति भी कुछ विशेष भाव प्रदर्शित करता है और एक दिन वह भी किसी मित्र के साथ नायक की आँखों के सम्मुख ही हँसती-खिलखिलाती जीवन के भावी पथ पर बढ़ जाती है। नायक देखता और सोचता है, सोचता है और देखता है जब तक वह दीखती है। फिर आँखें घुमा लेता है और एक ओर बढ़ जाता है। बहुत दिनों बाद संज्ञा और नायक की मुलाक़ात होती है। नायक उसे अपने पास रुकने का आग्रह करता है और संज्ञा रुक जाती है। कुब्जा में भी कोई विशेष आकर्षण नहीं था न; किन्तु कृष्ण के भीतर जीवित युवक ने उसे अपनी भुजाओं में बाँध लिया था। कुब्जा की बाह्य कुरूपता प्राप्ति के आनन्द में विलीन हो गयी थी। और कहानी समाप्त।

लेकिन 'कुब्जा सुन्दरी' की कथा इस उपर्युक्त घटना के बाद भी है। और वह कथा है लेखकीय दृष्टिकोण की, कथानक के प्रस्तुतीकरण की, युगानुकूल चिन्तन प्रक्रिया को कहानी के माध्यम से अभिव्यक्ति देने की।

पुस्तक के आधे से अधिक भाग तक ऐसा लगता है कि नायक स्वयं का पुरुष है। लेकिन अन्त आते-आते उसमें पुंरुषत्व की चेतना-शक्ति जिस समर्थता से परिलक्षित होती है उसके मूल में युग-जनित जीवन-प्रक्रिया और अत्याधुनिक भावभूमि ही हैं।

उपन्यास, कथा-वस्तु के नाम पर पढ़नेवाले घटना-प्रेमी पाठकों को शायद ही तोष दे पाए। हाँ, यह उनके मनोरंजन का कारण अवश्य है जो आज के बौद्धिक चिन्तन को भी कथा के माध्यम से प्रकट होते देखने-जानने के इच्छुक हैं। और यदि ऐसा नहीं होता तो काशी के घाटों के साथ लोचनजी और चरणजी जैसे जीवों की न तो कोई आवश्यकता थी और न तो संथाली लोक-गीतों के उद्धरण तथा उस जीवन-विशेष की। लेकिन आवश्यकता थी और यही आवश्यकता है जो आज के जीवन को पिछले जीवन से अलग करती है, जो आज की कहानी को पुरानी कहानी से अलग करती है।

कथा का प्रवाह घटना-विहीन होने से जहाँ कहीं अवरुद्ध होता है वहाँ लेखक कुछ इतने प्रकार के प्रश्न उपस्थित कर देता है कि प्रबुद्ध पाठक को कहीं असुविधा नहीं होती। मात्र कहानी का अंत जानने वाले चाहें तो आधा उपन्यास छोड़कर अंत के तीन पृष्ठ भर पढ़ सकते हैं। और फिर कहानी समाप्त।

प्रस्तुत उपन्यास हिन्दी उपन्यासों के क्षेत्र में एक प्रयोग—प्रारम्भ—सा लगेगा। यह नवीनता हमारी बौद्धिकता का परिचायक है जिससे अनेक स्वस्थ संभावनाएँ जन्मती लगती हैं।

पुस्तक की भाषा और वर्णन-शैली जहाँ पाठकों को विभिन्न दृष्टिकोणों से रमाने का सोचने का प्रयत्न करती है वहीं मुद्रण की अनगिनत भूलें बार-बार खटकती हैं। काश, प्रकाशक ने भी उतना ही उत्साह प्रदर्शित किया होता जितना उत्साह लेखन में लक्षित होता है।

—चन्द्रदेव सिंह

बातें जिनमें सुगन्ध फूलों की

लेखक : अहमद सलीम; प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; मूल्य : ३.००

फूल की खुशबू और है, बातों की खुशबू

देश रक्षा में इससे क्या मदद मिलेगी ?
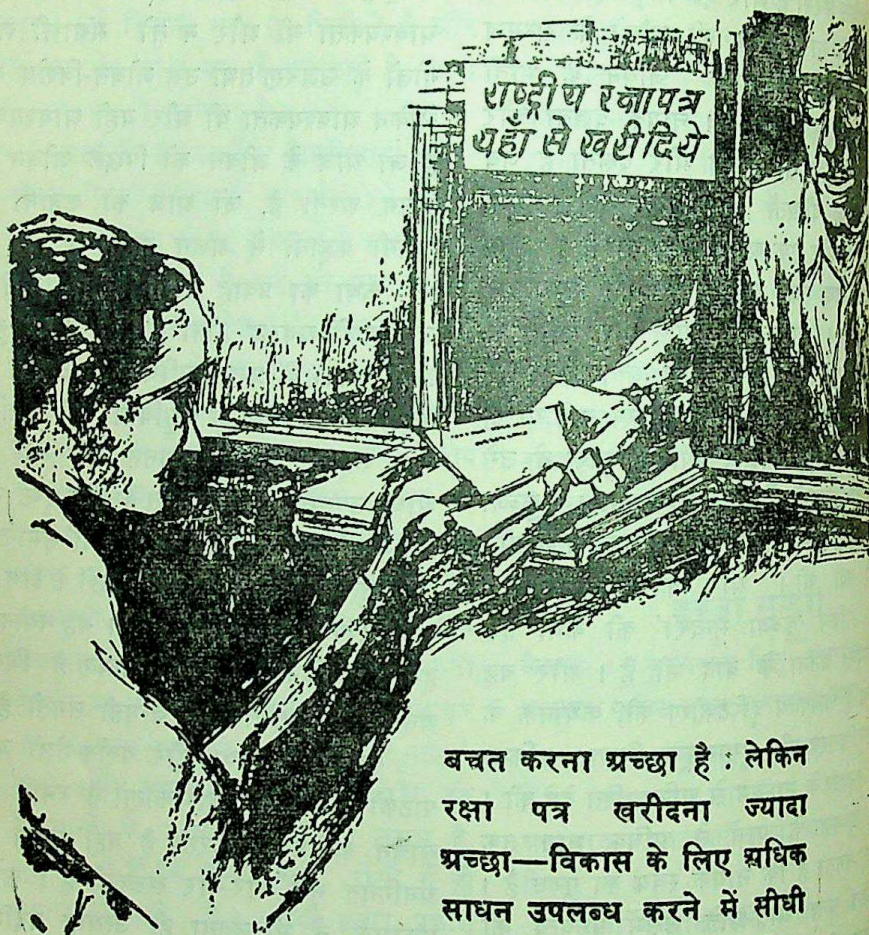
बचत करना अच्छा है : लेकिन रक्षा पत्र खरीदना ज्यादा अच्छा—विकास के लिए अधिक साधन उपलब्ध करने में सीधी मदद—देश रक्षा के लिए अधिक रसद और साज सामान

देश रक्षा में आपकी बचत का बहुत महत्व है

डीए ६३/४

ग्रौर ! ग्रौर खुशबू से भरी बातें या तो मुहब्बत की होती हैं या किसी ग्रपने को लिखे गए ख़तों में पाई जाती हैं। चाहे जहाँ कहीं भी ऐसी बातें हों वे मन को छूती हैं, जिस्म को सिहरा देती हैं, रोंगटे खड़े हो जाते हैं कभी-कभी--ग्रौर ग्राँखों का भर-भर ग्राना तो ऐसे में होगा ही, होता ही है।

ग्रहमद सलीम नाम का नन्हा-सा नौ-जवान, ग्रगर ग्राप उससे मिलें तो वह खुद खुशबू से भरा लगेगा। बड़ा ही तेज, बड़ा ही सूक्ष्मदर्शी, बड़ा ही सरल। ग्रौर इसी ग्रहमद सलीम ने उर्दू ग्रदब के ऐसे-ऐसे रचनाकारों के ख़त इकट्ठे किए हैं जिनसे उन की ज़िन्दगी ही जानी नहीं जाती बल्कि उनका पूरा ज़माना जैसे उनकी क़लम में बन्द होकर काग़ज़ के पन्नों पर बिखर गया है।

मुझे 'बातें, जिनमें सुगंध फूलों की' किताब की ग्रच्छाइयों-बुराइयों का हिसाब करना है ग्रौर लगता है कि मैं उस किताब की केवल तारीफ़ ही कर पाऊँगा; क्योंकि प्रस्तुतकर्त्ता ने ख़तों के जिन हिस्सों को सामने रखा है, वे हिस्से तो ग्रहमियत रखते ही हैं, उनके साथ जो सन्दर्भ-पंक्तियाँ हैं, उनका भी ग्रपना एक विशेष महत्व है।

ख़त चाहे ग़ालिब के हों, चाहे दाग़ के, चाहे इक़बाल के हों; चाहे मौलाना ग्राज़ाद के सभी में ऐसी मार्मिक शक्ति है, सभी की ज़िन्दादिली, उनके ग्रल्फ़ाज़, दिलोदिमाग़ पर छा जाने वाली उनकी ज़िन्दगी सब ऐसी ही हैं जिन्हें पढ़ते हुए पाठक का मन बार-बार उनकी नज़्मों के पीछे छिपी वजहों को याद करने लगता है। ग्रौर तभी उर्दू काव्य की मार्मिकता स्पष्ट होने लगती है--किस-किस प्रकार उनके तत्कालीन जीवन ने उन्हें ग़म ग्रौर गुमान के ऐसे जाम पिलाए थे जो उनके शेरों में ग्रगर ग्रँट नहीं पाए, तो इन ख़तों में ग्रा गए।

लेकिन यह समीक्षा नहीं हुई ग्रौर मुझे पुस्तक की कमी की ग्रोर भी इशारा करना चाहिए। इस पुस्तक में कमी यह है कि इसमें कुछ ग्रौर ख़त होने चाहिए थे !—

—चन्द्रदेव सिंह

[पृष्ठ ८ का शेष सह-चिन्तन]

"सबसे बड़ी कमी प्रशिक्षित कार्यकर्ताग्रों का ग्रभाव है, जो गाँव की जन-शक्ति को फलवती दिशा में ले जा सके। हर ब्लाक में एक पूरा समय देने वाला प्रशिक्षित कार्यकर्त्ता तो होना ही चाहिए।...हमें ग्रपने लोगों की सामाजिक ग्रौर ग्रार्थिक ग्रावश्यकताग्रों की ग्रोर ध्यान देना है। यह तभी सम्भव है, जबकि कार्य-कर्त्ताग्रों का एक संवर्ग या 'कोडर' तैयार किया जाए।"

लगता है देश का नेतृत्व ग्राकाशबेल की तरह पृथ्वी से दूर है; क्योंकि वास्तविक स्थिति यह है कि किसी भी ब्लाक में श्रेष्ठ कार्यकर्त्ताग्रों की कमी नहीं है; कमी है उनके लिए योजनाबद्ध काम की। देहात के, जन-साधारण के हरेक काम के लिए एक सरकारी विभाग--महकमा--बना दिया गया है; फिर कार्यकर्त्ता क्या काम करे ? क्या पिछले १५ वर्षों में उसके लिए किसी ने कुछ सोचा है ? उसके लिए कोई कार्यक्रम बनाया है ? जिस देश में गुलामी के विरुद्ध खूनी फाग खेलने वाले हज़ारों कार्यकर्त्ता हैं, उसमें कार्यकर्त्ताग्रों की कमी की बात कोई कहे, तो उसे क्या कहा जाए ? ● ●

कोटा, राजस्थान, ४ जनवरी '६४

ज्ञानोदय के जनवरी '६४ के अंक में श्री मनमोहन ठाकौर द्वारा 'सिपाही' के रूप में स्वातंत्र्य-संग्राम के अनूठे सेनानी बूँदी के स्व० श्री नित्यानन्द जी मेहता के संस्मरण अत्यन्त रोचक ढंग से प्रस्तुत किए गए हैं। पर उनका नाम-स्थान आदि न देना क्या लेखक की संकुचित भावना का परिचायक नहीं है ?

—हीरालाल जैन

कलकत्ता
१७ फरवरी '६४

स्वीकार करता हूँ कि 'सिपाही' की प्रेरणा बूँदी के स्व० श्री नित्यानन्दजी मेहता से ही प्राप्त की है। परन्तु भाई हीरालाल जैन इस 'कहानी' को 'संस्मरण' मानने में तनिक भूल कर बैठे।

यों तो प्रत्येक कहानी कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी घटना का संस्मरण होती है, तथापि कहानी और संस्मरण में एक स्पष्ट और मूलभूत अंतर होता है। 'भवानी चाचा' श्री नित्यानन्दजी मेहता जैसे उन असंख्य 'अनूठे' सेनानियों के प्रतीक हैं जो अपनी सामन्ती परम्पराओं से विद्रोह कर स्वातंत्र्य-संग्राम में आ जूझे थे, सेनानी बनने के लोभ से नहीं, पदातिक सैनिक की भव्य गरिमा से मंडित होकर।

रही 'संकुचित भावना' की बात। यह तो श्री हीरालाल जैन स्वयं जानते हैं कि श्री नित्यानन्दजी मेरे अपने दादा थे। उनका नाम और पता देकर मैं अपने को गौरवान्वित अनुभव करता। परन्तु फिर 'सिपाही' संस्मरण मात्र बन रहता और भवानी चाचा की मृत्यु जेल में न होकर ८५ वर्ष की अवस्था में घर के बिस्तर पर होती।

व्यष्टि में समष्टि देखने का प्रयास यदि संकुचित भावना का प्रदर्शन है तो इस आरोप को भी स्वीकार कर लेने में मुझे गर्व ही होगा।

—मनमोहन ठाकौर

सृष्टि और दृष्टि

सांस्कृतिक जागरण, साहित्यिक विकास-उन्नयन और
राष्ट्रीय ऐक्य एवं राष्ट्र-प्रतिष्ठा की साधिका
एवं
भारतीय भाषाओं की सर्वोत्कृष्ट
सर्जनात्मक साहित्यिक कृति पर
प्रतिवर्ष एक लाख रुपये
पुरस्कार योजना प्रवर्तिका
विशिष्ट संस्था

उद्देश्य
ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्री का
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा
लोक-हितकारी मौलिक
साहित्य का निर्माण

संस्थापक : साहू शान्ति प्रसाद जैन
अध्यक्षा : श्रीमती रमा जैन

प्रधान एवं सम्पादकीय कार्यालय : ९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७
विक्रय केन्द्र : ३६२०/२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, दिल्ली-६
प्रकाशन कार्यालय : दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी–५

जिनकी प्रतीक्षा थी और अब जिनकी चर्चा होगी

भारतीय ज्ञानपीठ
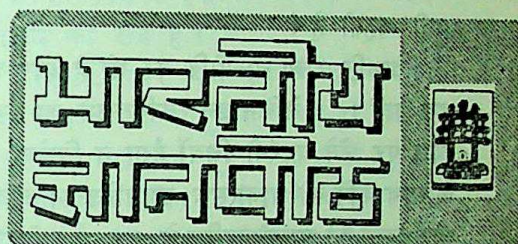
के

नये चार पठनीय प्रकाशन

० बीजुरी काजल आँज रही

माखनलाल चतुर्वेदी

कविताएँ तो बहुत-बहुत होती हैं, पर ये कविताएँ सबसे अलग हैं—उन बहुतों में अनूठी और विरल—गाछ में गहगहाकर खिले इन्द्रबेला के गन्धीले फूलों की तरह, कि इन तक आते ही बरबस लगे : सच ही तो पास में यहीं कहीं रंगों की गन्ध-नदी बहती है !

प्रकृति काव्य बाल्मीकि का भी है और कालिदास का भी। हिन्दी में भी कम नहीं। लेकिन इन कविताओं का प्रकृति-चित्रण सहज रूप में मन की कील पर टँगे बहुरंगी चित्रों-जैसा न दिखेगा। इनमें प्रकृति के अनेक रूप-चित्रों के साथ कवि की भावात्मक उपलब्धि का जीवन्त अंकन तो है ही, साथ ही उसने सारे दृश्यों को आत्मोपलब्धि के रूप में स्वीकारा भी है। अबूझ सोंधी प्रतिध्वनियों की अनुगँज है इसमें और विविध आकारी शिलाओं के बीच-बगल उछलती-कूदती रस-निर्झरिणी भी : कि अनजाने ही अकेले में आपका जी भी भींगने-भींगने को हो आये।

ये कविताएँ 'एक भारतीय आत्मा' की हैं—आज की, बीते 'कल' से माँगी हुई और अगले 'कल' के लिए सँजो-सँजोकर रखी गयीं, : जो शाश्वत हैं और इसी-लिए आपके लिए अनिवार्य रूप से संग्रहणीय भी। मूल्य ३.००

० चीड़ों पर चाँदनी

निर्मल वर्मा

बीसवीं शती के स्मारक-चिह्नों की खोज में एक भारतीय लेखक के यह संस्मरण अपने-आपको खोजने का प्रयास हैं—अपने से बाहर निकल कर स्वयं अपने को गवाह बनाने का प्रयत्न—और इसीलिए ये संस्मरण एक व्यक्ति का निजी 'टेस्टा-मेण्ट' भी हैं।

यात्राएँ न केवल हमें बाहर ले जाती हैं, बल्कि अपने भीतर के अज्ञात कोनों में भी। हर नया स्थान एक रहस्यमयी पहेली है—अपने में एक छोटा-सा अभियान—जहाँ समय और स्थान की सीमाएँ मिट जाती हैं, फिर चाहे वह बर्लिन में

देखा हुआ ब्रेख्त का नाटक हो, लिदीत्से के खण्डहर, या फिर इन सबसे दूर सागर पार आइसलैण्ड की सफ़ेद रातों का अकेलापन।

स्मृति के ये अंक निर्मल वर्मा यूरॅप प्रवास की लम्बी अवधि में समय-समय पर सँजोते रहे हैं। बाद में जोड़ने पर जो मिला, वे न कहानियाँ थीं, न डायरी— बल्कि कुछ ऐसे अनुभव-खण्ड जिनमें एक की निरपेक्षता दूसरे की आत्मीयता से घुल-मिल गयी है।

मूल्य ३.००

० हिन्दी गीतिनाट्य

कृष्ण सिंहल

प्रस्तुत कृति में गीतिनाट्य को साहित्य की एक स्वतन्त्र विधा मानकर उसका पहली बार सांगोपांग समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। नाटक और काव्य दोनों की वस्तुगत और रूपगत विशेषताएँ हैं और इन दोनों की एक सूत्रता और एकतानता ही गीतिनाट्य की रीढ़ है।

गीतिनाट्य का वस्तु-विन्यास और टेक्सचर किन अर्थों में गद्य-नाट्य से भिन्न है, किस सीमा तक यह नाटक है या काव्य, आधुनिक ज़ीवन की जटिलताओं से इसका क्या नाता है, नये जीवन-मूल्यों और युगीन-चेतना को यह कहाँ तक आत्मसात् और विन्यस्त करता है, पश्चिमी गीतिनाट्य ने इसके वस्तु-रूपात्मक विधान को किस सीमा तक प्रभावित किया है, अँगरेज़ी-गीतिनाट्य के सन्दर्भ में इसकी क्या स्थिति है, आदि प्रश्नों पर लेखक ने गंभीरतापूर्वक विचार किया है।

गीतिनाट्य की मूल्यगत उपलब्धियाँ और इन उपलब्धियों की अनेक सिम्तों को तो इसमें उद्घाटित किया ही गया है, हिन्दी गीतिनाट्यगत नयी संवेदनाओं, नये भाव-बोध और नये धरातलों का विश्लेषण करते हुए इस नवीन साहित्यिक विधा को उसकी समग्रता में लिया गया है।

मूल्य ४.००

० अर्द्धशती

बालकृष्ण राव

'अर्द्धशती' की कविताओं के लिए परिचय की अपेक्षा नहीं, जैसे प्रवाल के दानों के लिए या गन्धराज के टटके फूलों के लिए नहीं होती। ये कविताएँ 'बालकृष्ण राव' की हैं, यही कहना भर काफ़ी है। बालकृष्ण राव की अभिव्यक्ति एक बड़ा स्वच्छ मुकुर है जिसमें समष्टि अपने को देखती है, जिससे वह चेतना ग्रहण करती है, और प्रेरणाएँ लेती है। प्रस्तुत कविताओं की बड़ी विशेषता यही है कि न इनकी अनुभूतियों में कोई दुराव है न अभिव्यक्ति में किसी प्रकार का उलझाव : बड़े सच्चे सधे हुए स्वर जिनमें प्रौढ़ पीढ़ी का बोध तो गूंजता ही है, नयी पीढी की चेतनाएँ भी स्पन्दित हैं।

मूल्य ३.००

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला

राष्ट्रभारती

प्रतिनिधि रचनाएँ	नार्ल वेंकटेश्वर राव (तेलुगु)	३.५०
प्रतिनिधि रचनाएँ	'परशुराम' (बंगला)	३.००
प्रतिनिधि रचनाएँ	व्यं० दि० माडगूलकर (मराठी)	४.००

उपन्यास

महाश्रमण सुनें, उनकी परम्पराएँ सुनें !	'भिक्खु'	२.२५
सूरज का सातवाँ घोड़ा	डॉ० धर्मवीर भारती	२.००
पीले गुलाब की आत्मा	विश्वम्भर मानव	४.००
पलासी का युद्ध	तपनमोहन चट्टोपाध्याय	३.५०
अपने-अपने अजनबी	अज्ञेय	३.००
गुनाहों का देवता (सातवाँ सं०)	डॉ० धर्मवीर भारती	५.००
शतरंज के मोहरे (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	अमृतलाल नागर	६.००
शह और मात	राजेन्द्र यादव	४.००
राजसी	देवेशदास आइ०सी०एस्०	२.५०
संस्कारों की राह (पुरस्कृत)	राधाकृष्णप्रसाद	२.५०
रक्त-राग	देवेशदास आई०सी०एस्०	३.००
तीसरा नेत्र	आनन्दप्रकाश जैन	२.५०
ग्यारह सपनों का देश	सं०—लक्ष्मीचन्द्र जैन	४.००
मुक्तिदूत (द्वि० सं०)	वीरेन्द्रकुमार एम. ए.	५.००

कहानी

खोयी हुई दिशाएँ	कमलेश्वर	२.५०
मेज पर टिकी हुई कुहनियाँ	रमेश बक्षी	३.५०
बोस्ताँ	मूल : शेख़ सादी	२.५०
जय-दोल (द्वि० सं०)	अज्ञेय	३.००
जिन्दगी और गुलाब के फूल	उषा प्रियंवदा	२.५०
अपराजिता	भगवतीशरण सिंह	२.५०

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

श्रेष्ठ प्रकाशन

कर्मनाशा की हार	डॉ० शिवप्रसाद सिंह	३.००
सूने अँगन रस बरसै	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	३.००
प्यार के बन्धन	रावी	३.२५
मोतियोंवाले (पुरस्कृत)	कर्तारसिंह दुग्गल	२.५०
हरियाणा लोकमंच की कहानियाँ	राजाराम शास्त्री	२.५०
मेरे कथागुरु का कहना है (१–२)	रावी	६.००
पहला कहानीकार (पुरस्कृत)	रावी	२.५०
संघर्ष के बाद (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	विष्णु प्रभाकर	३.००
नये चित्र	सत्येन्द्र शरत्	३.००
काल के पंख	आनन्दप्रकाश जैन	३.००
अतीत के कम्पन (द्वि० सं०)	आनन्दप्रकाश जैन	३.००
खेल खिलौने	राजेन्द्र यादव	२.००
आकाश के तारे : धरती के फूल (तृ०सं०)	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	२.००
नये बादल	मोहन राकेश	२.५०
कुछ मोती कुछ सीप (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.५०
जिन खोजा तिन पाइयाँ (तृ० सं०)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.५०
गहरे पानी पैठ (तृ० सं०)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.५०
एक परछाईं : दो दायरे -	गुलाबदास ब्रोकर	३.००
ऑस्कर वाइल्ड की कहानियाँ	डॉ० धमवीर भारती	२.५०
लो कहानी सुनो	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.००

कविता

अर्द्धशती	बालकृष्ण राव	३.००
रत्नावली	हरिप्रसाद 'हरि'	२.००
वाणी (द्वि सं० परिवर्धित)	सुमित्रानन्दन पन्त	४.००
सौवर्ण (द्वि० सं० परिवर्धित)	सुमित्रानन्दन पन्त	३.५०
परिणय गीतिका	सं०–रमा जैन, कुन्था जैन	५.००
आँगन के पार द्वार	अज्ञेय	३.००
वीणापाणि के कम्पाउण्ड में	केशवचन्द्र वर्मा	३.००
रूपाम्बरा	सं० अज्ञेय	१२.००
वेणु लो, गूंजे धरा	माखनलाल चतुर्वेदी	३.००
अनु-क्षण	डॉ० प्रभाकर माचवे	३.००
तीसरा सप्तक (द्वि० सं०)	सं० अज्ञेय	५.००
अरी ओ करुणा प्रभामय	अज्ञय	४.००

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

देशान्तर	डॉ० धर्मवीर भारती	१२.००
सात गीत-वर्ष	डॉ० धर्मवीर भारती	३.५०
कनुप्रिया	डॉ० धर्मवीर भारती	३.००
लेखनी-बेला	वीरेन्द्र मिश्र	३.००
आवा तेरी है	राजेन्द्र यादव	३.००
पंच-प्रदीप	शान्ति एम० ए०	२.००
मेरे बापू	हुकुमचन्द्र बुखारिया	२.५०
धूप के धान (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	गिरिजाकुमार माथुर	३.००
वर्द्धमान (महाकाव्य) (पुरस्कृत)	अनूप शर्मा	६.००

शाइरी

गंगोजमन	'नज़ीर' बनारसी	३.००
शाइरी के नये मोड़ (भाग १—५)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	१५.००
नग्मए-हरम	,,	४.००
शाइरी के नये दौर (भाग १—५)	,,	१५.००
शेर-ओ-सुखन :१—५ (द्वि.सं.पुरस्कृत)	,,	२०.००
शेर-ओ-शाइरी ,, ,,	,,	८.००
ग़ालिब	रामनाथ 'सुमन'	८.००
मीर	,,	६.००

नाटक

आदमी का ज़हर	लक्ष्मीकान्त वर्मा	३.००
घाटियाँ गूंजती हैं	डॉ० शिवप्रसाद सिंह	२.५०
तीन ऐतिहासिक नाटिकाएँ	परिपूर्णानन्द वर्मा	४.००
नाटक बहुरंगी	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	४.५०
जनम क़ैद (पुरस्कृत)	गिरिजाकुमार माथुर	२.५०
कहानी कैसे बनी ?	कर्तारसिंह दुग्गल	२.५०
पचपन का फेर (पुरस्कृत)	विमला लूथरा	३.००
तरकश के तीर	श्रीकृष्ण	३.००
रजत-रश्मि (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	डॉ० रामकुमार वर्मा	२.५०
और खाई बढ़ती गयी (पुरस्कृत)	भारतभूषण अग्रवाल	२.५०
चेखॅव के तीन नाटक	राजेन्द्र यादव	४.००
बारह एकांकी	विष्णु प्रभाकर	३.५०

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

महत्वपूर्ण प्रकाशन

कुछ फ़ीचर कुछ एकांकी	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	३.५०
सुन्दर रस (द्वि० सं०)	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	१.५०
सूखा सरोवर	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	२.००
भूमिजा	सर्वदानन्द	१.५०

विधा-विविधा

खुला आकाश : मेरे पंख	शान्ति मेहरोत्रा	४.५०
अंकित होने दो	अजितकुमार	४.००
सीढ़ियों पर धूप में	रघुवीर सहाय	४.००
काठ की घण्टियाँ	सर्वेश्वरदयाल सक्सेना	७.००
पत्थर का लैम्पपोस्ट	शरद देवड़ा	३.००

ललित-निबन्धादि

क्षण बोले कण मुसकाये	कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर	४.००
हम सब और वह	दयानन्द वर्मा	२.००
बातें जिनमें सुगन्ध फूलों की	अहमद सलीम	३.००
महके आँगन चहके द्वार	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४.००
शिखरों का सेतु	डॉ० शिवप्रसाद सिंह	३.५०
बाजे पायलिया के घुँघरू	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४.००
फिर बैतलवा डाल पर	विवेकीराय	३.५०
आँगन का पंछी : बनजारा मन	विद्यानिवास मिश्र	३.००
नये रंग : नये ढंग	लक्ष्मीचन्द्र जैन	२.००
बना रहे बनारस	विश्वनाथ मुखर्जी	२.५०
काग़ज़ की किश्तियाँ	लक्ष्मीचन्द्र जैन	२.५०
अमीर इरादे : ग़रीब इरादे (द्वि०सं०)	माखनलाल चतुर्वेदी	२.००
सांस्कृतिक निबन्ध	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	३.००
वृन्त और विकास	शान्तिप्रिय द्विवेदी	२.५०
ठूँठा आम	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	२.००
हिन्दू विवाहमें कन्यादान का स्थान (द्वि.सं.)	डॉ० सम्पूर्णानन्द	१.००
ग़रीब और अमीर पुस्तकें	रामनारायण उपाध्याय	१.००
क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ ?	रावी	२.५०
माटी हो गयी सोना (द्वि० सं०)	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	२.००
जिन्दगी मुसकरायी (द्वि० सं०)	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४.००

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

यात्रा-विवरण

एक बूंद सहसा उछली	अज्ञेय	७.००
पार उतरि कहँ जइहौ	प्रभाकर द्विवेदी	३.००
सागर की लहरों पर	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	४.००
हरी घाटी	डॉ० रघुवंश	४.५०

संस्मरण, रेखाचित्र, जीवनी आदि

समय के पाँव	माखनलाल चतुर्वेदी	३.००
रेखाचित्र (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	बनारसीदास चतुर्वेदी	४.००
पराड़करजी और पत्रकारिता	लक्ष्मीशंकर व्यास	५.५०
आत्मनेपद	अज्ञेय	४.००
माखनलाल चतुर्वेदी	'बरुआ'	६.००
दीप जले : शंख बजे	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	३.००
द्विवेदी पत्रावली	बैजनाथ सिंह 'विनोद'	२.५०
जैन-जागरण के अग्रदूत	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	५.००
संस्मरण (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	"	३.००
हमारे आराध्य (पुरस्कृत)	"	३.००

आलोचना, अनुसन्धान, रचना-शिल्प

साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य	डॉ० रघुवंश	५.००
जैन भक्ति-काव्य की पृष्ठभूमि	डॉ० प्रेमसागर जैन	६.००
रेडियो वार्ता शिल्प	सिद्धनाथकुमार	२.००
रेडियो नाट्य शिल्प (द्वि० सं०)	"	३.००
ध्वनि और संगीत (द्वि० सं०)	ललितकिशोर सिंह	४.५०
प्राचीन भारत के प्रसाधन	अत्रिदेव विद्यालंकार	३.५०
संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद	"	३.००
संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन (द्वि०सं०)	डॉ० भोलाशंकर व्यास	५.००
भारतीय ज्योतिष (तृ० सं०)	नेमिचन्द्र जैन ज्योतिषाचार्य	६.००
हिन्दी नवलेखन	डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी	४.००
मानव मूल्य और साहित्य	डॉ० धर्मवीर भारती	२.५०
शरत् के नारी-पात्र	डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी	४.५०
हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन (१-२)	नेमिचन्द्र शास्त्री	५.००

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

महत्वपूर्ण प्रकाशन

इतिहास-राजनीति

कालीदास का भारत : भाग १ (द्वि० सं०)	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	५.००
कालिदास का भारत : भाग २	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	४.००
भारतीय इतिहास : एक दृष्टि	डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन	८.००
चौलुक्य कुमारपाल (द्वि०सं०, पुरस्कृत)	लक्ष्मीशंकर व्यास	४.५०
एशिया की राजनीति	परदेशी	६.००
समाजवाद	डॉ० सम्पूर्णानन्द	५.००
इतिहास साक्षी है	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	३.००
खोज की पगडण्डियाँ (द्वि०सं०, पुरस्कृत)	मुनि कान्तिसागर	४.००
खण्डहरों का वैभव (द्वि० सं०)	मुनि कान्तिसागर	६.००

दर्शन-अध्यात्म

भारतीय विचारधारा	मधुकर एम० ए०	२.००
अध्यात्म पदावली	डॉ० राजकुमार जैन	४.५०
वैदिक साहित्य	पं० रामगोविन्द त्रिवेदी	६.००

सूक्तियाँ

भाव और अनुभाव	मुनि नथमल	१.५०
सन्त-विनोद	नारायणप्रसाद जैन	२.००
शरत की सूक्तियाँ	रामप्रकाश जैन	२.००
ज्ञानगंगा भाग १ (द्वि० सं०)	नारायणप्रसाद जैन	६.००
ज्ञानगंगा भाग २	नारायणप्रसाद जैन	६.००
कालिदास के सुभाषित	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	५.००

हास्य-व्यंग्य

काग़ज़ के फूल	भारतभूषण अग्रवाल	३.००
चाय पार्टियाँ	सन्तोषनारायण नौटियाल	२.००
जैसे उसके दिन फिरे	हरिशंकर परसाई	२.५०
तेल की पकौड़ियाँ	डॉ० प्रभाकर माचवे	२.००
हास्य मन्दाकिनी	नारायणप्रसाद जैन	६.००
आधुनिक हिन्दी हास्य-व्यंग्य	सं०—केशवचन्द्र वर्मा	४.००
मुर्ग छाप हीरो	केशवचन्द्र वर्मा	२.००
अंगद का पाँव	श्रीलाल शुक्ल	२.५०

मूर्त्तिदेवी ग्रन्थमाला

तत्वज्ञान और सिद्धान्तशास्त्र

समयसार (प्राकृत-अँगरेजी)	...	८.००
तत्त्वार्थराजवार्तिक (संस्कृत) भाग १–२	...	२४.००
तत्त्वार्थवृत्ति (संस्कृत)	...	१६.००
सर्वार्थसिद्धि (संस्कृत-हिन्दी)	...	१२.००
पंचसंग्रह (प्राकृत-हिन्दी)	...	१५.००
जैन धर्मामृत (संस्कृत-हिन्दी)	...	३.००
कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न (हिन्दी)	...	२.००

जैन न्याय और कर्मग्रन्थ

कर्मप्रकृति (प्राकृत-संस्कृत-हिन्दी)	...	६.००
सत्यशासन परीक्षा (संस्कृत)	...	५.००
सिद्धिविनिश्चयटीका (संस्कृत) भाग १–२	...	३०.००
न्यायविनिश्चयविवरण (संस्कृत) भाग १–२	...	३०.००
महाबन्ध (प्राकृत-हिन्दी) भाग २ से ७	...	६६.००

आचारशास्त्र, पूजा और व्रत-विधान

वसुनन्दि श्रावकाचार (प्राकृत-हिन्दी)	...	५.००
ज्ञानपीठ पूजांजलि (संकलन)	...	४.००
व्रततिथिनिर्णय (संस्कृत-हिन्दी)	...	३.००
मंगलमन्त्र णमोकार : एक अनुचिन्तन (हिन्दी)	...	२.००

व्याकरण, छन्दशास्त्र और कोश

जैनेन्द्र महावृत्ति (संस्कृत)	...	१५.००
सभाष्य रत्नमंजूषा (संस्कृत)	...	२.००
नाममाला सभाष्य (संस्कृत)	...	३.५०

पुराण, साहित्य, चरित व काव्य-ग्रन्थ

हरिवंशपुराण (संस्कृत-हिन्दी)	...	१६.००
आदिपुराण (संस्कृत-हिन्दी) भाग १-२	...	२०.००

सांस्कृतिक प्रकाशन

उत्तरपुराण (संस्कृत-हिन्दी)	...	१०.००
पद्मपुराण (संस्कृत-हिन्दी) भाग १–३	...	३०.००
पुराणसार-संग्रह (संस्कृत-हिन्दी) भाग १–२	...	४.००

चरित व काव्य-ग्रन्थ

भोजचरित्र (संस्कृत)	..	८.००
मयणपराजयचरिउ (अपभ्रंश-हिन्दी)	...	८.००
मदनपराजय (संस्कृत-हिन्दी)	...	८.००
पउमचरिउ (अपभ्रंश-हिन्दी) भाग १–३	...	९.००
जीवन्धरचम्पू (संस्कृत-हिन्दी)	...	८.००
जातकट्ठकथा (पाली)	...	९.००
धर्मशर्माभ्युद (हिन्दी)	...	३.००

ज्योतिष और सामुद्रिक शास्त्र

भद्रबाहु संहिता (संस्कृत-हिन्दी)	...	८.००
केवलज्ञानप्रश्नचूड़ामणि (संस्कृत-हिन्दी)	...	४.००
करलक्खण (प्राकृत-संस्कृत-हिन्दी)	...	०.७५

विविध

वर्ण, जाति और धर्म	...	३.००
जिनसहस्रनाम (संस्कृत-हिन्दी)	...	४.००
थिरुकुरल (तमिल)	...	५.००
आधुनिक जैन कवि (हिन्दी)	...	३.७५
हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (हिन्दी)	...	२.८७
कन्नड प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थ सूची	...	१३.००

माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला

पुराण

महापुराण (आदिपुराण) भाग १; अपभ्रंश	१०.००
महापुराण (उत्तरपुराण) भाग २; अपभ्रंश	१०.००
महापुराण (उत्तरपुराण) भाग ३; अपभ्रंश	६.००

पद्मपुराण (संस्कृत) भाग १	१.५०
पद्मपुराण (संस्कृत) भाग २	२.००
पद्मपुराण (संस्कृत) भाग ३	२.००
हरिवंशपुराण (संस्कृत) भाग १	२.००
हरिवंशपुराण (संस्कृत पद्य) भाग २	१.५०

शिलालेख

जैन शिलालेख संग्रह (संस्कृत, हिन्दी) भाग १	२.००
जैन शिलालेख संग्रह (संस्कृत, हिन्दी) भाग २	८.००
जैन शिलालेख संग्रह (संस्कृत, हिन्दी) भाग ३	१०.००

चरित, काव्य और नाटक

वरांगचरित (संस्कृत)	३.००
जम्बूस्वामीचरित (संस्कृत)	१.५०
प्रद्युम्नचरित (संस्कृत)	.५०
रामायण (अपभ्रंश)	२.५०
पुरुदेवचम्पू (संस्कृत)	.७५
अंजनापवनंजय (नाटक)	३.००

जैन-न्याय

न्यायकुमुदचन्द्रोदय (संस्कृत) भाग १	८.००
न्यायकुमुदचन्द्रोदय (संस्कृत) भाग २	८.५०
प्रमाणप्रमेयकलिका (संस्कृत)	१.५०

सिद्धान्त, आचार और नीतिशास्त्र

सिद्धान्तसारादि (प्राकृत-संस्कृत)	१.५०
भावसंग्रहादि (प्राकृत-संस्कृत)	२.२५
पंचसंग्रह (संस्कृत)	०.८१
त्रिषष्टिस्मृतिसार (संस्कृत, मराठी अनुवाद)	.५०
स्याद्वादसिद्धि (संस्कृत, हिन्दी-सारांश)	१.५०
रत्नकरण्डश्रावकाचार (मूल, संस्कृत टीका)	२.००
लाटी संहिता (संस्कृत)	.५०
नीतिवाक्यामृत (शेषांश) (संस्कृत टीका)	.२५

रक्षा और

विकास का काम

साथ साथ चलता है

रक्षा-प्रयत्नों में भरपूर मदद देने के लिए यह जरूरी है कि प्रत्येक गांव का एक-एक कृषि उपज कार्यक्रम तैयार किया जाए।

नीति सम्बन्धी तालमेल रखने और खेतों में पैदावार बढ़ाने के लिए एक उच्च अधिकार प्राप्त केन्द्रीय कृषि उपज बोर्ड बनाया गया है। वर्तमान संकट को ध्यान में रखते हुए कृषि-उत्पादन बढ़ाने, आयात कम करने और विदेशी मुद्रा को रक्षा सम्बन्धी जरूरतों के लिए बचा कर रखने की हर संभव कोशिश की जा रही है।

कृषि पैदावार बढ़ाने के अभियान में अपने मन, वचन और कर्म से पूरा-पूरा सहयोग दीजिए।

योजना को सफल बनाइये

भारत की रक्षा-व्यवस्था को सुदृढ़ कीजिए

टिकट सावधानी से चिपकाइये

ताकि डाक जल्दी पहुंचे

* पूरे मूल्य के टिकट लगाइये
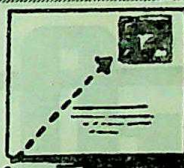
* पते की तरफ ऊपर दाहिने कोने में टिकट लगाइये
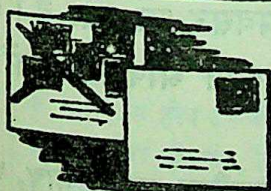
* आवश्यक मूल्य के कम से कम टिकट चिपकाइये

* टिकट अच्छी तरह चिपकाइये

डाक-तार विभाग

GYANODAY, Ma...
Price Annual Rs. 10/- per copy Re. 1/- for abroad postage extra 18 nP. This Copy...

Licensed to post without prepayment of postage. REGD. No. C-4123

Published by Shri Munishwarlal for Bhartiya Jnanpith Calcutta from 9, Alipur Park...
Calcutta-27 and Printed by him at United Commercial Press Ltd.,
1, Raja Gurudass Street, Calcutta-6

ज्ञानोदय

अप्रैल १९६४

मूल्य १.००

साहित्यिक विकास-उन्नयन
सांस्कृतिक अनुसन्धान-प्रकाशन
राष्ट्रीय एकता एवं राष्ट्र-प्रतिष्ठा की

साधिका
विशिष्ट संस्था

भारतीय ज्ञानपीठ

[स्थापित सन् १९४४]

संस्थापक
श्री शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

अप्रैल १९६४

अनुक्रम

• लेख

• कहानियाँ

ज्ञानोदय : अप्रैल १९६४

• कविताएँ

• स्थायी स्तम्भ

सम्पादक
लक्ष्मीचन्द्र जैन : शरद देवड़ा

संचालक
भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता

सम्पादकीय और व्यवस्था कार्यालय
९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७

फोन : ४५-४२५२
४५-४४३२

वितरण कार्यालय
भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी-५

एकमात्र वितरक
बैनेट, कोलमैन एण्ड कम्पनी लि०,
बम्बई-१
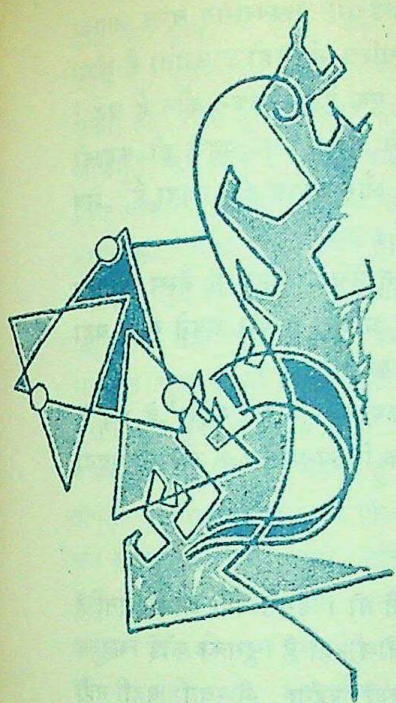
सैम्युअल बैकेट ●

'वेटिंग फॉर गोदोत' शीर्षक नाटक के विश्व-प्रसिद्ध लेखक सैम्युअल बैकेट जन्म से आयरिश हैं, लेकिन लिखते मुख्यतः फ्रान्सीसी भाषा में हैं, और तब स्वयं ही उसका अँगरेज़ी में अनुवाद करते हैं। कई प्रयोगशील उपन्यासों के अतिरिक्त, 'स्टोरीज एण्ड टेक्स्ट्स फॉर नथिंग' शीर्षक उनका एक विशिष्ट क़िस्म का कहानी-संग्रह भी हाल में प्रकाशित हुआ है। यहाँ अनूदित कहानी इसी संग्रह से ली गयी है।

आज विश्व की प्रायः सभी भाषाओं और देशों में 'एण्टी स्टोरी' (कथाहीन कथा) का जो आन्दोलन चल रहा है, सैम्युअल बैकेट उसके सशक्ततम व्याख्याता हैं—यहाँ अनूदित कहानी भी इस तथ्य का अपवाद नहीं।

एक कहानी बनने वाली है........

प्रस्तुत कहानी में कथा-लेखन का कोई भी परम्परागत तत्त्व आपको नहीं मिलेगा। कथानक तो ख़ैर है ही नहीं, चरित्र भी नहीं····लगता है गोया चरित्र आकार ग्रहण कर रहा हो, एक सिर, एक देह, लेकिन कौन है वह? कहाँ है वह ?? आदि प्रश्न आपके मन में उठते हैं उससे पहले ही कहानी अस्तव्यस्त होने लगती है, सब कुछ गडमड और अस्पष्ट हो जाता है, शेष रहती हैं महज़ कुछ अस्थिर, सूत्रहीन 'इमेजेज'।

बैकेट मनोरंजक लेखक नहीं हैं, लेकिन उनकी भाषा में जेम्स ज्वायस की तरह ऐसी शक्ति और ऐसा प्रवाह है जो आपको बरबस अपने साथ बहा ले जाता है और कहानी की एकरसता को कम कर देता है।

प्रस्तुत कहानी को 'कहानीपन' के लिए नहीं 'एण्टी स्टोरी' के रूप में चल रहे आन्दोलन के एक दृष्टान्त के रूप में, एक शिल्प-प्रयोग के रूप में, पढ़ना ही अपेक्षित है।

●

रहने दो, मैं कहने ही वाला था यह सब रहने दो। इससे क्या आता-जाता है कि कौन बोल रहा है, किसी ने कहा कौन बोल रहा है इसका कोई महत्त्व नहीं। अभी एक विदाई होने वाली है, मैं वहाँ रहूँगा, मैं स्वयं वहाँ नहीं रहूँगा, मैं तो यहीं रहूँगा, मैं कहूँगा मैं दूर हूँ, वह भी मैं नहीं कहूँगा, मैं कुछ भी नहीं कहूँगा, एक कहानी बनने वाली है, कोई यत्न करके एक कथा सुनाने वाला है। हाँ, बहुत हो चुकी वर्जनाएँ, सब मिथ्या है, यहाँ कोई नहीं है, यह माना जा चुका है, यहाँ सब शून्य है, शब्दों का खेल बहुत हो चुका, आओ हम काठ के उल्लू बन जायें, काल के कठपुतले, अनन्त काल के, जब तक कि यह शेष न हो जाय, सब शेष न हो जाये, ये स्वर शान्त न हो जायें, ये स्वर भर ही हैं, मात्र मिथ्या स्वर। यहाँ से, यहाँ से भाग जाओ और अन्यत्र पलायन कर जाओ, अथवा यहीं बने रहो, लेकिन आते और जाते रहो। सबसे पहले हिलो-डुलो, एक काया होनी आवश्यक है, पहले की तरह मैं 'ना' नहीं कहता, मैं अब कभी ना नहीं कहूँगा, मैं कहूँगा मेरे पास एक देह है, एक देह जो गतिमान है, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, मेरी इच्छानुसार। इस देह के अंगों एवं अवयवों के संचालन द्वारा, एक बार पुनः जीने के लिए मात्र जिसकी जरूरत है, स्वयं को थामे रहने के लिए, एक नन्हा-सा क्षण, मैं उसे ही जीना कहूँगा, मैं कहूँगा कि यह मैं हूँ, मैं तनकर खड़ा हो सकूँगा, मैं सोचना-विचारना

बन्द कर दूँगा, मैं सीधे खड़े होने में, खड़े रहने में, हिलने,डुलने में, थामे रहने में, दूसरे दिन, दूसरे सप्ताह तक पहुँचने में इतना अधिक व्यस्त रहूँगा; उतना ही यथेष्ट होगा, एक सप्ताह यथेष्ट होगा, वसंत का एक सप्ताह जो अभिभूत कर जाये। इच्छा करना ही काफ़ी है, मैं आकांक्षा करूँगा, मैं अपने लिए आकांक्षा करूँगा एक तन की, एक मन की, थोड़ी-सी शक्ति की, थोड़े-से साहस की, मैं प्रारम्भ करने ही जा रहा हूँ, एक सप्ताह शीघ्र ही समाप्त हो जाता है, तब फिर यहीं, इसी अभिन्न स्थान पर, दिवसों से दूर, दिवस दूर हैं, यह सरल नहीं होगा। और क्यों, आख़िरकार, ना, ना, रहने दो, फिर वही सब मत शुरू करो, सभी कुछ सुनो मत, सभी कुछ कह भी न डालो, सब पुराना पड़ चुका है, सब कुछ, यह तय है। हाँ, अब तुम सीधे हुए, मैं तुम्हें वचन देता हूँ, प्रतिज्ञा करता हूँ यह मेरा है, अपनी बाँहों को हिलाओ, अपनी खोपड़ी को गुदगुदाओ, जो कि बुद्धि की पीठिका है, बिना उसके काम नहीं चल सकता, तब शेष काया, नीचे के अंग और अवयव, उनके बिना भी काम नहीं चलने का, और अब बताओ तुम क्या हो, किस क़िस्म के इनसान हो, अनुमान लगाओ, तुम पुरुष हो या नारी, सौंदर्य की आवश्यकता नहीं, शक्ति की भी नहीं, एक सप्ताह का अन्त शीघ्र ही हो जायेगा, तुम्हें कोई प्यार नहीं करने जा रहा है, बिलकुल चिन्ता मत करो। ना, ऐसे नहीं, बहुत अचानक हो गया, मैंने स्वयं को भयाक्रान्त कर दिया। सर्वप्रथम तो हाँफना बन्द करो, तुम्हें कोई मारे नहीं डाल रहा है, अरे नहीं, न तुम्हें कोई प्यार करने जा रहा है, और न कोई तुम्हें मारने जा रहा है। तुम 'गोबी' मरुस्थल के उन्नत गर्त से प्रकट हो जाओ, वस्तुतः वही तुम्हें ठीक घर जैसा लगेगा। मैं तुम्हारी यहीं प्रतीक्षा करूँगा, निश्चिन्त मन से, तुम्हारी ओर से पूर्ण आश्वस्त, नहीं, मैं एकाकी हूँ, मात्र मैं हूँ, मुझे ही जाना चाहिये, इस बार मेरी ही बारी है। मुझे ज्ञान है इसका कि मैं वहाँ क्या करूँगा, मेरा मानव-रूप होगा, निश्चय ही, मानव की कोई एक विशेष क़िस्म, एक प्रकार का वृद्ध शिशु, मेरी एक आया होगी, वह मुझे बहुत प्यार करेगी, वह मुझे प्यार से अपना हाथ थमायेगी, पार जाने के लिए, वह मुझे बगीचे में स्वतन्त्र छोड़ देगी, मैं भला बनने का यत्न करूँगा, मैं एक कोने में बैठकर अपनी दाढ़ी सुलझाऊँगा, इसे सीधी करूँगा, ताकि यह अधिक सुन्दर दिख सके, ज़रा अधिक सुन्दर, अगर यह सम्भव हो। आया मुझसे कहेगी, चलो, नन्हें छौने, घर जाने का समय हो

गया। सारा उत्तरदायित्व उसी पर होगा, मुझ पर क़तई नहीं, उसका नाम नैनी होगा; मैं उसे नैनी कहकर पुकारूँगा, अगर कहीं ऐसा हो पाता, ठीक ऐसा ही। चलो, नन्हें, दूध पीने का समय हो गया। जो कुछ भी मैं जानता हूँ, वह मुझे किसने सिखाया, ख़ुद मैंने ही, जब मैं यायावर था तब मैंने स्वयं ही प्रकृति से यह सब सीखा था, किसी एक सुविद् के सहारे, मैं जानता हूँ यह सत्य नहीं है, किन्तु अब काफ़ी देर हो चुकी है, इसे अस्वीकार करने का अब समय नहीं रहा, अब मुझे ज्ञान का अहसास है, अनेक वस्तुओं के ज्ञान का, ज्ञान के ये विन्दु निकट और दूर एक-एक कर झिलमिलाते हैं, अतीत के गह्वर में टिमटिमाते हैं। छोड़ो इसे और चलो, अब मुझे प्रस्थान कर देना चाहिये, कम-से-कम मुझे कहना तो यही चाहिये कि क्षण आ पहुँचा है, ज्ञात नहीं क्यों! इसका महत्त्व ही क्या है कि तुम कहाँ हो, यहीं हो या कहीं और, चल हो या अचल, आकारहीन हो या मनुष्य की भांति साकार, अन्धकार में हो या अलौकिक ज्योति से उद्भासित, मैं नहीं जानता, लगता है इसका महत्त्व है, यह सब इतना सहज नहीं है। यदि मैं उस विन्दु तक पहुँच जाऊँ जहाँ से सब अन्धकारमय हो जाता है और तब उससे आगे बढ़ूँ, नहीं, मैं किसी भी लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाऊँगा, इस तरह कोई भी किसी लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाता, कभी नहीं, उसकी स्मृति भी खो चुकी है, एक प्रकाश-पुंज और फिर निविड़ अन्धकार, एक विराट ऐंठन, और फिर कुछ भी स्थूल या गमनीय पथ शेष नहीं रहता, मुझे कुछ ज्ञात नहीं। मैंने मरणशीलों से भरे पथ पर स्वयं को पहाड़ी से नीचे फेंकना चाहा, किन्तु उसका भी कोई

अमरीका की आधुनिक लेखिकाएँ

आधुनिक अमरीका में मेजोराई रौलिंग्स जैसी विख्यात लेखिका है जो सुदूर दक्षिण में एक एग्रीकलचर फ़ार्म ख़रीद कर अकेली रहती है, शिकार खेलती है, जानवर पालती है, और दक्षिण के निवासियों के जीवन को केन्द्र बनाकर उपन्यास और कहानियाँ लिखती है। आधुनिक अमरीका में एनाई निन जैसी विख्यात लेखिका है, जिसके बारे में एडमण्ड विल्सन और रेबेका वेस्ट जैसे अधिकारियों का विचार है कि ऐसी महान् प्रतिभाएँ कम ही पैदा होती हैं। आधुनिक अमरीका में जर्ट्रूड स्टेन जैसी विख्यात लेखिका है जिसने अँगरेज़ी गद्य को नयी शैली और नया स्वरूप दिया है।

परिणाम नहीं निकला और अन्त में मैंने वह प्रयत्न छोड़ दिया। जिस पथ ने मुझे यहाँ छोड़ दिया था पुनः उसी पर चलूँ, जिस दिशा से होकर मैं यहाँ तक आया था, उसी पर प्रत्यावर्तन करने के पूर्व, या फिर उसी पर अग्रसर होने के पूर्व, सलाह बुद्धिमत्तापूर्ण है। स्थिति यह है कि मैं अब कभी गतिशील नहीं होऊँगा, यहीं बैठा बूँद-बूँद कर रिसता रहूँ जब तक कि काल समाप्त न हो जाय, हर दसवीं शताब्दी के बाद यह गुनगुनाता रहूँ कि यह मैं नहीं हूँ, यह सत्य नहीं है, यह मेरा स्वयं नहीं है, मैं तो बहुत दूर हूँ। नहीं, नहीं अब मैं भविष्य के विषय में कहूँगा, भविष्यत् काल में ही अपनी बात कहूँगा, जैसे कि उन दिनों जब मैं स्वयं से कहा करता था, 'कल' रात में, मैं अपनी नीली टाई पहनूँगा, * सितारों वाली, और जब रात बीत जाती थी तब इसे पहनता था। जल्दी करो, जल्दी, पेश्तर इसके कि मैं रोने लगूँ। मेरा एक मित्र होगा, मेरा ही समवयस्, मेरे समान एक पुराना सैनिक, हम फिर से अपने युद्ध * लड़ेंगे, और अपने-अपने घावों की तुलना करेंगे। जल्दी करो, जल्दी। उसने नौसेना में कार्य किया था, कदाचित् 'जेलको' की अधीनता में, जब मैं 'गिन्नैस' के शराब के पीपे के पीछे से बन्दूक़ द्वारा आक्रमणकारी का निशाना साध रहा था। वर्तमान में हम अधिक समय नहीं हैं, हमारी घड़ियाँ गिनी हुई हैं, यह सत्य है, हे ईश्वर, बस यही हमारे जीवन की अन्तिम शरदऋतु है। पता नहीं कौन निमित्त होगा जो हमारा अन्त लायेगा। उसे सांस का रोग लग गया है, मुझे मूत्राशय का। हम दोनों एक-दूसरे से रश्क

***

फिर भी, लेखिकाओं के लिए, हर जगह की तरह, अमरीका में भी असुविधाएँ तो हैं ही। सबसे बड़ी प्रचार की असुविधा है। जब तक कृति के प्रचार की सही व्यवस्था नहीं हो, प्रकाशक या पाठक, दोनों में से एक भी मिलना कठिन है। यही कारण था कि आइन रैण्ड की 'वी द लीविंग' जैसी महान् कृति भी लगभग पन्द्रह वर्षों तक अप्रकाशित ही रही। फिर भी, आइन रैण्ड ने लिखा है :

'मैं अपने पाठकों का ध्यान रखकर उनके मनोरंजन के लिए नहीं लिखती हूँ। मैं सिर्फ़ अपने लिए लिखती हूँ, और अगर पाठक उसे पढ़ते हैं और पसन्द करते हैं, तो यह उनके फ़ायदे की बात है, मेरे फ़ायदे की बात नहीं।'

***

करते हैं, वह मुझे हसरत भरी निगाह से देखता है, मैं उससे ईर्ष्या करता हूँ, अनन्त काल के लिए। सार्वजनिक शौचालय में अपने भारी कोट से ढँका मैं बिना किसी सहारे के, दुहरा हुआ, काँपते हाथों से लघुशंका करने का प्रयत्न करता हूँ, लोग समझते हैं मैं कोई घिनौना बुड्ढा हूँ। तब तक वह एक बेंच पर बैठा मेरी प्रतीक्षा करता है, पूरी शक्ति से खाँसता हुआ, सुँघनी की डिबिया में थूकता रहता है, और उसके पूरी भरते ही तत्काल उसे नहर में, एक नागरिक होने के नाते, ख़ाली कर देता है। हमने अपनी जन्मभूमि के लिए बहुत-कुछ किया है, मृत्यु के पूर्व, वह हमें अस्पताल तो पहुँचा ही देगो। हम अपना जीवन व्यतीत करते हैं, वह हमारा अपना है, एक सार्वजनिक पार्क की हरियाली में एक ज्योति-किरण और एक ख़ाली बेंच को सम्बद्ध करने की चेष्टा में, हम प्रकृति से प्यार करने लगे हैं, अपने म्लान, पीत रूप में, सबका यही हाल है। वह परसों का समाचार-पत्र मुझे अटकते-बुदबुदाते हुए सुनाता है, बेहतर तो यह रहता कि वह अन्धा होता। हम घुड़दौड़ के दीवाने हैं, श्वान-दौड़ के भी, हमारे कोई राजनीतिक विचार नहीं हैं, अधकचरे, गणतंत्रीय हैं हम। किन्तु हमारे मन में विण्डसरों के लिए, हैनोवेरियन्स के लिए कोमल स्थान है, नहीं, मैं भूल रहा हूँ, होहैन्ज़ोलर्न्स हैं वे। एक बार घोड़ों और कुत्तों को पचा जाने के बाद कोई भी मानवीय रूप हमसे अपरिचित नहीं है। नहीं, अकेले ही, मैं अकेले ही ठीक रहूँगा, जल्दी कर सकूँगा। वह मुझे खिलायेगा, उसका एक सुअर काटनेवाला कसाई दोस्त था, वह मुझे काली पुडिंग खिला-खिलाकर मेरी आत्मा भी मेरे गले के नीचे उतार देगा। उसकी सान्त्वनाएँ, कैंसर के लक्षण, अमिट सुखद अनुभूतियों की स्मृतियाँ निराश न होने देंगी, मेरे आधारमूल पर आघात न होने देंगी। और मैं अपने क्षितिजों पर अपना ध्यान केन्द्रित करने की जगह, उसकी बातों में खो जाऊँगा। मैं उससे कहूँगा, आओ, मेरे बेटे, उस सबको छोड़ो, उसके बारे में सोचना बन्द कर दो, और मैं भी उसके बिषय में अब भाईचारे की भावना से प्रेरित होकर कभी नहीं सोचूँगा। और उत्तरदायित्व, मेरे मस्तिष्क में चक्कर काट रहा है, विशेषकर सुबह दस बजे 'डुग्गन' के सामने वाला एप्वायण्टमेण्ट जो मुझे किसी भी मूल्य पर, चाहे आँधी, वर्षा, ओले ही क्यों न पड़ते हों, निभाना है, जहाँ मदिरालयों के दरवाज़े खुलने के पूर्व ही उत्तेजित लोगों की भीड़ मोल-भाव के द्वारा अपने सौदे सुरक्षित कर रही होती है। हम लोग आ पहुँचे, और लो, हम चले भी गये, चलो अच्छा हुआ, बहुत अच्छा हुआ, समय की पाबन्दी की दाद देनी पड़ेगी। वह

देखो, वर्षा की तेज़ धार में भीगता, पुराने तारकोल की गीली सड़क पर रोब से अकड़-अकड़कर चलता विन्सेण्ट का अवशेष चला आ रहा है, उसके सिर पर रक्त की थिगलियाँ बनी हुई हैं और आँखों में है एक अनोखी चमक—उसे देखकर सूक्ष्म दृष्टिवाला कोई भी व्यक्ति सहज ही यह समझ सकता है कि इनसान अपने सुख की तृषा को तुष्ट करने के लिए किस छोर तक जा सकता है। एक हाथ से वह अपनी छाती की हड्डी को सँभाले था और दूसरे हाथ की हथेली से रीढ़ की हड्डी को थामे था, नहीं, ये सब स्मृतियाँ हैं प्रलय से भी पूर्व की। जहाँ कोई नहीं है, जहाँ कभी कुछ घटनीय नहीं होता, चलो वहाँ देखें, क्या होता है, वहाँ कुछ दिखायें, वहाँ किसी को ले आयें, तब उसे समाप्त कर दें, ख़ामोशी स्थापित करदें, उस ख़ामोशी में प्रवेश करो या फिर अन्य शोर में, जीवन और मृत्यु के स्वरों से भिन्न शोर में, उन ज़िन्दगियों और मौतों में जिन्हें मैं कभी अपना नहीं कह सकूँगा, इसे छोड़ने के लिए मेरी कहानी में प्रवेश करो, नहीं, यह सब केवल प्रलाप है। क्या यह सम्भव है कि अन्त में मेरे एक सिर अंकुरित होगा, मेरा अपना ही सिर, जिसमें कुछ ऐसे विष निर्मित हो सकेंगे जो मेरे योग्य हों, और मेरी टाँगें अंकुरित होंगी जिनसे मैं दुलत्ती झाड़ सकूँगा, आखिरकार मैं वहाँ होऊँगा, मैं जा सकूँगा, केवल इतना ही तो मैं चाहता हूँ, नहीं, मैं कुछ भी नहीं चाह सकता। और कुछ भी नहीं, सिर्फ़ एक सिर और दो टाँगें, या एक टाँग ही सही, बीच में, मैं उसी पर क़ुदकता चला जाऊँगा। या फिर इतना भी नहीं, बस एक खोपड़ी, गोल, चिकनी, ख़ूबसूरत, उस पर कान, नाक, आँख आदि अंगों की भी आवश्यकता नहीं है, मैं पहाड़ी पर से लुढ़कता चला जाऊँगा, एक पवित्र आत्मा के रूप में, किन्तु नहीं, इससे काम नहीं चलेगा, यहाँ तो चारों ओर चढ़ाई है, एक टाँग या उसी के समान कोई अंग होना तो नितान्त आवश्यक है, एक छल्ले जैसा जोड़ या कोई सकुंचनशील जोड़, उससे तुम काफ़ी दूर जा सकते हो। धूप और वर्षा से धुली-निखरी एक बासन्ती सुबह, दुगन के दरवाज़े के सामने से चल पड़ो, पता नहीं संध्या कभी देख भी पाओगे या नहीं, इसमें मुश्किल क्या है? यह तो बहुत सरल होगा। उसी देह में दफ़न हो जाना, या किसी दूसरी में, किसी मित्र के हाथ में थमी हुई बाँह में और उस हाथ में, बिना बाँहों का हाथ, बिना हाथों की बाँह, उन काँपती आत्माओं के बीच स्वयं आत्माविहीन, उसी समूह के बीच से, गुब्बारों के बीच से, चक्रों

[शेष पृष्ठ ९७ पर]
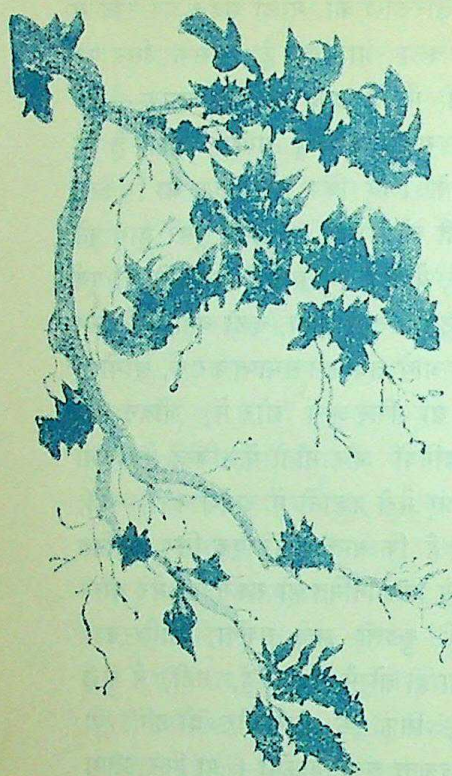
हवा वसन्त की

दरवाज़ा मारा भड़,
खिड़कियाँ तड़ - तड़,
देखिए आ रही है
हवा वसन्त की।

पत्तियाँ रहीं झर,
धूल रही भर,
देखिए इठला रही है
हवा वसन्त की।

धूप गयी सो,
छाँह रही रो,
देखिए गा रही है
हवा वसन्त की।

देह रही टूट,
थकन रही फूट,
देखिए आ रही है
हवा वसन्त की।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

वसन्त की पृष्ठभूमि में दो कविताएँ

रूप की यह धूप

•

रूप की यह धूप !
झुक रहा आकाश
खोल कुन्तल घने वृक्षों के,
पार्श्व में चुप पड़ा है ताल
तन्द्रालस सिहरता, करवटें लेता
सुखद सामीप्य से बेहाल !

प्यार क्या है ?
पूछती है हवा
ठठकती, रुकती, फिर-फिर भटकती,
दृष्टि उड़ जाती विहग-सी दूर,
दृग कमल के झँपक जाते,
अधर लहरों के काँपते
निःशब्द खुलते, बन्द होते,
मौन····मौन !

गर्म चादर-सी
ढाँकती तन को,
नहीं मन को
नहीं सम्पूर्ण जीवन को
रूप की यह धूप !

०

०

०

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल

स्वतन्त्रता के बाद की हिन्दी कहानी
उपलब्धियाँ और ख़ामियाँ

○ ○

स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी कहानी किन राहों से होकर गुज़र रही है...विचार, शिल्प और वस्तु आदि में उसने क्या-क्या उपलब्धियाँ की हैं तथा उसकी क्या-क्या ख़ामियाँ रही हैं—यह स्वयं एक कहानीकार के शब्दों में ही यहाँ पढ़ें।

○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○
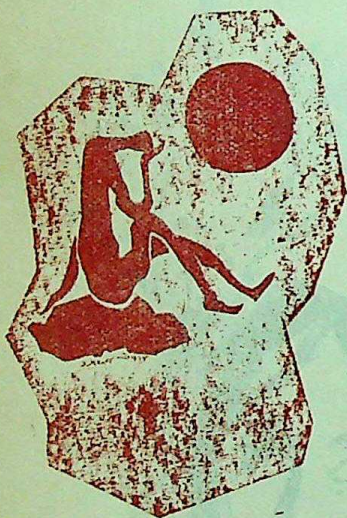
उपलब्धि का अर्थ-बोध उसकी सम्पूर्ण व्यापकता में निहित है—जिसमें एक ओर रचना के अनेकानेक तत्त्व मिले रहते हैं और दूसरी ओर एक निश्चित इतिहास-चक्र का परिप्रेक्ष्य शामिल रहता है। स्वतन्त्रता के बाद की हिन्दी-कहानी!—इसमें इतिहास-चक्र है भारतीय स्वतन्त्रता। परिप्रेक्ष्य है स्वतन्त्रता के बाद का नया जीवन, उसकी यथार्थ परिस्थितियाँ। सन्दर्भ है उसके बाद की हिन्दी कहानी। निश्चय ही स्वतन्त्रता हमारे देश, समाज के इतिहास की सबसे बड़ी घटना है। इसने अपने यथार्थ से जिस तरह हमारे जीवन और उसकी चेतना को विश्वास और अविश्वास में, आस्था और अनास्था में, आशा और संशय के तत्त्वों से बनाया-बिगाड़ा, वह स्थिति हमारे सामने है। इसी चेतना के अनुरूप ही इसने स्वभावतः वर्तमान जीवन और इतिहास, विचार और रचना के प्रतिमानों को भी उसी तरह प्रभावित किया। जो जीवन के बीच में हैं, उन्होंने अनुभव किया कि आज़ादी के बाद हमारे

जीवन के आदर्श और मूल्य कितनी तेज़ी से बदले हैं। और उनमें एक ज़बरदस्त संघर्ष आया है। इस चातुर्दिक संघर्ष को, उसकी सारी गहनता, संवेद और नियति के साथ पहली बार इतनी यथार्थता और निर्भीकता से हिन्दी के नये कहानीकार की चेतना ने ग्रहण किया। उसने इस युग के संघर्ष को, उसके युगबोध के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान इनसान की चेतना को आत्मसात किया। इसने पहली बार इनसान को परम्परा, पुराण, संस्कृति और धर्म से अलग कर उसे इनसान के रूप में देखने का प्रयत्न किया। यही है 'नयी' कहानी का निजत्व और उसका अपना व्यक्तित्व। इसीलिए नयी कहानी की अन्यतम माँग यह है कि रचनाकार, पाठक और समीक्षक ये तीनों उसके इसी युग-बोध को, अर्थवत्ता को ग्रहण कर इसी चेतना से उसे देखें।

जिनकी चेतना में आज़ादी के पहले और उसके बाद की सामाजिकता के यथार्थ संघर्ष और उसके भीतर के मनोविज्ञान से लगाव था, उसने इस नये युग में यह स्पष्ट अनुभव किया कि 'आदर्श की जिस अटारी पर चढ़कर मसीहा ने रामराज का कुतुब खड़ा किया था, वह उन्हीं के आगे ढह गया था……।'

दूसरी ओर जिनकी चेतना ने यथार्थ के अपेक्षाकृत ठहरे हुए अर्थात् वैयक्तिक और पारिवारिक रूप को ग्रहण किया और जिन्होंने उस वैयक्तिक अनुभव-तन्त्र के आधार पर संघर्षरत जीवन की अभिव्यक्ति देनी चाही, उन्होंने भी वही अनुभव किया कि 'हमारे अन्दर और बाहर, आस-पास की हवा में, हमारी मजलिसों और क़हक़हों में कहीं कुछ ऐसा है, जो ग़लत है……कि आस-पास के बड़े-बड़े परिवर्तनों के साये में हमलोग निरन्तर पहले से छोटे और कमीने होते जा रहे हैं…… ……कि हमारे अन्दर लगातार कुछ टूट रहा है। चाहते हैं कि उसे टूटने से बचा सकें, मगर न जाने क्या मजबूरी है कि केवल गवाह की तरह खड़े उस ढहने की प्रक्रिया को चुप-चाप देख रहे हैं।'

इस जीवन-गत, मूल्य-गत संघर्षों—इसकी आन्तरिक और बाह्य दोनों तरह की चुनौतियों से रचना के प्राणों से लड़ने का सत्य—यही है स्वतन्त्रता के बाद की 'नयी कहानी'। यही है उसका अपना अपूर्व व्यक्तित्व और निजत्व।

रचना के धरातल से इस प्रक्रिया और युग-बोध की दो विभिन्न उपलब्धियाँ सामने आयीं। पहला पक्ष जिसने व्यापक सामाजिकता को अपनी रचना-चेतना में ग्रहण किया, वह अपने उस यथार्थ, संघर्षरत जीवन की ओर मुड़ा, जहाँ की जीवन-डोर से उसकी मूल चेतना बँधी थी। उसका गाँव, उसकी जन्म-भूमि, उसका क़स्बा, उसका अंचल—जिनकी सामाजिक परिस्थितियों से उनका जीवन्त सम्बन्ध था। उसने अपने उसी जीवन की नयी उभरती हुई वास्तविकताओं को उसके पूरे परिवेश में ग्रहण किया। 'पान फूल', 'महुए का पेड़', 'राजा निरबंसिया', 'ठुमरी', 'जिन्दगी और जोंक',

'कोसी का घटवार' अदि संग्रह की प्रतिनिधि कहानियों की यही प्रेरणा-भूमि है। जड़ता, असफलता, शोषण, अंधकार से जीवन का संघर्ष—और उसमें स्वस्थ, मानवीय संकेत। नैराश्य और सूनेपन में आशा और जीवनमूल्य का संकेत। अपने जिये हुए, अनुभव किये हुए जीवन और समाज में जहाँ कहीं भी, जिस स्तर से भी, जो कुछ, जितना भी मूल्यवान् है, विकासोन्मुख है, भविष्यमय है, उसे उसके समूचे परिवेश के भीतर से पकड़ना और उसे ज़िन्दगी के व्यापक सन्दर्भ में देखना।

दूसरी ओर जो अनुभव-तंत्र के कहानीकार थे, वे भी अपनी रचना के उस चरण में अपने जीवन-सन्दर्भों से इसी संघर्ष की चुनौतियों को व्यक्ति की आन्तरिकता के क्षेत्र में ग्रहण करके देख-परख रहे थे। उनका भी मूल स्वर नैराश्य, पराजय-जनित कुण्ठा (यद्यपि इनकी कहानियों का मूल विषय स्वभावतः यही था) की अभिव्यक्ति नहीं थी। वरन् इन्होंने भी अपने रचनाकार की सम्पूर्ण सच्चाई और उसके अन्यतम व्यक्तित्व के साथ व्यक्ति के यथार्थ को उसकी सामाजिक परिस्थिति में, उसके परिपार्श्व में परखने-आँकने वाली रचना की—ऐसी रचना जिसकी बुनियादें वैयक्तिक अनुभव-तन्त्र में ही सही किन्तु जो निश्चय ही समाजपरक विचारधारा में थी। 'नये बादल' 'परिन्दे', 'जहाँ लक्ष्मी क़ैद है' और 'बादलों के घेरे' कहानी-संग्रहों तथा कहानी की प्राणभूमि यही है। पर इस बीच एक बड़े दुर्भाग्य की बात यह रही है कि पहले पक्ष के कहानीकार ने दूसरे पक्ष के कहानीकार को, उसकी विचारधारा और उसकी रचना-प्रक्रिया को ध्यान में रखकर, उसे पलायनवादी कहा है, और दूसरे ने पहले को उससे भी ज़बरदस्त शब्दों में पलायनवादी कहा है। हिंदी की इस विरासत को हम दोनों ने नहीं छोड़ा है। यह लड़ाई अभी भी किसी-न-किसी स्तर से खूब गर्म है। और इसमें वे तत्व मौजूद हैं जो अक्सर रचनाकार को उसकी वास्तविक भूमिका से नीचे उतारकर उसे विशुद्ध कलागत संघर्ष में नीचे खींच ले आते हैं। पिछले दिनों ग्राम-कथा बनाम शहरी-कथा के बीच जो तनातनी थी और है—वह इसी का परिचायक है। ग्राम-कथा और शहरी-

---

ईमानदार साहित्य की आवश्यक शर्त

आइन रैण्ड का जन्म रूस में हुआ था। किन्तु सत्रह साल की कच्ची उम्र में वह अकेली रूस से फ़रार हो गयी। रूस की सीमा पार करके वह योरप के अन्य देशों में घूमती रही, और अन्त में फ्रान्स चली आयी। फ्रान्स में आकर आइन रैण्ड ने अर्थशास्त्र, इतिहास, समाजशास्त्र और दर्शन की शिक्षा प्राप्त की। अपनी एक पुस्तक की भूमिका में उसने लिखा है :

***

कथा, कहानी का कभी कोई प्रकार नहीं हो सकता ! जीवन तो वही एक है । संघर्ष की चुनौतियाँ भी वही हैं—सन्दर्भ और संकुलता की स्थिति में चाहे जितना अन्तर हो । इसलिए दोनों का 'वेग' कभी नहीं थम सकता । बल्कि लोक-जीवन, जन-जीवन की वास्तविकता और उस जीवन का 'क्राइसिस' तो अपनी आदिम भयंकरता के साथ है ।

आगे की स्थिति इस युग-बोध के सन्दर्भ में बड़ी विचित्र हुई । जैसे कि इस व्यापक संघर्ष में वही अन्धकार ही जीतने लगा । दोनों पक्षों की चेतना युग की क्राइसिस का सामना करती हुई उस यथार्थ दर्द, अन्धकार और घाव से लड़ने-जूझने के बजाय उसे अपने माथे से ओढ़ने लगी । पहले ने कहा कि 'चूँकि मुझे यहाँ अँधेरा हर क्षण गहरा होता दिखाई पड़ता है, इसलिए कहता हूँ कि जो मार्गदर्शी हैं, वे असत्य का प्रचार कर रहे हैं । उनकी सत्य की पहचान मिट गयी है ।' और वह कहानीकार आज सिर्फ़ यही अनुभव करता है कि 'यह संशय और अविश्वास का काल है ।' दूसरी ओर अनुभव-तंत्र का वह कहानीकार कहता है कि 'सवालों की नोंक पर अपने को टाँग दे तो लगता है कि सिवाय जख़्म ढोने के उसमें और कुछ हासिल नहीं है ।' 'माही' संग्रह की सारी-की-सारी कहानियाँ, 'छोटे-छोटे ताजमहल' संग्रह की हर कहानी, 'एक और ज़िन्दगी' संग्रह की 'बस स्टैंड की एक रात', 'वारिस' 'आदमी और दीवार', 'जीनियस' और अभी धर्मयुग में प्रकाशित 'फ़ौलाद का आकाश'–ये सारी कहानियाँ क्या हैं ? यह ठीक है कि अन्धकार है । यह सत्य है कि वह घना भी होता जा रहा है । यह यथार्थ है कि योजना और निर्माण की सतह के नीचे से इनसान का जो रूप सामने आया है, वह बहुत ही विकृत है, किन्तु यह यथार्थ-अन्वेषण तो राजनीतिक पार्टियों के नेताओं के भी पास है । 'ब्लिट्ज' तो आज सबसे ज़्यादा सशक्त और सारे तथ्यों तथा आँकड़ों के साथ इस घिनौने और ह्रासोन्मुख यथार्थ को हमारे सामने रखता है । फिर वह रचनाकार कहाँ है ? हम कहाँ हैं ?

मुझे लगता है कि कुछ खुद रचनाकार के ही व्यक्तित्व में बेहद गलत होने लगा है । उसकी चेतना में खुद कहीं

***

> 'मैंने जो कुछ भी पढ़ा और सीखा, वह इसी एक मात्र उद्देश्य से कि आगे चलकर मुझे साहित्य-सृजन करना है । साहित्य-सृजन ही, जब से मुझे होश हुआ है, मेरे जीवन का एक मात्र लक्ष्य रहा है । मैंने अन्य सारे काम करते हुए भी इसी एक काम की तैयारी की है । इतिहास और दर्शन का अध्ययन मैंने इसीलिए किया है कि इसके बिना ईमानदार साहित्य की रचना नहीं हो सकती ।'

***

कुछ बहुत ही मूल्यवान्, रचना की प्राण-भूमि से ही कुछ टूटने और ढहने लगा है। और वह 'तटस्थ'-'उदासीन' भाव से खड़े उस ढहने की प्रक्रिया को चुपचाप देख रहा है।

कहानीकार की चेतना को, इस युग की 'क्राइसिस' का सामना करने में एक गति और भी विचित्र हुई है। जो सामाजिक चेतना का प्रतिनिधि कहानीकार है वह भी उसी अनुभव-तन्त्र की ओर मुड़ रहा है। और वह जैसे समाज की नयी उभरती हुई वास्तविकताओं और जीवन के नये सन्दर्भों की तलाश व्यक्ति की कुण्ठा, हीन-ग्रन्थि, उसकी दमित वासनाओं, अभुक्त आकांक्षाओं की अवचेतना लोक में उतरकर कर रहा है। और वह वहीं के घने अन्धकार से हमें बुला रहा है कि 'आइये, अविश्वास और संशय में बुझाये प्रश्नों के बाण एक ऐसे अन्तरिक्ष से साधें, जिसमें प्रकाश और अन्धकार का भिन्न प्रतिमान तेज़ी से एक होता जा रहा है।'

इस सन्दर्भ में दूसरी ओर जो अनुभव-तन्त्र का कहानीकार है, वह अपनी लम्बी कहानियों में व्यक्ति और परिवार के यथार्थ संघर्ष को समाज के व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने की ओर बढ़ रहा है। और उसकी वे कहानियाँ जिनका विषय व्यक्ति का अकेलापन, हताशा और फ्रस्ट्रेशन है—फिर भी जो अपने हेतु और अपने संवेद्य विचारों में अर्थात् अपनी आन्तरिक उपलब्धियों में पूर्णतः स्वस्थ हैं, जीवन के प्रति मूल्यवान् संवेद और संघर्ष के प्रति आत्मशक्ति जगाने वाली हैं। 'सुहागिनें', 'आर्द्रा', 'एक और ज़िन्दगी' तथा 'मिस्सी मरजानी' कहानियाँ अपने क्षेत्र की परम मानवीय और सार्थक रचनाएँ हैं।

अब प्रश्न है कि 'पानफूल' और 'महुए का पेड़' के सशक्त और जागरूक कहानीकार की उस संघर्षमयी सार्थक सामाजिक चेतना को क्या हुआ? कहीं ऐसा तो नहीं कि 'कामू' और 'सार्त्र' की किताबों द्वारा प्राप्त आधुनिकता के मोह ने तो उसे नहीं डँसा। या ऐसा तो नहीं हुआ कि लोक-ग्राम-जीवन की यथार्थ सामाजिकता की संघर्षमयी चेतना में जीना उसे हेय लगा और जिससे कटकर इस तथाकथित 'आधुनिकता' में रहना उसके लिए अधिक सम्मानजनक और मूल्यवान् लगा। वरना अन्धकार में अन्धकार खोजने की यह भाषा, संशय और अविश्वास में बुझाये प्रश्नों के बाण अन्तरिक्ष में मारने का बिम्ब, रूपक और क्या है?

दरअसल इस सारी वैचारिक चेतना के मूल में शायद उसी 'नये' ('नियु') का ही मनोविज्ञान कार्यरत है। चूँकि सबका सब नया है—बिलकुल परम्परा-मुक्त, बिल्कुल क्रान्तिकारी। नये-इनसान को सिर्फ़ उसके यथार्थ और वर्तमान के ही परिप्रेक्ष्य में देखना। तो इस नये को स्वभावतः इस युग के 'आधुनिक' से उसे जोड़ना था। और आधुनिक क्या है? वही जो गत पन्द्रह-सोलह वर्षों में पश्चिम के बाज़ार से पढ़ा है, और अँग्रेज़ी फ़िल्मों और राजधानी के जीवन के बीच से देखा है! देखा-पढ़ा इसलिए है कि हमें आधुनिक रहना है

[शेषांश पृष्ठ ९४ पर]

मैंने अपने लड़के से कहा, "मेरी छड़ी निकालो, मैं सैर को जा रहा हूँ।"

मेरा बेटा कमरे के अन्दर गया, बड़ी मुश्किल से उसने छड़ी का एक सिरा निकाला। दूसरा सिरा निकालने में उसे कई बरस लग गये, क्योंकि छड़ी बहुत लम्बी थी। छड़ी निकालते-निकालते उसके सिर के बाल सफ़ेद होने लगे।

आख़िरकार वह छड़ी निकालने में सफल हो गया। छड़ी मेरे हाथ में थमाकर उसने चैन की साँस ली। पूछने लगा, "कहाँ जाओगे?"

"एक लम्बी सैर को जाऊँगा," मैंने जवाब दिया।

जब वह मुझे सड़क पर अकेला छोड़कर घर के अन्दर वापस चला गया, तो मैंने सड़क को देखा, और सड़क पर पड़ी हुई अपनी छड़ी को देखा। छड़ी सड़क से ज़्यादा लम्बी थी, और मैं लम्बी सैर को जाना चाहता था। इसलिए मैं सड़क पर चलने के बजाय, छड़ी के अन्दर चला गया। मीलों अन्दर चलता रहा, दूर तक चलता गया। मटियाली सड़क थी—पुरानी यादों की तरह, और कोई आसमान न था, सिर्फ़ एक गूँज थी और वहाँ जितने मुसाफ़िर थे सब अपनी क़ब्रें अपने साथ लिये चल रहे थे और कोई किसी से बात नहीं कर सकता था, क्योंकि उनके पास जितनी ज़ुबानें थीं वह उन्होंने अपनी आँखों को दे दी थीं, और अब गूँगे हो गये थे, और गूँगे होने के पहिले उनमें से हर शख़्स के पास चार

छड़ी

कृश्नचन्दर

•

उस छड़ी को क्या कहा जाए जो सड़क से भी अधिक लम्बी हो! आधुनिक जीवन-दृष्टि की ओर संकेत करती प्रतीकात्मक कहानी—जगह-जगह व्यंग्य से सनी।

•

ज़ुबानें थीं। एक ज़ुबान सच बोलने के लिए, दूसरी झूठ बोलने के लिए, तीसरी बाहर की दुनिया के लिए, चौथी अन्दर की दुनिया के लिए। मगर अब वह सब गूँगे थे, सिर्फ़ आँखों में कविता थी शून्यता की, और माथे पर कफ़न था किसी सुन्दर आशा का। और अब वह चल रहे थे और जो क़दम वह आगे को बढ़ाते थे, पीछे को जाता था।

चलते-चलते जब मैं थक गया और रास्ता ख़त्म न हुआ तो मैंने अपने दाँत निकालकर अपने पैरों में नाल की तरह लगा लिए। फिर मैंने माथे से दोनों आँखें निकालकर अपने पैरों को दे दीं तो मेरे क़दम बहुत तेज़ी से चलने लगे। चलते-चलते मटियाली सड़क ख़त्म हो गई, और लकड़ी का एक ज़ीना शुरू हुआ, वर्षों मैं उस ज़ीने पर चढ़ता रहा, आख़िरकार वह ज़ीना ख़त्म हुआ, और एक छोटा-सा बरामदा नज़र आया, बरामदे के पीछे एक घर का दरवाज़ा नज़र आया, जिस पर एक अजनबी औरत खड़ी थी—आँखों में इन्तज़ार की चिता जलाये हुए और सर के बाल कर्त्तव्य की तरह कसे हुए मेरी राह देख रही थी। मुझे देखते ही आगे बढ़ी, मुझे हाथ से पकड़कर बोली : "कहाँ चले गये थे ?"

"तुम कौन हो ?" मैंने उससे पूछा।

"मैं तुम्हारी बीवी हूँ।" वह बोली।

"मगर मैं तुम्हें नहीं जानता।"

"मैं भी तुम्हें नहीं जानती, मगर वर्षों से हम एक-दूसरे के साथ रहते हैं," वह बोली।

"यह झूठ है।"

"कल को कहोगे यह बच्चे भी झूठे हैं," वह जल्दी से अपने बच्चों को आवाज़ देकर बुला लाई, बच्चे दिखाकर बोली, "क्या यह सब तुम्हारे बच्चे नहीं हैं ?"

मैंने गिना—कुल ग्यारह बच्चे थे। मैंने हैरत से उन बच्चों को देखा, "यह सब बच्चे मेरे हैं ?"

"हाँ डैडी," वह सब ख़ुशी से चिल्लाये।

मैं हैरत से अपनी आँखें झपकाने लगा।

मैंने उस अजनबी औरत से कहा, जो मेरी बीवी थी, "मैं तुम्हें नहीं जानता, इन बच्चों को नहीं जानता, इसलिए यह बच्चे मेरे नहीं हो सकते, शादी की बात मैंने सोची ज़रूर थी, और बच्चों की भी, लेकिन सिर्फ़ दो बच्चे सोचे थे, और मनुष्य जो सोचता है, वही उसका हो सकता है, बाक़ी सब फ़ालतू है, इसलिए अब मैं वापस जाता हूँ।" मैं ज़ीने से नीचे उतरने लगा, और वह शोर मचाने लगी। बच्चे रोने लगे, और उनकी आवाज़ सुनकर आस-पास के बहुत-से लोग अपने घरों से निकल आये, वह सब लानत भेजने लगे।

सब ने कहा, "यह तुम्हारे बच्चे हैं, यह तुम्हारी बीवी है, हम तुम्हारे पड़ोसी हैं।"

"मगर मैं आप किसी को नहीं जानता," मैंने उनसे कहा, "हो सकता है इस घर में मेरी तरह का कोई और रहा हो।"

इस पर उन्होंने मेरे बाप का नाम बताया, जो सही था, मेरे दादा का नाम बताया जो सही था, मेरे पर-बाबा का नाम बताया, जो सही नहीं था, क्योंकि वह ख़ुद भी

सही नहीं था, इस पर मुझे यक़ीन आ गया और मैं उस अजनबी औरत का हाथ थामकर ग्यारह बच्चों के साथ घर के अन्दर चला गया, और ग्यारह साल वहाँ रहा, और जब ग्यारह साल बीत गये, तो मैंने चलने की ठानी, और एक बच्चे से कहा कि वह मेरी छड़ी निकालकर बाहर रखे।

"कहाँ जा रहे हो?" मेरी बीवी ने घबड़ाकर पूछा।

"आज़ादी ढूँढ़ने।"

वह रोने लगी, बच्चे छड़ी निकालने लगे, मगर ग्यारह वर्षों में छड़ी और भी लम्बी हो गई थी, इसलिए छड़ी निकालते-निकालते कई वर्ष बीत गये; मैंने छड़ी हाथ में लेकर सबसे बिदा ली, और ज़ीना उतरकर सड़क पर चलने लगा, जहाँ क़दम-क़दम पर चिताएँ जल रही थीं, और सबीलें गड़ी हुई थीं, और आकाश की जगह गहरी मायूसी का कोहरा छाया हुआ था।

चलते - चलते सड़क खत्म हुई, और जहाँ पर सड़क खत्म हुई थी वहाँ पर सलाख़ोंदार बहुत बड़ा एक फाटक नज़र आया। मुझे देखते ही वह फाटक खुल गया, आप-ही-आप। और जब मैं फाटक के अन्दर गया तो मुझे भारी-भरकम देव-जैसा आदमी मिला; उसने मेरे हाथ में हथकड़ियाँ पहिना दीं, और पाँव में बेड़ियाँ।

"आज़ादी मुबारक।" उसने ख़ुश होकर कहा।

"आज़ादी मुबारक।" मैंने भी ख़ुश होकर जवाब दिया, फिर मैंने अपनी बेड़ियों और हथकड़ियों को देखा और उससे पूछा, "यह कौन-सी जगह है?"

वह बोला, "यह आज़ादी का जेलख़ाना है।"

मैंने इधर-उधर देखा। यह जेलख़ाना बहुत बड़ा था, और उसमें हज़ारों, लाखों ग़ालिबन करोड़ों आदमी काम करते थे। रोज़ाना दस-बारह घंटे काम करने के बाद, पूरे एक महीने बाद उस भारी-भरकम आदमी ने मुझे अपने आफ़िस में बुलाया।

वह एक मेज़ के पीछे खड़ा था,

कठिन केस

कुछ मित्र एक साइकियाट्रिस्ट के पास एक मरीज़ को लेकर आये, जिसे यह भ्रम-रोग हो गया था कि उसे अपार सम्पत्ति मिलने वाली है। उसे लगता था कि वह दो दस्तावेज़ पाने वाला है जिनके द्वारा वह सुमात्रा के एक विशाल रबर के जंगल का और दक्षिण अफ्रीका की कुछ सोने की खानों का मालिक हो जायेगा।

कुछ दिनों बाद उक्त साइकियाट्रिस्ट ने अपने मित्रों से कहा, "यह बहुत कठिन केस था और मुझे उसका यह रोग छुड़ाने में बड़ी मिहनत करनी पड़ी। और ज्योंही वह रोग से मुक्त हुआ, वे दोनों दस्तावेज़ उसके पास आ पहुँचे।"

और उसके हाथ में मेरी लम्बी छड़ी थी, और मेज़ पर एक बड़ा केक रखा था। उस आदमी ने मुझे देखकर मेज़ के पास आने को कहा। छुरी लेकर केक काटा, और एक छोटा-सा टुकड़ा मेरे हाथ में दे दिया; फिर दूसरी बार एक बहुत-बड़ा टुकड़ा काटा और उसे अपने हाथ में लेकर खाने लगा।

"यह क्या है?" मैंने अपने हाथ में छोटा-सा टुकड़ा देखकर पूछा।

"आज़ादी का टुकड़ा।"

"मगर तुम्हारा टुकड़ा मुझसे बड़ा क्यों है?" मैंने उससे पूछा।

"क्योंकि मैं तुम्हें आज़ादी देता हूँ।" वह बोला।

"ठीक है।" मैंने उससे कहा। बात मेरी समझ में आ गई थी, इसलिए मैं अपना छोटा-सा टुकड़ा लेकर चला गया।

वर्षों तक ऐसा ही होता रहा, एक छोटा टुकड़ा, एक बड़ा टुकड़ा। आख़िर एक दिन मैंने वहाँ कुछ क़ैदी इकट्ठे किये और सबको साथ लेकर उनके पास पहुँचा, और उनसे कहा, "अब सबके सामने केक काटो।"

उसने बड़ी दिलचस्पी से केक काटा, मेरे लिए एक छोटा टुकड़ा काटा, अपने लिए बड़ा टुकड़ा काटा। मैंने कहा, "तुम ख़ुद बड़ा टुकड़ा लेते हो, हमें छोटा क्यों देते हो?"

वह बोला, "सालों से ऐसा ही होता चला आ रहा है।"

मैंने फिर उससे पूछा, "तुम्हारा क्या ख़याल है, तुम्हारा टुकड़ा हम सबसे बड़ा है?"

"इसमें क्या शक़ है," उसने अपना टुकड़ा दूर से दिखाकर कहा, "देखो।"

"शायद तुम गिनती नहीं जानते?" मैंने कहा।

"जानता हूँ।"

"तो बताओ, दो और दो कितने होते हैं?"

"चार रुपये।"

"अहमक़ हो," मैं अपने साथियों की तरफ़ मुड़ा, "यह कहता है, दो और दो चार रुपये होते हैं। लेकिन दो और दो चार आदमी होते हैं।"

मेरे साथी भी ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगे। उनकी हँसी सुनकर वह भय से काँपने लगा, फिर मायूसी से रोने लगा। इस पर मेरे साथी इतने ज़ोर से हँसे कि उनका क़हक़हा एक गोले की तरह फटा, और चारों तरफ़ धुआँ फैल गया। जब धुआँ साफ़ हुआ तो मैंने देखा कि न वह जेलख़ाना है, न उसकी दीवारें हैं, न वे लोग हैं। मेरे हाथ में मेरी छड़ी है, जो दो तिहाई से ज़्यादा जल चुकी है।

मैं छड़ी हिलाता हुआ आगे बढ़ा, तो मुझे एक ऊँचे टीले पर एक बूढ़ी औरत एक सुनहरे गोले को अपनी गोद में लिये कुछ बुनती नज़र आई। मुझे देखकर बड़ी मोहब्बत और मसर्रत से मुस्कराई, जैसे मुझे वर्षों से जानती हो। मगर मैं उसे नहीं जानता था।

"तुम कौन हो ?" मैंने उस बूढ़ी औरत से पूछा।

"मैं सूरज हूँ," वह बोली।

"सूरज तो बाप होता है।"

"नहीं," वह बड़े प्यार से सर हिलाकर बोली, "जो जन्म दे वह माँ होती है। मैंने अपनी कोख से तुम्हारे लिए ज़मीन को जना, और ज़मीन ने तुम्हें, इसलिए तुम मेरे पोते हो।"

मैंने उसके पाँव छुए और पूछा, "दादी-अम्मा, तुम इस टीले पर बैठी क्या कर रही हो ?"

वह बोली, "आओ, इस टीले पर चढ़कर देखो।"

जब मैं टीले पर चढ़ गया, और जाकर दादी-अम्मा के पास खड़ा हो गया, तो मैंने देखा कि जिस टीले पर दादी-अम्मा बैठी हैं उसके विपरीत दूसरी ओर एक और ऊँचा टीला है, और इस टीले और उस टीले के बीच एक अनन्त विनाश फैला हुआ है, और यहाँ से वहाँ तक जाने का कोई रास्ता नहीं है लेकिन दादी-अम्मा की गोद में रखे गोले से जो तार निकलते जा रहे हैं उन्होंने इस अनन्त विनाश के ऊपर सुनहरी किरणों का एक जाल बना दिया है, और इस सुनहरे जाल के नीचे एक सुन्दर पुल है जिसकी सात मेहराबें स्पेक्ट्रम के सात रंगों से बनी हैं। ऐसा सुन्दर पुल मैंने आज तक नहीं देखा था। मैंने इस पुल की तरफ़ ताज्जुब से देखते हुए कहा, "क्या मैं इस पुल पर चल सकता हूँ ?"

वह बड़े प्यार से मेरे सर पर हाथ फेरकर बोली, "यह पुल तो हमेशा तुम्हारे क़दमों के नीचे था, ताज्जुब है तुमने आज तक इसे नहीं देखा !"

मैंने अपनी ग़लती पर शरमिन्दा होकर दादी-अम्मा के फिर पाँव छुए, और पुल पर आगे बढ़ गया। पुल पर क़दम रखते ही मुझे ऐसा लगा जैसे मैंने अपना क़दम किसी झूले पर रख दिया हो। बड़े मज़े में चलता, किसी तरह की थकान महसूस किये बग़ैर जब मैं

चार परिवार : चार भाषाएँ

एक बड़ा मकान था, जिसमें चार परिवार रहते थे। मकान के बीच में एक आँगन था, जो चारों परिवारों के उपयोग में आता था। एक दिन उस आँगनमें चारों परिवारों के बच्चे खेल रहे थे। खेल-खेल में चारों झगड़ने लगे। यह देखकर उनके माँ-बाप भी निकल आए और उनमें भी कहा-सुनी होने लगी।

उस मकान की मालकिन, जो बड़ी देर से यह सब देख रही थी, आख़िर को बीच-बचाव करने आई। उसने उन लोगों से कहा, "अरे, कोई एक भाषा बोलकर लड़ो तो बात समझ में आए। सब अपनी-अपनी भाषा में लड़ते हो। यह भी मालूम है कि एक-दूसरे की भाषा कोई नहीं समझ पा रहा है।"

अब सभी ने अपनी ग़लती महसूस की और हँसने लगे। झगड़ा ख़त्म हो गया था।

पुल को दो-तिहाई के क़रीब पार कर गया तो मुझे वहाँ फिर एक छोटा-सा लड़का खेलता नज़र आया। मैं उसकी तरफ़ ग़ौर से देखने लगा क्योंकि उसकी शक्ल मुझसे कुछ-कुछ मिलती-जुलती थी।

"क्या तुम मेरे बेटे हो ?" मैंने उससे पूछा।

वह बोला, "नहीं, मैं तुम्हारा पोता हूँ।"

"यहाँ क्या कर रहे हो ?" फिर उसने पूछा।

"क्यों ?"

"मुझे तुम्हारी छड़ी चाहिए।"

"इस छड़ी को लेकर अब तुम क्या करोगे ? यह छड़ी बहुत टूट चुकी है, बहुत-सी जल चुकी है। इस छड़ी ने मुझे बड़ा दुःख दिया, तुम इस छड़ी को लेकर क्या करोगे ?"

वह बोला, "तुम सिर्फ़ इसके सहारे ज़िन्दगी पर चलते रहे, यही तुम्हारी सबसे बड़ी ग़लती थी, मगर मैं यह ग़लती नहीं करूँगा।"

"पर तुम इस छड़ी को लेकर क्या करोगे ?" मैंने हैरान होकर उससे पूछा।

"मैं इस छड़ी को एक डाइविंग-बोर्ड की तरह इस्तेमाल करूँगा। पुल पर खड़े होकर इस पर से छलाँग लगाकर समुद्र में कूद जाऊँगा।"

"क्यों ?"

"क्योंकि प्रकृति ने सिर्फ़ ज़िन्दगी और मौत बनाई हैं, जब कि जन्नत सिर्फ़ इनसान ने बनाई है।"

मैं हैरत से उस बच्चे की तरफ़ देखने लगा। मेरा पोता तो सूरज की तरह बुद्धिमान् था। मैंने छड़ी उसके हाथ में दे दी, उसने छड़ी ले ली। वह पुल के किनारे सुनहरी किरणों के तारों में उलझकर खड़ा रहा, फिर उचककर उसकी मूठ पर खड़ा हुआ, और दोनों हाथों को ऊँचा करके उसने समुद्र में छलाँग लगा दी।

दूर तक उसकी हँसी के क़हक़हे बिखरते गये। पुल डोलने लगा, फिर हर मेहराब लचककर नाचने लगी, फिर सातों मेहराबों के सातों रंग किसी सितार के सातों स्वरों की तरह गूँजने लगे। फिर मुझे ऐसा महसूस हुआ जैसे मेरा वज़न कम हो रहा हो, मेरा शरीर हवा से भी नर्म और हलका बनता आ रहा हो। ख़ौफ़ और मुसर्रत के मिले-जुले अहसास से मेरी आँखें बन्द होने लगीं।

फिर जब मैंने आँख खोली, तो देखा कि मैं न था। सिर्फ़ हवा में कहीं पर एक रंग-सा थरथरा रहा था और एक स्वर-सा बज रहा था....। ■

जब हम उस उम्र को पहुँचते हैं कि किसी के कहे की कुछ परवाह न करें, लोग हमारे बारे में कुछ कहना ही बन्द कर देते हैं।

गिरिजाकुमार माथुर

साक्षात्कार

हर बार नये-नये
अनदेखे काँटों के कपड़े पहिने मैंने
हाथ बाँध फिर भी
अस्पृश्य-सा खड़ा रहा
—प्रतिमा पर बोली नहीं

धुन्धों में डूबे हुए
कितने बिम्ब-फूलों को
तोड़कर लाया मैं
चमकीली थालियों में रखता रहा सामने
—प्रतिमा पर डोली नहीं

डूबकर भोगे हुए
कितने अनलौटे रसगोपन क्षण
होम पर धरे मैंने

—गन्ध पर उठी नहीं

अपनी अक्षमता का अतिक्रम कर
अमित बार
अनुलंघ्य लोकों से
कितनी अज्ञात अग्नियों को बीन लाया मैं

—लौ पर जली नहीं

सरबस विसर्जित कर
भूल तर्क देह का
बची अस्थियों की
एक वंशी बना लाया मैं

—शब्द पर हुआ नहीं

सबसे विफलता छिपा
अपने ही रक्त का
एक लाल फूल बना
धारा में डाल दिया

—धार उसे छोड़ गई

डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे

प्रस्तुत हैं स्वर्गीय 'नवीन' जी के कुछ ऐसे व्यक्तिगत पत्र—स्नेह में डूबे—जिनसे उनका व्यक्तित्व - वैशिष्ट्य परिलक्षित होता है।

'हम हैं मस्त फ़क़ीर, हम हैं लौह शरीर' के यशस्वी गायक और हिन्दी के अल्हड़ कविवर स्वर्गीय बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के व्यक्तिगत पत्रों में उनका ममतीला, करुणार्द्र तथा भावुकतामय मानसरोवर तरंगायित हो उठा है। 'वृषभ स्कन्ध, केहरि चाल, बाहु विशाल' एवं 'मम आजानु बाहु आज अकुलाये हैं' सदृश् पौरुषमय व्यक्तित्व - सम्पन्न 'नवीन' जी के पत्र उनकी आत्मा के आम्र-कुंज हैं।

उनके सहस्रों पत्र यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उनका संकलन एवं प्रकाशन, कवि के आभ्यन्तरिक पक्ष को पूर्ण सामर्थ्य के साथ उद्घाटित करने में सर्वथा सक्षम है। प्रकाशित की अपेक्षा उनके शताधिक अप्रकाशित पत्र, उनके निष्कपट भोले-भाले और संवेदनशील हृदय के ज्वलन्त प्रमाण हैं। इसी सन्दर्भ में, यहाँ उनके कतिपय सर्वथा अप्रकाशित पत्र उद्धृत किये जा रहे हैं।

'नवीन' जी के व्यक्तित्व के निर्माण में उनकी माताजी का प्रमुख स्थान रहा है। वे अपनी माता श्री को 'जीजी' कहा करते थे। अपनी माता के देहाव-

कविवर 'नवीन' की कहानी : उनके ममतीले पत्रों ने बखानी

सान के अनन्तर, उन्होंने अपने बाल्य-सखा, अभिभावक तथा सर्वस्व श्रीदामोदर-दास झालानी को पत्र लिखा :

'प्रताप',
कानपुर,
४ जनवरी, '४८

पूजनीय दामू दादा,
सादर प्रणाम ।

परसों रात्रि को आपका पत्र मिला । कल एक त्वरित-तार द्वारा आपको मैं अपना मत प्रकाश कर चुका हूँ । इस पत्र में उसी बात को दुहरा रहा हूँ। घर में जो कुछ बरतन, भाँड़े, साधारण कपड़े-लत्ते आदि हैं उनका मेरे लिए कोई उपयोग नहीं । अतः वह सब सामान आप चि० मन्नू को दे सकते हैं। मैंने तार में लिखा है कि मरणोत्तर कार्य के लिए आप जीजी के रुपयों में से ३००) रुपए तक व्यय कर सकते हैं । यह रक़म परिस्थितिवश आपको ख़र्च करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है । उत्तर कार्य चि० मनोहर करें ।

वास्तव में तो आप ही पुण्यश्लोका जीजी के पुत्र हैं,—पुंनाम नरकात् उनका त्राण करनेवाले तो आप ही हैं । मैं तो कुपुत्र ही रहा । आजीवन मुझे इसकी ग्लानि रहेगी कि मैं जीजी की सेवा न कर सका । मेरे जीवन में जो कुछ भी, यत् किंचित्, सुष्टु, मधुर, सत एवं शिव का अंश है वह सब जीजी का वरदान है । मैं इस ऋण को नहीं चुका पाया । मैं शाजापुर आऊँगा । इधर न आ सकूँगा । आगामी १४ जनवरी से ही मेरा दिल्ली का कार्यक्रम प्रारम्भ हो रहा है । उसके पहले के इन दिनों में यहाँ की स्थानीय समस्याएँ मुझे व्यस्त किये हैं । दिल्ली का कार्य १४ जनवरी से प्रायः मध्य अप्रैल तक चलेगा । तदुपरान्त आठ-दस दिन के अवकाश से विधान-निर्माण-कार्य प्रारम्भ हो जायगा । उसी अवकाश-काल में मैं आपके दर्शन करूँगा । आप और आपका परिवार मेरा अवलम्ब रहा है । आप हैं; मैं निरवलम्ब नहीं हूँ । आप शतजीवी हों—यह मेरी मनोकामना ।

आपका
बालकृष्ण

'नवीन' जी आजीवन 'अनिकेतन' ही रहे। सांसारिकता तथा संग्रह-वृत्ति ने कभी भी उनके मानस में अपने नीड़ नहीं बनाये। वे अलमस्त कवि थे—कबीर के समान अपना घर जलाकर चतुष्पथ पर आ विराजने वाले। यश उनके पीछे भागा, उनको वशीभूत नहीं कर सका। माया का दासत्व उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया। वे कभी भी व्यावहारिक व्यक्ति नहीं बन सके। उनके व्यक्तित्व के एक अत्यन्त प्रखर गुण की आभा अधोलिखित पत्र में परिव्याप्त है :

५, विण्डसर प्लेस, नई दिल्ली
२३ जनवरी, '४८

सम्मान्य दामू दादा,
सादर प्रणाम।
आपका १४ जनवरी का पत्र कल रात्रि को मिला। मैं यहाँ आ गया हूँ। 'स्टेण्डिग फाइनेन्स कमेटी फार रेलवेज', 'एडवाइजरी कमेटी फार सेन्ट्रल इम्प्लायमेंट', 'सिलेक्ट कमेटी ग्रान मीनिमम वेजेस बिल' आदि समितियों की बैठकें गत १६ जनवरी से प्रारम्भ हो गई हैं। अतः मैं कानपुर से १५ को चलकर १६ के प्रातः यहाँ पहुँच गया।

पुण्यश्लोका जीजी ने मकान के सम्बन्ध में जो लिखा-पढ़ी की है वह मैंने देखी तो नहीं है, पर, उन्होंने मुझसे एक बार कहा था कि मन्दिर को उन्होंने यह मकान अर्पित कर दिया है। यह उचित ही है। आप घर की जैसी उचित व्यवस्था समझें, करें। मुझे आपके निर्णय में हस्तक्षेप करने का रंचमात्र भी अधिकार नहीं है। और फिर, जीजी की इच्छा एवं उनके निश्चय के विरुद्ध में कुछ करने की सोच भी नहीं सकता। मकान की व्यवस्था उनकी इच्छा के अनुरूप ही होनी चाहिए। आपने उत्तर कार्य के हिसाब देखने की बात लिखी है। अब मैं आपसे भी हिसाब समझने की बात कहूँ? ऐसी व्यावहारिकता तो मुझसे न निभेगी। आपने जो कुछ किया है वह सर्वथा मुझे स्वीकृत है। एक युग बीत गया है। मैं भी पचासा पार कर गया हूँ। आपके सदृश् अग्रज का कृपाभाव सदा मेरा सहायक रहा है। आपके ऋण से मैं उऋण नहीं हो सकता। आदरणीया भाभी को मेरा प्रणाम कहिये। बच्चों को प्यार तथा आशीर्वाद।

आपका
बालकृष्ण

(हीरालाल जी के लिए पत्र उस ओर)

प्रिय हीरालाल जी,
नमस्कार ।

आपकी आज्ञा का पालन तो कर रहा हूँ । पर, एक निवेदन है । जिन कन्हैयालाल ब्राह्मण पर रुपयों की डिग्री इजरा कराने का अभियोग चल रहा है, उन्हें उससे मुक्ति मिलनी चाहिए । जीजी के स्वर्गारोहण के उपरान्त यह मुक़दमा चलाना मुझे उचित नहीं लगता । मैं आपको अपना अभिभावक नियुक्त करता हूँ—केवल इसीलिए कि आप मेरी ओर से, न्यायालय के सम्मुख यह निवेदन-पत्र उपस्थित कर दें कि मैं अब यह अभियोग नहीं चलाना चाहता। जीवन में आज तक कभी अर्थ-संचय नहीं किया । अब, इस वय में, मैं क्या मुक़दमेबाज़ी करूँ ?

हम अनिकेतन, हम अनिकेतन !
हम तो रमते राम, हमारा क्या घर ? क्या दर ? कैसा वेतन ?
हम अनिकेतन, हम अनिकेतन !

(१)

अब तक इतनी यों ही काटी,
अब क्या सीखें नव परिपाटी ?
कौन बनाए आज घरौंदा—
हाथों चुन-चुन कंकड़-माटी ?
ठाट फ़क़ीराना है अपना, बाघम्बर सोहे अपने तन,
हम अनिकेतन, हम अनिकेतन !

आशा है, आप तथा लाड़ीजी और बच्चे सब सानन्द हैं ।

आपका
बालकृष्ण

'नवीन' जी औघड़ दानी थे । दिया सब कुछ—दोनों हाथों से उलीचकर, लिया कुछ नहीं । वे अपने-आपको जीवन भर लुटाते रहे । उनकी दानवीरता की कहानी सर्व-विश्रुत है । जिसने जो कुछ माँगा, निःसंकोच व तत्काल दे दिया। एक अर्थ-संकट ग्रस्त व्यक्ति को अपनी माता की निधि से आर्थिक-सहायता करने के लिए उन्होंने पत्र में लिखा था :

५, विण्डसर प्लेस,
नई दिल्ली
२४ जनवरी, ४८

आदरणीय दामू दादा,
सादर प्रणाम ।

एक पत्र लिख चुका हूँ । यह दूसरा पत्र इसलिए लिख रहा हूँ कि आपका 'ढाल का पका' एक कष्ट में है और उसे कष्ट से मुक्ति दिलानी है ।

भाई लक्ष्मीनारायण माथुर इधर डेढ़-दो वर्षों से बड़ी विपत्ति में फँस गए हैं। नौकरी छूटी । पेन्शन का अभी तक कोई ठिकाना नहीं। लड़का लखनऊ विश्वविद्यालय में बी० एस-सी० में पढ़ रहा है। खाने-पीने का ठिकाना नहीं। ऐसी अवस्था में मैंने इधर, इस वर्ष—अर्थात् ४७-४८ में—लड़के की पढ़ाई के ख़र्च का कुछ प्रबन्ध कर दिया है । पर, शाजापुर में लक्ष्मीनारायण जिस घर में रहते थे उसके स्वामी को वे एक वर्ष से किराया न दे सके । अतः घर के स्वामी ने उनका सामान पुलिस के हवाले कर दिया है और किराया न मिलने के कारण, सुनता हूँ, घर की वस्तुएँ नीलाम कराई जायँगी। इस सम्बन्ध में लक्ष्मीनारायण के पुत्र का जो पत्र मेरे पास आया है, वह मैं इस पत्र के साथ भेज रहा हूँ। आप इतना कष्ट करें कि भैया हीरालाल जी से कहकर, अथवा आप स्वयं, परिस्थिति का पता लगवा लीजिये और यदि रुपये देने की बात हो तो आप जीजी के रुपयों में से चार सौ रुपये तक, जितने भी आप आवश्यक समझें, दिलाकर लक्ष्मीनारायण का कष्ट निवारण करने का अनुग्रह करें । लक्ष्मीनारायण पुराने साथी हैं । कष्ट में पड़ गए हैं। उनकी यत् किंचित् सेवा करना मैं अपना धर्म मानता हूँ। भाभी को प्रणाम। भाई हीरालाल जी को नमस्कार । बच्चों को प्यार तथा आशीर्वाद ।

आपका
बालकृष्ण

वे परदुःख-कातर थे । सच्चे मित्र, साथी और सहयोगी थे । सरस काव्य पढ़कर अश्रुसिक्त हो जाते थे । मित्रों की हानि अथवा कष्ट को वे अपनी ही वेदना मानते थे । ऐसे समय वे रो पड़ते थे । उनके अन्दर बैठा सत्पुरुष बड़ा प्रबल था । वे महान् साहित्यिक थे, परन्तु इससे भी श्रेष्ठतर वे मानव थे । उनका निश्छल

तथा सहज मानव, उनके पत्रों में अपना अवगुण्ठन खोल रहा है। वे भावुकता, करुणा एवं विद्रोह की त्रिपुरी पर संस्थित थे। उनकी लेखनी से इन्हीं तत्वों की त्रिवेणी, उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व में प्रवहमान है। उनका एक भावभीना पत्र, जो श्री रामानुजलाल श्रीवास्तव को लिखा गया था, अपने गात में प्यार, ममता, संवेदना, करुणा तथा मैत्री की मन्दाकिनी को समेटे बैठा है :

५, विण्डसर प्लेस, नई दिल्ली
१६-४-५२

प्यारे,

तुम्हारा पत्र अभी-अभी पढ़ा। मन न जाने कैसा हो गया! मेरा हृदय भर गया है और आँखें छलक उठी हैं। दो बार, तीन बार, पत्र पढ़ रहा हूँ। रो रहा हूँ। यह तुमने क्या लिखा कि तुम्हारी तबीयत बहुत ख़राब रहने लगी है ! ऐसा लगता है कि ख़ूब ढाढ़ें मारकर रो लूं, पर आसपास वाले समझेंगे कि यह आदमी क्या कर रहा है ? क्या पागल है ? इसीलिए चुप हूँ। रामानुज, तुम मेरे कितने निकट हो, यह मैं कैसे बताऊँ ? तुम्हारे सदृश् सत्पुरुष, सन्मित्र, सदाशयी बन्धु कहाँ मिलते हैं ? नहीं, भैया, तुम मुझे छोड़कर न जा पाओगे। मैं चीन नहीं जा रहा हूँ। तुमसे मिलने आ रहा हूँ। तुम्हारे इस वाक्य 'एक बार मिल-भेंट लो, भेंट न होने के कारण स्मृतियाँ उलझ गई हैं'—ने मेरा हृदय मथ डाला है। सच मानो, पत्र लिखते-लिखते तीन-चार बार लेखनी रखनी पड़ी। मैं, जनम का अभागा, अपने कुर्ते को दोनों हाथों, पल्ले के सदृश् पसारकर भगवान् से माँग रहा हूँ—मेरे रामानुज को शतंजीवी करो, देव ! तुम श्रम बिलकुल न करना। बिलकुल स्थिर रहो। आराम करो। पेट ठीक होगा—खान-पान में बहुत सावधानी बरतो। मैं दो-एक दिन में ही आ रहा हूँ। भाभी को नमस्कार। बच्चों को बहुत-सा प्यार।

तुम्हारा
बालकृष्ण

पुनः—यह समझकर दुःखी न होना कि तुम्हारे कारण चीन नहीं जा रहा हूँ। जाने का मेरा मन था ही नहीं। गत ९ अप्रैल को ही मैं अस्वीकृति-पत्र भेज चुका था।

एक पत्र और। इन्हीं सज्जन को लिखा गया था :

५, विण्डसर प्लेस, नई दिल्ली
८–३–५७

प्यारे रामानुज,

तुम्हारा १–३–५७ का स्नेह-पत्र ! तुम्हारे स्नेह-वर्षण से मेरा रोम-रोम सुस्नात है। तुम बधिर हो गए ! दुःख है। व्यथा है। पर—

बधिर भी तुम सुन रहे हो गहन अनहद नाद,
कर रहा है मग्न तुमको अतीन्द्रिय आह्लाद।
सूर प्रज्ञाचक्षु को कब थी दृगों की चाह ?
बधिर रामानुज करे क्यों श्रवण की परवाह ?
सूर ने देखा जिसे वह तुम सुनोगे, मित्र,
हृदय में अब स्फुरित होंगे शब्द पुण्य, पवित्र।

केशव-काव्य-संग्रह की प्रतीक्षा में
तुम्हारा
बालकृष्ण

'नवीन' जी अकृत्रिम थे, इसलिए उनके पत्र भी अकृत्रिम रहे। वे ही पत्र महत्त्वपूर्ण एवं चिरंजीवी होते हैं जो प्रकाशन के दृष्टिकोण से नहीं लिखे जाते। 'नवीन' जी के पत्र उनकी मस्ती, अल्हड़ता, सरलता, स्वाभाविक वृत्ति तथा मनुजता से ओत-प्रोत हैं। उनके पत्र उनकी जीवित कहानी हैं। वे 'नवीन' जी के संवेदनशील हृदय के सच्चे एवं चिरन्तन स्मारक हैं। ■

एक अनोखा पत्र

महारानी एलिज़ाबेथ के एक उच्च पदाधिकारी ने अपनी पत्नी को एक पत्र लिखा था जो ४०० पृष्ठों का था तथा उसमें प्रयुक्त शब्दों की संख्या ४,१०,००० थी। यह पत्र ब्रिटिश म्यूजियम में अब भी सुरक्षित रूप में रखा हुआ है।
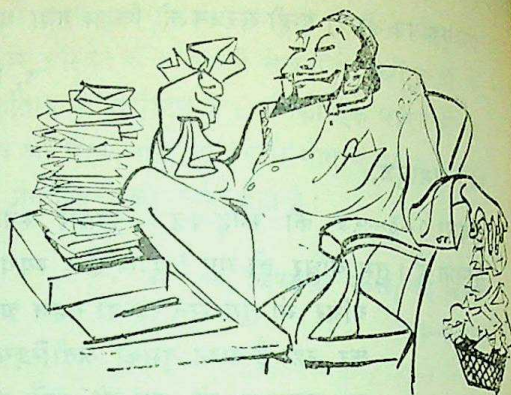
अयोध्याप्रसाद गोयलीय

भाँड़ों के करिश्मे

उर्दू काव्य के मर्मज्ञ श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय द्वारा प्रस्तुत स्तम्भ—जिसमें उस्तादों की क़लम का जादू, कलाम के चमत्कार, साहित्यकारों के रोचक प्रसंग, नह्लों की फुहार पर दहलों की बौछार, गुदगुदाने वाले शेर, झकझोरने वाले व्यंग्य पेश किये जाते हैं। इस क़िस्त में भाँड़ों की पैनी सूझ और बेमिसाल हाज़िर-जवाबियाँ देखें।

जैसे प्राचीनकाल में राजे-महाराजों के दर्बार में विदूषक होते थे, उनके हास-परिहास का बुरा न मानकर शासक और दर्बारी आनन्दित होते थे, उसी प्रकार बादशाही एवं नवाबी शासनकाल में भाँड़ों का दौर-दौरा रहा है, और वर्त्तमान में भी ये लोग यत्र-तत्र पाये जाते हैं। विशेषकर लख-नऊ और जौनपुर के भाँड़ इस युग में भी मशहूर हैं। भाँड़ों को कलाकारों के समान आदर-सम्मान तो कभी नहीं मिला, वे रंडी-भड़ुओं के सदृश ही जल्सों, महफ़िलों में दिलचस्पी का साधन समझे गये। लेकिन चाहे शाही जल्से हों, चाहे वैवाहिक महफ़िलें हों, चाहे मनोरंजनार्थ उत्सव हों, उनमें इनका भी शामिल होना ज़ीनते-महफ़िल समझा जाता था। वर्त्तमान युग की तरह उन दिनों महफ़िलों, जल्सों में न तो मंच बनते थे, न रिहर्सल होते थे, न संवाद लिखे जाते थे, न कोई विशेष आयोजन होता था। ये लोग जल्से का वातावरण देखकर आनन-फ़ानन में यथावश्यक रूप भर लेते थे, संवाद गढ़ लेते थे और तुकबन्दी कर लेते थे। ये लोग न तो शाइरों में शुमार

समझे जाते थे न अन्य कलाकारों में। फिर भी मौक़े-महल के मुताबिक़ वो करिश्मा दिखाते थे और अपनी प्रत्युत्पन्न मति का ऐसा चमत्कार प्रस्तुत करते थे कि महफ़िल जाफ़रान हो उठती थी और उपस्थित समूह अश-अश कर उठता था। यहाँ तक कि जिस पर व्यंग्य किया जाता था या फ़ब्ती कसी जाती थी वह भी हँसने को मजबूर होता था। इन्हें बादशाहों, नवाबों, रईसों, शाइरों, वेश्याओं, कलाकारों और प्रतिष्ठित-से-प्रतिष्ठित व्यक्तियों की न तो पगड़ी उछालते देर लगती थी और न वाजिब और उचित बात कहने से कोई रोक सकता था। खरी-खरी भी सुनाते थे और इनाम-इकराम भी पाते थे। चन्द नमूने मुलाहिज़ा फ़र्माएँ :

● ग्यारह महीने के रोज़े

किसी कंजूस अमीर के यहाँ भाँड़ आये। मुजरा करते वक़्त एक दुबला-पतला भाँड़ चादर ओढ़कर महफ़िल में खड़ा हो गया। दूसरे भाँड़ ने क़रीब जाकर कहा, "अस्सलाम आलेकुम"। मगर उसने कोई जवाब न दिया। थोड़ी देर में एक-एक करके तमाम भाँड़ उसके पास आ गये और सबने मिलकर ज़ोर से पुकारा—"हज़रत आप कौन हैं? महर्बानी फ़र्माकर अपना नाम बताइए।"

पहले भाँड़ ने निहायत मरी हुई आवाज़ में कहा—"भाइयो! मेरा नाम रमज़ानुल मुबारक है।" सबने ताज्जुब से पूछा—"रमज़ान? रमज़ान तो अभी आये थे। दोबारा कैसे तशरीफ़ ले आये?"

जवाब दिया—"साल में एक महीना इस महल से बाहर रहता हूँ, बाक़ी ग्यारह महीने इसी महल में गुज़ारता हूँ।"[1]

● प्राचीन दुशाला

किसी रईस ने भाँड़ों को एक क़ीमती दुशाला इनाम दिया। मगर वह जीर्ण-शीर्ण था। एक भाँड़ ने उसे हाथ में लेकर ग़ौर से देखा। दूसरे ने पूछा, "मियाँ क्या देख रहे हो?"

जवाब दिया—"यह देख रहा हूँ कि इस पर कुछ लिखा हुआ है।"

दूसरे ने हैरत से पूछा—"अमाँ! क्या लिखा हुआ है?"

१. रमज़ान माह में मुसलमान रोज़े रखते हैं। आशय यह है कि इस महल के बाहर रहनेवाले तो वर्ष में केवल एक माह भूखे रहते हैं, मगर इस महल के निवासी तो ग्यारह महीने भूखे रहते हैं।

पहले भाँड़ ने ऐनक लगाकर अटक-अटककर पढ़ा—"या इलाही लिल्लिल्लाह।"

दूसरे ने कहा, "बस इतना ही, इसके आगे मुहम्मद उर्र रसूलअल्लाह भी तो लिखा होगा?"

जवाब दिया—"मुहम्मद उर्र रसूलअल्लाह कैसे लिखा हो सकता है, यह तो हमारे रसूल से बहुत पहले का दुशाला है।"[1]

● मुफ़्ती बीवी

बहुत-से सरकारी ओहदेदारों को बेगार लेने का चस्का लग जाता है। और जनता उनके अत्याचारों की चक्की में पिसती रहती है, उसे उफ़ तक करने का साहस नहीं होता। रोते-झींकते सहन करती रहती है। लेकिन भाँड़ ऐसे सितम सहने के आदी नहीं, सहें तो फिर भाँड़ ही क्या हुए?

नवाबी शासन-काल में लखनऊ के मुफ़्ती भी अपने अधिकार के नशे में मस्त आवश्यकतानुसार बेगार लेते रहते थे। यहाँ तक कि वेश्याओं को भी बेगार में धर घसीटते थे। क़िस्मत की मार, एक बार भाँड़ों को भी पकड़वा मँगाया। भाँड़ों की महफ़िल जमी तो एक भाँड़ महफ़िल के बीच में सिर झुकाकर बैठ गया।

दूसरे भाँड़ ने पूछा—"क्या सोच रहे हो?"

कहा—"बीवी की फ़िक्र में हूँ, बीवी चाहिए।"

पूछा—"कैसी बीवी चाहिए? हज़ार वाली या पाँच सौ वाली?"

उसने इन्कार के तौर पर सिर हिला दिया। फिर पूछा—"सौ वाली?"

बोला—"नहीं, मुफ़्ती[2] चाहिए।"

भरी महफ़िल में मुफ़्ती[3]-ख़ान्दान पर घड़ों पानी पड़ गया।

● भाग आये

बक्सर की लड़ाई में शुजाउद्दौला शिकिस्त खाकर लौट आये। मगर इस

---

१. यानी १३०० वर्षों से भी अधिक पुराना है।

२. मुफ़्त की, मुफ़्ती खान्दान की।

३. फतवा देने वाला मौलवी, मुसलमानों का वह धर्मवेत्ता जो धार्मिक समस्याओं का समाधान करे और जिसके लिखित आदेश का मुसलमान पालन करें।

शान से कि गोया लड़ाई हारकर नहीं, जीतकर आये हैं। उनके स्वागत-सत्कार में मुशाअ़रे हुए, महफ़िलें जमीं। शाइरों ने क़सीदे पढ़े, वेश्याओं ने मुबारकबादी नग़मे छेड़े। शहर-भर में चिराग़ाँ हुआ। खुशामदियों और जी-हुज़ूरों की पाँचों उँगलियाँ घी में थीं।

क़िस्मत की मार, भाँड़ भी बुलाये गये। वे खरी-खरी कहने से कब चूकने वाले थे? एक भाँड़ ने खड़े होकर कहा—"मुबारक! मुबारक! हमारे नवाबसाहब जंग से वापिस तशरीफ़ ले आये।"

दूसरे ने जवाब दिया—"खुदा सलामत रखे, हमारे नवाब साहब क्या आये, गोया हमारे हुज़ूर भाग[1] आये।"

● दाग़ पर गालियों की बौछार

मिर्ज़ा दाग़ का किसी ज़माने में चमने-शाइरी में तूती बोलता था। गली-गली एवं कूचे-कूचे में उनके कलाम का बोलबाला था। महफ़िल में तवाइफ़ों एवं क़व्वालों को दाग़ की ग़ज़ल गाना लाज़िमी होता था। भारत के कोने-कोने में दो हज़ार के क़रीब शाइर उनके शिष्य थे। नवाब हैदराबाद के भी उस्ताद थे और सर इक़बाल भी उनसे अपने कलाम पर इसलाह लेना आवश्यक समझते थे। मिर्ज़ा दाग़ जिस महफ़िल में शिरकत फ़र्माते थे उस महफ़िल में अदबो-आदाब, तहज़ीबो-गुफ़्तगू का ख़ास ख़याल रखा जाता था। मगर भाँड़ों की हाशियाराई से दाग़ भी न बचने पाये।

मिर्ज़ा दाग़ किसी महफ़िल में पहुँचे तो वहाँ उन्हें भाँड़ों की कोई हरकत पसन्द न आई और उन्हें सरे-महफ़िल फटकार दिया। उस वक़्त तो भाँड़ों ने फटकार गर्दन झुकाकर चुपचाप सुन ली, मगर थोड़े ही अर्से में वह जवाब दिया कि मिर्ज़ा दाग़ को महफ़िल छोड़कर खिसकना पड़ा।

एक भाँड़ शिकारी बना, दूसरा उसका साथी। दोनों एक घने जंगल से गुज़र रहे थे कि एकाएक सामने से शेर आ गया। शिकारी ने बन्दूक़ काँधे से लगाकर शेर का निशाना लिया। लेकिन भय के कारण वह थर-थर काँपने लगा और गोली न दाग़ सका। थर-थर काँपते शिकारी को सम्बोधन करते हुए दूसरा

१. 'भाग' में द्वयर्थक भाव हैं—भाग कर आने का और भाग्य या सौभाग्य का।

बोला—'अबे नामर्द दाग़', 'अबे बुज़दिल दाग़', 'अबे कमज़र्फ़ दाग़', !

इस तरह अनगिनत गालियाँ देता हुआ दाग़-दाग़ कहे जाता था। अहले महफ़िल की नज़रें दाग़ की तरफ़ उठ गईं, ब-मुश्किल अपनी हँसी ज़प्त कर पाये।

● नर्तकी का बेटा नादिरशाह

मुहम्मदशाह रँगीले की विलासिता और अकर्मण्यता के फलस्वरूप नादिरशाह ने दिल्ली फ़तह कर ली। विजयोपलक्ष में लाल क़िले में महफ़िल जमी। बादशाह की एक अलबेली हसीन-दिलरुबा नर्तकी को देखकर नादिरशाह ने कहा, "अगर हिन्द की इस औरत की शादी किसी विलायती मर्द से कर दी जाये तो बच्चा कैसा होगा ?"

महफ़िल में बैठे हुए एक भाँड़ ने बा-अदब जवाब दिया—"हुज़ूर, गुस्ताख़ी मुआफ़, नादिर[1] होगा।"

● गढैयावाले नवाब

लखनऊ के एक नवाब 'गढैयावाले नवाब' के नाम से मशहूर थे, क्योंकि उनके मकान के पास एक गढई (तलैया) थी। उन्हीं के यहाँ किसी जलसे में एक भाँड़ घबराया हुआ निकलकर आया और साथियों से चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगा कि—"उठो-उठो, सब ताज़ीम करो।"

सबने पूछा कि "किसकी ताज़ीम करें ?" बोला—"नवाबसाहब तशरीफ़ लाये हैं।" और यह कहकर एक हाँड़ी खोली, जिसमें से एक बड़ा-सा मेढ़क उछलकर बीच महफ़िल में बैठ गया। भाँड़ ने सबसे कहा—"उठो-उठो, जल्दी उठो। क्या तुमने नहीं पहचाना, ये गढैया के नवाबसाहब हैं।"

● जुरअ़त की फ़जीहत

जुरअ़त लखनऊ के मशहूर शाइर हुए हैं। शाइर होने के अलावा उन्हें हाज़िर-जवाबी, लतीफ़े-गोई और चुटकुलेबाज़ी में भी कमाल हासिल था। लखनऊ के तत्कालीन नवाब शुजाउद्दौला और उनकी बेगमात के वे चहेते शाइर थे। जुरअ़त की इज़्ज़त-अफ़जाई यहाँ तक बढ़ गई थी कि

---

१. शब्द के द्वयर्थक भाव हैं—एक तो नादिरशाह से तात्पर्य है, दूसरे श्रेष्ठ तथा बड़े से।

अन्वेषण का वेष बनाकर वे ज़नानामहल में भी काफ़ी अर्से रहकर बेगमात को हर रंग में देखते रहे। जहाँ पक्षी की पहुँच नहीं थी, वहाँ की रँगरेलियाँ जुरअ़त देख सके थे। जुरअ़त के व्यंग्य बाणों और हिजोगोई से बड़े से बड़ा आदमी घबराता था। मगर सेर को भी सवा सेर मिल ही जाता है। एक दिन करेला भाँड़ के बारे में भी जुरअ़त ने हिजो[1] कह दी। हिजो क्या कह दी, जुरअ़त ने ततैयों के छत्ते में हाथ डाल दिया। करेला भी दरबारी भाँड़ था। भला वो कब चुप रहनेवाला था। संयोग की बात, हिजो कहने के दूसरे रोज़ ही दरबार में उसका मुजरा हुआ जुरअ़त भी मौजूद थे।

करेले ने ज़च्चे का स्वाँग भरा, और ज़ाहिर किया कि उसके पेट में एक भुतना घुसा हुआ है। दूसरा भाँड़ मुल्ला बनकर आया। भुतने और मुल्ला में देर तक नोक-झोंक होती रही। अन्त में मुल्ला ने झल्लाकर कहा—"अरे नामर्द, क्यों ग़रीब माँ की जान को लागू हुआ है? जुरअ़त है तो बाहर निकल कि तुझे जलाकर अभी ख़ाक न कर दूँ तो मेरा नाम मुल्ला नहीं।"

ज़च्चा बना हुआ करेला भाँड़ दर्द का अभिनय करता हुआ उछल-कूद करता जाता था और मुल्ला बना हुआ भाँड़ गालियाँ देता हुआ कहता जाता था—"अबे कमीने! जुरअ़त है तो निकल, अबे बेहया! जुरअ़त है तो निकल।"

करेले भाँड़ के सामने जुरअ़त की सारी शोख़ियाँ मुँह बिसूर कर रह गईं।*

---

१. अपमानजनक कविता, व्यंग्यपूर्ण ग़ज़ल।

* सैय्यद मुबारिज़ुद्दीन द्वारा संकलित 'शायर सालाना १९६३' के आधार पर।

एक सन्देह : एक निष्कर्ष

बिचारा कवि परेशान था। कल रात लिखी गयी कविता उसे कहीं भी नहीं मिल रही थी। पत्नी को बुलाकर उसने कहा, "सभी जगहें देख लीं, कहीं पर भी वह कागज़ नहीं मिलता जिस पर रात मैंने कविता लिखी थी। बिला शक़ यह मुन्नी का काम है। उसने ही उसे आज सुबह चूल्हे में डाल दिया होगा।"

पत्नी ने सिर हिलाया—"नहीं, नहीं, वह भला काहे ऐसा करने लगी। उसे पढ़ना थोड़े ही आता है।"

परमानन्द श्रीवास्तव

●

हम दुनिया के तमाम लोग
रोज़ ही
मिल-जुलकर करते हैं
कोई-न-कोई समझौता
कहीं-न-कहीं
भीड़ में –
मेलों में –
बसों में –
ट्रामों में –
चायघरों में –
सब कहीं एक सामूहिक कहकहे का संगीत
तैरता ही रहता है
भीतर
और
बाहर
दिन और रात
छापते ही रहते हैं
समझौते की ख़बरें

निर्णय का अकेलापन

हवा
और धूप
और चिड़ियाँ
उन्हें
बाँटती ही रहती हैं
एक घर से
दूसरे घर तक····

पर
जब हम कोई निर्णय लेना चाहते हैं
हम कितने अकेले होते हैं
और एक दूसरे से कितने अलग—
हवा
हमें
चुपके-से ठेल देती है
ख़ामोशी के निजी अन्तराल में
न कोई समझौते की ख़बरें छापता है
न कोई बाँटता है
हवा
हमारे पास से
बचकर निकल जाती है
धूप
किसी भी पत्री के सिरे पर
टँगी रह जाती है
और चिड़ियाँ
हमारे ऊपर से
गुज़र जाती हैं····।

बाफ़ा यूनियल

समकालीन जर्मन साहित्य : ग्रुप ४७

कहते हैं, गेटे और नीत्शे जैसे महान् कलाकार पैदा करने वाला जर्मन साहित्य अब मृतप्राय है— इसी सन्दर्भ में समकालीन नवयुवक जर्मन लेखकों और उनकी कृतियों पर संक्षिप्त समीक्षात्मक दृष्टि ।

आज से तीन वर्ष पूर्व एक आंग्ल पत्रिका (रिपोर्टर—फ़रवरी, १९६०) में समकालीन जर्मन साहित्य तथा भाषा सम्बन्धी एक लेख प्रकाशित हुआ था। इसके लेखक जार्ज स्टीनर ने लोक-प्रिय जर्मन पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं और रेडियो में प्रयुक्त भाषा के गम्भीर विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष स्थापित किया था कि :

"आज (जर्मनी में) गम्भीर साहित्य के नाम पर जो कुछ भी प्रकाशित हो रहा है, वह वस्तुतः अत्यन्त छिछला और सतही है।.... लोक-प्रिय पुस्तकों या पत्र-पत्रिकाओं को उठाकर देखिए, रेडियो से प्रसारित होने वाली या बन्दस्तैग में बोली जा रही भाषा को सुनिए, भाषा का मृत और बासी रूप स्पष्ट हो जाएगा। यह गेटे, हाइने और नीत्शे की भाषा नहीं रह गई है, थामस मान की भाषा से भी बहुत दूर। कुछ हो गया है कि जिसने भाषा की शक्ति को समग्रतः नष्ट कर दिया है।"

स्टीनर का यह निष्कर्ष सर्वथा निराधार तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह बात अवश्य है कि यह लेख लिखते समय उसने पिछले एक-दो वर्षों में प्रकाशित श्रेष्ठ जर्मन रचनाओं की ओर ध्यान नहीं दिया। इस लेख के प्रकाशन से कुछ मास पहले ही बर्लिन में दो उपन्यास—जौन्सन का 'जेकब के

विषय में अनुमान' और गुन्तर ग्रास का 'टीन का ढोल'—प्रकाशित हो चुके थे। 'जेकब' विक्रय की दृष्टि से सफल उपन्यास तो सिद्ध हुआ ही, देश-विदेश के सभी आलोचकों ने एक स्वर से इसे द्वितीय महायुद्ध के बाद का सर्वश्रेष्ठ जर्मन उपन्यास घोषित किया। जौन्सन को फ्रान्स में प्रिक्स-पुरस्कार प्रदान किया गया। 'टीन का ढोल' प्रकाशित होते ही चर्चा और विवाद का विषय बन गया। ग्रास को अनेक पुरस्कार प्रदान किये गए। (उसने एक भी स्वीकार नहीं किया।) प्रसिद्ध फ्रान्सीसी आलोचक मौंश्योर नाद्यू ने इसकी प्रशंसा करते हुए लिखा था: "उपन्यास की विविधता और विशिष्टता स्तब्ध कर देने वाली है।" आज ये दोनों रचनाएँ योरोप की प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं में अनूदित हो चुकी है। अधिकतर आलोचकों का मत है कि उन्हें महायुद्ध के पश्चात् युवक जर्मन लेखकों से जिन उपन्यासों की प्रतीक्षा थी, वे यही हैं।

युवा जर्मन आलोचक वाल्टर हौलरर ने एक निबन्ध में, जिसमें उसने स्टीनर के लेख का भी उत्तर दिया है, लिखा है कि जर्मन भाषा और साहित्य का पुनर्जीवन उसी समय से आरम्भ हो गया था जब द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अन्ने फ्रेंक की डायरी, थियोडर हयकर का उपन्यास और हिटलर के २० जुलाई के बन्दियों के पत्र प्रकाशित हुए थे। उसके अनुसार समकालीन जर्मन लेखकों ने इन्हीं रचनाओं से प्रेरित होकर एक बार फिर 'महत् जर्मन साहित्य' को पुनर्स्थापित किया है।

समकालीन जर्मन साहित्य के मूल में नवयुवक जर्मन कलाकारों का एक साहित्यिक आन्दोलन है। इस आन्दोलन में सम्मिलित लेखकों को 'ग्रुप ४७' की संज्ञा दी गई है। 'ग्रुप ४७' के सभी लेखकों की वय चालीस वर्ष के लगभग है। इसमें कवि, नाटककार, उपन्यासकार, कहानी-लेखक और आलोचक सभी शामिल हैं। उनके विचारों और रचनाओं की प्रतिनिधि पत्रिका है औटो हौलरर द्वारा सम्पादित 'अकजेते' और इनका केन्द्र है पश्चिमी बर्लिन। ये सभी लेखक वर्ष में एक बार बर्लिन में आयोजित गोष्ठी में अपनी-अपनी अप्रकाशित और लेखन-अन्तर्गत रचनाएँ सुनाते हैं जिन पर गम्भीर वाद-विवाद होता है।

उपन्यास और कहानी

ग्रुप ४७ के प्रतिनिधि उपन्यासकार और कहानी लेखक हैं—अ' जौन्सन, गुन्तर ग्रास, हेनरिख बौल, औटो वाल्टर, मार्टिन वैल्सर और हैन्स बैण्डर। इनमें जौन्सन और ग्रास उपन्यासकार तथा बौल और बैण्डर कहानी-लेखक के रूप में विशेष प्रसिद्ध हैं।

अट्ठाईस वर्षीय अ' जौन्सन पूर्वी जर्मनी के लेपजिग विश्वविद्यालय की मार्क्सवादी शिक्षा में दीक्षित युवक है। सन् १९५९ में वह पूर्वी जर्मनी से पश्चिमी जर्मनी चला आया था, ('भाग कर नहीं'—उसका कहना है)। 'जेकब' रूप-विधान, और काल-संघटना की दृष्टि से बहुत-कुछ फ्रान्सीसी नव-

यथार्थवादी लेखकों तथा फ़ॉकनर और ज्वायस से प्रभावित रचना है। उपन्यास का नायक जेकब एक रेल-कर्मचारी है। उपन्यास के आरम्भ से पहले ही उसकी मृत्यु हो चुकी है। आरम्भ उसके कुछ मित्रों के वार्तालाप से होता है। इसके पश्चात् उपन्यास में 'इण्टीरियर मोनोलोग' और मोनोलोग के अन्दर मोनोलोग, पूर्व-स्मृति तथा प्रत्यक्ष वर्णन के द्वारा जेकब के पिछले जीवन को प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास में कथा के नाम पर कुछ भी नहीं; परम्परागत उपन्यासों की तुलना में घटनाओं का सर्वथा अभाव है। मोन्टाज टेकनीक से दृश्यों को जोड़ा गया है। सारा उपन्यास पढ़ लेने के बाद भी यह स्पष्ट नहीं होता कि जेकब ने आत्महत्या की है, उसे धकेला गया है या यह एक दुर्घटना मात्र थी।

जौन्सन का दूसरा लोकप्रिय उपन्यास है: 'एचिन के विषय में तीसरी पुस्तक'। इस उपन्यास को पढ़कर एचिन के विषय में तो कुछ पता नहीं लगता। हाँ, यह अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि उसके विषय में तीसरी पुस्तक क्यों नहीं लिखी गई।

पैंतीस वर्षीय देनजिंग निवासी गुन्तर ग्रास 'ग्रुप ४७' का सर्वाधिक मेधावी और प्रतिभाशाली लेखक है। उपन्यास-लेखन आरम्भ करने से पहले वह कवि और नाटककार, और इससे भी बहुत पहले चित्रकार और मूर्त्तिकार के रूप में लोकप्रियता प्राप्त कर चुका था। ग्रास के अब तक दो उपन्यास

चित्रकला : अरूप और वास्तव

चित्रकला मेरे लिए मुख्यतः अभिव्यक्ति का एक माध्यम है, और एक दर्शन है। अस्तु, मैं अपनी दृष्टि और वास्तविक आकार को एक संगठित इकाई बनाने की चेष्टा करता हूँ। मैं यह नहीं मानता कि अरूप और

'टीन का ढोल' और 'बिल्लियाँ और चूहे' प्रकाशित हो चुके हैं।

'टीन का ढोल' ६०० पृष्ठों का बृहद् पिकारेस्क्यू उपन्यास है। यह औस्कर मैत्जेरथ और उसके टीन के ढोल की कथा है। टीन का यह ढोल औस्कर को अपनी तीसरी वर्ष-गाँठ पर भेंट के रूप में प्राप्त होता है। इसी समय से उसका क़द बढ़ना रुक जाता है। प्रधान कथा के रूप में उपन्यास में कुछ भी नहीं। विभिन्न स्थानों और प्रदेशों में बौने औस्कर के साहसिक कार्यों का दीर्घ और गम्भीर वर्णन है। दूसरे महायुद्ध के समय वह हिटलर के गुप्तचरों की आँखों में धूल झोंकता हुआ जर्मनी में एक जगह से दूसरी जगह घूमता-फिरता है और आदिनावर के जर्मनी में राइन-तट के एक जॉज दल में सम्मिलित हो जाता है। क़द में बौनों से भी छोटे औस्कर के व्यक्तित्व का यह महत्तीकरण, विस्तार और विराटता फॉर्स और विलक्षण प्रतीत होती है।

गुन्तर ग्रास का दूसरा सद्यःप्रकाशित

वास्तव में तनिक भी विरोध है—अपितु, मेरा विश्वास है कि अरूप और वास्तव, दोनों उसी अन्तर्संगठित, स्वर्गिक इकाई के भाग हैं, जिसमें सारी भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ निहित हैं।

—केनेथ कालाहन

उपन्यास है 'बिल्लियाँ और चूहे'। यह भी 'टीन के ढोल' के समान एक फॉर्स है जिसमें दिन-प्रतिदिन राज्य-नियंत्रण के शिकंजे में जकड़ते जा रहे व्यक्ति की कथा है।

हेनरिख बौल के अब तक एकाधिक कहानी-संग्रह, चार उपन्यास और अनेक निबन्ध तथा रेडियो-नाटक प्रकाशित हो चुके हैं। उसके उपन्यासों में 'बिलियर्ड—साढ़े दस बजे' विशेष लोक-प्रिय हुआ है। औटो वाल्टर का अब तक केवल एक उपन्यास प्रकाशित है—'गूँगा'। यह एक शराबी बाप और उसके दुर्व्यवहार से भयभीत और चिन्तित परिवार की कथा है।

यों तो सभी उपन्यासकार कहानी-लेखक भी हैं, किन्तु इस क्षेत्र में हेनरिख बौल और हैंस बैण्डर विशेष प्रसिद्ध हैं। बौल के एकाधिक कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। संक्षिप्तता और सरलता उसकी कहानियों के प्रमुख गुण हैं। 'कुछ किया जाना चाहिए' उसकी अत्यन्त प्रभावशाली रचना है। यह एक ऐसे व्यावसायिक व्यक्ति, मिस्टर बुनसीदल, की कथा है जो एक दिन अपने प्रतिदिन के 'रूटीन' के मुताबिक एक निश्चित उत्तर न मिलने पर मर जाता है। तीन पृष्ठों की इस कहानी की विशेषता है संक्षिप्तता, तटस्थ और सहज वर्णन तथा प्रच्छन्न व्यंग्य-ध्वनि।

हैंन्स बैण्डर साइबेरिया में युद्ध-बन्दी था। १९४९ में वह वहाँ से छूटकर बर्लिन चला आया। उसका सद्यःप्रकाशित कहानी-संग्रह 'भेड़िये और बत्तखें' अत्यधिक लोकप्रिय हुआ है। उसकी कहानी 'भेड़िये लौट रहे हैं' टेकनीक और प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से उसकी सफलतम रचना है। एक जर्मन युद्ध-बन्दी को एक रूसी किसान काम के लिए अपने गाँव ले जा रहा है। रास्ते में एक घने जंगल के बीच से गुज़रते हुए सैनिक उससे पूछता है, "यहाँ भेड़िये नहीं होते क्या?" "नहीं। पहले कुछ थे लेकिन अब तुम लोगों के युद्ध ने उन्हें भगा दिया है।" वे किसान के झोंपड़े में पहुँचते हैं। वहाँ एक कोने में ईसा की काष्ठ-मूर्त्ति के सामने बैठा किसान का पुत्र 'स्टालिन की प्रार्थना' का अपना पाठ याद कर रहा है। अगली दोपहर को उन्हें खिड़की से कुछ भेड़िये दिखाई देते हैं। वे दोनों स्कूल से लौट रहे बच्चों की रक्षा के लिए दौड़ पड़ते हैं। वहाँ भेड़ियों के दो दल बच्चों की ओर बढ़ ही रहे होते हैं कि वे पहुँच जाते हैं। भेड़िये लौट जाते हैं। घर की ओर लौटते हुए किसान कहता है, "भेड़िये लौट रहे हैं। वे शान्ति की गंध

सूँघ लेते हैं।" कहानी की सफलता का रहस्य है सूक्ष्म किन्तु विस्तृत वर्णन और गत्यात्मकता। किसान और सैनिक के शत्रु-मित्र सम्बन्धों, स्टालिन और ईसा के सामंजस्य, तथा भेड़ियों और युद्ध या शान्ति की विरोधी स्थितियों को सफलता से संप्रेषित किया गया है।

कविता

दो युद्ध-पूर्वी कवियों बर्तोल्त ब्रेख्त और गौट फ्राइड बेन को समकालीन जर्मन कविता का आधार-स्तम्भ माना जाता है। हौलरर के अनुसार आधुनिक जर्मन कविता का आरम्भ गुन्तर ईश और कार्ल क्रोलोव की कविताओं से होता है! जर्मन अकादमी द्वारा जौर्ज बूखनर पुरस्कार से सम्मानित युवा कवि गुन्तर ईश के अब तक दो कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और तीसरा प्रकाशन के अन्तर्गत है। ईश की कविता 'आविष्कार-स्थल' को सभी जर्मन-कवियों और आलोचकों ने एक स्वर से इस युग की महनीय उपलब्धि माना है। वाल्टर हौलरर ने एक निबन्ध में इस छोटी-सी कविता का गम्भीर विवेचन किया है। उसके अनुसार ईश ने इस कविता में 'मात्र वस्तुओं के नामों को अंकित कर एक लयात्मक पैटर्न में प्रस्तुत कर दिया है.... कविता की विशेषता है कि वह बिना किसी व्याख्या के, संक्षिप्तता के साथ, बाह्य दृष्टि से महत्त्वहीन वस्तुओं के अन्तर में निहित महत्त्व को स्पष्ट कर देती है....यह किसी प्रकार के प्रतीकवाद का बाना नहीं ओढ़ती, केवल क्षण की लयात्मकता की अनुभूति को संवेद्य कर देती है।' इस कविता का एक अंश है।

> इस थैले में एक ऊनी जुराबों का
> जोड़ा है,
> और, और भी बहुत कुछ है
> जिसका मैं किसी से ज़िक्र नहीं करता।
> पेंसिल का यह सिक्का मुझे बहुत
> पसन्द है।
> सुबहों को मैं इससे रात में सोची गई
> कविताएँ लिखता हूँ।

रूमानियाई पाल सेलाँ और आस्ट्रियाई इन्गेबोर्ग बाखमान जन्म से जर्मन नहीं हैं किन्तु कवि-रूप में उनको 'ग्रुप ४७' के युवा कवियों से अलग नहीं किया जा सकता। सेलाँ की कविताओं के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उसकी कविताओं में एक ओर उदासी का हल्का स्वर है और दूसरी ओर प्रेम और सौन्दर्य की सुखद ऐन्द्रिक अनुभूति का आह्लादक रूप। उसकी एक अत्यन्त लोक-प्रिय कविता 'मृत्यु का वादी-स्वर' की अन्तिम पंक्तियाँ हैं :

> बारूद की एक गोली से वह चिह्नित
> स्थान को छेद देगा
> तुम्हें छेद देगा
> घर के अन्दर एक व्यक्ति
> तुम्हारे सुनहरे बाल मार्गरेटा
> वह साँपों और सपनों के साथ खेलता है

बाखमान आस्ट्रियाई युवती है। वो

कविता-संग्रहों से ही उसे जर्मन कवियों के बीच सम्मानित स्थान मिल गया है। बाख-मान की कई कविताओं में आज की राज-नीतिक स्थिति में असहाय व्यक्ति की कुण्ठा का सूक्ष्म चित्रण है। इस स्थिति के प्रति हल्के व्यंग्य का स्वर भी इनमें छिपा रहता है :

युद्ध अब घोषित नहीं किया जाता,
चुप चाप लड़ाई जारी है। भयावह
अब रोज़ाना की बात हो गई है।
नेता युद्ध से दूर-दूर रहते हैं। अपंगों
को अग्र-पंक्ति में भेज दिया गया है।
दिन की पोशाक सहनशीलता है, और
इसका तमगा है····
हृदय के ऊपर टँगा गँदला तारा।

हेलमुत हीसेनबुतेल की कविताएँ डच कवि ल्यूसेबर्त की कविताओं के समान भाषा के विश्लेषण की कविताएँ हैं। बूतेल वाक्य-विन्यास और शब्दों के नए-नए प्रयोगों-द्वारा भाषा की संप्रेषण शक्ति में वृद्धि करने का प्रयास कर रहा है। उसके दो कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उसकी एक कविता 'सरल वाक्य' को ईश की कविता 'आविष्कार स्थल' के समान महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। इसकी सहजता और सरलता की ईश की कविता से तुलना कीजिये :

मैं खड़ा हूँ,
मेरी छाया भूमि पर पड़ रही है।
सुबह का सूरज पहली रेखाएँ खींच
रहा है।
कुसुमित होना नारकीय व्यवसाय है।
मैंने अपनी सहमति घोषित कर दी है :
मैं जोऊँगा !

इकतीस वर्षीय बवेरियाई कवि हैन्स मैग्नस एन्जेसबर्गर 'ग्रुप ४७' का प्रतिनिधि और सर्वाधिक सम्मानित तथा लोक-प्रिय कवि है। उसके दो कविता-संग्रह और एक निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। बर्गर की कवि-ताओं में आधुनिक युवक की कुण्ठा और उद्वेग को मनःस्थितियों का चित्रण तो है ही, साथ ही इस स्थिति से निकल स्वस्थ वातावरण के सृजन की तीव्र इच्छा भी झलकती है। उसकी एक लम्बी कविता 'समुद्री झाग' का समकालीन जर्मन साहित्य में वही स्थान है जो अमरीकी साहित्य में गिन्सबर्ग की 'चीत्कार' का। इस कविता में निहित तीखे व्यंग्य और क्षुब्ध बुद्धि-जीवी के आक्रोश पर 'चीत्कार' का प्रभाव साफ़ झलकता है :

आज से तीस वर्ष पूर्व एक अन्धेरे
शुक्रवार को
जन्म के समय मेरी आँखें झाग से
अन्धी हो गईं
आकाश की ओर देख पाने में असमर्थ
मैं दुःख से चीत्कार करता रहा····
शताब्दी के मुँह में झाग बह रहा है
बैंकों की तिजोरियों में झाग चीख
रहा है !

नाटक और रेडियो-नाटय

वुल्फगैंग होल्डशीमर और गुन्तर ग्रास समकालीन जर्मन रंगमंच के प्रतिनिधि नाटक-

कार हैं। दोनों फ्रान्सीसी नाटककारों बेकट, आदामोव और आयेनस्को के 'एवसर्ड थियेटर' से प्रभावित हैं। ग्रास के अनेक नाटक प्रकाशित और प्रदर्शित हो चुके हैं। 'अंकल-अंकल', 'बाढ़', 'दस मिनट में बफेलो' और 'शैतान रसोइये' उसके लोक-प्रिय नाटक हैं। 'अंकल-अंकल' एक ऐसे हत्यारे की कथा है (वस्तुतः नाटक में कथा कुछ नहीं है) जो हमेशा हत्या करने में इसलिए असफल हो जाता है क्योंकि उसका शिकार उससे भयभीत नहीं होता। अन्त में वह दो बच्चों के हाथों मारा जाता है। 'दस मिनट में बफेलो' नाटक एक बच्चों की रेलगाड़ी में, जो एक फूहड़ और बेढंगे लैण्डस्केप में से गुज़र रही है, सवार व्यक्तियों के लम्बे-लम्बे अर्थ-हीन और बेतुके संवाद हैं। गाड़ी बफेलो कभी नहीं पहुँचती।

वुल्फगैंग के नाटक अधिक गम्भीर और व्यंग्यात्मक हैं। 'चरागाही बनाम कोको पीने का समय' व्यावसायिक वृत्तियों के लोगों पर एक व्यंग्य है। इसके पात्र अत्यधिक कवित्वमय, अलंकृत और चित्रात्मक शैली में भावुकता के साथ व्यापारिक विषयों की चर्चा करते हैं। रंगमंच पर अँधेरा फैलता जाता है; ऋतुएँ बदलती जाती हैं और अन्त होता है किसी नामी फर्म के स्वामी की मृत्यु के साथ। इसके अतिरिक्त 'आकृतियों सहित एक लैण्डस्केप' और 'घड़ियाँ' वुल्फगैंग के दो अन्य सफल नाटक हैं।

रेडियो-नाटक के क्षेत्र में गुन्तर ईश का जर्मन साहित्य में वही स्थान है जो आंग्ल साहित्य में डायलन टॉमस का। उसने पहली बार रेडियो-नाटक को सतही प्रहसन और प्रचार की छिछलन से निकालकर शुद्ध साहित्यिक रूप प्रदान किया है। उसके दो रेडियो-नाटक-संग्रह 'स्वप्न' और 'आवाज़ें' उसकी कविताओं के समान ही लोक-प्रिय और सम्मानित हुए हैं। ईश के रेडियो-नाटक कथा-वस्तु की दृष्टि से तो विशिष्ट हैं ही, उनका शब्द-संयोजन और वाक्य-विन्यास ऐसा है कि केवल सुनने मात्र से ही दृश्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष की प्रतीति हो सके। मनोरंजन की दृष्टि से यदि उसमें अनायास स्तब्ध करने की क्षमता है तो प्रभाव की दृष्टि से झिंझोड़ देने की भी। उसके एक रेडियो-नाटक में पिछले २५ वर्षों से रेलगाड़ी के डिब्बे में बन्द एक परिवार का वर्णन है। इस परिवार के युवा सदस्यों को बाहर की दुनिया की बहुत धुंधली-सी याद बाक़ी है। बच्चों ने तो बाहर की दुनिया देखी ही नहीं। वृद्धों को इनकी बातें अब स्वप्न प्रतीत होती हैं। तभी डिब्बे की दीवार में एक छोटा-सा छेद हो जाता है। वृद्ध दम्पति छेद से बाहर देखते हैं। पुरुष बाहर की दुनिया के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करता। वृद्धा कहती है, "बाहर लोग अब राक्षसों की तरह बड़े हो गए हैं।" युवक इस सबको स्वप्नमात्र समझते हैं। नाटक का अन्त होता है गाड़ी की निरन्तर तीव्र होती गति के साथ:

अति वृद्ध व्यक्ति: (फुसफुसाता है)

गति तेज़ और अधिक तेज़ होती जा रही है।

वृद्धा : हाँ, गति बढ़ती जा रही है।

(पहियों की खनखनाहट का तीखा स्वर)

अतिवृद्ध व्यक्ति : निश्चय ही कोई दुर्घटना होने वाली है। कोई हमारी सहायता नहीं करेगा क्या ?

यह स्पष्ट है कि कथित रूप में न तो नाटक में किसी प्रकार का सन्देश है और न नैतिक सुझाव, किन्तु क्या अति वृद्ध व्यक्ति का अन्तिम कथन यह व्यजित नहीं करता कि दूसरों का अस्तित्व नकार देने के बाद हमारी सहायता और कोई नहीं कर सकता ?

ग्रुप ४७ के इन युवक जर्मन लेखकों को देखकर मि० स्टीनर का यह निष्कर्ष कि जर्मनी की 'सांस्कृतिक मृत्यु' हो चुकी है, निराधार जान पड़ता है। इस आन्दोलन को अभी केवल चार वर्ष ही हुए हैं; लेकिन इस थोड़े से समय में ही इसमें सम्मिलित लेखकों ने यह विश्वास बँधा दिया है कि वे 'महत् जर्मन संस्कृति' के सच्चे उत्तराधिकारी हैं।

■

पत्नी के लिए तपस्या

च्यांग काई-शेक और मदाम च्यांग काई-शेक के विवाह की कहानी भी काफ़ी रोचक है। विवाह से पूर्व मदाम कुमारी मे लिंग थीं। च्यांग काई-शेक ने जब मे लिंग से विवाह का प्रस्ताव किया तो मे लिंग ने कहा, "मुझे तो कोई आपत्ति नहीं है, आप मेरी माँ को मना लीजिए।" च्यांग ने समझा, अब तो मोर्चा मार लिया। लेकिन उनकी माँ को मनाने के लिए च्यांग को पाँच वर्ष तक निरन्तर तपस्या करनी पड़ी। कुमारी लिंग को पाने की अनेक शर्तों में से एक यह थी—प्रातःकाल उठकर हर रोज़ बाईबल पढ़ो और ईसाई बन जाओ। यांग ने सभी शर्तें मंजूर कीं और आखिर लिंग की माँ का दिल भी पसीज गया। चीन के इतिहास में च्यांग काई-शेक ने जो स्थान प्राप्त किया है उसका काफ़ी श्रेय उनकी पत्नी को है।

मानव-इतिहास में पशुता का एक पृष्ठ और जुड़ा जब कलकत्ते की आम सड़कों पर, पिछले दिनों, साम्प्रदायिकता के नाम पर नृशंस काण्ड हुए। पर इसका एक अन्य पहलू भी है—प्रस्तुत कहानी उसी पहलू को—दंगे के उस अन्तर्निहित तथ्य को—उद्भासित करती है।

●

चौराहे के नीम के नीचे कलुआ कुत्ता भौंका—भूँ-ऊँ····। नीम की किसी सूखी टहनी पर बैठा गिद्ध पंख फड़फड़ाकर उड़ गया—फटाफट, फट! सन्नाटे में जैसे अपशकुन यहाँ से वहाँ दौड़कर निकल गया। सड़क के किनारे बन्दूक के कुन्दे को ज़मीन से टिकाकर उस पर हथेले रखे आराम से सैनिक जो खड़ा था, वह एलर्ट हो गया—हड़-हे!····मगर कोई कहीं नजर नहीं आया।

शहर के इस हिस्से में कर्फ्यू का ऐलान था। रात अधिक नहीं हुई थी फिर भी सन्नाटा गहराया हुआ था। सभी दूकानें बन्द थीं और सभी घरों की खिड़कियाँ बन्द थीं। यों तो सड़क के किनारे-किनारे छोटी-छोटी दूकानें ही हैं, लेकिन चौराहे से पश्चिम की ओर थोड़ी दूर पर इधर-उधर कई कच्चे-पक्के मकान भी हैं।

कच्ची गली जहाँ से मुड़ गयी है वहाँ एक पुराने ज़माने का मठकोठा भी है, वह मठकोठा मुदरी पड़िआइन का है। ज़माने से मुदरी यहीं रहती है। उसी मठकोठे की ओर सैनिक ने पुनः आवाज़ दी—हाल्ट! कोई एक काली शक्ल जैसे मठकोठे के अन्दर हो गयी।

वह मुदरी थी। मुदरी इतनी रात को, ऐसे में कहीं जाने की कोशिश में दो-बार असफल हो गयी।

आग

छेदीलाल गुप्त

●

सैनिक के बन्दूक़ का कारतूस बच गया। आज ज़िन्दगी से ज़्यादा क़ीमती कारतूस है।

मुदरी लेकिन समय पार कर कर्फ़्यू, सन्नाटा और सड़क सब कुछ पार कर गयी; एक ऐसा रूप जिसे बार-बार देख लेने पर भी देखने की इच्छा होगी। जितना देखो, उतनी देखने की इच्छा होगी।

और किसी की हो या न हो मगर महँगू चाट वाले की तो होती ही होगी—जो हर सुबह अपने भट्ठे पर चाय बनाकर, उसे सामने के मकान से बुलाकर, साथ चाय पीता है और हर रात दूकान बढ़ा देने के बाद पाव भर आटे का पराठा बनाकर उसे अचार-मुरब्बे सहित पहुँचाता है। इससे अधिक कोई लगाव दोनों में कभी किसी ने नहीं भाँपा। बेशक महँगू चाट वाले की बग़ल के धोबी किशन से चौराहे पर पान-बीड़ी की दूकान करने वाला बीशू कहार ने कभी अपना सन्देह प्रकट किया था। किशना धोबी के पेट में बात पची नहीं तो उसने महँगू से सब कुछ कह दिया। कह दिया उसने कि : —महँगू, मुदा मेरा क्या! अरे तुम जानो, बीस बरस और जीना है, इस उमर में यही सब देखते फिरें। मुदा बिशुन कहता है—तुम्हें राम कसम महँगू जो तुम बिशुन को कुछ कहो, मुदा बड़ी आफ़त हो जायेगी …

अपनी छँटी हुई अधपकी मूँछों में से, पके बाल महँगू तोड़ रहा था जिस समय किशना धोबी पचड़ा लेकर आ बैठा था। दिन के बारह बजे थे, भोजन-पानी निबटाकर महँगू दूकान में इस समय कभी लेटा होता या किसी रोज़ अपनी गर्दन का मैल छुड़ाता होता। आज वह टुटहा आईना सामने रख कर मूँछ का पका बाल लोहे की चिमटी से उखाड़ रहा था। किशना धोबी की बात पर न उसने हाँ की न ना, सुनता रहा, किशना धोबी कहता रहा : —मुदा आज भी क्या बाँकपन है पड़िआइन में, ऐसी गठीली और ऐसी कटीली …

घने बालों वाली भौंहें तरेरकर अब कहीं महँगू ने उसकी ओर घूरा, तो किशना धोबी के गंजे सर पर अड़बड़ ढंग से पड़ी दुपल्ली सरक गयी। वह सहम गया और जैसे उसकी घिग्घी बँध गयी :

—मुदा महँगू, ऐसा बिशुन कहता था। मुदा मैं तुमको बताता हूँ कि वह क्या-क्या कहता है····मगर मुदा तुम हमी पर····अरे···· मुदा!

बिशुन क्या कहता है? —भारी गले से महँगू ने पूछा, और उघरी जाँघ पर जो एक मक्खी आ बैठी थी, उसे उड़ाने की गरज से एक थाप लगाई। एक रिक्शा टुन-टुन करता हुआ सामने से गुज़र गया, महँगू की निगाह सहसा सामने के मठकोठे पर भटक गयी। वहाँ लोहे की पतली-पतली छड़ों के बरामदे के महराब पर उठँगी मुदरी खड़ी थी।

मुदरी का चेहरा इस समय अर्धनिंदिआया था। बाल बिखरे थे, और होंठों पर पान की लाली करिया गयी थी। पान खाते

समय चूना भी उसने चाटा होगा तभी तो चूक से निचले ओठ के एक किनारे ज़रा-सी सफ़ेदी भी झलक रही थी।

इधर महँगू में बड़ी हरकत आ गयी थी, वह झटपट जाँघ ढँक चुका था, टुटहा आईना कहीं फेंक चुका था और बुदबुदा रहा था : जै बजरंगबली की, जै बजरंगबली की !

किशना धोबी यह सब कुछ भाँपने की उमर पार कर चुका था, उसे महँगू की इन हरकतों से कुछ मालूम नहीं पड़ रहा था, सिर्फ़ लग रहा था कि महँगू गुस्से में भरता आ रहा है, इसलिए वह अपनी बात की रौ और भी तेज़ कर चुका था : ····तो मुदा बिशुन कह रहा था कि मुदरी का मुखड़ा गोल है, आँखें हँसती हुई। काले-काले लम्बे-लम्बे बालों का जूड़ा तो जुलुम ढाता है। मुदा उसकी नियत खराब है, मुदा मर्द क्या महँगू जो नियत को भटकने दे। राम कसम महँगू, पराई पर आँख उठाना, राम····राम····जमाना ही ऐसा है।

· महँगू को लगा कि बिशुन झूठ नहीं कहता। वह मुदरी की ओर देख रहा था—अहरे-घहरे बालों के बीच मोटी माँग और उसमें भरे सिन्दूर की लालिमा। गोल-गोल बाहों तक कसाव वाली अंगियाँ—छींट की। उसका मन कवई मछली जैसा छटपटाया और जैसे सूखी रेत पर पड़ गया, उसे लगा कि किशना धोबी तो कोई झूठ नहीं कहता कि मुदा मर्द क्या महँगू जो नियत को भटकने दे। महँगू फिर बुदबुदाया—जै बजरंगबली की, जै बजरंगबली की।

किशना धोबी एक बार अपने घर में झाँक आया और हाथ में चिलम लेकर इस बार भट्टे से अँगीठी निकालने में लगे रहकर ही फिर बोला; महँगू के चेहरे पर चुँधियायी आँखें गड़ाकर कुछ भाँपते हुए धीरे से—बिशुन कहता था, मुदा कहता था, महँगू से मुदरी का लगाव है, और यह बुरा है, महल्ले में मुदा यह सब नहीं होने पायेगा।····

महँगू जैसे झनझना उठा। उसने किशना धोबी की नरेटी अपने गिरफ्त में लेकर ज़मीन सुँघाते हुए बड़े क्रोध में कहा—अगर यह बात झूठ हुई तो, तू,····तू····

अरे मँहगू मुदा मैं····मर्रा रे····

महँगू का शरीर पहलवानी था। और उसके मरम पर जाने कहीं बिशुन ने या किशना धोबी ने आघात किया था। शायद यह ऐसी बात थी जिसकी उसे कल्पना भी नहीं थी। शायद मुदरी ने ऐसा मौक़ा भी कभी आने नहीं दिया था। फिर भी ऐसा कहा जाये—उसके लिए जो इतनी अच्छी हो, कि जिसे बार-बार देखने की इच्छा हो, जितना देखो उतना देखने की इच्छा हो। यह सुख ही क्या कम है····!

मँहगू चुटिया गया था। वह बेरहम नहीं था, उसे गुस्सा कभी नहीं आता था, मगर वह चालीस से ऊपर के दुर्बल की नरेटी अब भी दाबे था।

मुदरी सर पर पल्लू डालती हुई, काँख से आँचल का कोना दाबे आयी थी।

"अरे, अरे यह क्या, मार डालोगे क्या ?"

"अरे मुदरी, यह कहता है,....'' महँगू ज़ोर-ज़ोर से साँस लेता हुआ, बोला "कहता है, बिशुना कहता है कि तेरा-मेरा....'' इसके आगे वह बोला नहीं; दम कहीं बीच में ही अटक जाने के कारण या शील-संकोच की वजह से।

मुदरी ने ही कहा, "बिशुना जो कहता था और जो अड़ोस-पड़ोस कहता है, वह सब हम जानते हैं लेकिन वे तो कुछ ग़लत नहीं कहते भइया, कहलाने वाला है मेरा मनसेधू जो हमको छोड़ गया। हम तो सौ का एक जानते हैं कि मन चंगा तो कठौती में गंगा.... छोड़ दे, छोड़ दे इसे।''

महँगू तब छोड़कर अलग हुआ था। आते-जाते लोग दो-चार खड़े हो गये थे, नाके पर दूकान से बैठा-बैठा बिशुन यह सब देख रहा था। शायद वह अपनी दूकान पर सौदा-सुलुफ लेते हुए लोगों से कह भी रहा हो कि बड़ी पवित्तर बनती है सती-सावितरी !....

जिस भयानक रात को मुदरी सैनिक की बन्दूक से दो बार बच निकली, वह उस रात कर्फ्यू, सन्नाटा और सड़क पार कर महँगू की दूकान में, समय पार कर, बाँस की ढँढ्ढर के कोने से घुस गयी थी और फिर सैनिक के गरज़ने की आवाज़ आयी थी—हाल्ट ! गोली छूटने की भी आवाज़ 'तिड़-तड़ाक्' हुई थी।

बाहर की इस खलबली से घबराकर और मुदरी को अपने सामने पाकर महँगू को जैसे काठ मार गया। कुछ समय दोनों बाहर का अन्दाज़ा लगाते रहे, फिर मुदरी ने चुप्पी तोड़ी—"हम आसनाई करने नहीं आये हैं। मेरा जी बड़ा घबरा रहा है। लोग कहते हैं मँहगू....'' वह कहीं अटक गयी। चेहरे पर मायूसी का आभास मिला। फिर वह धीरे-धीरे रुक-रुककर बोली, "राजा अपनी परजा को मरवाता है महँगू ! ई अच-

तुम नहीं जानते !

मैं धार्मिक हूँ, यह तुम मानो या मत मानो किन्तु यह तो मानो कि मैं अधार्मिक हूँ।

मैं आस्तिक हू, यह तुम मानो या मत मानो किन्तु यह तो मानो कि मैं नास्तिक हूँ।

मैं प्रकाश हूँ, यह तुम मानो या मत मानो किन्तु यह तो मानो कि मैं अन्धकार हूँ।

तुम नहीं जानते, प्रकाश वही होता है जो अँधेरे में से निकलता है। धर्म वही होता है जो अधर्म से निकलता है। आस्था वही होती है जो अनास्था में से उपजती है।

—मुनि श्री नथमल

रज है या नहीं। लोग कहते हैं. बस्ती की बाड़ी में आग लगवा दो, भाड़ा कम आता है, समझे तुम ! महँगू, लोग आये थे—हमने कहा हमारी जिनगानी चली जाये मगर हम ऐसा नहीं करेंगे।" वह एक गहरी साँस लेकर फिर बोली, "वह होकर रहेगा। हमारी ही तो एक बाड़ी नहीं है, उस बस्ती में, और चार जने हैं, आज रात को ही सब हो जायेगा।...."

मँहगू टुकुर-टुकुर उसका मुँह तकता रहा। चेहरे पर आज के जैसा अमावस उसने कभी नहीं देखा था। मुदरी की उमर का अन्दाज़ पाना जो मुश्किल था, वह आज आसान हो गया था—लगा, मुदरी तीस-बत्तीस की होगी।

इसके बाद वह सहसा जैसे आयी थी, वैसे ही यह कहती हुई निकल गयी—"लोग कहें, लोग करें, जो जी में आये....।"

मँहगू ने उसे रोकने के ख़याल से हाथ बढ़ाया मगर मुदरी को तो सभी बढ़े हुए हाथ खून से सने लगते हों जैसे, वह तड़पकर सड़क पर आ गयी !

●

और इस मुदरी की कहानी की शुरूआत दंगे के अन्त से होती है, जब कि कलकत्ते की फ़िज़ाँ में आतंक नहीं उसकी शंका मात्र रह गयी। लोग आने-जाने लगे थे। मुस्लिम बस्तियों के वे रियाया, जो अपने किराये के कमरे और रोज़मर्रा की चीज़ों की दूकानें छोड़कर बड़ी मस्जिद के पास चले गये थे, अब अपनी-अपनी बस्तियों में लौट रहे थे। मगर वहाँ बचा क्या था—सिर्फ़ राख और मलबे का ढेर। पूरी बस्ती की शक्ल अजीबो-गरीब लग रही थी। खपरैल के अधिकतर मठकोठे तो जलकर भस्म हो गये थे, कई अधजले बचे थे और पक्के मकानों का हाल यह था कि छप्पर ग़ायब और घर के बीच की दीवालें कहीं से आधी, कहीं से पूरी गिर गयी थीं। आग की लपटों के काले निशान उन दीवालों पर ऐसे पड़े थे जैसे किसी अहमक़ मजूरा ने बे-शऊर ढंग से पोचाड़ा किया हो।

जिस बस्ती की यह कहानी है, वह बस्ती न हिन्दू की थी न मुसलमानों की। जो थे वे ज़रूर छोटी जात के और मामूली काम करने-वाले थे और वर्षों से वहीं रह रहे थे।

चमरू उसी बस्ती में रहता था, कारपोरेशन का झाड़ूदार, करीमुद्दीन वहीं रहता था, रेस के मैदान में दौड़ने वाले घोड़े का साईस, और फकीरचन्द चाँदनी चौक वाले का घर भी इसी बस्ती में था, वह साबुन फैक्टरी में काम करता था। मतलब सब इसी तरह के लोगों की यह बस्ती थी, जिसे, पिछले कई दिनों तक जो शहर में वहशत फैल गयी थी, उसने जला दिया था, तबाह कर दिया था।

कई दिनों के बाद चमरू झाड़ूदार गली में दीखा। हाथ में वही झाड़ू लिये, घुटने तक गन्दी धोती और सर पर मारकीन का गमछा लपेटे खुर्र-खुर्र कर रहा था। अपने आस-पास से किसी को गुज़रते देखकर वह रुक जाता और सहमकर तब तक गुज़रने वाले को

देखता रहता, जब तक वह दूर नहीं निकल जाता।

बिशुन की पान की दूकान पर करीमुद्दीन भी दीखा। बिशुन रेस का बुकी था और करीमुद्दीन उसे जीतने वाले घोड़े की सही खबर देता था।

मुहल्ले की साबुन-फैक्टरी में कई रोज़ पड़े रहने के बाद फकीरचन्द बस्ती में चला गया था। उसे अपने घर की चिन्ता थी। मगर वहाँ घर कहाँ था। घर तो उड़ गया था!

बहुत सारे लोग बे-घर बार के हो गये।

बहुत सारे लोग कट गये, मर गये। बहुत सारी पत्नियाँ बेहोश हो गयीं। बहुत सारे बच्चे यतीम हो गये।

यह सब किसकी कारसाज़ी है; किसके कारनामे हैं? कौन है ऐसा जिसके इशारे पर यह सब होता रहता है?

जिस एक बस्ती की बात ऊपर कह आया हूँ उस बस्ती में एक ऐसी घटना घटी जो कहानी की शुरूआत है। वह है मसोमात मुदरी का वहाँ जाना और फिर लौटकर नहीं आना। उस बस्ती में उसकी एक बाड़ी थी, जिससे कुल पचहत्तर रुपया उसे किराया माह-का-माह मिलता था। जिस दिन कलकत्ते में यह वारदात हुई उस रोज़ मुदरी के घर में कई लोग आये थे। जिन्हें महँगू चाट वाले ने कई बार आते-जाते देखा था। वे सबके-सब उस बस्ती के मकानों के मालिक थे। बड़ी देर तक मुदरी के घर में फुसुर-फुसुर होती रही थी। जब सब लोग चले गये थे तो मुदरी महँगू चाट वाले के पास आयी थी और वह बहुत डरी हुई थी रात को।

उस रात जो मुदरी बस्ती वाली अपनी वाड़ी में गयी, महँगू के बढ़े हुए हाथ से निकल कर, तो अब तक नहीं लौटी है। शायद हंगामे में वह अपनी बाड़ी में लगने वाली आग की लपटों में चटख गयी हो। शायद....।

मुदरी नहीं लौटी. लेकिन बाशिन्दे लौट रहे हैं। घर किसी का नहीं है, मकान-मालिकों की धरती पड़ी है, उसे कौन ले जा सकता है? मुदरी वहीं कहीं होगी, लेकिन कौन ढूँढ़े, कहाँ कोई ढूँढ़े—राख में, मलबे में, तबाही में! ■

दो अगस्त, सन् बाईस

अमेरिका में २ अगस्त, १९२२ को सभी टेलीफोन अचानक निष्क्रिय हो गये। ऐसा क्यों हुआ—किसी यान्त्रिक गड़बड़ी के कारण या तोड़-फोड़ की घटना के फलस्वरूप?

नहीं, उन्हें जान-बूझकर बन्द किया गया था। राष्ट्र ने टेलिफोन के आविष्कर्त्ता अलेक्जेण्डर ग्राहम बेल के प्रति, जो ७५ वर्ष की आयु पूरी कर लेने के बाद उस दिन दिवंगत हुए थे, श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए ऐसा किया था।
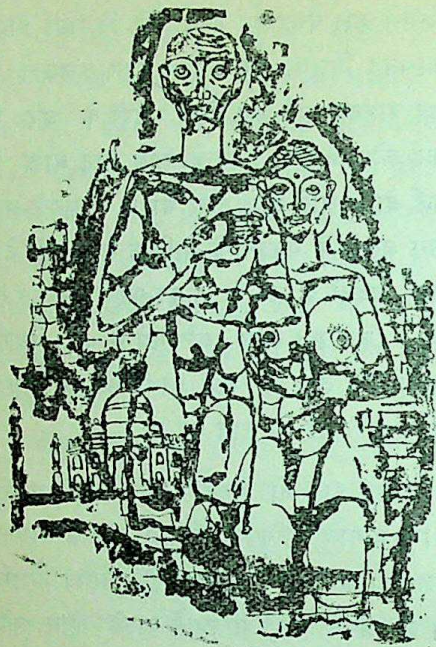
डॉ० निर्मला जैन

ताज की छाया में

हमने सुना था, पढ़ा था
पृष्ठों पर इतिहास के—
बहुत दिन पहले····
एक बड़े बादशाह ने
अपनी प्यारी बेगम की याद में
एक स्मारक बनाया था, जिसे—
'ताजमहल' कहते हैं।

अब सुनते हैं :
"उसमें दरारें पड़ गई हैं"
प्यार की उस घोषणा को
दम्भ के उस स्तूप को
ज़माने की ईर्ष्या ने, विस्मय ने, नज़र ने
चिटका दिया है।

इसीलिए
'मैं'
सबकी आँखों से दूर, बहुत दूर
'तुम्हें'
नेह के कगार पर
भावना से निर्मित 'ताजमहल' में
छिपाए रखती हूँ ।
पर अगणित क्षणों में
पीड़ा से धोकर
सब्र से सहारकर
कल्पना से तराशकर
जो सदाशय की स्वच्छता मैंने इसे दी थी
उसमें लाल रंग आ गया है
सोचती हूँ—
इसकी शिराओं में जो मेरा रक्त बहता है
उसमें कहीं तुम्हारी ठोकर लग गई होगी
इसीलिए इसके पत्थर लाल हो गए हैं
और इस ललाई में
आकांक्षाओं के मणि दीप-रत्न
अपनी चकाचौंध खो बैठे हैं
पर मुझे विश्वास हो गया
कि तुम इसमें रहते तो हो ।
यह शव का मक़बरा नहीं
चेतन का मन्दिर है,
इसी से इसके पत्थर बोलते हैं ।

मणि रत्न स्पन्दित हैं ।
इसकी हर कणिका
तुम्हारी पदचाप से स्वरित है
पर कभी-कभी इसके प्राणों से
टीस भरी कराह के स्वर जगते हैं
समझ लेती हूँ—
तुमने कहीं भारी पग रख दिया होगा ।
इसमें मृत्यु की जड़ता नहीं
जीवन की व्याप्ति है
इसी से इसकी दीवारें टीसती हैं
रक्त-गन्ध उठती है
पर दरारें नहीं पड़तीं
बस रक्त बहता है
और इसके पत्थर लाल हो जाते हैं ।
मैंने सब ओर से
साधना की ठोस दीवारों में
इसे बन्दी बना दिया है
इसमें बसे 'तुम' तक
ज़माने की हवा पहुँचती ही नहीं
और मैं आश्वस्त हूँ—
तुम इसमें रहते हो
इसे अपना मानते हो
और जानते हो—
मैं तुम्हारे प्यार का
जीवित स्मारक हूँ । ●●

मनोहर सिंह 'मधुप'

हम-आप तो एक-दो दिन की होली और उसकी हुल्लड़बाजी से तंग आ जाते हैं, म्यूनिक शहर के उस तैंतालीस दिवसीय राष्ट्रीय एवं सार्वजनिक उत्सव को क्या कहा जाये जब सारे युवक-युवतियाँ कामान्ध होकर विलासिता और अन्य रंगीनियों में डूब जाते हैं—पति अपनी पत्नियों को भूलकर, पत्नियाँ अपने पतियों को 'टा'-'टा' कर।

जर्मनी के मुख्य नगर म्यूनिक में मथुरा-वृन्दावन की रंगीन होली से भी अधिक रंगीन, लखनऊ और सूरत-जैसे भारतीय नगरों से भी अधिक ज़ोरदार रंगरेलियाँ-अटखेलियाँ और पूर्व के आम-तमाम शहरों में होली पर होने वाले हुड़दंग से भी ज़्यादा हुल्लड़बाज़ी की बात सुनकर एक बार तो आप दंग ही रह जाएँगे। लेकिन यह बात मनगढ़न्त नहीं, एकदम सच है।

हिन्दुस्तान के पड़ोसी देशों, जैसे नेपाल, सिक्किम, बर्मा, जावा और सुमात्रा वग़ैरह में मुखौटों वाला देवताओं का नाच, नवान्न के फ़सली नृत्य वग़ैरह तो एक तरह से भारतीय ही कहे जाते हैं, क्योंकि उनके भारतीय मूल और विकास की बात आसानी से समझ में आ जाती है, लेकिन वस्तुवादी यूरोप में इस तरह की अलमस्त-मदमस्त रंगीनियों और हुल्लड़ की बात, और वह भी तमंचा-प्रेमी हिटलर के देश जर्मनी के पाटनगर म्यूनिक में होना, इतनी आसानी से समझ में आनेवाली बात नहीं है।

आप मानें या न मानें, म्यूनिक में होता है होली का हुड़दंग—हमारी होली के महीने-दो-महीने पहले की ही तारीख़ों में। हर साल होता है और हो रहा है। उस पर मज़ा यह कि यह जशन और इसके जलसे एक-दो दिन या एकाध सप्ताह में हमारी होली-रंगपंचमी की

म्यूनिक में मदनोत्सव

तरह समाप्त नहीं हो जाते बल्कि इस मामले में म्यूनिक वाले शहरी भारत की ग्रामीण जनता से भी दो क़दम आगे ही साबित हुए है। उनका यह जशन जो फैस्चिंग कहलाता है, डेढ़ महीना, याने पूरे छः सप्ताह अर्थात् बयालीस-तैंतालीस दिन चलता है। साफ़ शब्दों में तैंतालीस दिन और तैंतालीस रात कहना ही ठीक होगा क्योंकि वे लोग इसे खींचते-लम्बाते हुए बहुत जोशो-खरोश से मनाते हैं और जशन के आख़िरी दिन तो ऐसा शोर-शराबा करते हैं कि पूछो मत। म्यूनिक शहर वालों के दिलो-दिमाग़ पर एक पागल-पन का आलम तारी हो जाता है। उन लोगों पर भी जो यूरोप के दूर-दराज़ कोनों से आकर इसमें शरीक हो जाते हैं।

प्रतिवर्ष ६ जनवरी को म्यूनिक की नाग-रिकाएँ यह त्यौहार मनाने के लिए अपने उन धर्मपतियों की इजाज़त लेकर निकल पड़ती हैं, जो प्रथा में बँधे एक ओर तो अनुत्साह-पूर्वक उन्हें 'टा टा' कहकर बिदा करते हैं, दूसरी ओर खुद भी घर के पिछवाड़े के दर-वाज़े से, पत्नी के अपनी देहलीज़ के बाहर क़दम रखते ही, नयी-नयी नवोढ़ाओं के आलि-गन की उमंग से फैली बाहुएँ और नये-नये अनुभवों की लालसा के उल्लास से भरे बल्लियों उछलते हृदय लिये निकल पड़ते हैं।

भारत में होली-धुलेटी का अभिषेक होता है भंग-भवानी से। वहाँ चलती है म्यूनिक की ज़ोरदार बीयर।

फिर जहाँ कहीं नर-नारी निकट पहुँचे, घुटघुट कर बातें होने लगीं, लोल-लोचनों की लीला और कटाक्ष तक ही सीमित न रहकर खूब लपक-झपक, लपट-झपट शुरू हुआ। यूरोप में तो वैसे भी सामाजिकता बढ़ी-चढ़ी है, बॉल डांस आदि सहनृत्यों का बोलबाला है, सो इस उत्सव के दिनों में तो लपट-झपट इस क़दर बढ़ जाती है कि परमात्मा बचाए।

लेकिन बात-बात में श्लील-अश्लील की दुहाई देने वाली यूरोपीय संस्कृति के लिए इस उत्सव की राष्ट्रीय और सार्वजनिक मान्यता ज़रा अजीब-सी बात है। जिन लोगों के बीच वात्स्यायन के कामशास्त्र को अश्लील क़रार दे दिया जाता रहा हो, उनके बीच उद्दाम, उच्छृंखल, उन्मुक्त हास-विलास का त्यौहार एक नयी-सी बात मालूम देती है।

नयी हो तो हो लेकिन म्यूनिक में 'फेस्चिंग' के त्यौहार के ६ हफ़्तों में तो गली-गली में जहाँ-तहाँ युवक-युवतियाँ एक-दूसरे को अंक भर भेंटते और चुम्बनों का आदान-प्रदान मुक्त होकर, हँसती हुई आँखों और उछलते हुए सीनों से करते हैं।

प्रतिवर्ष, फेस्चिंग में जो व्यक्ति उस वार्षिक त्यौहार का 'राजा' चुना जाता है, आलिंगन-चुम्बन को क़ानूनी क़रार दे देता है और किसी भी स्त्री-पुरुष द्वारा चुम्बन की माँग को अस्वीकृत करना ग़ैर-क़ानूनी और अक्षम्य अपराध माना जाने लगता है।

शादी-शुदा नवोढ़ा-प्रौढ़ाएँ अँगुलियों से अँगूठियों को निकालकर बालाए ताक़ रख देती हैं; और इधर सामने के दरवाज़े से

स्वामियों की अनुमति ले-लिवाकर चल देती हैं घरवालियाँ खुल खेलने को, नये-नये रंग-रसियाओं की खोज में, उधर उसी दम खिसक जाते हैं उनके शौहर, नये-नये चरागाहों की खोज में निकले वृषभों की तरह, खुशी से रस्सी खोलकर छोड़ दिये गये बन्धन-मुक्त प्राणियों की तरह, जिनके नाकों में यूरोपीय गृहिणियाँ बारहों मास नकेल डाले रहती हैं।

फैशनपरस्त महिलाओं में 'कम-से-कम कपड़ों में' जाने की होड़ लग जाती है। कोई-कोई तो अपना मिंक और फर-कोट वैरे को थमा-कर जब नाच-घरों या होटलों के फर्श पर पहुँचती हैं तो सिर पर सिरपेच और पैरों में ऊँची, कीलों की एड़ियों वाली जूतियों के अलावा शरीर पर नाम को भी कोई अन्य वस्त्राभूषण नहीं रहता। पुलिस वाले? वे

ज़रा कल्पना कीजिए उस दृश्य की। हर कोई बना-विगड़ा नवाब त्यौहार में शरीक होने को उतावली-बावली अपनी बेगम को भरे हुए गले से उद्बोधन दे रहा है: "अच्छा, खुदा हाफ़िज़ बेगम, टा टा! जाइये, अब छः हफ़्ते बाद! ज़रा हिफ़ाज़त से रहें, क़सम है मेरे सिर की।" और फिर वही नवाब साहब बेगम से जाते ही अपनी कुर्सी से उछलकर खुद सीधे कमरे से बाहर, उसी औघड़ हालत में! फेस्चिग में कौन बार-बार शेव बनाने बैठता है। इतनी फ़ुर्सत ही किसे रहती है! इतना वक्त किसी से खुश-गप्पियाँ करने में क्यों न गुज़ारा जाये। इस त्यौहार का खुला आमन्त्रण ही सबको यही होता है कि 'जैसे हो, वैसे आ जाओ।'

आश्चर्य बनाम आश्चर्य

अमरीका के भूतपूर्व राष्ट्रपति हैरी एस० ट्रुमैन ने अपनी पुस्तक 'इयर्स ऑव डिसीशन्स' में लिखा है:

"जब मैं पहली बार सेनेट के अधिवेशन में सम्मिलित हुआ तो मुझे कुछ अजीब-सा लग रहा था। तभी सेनेट का ह्विप जे० हैमिल्टन लेविस मेरे पास आकर बैठ गया। उसने मुझसे कहा—"अपने को ज़रा भी नया या छोटा व्यक्ति अनुभव मत करो। शुरू के छः महीनों तक तुम्हें यह आश्चर्य-सा लगेगा कि तुम्हें यहाँ सीट कैसे मिली और बाद में तुम्हें यह आश्चर्य होगा कि तुम्हें छोड़कर बाक़ी लोग किस तरकीब से सीट पा गये हैं?"

कहाँ चले जाते हैं? वे इस राष्ट्रीय और धार्मिक अनुष्ठान में क्यों दखलन्दाज़ी करने लगे, वे तो ड्यूटी से छूटते ही खुद अपनी ड्रेस खूँटी पर टाँगकर, सादे लिबास में भागे-भागे सीधे इसी मेले में आ जुड़ते हैं। और पहले ही कहा जा चुका है, यह मेला लिबास-पोशाक का क़ायल ही नहीं होता।

इस लम्बे जशन का अन्तिम दिन पड़ता है 'श्रोव-मंगलवार' को (शायद सर्व-मंगल दिवस से तात्पर्य हो)। उस रोज़ मध्याह्न

रात्रि को आप-ही-आप, मानो रैफ़री की सीटी सुनकर जैसे मैच रुक गया हो, त्यौहार एकदम समाप्त हो जाता है और हर काम फिर वापस हस्बमामूल चल पड़ता है। जैसी अजीब शुरुआत, जैसा अजब अनोखा जलसा, वैसा ही अजीबो-ग़रीब उसका उद्यापन-क्षण। जलसा ठप्प, खेल ख़तम। अभी-अभी जो प्रेयसी किसी अज्ञात प्रियतम को अपना बनाए उसके अंक-पाश में बँधी स्वर्ग की अप्सराओं को अपने हास-विलास से लज्जित करने में कोई कसर उठा नहीं रख रही थी, वह बारह की घंटी का अलार्म सुनते ही एकदम चकित-भीत हिरनी की तरह छिटककर अपने-आपमें दबी-सकुचाई, अजनबी आँखों से अपनी देह को बचाती, नज़रें चुराती, कनखियों से छूटे-बिछुड़े अपरिचितों को देखती हुई, पल्ला झटककर चल देती है। कोई-कोई सतर्क मर्द अपनी भुजाओं में कसी रमणी को अलार्म की घंटियाँ सुनकर यों दूर धकेल देता है, जैसे ग़लती से अबतक किसी नागिन का फन पकड़े रहा हो।

६ जनवरी से सर्व-मंगल दिवस तक पूरे छः सप्ताह तक पार्टियों पर पार्टियाँ होती हैं, रोमांस होता है, रासलीलाएँ होती हैं, रहस्य-वार्तालाप चलता है, गाना-बजाना, कुश्ती-कसरत, खेल-कूद, नाच-गान, दौड़-धूप, मैच-मैदान सब कुछ जमकर होता है, डटकर होता है, खुलकर होता है, मस्ती से होता है, निर्द्वन्द्व होता है, निर्बन्ध होता है। सर्व-मंगल-दिवस को सिग्नल उठ जाता है—बस यहीं तक, आगे नहीं। और जिस तरह स्वतन्त्रता से इधर आयी थीं उसी तरह प्रौढ़ा-नवोढ़ा गृहिणियाँ घर की चहारदीवारी में स्वेच्छा से लौटकर अपनी मँगनी वाली मुद्रिकाएँ फिर से अँगुलियों में डालकर गृहस्थी का भार उठा लेती हैं। सारे म्यूनिक शहर की शराब की तमाम अतिरिक्त भट्ठियाँ ठंडी पड़ जाती हैं।

पूर्व की अन्यान्य बातों के साथ न जाने कौन वसन्तोत्सव का यह बिरवा भारत से जर्मनी में लगा आया या फिर बवेरिया के आदिम निवासियों, आधुनिक म्यूनिक-वासियों के पूर्वज ट्यूटनों ने खुद ही इसे ईजाद किया, कौन जाने।

यह त्यौहार ठीक ३००० वर्ष पहले के शरदान्त उत्सव का ही नया संस्करण मालूम होता है। यूरोप की धूमिल सर्दियों की

खाने का टेबुल

अँगरेज़ी की सुप्रसिद्ध उपन्यास लेखिका एवेलिन स्कॉट अपने भुलक्कड़पन के लिए प्रसिद्ध हैं।

एक दिन अपने तथा पति के लिए खाना परोसते समय उन्होंने अपने तथा पति के टाइपराइटरों पर प्यालों, तश्तरियों और चम्मचों का ढेर लगा दिया और खाने बैठ गयीं। कोई दो मिनट बाद नौकर के याद दिलाने पर उन्हें अपनी भूल मालूम हुई।

समाप्ति होते ही प्राचीन बवेरियावासी टयूटन अपने घर-दरबों से बाहर आ जाते, सुनहली कोमल किरणों में सर्दियों की पोशाकों की चर्मछालाएँ शरीर से उतार फेंकते। होली जैसे बड़े-बड़े अलाव जलाए जाते और उनकी लपलपाती-नाचती लपटों के चारों ओर सब लोग गोल चक्कर बनाकर नाचते। नाच प्रायः नग्नावस्था ही में होता। बनैले शूकर का शिकार किया जाता और सब मिल-जुलकर, डटकर दावतें उड़ाते। हर तरह खुशियाँ मनाई जातीं। जितने भी खेल-कूद, नाच-गान, तब तक ईजाद हो चुके थे, खेले-कूदे और नाचे-गाये जाते। आदिवासी आखिर आदिवासी ही होते हैं। बस, उनकी बस्ती में प्रागैतिहासिक सभ्यता वाले नंगे नाच का दृश्य उपस्थित हो जाता।

बवेरियाई सम्राटों के स्वर्णयुग में, म्यूनिक में जब तीन लुडविग राजाओं ने राज्य किया, देश में एक सीधी-सादी रीति-नीति थी, सीधा-सादा तत्त्वदर्शन था, केवल आठ शब्दों वाला—'जितना मज़ा ले सको, ले लो, लूट लो !'

सन् ६३ में फास्चिग के त्यौहार के दौरान कुल ३५०० सार्वजनिक पार्टियाँ उड़ीं। खाने के अन्नकूट लगे हुए थे, शराब का क्षीरोदधि भरा हुआ था। तमाम मधुशाले, भवन, हॉल, उद्यान, रेस्तराँ, होटलें, आमोद-गृह इसी जशन के लिए किराये पर उठ गये थे।

सार्वजनिक पार्टियों के अलावा प्रायवेट पार्टियाँ भी खूब हुईं। और प्रायवेट काहे की, हर आदमी और औरत जैसे अहद करके घर से निकलता है कि सीमाएँ तोड़ दो, हदें लाँघ जाओ, कोई भी किसी भी पार्टी में कहीं भी जा घुसता है और वैसा ही समादर-सत्कार पाता है जैसे जलसे का खास निमंत्रित अतिथि वही हो।

लम्बा बिल भुगतान करने के क़ाबिल अपने-आपको समझने और बनाने में हर म्यूनिकी फ़ख़्र मानता है। उसके पुरखे सुरा-पान इस धड़ल्ले से करते थे जैसे भारत में दुबे-चौबे लोग लोटा उठाकर भंग गटगटा जाते हैं। यहाँ भंग का रंग, वहाँ शराब-बीयर का चाव-चंग। हर आदमी चंग पर चढ़ा रहता है। जैसा देश वैसा भेष। पीपे-के-पीपे बीयर के ख़ाली हो जाते हैं—इनके शराब पीने का माद्दा भी ज़रा दुनिया के अन्य लोगों से ज्यादा ही होता है। जलसे में हर आदमी पिया हुआ मिलेगा, ख़ूब पिया हुआ, फिर भी कोई आदमी ढूँढ़ने पर भी ऐसा नहीं जिसके होश-हवास नादुरुस्त हों।

इस मिज़ाज के लोग जहाँ भी रहेंगे वहाँ लखनऊ और सूरत को नवाबी हेकड़ी भी होगी ही। त्योहार में प्रायः बीयर के कंटर लुढ़काने की शर्त लगती रहती है। जो भी आदमी कम-से-कम दस कंटर बीयर एक बैठक में नहीं 'सुड़क' सकता उसे मेज़बान के ज़नाना मेहरबानों की ओर से 'नाक़ाबिल' क़रार दे दिये जाने की शर्मिन्दगी उठानी पड़ती है।

गाने के शोर-शराबे के साथ-साथ शराब की माँग भी ज़ोरों पर। गा रहे हैं, चिल्ला रहे हैं, बक-झक रहे हैं, और फिर कह रहे हैं—

ला पिला दे साक़िया, दे, और भर दे ! परिचारक चषक पर चषक भरकर दे रहे हैं और माँग बराबर जारी है। कोई यह नहीं कहता कि अब बस। जो कोई कहता है, यही कहता है ला पिला दे साक़िया, दे और दे मत देर कर। आपको, इस संदर्भ में, यह जानकर खुशी होगी वह मधुशाला म्यूनिक नगर में ही है जो होफ-ब्राहोंस के नाम से विख्यात है। फास्चिग त्यौहार में इसके ग्राहक प्रतिदिन औसतन १५,००० गैलन बीयर पी जाते हैं। पूरे उत्सव के ४३ दिनों का हिसाब आप ही लगा लीजिए।

सारा यूरोप घूम जाइये, आपको कहीं ऐसी दूसरी जगह नहीं मिलेगी जहाँ आदमी को अपनी मर्दानगी की आबरू बचाने के लिए जबरन अपने-आप इतनी शराब या बीयर पीनी पड़ती हो। यह गौरव तो म्यूनिक नगर के ही भाग्य में था और उसी को मुबारक रहे!

शर्त कभी-कभी बीयर ढालने से और भी आगे बढ़कर खाने-पीने की होड़ ले उठती है। अभी एक-दो वर्ष पहले, याने सन् ६२ में दो फ़ौजी रंगरूटों में होड़ ठन गयी कि देखें, उबले हुए अण्डे कौन ज़्यादा साफ़ करता है। बस साहब, एक पहुँचा २५ तक (जैसे हमारे देश में ब्राह्मण-चौबे शर्त लगाकर लड्डू झाड़ते हैं,) और दूसरा बढ़ा उससे आगे और खा गया उससे भी आधा दर्जन ज़्यादा, मतलब इकत्तीस, और जीत गया १,००० डॉलर की शर्त, लेकिन जानते हैं, नतीजा क्या निकला, जो लोग फैन्सी ड्रेस पहने दोनों प्रतिद्वन्द्वियों बढ़ावा दे-देकर अण्डे खिला रहे थे उन्हें तीसरे ही दिन इन शर्त जीतने वाले दूसरे कप्तान साहब की मय्यत में शरीक होना पड़ा।

जल्से के सर्व-मंगल-दिवस यानी अन्तिम दिन, तीसरे पहर, एक शाही लड़ाई लड़ी जाती है जिसमें सड़े और टूटे-फूटे अण्डे, सड़े-गले टमाटर, मुर्गियों के टूटे पंख, गोभी और शलजम, गोली-बारूद और हथियारों का काम देते हैं। जमकर लड़ाई होती है। जिधर देखो उधर लोगों के सूट-बूट, कपड़े-लत्ते, चिन्दा-चिन्द ! लोग फटक-लांग गिरिधारी बने चले आ रहे हैं। बदहवास, बेसुध, बेखबर !

आपसी लड़ाई समाप्त होते ही सब फिर किसी नज़दीक की ही बीयर-शाला में जा घुसते हैं और नये सिरे से शराब पीने-पिलाने लगते हैं और खूब ज़ोर से भद्दे-भद्दे गाने गाते हैं। वहाँ से सब लोग थोड़ी देर के लिए अपने-अपने घर जाकर, नये सिरे से तैयार होकर, उत्सव की आखिरी शाम सबसे ज्यादा जोशो-ज़ुनू से मनाने के लिए ही मानो हौसला इकट्ठा करके वापस लौटते हैं और आखिरी शाम फिर जो कुछ होता है, उसकी याद आगामी साढ़े दस महीने, हर घड़ी इस क़दर तरो-ताज़ा बनी रहती है कि दूसरे साल के फास्चिंग उत्सव की शुरूआत वाली तारीख ६ जनवरी फिर आ जाती है। ■

सलीब पर टँगी हुई अम्माँ

नागानन्द मुक्तिकण्ठ
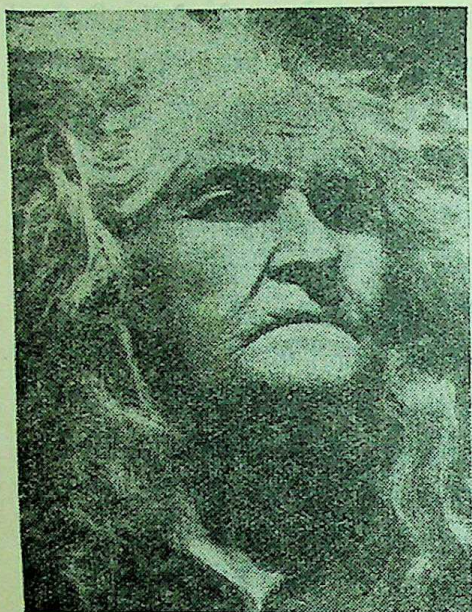
धड़हीन पतंगों की उम्र ही कितनी और फिर अम्माओं का सब्र ही कितना ! अनुभूतियों के मंथन को शब्दों में बाँधकर रची गयी मार्मिक कथा।

मेरी वेश-भूषा, लम्बे-लम्बे बाल और बढ़ी हुई दाढ़ी को देखकर अधिकांश यही अनुमान लगाते हैं कि मैं तांत्रिक हूँ, लेकिन सच पूछा जाय तो न मैं तांत्रिक हूँ, न ओझा हूँ और न ही किसी सम्प्रदाय का पुरोधा। सच यह है कि पाँच वर्षों तक एक स्कूल में मास्टरी करने के बाद मैंने देश के प्रायः सभी धर्मपीठों की यात्रा की; जहाँ भी किसी सिद्ध या साधु, संत या वेदांती से मुलाक़ात हुई, जीवन के कुछ 'तत्त्व-रहस्यों' के प्रति जिज्ञासा प्रकट की- जानना चाहा कि सृष्टि के प्रारम्भ से ही जीवन का जो यह चक्र चल रहा है, उसका उद्देश्य क्या है ? यदि उद्देश्य है और उस उद्देश्य की पूर्ति क्रमशः हो रही

है तो उस पूर्ति में मेरे जैसे मामूली आदमी का क्या योगदान है। अप्रासंगिक न समझा जाय तो इस संदर्भ में इसका उल्लेख भी कर दूँ कि सृष्टि की सोद्देश्यता के सम्बन्ध में हमारे पूर्वजों ने जिन लम्बे-लम्बे सिद्धान्तों या दृष्टियों की उद्भावना की है, उनमें मेरी आस्था नहीं है। आस्था न होने की खास वजह शायद यह है कि जीवन के उन विशिष्ट अनुभवों की प्रक्रियाओं से, जिनके आधार पर उन्होंने उन दृष्टियों की सृष्टि की होगी, मेरा आत्मसात् नहीं। प्रत्येक युग की प्रत्येक चिन्तन-दृष्टि पर उस युगविशेष की अपनी एक खास क़िस्म की छाप होती है—निस्संदेह वह भविष्यत् चिन्तन का उपादान है या बन सकती है, और यदि नहीं है तो होनी चाहिए, किन्तु 'सृष्टि, पालन-पोषण और संहार' जैसी रूढ़ जीवन-दृष्टि की रोशनी में मैं अपने अस्तित्व की छानबीन करूँ, यह मेरे लिए अभीष्ट नहीं। 'सृष्टि, पालन-पोषण और संहार'—पूर्व का ही चिरंतन सत्य है, ऐसी बात नहीं; विश्लेषण किया जाय तो साफ़ ज़ाहिर होगा कि पश्चिम की भी प्रायः तमाम चिन्तन-दृष्टियाँ इसी सत्य में एकीकृत होकर एकाएक बुझ जाती हैं—कम-से-कम मुझे तो ऐसा ही लगता है।

सुबह उठा तो पूरे बदन में रात की वही टूटन अंग-प्रत्यंग को वेध रही थी। फ़र्श पर कई धड़हीन पतंगे रेंग रहे थे—वे ही धड़हीन पतंगे जिन्हें विसतुइयों ने अपनी ज़हरीली जीभों से पिछली रात बेकाम कर डाला था। सुबह उठकर सबसे पहले मैं अपने कमरे के फ़र्श की सफ़ाई करता हूँ; फिर उसके बाद ही कोई दूसरा काम होता है। आज सफ़ाई करने की इच्छा ही नहीं हुई—सोचा, इन अधमरे पतंगों को फ़र्श की धूल के साथ बटोरकर यदि कूड़ेखाने में फेंक देता हूँ तो मेहतर नामधारी जीव इनके साथ और भी बदतर व्यवहार करेगा—यानी वह यह नहीं देखेगा कि इनकी अभी साँस चल रही है इसलिए इन्हें छोड़ दिया जाय, वह तो कूड़े की ही तरह इन्हें भी अपनी गाड़ी में भरकर आगे बढ़ जायेगा····

पतंगे फ़र्श पर रेंग रहे थे—रेंगते जा रहे थे अबाधगति से—धड़हीन पतंगे—उनकी छोटी-छोटी पाँखें बड़ी तेज़ी से फरफरा रही थीं····

स्नान के बाद अम्माँ तीन सूखी रोटियाँ (हाँ पिछले दो-तीन सालों से मैं सूखी रोटियाँ ही खा रहा हूँ।) मेरे सामने रखकर पूजा-गृह में चली गयीं। उन्होंने जब मेरे कमरे में प्रवेश किया था तो उनकी दृष्टि उन पतंगों पर भी पड़ी थी। उन्होंने मुझसे पूछा भी था कि फ़र्श की धूल पोंछते वक़्त मैंने उन पतंगों को भी क्यों नहीं हटा दिया। मैंने कोई जवाब नहीं दिया था।

पता नहीं, क्या वजह है कि आजकल मैं अपनी अम्माँ के विषय में ही दिन-रात सोचता रहता हूँ। अम्माँ अब बूढ़ी हो चली हैं, उनकी देह में अब वह चमक नहीं रह गयी है जो आज से दस साल पहले मैंने देखी थी।

उनका मुँह झुर्रियों से भर गया है; आँखों की रोशनी भी अब कम हो गयी है। उनके उदास चेहरे को देखकर मुझे पिछले साल के या उसके भी पहले के नवम्बर महीने की बेरहम उदास शामें याद आती हैं। वार्धक्य ने उनको क्लान्त, जर्जर और जरूरत से ज्यादा अन्तर्मुखी बना दिया है—शायद यही वजह है कि दिन-भर वह गम्भीर-सी बनी रहती हैं। झुर्रियों से बिंधे हुए उनके चेहरे को जब कभी मैं देखता हूँ तो लगता है, मानो वह किसी भयावह संत्रास 'हॉरर' से दिन-ब-दिन टूटी जा रही हैं, नीली पड़ती जा रही हैं। मैंने यह जानने की बहुत कोशिश की कि अम्माँ को यदि किसी तरह की तकलीफ़ है तो मुझे बताए लेकिन अफ़सोस कि उन्होंने खुलकर मुझसे कभी बात ही नहीं की। अम्माँ का यह दुराव मुझे ज़िन्दगी भर सालता रहेगा। पापा की जब मृत्यु हुई तो मेरी अवस्था अठारह या बीस की रही होगी। मुझे याद है, अम्माँ उन दिनों इतनी कातर-कातर और चिन्तित नहीं रहती थीं, घंटों मुझसे बातें करतीं; पुलिस-चौकी से दस बजे का जब घण्टा बजता तो चुपचाप मेरे कमरे में चली आतीं और प्यार से डाँटतीं कि दस बज गये, तुम अभी तक पढ़ रहे हो। विवश होकर मुझे बत्ती बुझा देनी पड़ती।

मानिए या न मानिए, अनुभव बताता है कि ज़िन्दगी में जाने-अनजाने हम प्रतिक्षण एक-दूसरे से छूटते चल रहे हैं। इन दिनों मुझे लग रहा था कि अम्माँ भी—वह अम्माँ जो मेरी जन्मदात्री थीं—दूसरों की ही तरह मुझसे दूर होकर छूटती जा रही हैं।

रविवार। छुट्टी का दिन। अम्माँ मेरे पास आईं। कहने लगीं, "देख, सुधांशु, तू अब शादी कर ले, साधु-सन्तों की ज़िन्दगी का कोई ठिकाना नहीं। गृहस्थ होकर भी लोग जीवन और मरण की गुत्थियाँ सुलझाते हैं। तेरे पिता ने भी सप्तर्षिमण्डल पर कई टिप्पणियाँ तैयार की थीं; वह भी दर्शन-चिंतन पर दूर-दूर के विश्वविद्यालयों में भाषण करने जाते थे। पहले वह ऊँचे दर्जे के सद्गृहस्थ थे; बाद में और कुछ। अब मेरे चला-चली के दिन आ गये हैं; मेरी अन्तिम आकांक्षा यही है कि तू शादी कर ले जिससे वंश की वृद्धि हो और तेरे पिता का यश बढ़े।"

अम्माँ की आँखें चमक रही थीं। वह रह-रहकर आँसुओं को आँचल से पोंछती जा रही थीं। आज कई वर्षों के बाद अम्माँ की आँखों में एक आभा देखी थी—एक ऐसी आभा जो शब्दों में नहीं उकेरी जा सकती, अपलक जो केवल देखी जा सकती है।

मैं चुपचाप अम्माँ की बातें सुनता रहा। जवाब देना मैंने उचित नहीं समझा, क्योंकि साधु-सन्तों की ज़िन्दगी से मेरा ताल्लुक ही न था; मैं तो स्वयं सुव्यवस्थित जीवन-यापन के लिए रास्ता बना रहा था।

वह मुझे कमरे में 'अकेला' छोड़कर चली गयीं।

साँझ घिर आयी थी। एक अजीबोग़रीब सूनापन मेरे कमरे के इर्द-गिर्द झाँय-झाँय

करने लगा था। ज्योंही बिजली का बटन दबाया, सफ़ेद दीवारों पर हल्के हरे रंग की रोशनी चारों ओर फैल गयी। यह मेरी दैनिक चर्या में सम्मिलित है कि जब तक मैं अपने कमरे में रहता हूँ, मेरी खिड़कियाँ और दरवाज़े बिल्कुल बन्द रहते हैं; सूराखों तक में रूई या काग़ज़ के टुकड़े ठोक देता हूँ ताकि कोई मुझे देख न सके। दूसरों द्वारा देखा जाना मुझे पसन्द नहीं। पिछले तीन-चार वर्षों से मैं महसूस कर रहा हूँ कि जब मैं किसी को देखता हूँ तो न केवल उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण होता है बल्कि मैं स्वयं अपने सम्पूर्ण अस्तित्व के साथ मात्र उसके 'देखने' भर से अपहृत हो जाता हूँ।.... बहरलाल, दीवारों पर छिपकलियाँ प्रकट होने लगी थीं। कीड़े-मकोड़ों का अम्बार लग गया था। मैं आत्महत्या पर कुछ टिप्पणियों की प्रतिलिपि तैयार कर रहा था। ये टिप्पणियाँ योरप के एक मध्ययुगीन सन्त द्वारा लिखी गयी थीं, जो अपनी वृद्धावस्था में युग के कुछ श्रेष्ठ नराधिपतियों द्वारा जीवित ही आग की लपटों में भून दिया गया था। मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि इन टिप्पणियों का वैज्ञानिक दृष्टि से यदि अध्ययन किया जाय तो निस्संदेह हमारी नयी चिन्तन-दृष्टि को एक नया आलोक मिलेगा।.... प्रतिलिपि तैयार करते-करते एक बज गया। एकाएक मेरी दृष्टि घड़ी की सुइयों की ओर गयी। सुइयों को देखकर मुझे लगा कि जिस तरह ये सुइयाँ एक विकराल 'नो व्हेयर' की तरफ़ बेतहाशा भागी जा रही हैं, ठीक उसी तरह हम भी निरुद्देश्य, सृष्टि के इस भयावह शून्य में अन्धों की तरह हाथ-पैर चला रहे हैं। फिर मैं मन-ही-मन बुदबुदाया कि, 'हे ईश्वर, यदि सचमुच तू कहीं है तो क्यों नहीं मुझे अपना चेहरा दिखाता?'....मेरा सर भन्ना रहा था। लग रहा था, हज़ारों मक्खियाँ मेरे मस्तिष्क में भनभना रही हैं। कमरे की खिड़कियाँ मैंने खोल दीं। खिड़कियों को खोलते ही कई पतंगे कमरे में चले आए और दीवारों पर चिपक-से गये। सीढ़ियों से धीरे-धीरे होता हुआ मैं नीचे चला आया।

बाल्टी में से थोड़ा-सा पानी निकालकर मैंने अपना हाथ-मुँह धोया। कुछ देर बाद थोड़ा-सा हल्कापन महसूस किया। सारा-का-सारा आकाश नीले रंग की गोलियों से बिंधा हुआ था। एकाएक बड़ी तेज़ी से दो उल्काएँ फूटीं और बहुत दूर तक धुएँ की एक बहुत लम्बी लकीर खींचती हुई बुझ गयीं। इस भयावह उल्कापात—'या कि निर्वाण'—को देखकर मुझे पता नहीं क्यों भगवान् बुद्ध की याद हो आयी। मुझे लगा, जैसे मेरे इर्द-गिर्द कोई 'हे अमिताभ! हे अमिताभ!' कह-कहकर करुण विलाप कर रहा है। बुद्ध को उनके जीवनकाल में किसी ने ज़रूर आहत किया होगा, मन-ही-मन मैंने सोचा; यद्यपि इस नृशंस अपघात का जातक-कथाओं में कोई प्रमाण नहीं मिलता। आहत ही क्यों, मैं तो बुद्ध के उस स्वरूप को

भी कल्पना करता हूँ जब उनके ही निहायत ख़ूबसूरत काम-पीड़ित बालक-मित्र आनन्द ने वरुणा के तट पर चाक़ू की तेज नोक से उनके शरीर को क्षत-विक्षत कर मथ डाला होगा। हाथ-मुँह धो लेने के बाद मैं अम्माँ के कमरे के पास चला आया।

"अम्माँ! अम्माँ! अम्माँ!!" तीन बार पुकारने पर भी कमरे में से किसी तरह की आवाज़ नहीं आयी। पता नहीं क्या वजह थी कि अम्माँ ने आज अपने कमरे की सभी खिड़कियाँ बन्द कर ली थीं। दरवाज़े भी बन्द थे।

इस बार मैंने इतनी तेज़ी से आवाज़ लगाई कि दालान में सोई हुई आया भी जग गयी।

"क्या है बाबू?"

"कुछ नहीं, देख, चिल्ला रहा हूँ लेकिन अम्माँ हैं कि सुनती ही नहीं।"

"अच्छा, मैं आती हूँ।" कहकर आया खुद दरवाज़ा खटखटाने लगी। बीस-पचीस मिनट तक लगातार दरवाज़ा पीटने पर भी जब अम्माँ का मौन नहीं टूटा, तब मैं घबरा गया।

"देख आया, तू यहीं रह। मैं अभी ऊपर से टार्च लेकर आता हूँ।"

ऊपर आकर जल्दी से मैंने अपनी आलमारी खोली और ज्यों ही टार्च लेकर आगे बढ़ा कि देखा—एक-दो नहीं, असंख्य धड़हीन पतंगे फ़र्श के विकराल शून्य में इधर-उधर रेंग रहे हैं—रेंगते जा रहे हैं। इस लीला को देखने का मुझे अवकाश न था। जल्दी-जल्दी मैं नीचे चला आया। दालान में से सीढ़ी निकाली और दीवार के सहारे खड़ा कर दिया। रोशनदान से जब मैंने टार्च की रोशनी अम्माँ के कमरे में फेंकी तो अवाक् रह गया। घरन की कड़ी से अम्माँ लटक रही थीं। उनकी झुकी हुई कमज़ोर गर्दन में फन्दे पड़े हुए थे। उनके दोनों हाथ नीचे झूल गये थे। आँखें बाहर निकल आयी थीं, एकदम 'क्लड़'—उनका पूरा शरीर झुलसकर राख हो गया था। उनकी पत्थर जैसी दो बड़ी-बड़ी आँखों में हज़ारों साल पुरानी भुखमरी मुझे साफ़ दीख रही थी—उनकी झुकी हुई नीली गर्दन में हज़ारों अबोध बालिकाओं की नुकीली गर्दनों का स्याह अक्स झलक रहा था जो अपना पतपानी रखने के लिए दिल्ली के लाल क़िले से या कुतुबमीनार से कूदकर आत्महत्या कर लेती हैं; उनके ठण्डे ललाट और भौंहों से दुनिया के तमाम धर्मों की बुझी हुई ढेरों राख उड़ रही थी।....अम्माँ ने आज वह कर दिखाया था जिसकी मैंने कल्पना भी न की थी। इस वक़्त वह मुझे उस पुत्रहीन जननी की तरह लग रही थीं जिसका सब-कुछ लुट गया होता है। उस अँधेरे में मैं कुररी की तरह बिलख-बिलख कर रो रहा था—ठीक उसी तरह जैसे एक पितृहीन बालक रोता है। बूढ़ी आया की क्या हालत थी, याद नहीं, इतना ज़रूर याद है कि पूरब के झरोखों से मकड़ी के जालों को बिलगा-बिलगाकर स्नेहिल रोशनी का एक अगाध पारावार मेरे चारों तरफ़ बढ़ता आ रहा था।

स्मृति के विम्ब

बड़ी बुरी आदत है तुम्हारी
कंकरी फेंककर
मन-सरोवर में तैरते हुए
बिम्बों को अस्तव्यस्त कर देने की।

तुम्हारे लिए
शायद
ये महज़ एक खेल हो
पर
मेरे लिए तो
एक-एक बिम्ब का मिटना
हज़ार-हज़ार स्मृतियों से
हाथ धोना है!

निन्दनीय नहीं

विगत और अनागत के बीच
सेतु बनने वाला
यह जो क्षण है :
इतना उपेक्षणीय तो नहीं
कि अनजिया गुज़ार दें!

अपने कमज़ोर कन्धों पर
इतिहासों को ढोने वाला
यह जो साधारण जन है :
इतना दयनीय तो नहीं
कि जहाँ चाहे, सूली पर टाँग दें!

चेतन और ऊर्ध्वचेतन के बीच
सब कुछ सहने वाला
यह जो अचेतन है :
इतना निन्दनीय तो नहीं
कि उसे अपराधी क़रार दें!

दिनकर सोनवलकर

दो छोटी कविताएँ

आशालता शर्मा

o
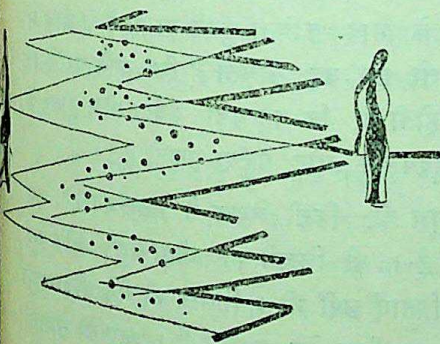
कुछ नसीहतें, कुछ अनुभव की बातें—लेखक-पत्नी के ये विचार, हल्के-फुल्के और चुटीले शब्दों में, उन लेखक-पत्नियों के बड़े काम के हैं जो अपने पतियों के आचार-व्यवहार, रहन-सहन और तौर-तरीक़ों से परेशान हैं।

o

o

जी हाँ, मेरे पति भी लेखक हैं!

इसमें कोई शक़ नहीं है कि हम लड़कियाँ जब कालेज में पढ़ती होती हैं तब हम जिसे सपनों का राजकुमार कहते हैं वह कवि या लेखक-वर्ग का ही कोई होता है। किसी का उपन्यास पढ़ा तो बस मन ताने-बाने बुनने लगता है कि जो इतना अच्छा चरित्र-चित्रण करता है नारी का, वही नारी की सच्ची क़ीमत जान सकता है! इसी तरह के भाव कविता सुनने या पढ़ने के बाद भी हिलोरें लेने लगते हैं। उस वक़्त तो हम यह सोचती हैं कि कवि या लेखक को प्यार-मनुहार की बड़ी ज़रूरत होती है; कि वह बड़ा संवेदनशील होता है, ज़रा-सी बात भी उसके सुकुमार हृदय को चोट पहुँचा सकती है!

मगर ये सब ताने-बाने, सचमुच ही, किसी लेखक से गठबन्धन हो जाने के बाद प्रायः छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। यों लिखने का थोड़ा-बहुत शौक़ मुझे भी था, इधर-उधर कुछ छुट-पुट कविताएँ छपीं भी। सितार भी मैंने थोड़ा-बहुत सीखा। पर लगता है, नारी का वास्तविक क्षेत्र घर ही है। घर को सजाना जैसे मेरी हविश है। और लेखकों के लिए तो घर—ज़्यादा से ज़्यादा, उनका लिखने-पढ़ने का कमरा, और नहीं तो बस आरामगाह भर। फिर आप ही बताइए निबाह हो तो कैसे हो?

इधर मैंने कुछ बड़े-बड़े लेखकों की पत्नियों के लेख पढ़े। उनके पतियों के लेख भी पढ़े। मुझे उनमें से ज़्यादातर लोगों की ईमानदारी पर शक है।

मैं व्यक्तिगत रूप से जानती हूँ उस कड़ुवाहट को, जिसको पचाए हुए बहुत-से साहित्यकार अपनी तथाकथित 'विलवेड' बीवियों अथवा साहित्यिक बीवियों के साथ दाम्पत्य जीवन चला रहे हैं। इस सबने उनके लेखन को भी पीड़ित (एफ्लिक्ट) किया है, यह उनके पाठक भी महसूस करते हैं और स्वयं वे भी। पर कहे कौन ?

उन लेखकों की बात यदि जाने भी दिया जाय जिनकी जीविका ही साहित्य पर निर्भर है, तो भी लेखन आय का एक अतिरिक्त साधन तो है ही। प्रायः लेखक-पत्नियों की दृष्टि में यही बात ज़्यादा महत्त्वपूर्ण होती है। एक-दो महीने तक कोई मनीआर्डर न आए तो मैं पति महोदय को कोंचने लगती हूँ 'कुछ लिखिए न', 'बहुत दिनों से आपने कुछ नहीं लिखा है।' इसी बात को कुछ जीवन-संगीनियाँ यों कहेंगी कि 'मैं ही उनकी प्रेरणा का स्रोत हूँ', 'मेरी ही प्रेरणा पर उनकी लेखनी उठती है।'

अब प्रेरणा की बात ही चल पड़ी है तो मुझे अपने वैवाहिक जीवन के उषाकाल की एक घटना याद आ गई। मेरे पति ने एक कहानी लिखी जिसकी नायिका के अधर कुछ मोटे थे और बाल छोटे थे। मैं इस बात को लेकर खूब झगड़ी थी कि उन्होंने मुझे ही कहानी की नायिका बनाया है और वे मुझे कुरूप समझते हैं। यह ग़लतफ़हमी लेखक-पत्नियों को आमतौर पर रहती है। एक कवि-पत्नी ने एक बार अपने पति का कविता-संग्रह दिखाते हुए, बहुत-सी कविताओं के लिए कहा, "यह तब की लिखी हैं जब हम पहली बार मिले थे, ये विरह-गीत उन्होंने उस समय लिखे जब मैं माँ के पास गई थी और तीन महीने तक वापिस न आ सकी थी," जबकि कवि महोदय मेरे पति के लंगोटिया यार थे और मुझे अच्छी तरह मालूम था कि इनके विरह-गीतों की प्रेरणा कौन है। सामाजिक सीमाओं ने जिसके साथ उनका गठबंधन न होने दिया, उसकी याद में ही वे गीत लिखे गए थे। फिर भी कवि-पत्नी का मन रखने के लिए मैं उनके सौभाग्य की प्रशंसा करती रही कि "इतनी अच्छी कविताओं की अनुप्रेरक रही हैं आप! हिन्दी कविता सदैव आपका आभार मानेगी।" जबकि सच यह है कि इनके चले जाने पर ही बेचारे कवि के मन से बोझ उतर पाया है और तभी कुछ लिख पाना सम्भव हुआ है।

कई बार हम लोग इस भ्रम की शिकार हो जाती हैं कि संसार में हमसे ज़्यादा प्यारी चीज़ हमारे पतियों के लिए कोई नहीं है। यही नहीं बल्कि पति से इस बात की उम्मीद भी रखती हैं कि वह सब बातों से ज़्यादा महत्त्व हमको दे। हम उदास हो जायँ तो वह अपनी ज़रूरी से ज़रूरी गोष्ठी छोड़कर हमें मनाए। हमारा सिनेमा जाने का मूड है तो, लाख उसका मूड लिखने का हो रहा हो, हमारे साथ सिनेमा चले। इस प्रकार बार-बार हमारे द्वारा थोपी गई यह अहमन्यता उसके रास्ते में खड़ी हो जाती है। मुझे याद

आती है अपने पति की प्रारम्भिक कविता की एक पंक्ति : "अपना प्यार पंथ में मेरे, सुमुखि नहीं दीवार बनाना।' जब पिछले पाँच वर्षो के वैवाहिक जीवन पर दृष्टिपात करती हूँ तो लगता है, मैंने अगर दो क़दम आगे बढ़ाया है उनको, तो एक क़दम पीछे भी खींचा है। दीवारें एक नहीं, अनेक खड़ी कर दी हैं। जब उनका कोई दोस्त या सम्बन्धी उनसे अपनत्व दिखाता है तो लगता है जैसे सारी दुनिया कोई साजिश कर रही है और उन्हें मुझसे छीनना चाहती है।

यह 'डोमीनेन्स' की भावना इतनी बढ़ गई है कि ज़्यादा देर तक उनका पढ़ना-लिखना भी मुझे सह्य नहीं होता। कई बार वे कुछ पढ़-लिख रहे होते हैं और मैं कोई घरेलू बात छेड़ देती हूँ, तो बड़ी देर तक वे 'हाँ-हूँ' कुछ भी नहीं करते। तब तो मुझे लगता है कि वे व्यस्त होने का अभिनय कर रहे हैं। सुनते हुए भी मेरी बात अनसुनी कर रहे हैं। मेरी उपेक्षा कर रहे हैं। और मैं तन जाती हूँ। कितनी ही बार उन्होंने समझाया कि जब वे अध्ययन में होते हैं तो एक दूसरी ही दुनिया में पहुँच जाते हैं जहाँ विचारों का एक 'चेन रिएक्शन' चल पड़ता है, एक से दूसरा, दूसरे से तीसरा। फिर इस दुनिया में लौटने में कुछ देर लगती है। मगर मेरे गले नहीं उतरता उनका यह दार्शनिकपना।

उस दिन मैं रसोई में थी। वे अपनी एक ताज़ी-ताज़ी लिखी कविता उठा लाए और लगे सुनाने। फिर शाम को मुझसे पूछने लगे कि आज रसोई में मैंने जो कविता सुनाई थी, कैसी लगी? अब मैं क्या कहती। मुझे तो उस कविता का सींग-पूँछ कुछ भी नहीं याद था। याद तो तब होता जब मैंने ध्यान से सुनी होती। ध्यान था उधर कि घी थोड़ा रह गया है और पहली तारीख अभी दूर है। ध्यान था उधर कि नमक शाम तक ही चल पाएगा और मिर्चें कल ही खत्म हो गई हैं। आटा शायद खिंच जाय पहली तक। और ऐसी-ऐसी ही पारिवारिक समस्याएं मेरे दिलो-दिमाग़ पर छाई हुई थीं। इनको भेद-कर कविता के स्वर मुझ तक पहुँचते भी तो कैसे। उस दिन मुझे हार माननी पड़ी और अब जब वे व्यस्त होते हैं तो ज़रूरी-से-ज़रूरी बात भी टालने की कोशिश करती हूं। जिनको नहीं पता वे आज भी उनके इस समाधि लगा जाने से परेशान हो उठते हैं। कई बार यह विचारमग्नता उन्हें ग़लत बस-स्टैंड पर उतार देती है, दुबारा फिर टिकट ख़रीदवा देती है या टिकट लेने की याद ही नहीं दिलाती। सब्ज़ी ख़रीदकर बिना पैसे दिए, या ज़्यादा दिए हैं तो बिना वापिस लिये चल देना तो आम बात है।

कई बार इन लेखकों की परोपकारी वृत्ति भी हमें आँस जाती है। कोई ज़रूरतमन्द आ टपका। अपनी गाँठ तो अक्सर ख़ाली ही रहती है, क्योंकि पता ही नहीं चलता पैसों का इनको, कि कब आए और कब गए, लेकिन याचक से ना कैसे कहें। अब भागें

इधर-से-उधर। दूसरों के लिए खुद परेशानी ओढ़ लेना इन लोगों के लिए कोई बड़ी बात नहीं है। यह हम स्वार्थी पत्नियों से बर्दाश्त नहीं होता। हम उनका यह बड़प्पन छुड़ाने की जी-तोड़ कोशिश करती हैं। कोई दूसरा बीमार है तो दवा लेने डिस्पेंसरी भागे जा रहे हैं और अपने बीमार पड़ेंगे तो जब तक खाट से न लग जायँ दवा नहीं लेंगे। इसी तरह मैं कोई शिकायत करूँ कि हाथ-पैरों में हड़कल है, सुस्ती रहती है, वग़ैरह-वग़ैरह, तो पहले तो अनसुनी कर देंगे और फिर एक दिन क़ीमती-से-क़ीमती 'विटामिनों' की गोलियाँ, टानिक और 'सिरप' लाकर जमा कर देंगे।

फिर भी मैं हमेशा उनको यही सुनाती रहती हूँ कि दिनोंदिन वे मेरी उपेक्षा करते जा रहे हैं। असल में होता यह है कि शुरू-शुरू में तो लेखकों को कोई घास डालता नहीं। दायरा छोटा होता है प्रशंसकों का। कभी-कभार एकाध रचना छप गई तो छप गई। उन दिनों वे अपनी सब योजनाओं आदि के बारे में पत्नी से भी सलाह लेते हैं, सम्पादकों का रोना उसके सामने रोते हैं और सहानुभूति 'गेन' करने की फ़िराक़ में रहते हैं। फिर जैसे-जैसे वे प्रगति और यश के शिखर पर चढ़ने लगते हैं और 'लाइमलाइट' में आने लगते हैं, त्यों-त्यों पत्नी नेपथ्य में खिसकती जाती है। फिर उन्हें पत्नी की सलाह की या उसकी हमदर्दी की जरूरत तो रहती है मगर वे सोचते हैं कि इसकी फ़िक्र खुद बीवी को करनी चाहिए। इधर बीवी जी भी ऐंठ में रहती हैं कि कल तक तो मिन्नतें कर-करके सुनाते थे कविताएँ, एक-एक लाइन को डिस्कस करते थे; अब पता भी नहीं चलता कि कहाँ-कहाँ छपने गई हैं। दरार पड़ती है, धीरे-धीरे खाई बन जाती है। फिर भले ही कविता-संग्रहों के समर्पण बीवी के नाम हों, मगर परसाई (हरिशंकर) की क़लम से खुरचकर देखें तो वहाँ लिखा मिलेगा : 'उस बीवी के नाम जिसकी मैके-प्रियता के कारण इस संग्रह का प्रकाशन सम्भव हो सका।' बड़े-से-बड़े मुँहफट लेखक भी अपनी पत्नी के बारे में सच लिखने से कतराते हैं। टाल्स्टाय की पत्नी प्रारम्भ में उनकी प्राइवेट सेक्रेटरी भी थीं। पत्र-व्यवहार, पाण्डुलिपि टाइप करना, ये सब काम उन्होंने किए थे। किन्तु जब टाल्स्टाय प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँच गए तो अक्सर ही दोनों की झड़प हो जाती थी। एक बार 'स्त्रियों के बारे में आपके क्या विचार हैं?' यह प्रश्न टाल्स्टाय से पूछा गया तो उन्होंने कहा, "यह मैं तब बताऊँगा जब मेरा एक पाँव क़ब्र में होगा, जिससे कि जवाब देने के बाद तुरन्त ही क़ब्र में लेट जाऊँ।"

दोष किसका है? लेखक भुलक्कड़ होते हैं, लेखक असामाजिक होते हैं, लेखक अपारिवारिक होते हैं, सामाजिक मान-मर्यादाओं, मान-अपमानों ऊँच-नींच, बड़प्पन—इन सबका उनके तईं कोई महत्त्व नहीं है। कूट-लेखकों या बरसाती मेढकों से मेरा अभिप्राय नहीं है। मैं उन अवसरवादी सामयिक लेखकों के बारे में

भी नहीं कह रही हूँ जो हवा देखकर रुख़ बदल लेते हैं। कल 'जय चीन' और जय चाऊ' चिल्लाते थे, आज 'हाय चीन' 'हाय-चाऊ' करते फिरते हैं। कभी लाल मुखौटा है तो कभी सफ़ेद। आपके पति किस श्रेणी में आते हैं इसका निर्णय करने की भी आपको ज़रूरत नहीं है। फिर भी मैं उन लेखकों-कवियों के लिए कह रही हूँ जिनमें प्रतिभा है, एक विकासमान प्रतिभा। हर साहित्यकार किसी देश के लिए उतना ही क़ीमती होता है जितना कि कुछ भी हो सकता है। ताजमहल पर बोर्ड लगा रहता है—'यह इमारत ऐतिहासिक इमारत है, इसको बिगाड़ना या तोड़ना-फोड़ना जुर्म है।'

मगर हम खुदगर्ज़ पत्नियों के हाथों में पड़कर कितने ही ताजमहल मुरझा गए हैं या मुरझाने के 'प्रोसेज़' में हैं।

साहित्यकार के प्रति समाज और राष्ट्र का जो उत्तर-दायित्व है, उससे कहीं बड़ा उत्तर-दायित्व है लेखक-पत्नी का। लेखक की स्वभावगत कमज़ोरियों से घृणा करने का मतलब है उसको खो देना। आप तो जानती ही हैं इस देश का नाम है हिन्दुस्तान, जब तक 'नोबेल-प्राइज़' न मिला, 'रवीन्द्र' और 'रमन' का किसी ने नाम भी नहीं सुना था। विदेशियों ने मान्यता दी, तब हम चेते। पति के लिए यह कहना कि 'कुछ करके तो दिखाएँ' आत्मप्रवंचना है, नादानी है। अभी पिछले दिनों जब एक साहित्यकार को नोबेल-पुरस्कार मिला तो उसकी पत्नी को बड़ा तरस आया उस सलेक्शन-कमेटी की बुद्धि पर जिसने उसके पति को यह पुरस्कार प्रदान किया था।

वैसे प्रेम या 'सेक्स' एक बड़ी कमज़ोरी है हर लेखक के साथ। यों बहुत-से हैं जो 'जिगर' की इस बात को मानकर चलते हैं कि :

> हुस्न की हर हर अदा पर
> जानो दिल सदके मगर,
> लुत्फ़ कुछ दामन बचाकर
> ही गुज़र जाने में है।

प्रश्न पुराने : उत्तर नये

अर्थशास्त्र के एक प्रोफ़ेसर ने अपने एक बहुत पुराने छात्र को नये छात्रों की परीक्षा का प्रश्न-पत्र दिखाया। पुराने छात्र ने चकित होकर कहा, "जब मैं यहाँ पढ़ता था, उस वक्त भी तो आपने यही प्रश्न परीक्षा में दिये थे।"

"हाँ," प्रोफ़ेसर ने कहा, "हम लोग हर साल यही प्रश्न पूछते हैं।"

"लेकिन तब तो सभी लड़के पिछले साल के लड़कों से पूछकर प्रश्न पहले ही जान लेते होंगे।"

"ज़रूर जान लेते हैं," प्रोफ़ेसर मुस्कुराया, "मगर अर्थशास्त्र के प्रश्नों का उत्तर हर साल बदल जाता है।"

मेरा विचार है कि यदि कोई लेखक-पत्नी सफल दाम्पत्य जीवन बिताना चाहती है तो उसको डबल रोल करना पड़ेगा—पत्नी और प्रेमिका का। फिर शायद ही कभी आपके साहित्यकार पति 'रीना' 'नीना' की तलाश में कॉफ़ी-हाउसों में मँडराते नज़र आएँ।

कोई कितना ही डींग हाँके, हम भारतीय पत्नियों को 'अपना घर' सबसे प्यारा होता है। 'मेरा घर–मेरे बच्चे' इसके सामने फिर और सब उसे नगण्य लगता है। पढ़ने में कितनी ही व्यस्त हों हमें खयाल रहता है कि अँगीठी पर रखा दूध उफन न जाय। कितनी ही अच्छी चीज़ लिख रही हों, जलती हुई दाल की गन्ध फ़ौरन ज़ायका खराब कर देती है। घर के साथ-साथ पति को भी अपनी एकछत्र सम्पत्ति समझती हैं हम—जिसका एक भी अंश कहीं इधर-उधर न छिटक जाय। कभी सोचा है आपने, ये पंक्तियाँ क्यों लिखी गईं : "मैंने बिखर जाने दिया है अपने कुटुम्ब को, बिखर गये हैं मेरे प्रियजन, एक आजीवन अकेलापन मेरे स्वभाव में, मेरे मन में बस गया है, और यहाँ मैं हूँ, तुम्हारे साथ एक छोटे-से घर में।" जो साहित्यकार है, वह न मेरा है न आपका, न घर का, न बाहर का, न देश का न विदेश का। सम्पूर्ण विश्व का है। जो कुछ वह देता है उस पर किसी का 'कॉपीराइट' नहीं है। आड़े न आइए आप। गुलाब की बहुत कोमल कली की तरह सँवारकर ज़रूर रखिए, मगर यह न समझिए कि यह गुलाब सिर्फ़ आपके जूड़े में लगाने के लिए बना है। उसकी महक, उसकी खुशबू सबके लिए है, उसकी सुगन्ध को अपने आँचल में ही बाँधने की जुगत न करें। निर्द्वन्द्व विचरने दें। न भूलिए, विश्व का एक अनमोल रतन आपके जीवन से जुड़ गया है। यह दूसरी बात है कि हमारी नज़र उतनी पारखी न हो, जो माटी में लिपटे हीरे की चमक देख सके। लेकिन इस चमक पर आपका कोई अधिकार नहीं है, हम उसे अपने गले का हार बनाकर बन्द नहीं रख सकतीं। अपने आभूषण आपने देश की सुरक्षा में भेंट कर दिए हैं। अपने पति और उनकी प्रतिभा को भी अनासक्त भाव से सहेजकर रखिए। क्या पता उसकी लेखनी में ही मानवता का त्राण निहित हो। विश्व की एक थाती है आपकी बाँहों में—आपके इतने नज़दीक होकर भी आपसे दूर। आपकी होकर भी आपकी नहीं। कमल का पत्ता है, भिगोइए पर निचोड़िए मत, दाग़ न लगाइए। आप बड़ी हैं, शुरूआत आप करिए, शायद आपकी देखा-देखी हम नवोदित सहचरियाँ भी बदल जायँ। यों लिखने वाले तो, बावजूद हम बीवियों के रोकने पर भी लेखक बनकर रहेंगे। कितनी ही ट्रिक या स्टिक आज़माएँ, 'डामेस्टिक' नहीं बना सकतीं। 'लेट, देम ग्रो वाइल्ड, प्लीज़ !'

●

'मनोविश्लेषण' उन अनेक गुत्थियों को सुलझाने में समर्थ है जिन्हें 'कठिन' और 'असम्भव' कहकर छोड़ दिया जाता था—पर 'अचेतन' के सम्बन्ध में पश्चिमवाले जहाँ मात्र निष्कर्ष ग्रहण कर चुप हो रहे, पूर्व के मनोविश्लेषकों ने उपाय भी सुझाये।

वर्तमान शताब्दी के महान् मनोवैज्ञानिक कार्ल गुस्ताव युंग ने कहा है : "मस्तिष्क के अचेतन तत्त्वों की एकात्मता व्यक्ति की प्रत्यक्षीकरण की क्षमता, ज्ञान व नैतिकता के मूल्यांकन पर निर्भर करती है। यह बड़ा ही श्रान्तक कार्य है। इसे सम्पन्न करने के लिए व्यक्ति को आचार सम्बन्धी उत्तरदायित्व से युक्त होना नितान्त आवश्यक है।

यह सिद्धि गिने-चुने व्यक्तियों को ही प्राप्त हो सकती है, और वे व्यक्ति मानव जाति के राजनीतिक नेता नहीं बल्कि नैतिक नेता होंगे। इन नैतिक नेताओं पर ही वर्तमान सभ्यता की रक्षा व उसका विकास निर्भर है।"

(एस्सेज आन द कटेंपारेरी
इवेंट्स, भूमिका, पृ० १२)

युंग को प्राच्य विचारधाराओं से प्रेम था। चीनी दर्शन एवं कविता से प्रभावित होकर, रिचर्ड विल्हम की सहायता से उन्होंने 'द सीक्रेट ऑव गोल्डेन फ्लावर' नामक पुस्तक लिखी। पश्चिम और पूर्व की खाई पाटने का उन्होंने श्लाघ्य प्रयास किया, परन्तु उनका अपना ही परिपार्श्व उन्हें निगल गया।
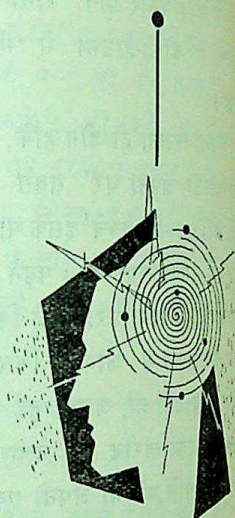
—सूर्यदेव पाण्डेय

अचेतन :
पश्चिम और पूर्व की विचार - पद्धतियाँ

मनोविश्लेषण की रीति मनोविज्ञान की एक शाखा है। कहते हैं, इस रीति के आविष्कारक वियना के प्रसिद्ध चिकित्सक सिगमण्ड फ्रायड हैं, किन्तु जोसफ ब्रूअर को कैसे भुलाया जाए! १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में वह प्रसिद्धि की चरम सीमा पर पहुँच गये थे। एक सर्वथा नवीन प्रणाली द्वारा वह अपने रोगियों की चिकित्सा करने लगे थे। वह मस्तिष्क का अध्ययन करते और फिर उसे उचित पर्यावरण में रखकर स्वस्थ करते। यह क्रम चलता रहा पर मस्तिष्क के अध्ययन की इस प्रणाली का समुचित विकास न हो पाया।

बाद में फ्रायड ने इस प्रणाली को अपनाया। उनके अनुसार मनोविश्लेषण का सीधा सम्बन्ध मस्तिष्कीय समस्याओं से है।

उन्होंने कहा है—"अचेतन मानसिक द्वन्द्व का परिणाम है। यह द्वन्द्व व्यक्ति की काम-प्रवृत्ति और उसकी आत्मचेतना (इगो) के मध्य निरन्तर चलता रहता है। सामाजिक आचार की भावना के कारण व्यक्ति को काम-प्रवृत्ति का दमन करना पड़ता है।"

इस तरह अचेतन में दैनिक जीवन की अनेकानेक अतृप्त आकांक्षाएँ दबी पड़ी रहती हैं। अतृप्त आकांक्षाएँ सदैव चेतना के क्षेत्र में आने का प्रयास करती हैं, लेकिन अचेतन की अतृप्त आकांक्षाएँ चेतन को भाती नहीं, अतः वह उन्हें भुलाने का प्रयत्न करता है। अचेतन की आकांक्षाएँ पुनः अचेतन को लौट जाती हैं। इस तरह अचेतन व चेतन के मध्य आकांक्षाओं के दमन व शमन का युद्ध चलता रहता है। इस युद्ध का परिणाम बड़ा भयंकर होता है। मनुष्य बीमार रहने लगता है—मानसिक रूप से और शारीरिक रूप से भी।

अचेतन अनजाने विचारों का ख़ज़ाना है। जीवन का विकास इससे अप्रभावित नहीं रह सकता। कुछ क्षण के लिए तो अचेतन में संचित अतृप्त आकांक्षाओं को विस्मृत किया जा सकता है पर सदैव के लिए नहीं। इन अतृप्त, अवदमित आकांक्षाओं से हमें भिड़ना ही पड़ेगा। और जैसे-जैसे हम अचेतन में संचित अतृप्त आकांक्षाओं से उत्पन्न समस्याओं को सुलझाते जाते हैं, मस्तिष्क हल्का होता जाता है। मानसिक स्वास्थ्य-लाभ तो होता ही है, शारीरिक स्वास्थ्य-लाभ भी होता है।

पर एक बात है, मनोविश्लेषण के माध्यम से अचेतन में संचित अतृप्त आकांक्षाओं का ज्ञान तो हो जाता है, किन्तु अचेतन को कैसे नियन्त्रित करें यह ज्ञात नहीं हो पाता। यदि यह मान लें कि अचेतन मात्र अतृप्त आकांक्षाओं का कोश है तो फिर किसी दिन यह कोश मानवजाति का विनाश करके ही शान्त होगा।

मानवजाति का विनाश हो या निर्माण, विज्ञान इसका उत्तरदायी नहीं है। विज्ञान तो समस्याओं का विश्लेषण करता है, उसके विभिन्न रूपों का विश्लेषण करता है, समाधान ढूँढ़ना उसका कार्य नहीं।

परन्तु व्यावहारिक जीवन में समस्या का विश्लेषण ही पर्याप्त नहीं होता, विश्लेषण से

कहीं अधिक आवश्यक है उसका समाधान। आज अचेतन में संचित अतृप्त आकांक्षाओं का ज्ञान प्राप्त करने से अधिक आवश्यक है उन्हें अचेतन में संचित होने से रोकना। यदि ऐसा न किया गया तो मस्तिष्क विघटित हो जायगा और मनोविश्लेषण की रीति धरी रह जाएगी। आज मानव अचेतन के शिकंजे में फँसा कराह रहा है। वह मुक्ति चाहता है, पर कौन दे उसे मुक्ति? और दे भी तो कैसे? किस तरह?

फिर, यह सम्भव भी तो नहीं है। अचेतन में अवस्थित अतृप्त आकांक्षाओं से मुक्ति पाना प्रकृति के विरुद्ध है। प्रकृति का यह विधान है कि अचेतन की रचना ही हुई है अतृप्त आकांक्षाओं को एकत्र करने के लिए, संचित रखने के लिए।

एक समय था, जब फ्रायड की बड़ी धूम मची हुई थी। हर ओर उन्हीं की चर्चा थी। पर धीरे-धीरे उनके विचारों की आड़ में और भी अनेक विचार पैदा हो गये। एलफ्रेड एडलर सामने आए।

फ्रायड की तरह एडलर अचेतन के भँवर में न फँसे। युंग की तरह वह अचेतन की अँधेरी खोहों में भी भटकना नहीं चाहते थे। उन्होंने अपने मनोविज्ञान को चेतना क्षेत्र तक ही सीमित रखा।

एडलर के अनुसार अगर व्यक्ति अपने दैनिक जीवन की किसी भी समस्या के सामने झुक जाता है तो वह अपने को हीन अनुभव करने लगता है। तब वह श्रेष्ठता-प्राप्ति के लिए संघर्ष आरम्भ करता है लेकिन इस संघर्ष का विस्तार प्रायः संघर्ष-प्रेरक समस्या से पृथक् ही होता है। इस तरह श्रेष्ठता-प्राप्ति का यह संघर्ष बहुधा व्यर्थ ही वर्तमान बना रहता है।

प्रत्येक व्यक्ति श्रेष्ठता-प्राप्ति के लिए अपने अलग तरीक़े से संघर्ष करता है। संघर्ष की उसकी यह रीति, उसकी जीवन-शैली कहलाती है। यद्यपि एक व्यक्ति की जीवन-शैली दूसरे व्यक्ति की जीवन-शैली से सर्वथा भिन्न होती है, पर एक तत्त्व ऐसा है जो प्रत्येक

सच्चा धर्म

जिसकी आत्मा बलवान होती है वह परिस्थितियों के दर्पण में अपना रूप नहीं देखता। उसकी ओर वही झाँकता है, जो अपनी आत्मा को नहीं देखता।

जिसे अपने आप पर भरोसा नहीं, उसके लिए यह दुनिया भयंकर होगी और भरा होगा उसके लिए इस दुनिया में ज़हर का समुन्दर। पर मेरे लिए तो यह दुनिया बहुत ही मधुर है, बहुत ही सुखद और बहुत ही प्यारी। वह इसलिए कि मेरा प्यारा प्रभु परिस्थिति की खिड़की से कभी नहीं झाँकता।

सामने वाला मेरे साथ अच्छा व्यवहार करता है, इसलिए मैं उसके साथ अच्छा व्यवहार न करूँ, किन्तु मैं उसके साथ अच्छा व्यवहार इसलिए करूँ कि वह मेरा धर्म है। सामने वाला मेरे साथ

व्यक्ति की जीवन-शैली में विद्यमान रहता है। वह तत्त्व है शासन करने की आकांक्षा।

एडलर कहते हैं: "मस्तिष्क शासन करने का इच्छुक है। जब वह शासन करने का, अपने अधिकार के उपयोग का अवसर नहीं पाता तो बीमार हो जाता है। उस समय वह अपने को ही खाने लगता है!"

अतः मनुष्य को स्वतन्त्रता की आवश्यकता है ताकि वह अपने मस्तिष्क के शासन का विस्तार कर सके, अपने ही विकास के लिए अपने को अभिव्यक्त कर सके। मस्तिष्क जितना अधिक स्वतन्त्र होगा, व्यक्तित्व का विकास भी उतना ही अधिक होगा।

डॉक्टर कार्ल गुस्ताव युंग एडलर की बात पर तो चुप रहे परन्तु उन्होंने फ्रायड को खूब काटा। फ्रायड की एक भी बात उनके मतलब की न थी। उन्होंने जीवन के मूलतत्त्व को जीवन के मूलस्रोत का एक अंश बताया। अचेतन के अस्तित्व को उन्होंने स्वीकार तो किया परन्तु अपने तरीके से—अचेतन मस्तिष्क का एकमुखी विकास है।

शायद मस्तिष्क के बहुमुखी विकास की धारा में अचेतन उनके लिए महत्त्वहीन था, परन्तु इस बात पर वह कुछ न बोले। कदाचित् यह सम्भव भी नहीं है।

मानव को उन्होंने दो मुख्य श्रेणियों में विभाजित किया—बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी। बहिर्मुखी व्यक्तियों में भावनाओं का अधिक महत्त्व होता है और अन्तर्मुखी व्यक्तियों में विचारों का, कल्पना को उड़ान का। इन दो श्रेणी के व्यक्तियों में एक-दूसरे की श्रेणी के गुणों का अभाव ही अचेतन है। मस्तिष्क तब संघर्ष करने लगता है जब भावनाओं के वशीभूत कोई अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति का रास्ता नहीं पाता, या तब, जब कल्पना की उड़ान भरने वाला भावनाओं के जाल में उलझ जाता है। और जब यह संघर्ष पराकाष्ठा की सीमा पार कर जाता है तब व्यक्ति विभिन्न प्रकार के मानसिक रोगों का शिकार हो जाता है।

युंग कहते हैं: "कोई भी व्यक्ति अपने जीवन में पूर्ण नहीं है। सभी व्यक्ति सदैव एक ऐसी प्रक्रिया से बँधे रहते हैं जो उन्हें पूर्णता की ओर

***

बुरा व्यवहार करता है फिर भी मैं उसके साथ अच्छा व्यवहार करूँ और इसलिए करूँ कि वह मेरा धर्म है।

अच्छा व्यवहार करने वाले के साथ मैं अच्छा व्यवहार करूँ और बुरा व्यवहार करने वाले के साथ बुरा व्यवहार करूँ तो इसका अर्थ है कि अच्छाई में मेरी आस्था नहीं है और बुराई से मेरा कोई वास्तविक विरोध नहीं है।

मेरा कोई सिद्धान्त भी नहीं, जिसे मैं मानकर चलूँ। मेरा कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं, जिसे मैं सुरक्षित रखूँ और मेरी अपनी कोई आकृति भी नहीं, जिसे मैं देखूँ। मैं परिस्थिति के दर्पण में वैसा प्रतिबिम्ब होना नहीं चाहता, जैसा वह मुझे दिखाना चाहे। —मुनि श्री नथमल

***

ले जाती है। यह प्रक्रिया लगभग तीस वर्ष की आयु के बाद कुछ-कुछ स्पष्ट रूप में महसूस की जा सकती है।"

जीवन में पूर्ण होने का अर्थ है व्यक्तित्व के उन तत्वों का प्रकाशित होना जो जीवन के विकास के लिए अनिवार्य होते हुए भी अप्रकाशित रहे हैं।

लेकिन अचेतन में संचित अतृप्त आकांक्षाओं को विस्मृत कर जीवन में पूर्ण नहीं हुआ जा सकता। अगर कोई व्यक्ति अचेतन की इन आकांक्षाओं को विस्मृत कर जीने का यत्न करता है तो यह कहना असंगत न होगा कि वह मृतप्राय है।

यदि चेतन व अचेतन में से किसी को आघात पहुँचाया जाए तो व्यक्ति जीवन में पूर्ण होने से रह जाएगा। चेतन और अचेतन को संघर्ष से रोकना ठीक नहीं। दोनों जीवन के दो भिन्न पहलू हैं। चेतन को अधिकार है कि वह अपनी रक्षा करे, अचेतन को भूल जाए, और अचेतन भी अपने विप्लवित क्रम को अबाध प्रवाहित करने का अधिकारी है।

उक्त कथन का अर्थ हुआ, चेतन और अचेतन का मुक्त संघर्ष और कदाचित् आकस्मिक सन्धि। युंग के अनुसार यही जीवन-क्रम है। हथौड़ा और निहाई का यह खेल युगों-युगों से इसी तरह खेला जा रहा है और युगों-युगों तक इसी तरह खेला जाता रहेगा।

हथौड़ा और निहाई के बीच पड़ा मानव—लोहे का टुकड़ा—आघात सह-सहकर एक-न-एक दिन पूर्ण मानव बन ही जाएगा।

मनोविज्ञान के आधार-स्तम्भ फ्रायड, एडलर और युंग, तीनों ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि मनुष्य अपने मस्तिष्क की प्रतिक्रियाओं का शिकार हुए बिना नहीं रह सकता।

मनोविश्लेषण की रीति के आविष्कार से लाखों फ़ायदे हुए हैं और इसके विकास से लाखों और होंगे। सबसे बड़ा फ़ायदा यह हुआ है कि हमें अपने मस्तिष्क की प्रतिक्रियाओं एवं विभिन्न स्थितियों का पता चल गया है। साथ ही यह भी पता चल गया है कि मस्तिष्क की प्रतिक्रियाओं व अचेतन के प्रभाव से हम बच नहीं सकते।

समझ में नहीं आता कि अचेतन अतृप्त आकांक्षाओं का भण्डार क्यों है! शायद प्रत्येक व्यक्ति का अपना अलग जीवन-दर्शन होता है, अपनी अलग विचार-धारा होती है और यह प्रकृति का विधान भी है। प्रकृति का विधान मानव के विकास में बाधक न हो, यह कैसे सम्भव है! शायद इसी कारण वह अचेतन की रचना करता है। लेकिन क्या प्रकृति के इस विधान का बोध भी अचेतन की किसी अतृप्त आकांक्षा का परिणाम नहीं है? मानव नैतिकता और अनैतिकता का बोध कैसे करता है? इन भावनाओं की उत्पत्ति कैसे होती है?

चेतन और अचेतन के बीच कोई दीवार हो, ऐसी बात नहीं। प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक सूचना जिसका हमें ज्ञान है, हमारे चेतना-क्षेत्र में है। तर्क-संग्रह के अनुसार इस प्रत्यक्ष

ज्ञान की दस स्थितियाँ हो सकती हैं—बुद्धि, कारण, समवाय, प्रत्यक्ष, अनुमान, हेत्वाभास, उपमान, शब्द, अयथार्थानुभव और स्मृति।

इसी तरह प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक सूचना जिसका हमें ज्ञान नहीं है, हमारे अचेतन में है। अचेतन मात्र अतृप्त आकांक्षाओं का ही भण्डार नहीं है, वहाँ तृप्त आकांक्षाओं का भी विवेक है। अचेतन को नैतिकता व अनैतिकता का भी बोध है। धर्म और अधर्म भी वह समझता है। तो फिर अचेतन को एकपक्षीय विचारधारा का कोश क्यों कहें ? क्यों न उसे जीवन की बहुमुखी धारा का संचालक कहें ?

आज हर ओर मनोविश्लेषण का बोलबाला है—पश्चिम में भी, पूर्व में भी। मस्तिष्क अध्ययन का विषय बना हुआ है,.... पर केवल मस्तिष्क ही, क्योंकि मनोविश्लेषकों की पहुँच के अन्दर केवल वही है। और मस्तिष्क के इस अध्ययन के परिणामस्वरूप विश्व की नैतिक मान्यताएँ बदल रही हैं। मनोविश्लेषण के प्रभाव से मानव-मस्तिष्क को इतना तेज़ बना दिया गया है कि अब वह स्वयं को ही खाना चाह रहा है !

आज मस्तिष्क को चैन नहीं। वह व्यथित है, अन्तहीन पीड़ा से संतप्त है। इस अवस्था में वह इधर-उधर, लक्ष्यहीन भटक रहा है।

कहते हैं, मस्तिष्क का कार्य शरीर पर नियन्त्रण रखना है पर आज मानव अपना सन्तुलन खो चुका है। अब तो शरीर ही मस्तिष्क को साधने लगा है।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि मनोविश्लेषण की रीति के आविष्कार से लाभ भी हुए हैं। बहुत से रोग, हिस्टीरिया, विस्मरण आदि, जिनका कोई इलाज नहीं था, अब मनोविश्लेषण की सहायता से ठीक किए जाते हैं। पर इसका अर्थ यह नहीं कि इस रीति से मस्तिष्क की सभी बीमारियों का निदान सम्भव हुआ है।

मस्तिष्क शरीर पर शासन करता है, पर मस्तिष्क की अधिक चिन्ता करने से शरीर मस्तिष्क पर शासन करने लग जाता है। मनोविश्लेषकों ने अनेक मस्तिष्कों का अध्ययन करके उन्हें स्वस्थ किया है, सत्य है, किन्तु यह भी संशयरहित है कि मनोविश्लेषण की रीति का दुरुपयोग हो रहा है। इसके अनियन्त्रित, अनावश्यक प्रभाव से न जाने कितने स्वस्थ मस्तिष्क वाले व्यक्ति अपने विकृत मस्तिष्क को लिये घूम रहे हैं।

वास्तव में मनोविश्लेषक, मनोविज्ञानवेत्ता—पूर्व के नहीं, पश्चिम के—मानव के सम्पूर्ण मस्तिष्क का अध्ययन नहीं कर पाते। वे सिर्फ़ उसके एक अंश का ही अध्ययन कर पाते हैं, अतः मस्तिष्क के सम्बन्ध में उनका निष्कर्ष कभी पूर्ण नहीं कहा जा सकता। इस आंशिक अध्ययन के आंशिक निष्कर्ष को अपूर्ण मानना ही पड़ेगा।

लेकिन पूर्वी विचार-पद्धति के मनोविश्लेषक, पश्चिमी विचार-पद्धति के मनोविश्लेषकों से बहुत आगे हैं। भारतीय परम्परा के मनोविज्ञानवेत्ताओं ने, जो मनोविश्लेषण की रीति से पूर्णरूपेण परिचित थे, मात्र मस्तिष्क का

ही अध्ययन नहीं किया। उनके अध्ययन-क्षेत्र में वे तत्त्व भी थे जिनसे मस्तिष्क का निर्माण हुआ है, जिनसे यह सृष्टि बन सकी है। वे मस्तिष्क की विभिन्न स्थितियों का ही नहीं बल्कि विभिन्न स्थितियों में निर्मित विभिन्न मस्तिष्कों का अध्ययन करते थे। उनका निष्कर्ष आज के मनोविज्ञानवेत्ताओं की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट, सार्विक व सार्वभौम होता था।

पतंजलि (२०० ईसा पूर्व) इसी तरह के मनोविज्ञानवेत्ता थे। उन्होंने विभिन्न प्रकार के मस्तिष्कों का अस्तित्व स्वीकार किया है। दोष-दर्शन के सिद्धान्त की स्थापना करके उन्होंने अँधेरे में छिपे अचेतन को उजाले में रख दिया। उसकी क्रियाओं के प्रति हमें सचेत भी किया :

वितर्क बाधने प्रतिपक्षभावनम्

(योगदर्शन—२।३३)

जब वितर्क (यम और नियमों के विरोधी हिंसादि के भाव) यम-नियम के पालन में बाधा पहुँचाएँ, तब उनके प्रतिपक्षी विचारों का बार-बार चिन्तन करना चाहिए।

पतंजलि को ज्ञात था कि व्यक्ति परिस्थितियों से, वातावरण से अप्रभावित नहीं रह सकता। संगदोष अथवा किसी द्वारा अन्यायपूर्वक सताए जाने पर या अन्य किसी भी कारण से मस्तिष्क में अहिंसादि के विरोधी भाव बाधा पहुँचाएँ, अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी आदि में प्रवृत्त होकर यम-नियमादि त्याग कर देने की परिस्थिति उत्पन्न कर दें तो उस समय उन विरोधी विचारों का नाश करने के लिए उन विचारों में दोष-दर्शन रूप, प्रतिपक्ष को धारण करना चाहिए।

यह तो रहा पतंजलि का सूत्र और उसकी व्याख्या। अब इसके प्रयोगिक रूप की परीक्षा भी कर ली जाए!

अचेतन मानव की स्वस्थ प्रवृत्तियों का परिणाम नहीं है, इसकी रचना होती है अस्वस्थ प्रवृत्तियों के कारण और विशेष रूप से, इनके दमन के कारण—(फ्रायड); स्वयं को हीन अनुभव करने के बाद उत्पन्न हुई शासनिक प्रवृत्ति के कारण—(एडलर); और, मूल प्रवृत्ति की विरोधी प्रवृत्ति के प्रति आकर्षण के कारण—(युंग)।

पतंजलि निर्माणकारी पद्धति के आशावादी समर्थक हैं। उक्त सूत्र में उन्होंने अचेतन के निर्माण को रोकने का स्पष्ट संकेत दिया है—दोष-दर्शन रूप की धारणा।

काम-प्रवृत्ति मानव-जीवन की मूल प्रवृत्ति है। काम-प्रवृत्ति और आत्म-चेतना के मध्य निरन्तर संघर्ष चलता ही रहेगा। पर यह संघर्ष क्यों चलता है? इसलिए कि समाज द्वारा निर्धारित नैतिक मानदंड काम-प्रवृत्ति के अबाध प्रवाह को विधि-निषेधों की परंपरा से आवृत्त किए हुए है। आत्मचेतना इन विधि-निषेधों से पूरी तरह प्रभावित होती है। उधर काम-प्रवृत्ति निर्बाध प्रवाह के लिए व्याकुल है, इधर आत्मचेतना सामाजिक आचार की भावना के कारण उसके प्रवाह के मार्ग में अवरोध बनी हुई है। आत्मचेतना के प्रभाव के

सम्मुख जीवन की मूल प्रवृत्ति हार जाती है और अचेतन का निर्माण कर अपनी काल्पनिक परितृप्ति का मार्ग ढूँढ़ लेती है।

यदि काम-प्रवृत्ति और आत्मचेतना के संघर्ष के समय काम-विरोधी विचार धारण किए जाएँ तो निस्सदेह अचेतन की रचना को निष्फल किया जा सकता है।

किसी भी समस्या के सामने झुकने पर व्यक्ति अपने को हीन अनुभव करने लगता है। तब वह श्रेष्ठता-प्राप्ति के लिए संघर्ष आरम्भ करता है। शासनिक प्रवृत्ति उस संघर्ष का मूलतत्त्व है। यद्यपि एडलर अचेतन को चेतन से पृथक नहीं मानते फिर भी यह श्रेष्ठता-प्राप्ति का संघर्ष और शासनिक प्रवृत्ति अचेतन के स्तर से कम नहीं है। इससे मुक्ति पाने के लिए प्रतिपक्ष को धारण करना अनिवार्य है।

यहाँ प्रतिपक्ष धारण करने का यह अर्थ नहीं कि व्यक्ति श्रेष्ठता-प्राप्ति के लिए संघर्ष नहीं करेगा अथवा करेगा भी तो शासित होना चाहेगा, बल्कि प्रतिपक्ष धारण करने के बाद वह अपने को हीन अनुभव करना छोड़ देगा। पराजय में भी वह अपने को श्रेष्ठ समझेगा। इस तरह श्रेष्ठता-प्राप्ति का संघर्ष और शासनिक प्रवृत्ति जो जीवन के विकास के लिए अनिवार्य है, निर्मूल नहीं होती।

युग ने मानव को दो श्रेणियों में बाँटा है। बहिर्मुखी व्यक्ति अन्तर्मुखी व्यक्ति के गुणों को ललचाई नज़र से देखता है। वह उन गुणों को धारण करने की बातें सोचता है, पर यह सम्भव नहीं है। दोष-दर्शन के माध्यम से वह दूसरे श्रेणी के व्यक्ति के गुणों को धारण करने की आकांक्षा से मुक्ति पा सकता है। इस तरह वह अचेतन के मायाजाल से बचा रहेगा।

अचेतन घातक है, आज के मनोविज्ञानवेत्ता इसे स्वीकार करते हैं, परन्तु इसके घातक प्रभाव से मुक्ति पाने का मार्ग उन्हें नहीं सूझता। लेकिन आज से लगभग सवा दो हज़ार वर्ष पूर्व पातंजलि ने उस मार्ग की ओर इंगित किया था——अचेतन के निर्माता विचारों के अस्तित्व को समाप्त करने के लिए मस्तिष्क में उनके विरोधी विचार धारण कर लेने चाहिएँ।

पूर्व का मनोविज्ञान विकास की चरम सीमा पर पहुँच कर ठहरा हुआ है। पश्चिम का मनोविज्ञान अभी-अभी विकास की ओर बढ़ा है। एक दिन वह पूर्व की बराबरी करने लगेगा लेकिन यह तभी सम्भव है जब केवल मस्तिष्क का ही अध्ययन न किया जाय बल्कि उन सभी तत्त्वों का अध्ययन किया जाए जिनसे मस्तिष्क प्रभावित होता है। ऐसा करने के लिए हमें जीव के बीजरूप की स्थिति से लेकर ब्रह्माण्ड के निर्माण तक की सारी क्रिया-प्रक्रियाओं का अध्ययन करना पड़ेगा।

सह-चिन्तन

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

•

सम-सामयिक विचारों-व्यवहारों, समस्याओं-समाधानों, घटनाओं-प्रेरणाओं के प्रसंग में सह-चिन्तन

•

संस्कृत के सम्बन्ध में :

भावुकता और तर्क की आपस में नहीं बनती। तर्क का स्वभाव है यथार्थ का भी विश्वास न कर उसे विवेचन की कसौटी पर रख देना और भावुकता इतनी विश्वासी है कि कल्पना को भी यथार्थ का जामा पहनाने में न झिझके। हिन्दू समाज की भावुकता गाय और संस्कृत के साथ इस तरह एकरस हो गई है कि उसके चिन्तन में पशु गाय बन गई है गो-माता और संस्कृत बन गई है देववाणी। वह चाहता है कि दोनों का प्रवेश देश के जन-जन में और मन-मन में हो जाए; पर मज़ा यह कि उसके अपने जीवन में न गाय है, न संस्कृत।

भावुकता का यह कैसा चमत्कार है कि स्वतन्त्रता के १५ वर्षों में कटी हुई गाय के पोस्टरों से वे लोग वोट माँगते रहे हैं, जिनके घरों में गाय का दर्शन दुर्लभ है और गो-रक्षा का आन्दोलन वे लोग करते रहे हैं, जो यह भी नहीं जानते कि गाय का वास्तविक दुश्मन भैंस है, मुसलमान नहीं।

इधर गो-माता की चर्चा कम है और देववाणी की ज़ोरों पर। चर्चाकार कहते हैं—हिन्दी को नहीं, संस्कृत को राष्ट्र-भाषा बनाओ। इससे भारत की एकता सुदृढ़ होगी। यह भी उसी भावुकता का चमत्कार है कि संस्कृत-प्रसार-यज्ञ के ये ब्रह्मा वे हैं, जिनके पुत्र संस्कृत पाठशालाओं में नहीं, अँग्रेज़ी कॉलेजों में पढ़ते हैं!

हम सबसे पहले भगवान से यह प्रार्थना करें कि वे नादान दोस्तों से गो-माता और संस्कृत की रक्षा करें और तब इस प्रश्न पर आयें कि क्या संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाना सम्भव है ? पहली बात तो यह है कि राष्ट्रभाषा का प्रश्न लोक-सभा द्वारा निर्णीत हो चुका है, वह विचारार्थ प्रस्तुत नहीं हैं। वह ऐसा ही है कि अब इंगलैण्ड में कोई यह प्रश्न प्रस्तुत करे कि क्या भारत को स्वतन्त्रता देनी चाहिये ?

इसके बाद भी कुछ लोगों की भावुकता उफन रही हो, तो उन्हें यह सोचना चाहिये कि भारत के ३६-३७ करोड़ निवासियों में २३-२४ करोड़ लोग हिन्दी जानते हैं, फिर भी हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने में अड़चनें हैं, इस हालत में क्या उस संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाना सुगम है, जिसके ज्ञाता उँगलियों पर गिने जा सकते हैं और एक सर्वेक्षण के अनुसार जो ५०० परिवारों की ही बोलचाल की भाषा है ?

भावुकता के सस्ते प्रभाव से बढ़कर विचारणीय प्रश्न यह है कि संस्कृत 'क्लास' की चीज है या 'मास' की ? स्वामी दयानन्द के समय से आज तक संस्कृत के पुनरुद्धार का आन्दोलन हो रहा है, पर क्या इतने लम्बे समय में संस्कृत में कोई ऐसा ग्रन्थ लिखा गया है, जिसे पढ़ने के लिए किसी के मन में संस्कृत पढ़ने का चाव पैदा हो ? छोड़िये ग्रन्थ की बात, इस समय जिन विद्यार्थियों को बलपूर्वक रामः, रामौ, रामाः या गच्छति, गच्छतः, गच्छन्ति रटाया जा रहा है, क्या उनमें इण्टर पास करने के बाद भी कोई ऐसा विद्यार्थी है, जो अपनी तरफ़ से तीन पंक्तियाँ संस्कृत में लिख सके ? उस स्थिति में यह स्पष्ट है कि संस्कृत न ज़ोर से चल सकती है, न पिछले कई सौ वर्षों की तरह धर्मश्रद्धा के भाव से। उसे राष्ट्र की आदर्श भाषा के रूप में हम प्रतिष्ठित रख सकते हैं, उसके अध्ययन और शोधकार्य को लाभदायक बनाकर—और कोई रास्ता नहीं है !

यह दो मील की दौड़ :

युगसन्त विनोबा भावे बिलासपुर ठीक समय पर पहुँचे। इसके लिए उन्हें अपनी ७० वर्ष की आयु में पूरी तेज़ी से दो मील दौड़ना पड़ा। उन्हें बताया गया था कि उनके यात्रा-स्थान से बिलासपुर आठ मील है। पर बाद में पता चला कि वह दस मील है। इसलिए दो मील तेज दौड़कर वे ठीक समय

बिलासपुर पहुँचे, जिससे उनके स्वागत में खड़ी जनता को प्रतीक्षा न करनी पड़े।

विनोबाजी घण्टा-आध घण्टा लेट पहुँचते, तो कोई उनकी शिकायत न करता, पर विनोबाजी अपनी आँखों में तो झूठे हो जाते ! यह है समय की पाबन्दी, यह है उत्तरदायित्व का बोध। काश यह पाबन्दी और यह बोध देश के उन राजपुरुषों की मदहोशी तोड़ सके, जो जनता के धन से हवाईजहाज़-मोटर की सुविधा प्राप्त होने पर भी कभी जल्सों में समय पर नहीं पहुँचते !

यह हर्षध्वनि :

भारत के नये शिक्षामन्त्री श्री छागला अँगरेज़ी वातावरण में पले, रहे हैं और उनसे अँगरेजियत की ही आशा की जाती है, पर लोकसभा में उस दिन अचानक उन्होंने एक हिन्दी प्रश्न का हिन्दी में उत्तर दिया, तो गोल गुम्बद हर्षध्वनि से गूँज उठा। जानकारों का मत है कि यह पिछले कई वर्षों की सर्वोच्च हर्षध्वनि थी, पर प्रश्न तो यह है कि अँगरेज़ी के लालबुझक्कड़ों ने क्या इस हर्षध्वनि का अर्थ समझा ?

जयन्ती या वर्षगाँठ ?

मृत्यु की तिथि पर स्मृति मनाना पश्चिम की प्रथा है और जन्म की तिथि पर स्मृति मनाना भारत की, पर भारत में आजकल अजीब दुविधा की स्थिति है कि जन्म की तिथि पर हम स्वर्गीयों की चर्चा करते हैं और मृत्यु की तिथि पर भी। राष्ट्रीय मानस की यह त्रिशंकु-स्थिति दूर करना विचारकों का कर्त्तव्य है।

दो साक्षियाँ :

राजस्थान विधान सभा के लिए एक सदस्य का जो चुनाव महुवा में हुआ, उसकी चर्चा करते हुए राजस्थान के सुयोग्य और सफल मुख्य मंत्री श्री मोहनलाल सुखाड़िया ने कहा है—"मीणा जाति के लोगों ने हरिजनों को डरा-धमकाकर वोट प्राप्त किये। हरिजन कांग्रेस के समर्थक थे, लेकिन पुलिस का संरक्षण भी उनके उत्साह को बढ़ा नहीं सका।"

कलकत्ता में अभी-अभी जो विप्लव कांड हुआ, उसकी साक्षी है कि वर्तमान पुलिस सार्वजनिक उपद्रवों को नियन्त्रित करने में असमर्थ है और सुखाड़ियाजी की साक्षी है कि वह स्वतन्त्रतापूर्वक चुनाव कराने में भी असमर्थ

है। समझ में नहीं आता कि किससे पूछा जाए, पर प्रश्न सचमुच गम्भीर है कि क्या यह स्थिति प्रजातंत्री देश में चिन्ता-जनक नहीं है ?

श्री संजीव रेड्डी :

एक मोटर सड़क के राष्ट्रीयकरण की आलोचना करते हुए बड़े न्यायालय ने आन्ध्र के मुख्यमंत्री श्री संजीव रेड्डी के प्रतिकूल कुछ शब्द कहे। इस पर श्री संजीव रेड्डी ने त्यागपत्र दे दिया और श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी मुख्यमंत्री चुने गये।

पिछले १६ वर्षों के राजनैतिक जीवन का यह सर्वोत्तम प्रजातन्त्री उदाहरण है। प्रजातन्त्र क़ानून से स्थापित हो सकता है, पर क़ानून से वह जी नहीं सकता। वह जीता-पनपता है, नेताओं-द्वारा स्थापित प्रजातन्त्री परम्पराओं से। एक बहुत बड़े राज्याधिकारी ने मुझसे एक बार कहा था—"भारत के प्रजातन्त्र को सबसे बड़ा ख़तरा यह है कि उसका संचालन उन लोगों के हाथ में है, जिनके जीवन में प्रजातन्त्र नहीं है।" श्री संजीव रेड्डी ने अपने आचरण से सचमुच एक संजीवनी परम्परा का आरम्भ किया है और वे बधाई के हक़दार हैं।

यह सब क्या है ?

विधानसभाओं में रोज़ हंगामे होते हैं, सरकारी और निजी कारखानों में रोज़ हड़तालें होती हैं, सरकारी कर्मचारी रोज़ सरकार को नोटिस देते रहते हैं, दूकानें लुटने की ख़बरें छपती रहती हैं, राजधानियों में प्रदर्शन होते रहते हैं, दुश्मन देशों के जासूसों की कार्यवाहियाँ रोज़ उजागर होती रहती हैं और किसी-न-किसी कढ़ी में रोज़ उफान आता रहता है।

यह सब क्या है ? भारत के सर्वोच्च न्यायालय के सर्वोच्च न्यायाधीश श्री गजेन्द्र गडकर ने कहा है कि "देश इस समय क्रान्ति से पहले की दशा में है।"

जहाँ सुधार नहीं होता, संहार अवश्य आता है, यह प्रकृति का नियम है। हमारे देश में सुधार असफल हो रहा है, क्योंकि सुधारक स्वयं बिगड़े हुए हैं और ज्वालामुखी के शिखर पर बाँसुरी बजा रहे हैं !

प्राचीन काल में :

मध्यप्रदेश के पूर्व मुख्यमन्त्री और सागर-विश्वविद्यालय के वर्तमान कुलपति डॉ० कैलाशनाथ काटजू ने रायपुर में क़ानून-संघ का उद्‌घाटन करते हुए अपने सामने रखा माईक यह कहकर फेंक दिया कि "प्राचीन काल में गुरुजनों द्वारा उसका कभी उपयोग नहीं किया जाता था। और दस-दस हज़ार छात्रों के समक्ष वे बिना माइक के बोलते थे। हमें उनका अनुकरण करना चाहिए।"

मान्य काटजू महोदय की गुरुभक्ति को साधुवाद, पर इस निवेदन के साथ कि प्राचीन काल के गुरुजन चीफ़ मिनिस्टरी का चुनाव नहीं लड़ते थे, अँगरेजी नहीं पढ़ते थे, पत्थर के दाँत नहीं लगाते थे, चश्मा नहीं लेते थे और विलायती श्रवणयन्त्र का उपयोग भी नहीं करते थे !

उधर कमी, इधर वृद्धि !

विदेश के कुछ शाकाहारी भारत आये, तो उन्होंने बताया कि विदेश में शाकाहारियों की संख्या में वृद्धि हो रही है और भारत में मांसाहारियों की संख्या बढ़ रही है। उनका अनुभव है, मांसाहार से अनेक रोग बढ़ते हैं और भारत में रोगों की वृद्धि का कारण भोजन की शुद्धता में कमी आना है।

अँगरेज़ों ने कूटनैतिक कारणों से भारत की जीवन-पद्धति में पाश्चात्य जीवन-पद्धति के प्रवेशद्वार खोले थे। स्वामी विवेकानन्द पहले महापुरुष थे, जिन्होंने हमें ललकारा था—रुक जाओ। उनके बाद रवीन्द्रनाथ ने ललकार दी—रुको और सोचो। उनके बाद गान्धीजी आये, जिनका नारा था—अँगरेज़ को ही नहीं, अँगरेज़ियत को भी भगा दो। अब न विवेकानन्द हैं, न रवीन्द्रनाथ, न गान्धी, और जो हैं, उनकी दृष्टि में इस तरह की बातें प्रतिक्रियावाद की निशानी मानी जाती हैं।

लम्बी भुजा :

१९६२ में मथुरा के सरकारी म्यूज़ियम से चोरी गई बुद्ध की कुषाण-कालीन मूर्त्ति स्विटज़रलैंड में मिली है। समाचार पढ़कर सोचना पड़ता है कि देश-द्रोहियों की भुजा कितनी लम्बी है और जो भुजा विदेश में इतनी दूर तक फैली हुई है, वह देश में कहाँ न होगी ?

और ये और सब ?

अक्सर उद्घाटनों के चित्र पत्रों में छपते हैं। उनके परिचय में लिखा रहता है—अमुक मंत्री उद्घाटन कर रहे हैं। उन मन्त्री के पास उद्घाटित भवन आदि के निर्माता और जो दूसरे प्रमुख पुरुष खड़े होते हैं, चित्र-परिचय में उनका प्राय: उल्लेख नहीं होता। देख-पढ़कर मन में प्रश्न उठता है—मन्त्री अग्रगण्य हैं, ठीक है, पर क्या वे सब नगण्य हैं, जो मंत्री नहीं हैं ?

अनुकरणीय :

सैनिक तेगसिंह १९६२ में लद्दाख में शहीद हो गये थे और उनका परिवार निराश्रित हो गया था। उनकी बहन के विवाह का प्रश्न उठा, तो खर्च और प्रबन्ध दोनों की समस्या थी। अध्यक्षा श्रीमती इक़बाल वेदी की प्रेरणा से ज़िला-महिला-परिषद् अम्बाला ने पूरा उत्तरदायित्व अपने सिर ले लिया। इतना ही नहीं, उन्होंने यह विवाह इस तरह किया कि शहीद का परिवार सम्मान अनुभव करे। स्व० तेगसिंह की बटालियन ने अपने दो प्रतिनिधि और उपहार भेजे। साथ ही ज़िले के अफसर और प्रतिष्ठित नागरिक विवाह के समय गांव में उपस्थित हुए और बड़े ही हृदयद्रावक वातावरण में श्रीमती वेदी ने कन्या-दान किया। यह सचमुच अनुकरणीय है; क्योंकि इस तरह के उदाहरणों से देश के युवकों में बलिदान की भावना पनपती है और वातावरण में राष्ट्रीयता का प्रकाश फैलता है।

एक परामर्श : एक बाध्यता

कॉफ़ी हाउस में बैठे दो नौजवान मित्र आपस में बातें कर रहे थे। एक ने दूसरे से कहा, "मुझे शाइरी और चित्रकारी दोनों से शौक़ है। लेकिन चाहता हूँ कि इन दोनों में से किसी एक को अपना लूँ। तुम्हारा क्या ख़याल है ?"

"ख़याल तो बुरा नहीं।" दोस्त ने कहा, "मैं समझता हूँ, चित्रकारी तुम्हारे लिए अच्छी रहेगी।"

पहले ने उत्सुकता से पूछा, "तो तुमने मेरा कोई चित्र देखा है?"

"चित्र तो नहीं देखा, हाँ, तुम्हारे कुछ शेर ज़रूर सुने हैं।" दूसरे मित्र का उत्तर था।

कु० शान्ता सावलगी

ऐ, शरद की धूप

मेरे नन्हें शिशु के
होंठों की हलकी गरमी चुराकर
ऐ, शरद की धूप, तू अभी से जग गयी ?

री ! सो जा,
तेरे 'शेवन्ती' रूप को
थपकियाँ देकर मैं सुलाऊँगी।

अभी मुन्ना रजाई में कुनमुना रहा है,
अभी तो 'वे' खर्राटे भर रहे हैं,
और मैं—उठकर,
आँगन के बीच
कुंकुम जल छिड़ककर
रांगोली की रेखाओं में
मन उलझाकर
तेरे गुनगुने तन को कसकर
छाती से लगा रही हूँ
पर, तू है कि किरनों के हलके हाथों से
मेरे कुन्तल खोल
मुख पर डाल रहा है

सो जा रे, सो जा—
मुझे बहुत काम करना है !

कन्नड़ से अनुवाद :
चन्द्रकान्त
कुसनूरकर

कुमार काश्यप

काल की सापेक्षता को समझने में साधारण बुद्धि की कठिनाइयाँ इसलिए और बढ़ जाती हैं क्योंकि चार आयामोंवाले ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण स्वरूप को कल्पनाबद्ध करने में तीन आयामोंवाला मनुष्य सर्वथा असमर्थ है।
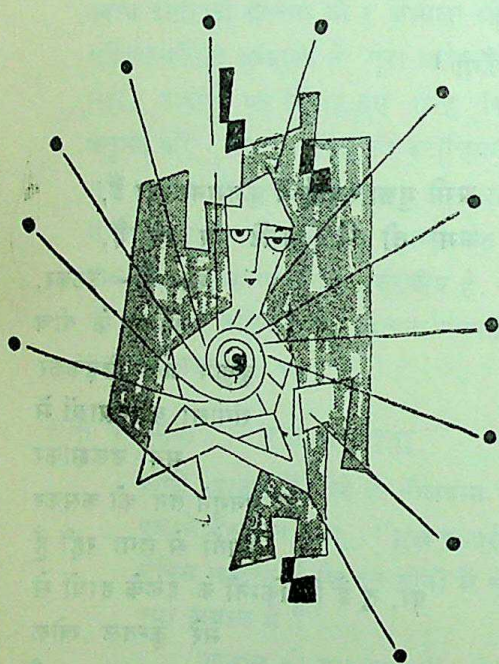
काल की सापेक्षता को समझने में मूल कठिनाई यह आ पड़ती है कि हम स्वयं काल को नहीं माप सकते; केवल गति-दर को अथवा उससे निर्धारित होने वाली दूरियों को मापते हैं, और उनके आधार पर काल-सम्बन्धी अपनी धारणाएँ बनाते हैं। गति हमें यथार्थ और निरपेक्ष लगती है और दूरियां भी सुनिश्चित और निरपेक्ष प्रतीत होती हैं। इसी से हमें काल-प्रवाह भी एक स्वतन्त्र प्रक्रिया मालूम पड़ती है। और हम समझते हैं कि हमारा 'अब' या 'यह क्षण' एक ऐसा स्वयं-स्थित अटल सत्य है, जो समस्त ब्रह्माण्ड पर समान रूप से चरितार्थ होता है, और जो हमारे बिना भी अपना स्वतन्त्र प्रवाह जारी रख सकता है।

परन्तु वास्तव में ऐसी कुछ भी बात नहीं। समग्र सृष्टि के लिए 'अब', 'एक साथ' या 'इस क्षण' आदि शब्दों का कोई अर्थ नहीं

काल की सापेक्षता और साधारण बुद्धि की कठिनाइयाँ

है। हमारे लिए जो 'अब' या 'यह क्षण' है, वही, सम्भव है, किसी दूरस्थ अन्य लोक के निवासियों के लिए 'कुछ और' हो अथवा 'वह क्षण' अभी उनके लिए आया ही न हो! उदाहरण के लिए आप एक असाधारण किन्तु रोचक कल्पना कीजिए। मान लीजिए कि हमसे तेरह सौ प्रकाश-वर्ष की दूरी पर स्थित एक नक्षत्र-जगत् के किसी संनिवासितग्रह पर वैज्ञानिकों ने एक ऐसी प्रबल दूरबीन बना ली है कि वे उसके द्वारा हमारे सौर-जगत् में पृथ्वी नाम के इस छोटे-से ग्रह पर की छोटी-से-छोटी वस्तु को भी देख सकते हैं। अब यदि वे 'ठीक इस समय' अपनी चमत्कारपूर्ण दूरबीन का रुख हमारी ओर करके देखना आरम्भ करें, तो वे क्या देखेंगे? निश्चय ही वे हमारे समुद्रों में बड़े-बड़े इस्पाती युद्धपोतों, आकाश में जेट-विमानों और धरती पर रेल-गाड़ियों को चलते अथवा महाकार कारखानों की चिमनियों से धुआँ निकलते नहीं देखेंगे; न वे संयुक्तराष्ट्र संघ का अधिवेशन देखेंगे और न भारतीय सीमाओं पर आक्रामक चीनी सेनाओं का जमाव, बल्कि वे देखेंगे—इस भारतवर्ष में एक हिन्दू सम्राट् को—सशरीर चलते-फिरते, जो शायद प्रयाग के संगम पर महायज्ञ कराने में व्यस्त होगा और अपना राज-कोष ब्राह्मणों में दान कर रहा होगा! यह सम्राट् हर्षवर्धन होगा, और उसका अस्तित्व तथा गतिविधियाँ उस दूरस्थ ग्रह के वैज्ञानिकों के लिए बिल्कुल 'ठोस यथार्थ' होंगी। और 'ठीक इस समय' हम जिस स्थिति में हैं, इसका ज्ञान उन्हें आज नहीं, बल्कि आज से तेरह सौ वर्ष बाद उनकी आने वाली पीढ़ियों को होगा!

इस प्रकार हम विभिन्न 'दूरियों' पर स्थित नक्षत्रों या अन्य नक्षत्र-समूहों की ग्रह-व्यवस्थाओं के कल्पित निवासियों के लिए अपने सम्पूर्ण विगत इतिहास के विभिन्न अध्यायों को 'ठीक इस समय' वर्तमान में घटते साकार यथार्थ रूप में कल्पना-बद्ध कर सकते हैं। इस दृष्टि से तो, अन्ततोगत्वा, समस्त ब्रह्माण्ड की सब घटनाएँ 'सतत विद्यमान' ठहरती हैं। यहाँ न कभी कुछ 'प्रारम्भ' होता है और न 'समाप्त'; वस्तुतः घटनाएँ 'घटती' नहीं, केवल 'हैं'! न कोई अतीत है, न वर्तमान और न भविष्य! और यह एक ऐसी कल्पना है, जो हमें विशुद्ध विज्ञान की परिधि से निकालकर किसी और ही अज्ञात क्षेत्र में ले जाती है!

परन्तु सावधान पाठक ने निश्चय ही अनुभव किया होगा कि नक्षत्रों के इस उदाहरण में स्वयं काल-प्रवाह पर द्रष्टा की गति के प्रभाव का प्रश्न बिल्कुल नहीं उठा। हालाँकि यह काल सम्बन्धी आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद की आधारशिला है। हमने विभिन्न द्रष्टाओं के लिए घटना-क्रम की विभिन्नता उनके भिन्न-भिन्न गति-दरों के आधार पर नहीं, बल्कि स्वयं घटनाओं से उनकी भिन्न-भिन्न 'दूरियों' के आधार पर दर्शायी है। इससे तो केवल प्रत्यक्ष दर्शन या व्यावहारिक अनुभूति की सापेक्षता ही मान्य ठहरती है; सम्बन्धित

घटना-क्रम या काल की आपेक्षिकता भी उतनी ही स्पष्टता के साथ समझ में आ जाती हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। और आइन्स्टाइन के सिद्धान्त को समझने में सारी कठिनाई या रहस्य-भाव इसी में निहित है।

आइन्स्टाइन द्वारा प्रस्तुत 'चलती ट्रेन' और एक साथ घटने वाली वज्रपात की दो घटनाओं के प्रसिद्ध उदाहरण में (देखिए रेखाचित्र) समान दूरी पर स्थित स्थिर द्रष्टा 'क' के लिए जो कुछ 'एक साथ' है, वही गतिमान् द्रष्टा 'ख' के लिए 'एक दूसरे के बाद' हो जाता है। लेकिन प्रकट में यह असंगति इसलिए नहीं घटती कि उक्त द्रष्टा स्थिर या गतिमान् हैं, बल्कि, हमारी समझ में, ऐसा इसलिए होता है कि वे इन घटनाओं को देखते समय उनसे भिन्न-भिन्न 'दूरियों' पर होते हैं। इसलिए प्रकाश को उनकी आँखों तक पहुँचने में भिन्न-भिन्न अवधियाँ लगती हैं। यदि हम द्रष्टा 'ख' को गतिमान् मानने की बजाय वज्रपात 'छ' की अपेक्षा 'च' के अधिक निकट 'स्थिर' मानें, तो भी यही परिणाम निकलता है, तो फिर आइन्स्टाइन के इस बहुचर्चित उदाहरण में स्वयं गति का अपना महत्त्व क्या है, सिवा इसके कि वह विभिन्न द्रष्टाओं को वस्तुओं और घटनाओं से विभिन्न दूरियों पर अवस्थित करने का एक कारण बनती है।

हम कह सकते हैं कि दोनों द्रष्टा वज्रपात की इन दो घटनाओं के 'एक साथ' होने या न होने का सहज ही पता लगा सकते हैं, यदि वे अपने-अपने हिसाब से उतने समय को निकाल दें, जितना उन घटनाओं की चमक (प्रकाश) को उनकी आँखों तक पहुँचने में लगता है। तब दोनों के परिणामों में कोई अन्तर शेष नहीं रहेगा और वे अपने को इस विषय में बिल्कुल एकमत पायेंगे कि दोनों घटनाएँ 'वास्तव में' एक साथ ही घटीं! क्या यह सम्भव नहीं?

नक्षत्रों के उदाहरण में, जब हम किसी दूरस्थ नक्षत्र या अन्य नक्षत्र-समूह को देखते हैं, तो साथ ही यह भी जानते हैं कि जो कुछ हम देख रहे हैं, वह उसका 'आज इस समय' का यथार्थ रूप नहीं है, बल्कि पांच, दस, पाँच सौ या पाँच करोड़ वर्ष पुराना रूप है। और 'ठीक इस समय' भी, जो हमारे लिए 'अब' या 'यह क्षण' है, उसकी कुछ-न-कुछ स्थिति होगी : वह अस्तित्व में होगा या नहीं होगा; ठीक इसी जगह पर होगा, जहाँ हम उसे देख रहे हैं अथवा किसी और जगह पर होगा; लेकिन उसकी एक 'वर्तमान यथार्थ' स्थिति भी है, इस धारणा से हम अपने को मुक्त नहीं कर पाते। हमारी 'साधारण बुद्धि'
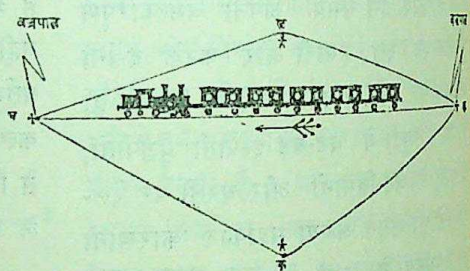
इस बात को मानने से इन्कार करती है कि हमारे 'अब' या 'इस क्षण' का आरोप समस्त ब्रह्माण्ड पर एक साथ नहीं किया जा सकता। आखिर क्यों नहीं किया जा सकता ?

क्या हमसे तेरह सौ या तेरह हज़ार प्रकाश-वर्ष की दूरी पर बैठे हुए कल्पित वैज्ञानिक अपनी अद्भुत दूरबीनों द्वारा हमारी पृथ्वी का सर्वेक्षण करते हुए इस प्रकट तथ्य को भूल जायेंगे कि जो कुछ वे देख रहे हैं, वह उनके 'आज इस क्षण' की बात नहीं, बल्कि आज से तेरह सौ या तेरह हज़ार वर्ष पूर्व के किसी बीते युग की बात है। 'आज इस क्षण' भी हमारी एक स्थिति है, हम किसी 'बहुत आगे के युग' में हैं, इसकी कल्पना वे अवश्य कर सकेंगे; यद्यपि वे स्वयं इसकी यथार्थ प्रकृति से अनभिज्ञ ही रहेंगे। आखिर यह तथ्य तो उन्हें भी मालूम होगा कि उनका लोक या नक्षत्र-जगत् हमारी पृथ्वी या सौर-जगत् से तेरह सौ या तेरह हज़ार प्रकाश-वर्ष की दूरी पर है, तो फिर इस सारे अनावश्यक तर्क-वितर्क का आखिर अर्थ क्या है ?

आइन्स्टाइन कहते हैं कि आप केवल दूरियों को माप कर और उन्हें तै करने में प्रकाश को लगे समय का विलोपन करके किसी घटना के 'ठीक समय' या 'निरपेक्ष मुहूर्त्त' का पता नहीं लगा सकते, क्योंकि काल की तरह दूरी का भी कोई निरपेक्ष मूल्य या स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक नक्षत्र या नक्षत्र-समूह हमसे इतने प्रकाश-वर्ष की दूरी पर है, तो उसका अर्थ होता है : हमारी वर्तमान गति-अवस्था से यह दूरी बनी है; यदि गति भिन्न हो, तो दूरी भी भिन्न होगी। इसी प्रकार विभिन्न गति-वेगों से चलनेवाले द्रष्टाओं के लिए स्वयं काल-प्रवाह का प्रतिमान भी भिन्न-भिन्न होगा। और यही वह रहस्य है, जिसे समझना और व्यवहार में प्रदर्शित करना, यद्यपि गणित में नहीं, असम्भव प्रायः प्रतीत होता है।

लेकिन आइन्स्टाइन कहते हैं कि 'साधारण बुद्धि' दरअसल उन बहुत-सी पक्षान्धताओं के संघट का नाम है, जो अठारह वर्ष की अवस्था से पहले व्यक्ति के मस्तिष्क में जड़ पकड़ जाती हैं, और जिनसे फिर आजीवन छुटकारा पाना बहुत मुश्किल हो जाता है। यही कारण है कि हम काल सम्बन्धी इस नयी असामान्य धारणा को पूर्णतया ग्रहण करने में सफल नहीं होते कि जिस 'बोध' को हम 'अब', 'यह क्षण' अथवा समय कहते हैं, उसका बाह्य जगत् में कोई अस्तित्व नहीं है। यह प्रत्येक व्यक्ति की अपनी निजी चेतना या अनुभूति का एक विशेष क्रम है, जिसका निर्माण वह घटनाओं को अपने हिसाब से आगे-पीछे रखकर कर लेता है। स्वयं काल का कोई निश्चित क्रम नहीं है, क्योंकि स्वयं काल का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है। वह तो केवल एक आयाम या प्रक्षेप है, उस चार आयामों वाली संयुक्त और अविभाज्य 'निरन्तरता' का, जिसका नाम ब्रह्माण्ड है और जिसके सम्पूर्ण स्वरूप को कल्पनाबद्ध करने में हम तीन आयामों वाले सीमित मनुष्य सर्वथा असमर्थ हैं! ●

और इस तरह यह आधुनिकता क्या है ? वही अकेलापन, वही हताशा, वही 'एंग्रीयंगमेन,' वही 'बीटनिक'। तभी तो आज हमें सहसा लगा कि मनुष्य 'छोटा' और 'कमीना' होता जा रहा है। 'क़फ़न' के लेखक प्रेमचन्द, 'हलाल का टुकड़ा' के लेखक यशपाल, 'पुरुष का भाग्य' के लेखक अज्ञेय और 'दुष्कर्मी' के लेखक इलाचन्द्र जोशी को भी जिस मनुष्य को छोटा और कमीना कहने की हिम्मत न हुई, उसे हमने कहा। क्योंकि हमने मनुष्य को पहली बार उसकी परम्परा, धर्म, दर्शन, संस्कृति से 'उखाड़कर' नये युगबोध और यथार्थ क्राइसिस के नाम पर उसे बिल्कुल अकेला और नंगा करके देखा। अपूर्व, नये और आधुनिक। वस्तुतः पश्चिम की आधुनिकता और हमारी उभरती हुई आधुनिकता में बहुत बड़ा अन्तर है। जो इस मूलगत भेद को नहीं समझता वह अपनी सारी प्रतिभा, सामाजिक चेतना के बावजूद अपने रचनाकार की हत्या करता है और समाज को बहुत बड़ी क्षति पहुँचाता है। 'नयी कविता' और 'नयी कहानी' के क्षेत्र में ऐसी कितनी प्रतिभाएँ चमकीं और झट विलुप्त हो गयीं। और आज कितने सुप्रसिद्ध रचनाकार इस कगार पर खड़े हैं, यह कितना करुण है ! वस्तुतः किसी देश, समाज की आधुनिकता वहीं की जीवन-चेतना सापेक्ष्य सत्य है—और इसे वही पा सकता है जो वहाँ के यथार्थ जीवन के साथ-ही-साथ वहाँ के श्रेष्ठ मानवीय आदर्शों और मूल्यों में भी जिया हो। और जिसकी चेतना में यह न्यायबुद्धि हो, दृष्टि हो कि मनुष्य केवल यथार्थ ही नहीं है, इसके आगे वह दार्शनिक है और अंत में वह रचनाकार है और इस तरह वह अपने जीवन-अस्तित्व के संघर्ष में विजयी है।

अपने व्यक्तिगत जीवन के दुःख, नैराश्य और अकेलेपन के ही बीच से अर्थात् इस मूल्यहीन परिप्रेक्ष्य में रचनाकार जब पूरे मनुष्य को देखने लगता है तो वह कला और जीवन दोनों के प्रति अपराध करता है। क्या इसी सत्य का यह करुण फल नहीं है कि पिछले दशक में अधिकांश नये कहानीकार वास्त-विकता और संघर्ष के विधेयात्मक पक्ष को उभारने की जगह निषेधात्मक पक्ष को ही उजागर करते रहे हैं और कहानी-रचना की अपेक्षा वे अपनी पिछली पीढ़ी के प्रतिनिधि कहानीकारों की कठोर आलोचना और निर्मम टिप्पणी करते रहे हैं। क्या इसी का यह करुण फल नहीं है कि उदीयमान कहानी-कारों की जो नयी पौध इधर उग रही है वह किस भयानक ढंग से 'एण्टी स्टोरी' के असामाजिक तत्त्वों के साथ हमारे सामने आ रही है ? वस्तुतः रचनाकार का सहज धरातल वह है जहाँ वह अपने व्यक्ति-गत जीवन की हताशा और निर्मम पराजय के भीतर से ऊपर उठकर उस महत् चेतना और विश्वास में उतरता है जहाँ वह सम्पूर्ण मनुष्य

और समाज से अपने हेतु भाव का अटूट सम्बन्ध अनुभव करता है। और तब जिसका यह विश्वास बनता है कि मैं अपने पूरे समाज के व्यक्तियों के प्रतिक्षण सहयोग और उनमें सम्पूर्ण आस्था के बिना एक क्षण भर भी नहीं जी सकूँगा।

अपने व्यक्तिगत जीवन की सीमाओं से ऊपर उठकर उस महत्तर चेतना की शक्ति ही किसी भी रचना को वह आन्तरिकता प्रदान करती है जिससे मनुष्य की सारी 'क्राइसिस' रचना ज्योति से उजागर और प्रज्वलित हो जाती है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी की शिल्पगत उपलब्धियाँ अनेक हैं। किन्तु उतनी विविध नहीं जितनी कि जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल और इलाचन्द्र काल की हैं। इसका एक निश्चित कारण यह है कि उस काल ने अपनी पूरी जागरूकता और कला-कौशल के साथ शिल्प के सफल प्रयोगों में अपना पूरा ध्यान दिया था। हम आज चाहे जितना अपने को उस शिल्पगत परम्परा और विरासत से मुक्त कहें पर यह सत्य है कि नयी कहानी जो अपने विचारगत, वस्तुगत तथ्यों में इतने प्रबल वेग से आज के पूरे साहित्य पर छा गयी, उसका एक व्यावहारिक रहस्य यह था कि उसे शिल्प की एक बेशक़ीमती विरासत अपनी पिछली पीढ़ी से सहज ही प्राप्त थी। इस भूमिका के बाद हमें अपनी शिल्पगत उपलब्धियों को देखना होगा।

वस्तुतः पिछली पीढ़ी की तरह इस नयी कहानी का आग्रह उस तरह शिल्प पर था ही नहीं। सारा आग्रह था जीवन पर। इस तरह उसकी अभिव्यक्ति में शिल्प उसके अनुरूप सहज ही जैसे स्वयं निर्मित होने लगा। अर्थात् शिल्प और जीवन की चेतना की अभिव्यक्ति दोनों जैसे पूरी कहानी के हेतु के कार्य-कारण बन गये। जो शिल्प पिछली पीढ़ी की कतिपय कहानियों में कृत्रिम और ओढ़ा हुआ लगता था वह यहाँ पहुँचकर सहज बन गया। इसके आगे यह भी सत्य है कि पिछले अनेक शिल्प-रूपों और रूढ़ ढाँचों को हमने तोड़कर सर्वथा एक नये शिल्प-स्तर पर जीवन को अपनी असीमता, वास्तविकता और विविधता में अभिव्यक्त होने का सहज ही व्यापक क्षेत्र दिया। किन्तु यह वही कार्य है जो हर नयी जागरूक पीढ़ी हमेशा से करती आयी है। यही कार्य प्रेमचन्द और प्रसाद-युग ने किया। फिर उस रूढ़ ढाँचे को तोड़कर यही अज्ञेय-जैनेन्द्र काल ने किया।

सो इस शिल्प-उपलब्धि में एक कलागत स्वातन्त्र्य का भाव हमने अर्जित किया—यह एक मुख्य बात है। अर्थात् कहानी हम आज किसी तरह से भी लिख सकते हैं—धुरी है वही जीवनगत संवेदना, उसकी रचनागत माँग। इसका एक सुन्दर फल यह हुआ है कि कहानी एवं इतर कला के अन्य रूपों के तत्त्वों से घुल-मिलकर एक मिश्रित शिल्प का उदय हुआ। 'रस-प्रिया', 'एक ओर ज़िन्दगी', 'एक कमज़ोर लड़की की कहानी', 'परीन्दे', 'दूध और दवा',

'सावित्री नम्बर दो' और इस तरह की अनेक कहानियों में संगीत, चित्र, कविता, डायरी, रेखाचित्र, संस्मरण, रिपोर्ताज तथा और भी कितने रंग मिले हैं।

सांकेतिकता के विभिन्न स्तरों का विकास आज की कहानी की विशेष उपलब्धि है। और मैं समझता हूँ, हर उत्तम कहानी की यह अनिवार्य विशेषता है। इस काल की कतिपय कहानियों में इस तत्त्व का प्रयोग बहुत ही व्यापक और गहन स्तरों पर हुआ है। किन्तु यह सत्य केवल उन्हीं कहानियों में उपलब्धि बनकर आया है जो लेखक के गहन जीवन-बोध, उसकी अर्थवान् भाषा और पूरे परिवेश के भीतर उसकी दृष्टि की निजता और पूरे यथार्थ की पकड़ के साथ रचित हैं।

इसी सन्दर्भ में यथार्थ के खण्ड के नये-नये पहलुओं को उभारने और उसके अन्दर जीवन की छोटी-छोटी अनुभूतियों के चित्रण की भी बात आती है। परन्तु आज की अधिकांश कहानियों में इसकी कलात्मक अन्विति नहीं हो पाती। इसका मुख्य कारण है लेखक की अनुभव की निजता और इससे भी ऊपर उसमें किसी बड़ी आस्था और जीवनगत विश्वास का अभाव। किन्तु 'एक और जिन्दगी', 'हुस्ना बीबी', 'दूध और दवा', 'परिन्दे', 'कर्मनाशा की हार', 'डिप्टी क्लक्टरी', 'सावित्री नम्बर दो' और 'सौत' आदि कहानियों में इस कलातत्व की परम सफलता देखी जा सकती है। मेरा विश्वास है इसकी सफलता कहानी में एक अतिरिक्त शक्ति ही नहीं देती वरन् इससे कहानी में अनुभूति की प्रखरता और ऊपर से बिखरी दिखती हुई कथा—स्थितियों को हेतु के ज्योति में उजागर करने की सहज क्षमता प्रदान करती है।

शिल्प के भीतर वस्तु-योजना की बात आज की कहानी का एक मुख्य विषय है। निश्चय ही इसकी योजना, भावुकता, काल्पनिकता से दूर जीवन की बहुमुखी 'क्राइसिस' के भीतर से हुआ है। यह वस्तु, इस संदर्भ में कहीं मात्र 'इक्सपीरियेन्स' के रूप में पूरी-की-पूरी कहानी में पिरोयी रहती है, कहीं वह कथास्थितियों की प्रक्रिया में उसके भीतर से रचित होती है, कहीं बिल्कुल परम्परागत कहानी की ही तरह इसकी अभिव्यक्ति होती है।

कथा-वस्तु के प्रसंग में कहानी की सूत्रात्मकता की दिशा में अनेक सफल प्रयोग हैं। सब कुछ पृष्ठभूमि में घट चुका है, बीत चुका है। कहानीकार बिलकुल एक साधारण-सी बात, घटना, नाजुक और लचीला-सा प्रसंग छेड़कर वर्तमान और बीते हुए क्षण और अबाध काल को एक में रँगता हुआ चला जाता है। बीच-बीच में कथा का सूत्र केवल कहीं-कहीं इस तरह झाँकता चलता है जैसे बादलों के बीच कभी चाँद-सूरज दिख जाता है और कहानी में नहीं बल्कि कहीं हमारे मानस में कहानी का सम्पूर्ण सूत्र जुड़ जाता है। 'पक्षाघात', 'एक और ज़िन्दगी' में शिल्प के स्तर से इसकी एक अद्भुत छवि है।

साधारण जीवन के साधारण संगठन से

ही विचार की अनुगूँज यह एक अन्य उपलब्धि है। इस प्रसंग में एक बहुत बड़ी 'क्राइसिस' वे लोग उत्पन्न कर रहे हैं जो न जाने कहाँ की वस्तु, आज हिन्दी कहानी में ला रहे हैं और महज़ अपनी छिछली-उधार ली हुई आधुनिकता के फ़ैशन में इस मूलभूत और सहज आधार को ही भ्रष्ट करना चाहते हैं।

भाषा और अभिव्यक्ति की प्रभावोत्पादकता इसका अन्य मूल्यवान् सत्य है। भावुक, रोमांटिक, काव्यमय, लाक्षणिक गद्य तो हमारी विरासत थी ही, पर आज की कहानी ने अपनी भाषा की अभिधाशक्ति को अपूर्व ढंग से बढ़ाया है। ठंडा और अनगढ़ गद्य, विशेषणों से मुक्त और इसके उपयोग में ज़बरदस्त संयम—यह बहुत बड़ी बात पैदा हुई है हिन्दी गद्य में, इस नयी कहानी के माध्यम से।

स्वतंत्रता के बाद की हिन्दी कहानी ने विचार, शिल्प और वस्तु आदि कई एक स्तरों से बहुत ही मूल्यवान् उपलब्धियाँ की हैं। नये संदर्भ, नये प्रयोग—पर इन सबसे महत् सत्य है वही जीवन, और उसके प्रति रचनाकार की अपनी दृष्टि, जिसके अभाव में वह मात्र अपनी ही रची हुई रूढ़ियों में ग्रस्त होता है और अपने को क्रांतिदर्शी, अति-आधुनिक और आचार्य सिद्ध करने का मोह उसे वास्तविक रचना की मर्यादा से, उसकी अबाध प्रयोगशीलता से नीचे उतार लेता है। और उस स्थिति में फिर वही रचना-शक्तियाँ उभरकर साहित्य की इस महत्त्वपूर्ण विधा पर छा जाती हैं जिनसे साहित्य और समाज दोनों की ही बहुत बड़ी क्षति होती है। ●

[पृष्ठ ९ का शेष : एक कहानी बनने वाली है....]

को पार करते हुए, क्या दोष है इस सबमें? मुझे नहीं मालूम, मैं यहाँ हूँ, बस मैं तो इतने से ही अवगत हूँ और साथ ही यह भी, मैं स्वयं नहीं हूँ, बस इतने से ही तुम्हें सन्तोष करना पड़ेगा। कहीं तन नहीं है, न मरने के कोई साधन हैं, छोड़ो इस सबको, बग़ैर इसका अर्थ जाने ही इस सबको छोड़ देने की इच्छा करना, वह सब, जल्दी ही कह दिया गया, जल्दी ही समाप्त हो गया, सब निरर्थक, नहीं, कुछ भी हिला-डुला नहीं है, न किसी ने मौन-भंग ही किया है। यहाँ, कुछ नहीं होगा, यहाँ कोई नहीं होगा, चिर-काल तक। विदाई, प्रस्थान-कथाएँ, ये कल के लिए नहीं हैं। और स्वर, कहीं से भी फूटते हों, जड़-मृत होते हैं।

[प्रतिभा द्वारा अँग्रेज़ी से रूपान्तरित]

देवतात्मा हिमालय (२)

०

'महाप्रस्थानेर पथे', 'रशियार डायरी' आदि प्रसिद्ध यात्रा-वर्णनों के लेखक, बँगला के विख्यात साहित्यकार श्री प्रबोधकुमार सान्याल की श्रेष्ठ कृति 'देवतात्मा हिमालय' की दूसरी क़िस्त। प्रस्तुत यात्रा-विवरण की देश-विदेश में काफ़ी चर्चा हुई है, और जर्मन तथा अँग्रेज़ी में इसके अनुवाद भी हो चुके हैं।

० ० ० ०

हमारे पूर्व प्रान्त में देवतात्मा हिमालय की जटा जैसे जगह-जगह खुली झूल रही है दक्षिण की ओर—इस अंचल में इसकी शाखा-प्रशाखाएँ वटकाई, लुसाई, नागा गारो, खसिया, जयन्तिया आदि नामों से परिचित हैं—वैसे ही उत्तर-पश्चिम के सीमान्त भारत में हिमालय का जटिल जटा-सम्भार हिन्दूकुश के दक्षिण भू-भाग में उतर आया है। ये सब बहुत-सी पर्वतश्रेणियों के विभिन्न नामों से परिचित होती हैं। यथा, चित्रल की शस्यश्यामला भू-सौन्दर्य-सम्पन्न सुषमामण्डित उपत्यका के पास कोहिस्तान और काफ़िरिस्तान, पंजसिर और सफ़ेद कोह—और पाघमान, चौचिखेल तथा मीरन शा—इसी प्रकार पर्वतराज की और भी बहुत-सी शाखाएँ सुलेमान पहाड़ की ओर चली गयी हैं। वैसे ये पुरातन काल से ही हिन्दूकुश और हिन्दूराज पर्वतमाला की शाखा-प्रशाखाओं की तरह परिचित हैं। भारत के सीमान्त में ये सदा से ही अचिह्नित रही हैं। कश्मीर की सीमा-रेखा के बारे में भी भारत ने सैकड़ों बरस तक कभी परवाह नहीं की थी। यही बात बलूचिस्तान,

हिमालय की छाया में

प्रबोधकुमार सान्याल

गिलगिट, पामीर, समग्र कश्मीर प्रदेश और असम की ओर के चीन तथा वर्मा के साथ हमारी सीमा-रेखाओं के बारे में भी सच है। जो सीमान्त अभी तक चलता आया है वही चल रहा है। आज भी तिब्बत-भारत, गिल-गिट, हिन्दूकुश-कश्मीर, भूटान-तिब्बत आदि की सीमाएँ एकदम साफ़-साफ़ चिह्नित नहीं हैं! अभी तक राष्ट्रीय कारणों से कोई समस्या नहीं उठी थी इसलिए भारत उदासीन बना रहा। अन्यथा, यह बात कितनी ही बार प्रमाणित हो चुकी है कि सम्पूर्ण हिमालय अपनी सारी शाखा-प्रशाखाओं सहित अखण्ड भारत की राष्ट्रीय सीमाओं में आता है। झगड़ा शुरू होता है अनगिनत उपत्यकाओं और अधित्यकाओं को लेकर। जो यह कहते हैं कि धर्मविश्वास से राष्ट्र की सीमाएँ बनती हैं वे भी बिलकुल ग़लत नहीं कहते। धर्मानुष्ठानों के विभिन्न मतवाद एवं क्रिया-प्रक्रियाओं से ही सामाजिक रीति-नीति और आचार-विचार बदलते रहते हैं। जैसे कि बौद्ध तिब्बत और शैव भारत में अन्तर है, तुर्क-ईरानियों से आर्यजाति का भेद है। इन भेदों से ही धीरे-धीरे राष्ट्रसीमाएँ भी बनी हैं। किसी ने हिमालय की उपत्यकाओं पर क़ब्ज़ा कर लिया तो किसी ने अधित्यकाओं पर। इसी तरह ये लोग अपनी-अपनी सीमाएँ फैलाते गये और उन्हीं में अचिह्नित राष्ट्रसीमाएँ भी बनती गयीं, अभी तक। पश्चिम तिब्बत के एक अंश पर से भारत का अधिकार कब मिटा यह इस युग में सचमुच गवेषणीय है। चित्रल राज्य से कश्मीर का विच्छेद कब और किस लिए हुआ—यह सवाल कोई उठाना ही नहीं चाहता अब!

गान्धार यदि कन्दहार बन गया है और पश्तो भाषा का प्रथम पाठ संस्कृत से आया है तब तो भारत की सांस्कृतिक सीमा अफ़गानिस्तान तक फैली है इसमें शक की गुंजाइश नहीं है। कौन नहीं जानता कि कभी गान्धार पारस्य के आंशिक भूभाग तक प्रसारित था—अफ़गानिस्तान के जन्म को तो अभी हुए ही कितने दिन हैं: किसी ज़माने में सिन्धु उर्फ़ हिन्दू देश की सीमा भी तो पारस तक प्रसारित थी। भारत की सभ्यता का विस्तार भी तो हमेशा हिमालय को केन्द्र बनाकर हुआ है। हिमालय से नदियाँ उतरी हैं और उन्हीं के साथ आर्य-संस्कृति भी। आजकल इस संस्कृति का एक छोर है सिन्धु तो दूसरा ब्रह्मपुत्र। इन्हीं के आसपास फैली है हिमालय की शाखा-प्रशाखाएँ।

०

पेशावर से रवाना होते वक़्त मेरे मन में यही नक़्शा था। मेरा प्रधान आकर्षण था उत्तर-पश्चिम हिमालय देखना। मालूम है कि लक्ष्य अस्पष्ट और अनिश्चित था किन्तु उद्दीपना कम नहीं थी। बचपन में जब रूपकथा के राजकुमार की बातें सुनता था तब हिमालय का नाम भी सुनने में नहीं आता था। वह मेरे मन में केवल एक प्रश्न के रूप में समाया रहता था। उम्र बढ़ने के साथ ही समझा कि रूपकथा में सब-कुछ है केवल हिमालय नहीं

है। न रहने का कारण भी है। बंगालियों की कल्पना एक चीज़ है, शारीरिक शक्ति बिलकुल दूसरी।

रात के नौ बजे रावलपिण्डी छावनी से गाड़ी पेशावर की ओर चल पड़ी। कड़ाके की सर्दी थी उस दिन। अनजाना देश, अपरिचित पथ, उत्तरी पहाड़ी प्रदेश में प्रसारित। जो भी हो, गाड़ी चल तो पड़ी लेकिन जैसे चलना नहीं चाहती थी, मानो थके पहिए निद्रालु हो उठे हों। बाहर कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा। काली रात ने भी इसी बीच आँखें बन्द कर ली हैं। गाड़ी के नीचे पहियों का घनघर्षण कान लगाकर सुनता तो लगता कि दुर्घटना होनेवाली है। लम्बी-चौड़ी देह के तुर्क-ईरानी-अफ़रीदी जब लाल-लाल सेब चबाते हैं तो उनके दोनों जबड़ों की चमचमाती दंतपक्तियों के घर्षण में भी ऐसी ही आवाज़ होती है। नज़दीक से देखने पर मेरे जैसे बंगाली छोकरे को डर लगता है। उस रात गाड़ी में मेरे साथ दो-चार हमसफ़र सवार हिन्दुस्तानी हैं, इतना तो पता था लेकिन उनकी आदतों, आचार-विचारों से तो मेरा कहीं भी मेल नहीं बैठता था। उनकी देह की बू और साँसों में मानो इस अंचल का गुप्त इतिहास छिपा है। शक, हूण, तुर्की-तातार यहाँ तक कि ग्रीक-विजय की भी याद आ जाती है। याद आया नादिरशाह, चिगिस खान और ग़ज़नी का महमूद। जैसा विशाल शरीर है वैसे ही विस्मयकर नयन, जिनमें अक्सर सुर्मई रेखाएँ खिची रहती हैं। कटो-सँवरी दाढ़ी में प्रायः मेंहदी का रंग, छोटी-छोटी मूँछें, धारदार छुरी जैसी। बाँह जितनी लम्बी उतनी ही कड़ी और चौड़ी, मज़बूत कलाई के आगे अँगुलियाँ तो ऐसी कि देखते ही डर लगे। सच कहने में क्या झिझक, डर तो मेरे साथ-ही-साथ यात्री बना बैठा था। नयी जगह के नाम से ही मुझे डर लगता है। लेकिन भय से ही मेरी सारी उद्दीपना भी जन्मती है। उस उनींदी गाड़ी की धीमी-धीमी चाल से आगे बढ़ते मेरे शरीर में सिर्फ़ जाड़े की ही नहीं, डर की भी कँपकँपी थी। रोशनी इतनी धुँधली थी कि आसपास काठ की दीवारों पर दानवीय देहों की भयावनी परछाइयाँ पड़ने लगीं। हरेक के पास एक हुक्का। चिलम सजाने की सामग्री तो साथ-साथ लगी फिरती है। लोहे की ज़ंजीरों से बँधे चिलम-चिमटे, जिनके पैने नुकीले नग्न भागों की ओर देख-देख गला सूख जाता है।

तब भी मुझे जाना ही होगा। यही तो मेरी नियति का निर्देश है। काफीरिस्तान से कोहिस्तान कहाँ-किस पहाड़ में मिलता है, यह मुझे देखना ही होगा। अपने बचपन में भूगोल में पढ़ी काराकोरम पर्वत-श्रेणी गिलगिट के उत्तर से गुज़रती हिन्दूकुश-गिरिमाला में कहाँ जुड़ी, यह देखे बिना मेरा काम जो नहीं चलेगा! उनके दक्षिणी भूभाग से आता है सिन्धुनद। कैलाश से शुरू की है उसने अपनी मंज़िल। अनगिनत गिरि-गह्वर पार करता लद्दाख के आसपास से गुजरता वह उत्तुंग नंगा-पर्वत के तले गिलगिट आ पहुँचा है। यहाँ से

उत्तर की ओर देखिये तो रूस, और दक्षिण में भारत – फिर हुंजा और दक्षिण पामीर से होता हज़ारा जिले में आ जाता है और फिर इसी अँधेरे रास्ते में, जहाँ से आज मैं गुज़र रहा हूँ।

तक्षशिला उतरने की बात थी, वहाँ से हवेलियन और एबटाबाद जाने की सुविधा है। इतना याद है कि तक्षशिला की सांग्राहिकी (म्युज़ियम) के अध्यक्ष एक बंगाली सज्जन हैं। दो ही तो घर हैं बंगालियों के वहाँ। लेकिन पहले खबर नहीं भेजी थी सो उतरा भी नहीं। तक्षशिला से गाड़ी अटक की ओर बढ़ी। अटक के आगे पड़ता कैम्पबेलपुर। वहाँ से पश्चिम में कोहाट और दक्षिण में सीधे सिन्धु के किनारे-किनारे सारा पंजाब, सीमान्त पार का मुल्तान और बहावलपुर होते सिन्धु देश। पर मुझे तो यह देखना था कि हिन्दूकुश और काराकोरम मिलाकर पूर्व अफ़गानिस्तान तक जो एक बड़ा भूभाग है उस पर आज से एक हज़ार साल पहले जयपाल का राज्य था। काबुल और कुनार नदियों के किनारे-किनारे उस ज़माने के राजवंशों के अगणित नर-कंकाल बालू और कंकड़ों के नीचे दबे पड़े हैं। कौतूहल मुझे एक रास्ते से दूसरे रास्ते पर हमेशा ले जाता रहा है।

अफ़रीदी डाकुओं का तो इधर यह हाल कि गहन अँधेरी रातों में कैम्पबेल से पहले कहीं भी गाड़ी रोकने का हुक्म नहीं है। बहुत ही ज़रूरी हो और पहरे का पूरा बन्दोबस्त हो तभी रात में इस लाइन पर औरतें यात्रा कर पाती हैं। सरकार ने पहले से कह रखा है कि इस मामले में वह कोई ज़िम्मेवारी नहीं लेती। लालच और गुण्डा-गीरी नहीं, यह एक ज़रूरत की बात है। पश्चिमी पंजाब से पूर्वी अफ़गानिस्तान तक औरतों की तादाद मर्दों से बहुत ही कम है। जिनके घर में औरतों की संख्या अधिक है उन्हीं को यहाँ आभिजात्य प्राप्त है। इन लोगों ने अपरिमित शक्तिशाली अँगरेज़ों के जगद्व्यापी सामरिक आयोजन से कभी हार नहीं मानी किन्तु घर के कामकाज में निपुण मृगनयनी के मधुर शासन के ये लोग क्रीत-दास बने रहते हैं। जब ये लूटमार करते हैं तो सबसे पहले औरतों पर नज़र डालते हैं। स्वभावतः ये लोग 'कुलच्छन' हैं सो किसी तरह किसी की सुख-शान्तिमयी गिरस्ती सह

***

शरीफ़ों के लिए

२४ दिसम्बर १९२१ को प्रिन्स-ऑफ़-वेल्स कलकत्ता पधारे। उस दिन सम्पूर्ण महानगरीमें हड़ताल थी। देश के बड़े-बड़े नेता गिरफ़्तार हो चुके थे। हज़ारों कांग्रेसी पकड़े जा रहे थे। उन्हीं दिनों शरदचन्द्र चटर्जी हावड़ा-कांग्रेस कमेटी के कर्मठ सदस्य थे। अतः शरत् बाबू ने अपने सहयोगी हेमन्त बाबू से पूछा, "क्यों जी, जेल में अफ़ीम खाया जा सकता है ?"

हेमन्त सरकार ने कहा, "जी नहीं।"

***

नहीं पाते। शान्तिप्रिय नागरिकों की बस्तियों पर हमला करके ये उनके घर-द्वार जला डालते हैं और बहू-बेटियों का अपहरण कर अपने यहाँ जन्म भर उनकी क़दमबोसी करते रहते हैं। रावलपिण्डी से मरी पहाड़ के रास्ते में देखा था कि एक कटाक्षपात-निपुणा रमणी को खुश करने के लिए कम-से-कम सौ मर्दों के आँख-मुँह कैसे चमक रहे थे! मोटर-ड्राइवर ने भाड़ा नहीं लिया। दूकानदार ने बिलाक़ीमत खाना जुटा दिया, भिखारी ने खुशी-खुशी गाना सुनाया, क़ुलियों ने सामान ढो दिया, उसकी थोड़ी भी सेवा कर पाने से मानो सब कृतार्थ हो रहे हों। औरतें हैं जो नहीं हैं उनके यहाँ। औरतों की उन्हें बड़ी ज़रूरत जो है!

आधी रात गये कृष्णपक्ष का चाँद निकल आया। धुँधली रोशनी और धुँधलके से व्याप्त परिपार्श्व। किन्तु उस झुटपुटे में भी परछाइयाँ साफ़ नज़र पड़ती हैं। बालू और पत्थरों पर पर्वतश्रेणी-बस्ती का कहीं नामोनिशाँ तक नहीं। पानी, मिट्टी, आशा-विश्वास, स्नेह की छाया—कहीं-कुछ भी तो नहीं दीख पड़ता, कँटीली झाड़ियों में, जंगली खजूरों के झुरमुट में। घूम-घूमकर थकी-थकाई नज़रें फिर अपने पास ही लौट आतीं। पता नहीं आज उस अंचल में कितने परिवर्तन हो चुके हैं।

गाड़ी अटक की ओर बढ़ी। यह गोरों की छावनी है लेकिन अन्धेरे में ख़ास कुछ दिखाई नहीं पड़ा। कान लगाते ही हथियारों की झनझनाहट, गोली-बारूद के बक्सों की खेंचखाँच सुनाई दे जाती है, अथवा हुक्के की चिलम से बँधी ज़ंजीर में लगे चिमटे की आवाज़। चारों ओर एक गन्ध फैली है जो हिन्दुस्तानियों के लिए बिलकुल अनजानी है। यह गन्ध उनके तमाखू में, स्वभाव में, जंगलीपन में, खूँख्वारी में, और पहाड़ी रूक्षता में बस गई है। हमलोग अटक की ओर आ गये हैं। इसके बाद ही सिन्धुनद का पुल है। किन्तु रावलपिण्डी के ब्राउन लो स्ट्रीट वाले मेस के अड्डे पर और उसके बाद वेस्टरीज के पास रहते-रहते सुन चुका हूँ कि इस प्रदेश की सीमाएँ भी केवल अनियन्त्रित ही नहीं अचिह्नित भी हैं। कोहिस्तान के नीचे से हथियारबन्द अफ़रीदी डाकू काबुल पार कर अटक के पुल के चारों ओर लूट करने आते हैं। इतिहास कहता है, ठीक यहीं से यूनानी सम्राट् 'सिकन्दर' ने भारत पर हमला किया था।

***

"तम्बाकू पी सकते हैं?"

"जी नहीं।"

"तब भइया, मैं जेल नहीं जा सकूँगा।"

देशबन्धु चित्तरंजनदास ने, जो इन दोनों की बातें सुन रहे थे, पूछा, "क्या मतलब?"

"अरे धत्त! जेलख़ाना शरीफ़ों के लिए नहीं है। मुझसे वहाँ नहीं रहा जायेगा। सरकार की तोप के सामने जाकर मैं खड़ा हो सकता हूँ, पर उस कबाड़ख़ाने में जाकर दिन-रात मक्खी मारना मुझसे नहीं होगा।"

हिमालय की छाया में : प्रबोधकुमार सान्याल

***

अफ़रीदी लूटते हैं ट्रेन, फ़सल और हथियार, द्रव्य और दयिता – अगर हाथ के नज़दीक हों। पर्वत-कन्दराओं में छिपे रहते हैं। वे झाड़ियों में पड़े रहते हैं। वे वहीं से रायफल चलाते हैं और कौन नहीं जानता कि उनके निशाने अचूक होते हैं। एक सौ वर्ष से ये लोग अँगरेज़ों को परेशान किये हैं, तोप-बन्दूकें और हवाई-जहाज़ों की थोड़ी भी परवाह नहीं करते। उनके लिए मारकाट, खून-खच्चर की कोई क़ीमत नहीं। अशान्ति और आक्रमण उनके स्वभाव में आ गए हैं। हिमालय के पत्थरों से उन्हें कठिन स्वभाव मिला है। ऊसर-धूसर कँकरीले प्रदेशों की रूक्षता से पाई है बेरहमी। ये लोग मार खाकर मरे हैं या भाग गये हैं किन्तु हार कभी नहीं मानी। सगे भाई को गोली मार सकते हैं, सन्तान की हत्या कर सकते हैं, पिता के प्राण ले सकते हैं किन्तु स्वाधीनता का मर्यादा-बोध कभी नहीं छोड़ते। उच्छृंखलता के मज़े छोड़कर नागरिक सभ्यता के सामने मुट्ठी भर भीख के लिए ये कभी हाथ नहीं बढ़ा पाते। हमेशा से ये यही सुनते आ रहे हैं कि वे बर्बर हैं, निर्दय हैं, सभ्य समाज के पास खड़े होने लायक़ नहीं, न उनका कोई अपना समाज है न संस्कृति। इस अपशय की कालिमा को ये लोग अभी तक धारण किये चले आ रहे हैं, फिर भी अँगरेज़ों को आत्म-विक्रय नहीं करते। भय से अश्रद्धा जन्मती है, कौन नहीं जानता। कोई भी अँगरेज़ टामी किसी भी विशालकाय अफ़रीदी के सामने खड़ा होकर काँप उठता है। इतना क्षुद्र है, इतना मामूली है वह इनके सामने। अँगरेज़ इनसे डरते हैं इसलिए अश्रद्धेय प्रचार करते फिरते थे। अफ़गानियों से उन्हें लड़ाने के लिए और सीमान्त पर पहरा देने के कूटनीतिक कारणों से अँगरेज़ों ने उन लोगों के बीच डूरेण्ड लाइन खींची थी। किन्तु इससे राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक किसी भी प्रकार का विच्छेद नहीं हो सका। लैण्डीकोटल की सराय में यदि आज भी कोई अफ़गानी आ खड़ा हो तो उसे वहाँ के सभी अपने जान पड़ते हैं, बेगाने नहीं, जैसे आज कलकत्ते का आदमी रैडक्लिफ़ लाइन पार करके ढाका में जा खड़ा हो तो वह अपनों को पहचान सकता है। आपस में फूट डालने की कुकीर्ति अँगरेज़ों के लिए नयी नहीं है—आयरलैण्ड, पैलेस्टाइन, स्पेन, बोर्नियो, कोरिया, और अन्य कितनी ही जगह जहाँ कि अँगरेज़ी साम्राज्य पर सूर्यास्त नहीं होता कभी।

कैम्पबेलपुर के बाद जब देखा कि डिब्बे में और कोई नहीं है तो सारी देह सिहर उठी। गाड़ी सिन्धु-नद पार कर पश्चिम की ओर बढ़ी। पीछे की ओर क्षय-क्षत धुँधली चाँदनी में हर पहाड़ पर एक तरह की मलिनता उभर आई है। इसको स्वप्नोन्मीलित भाव कहना ग़लत नहीं होगा मानो यह एक तरह की मौत की पाण्डुरता छा रही हो। हिमालय में और कहीं भी ऐसी निर्जीव जड़ता नज़र नहीं पड़ती। पार्वत्य प्रकृति का ऐसा कुटिल विद्वेष, ऐसी हिंस्र भृकुटि और कहीं नहीं देखेंगे आप। मैं बहुत थका था। दुनिया

भर की नींद मुझे घेरे थी। किन्तु आँख लगते ही तो दुर्भावनाओं का अन्त नहीं रहता। निद्रा का अथ ही पर-निर्भरता है जिसे कि आत्मविलोप कहते हैं। अपने ऊपर क़ाबू रखने के लिए ही तो जगा रहना ज़रूरी है। इसलिए दोनों आँखें फाड़-फाड़कर मुझे वह सारी हिमाच्छन्न रात आँखों-ही-आँखों में काट देनी पड़ी। खिड़की से बाहर एकटक ताकते हुए वह हिमाच्छन्न रात का मृत्युमलिन मुखड़ा निष्प्राण प्रार्वत्य प्रदेश के ऊपर से गुज़रता हुआ देखता रहा मैं। शायद ही फिर कभी ऐसा अवास्तव दृश्य मेरी नज़र में पड़ेगा!

रात के तीसरे प्रहर नौशेरा पार कर गई गाड़ी। सोचने में बड़ा अच्छा लग रहा है। महाभारत के गान्धार राज्य को लाँघता जा रहा हूँ। चन्द्रवंशियों का वह शासन जब कि उनकी राजधानी का नाम था पुरुषपुर, यानी आज का पेशावर। उसके बाद यहाँ बौद्ध सभ्यता आई, असंख्य बौद्ध शास्त्रकारों की जन्मभूमि बनी यह। पुरुषपुर उस ज़माने में आर्यावर्त और बौद्ध सभ्यता का लीला-निकेतन था। सैकड़ों बौद्ध मठ और देवल सारे प्रदेश में छा गये और इसे तीर्थस्थान बना डाला। यूनानी और बौद्ध प्रस्तर-शिल्प का उदय इसी अंचल में हुआ था। भारत की मूर्त्तिकला का जन्म सबसे पहली बार यहीं हुआ था।

पेशावर की गोरा-छावनी में गाड़ी पहुँची तो पौ फट चुकी थी। उषा की प्रथम रेखा तब तक मेरी निगाह में नहीं पड़ी थी। आँखें बन्द किए मेरा भूखा मन डेढ़ हज़ार मील दूर चला गया था, जहाँ कि मेरे शयन-गृह की खिड़की से चौधरी-घर के नारियल के दो पेड़ और उनका हरसिंगार दिखाई पड़ते थे। सुबह की पहली रोशनी उन्हीं से छन-छन कर आती है। आश्चर्य, यात्रा में रहूँ तो घर की याद बरबस आ जाती है और घर बैठने पर यात्रा का आनन्द अस्थिर कर देती है!

०

जाड़े ने पकड़ लिया है। ओवरकोट के नीचे अगर एक पुलओवर और होता तो यहाँ कितना काम देता। दोनों पैर सुन्न पड़ गये हैं। कुछ हरकत नहीं की तो देह में गरमी नहीं आयेगी। बहुत कोशिश करने पर एक प्याला चाय जुटा पाया। गोरा-छावनी स्टेशन तो फिर भी कुछ साफ़-सुथरा है, सिटी स्टेशन तो जितना गन्दा है उतनी ही वहाँ मलिनों की भीड़ भी है। यहाँ के पुलिस साहब बंगाली हैं। इनका लड़का रावलपिण्डी में साथ रह चुका है। एक विख्यात बंगाली डॉक्टर भी हैं। बड़े ही अतिथि-वत्सल, नाम है चारुचन्द्र घोष। उनके प्रभाव, प्रताप और प्रतिष्ठा यहाँ सर्वविदित हैं। सैन्य-विभाग और सामरिक हिसाब-विभाग में कुछ बंगाली वहाँ थे। उन्हीं की बस्ती को 'बाबू मुहल्ला' कहते हैं। बाबू माने बंगाली और बंगाली जहाँ होंगे वहाँ एक काली-बाड़ी अवश्य होगी। लाहौर, रावलपिण्डी, अमृतसर कहाँ नहीं है काली-बाड़ी? बाद में पता चला कि इन काली-बाड़ियों के प्रतिष्ठाता थे दिगम्बर मुखोपाध्याय, चौबीस-परगना ज़िला के

निवासी। शायद ये प्रतिष्ठान आज भी खड़े हों किन्तु उनमें न काली होगी, न बंगाली। सामरिक हिसाब-विभाग के कर्मचारी के नाम पर बनी शशिभूषण चटर्जी स्ट्रीट भी अब शायद ही वहाँ बाक़ी हो। पश्चिम पंजाब (आधुनिक पश्चिमी पाकिस्तान) में बंगाली हिन्दुओं के कितने ही प्रतिष्ठान थे—स्कूल, पाठशाला, नाट्य-समिति, प्रसूतिगृह, शिवमंदिर, जलाशय, दातव्य औषधालय। आज क्या वे हैं, क्या पता। शायद उनके नामोनिशाँ न मिलें ढूढ़ने पर भी।

छावनी और सिटी—दोनों में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ है। एक विलायती है तो दूसरा देशी। एक पाश्चात्य है तो दूसरा प्राच्य। कौन नहीं जानता कि पहाड़ी लोग कुछ गन्दे होते हैं, मैले-कुचैले, हाथ-पैरों पर मानों मैल जमा, मुँह और सिर भी साफ़ नहीं। सारे हिमालय में इसमें कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। असम में जो देखिएगा वही गढ़वाल के पहाड़ी रास्तों पर भी। कुमायूँनियों की देह पर जो मलिनता दीखेगी वही लद्दाख के पथ में भी। जिस्म में ताक़त की कमी नहीं है। जानवर की तरह मेहनत में जुट सकते हैं किन्तु चिरन्तन दारिद्रय की छाप सर्वत्र लगी है। मसूरी में मेरा एक रसोइया था गोवर्धन सिंह। बहुत ही बढ़िया खाना बनाता था। उसे कलकत्ता आने के लिए कहा। कभी राज़ी नहीं हुआ। मसूरी के पहाड़ी रास्ते चलने पर देवप्रयाग की ओर अपने घर वह चार दिन में पहुँचता था, लेकिन हज़ार रुपये की तनख़ाह पर भी गर्म मुल्क में आने को तैयार नहीं था। यही हाल पेशावरियों का भी है। गर्मियों में प्रखर ताप से सारा उत्तर-पश्चिम सीमान्त, सुलेमान पहाड़ का पूर्वी हिस्सा, समग्र सिन्ध का और बिलोचिस्तान का रेतीला-पथरीला प्रदेश जल-भुन जाता है किन्तु संध्या के बाद इतनी ठण्ड पड़ती है कि कँपकँपी आ आये। यह ठण्ड और हल्की हवा की पर्त ही उन्हें संजीवित रखती है। वे तकलीफ़ पाते हैं, हाँफते नहीं। जाड़े की रातों में कड़ाके की सर्दी में पेड़ के परिन्दे, मैदान के दरिन्दे और घरों के बाशिन्दे मर ही क्यों न जायें, लेकिन गरम मुल्क में नहीं जायेंगे।

सुबह की चढ़ती धूप। स्टेशन से बाहर आते ही टूटा-फूटा पेशावर दिखायी पड़ा। सब-कुछ बदल गया है। पश्चिम पंजाब के साथ सीमान्त का कोई मेल नहीं। सारा भारत एक तरफ़ और यह दूसरी तरफ़। वे लोग सिन्धु नदी के उस पार के प्रदेश को हिन्दुस्तान बोलते हैं। हज़ारों साल से यही बोलते आये हैं। आज ही नयी बात नहीं है कोई। पश्चिम पंजाब के मुसलमान भी उनके लिए भिन्न-देशी हैं। इनसे उनका नाड़ी-सम्बन्ध नहीं है, थोड़ा भी। पाकिस्तान के मुसलमान भी इनके लिए हिन्दुस्तानी हैं दुश्मन हैं, ज़बरदस्ती उनका इलाक़ा हथियाये बैठे हैं। पेशावर में उतरते ही ये बातें सुनाई पड़ेंगी। उनके चेहरे पर शक, अजीब-से व्यंग्य-कौतुक झलकते हैं। मनोवृत्ति असहयोगी।

काफ़ीखाने के सामने खड़े होते ही उनकी भवों पर उपेक्षा और बैर - भाव झलक पड़ते हैं। खाने की दुकान भी पूछिये तो कोई नहीं बतायेगा। ताँगेवाले को ठहराना चाहें तो सुनी-अनसुनी कर आगे बढ़ जायेगा। पुलिस से कुछ पूछिये तो वह भी नाराज़गी दिखाती है। हम हिन्दुस्तानी—हिन्दू हों या मुसलमान—उनके दुश्मन हैं। स्टेशन के बाहर आते ही एक हिन्दुस्तानी मुसलमान से यहाँ के हाल-चाल पूछे तो बोला, स्टेशन से शुरू होती यह सड़क आगे खजूरोंवाले मैदान तक जाती है। ख़बरदार! उसके आस-पास न गुज़रियेगा। वह सरकारी इलाक़े से बाहर है (मानो चौरंगी तो सरकारी इलाक़ा है और मैदान की ओर क़दम बढ़ाये कि मुसीबतें टूटीं सर पर) रेल और मोटर का रास्ता हमारा है, मैदान का उनका। वे असभ्य अफ़रीदी हैं, उनका यक़ीन न करियेगा!

उनकी यह बात सुनते ही सहम गया था। क़दम-क़दम पर शुबहा। यहाँ ज़िन्दगी इतनी बेऐतबार है! ऊँटों का काफ़िला चला आ रहा है। घिरी कनात के अन्दर और बाहर हर आदमी के हाथों में राइफल है। कुली के हाथों में राइफल, होटलवालों के हाथों में, चरवाहे के भी हाथों में। रास्ते पर घोड़े और ऊँट चरते फिरते हैं। घने रोंयेदार दुम्बा और बड़े-बड़े मुर्ग़े। सड़क के किनारे ही खानाबदोश तुर्क-इरानियों के तम्बू गड़े हैं। किसी औरत का सारा शरीर काले आलखल्ला से ढँका है, सिवाय मुँह के और कोई भी तिरछी रेखाएँ या गोलाइयाँ नहीं दिखायी पड़ती हैं। इन्हीं में सुर्मा लगानेवाले काबुली आसानी से घुलमिल जाते हैं। उनके हाथों में भी दुनाली बन्दूक़ है। ये मुर्ग़ी को नाख़ूनों से चीरते हैं, बछड़ों को चाक़ू से काट डालते हैं। दाँतों से ख़ाल उखाड़ते हैं और कच्चा माँस झोली में रोटियों के साथ बाँधकर ऊँट के ऊपर जा बैठते हैं। बस, चल दिए एक मुल्क से दूसरे मुल्क। हिन्दूकुश, पामीर और काराकोरम लाँघकर इयारबन्द और खोताना नदी पार कर सीधा मध्य-एशिया को, ताकला-माकान का रास्ता पकड़ा और सीधे मंगोलिया पहुँच गये। (क्रमशः)

● ● ●

सूचना

लेखकों से सूचनार्थ निवेदन है कि केवल स्वीकृत रचनाओं की सूचना दी जाती है, और केवल वही अस्वीकृत रचनाएँ लौटायी जाती हैं जिनके साथ आवश्यक टिकट होता है।

—सम्पादक
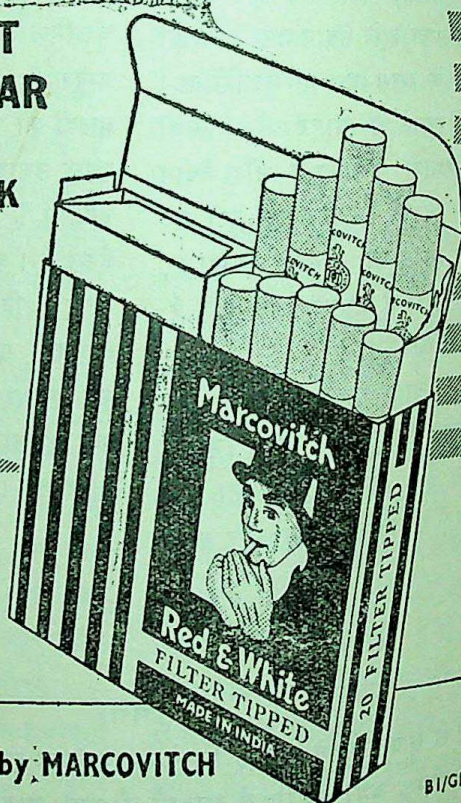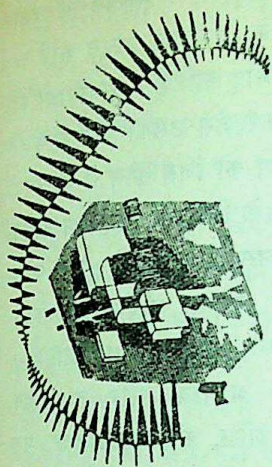
छोटे-छोटे ताजमहल

लेखक : राजेन्द्र यादव; प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली; पृष्ठ-संख्या : २१२; मूल्य : ३.५०

'छोटे-छोटे ताजमहल' राजेन्द्र यादव का पाचवाँ कहानी-संग्रह है जिसमें उनकी '५८–'६० के बीच लिखी गई दस कहानियाँ संकलित हैं।

राजेन्द्र यादव उन कहानीकारों में से हैं जिन्होंने नई कहानी के निर्माण में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। 'नई कहानी' का रूप सँवारने और उसके अस्तित्व को सार्थकता देने में उन्होंने योजना-बद्ध प्रयास किया है। कहानियों की देशी-विदेशी परम्परा को आत्मसात् करके अपने समाज की समस्याओं और अनुभूतियों को उन्होंने कौशल और आत्मीयता से उरेहा है। व्यक्ति को समग्रता में देखने का आग्रह, उसके परिवेश का सम्पूर्ण आकलन, समाज और परिवेश की समस्याओं को सामने से पकड़ने की प्रवृत्ति, अर्थहीन और निर्जीव मान्यताओं के विरुद्ध आस्थापूर्ण स्वर, विम्बों और प्रतीकों को ग्रहण करके कहानी को अधिक सांकेतिक, कलापूर्ण और अर्थसम्पन्न बनाने का प्रयास एवं जटिल और दुर्बोध के चित्रण और प्रस्तुतीकरण के प्रति स्वाभाविक आग्रह आदि ये कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो आज की कहानी की विशेषताओं के तौर पर प्रस्तुत की जा सकती हैं। राजेन्द्र यादव की कहानियों में वे अपने श्रेष्ठतम रूप में उपलब्ध हैं।

सा हि त्या र्च न

शिल्प सम्बन्धी-प्रयोग प्रस्तुत संग्रह की पहली और अन्तिम—'नये-नये आने वाले' और 'छोटे-छोटे ताजमहल'—कहानियों में मिलता है। परन्तु पहली कहानी का शिल्प, मोनोलॉग की कृत्रिम शैली के कारण, आरोपित और चमत्कारपूर्ण अधिक हो गया है। 'छोटे-छोटे ताजमहल' (जिसके आधार पर संग्रह का नामकरण हुआ है और जो इधर राजेन्द्र यादव की बहुचर्चित कहानियों में रही है) बारीक पच्चीकारी और अनुभूति की गहनता से पूर्ण, दोहरी अर्थवत्ता से सम्पन्न, एक श्रेष्ठ और सफल कहानी है। महत्त्वाकांक्षाओं और सपनों के ध्वस्त होने की ट्रेजेडी का माहौल मौत का-सा ही माहौल होगा, उस माहौल को लेखक तटस्थ और निर्विकार भाव से आँक सका है, यही उसकी सफलता है।

मध्यवर्गीय जीवन की कितनी ही समस्याओं को—पारिवारिक कलह, पति-पत्नी के असमान मानसिक स्तर से उत्पन्न कुण्ठाएँ, अन्तर्जातीय विवाह की गले पड़ी हड्डी (जो न अन्दर आती है, न बाहर जाती है!) की अनुभूति, मकान के लिए चरन जैसे मध्यवर्गीय व्यक्ति को किस प्रकार अपने को छोटा कर लेना होता है, जैसे लघुता के आगे घुटने टेकने की हर हरकत और स्थिति के आगे मकान के सामने का पेड़ सवालिया निशान उभारता है और सामन्तवादी अमानुषिकता आदि का चित्रण क्रमशः 'पहली कविता', 'पास-फेल', 'प्रश्नवाचक पेड़' और 'तलवार पाँच हजारी' कहानियों के माध्यम से हुआ है। समस्याओं के समाधान प्रस्तुत करने का लेखक को कोई मोह नहीं है। समस्याओं को सिर्फ़ आकार देकर जैसे उसका कार्य खत्म हो जाता है। समस्या को जिस कोण से वह स्वयं देखता है पाठकों के लिए भी वह कोण प्रस्तुत कर देना और उसकी आँख को उस कोण तक ले आने के प्रयास और आग्रह में ही उसके प्रयास की सफलता-सार्थकता है। पुरानी पीढ़ी के आचार्यों और तथाकथित विश्वविद्यालयी शोध की छीछालेदर पर व्यंग भी एकाधिक कहानियों के माध्यम से उभरा है।

परन्तु आश्चर्य होता है कि एक ही काल की कहानियों में भी गुण और कला की दृष्टि से इतनी अधिक विषमता और अन्तर कैसे सम्भव है। संग्रह में जहाँ एक ओर 'छोटे-छोटे ताजमहल', 'प्रश्नवाचक पेड़' और 'खेल' जैसी कलापूर्ण और श्रेष्ठ कहानियाँ संकलित हैं वहीं 'मज़ाक़' जैसी कहानी भी जो अन्त तक आते-आते महज़ निष्फल व्यंग की प्रभावहीन कहानी बनकर रह गई है।

अन्त में इतना और कि संग्रह में बहुत-सी कहानियाँ ऐसी हैं जो हमारी पीढ़ी की अनुभूतियों और समस्याओं को उरेहती हैं, नई कहानी के निर्माण की ऐतिहासिक प्रक्रिया को स्पष्ट करती हैं, और उसे समझने-परखने और विश्लेषण के लिए आमन्त्रित करती हैं!

—मधुरेश

घाटियाँ गूँजती हैं

लेखक : डॉ० शिवप्रसाद सिंह; प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ; पृष्ठ-संख्या १११; मूल्य : २.५०

कई साल पहले श्री जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क' नाटक पढ़कर मुझ पर एक प्रसन्नता का उन्माद छाया हुआ था। और मुझे भय था कि फिर कभी वह उन्माद मैं पा सकूँगा या नहीं ? सौभाग्य से मेरा वह भय निर्मूल सिद्ध हुआ, और मुझे यह लिखते हुए बड़ी प्रसन्नता होती है कि हिन्दी में मुझे फिर एक बार ऐसा नाटक पढ़ने को मिला है जिसका जादू मेरे सर पर चढ़कर बोलता है। नाटक है—'घाटियाँ गूँजती हैं'।

नाटक में तीन अंक हैं और तीन दृश्य। पहले अंक की घटना—तेजपुर के एक होटल के बरामदे में घटती है। श्री विवेक-कुमार रॉय एक पत्रकार हैं, संवाददाता हैं। चीनी आक्रमण की आँखों-देखी खबरें अपने पत्र को भेजने के लिए वे तेजपुर पहुँचे हैं। बोमदि-ला पर होनेवाले आक्रमण की सूचना मिलते ही तेजपुर की सेना के कैप्टन से परमिट लेकर मिलिटरी जीप में वह बोमदि-ला को पहुँचना चाहते हैं। होटल के बरामदे में एक ईसाई युवती मिस रोज़ ओ'ब्रायन इस इन्तज़ार में बैठी है कि जल्द-से-जल्द उसे बोमदि-ला पहुँचने का अवसर प्राप्त हो, वह बोमदि-ला में अपने पिता मि० ओ'ब्रायन की कुशलता जानने को अधीर है। विवेककुमार रॉय के बोमदि-ला जाने की बात सुनकर वह भी कैप्टन और रॉय से अनुनय-विनय करके मिलि-टरी जीप में रॉय के साथ हो लेती है। होटल का गूँगा चौकीदार शीकू भी इनकी बातें सुन-कर मन-ही-मन बोमदि-ला पहुँचने का इरादा करता है। शीकू के संदेहास्पद व्यवहार से सेना के कैप्टन और विवेककुमार रॉय के मन में उसके चीनी एजेण्ट होने का संदेह पैदा होता है।

द्वितीय अंक में विवेककुमार रॉय और रोज़ बोमदि-ला के निकट, जहाँ तक जीप पहुँच सकती है, पहुँच गये हैं। दोनों थके-माँदे हैं। एक बड़े पेड़ के आश्रय में टिक जाते हैं। शीकू भी पैदल चलकर इन दोनों के वहाँ पहुँचने के साथ-साथ ही उसी जगह आ पहुँचा है! शीकू के इस प्रकार उनका पीछा करने से शीकू के सम्बन्ध में उनका संदेह और दृढ़ हो जाता है। थकान के मारे विवेककुमार रॉय को झपकी आ जाती है। विवेककुमार रॉय की मनाही के कारण, उसकी तन्द्रावस्था से लाभ उठाकर, मिस् रोज़ ओ'ब्रायन बोमदि-ला की बस्ती में अपने पिता के पास पहुँचने के लिए भाग जाती है। विवेक की नींद टूटती है, तो सवेरा हो चुका है। तोपों की गरज सुनायी पड़ती है। आग की लपटें दिखायी देती हैं। चीनियों का बोमदि-ला पर हमला हो चुका है। पास-पड़ोस में मिस रोज़ को न पाकर विवेक घबराता है। मिस रोज़ अपने घायल पिता को एक आदमी के कन्धे पर ढोकर ले आती है। एक दूसरी आदिवासी स्त्री है—

क्यूला। वह भी अपने पति टूराँ की खोज में वहाँ पहुँचती है। मि० ओ'ब्रायन की युद्ध में लगे घावों से मृत्यु हो जाती है। बीच में शीकू एक सैनिक की लाश को ग़ौर से देखता है। कुछ प्रतीति होती है और तब उस लाश को वह सम्मानपूर्वक क़ब्र में दफ़ना देता है।

तीसरे अंक में बोमदि-ला की बस्ती से दक्षिण-पश्चिम में कुछ दूरी पर एक चट्टान के पास हम पहुँचते हैं, जहाँ विवेक बैठा हुआ है। बोमदि-ला पर चीनियोंका क़ब्ज़ा हो चुका है और वह आग की लपटों में झुलस रहा है। बोमदि-ला के निवासियों के लिए सरकार ने एक कैम्प डाल दिया है। क्यूला अब भी अपने पति टूराँ की खोज में है। विवेक उसे सांत्वना देता है—टूराँ अवश्य लौटेगा। विवेक को भय है कि टूराँ न लौटे तो शायद क्यूला पागल हो जाय। सेना का कैप्टन मुकुल नाम के एक चीनी-पक्षपाती कम्युनिस्ट को पकड़ लाता है। इस मुकुल ने, देश-द्रोह के जितने भी काम हो सकते हैं, किये हैं। मुकुल को क़ैद करने के पश्चात् शीकू एक बीस-पच्चीस वर्ष के नवयुवक का पीछा करता है, उसको पकड़ता है। शीकू उस नवयुवक की छाती में छुरा भोंककर उसके प्राण ले लेता है। उसी दम क्यूला भी वहाँ पहुँचती है। क्यूला अपने ससुर शीकू को पहचानती है। उसकी समझ में नहीं आता कि उसके पति टूराँ को शीकू ने—बेटे को बाप ने—क्यों मारा? शीकू अपनी सफ़ाई दे देता है। टूराँ कम्युनिस्टों के बहकावे में आकर देश-द्रोही कारवाइयों में उलझ गया था। यह देश-द्रोह बाप को असह्य हो उठा। बाप ने अपनी गोदी के लाल को मौत के घाट उतारा। मिस रोज़ ओ' ब्रायन बोमदि-ला की जनता से एकरूप होने के लिए वहीं पर रह जाती है। और बोमदि-ला के हमले के ताज़े समाचार अपने पत्र को भेजने के लिए विवेककुमार रॉय तेजपुर लौटता है। नाटक समाप्त होता है।

नाटक में कथा-निरूपण की नवीनतम शैली लेखक महोदय ने अपनायी है। यह शैली है—जीवन की परिस्थितियों की तस्वीरें मात्र प्रस्तुत करना। इन तस्वीरों की आन्तरिक एकता दर्शकों के मानस-रंगमंच पर ही प्रतीत होगी।

कथा-निवेदन के लिए एक और भी अभिनव तरीक़े (Device) का नाटककार ने प्रयोग किया है। वह तरीक़ा है—स्वप्न-क्रम (Dream-Sequence)। इसका दो बार प्रयोग किया गया है। पहले अंक के दृश्य में जब तेजपुर होटल के बरामदे से हिमालय की चोटियाँ मि० रॉय की आँखों में समा जाती हैं, तब कालिदास की हिमालय-प्रशस्ति उसके कानों में पड़ती है। फिर छाया-दृश्य के द्वारा बदरी-केदार की यात्रा पर जाते हुए मिथिला के यात्रा-मण्डल का कीर्तन भी उसके कानों में गूँज उठता है। उसका सपना टूटता है—रायफलों, तोपों, मॉर्टर्स और अन्य युद्धास्त्रों की गड़गड़ाहट से। यह लेखक के लिए आवश्यक था क्योंकि आक्रमणपूर्व हिमालय

परम्पराओं और आक्रमणोत्तर हिमालय की अवस्था का विरोध (Contrast) उसे मूर्त करता था। दूसरे अंक में भी इसी स्वप्न-क्रम का एक नितान्त भिन्न संदर्भ में प्रयोग किया गया है। जीप की यात्रा से थकामाँदा विवेक पेड़ के तने से पीठ टेक बैठ जाता है, तो उसके अनजाने और अनचाहे भी उसकी आँखें झपक जाती हैं। निद्रा में वह किसी और ही दुनिया में पहुँचता है, जहाँ एक चीनी जादूगर अपने शिष्य को अपने जादू का चमत्कार दिखाता है। कन्फ़्यूशियस, गौतमबुद्ध और मार्क्स के सिद्धान्तों को चीनियों ने किस प्रकार झुठलाया है, इसका सुन्दर दिग्दर्शन इस सपने में होता है।

स्वप्न-क्रम के साथ लेखक ने ध्वनि-प्रभावों (Sound-effects) और प्रकाश-प्रभावों (Light-effects) का सुन्दर प्रयोग किया है। पहले अंक के पहले दृश्य और दूसरे अंक के दूसरे दृश्य में कालगति की सूचना प्रकाश-परिवर्तन से दी गयी है, जो रोचक है। ध्वनि-प्रभावों में क्यूला के उद्गारों की गूँज— 'वह धोखेबाज़ था', 'वह देशद्रोही था', 'वह कभी नहीं आयेगा' तथा तेजपुर के होटल का बेयरा गोपाल शर्मा के पहाड़ी गीत के स्वरों का पहाड़ों में मँडराते रहना श्रुतिरम्य है।

सूचक प्रतीकों का निर्वाह भी नाटककार ने इस नाटक में किया है। पहले अंक में तेजपुर के होटल का बोर्ड—'स्नोह्वाईट होटल, तेजपुर' होटल की भीतरी दीवार पर लटकाया गया है। परिस्थिति के उलट-फेर की यह सुन्दर सूचना है। तीसरे अंक के प्रारम्भ में भी इसी प्रकार का सुन्दर प्रतीक-संकेत मिलता है। आकाश में चीलों का एक झुण्ड शोर करता हुआ उड़ता है। कितनी अनगिनत लाशें वहाँ गिरी हैं, इसका यह अत्यन्त हृद्य प्रतीक-संकेत (Montage) है।

इस नाटक में न कथा-चित्रण है, न चरित्र-चित्रण। घटना और चरित्र स्थिति-निर्माण में सहायक मात्र हैं। अखबार के संवाददाता का कर्त्तव्य क्या है? पता चलता है – विवेक कुमार रॉय के बर्ताव से। धर्मनिरपेक्ष भूमिगत राष्ट्रनिष्ठा का संकेत ध्वनित होता है मि० ओ'ब्रायन के बलिदान से।' पढ़े-लिखे, सिद्धान्तों और वादों के पतंगे किस प्रकार देश के साथ द्रोह करते हैं' इसकी परछाईं दिखायी देती है मुकुल के व्यवहार में। एक अपढ़ राष्ट्र पर अपनी सन्तति को किस तरह भेंट चढ़ाने से नहीं हिचकता, इसका साक्षात् होता है पुण्यात्मा शीकू के व्यवहार में।

नाट्य-रचना में मितव्ययता से काम लिया गया है। कथोपकथन सहज है, संक्षिप्त है और जहाँ और जितना अनिवार्य है, वहाँ ही और उतना ही बोला गया है। नाटक में चर्चाएँ भी हैं, लेकिन वे मानवी (Human) और सजीव (Vital) होने के कारण शक्तिशाली (Impassioned) लगती हैं।

केवल कथोपकथन में ही नहीं, नाटक के लिए प्रस्तुत की जानेवाली घटनाओं के चुनाव में भी नाटककार ने वांछनीय संयम से काम लिया है। प्रत्यक्ष कथावस्तु (Scenes

to be acted) और सूच्य कथावस्तु (Scenes to be narrated) के विवेक का जो दर्शन इस नाटक में होता है, वह प्रशंसनीय है।

नाटक के लिए, ललित कथा-विधाओं में, संघर्ष सबसे अधिक ज़रूरी है। नाटककार ने इस कथनात्मक नाटक में भी संघर्ष को अद्‌भुत रीति से प्रस्तुत किया है। चीनियों के बर्बर आक्रमण का प्रतिकार नाटक का विषय है। आक्रमण का प्रतिकार भौतिक, लौकिक दुनिया की वस्तु है, अतः बाह्य संघर्ष इस नाटक में होता तो भी वह क्षम्य होता; लेकिन तब वह केवल इतिवृत्तात्मक ही रह जाता। इस नाटक में लेखक की सूझ की जो मौलिकता नज़र आती है, वह यह है कि प्रतिकार के बाहरी संघर्षमय स्वरूप को पृष्ठभूमि में रखकर इस बाह्य संघर्ष के कारण भीतर मचनेवाले अमूर्त आन्तरिक संघर्ष को ही रंगमंच पर मूर्त किया गया है। यह स्पृहणीय है।

नाटक के संघर्ष की तरह इस नाटक का दुर्जन भी अमूर्त है। नाटक के तीनों अंकों में कहीं भी एक भी चीनी-आक्रमण के दर्शन नहीं होते। लेकिन चीनी विचार-प्रणाली की शैतानियत पूरे नाटक में रंगमंच पर धाक जमाये है। इस नाटक का यह दुर्जन रंगमंचीय दुर्जनों की दुनिया में बेमिसाल है।

—प्र० रा० भुपटकर

सरयू कछारों की हरिणी

कवयित्री : कुमारी राधा; प्रकाशक : संदीप प्रकाशन, पटना-४; पृष्ठ-संख्या : ७९; मूल्य : ३-५०

इस इकहत्तर कविताओं के प्रच्छद-पट पर छपा है : 'ये पारदर्शी कविताएँ कुमारी राधा के आत्मीय क्षणों को मूर्त्त करती हैं··· ये कविताएँ 'वाद' और 'प्रचलन' से मूलतः मुक्त हैं, क्योंकि चेतना की नयी उन्मुक्ति से मार्मिक हैं।' यह बातें सच हैं : कविताओं में रचयित्री की प्रामाणिकता कूट-कूटकर भरी है; कहीं छद्म-अनुभूति या शब्दों का शव-शृंगार नहीं है। कुमारी राधा की काव्य-शैली का परम्परागत गीत-शैली से, गद्यप्राय श्रम-स्तोत्र माने के मार्ग से, नयी कविता की नागार्जुनी व्यंग्योक्तियों तक (यथा 'नीम पर चढ़ी) और नकेन की भाँति शब्द-प्रयोग तक प्रवास स्पष्ट है। आशा है अब वे अपना मार्ग निश्चित कर चुकी होंगी और उनके व्यक्तित्व के अनुरूप शैली का स्थैर्य भी आ गया होगा उनमें।

मैं यह संग्रह पूरा पढ़ गया तब अनायास कुछ पंक्तियों पर मेरी पेन्सिल ने वाह-वाह की दाद के चिह्न अंकित किये। उनकी कुछ बानगी यों है :

(१) मेरा अपत्र-ठूँठ-मन
अनकेगा, बिसुरेगा।

(२) जेठ की तपती तिपहरी
बिहारी की नायिका-सी क्षीणा हवा।

(३) मिल का धुँआ—यह कंस।
···
न जाने
वासुदेव कब आएँ ?
जन्माष्टमी कब हो ?

(४) आज तो भयानक सील,
ठिठुरन, नोनी लग गयी है
देह की इस गंदुमी माटी-बनी दीवार में—

(५) न तुम इन्द्र हो
न मैं रम्भा।
हैं ?
हम सब इन्सान हैं महज़।
महज़।

(६) यह ख़रीदी हुई सेज,
ख़रीदे, बिके लोग।
कृत्रिमताओं की सिम्फनी।

(७) सम्भवतः यह अणु-युद्ध
के पश्चात् की संध्या का
नदी-तट है—तट-प्रेत है।
चुप।
गिद्ध····हुश :

ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। पर कई कविताओं में मुझे छायावादी गीत-शैली का कच्चा रोमान्स, भावुकता का शब्द-सम्मोह भी दिखाई दिया।

पूरी कविताओं में मुझे 'दोपहरी', 'परत पर परत', 'पाती', 'बासमती के दाने', 'आभार', 'सूनी साँझ', 'क्षमा दो' बहुत अच्छी लगीं।

मुझे इस नयी प्रतिभा में बहुत सम्भावनाएँ दीख पड़ती हैं। पर उसे अपना मार्ग स्थिर करना होगा। अपनी तरलता को कसना होगा। शैली की चमत्कृति में खोना नहीं होगा।

'दोपहरी' जैसी कविता में जो गाँव का रंग है, जो 'सरयू-कछार' की माटी की गंध है वह और निखरनी चाहिए। इसलिए जीवनानुभूति को और व्यापक, गहरा और उत्कट बनाना ज़रूरी है, शब्द-शिल्प तो आपसे-आप उसका अनुगमन करते जायेंगे।

कचपन से घबड़ाना नहीं चाहिए: सभी प्रसिद्ध कवि-कवयित्रियों के आरम्भिक संग्रहों में ऐसी अपरिपक्वता थी। उसकी अपनी हरियाली मिठास है, पर वही पूर्ण-विराम नहीं। 'चौकन्नी होती समर्पण की प्रत्येक पगडंडियाँ' आख़िर यह जानती हैं:

'कोशी का प्रत्येक तटबन्ध
टूट गया है।
एक दानवी प्लावन
सब कुछ बाहर-भीतर का
बहा ले जायगा।' (पृ. ७६)

कवयित्री उस प्लावन से परिचित है, जीवन और जगत् के व्यापक व्यथा-छोर से भी वह अपरिचित नहीं। चौकड़ियाँ भरनेवाली प्रतिभा की हिरणी को ठिठकना नहीं है; 'धावित निर्झरी' को विजन-वन में बेमोल लुटी घूमना नहीं है। उस वाणी में और अर्थ-घनता भरनी है और उसका क्या मार्ग है यह काव्यमार्ग का पथिक ही जानता है, कोई समीक्षक उसे नहीं बता सकता।

—प्रभाकर माचवे

व्यामोह

लेखक: श्री श्याम 'विमल'; प्रकाशक: सूर्यप्रकाशन, दिल्ली; पृष्ठ-संख्या: १३५; मूल्य: २.५०

इस उपन्यास का कथानक कोई बड़ा अथवा पेचीदा नहीं। पेचीदा इसमें यदि कुछ है तो वह है कथानायक का व्यामोह। यह जानते हुए भी कि वह व्यामोही है वह अपने व्यामोह के वास्तविक रूप को नहीं जान पाता और जीवन भर भटकता फिरता है। युवावस्था में ही वह तीर्थ-यात्री बन, घर से निकल पड़ता है। मार्ग में उसे एक नारी मिल जाती है जो सहयात्री के रूप में उसका साथ निभाना चाहती है, भारतीय नारी की मर्यादा और गरिमा के साथ। साथ तो नायक भी उसका चाहता है पर परम्परागत संस्कारवश उसमें अपराध-भावना घर कर जाती है और अपने पर उसे भरोसा नहीं रहता। उसे क़दम-क़दम पर अपने फिसलने का डर लगा रहता है और अन्धे की लाठी की तरह वह बार-बार गीता का सहारा लेता है। ऐसी स्थिति में वह कब तक साथ निभा पाता?

इस नारी से पलायन करने के बाद उसके मार्ग में एक और नारी आती है जो पहली की अपेक्षा अधिक मुक्त और मुखर है। उच्छृंखल

तो वह भी नहीं, पर अपनी माँग को वह पहचानती है और नायक का आह्वान भी करती है। पर वह इन परम्परागत संस्कारों से मुक्त नहीं हो पाता कि 'वह तीर्थयात्री है; यहाँ वह पुण्य कमाने आया है, उसे नारी से सम्पृक्त होकर पाप का भागी नहीं बनना है'। फलतः वह चीखकर पीछे हट जाता है और इस प्रकार यह प्रसंग भी समाप्त हो जाता है। पर अपने पर भरोसा उसे तब भी नहीं रहता। इसलिए वह उस नारी से प्रार्थना करता है कि वह उससे बहन के रिश्ते में बँध जाए। ऐसा हो जाने पर ही वह आश्वस्त हो पाया है। यात्रा से लौटते समय उसे मार्ग में अचानक पहली नारी फिर दीख जाती है। पर अब वह इसे बढ़ावा नहीं देती। नायक अन्तिम पड़ाव तक उसका पीछा करता है, पर वह उसके लिए अनुपलब्ध ही रहती है। फलतः वह दिन-रात घुलता रहता है, तिल-तिल करके जलता रहता है और क्षयरोग का शिकार हो जाता है। इस प्रकार, 'व्यामोही' की भटकन का अन्त मृत्यु में होता है।

परम्परागत संस्कार और क्षण की माँग का द्वन्द्व कैसे व्यक्ति का सन्तुलन बिगाड़कर उसे व्यामोही बना, जीवन भर भटकाता रहता है, इसका चित्रण 'व्यामोह' में हुआ है। यह जानते हुए भी कि 'नारी और पुरुष अन्योन्याश्रित हैं। एक का अभाव दूसरे के लिए असुन्दरता है और अपूर्णता है', (पृष्ठ ११४), वह अकेला ही रहना चाहता है, अपूर्ण और उपेक्षित रहकर वह अपने जीवन को समेटे रखना चाहता है। इससे उसे सन्तोष मिलता हो, यह बात नहीं। नारी से पलायन करके तो उसे अपने पर खीझ ही होती है और उसकी भीतरी घुमड़न बढ़ती है; फिर भी नारी के प्रति उसकी अपराध-भावना उसे नारी से सम्पृक्त नहीं होने देती। यह उसके प्रबल संस्कारों की विजय नहीं तो और क्या है?

'व्यामोह' की भाषा से अवश्य शिकायत है। कई बार तो ऐसा लगता है कि लेखक ने जान-बूझकर इसे दुरूह बनाया है—भाषा के साथ मनमाने प्रयोग तो उसने किए ही हैं। 'कल रात मैं **सपना गया**', 'जो अलका से **उद्गमती है**', 'नहाते-नहाते मैं **ठंडा गया**', 'मैंने अभी वस्त्र **प्रक्षालने हैं**', 'हम दोनों **खिलखिले** हो गए', 'एक सीमा-रेखा भी **लकीर दी होगी**', 'थोड़े क्षणों बाद वह **प्रश्नाई**' आदि अनेक ऐसे प्रयोग हैं जो आधुनिकता के नाम पर भी हिन्दी में खप नहीं पाएँगे। संस्कृत के उद्धरणों की भरमार भी बहुत खटकती है; कहीं-कहीं तो गीता के पूरे-के-पूरे श्लोक ही जड़ दिए गए हैं।

भाषा की इस कमज़ोरी के बावजूद कृति में जान है। प्रबुद्ध पाठक को वह अपने भीतर गहराई में उतरकर आत्मविश्लेषण करने को प्रवृत्त करेगी।

—डॉ० रणवीर रांग्रा

फ़िल्मों से औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन
देश में औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन देने के लिए डाइरेक्टोरेट जनरल ऑफ़ टैकनीकल डेवलपमेंट ने एक ऑडिओ बिजुअल लाइब्रेरी बनाई है जिसमें १६ एम-एम में लगभग ३०० औद्योगिक-फ़िल्में संग्रहीत हैं। ऐसे औद्योगिक प्रतिष्ठान, टैकनीकल संस्थान जो विभिन्न औद्योगिक तकनीकें जैसे मैटिरियल हैंडलिंग, टाइम एण्ड मोशन स्टडी, प्लांट ले-आउट, प्रोडक्शन व प्रोसेस कण्ट्रोल जानने में रुचि रखते हों और जिनके यहाँ अपनी प्रोजेक्टर सुविधाएँ हों, वे २५ रु० का सदस्यता-शुल्क देकर सदस्य बन सकते हैं।
लाइब्रेरी की सदस्यता सम्बन्धी विवरण सहायक निर्देशक (प्रशासन), डाइरेक्टोरेट जनरल ऑफ़ टैकनीकल डेवलपमेंट, उद्योग भवन, नई दिल्ली से प्राप्त कर सकते हैं।
ऑडिओ विज़ुअल लाइब्रेरी
डी.ए. ६३/४७१

ज्ञानोदय के फ़रवरी अंक में प्रकाशित 'कवच' शीर्षक कहानी पर मैं अपने विचार प्रकाशनार्थ प्रेषित कर रहा हूँ।

व्यास प्रभृति अमर महापुरुषों ने जिन अमर ग्रन्थों का निर्माण किया है उनका उद्देश्य, एकमात्र उद्देश्य, अमृतत्व प्राप्त कराना है न कि इतिहास (चालू अर्थ में) लिखना, भले ही उन ग्रन्थों का आधार इतिहास या ऐतिहासिक गाथाएँ रही हों। उनमें बर्णित गाथाएँ अतीत की गाथाएँ नहीं हैं वरन् उनमें शाश्वत सत्य का ही गान है।

प्रस्तुत कथानक में जमदग्नि, उनकी पत्नी, तथा पुत्रों का वर्णन है। महर्षि जमदग्नि आत्मोद्भूत स्वयं-स्फूर्तिजन्य विवेक-बुद्धि स्थानीय चेतना के प्रतीक हैं। पूजनीया रेणुका बुद्धि की आवरण रूपा मन स्थानीय उनकी पत्नी हैं। बुद्धि और मन के योग से उत्पन्न १–तमोगुणी, २–तमाभिभूत रजोगुणी, ३–रजोगुणी, ४–रजोभिभूत सतोगुणी तथा ५–सतोगुणी चेतनाएँ ही उनके पाँच पुत्र हैं। चित्ररथ देह है जिसमें आसक्त हो मन जलवत् अधोगामी हो जाता है। यही जलक्रीड़ा है, और रेणुका का चित्ररथ की जलक्रीड़ा की ओर आकर्षित होना है। ऐसे बहिर्मुखी, अधोगामी, मन, रेणुका, का नाश उससे आविर्भूत सतोगुणी चेतना द्वारा ही तो सम्भव है और यही है भगवान् परशुराम द्वारा अपनी माता पूजनीया रेणुका की हत्या। अन्य चार चेतनाएँ,—चार अन्य पुत्र—इस कार्य में असमर्थ हैं अतः उन्हें विवेकहीन होने का श्राप है।
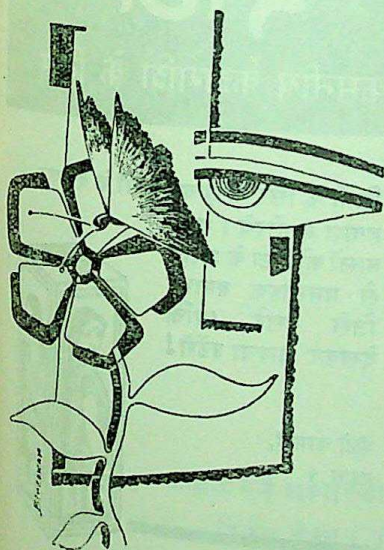
सृष्टि और दृष्टि

वहिर्मुखी मन का अन्तर्मुखी हो जाना ही रेणुका का पुनर्जीवन प्राप्त करना है। जब मन बना ही हुआ है तो अपने नाश किये जाने का, भगवान् परशुराम द्वारा मारे जाने का, उसे स्मरण ही कहाँ, यही विस्मरण है।

वैदिक संस्कृति में अवला ही रक्षित-बला तथा बल-प्रेरिका मानी गई है। सीता न होती तो राम का अस्तित्व ही न होता, न रामायण ही गाई जाती, द्रौपदी विहीन पाण्डवों का महत्त्व ही कुछ नहीं। वैसे ही यदि परम पूज्या रेणुका न होती तो पुरुषोत्तम भगवान् परशुराम का अवतार ही न होता—उन परशुराम का जिनकी साधना-सामर्थ्य के अनुगामी फल पुरुषोत्तम राम व कृष्ण समस्त हिन्दू संस्कृति के प्रतीक माने जाते हैं।

महर्षि जमदग्नि महान् तपस्वी प्रसिद्ध हैं। तप का फल ही कालातीत होना है और जो कालातीत हुआ उसमें जरा का आरोप कर उसे ऋतुदान के लिए असमर्थ कहना ही अर्थहीन है। जिन महापुरुष की तपस्या के फलस्वरूप ही (पुरा + उष) व्यष्टिगत चेतना को जलाकर समष्टिगत चेतना प्राप्त, पर-बुद्धि के नाश में समर्थ, पुरुषोत्तम भगवान् परशुराम का प्राकट्य हुआ, उन महर्षि के सम्बन्ध में प्रस्तुत लेख में जो भाव प्रदर्शित किये गये हैं वे गर्हित ही कहे जा सकते हैं।

—बृजराज सिंह

●
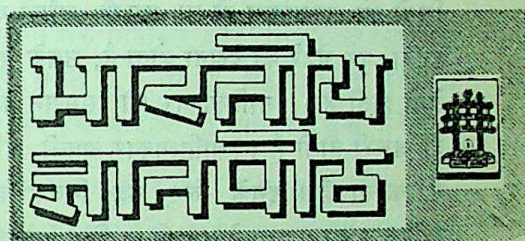
बहुप्रतीक्षित उपयोगी और संग्रहणीय

भारतीय ज्ञानपीठ

के

अभिनव तीन प्रकाशन

• प्रतिनिधि रचनाएँ : पंजाबी : कर्तारसिंह दुग्गल

किसी को पहचानना हो तो उसकी आँखों या नाक को ही देखना काफ़ी नहीं रहता, पूरे चेहरे को देखना होता है, उसके मन और विचारों तक की जानकारी लेनी होती है। साहित्यकार को समझने के लिए तो यह दूसरी बात बहुत ही जरूरी होती है। साहित्यकार अपनी अभिव्यक्ति एक से अधिक विधाओं में करता है। इसके लिए वह विवश होता है : अतः किसी साहित्यिक व्यक्तित्व को पहचानने-समझने के लिए आवश्यक है कि उसका विभिन्न विधाओं का लेखन कहीं एक-साथ देखें और पढ़ें।

प्रस्तुत पुस्तक में श्री कर्तारसिंह दुग्गल का एक समूचा नाटक, दो एकांकी, दो उपन्यासों के अंश, संस्मरण और निबन्ध तो हैं ही, कहानी और कविताएँ तक संकलित हैं। कभी पंजाबी और उर्दू के, और अब तो उतने ही हिन्दी के भी, इस चहीते साहित्यकार की ये सभी रचनाएँ उसकी प्रतिनिधि रचनाएँ हैं : उसके साहित्यिक व्यक्तित्व से परिचित होने के लिए बिलकुल अनिवार्य। मूल्य ३.५०

• प्रतिनिधि संकलन : एकांकी : संकलन-सम्पादन : अनिलकुमार

दस एकांकियों का यह संकलन है। नौ भारतीय भाषाओं का एक-एक एकांकी और तमिल की ही एक और !

इनमें से हर एक भाषा में कई प्रमुख एकांकीकार हैं और कई-कई उनकी सुन्दर एकांकी रचनाएँ सामने आयी हैं। सुविधा-सीमाओं के बीच जो उपलब्ध हुई उस राशि में-से चुनकर दस यहाँ प्रस्तुत की गयी हैं।

बड़ी विशेषता इन एकांकियों की यह है कि नौ भारतीय भाषाओं के होते हुए भी इनमें से किसी को पढ़ने पर नहीं लगेगा कि ये विचार-भाव अपने नहीं या ये स्वर और भंगिमाएँ तो कुछ और हैं। मन गूँज-गूँजकर यही कहेगा कि यह वर्तमान देश की भावात्मक एकता का उद्घोष सामयिक राजनीति की बात है, चेतना-भावना और साहित्य के स्तर पर तो देश है ही एक इकाई।

एक और लाभ-साधन भी संकलन से अनायास हो जाता है। ये एकांकी सफल और प्रभावपूर्ण रूप से अभिनेय हैं। हिन्दी में इस प्रकार का पहला प्रकाशन !

मूल्य ३.५०

• भाषा और संवेदना : डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी

भाषा हमारी संवेदना को एक सीमा तक नियमित और अनुशासित करती है या नहीं, इस विषय में दो मत हो सकते हैं। पर दो मत इसमें न होंगे कि संवेदना को अपने अनुभव-क्षेत्र का अंग हम भाषा के ही माध्यम से बना पाते हैं।

जितनी विकसित हमारी भाषा होगी, जितना ही सन्दर्भों के अनुरूप हमारा भाषा-प्रयोग होगा, उतनी ही स्पष्टता और सम्पूर्णता के साथ हम संवेदना को समझ सकेंगे, समझा सकेंगे। यही मूल कारणभूमि है जो प्रत्येक संवेदनशील रचनाकार को गहरे स्तरों पर भाषा से संघर्ष और असन्तोष का अनुभव बराबर कराती है।

पहले की बात और, आधुनिक युग के सन्दर्भों ने तो इस संघर्ष और असन्तोष का अनुभव रचनाकार को पग-पग पर कराया। बदले सन्दर्भों में उसे परिचित शब्द चुके-चुके लगते, जैसे अपनी अर्थवत्ता खो बैठे हों। और जो रचनाकार प्रतिभावान् थे उन्होंने उन्हीं शब्दों को नये सन्दर्भों के अनुरूप नयी भंगिमाएँ, नयी अर्थछायाएँ देकर फिर से जीवित किया।

प्रस्तुत कृति में संवेदनात्मक स्तर पर मानवीय सृजनशीलता और भाषा के आन्तरिक सम्बन्ध को देखने-समझने का एक गम्भीर प्रयत्न किया गया है। साथ ही, इस सन्दर्भ में कुछ विशिष्ट कवियों की रचनाओं और युगीन प्रवृत्तियों की व्यावहारिक परीक्षा भी की गयी है। कृति अपने में तो एक आवश्यकता का उत्तर है ही, पढ़ने के बाद सोचने-विचारने और चर्चाएँ करने के लिए हमें विवश भी करेगी।

मूल्य ३.५०

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला

राष्ट्रभारती

प्रतिनिधि रचनाएँ	कर्तारसिंह दुग्गल (पंजाबी)	३.५०
प्रतिनिधि संकलन (एकांकी)	संकलन-सम्पा०—अनिलकुमार	३.५०
प्रतिनिधि रचनाएँ	नार्ल वेंकटेश्वर राव (तेलुगु)	३.५०
प्रतिनिधि रचनाएँ	'परशुराम' (बंगला)	३.००
प्रतिनिधि रचनाएँ	व्यं०दि० माडगूलकर (मराठी)	४.००

उपन्यास

महाश्रमण सुनें, उनकी परम्पराएँ सुनें	'भिक्खु'	२.२५
सूरज का सातवाँ घोड़ा	डॉ० धर्मवीर भारती	२.००
पीले गुलाब की आतमा	विश्वम्भर मानव	४.००
पलासी का युद्ध	तपनमोहन चट्टोपाध्याय	३.५०
अपने-अपने अजनबी	अज्ञेय	३.००
गुनाहों का देवता (सातवाँ सं०)	डॉ० धर्मवीर भारती	५.००
शतरंज के मोहरे (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	अमृतलाल नागर	६.००
शह और मात	राजेन्द्र यादव	४.००
राजसी	देवेशदास आइ० सी० एस्०	२.५०
संस्कारों की राह (पुरस्कृत)	राधाकृष्णप्रसाद	२.५०
रक्त-राग	देवेशदास आइ० सी० एस्०	३.००
तीसरा नेत्र	आनन्दप्रकाश जैन	२.५०
ग्यारह सपनों का देश	सं०—लक्ष्मीचन्द्र जैन	४.००
मुक्तिदूत (द्वि० सं०)	वीरेन्द्रकुमार एम. ए.	५.००

कहानी

खोयी हुई दिशाएँ	कमलेश्वर	२.५०
मेज़ पर टिकी हुई कुहनियाँ	रमेश बक्षी	३.५०
बोस्ताँ	मूल : शेख सादी	२.५०
जय-दोल (द्वि० सं०)	अज्ञेय	३.००
ज़िन्दगी और गुलाब के फूल	उषा प्रियंवदा	२.५०
अपराजिता	भगवतीशरण सिंह	२.५०

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

श्रेष्ठ प्रकाशन

कर्मनाशा की हार	डॉ० शिवप्रसाद सिंह	३.००
सूने अँगन रस बरसै	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	३.००
प्यार के बन्धन	रावी	३.२५
मोतियोंवाले (पुरस्कृत)	कर्त्तारसिंह दुग्गल	२.५०
हरियाणा लोकमंच की कहानियाँ	राजाराम शास्त्री	२.५०
मेरे कथागुरु का कहना है (१–२)	रावी	६.००
पहला कहानीकार (पुरस्कृत)	रावी	२.५०
संघर्ष के बाद (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	विष्णु प्रभाकर	३.००
नये चित्र	सत्येन्द्र शरत्	३.००
काल के पंख	आनन्दप्रकाश जैन	३.००
अतीत के कम्पन (द्वि० सं०)	आनन्दप्रकाश जैन	३.००
खेल खिलौने	राजेन्द्र यादव	२.००
आकाश के तारे : धरती के फूल (तृ. सं.)	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	२.००
नये बादल	मोहन राकेश	२.५०
कुछ मोती कुछ सीप (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.५०
जिन खोजा तिन पाइयाँ (तृ० सं०)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.५०
गहरे पानी पैठ (तृ० सं०)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.५०
एक परछाई : दो दायरे	गुलाबदास ब्रोकर	३.००
ऑस्कर वाइल्ड की कहानियाँ	डॉ० धर्मवीर भारती	२.५०
लो कहानी सुनो	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.००

कविता

बोजुरी काजल आँज रही	माखनलाल चतुर्वेदी	३.००
अर्द्धशती	बालकृष्ण राव	३.००
रत्नावली	हरिप्रसाद 'हरि'	२.००
वाणी (द्वि० सं० परिवर्धित)	सुमित्रानन्दन पन्त	४.००
सौवर्ण (द्वि० सं० परिवर्धित)	सुमित्रानन्दन पन्त	३.५०
परिणय गीतिका	सं०—रमा जैन, कुन्था जैन	५.००
आँगन के पार द्वार	अज्ञेय	३.००
वीणापाणि के कम्पाउण्ड में	केशवचन्द्र वर्मा	३.००
रूपाम्बरा	सं० अज्ञेय	१२.००
वेणु लो, गूँजे धरा	माखनलाल चतुर्वेदी	३.००
अनु-क्षण	डॉ० प्रभाकर माचवे	३.००
तीसरा सप्तक (द्वि० सं०)	सं०—अज्ञेय	५.००

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

अरी ओ अरुणा प्रभामय	अज्ञेय	४.००
देशान्तर	डॉ० धर्मवीर भारती	१२.००
सात गीत-वर्ष	डॉ० धर्मवीर भारती	३.५०
कनुप्रिया	डॉ० धर्मवीर भारती	३.००
लेखनी-बेला	वीरेन्द्र मिश्र	३.००
आवाज़ तेरी है	राजेन्द्र यादव	३.००
पंच-प्रदीप	शान्ति एम० ए०	२.००
मेरे बापू	हुकुमचन्द्र बुखारिया	२.५०
धूप के धान (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	गिरिजाकुमार माथुर	३.००
वर्द्धमान (महाकाव्य) (पुरस्कृत)	अनूप शर्मा	६.००

शाइरी

गंगोजमन	'नज़ीर' बनारसी	३.००
शाइरी के नये मोड़ (भाग १–५)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	१५.००
नग़मए-हरम	"	४.००
शाइरी के नये दौर (भाग १–५)	"	१५.००
शेर-ओ-सुख़न : १–५ (द्वि.सं.पुरस्कृत)	"	२०.००
शेर-ओ-शाइरी " "	"	८.००
ग़ालिब	रामनाथ 'सुमन'	८.००
मीर	"	६.००

नाटक

आदमी का ज़हर	लक्ष्मीकान्त वर्मा	३.००
घाटियाँ गूँजती हैं	डॉ० शिवप्रसाद सिंह	२.५०
तीन ऐतिहासिक नाटिकाएँ	परिपूर्णानन्द वर्मा	४.००
नाटक बहुरंगी	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	४.५०
जनम क़ैद (पुरस्कृत)	गिरिजाकुमार माथुर	२.५०
कहानी कैसे बनी ?	कर्तारसिंह दुग्गल	२.५०
पचपन का फेर (पुरस्कृत)	विमला लूथरा	३.००
तरकश के तीर	श्रीकृष्ण	३.००
रजत-रश्मि (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	डॉ० रामकुमार वर्मा	२.५०
और खायी बढ़ती गयी (पुरस्कृत)	भारतभूषण अग्रवाल	२.५०
चेखॅव के तीन नाटक	राजेन्द्र यादव	४.००
बारह एकांकी	विष्णु प्रभाकर	३.५०

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

कुछ फ़ीचर कुछ एकांकी	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	३.५०
सुन्दर रस (द्वि० सं०)	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	१.५०
सूखा सरोवर	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	२.००
भूमिजा	सर्वदानन्द	१.५०

विधा-विविधा

खुला आकाश : मेरे पंख	शान्ति मेहरोत्रा	४.५०
अंकित होने दो	अजितकुमार	४.००
सीढ़ियों पर धूप में	रघुवीरसहाय	४.००
काठ की घण्टियाँ	सर्वेश्वरदयाल सक्सेना	७.००
पत्थर का लैम्पपोस्ट	शरद देवड़ा	३.००

ललित-निबन्धादि

क्षण बोले कण मुसकाये	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४.००
हम सब और वह	दयानन्द वर्मा	२.००
बातें जिसमें सुगन्ध फूलों की	अहमद सलीम	३.००
महके आँगन चहके द्वार	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४.००
शिखरों का सेतु	डॉ० शिवप्रसाद सिंह	३.५०
बाजे पायलिया के घुँघरू	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४.००
फिर बैतलवा डाल पर	विवेकीराय	३.५०
आँगन का पंछी : बनजारा मन	विद्यानिवास मिश्र	३.००
नये रंग : नये ढंग	लक्ष्मीचन्द्र जैन	२.००
बना रहे बनारस	विश्वनाथ मुखर्जी	२.५०
काग़ज़ की किश्तियाँ	लक्ष्मीचन्द्र जैन	२.५०
अमीर इरादे : ग़रीब इरादे (तृ०सं०)	माखनलाल चतुर्वेदी	२.००
सांस्कृतिक निबन्ध	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	३.००
वृन्त और विकास	शान्तिप्रिय द्विवेदी	२.५०
ठूँठा आम	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	२.००
हिन्दू विवाहमें कन्यादान का स्थान (तृ.सं.)	डॉ० सम्पूर्णानन्द	१.००
ग़रीब और अमीर पुस्तकें	रामनारायण उपाध्याय	१.००
क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ ?	रावी	२.५०
माटी हो गयी सोना (द्वि० सं०)	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	२.००
ज़िन्दगी मुसकरायी (तृ० सं०)	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४.००

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

यात्रा-विवरण

चीड़ों पर चाँदनी	निर्मल वर्मा	३.००
एक बूँद सहसा उछली	अज्ञेय	७.००
पार उतरि कहँ जइहौ	प्रभाकर द्विवेदी	३.००
सागर की लहरों पर	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	४.००
हरी घाटी	डॉ० रघुवंश	४.५०

संस्मरण, रेखाचित्र, जीवनी आदि

समय के पाँव	माखनलाल चतुर्वेदी	३.००
रेखाचित्र (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	बनारसीदास चतुर्वेदी	४.००
पराड़करजी और पत्रकारिता	लक्ष्मीशंकर व्यास	५.५०
आत्मनेपद	अज्ञेय	४.००
माखनलाल चतुर्वेदी	'बरुआ'	६.००
दीप जले : शंख बजे	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	३.००
द्विवेदी पत्रावली	वैजनाथ सिंह 'त्रिनोद'	२.५०
जैन-जागरण के अग्रदूत	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	५.००
संस्मरण (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	बनारसीदास चतुर्वेदी	३.००
हमारे आराध्य (पुरस्कृत)	,,	३.००

आलोचना, अनुसन्धान, रचना-शिल्प

भाषा और संवेदना	डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी	३.५०
हिन्दी गीतिनाट्य	कृष्ण सिंहल	४.००
साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य	डॉ० रघुवंश	५.००
जैन भक्ति-काव्य की पृष्ठभूमि	डॉ० प्रेमसागर जैन	६.००
रेडियो वार्ता शिल्प	सिद्धनाथकुमार	२.००
रेडियो नाट्य शिल्प (द्वि० सं०)	,,	३.००
ध्वनि और संगीत (द्वि० सं०)	ललितकिशोर सिंह	४.५०
प्राचीन भारत के प्रसाधन	अत्रिदेव विद्यालंकार	३.५०
संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद	,,	३.००
संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन (द्वि.सं.)	डॉ० भोलाशंकर व्यास	५.००
भारतीय ज्योतिष (तृ० सं०)	नेमिचन्द्र जैन ज्योतिषाचार्य	६.००
हिन्दी नवलेखन	डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी	४.००
मानव मूल्य और साहित्य	डॉ० धर्मवीर भारती	२.५०
शरत् के नारी-पात्र	डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी	४.५०
हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन (१–२)	नेमिचन्द्र शास्त्री	५.००

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

इतिहास-राजनीति

कालिदास का भारत : भाग १ (द्वि० सं०)	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	५.००
कालिदास का भारत : भाग २	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	४.००
भारतीय इतिहास : एक दृष्टि	डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन	८.००
चौलुक्य कुमारपाल (द्वि०सं०, पुरस्कृत)	लक्ष्मीशंकर व्यास	४.५०
एशिया की राजनीति	परदेशी	६.००
समाजवाद	डॉ० सम्पूर्णानन्द	५.००
इतिहास साक्षी है	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	३.००
खोज की पगडण्डियाँ (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	मुनि कान्तिसागर	४.००
खण्डहरों का वैभव (द्वि० सं०)	मुनि कान्तिसागर	६.००

दर्शन-अध्यात्म

भारतीय विचारधारा	मधुकर एम० ए०	२.००
अध्यात्म पदावली	डॉ० राजकुमार जैन	४.५०
वैदिक साहित्य	पं० रामगोविन्द त्रिवेदी	६.००

सूक्तियाँ

भाव और अनुभाव	मुनि नथमल	१.५०
सन्त-विनोद	नारायणप्रसाद जैन	२.००
शरत की सूक्तियाँ	रामप्रकाश जैन	२.००
ज्ञानगंगा भाग १ (द्वि० सं०)	नारायणप्रसाद जैन	६.००
ज्ञानगंगा भाग २	नारायणप्रसाद जैन	६.००
कालिदास के सुभाषित	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	५ ००

हास्य-व्यंग्य

काग़ज़ के फूल	भारतभूषण अग्रवाल	३.००
चाय पार्टियाँ	सन्तोषनारायण नौटियाल	२.००
जैसे उसके दिन फिरे	हरिशंकर परसाई	२.५०
तेल की पकौड़ियाँ	डॉ० प्रभाकर माचवे	२.००
हास्य मन्दाकिनी	नारायण प्रसाद जैन	६.००
आधुनिक हिन्दी हास्य-व्यंग्य	सं०—केशवचन्द्र वर्मा	४.००
मुर्ग़ छाप हीरो	केशवचन्द्र वर्मा	२.००
अंगद का पाँव	श्रीलाल शुक्ल	२.५०

मूर्त्तिदेवी ग्रन्थमाला

तत्त्वज्ञान और सिद्धान्तशास्त्र

समयसार (प्राकृत-अँगरेज़ी)	....	८.००
तत्त्वार्थराजवार्तिक (संस्कृत) भाग १–२	....	२४.००
तत्त्वार्थवृत्ति (संस्कृत)	....	१६.००
सर्वार्थसिद्धि (संस्कृत-हिन्दी)	...	१२.००
पंचसंग्रह (प्राकृत-हिन्दी)	....	१५.००
जैन धर्मामृत (संस्कृत-हिन्दी)	....	३.००
कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न (हिन्दी)	....	२.००

जैन न्याय और कर्मग्रन्थ

कर्मप्रकृति (प्राकृत-संस्कृत-हिन्दी)	....	६.००
सत्यशासन परीक्षा (संस्कृत)	....	५.००
सिद्धिविनिश्चयटीका (संस्कृत) भाग १–२	....	३०.००
न्यायविनिश्चयविवरण (संस्कृत) भाग १–२	....	३०.००
महाबन्ध (प्राकृत-हिन्दी) भाग २ से ७	....	६६.००

आचारशास्त्र, पूजा और व्रत-विधान

वसुनन्दि श्रावकाचार (प्राकृत-हिन्दी)	....	५.००
ज्ञानपीठ पूजांजलि (संकलन)	....	४.००
व्रततिथिनिर्णय (संस्कृत-हिन्दी)	....	३.००
मंगलमन्त्र णमोकार : एक अनुचिन्तन (हिन्दी)	....	२.००

व्याकरण, छन्दशास्त्र और कोश

जैनेन्द्र महावृत्ति (संस्कृत)	....	१५.००
सभाष्य रत्नमंजूषा (संस्कृत)	....	२.००
नाममाला सभाष्य (संस्कृत)	....	३.५०

पुराण, साहित्य, चरित व काव्य-ग्रन्थ

हरिवंशपुराण (संस्कृत-हिन्दी)	....	१६.००
आदिपुराण (संस्कृत-हिन्दी) भाग १–२	....	२०.००

उत्तरपुराण (संस्कृत-हिन्दी)	....	१०.००
पद्मपुराण (संस्कृत-हिन्दी) भाग १—३	....	३०.००
पुराणसार-संग्रह (संस्कृत-हिन्दी) भाग १—२	....	४.००

चरित व काव्य-ग्रन्थ

भोजचरित्र (संस्कृत)	....	८.००
मयणपराजयचरिउ (अपभ्रंश-हिन्दी)	....	८.००
मदनपराजय (संस्कृत-हिन्दी)	....	८.००
पउमचरिउ (अपभ्रंश-हिन्दी) भाग १—३	....	९.००
जीवन्धरचम्पू (संस्कृत-हिन्दी)	....	८.००
जातकट्ठकथा (पाली)	....	९.००
धर्मशर्माभ्युदय (हिन्दी)	....	३.००

ज्योतिष और सामुद्रिक शास्त्र

भद्रबाहु संहिता (संस्कृत-हिन्दी)	....	८.००
केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि (संस्कृत-हिन्दी)	....	४.००
करलक्खण (प्राकृत-संस्कृत-हिन्दी)	....	०.७५

विविध

वर्ण, जाति और धर्म	....	३.००
जिनसहस्रनाम (संस्कृत-हिन्दी)	....	४.००
थिरुकुरल (तमिल)	....	५.००
आधुनिक जैन कवि (हिन्दी)	....	३.७५
हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (हिन्दी)	....	२.८७
कन्नड प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थ सूची	....	१३.००

माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला

पुराण

महापुराण (आदिपुराण) भाग १; अपभ्रंश	१०.००
महापुराण (उत्तरपुराण) भाग २; अपभ्रंश	१०.००
महापुराण (उत्तरपुराण) भाग ३; अपभ्रंश	६.००

माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला

पद्मपुराण (संस्कृत) भाग १	१.५०
पद्मपुराण (संस्कृत) भाग २	२.००
पद्मपुराण (संस्कृत) भाग ३	२.००
हरिवंशपुराण (संस्कृत) भाग १	२.००
हरिवंशपुराण (संस्कृत पद्य) भाग २	१.५०

शिलालेख

जैन शिलालेख संग्रह (संस्कृत, हिन्दी) भाग १	२.००
जैन शिलालेख संग्रह (संस्कृत, हिन्दी) भाग २	८.००
जैन शिलालेख संग्रह (संस्कृत, हिन्दी) भाग ३	१०.००

चरित, काव्य और नाटक

वरांगचरित (संस्कृत)	३.००
जम्बू स्वामीचरित (संस्कृत)	१.५०
प्रद्युम्नचरित (संस्कृत)	०.५०
रामायण (अपभ्रंश)	२.५०
पुरुदेवचम्पू (संस्कृत)	०.७५
अंजनापवनंजय (नाटक)	३.००

जैन-न्याय

न्यायकुमुदचन्द्रोदय (संस्कृत) भाग १	८.००
न्यायकुमुदचन्द्रोदय (संस्कृत) भाग २	८.५०
प्रमाणप्रमेयकलिका (संस्कृत)	१.५०

सिद्धान्त, आचार और नीतिशास्त्र

सिद्धान्तसारादि (प्राकृत-संस्कृत)	१.५०
भावसंग्रहादि (प्राकृत-संस्कृत)	२.२५
पंचसंग्रह (संस्कृत)	०.८१
त्रिषष्टिस्मृतिसार (संस्कृत, मराठी अनुवाद)	०.५०
स्याद्वादसिद्धि (संस्कृत, हिन्दी-सारांश)	१.५०
रत्नकरण्डश्रावकाचार (मूल संस्कृत, टीका)	२.००
लाटी संहिता (संस्कृत)	०.५०
नीतिवाक्यामृत (शेषांश) (संस्कृत टीका)	०.२५

भारतीय भाषाओं में तार भेजिये

अपना संदेश
देवनागरी लिपि में
लिखकर
आप किसी भी
भारतीय भाषा में तार
भेज सकते हैं।

अंग्रेजी में भेजे जाने वाले तारों को मिलने वाली सुविधाएं देवनागरी लिपि में भेजे जाने वाले तारों के लिए भी मिलती हैं, जैसे बधाई तार (बधाई वाक्यों की सूची हिन्दी में उपलब्ध है), डिलक्स तार, प्रेस तार, मानव जीवन अग्रता तार, फोनोग्राम तथा तार के संक्षिप्त पतों की रजिस्ट्री।

यह सुविधा
२००० तारघरों में उपलब्ध है

डाक-तार विभाग

डीए ६३/४७५

Price Annual Rs.10/- per copy Re.1/- for abroad postage extra 18 nP. This Copy Re.1/-

REGD. No. L-2036

भारतीय ज्ञानपीठ काशी की ओर से बाबूलाल जैन फागुल्ल-द्वारा प्रकाशित और सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी में मुद्रित ।

ज्ञानोदय

मई १९६४ : मूल्य १.०

साहित्यिक विकास-उन्नयन
सांस्कृतिक अनुसन्धान-प्रकाशन
राष्ट्रीय एकता एवं राष्ट्र-प्रतिष्ठा की

साधिका
विशिष्ट संस्था

भारतीय ज्ञानपीठ

[स्थापित सन् १९४४]

संस्थापक
श्री शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

व्यक्तित्व एवं कृतित्व

अन्य लेख

सम्बोध आख्यायिका

कहानियाँ

एकालाप

स्थायी स्तम्भ

संचालक
भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता
कार्यालय
९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७
एकमात्र वितरक
बैनेट कोलमैन एण्ड कम्पनी लि०, बम्बई-१
सम्पादक
लक्ष्मीचन्द्र जैन

मनके सरोवरमें अमंगलकी कंकरी

•
शुभागत
•

महात्मा दधीचिके पुत्र पिप्पलादने अपनी मातासे पूरी घटना सुनी थी कि किस तरह अधर्मी वृत्रासुरने अपने कुकृत्योंसे सारे संसारको पीड़ित किया। संसारमें त्राहि-त्राहि मच गयी थी। देवताओं और उनके स्वामी इन्द्रने उसे पराजित करनेके लिए जो-जो प्रयत्न किये, सब विफल हुए।

अपने सभी अस्त्र-शस्त्रोंको कुण्ठित देखकर देवगण चिन्तामग्न थे, तभी इन्द्रको जानकारी मिली कि करुणामूर्त्ति दधीचिकी देहकी अस्थियाँ अत्यन्त कठोर और अटूट हैं। यदि उनका वज्र बनाकर वृत्रासुरपर प्रहार किया जाये तो कार्य सिद्ध होगा। देवताओंकी प्रार्थनापर महात्मा दधीचिने प्राण त्याग दिये और उनकी अस्थियोंसे जो वज्र बनाया गया उससे इन्द्रने वृत्रासुरका वध किया।

पिप्पलादने जबसे यह घटना मातासे सुनी, उसका बाल-मन देवताओंके प्रति विद्रोही हो गया! वह सोचता, "कैसा नीच और घोर स्वार्थी है यह इन्द्र, अपनी दुर्बलतापर इसे लज्जा नहीं आयी! मेरे पितासे अस्थियाँ माँगीं, मेरी माताको विधवा बनाया, मुझे पितृहीन किया! मैं बदला लूँगा, उन सबका नाश करूँगा…"
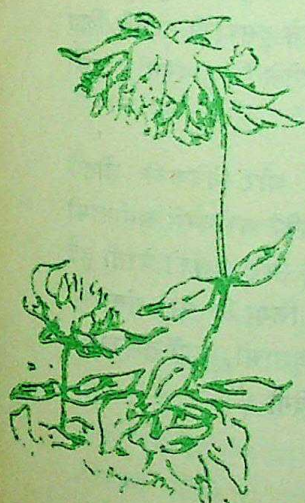
और यह भयंकर प्रतिज्ञा उसके मनमें घुमड़ती-गूँजती रही। तरुण हुआ तो संकल्प ठानकर पिप्पलाद तपस्यामें बैठ गया। वर्षपर वर्ष बीतने लगे, रक्त सूखकर देह कंकाल रह गयी, पर संकल्पकी ज्वाला तीव्रतर होती गयी। चरम सीमाको पहुँचा तप तब भगवान् शंकर साक्षात् प्रकट हुए, "बोलो वत्स, क्या चाहते हो?"

"चाहता हूँ आपके रुद्र रूपका दर्शन। चाहता हूँ कि आपका तीसरा नेत्र खुले और मैं संहार-लीला देख सकूँ।"

भगवान् शंकरने समझाया, "वह लीला तुम देख सकोगे वत्स? तुम्हारे तपसे प्रसन्न होकर, तुम्हारे मनको शान्तिके जलसे प्रक्षालनेके लिए, मैं अपने सौम्य रूपमें तुम्हारे सामने प्रकट हुआ हूँ।"

पिप्पलादका संकल्प ढीला नहीं हुआ। उसने प्रार्थना की, "मेरी मनोकामना पूरी करें देव! मुझे इन देवताओंसे पिताका बदला लेना है।"

शंकरने अपना रुद्र रूप प्रकट किया : औघड़ देह, आँखोंमें अंगार, गलेमें कपाल-माल, जटामें नाग-कुण्डली, कण्ठमें विष! तीसरा नेत्र खोलते ही बिजलीकी कड़कके साथ प्रचण्ड ज्वालाएँ धू-धू कर उठीं। पिप्पलाद एक क्षणभी स्थिर न रह सका, 'त्राहि माम्! त्राहि माम्!' पुकारने लगा।

विश्वनाथ शंकर फिर सौम्य रूपमें सामने थे। पिप्पलाद जैसे किसी दुःस्वप्नसे मुक्त होता उपालम्भके स्वरमें बोला, "मैंने तो तीसरा नेत्र खोलनेकी प्रार्थना इसलिए की थी कि आप मेरे पितृघातियोंको भस्म कर दें, आपने तो उन ज्वालाओंमें पहले मुझे ही लिया।"

शशांकशेखर दुलारसे बोले, "आयुस्मान्, ज्वाला जहाँसे उठती है पहले उसी स्थानको जलाती है। हिंसा-भाव मनमें उठता है तो चिनगारीकी तरह, फिर फैलता है तो ज्वालाकी तरह—सबको भस्म करता हुआ। तुमने सोचा ही कैसे कि ज्वाला विवेकवती होती है! तुम्हारे पिताने दूसरोंकी रक्षाके लिए अपनी अस्थियाँ दे दीं और तुमने दूसरोंको भस्म करनेके लिए अपने हृदयको अग्निपिण्ड बना डाला?"

नटराज अन्तर्धान हो गये। पिप्पलाद ज्ञान और विवेककी शीतल ज्योत्स्नामें स्नान करता सोच रहा था, वास्तवमें मनके सरोवरमें अमंगलकी छोटी-सी भी कंकरी फेंकनेसे जो लहर उठती है वह सारे जलको घेरती हुई कैसा अमंगलमय बना देती है! और उसने अब संकल्प लिया कि सारे संसारको यह उद्बोधन देगा—"हिंसाकी चिनगारीको तत्काल बुझाओ, नहीं तो ज्वाला बनकर वह दूसरोंका ही नहीं, तुम्हारा भी विनाश कर देगी।"

भ्रमरानन्द का आंचलिक वक्तव्य

•

विद्यानिवास मिश्र

•

साहित्यकी प्रयोग-शालाकी नयी रसायन है—'आञ्चलिकता'! यह जितनी जीवन्त है, उतनी ही ख़तरनाक भी। इसको नादान हाथोंमें देनेसे क्या हो सकता है, इसीपर भ्रमरानन्दका आक्रोश इस पत्रमें मुखर हुआ है।

•

हे आँचरवाले बाबू, हे आँचरवाले बाबा,
हे आँचरवाले दादा, हे आँचरवाले भैया,

आपने अपने विवाहमें आँचर-थम्हाईका नेग कुछ बेशी पाया, मैं तो अभागा ही रहा। शायद इसलिए कि आँचर तो बदस्तूर थाम्हा मैंने भी, पर एक तो मेरी न कोई जेठी-साली थी, न जेठी-सलहज, सास भी एकाधिक नहीं, दूसरे मुझे देर तक थाम्हे रहना कुछ वैसा लगता था। किन्तु आप लोगोंकी क़िस्मत चौड़ी थी और हिम्मत भी बढ़ी-चढ़ी थी, तभी तो आँचरका पल्ला

आपके हाथसे छूट नहीं रहा है, हाँ, ज़रा एक बार ग़ौरसे देख लीजिए कि कहीं केवल आँचरका पल्ला ही तो नहीं अपने संगीसे विलग होकर आपकी फ़ौलादी उँगलियोंमें फँसकर तार-तार रह गया है। यह नहीं कि मैं इस अंचलाग्रहको ग़लत मानता हूँ। बिलकुल नहीं, मैं वचनपर वचन दे सकता हूँ कि साहित्यमें ही नहीं सांख्य-जैसे सौठ दर्शनमें भी पण्डितोंको मज़ा तब आता है, जब 'विगलित सिचयांचला' होकर प्रकृति-नटी पुरुषके सामनेसे लजाकर भागने लगती है। हमारी सन्तवादी धारामें तो अँचला लाक्षणिक प्रतीक बन गया है वैरागी-की वानकका। वैसे भी हम मातृदेव हैं, वंग-जननीकी जय हो, उस अंचलकी वत्सलतासे हम अघाये हुए भावोच्छल साहित्य-शिशु हैं। हमारे पड़ोसी अंचलप्रेमी बिहारी सरकारने तो अंचलाधिकारी नियुक्त करके (ब्लाक-डेबलपमेण्ट अफ़सरको यह रसिक नाम दिया गया है) राजनीतिमें नया कीर्तिमान् स्थापित किया है। यह भी नहीं कि अंचलके वीजनका सुख मुझे सुलभ न रहा हो, मेरे प्रथम उत्तापके वे दिन इसी बयारसे जुड़ाये जाते रहे। पर जाने क्यों जब ठाकुरभाईने फ़ौजी हुकुम दिया कि पण्डिज्जी, आप नयी हिन्दी कवितापर पूरबी लोकगीतोंके प्रभाव-पर निबन्ध पढ़िए, तब मुझे अपने उस अग्रज पण्डितकी याद आयी, जो नदीमें बहा जा रहा था, एक गाँवके घाटपर लोगोंने उन्हें बहते देखा, कहा – मोटी चुटिया दिख रही है, हो न हो, ये पण्डित ही हैं, चलो, इन्हें बचा लें, न होगा तो बच्चोंको पढ़ायेंगे, पण्डिज्जीने वहींसे हाथसे रोका और कहा कि यहीं बड़े मज़ेमें हूँ। तो दादा और भैया लोगो, ये बिचारे पण्डिज्जी ललित निबन्धिनी नदीमें डूब-उतरा रहे हैं पर ललित-निबन्धकी सांसत आंचलिक प्रभावपर व्याख्यान देनेकी अपेक्षा कुछ कम ही जानलेवा लगती है। मैं आंचलिक प्रभावपर व्याख्यान देनेकी बात सोचते ही काँप जाता हूँ। बापरे-बाप! आंचलिकताके तोरणसे ऐसे-ऐसे मगरमच्छ लटक रहे हैं कि पंडिज्जी एक कौर होकर रह जायेंगे। यह सही है कि यह मन्दिर जब बन रहा था तो गारा-माटी मैंने भी सानी थी, पर अब तो इसपर ऐसे देवी-देवताओं और उनके भूत-बैतालों, पाधाओं और घाटिओंका अधिकार है कि सच कहता हूँ, डर लगता है: बिलकुल नयी कवितावाला, मुझे अपनेसे डर लगता है।

नाराज़ न हो, मैं आ गया हूँ तो कुछ कहे बिना चारा नहीं है। माध्यमके द्वारा आहूत भूत हूँ, उस भूतकी ही ज़बानमें (ज़रा नकमुर होती है वह ज़बान) कुछ भाखूँगा। लीला-नौटंकीकी बात नहीं, फुर-फुर बोलूंगा। भोज-पुरीने नयी कविताको दो अद्‌भुत प्रत्यय दिये, प्यार और दुलारके—या और—वा; बनकी कोइलियासे अमवा हहर उठता है, धनियाकी मधुरी बतियासे मनवा भी लहर उठता है; बोलिए न मुखियाजी, बतिया जमी कि नहीं। ये प्रत्यय गीतोंके प्राण बन गये, फ़िल्मी दुनिया भी इन प्रत्ययोंको पाकर उफना उठी। भोजपुरी ग्रियर्सन बाबाके मतानुसार मर्दानी

ज़बान है; ऐसी मर्दानी कि हाथी ऐसी चीज़को स्त्रीलिंग बनाकर छोड़ती है, सो खड़ी बोलीका खड़ापन उसने झुका ही तो दिया। पिछले साल इन दिनों एक दूसरी ही बरसाती बहार थी, एक कवि-सम्मेलन प्रति-रक्षाकोषके लिए हुआ, उसमें टँइयासे स्वरमें एक शायरने बतर्ज़ 'झुलनी हेराय गइली रामा' अपनी कविता पढ़ी और जब बँहिया, छँहिया, सँइया और अमरँइया तक वे पहुँच चुके, तब मुझसे नहीं रहा गया, मैंने कहा टँइया और फिट कर दीजिए, गीत चहक उठेगा। और बिचारे मुरादाबादकी पालिशमें पले आदमी समझ न पाये, झट उन्होंने टँइयाको भी फिट करके एक पंक्ति जोड़ दी और लगे हाथ सुना भी दी। परिणाम आशातीत रूपसे सफल रहा, वे आदाब-अर्ज़ करके वापिस लौटे; समरभूमिसे लड़ाईमें पन्द्रह मिनिट तक अड़े रहनेकी सनद लेकर।

दूसरा दुर्दान्त प्रभाव नयी कवितापर भोज-पुरीका यह पड़ा है कि नैहरपन्थ प्रबल हो गया है। नैहरकी सुधि गोइँठाकी आगकी तरह धीरे-धीरे सुलगती है, और रसे रसे दर्द भैंसकी तरह हिरने लगता है, इससे एक बड़ा कल्याण हुआ कि रीतिवादी पीर और छायावादी टीससे नजात मिली। दर्द और वह भी धुँईला दर्द नैहरके मैले आँचरका दर्द है न! कोई हँसी-ठट्ठा नहीं। नैहरपन्थका दूसरा पहलू है, पीहरसे उदासीनता। माँजनेको बर्त्तन धरेके धरे रह जाते हैं; गागर अनभरीकी अनभरी रह जाती है; नैहरकी सुधि आते ही मन जाने किन अरहरके खेतोंमें चरने चला जाता है। कठकरेजी सास ताना देती है तो अँगुरिया-फोड़ वाणी प्रादुर्भूत हो जाती है; पति गुद-गुदानेकी एकान्तमें कोशिश करता है तो आँसू मुखर हो जाते हैं; समौरिया (समवयस्क) सखियाँ कुरेदती हैं तो आँखें कहानी कहने लगती हैं, रूपन दादा, कलेजा थाम्ह लेना, बहकने न पाये। यह आत्मविभोर भाव, यह गजनिमीलिका, यह पाछिल प्रीति-पह-चान, यह छुटकारेका सहज नुस्खा संकट-कालकी तरह भावात्मक एकता स्थापित करनेमें वरदान-स्वरूप है। यहाँतक कि जो दूध पीते ही पीहर चली आयी, उनको भी नैहर इस तरह याद आता है जैसे कि वह योगियोंके प्रत्यक्षसे देख लिया गया हो। कभी-कभी कुछ गड़बड़ भी हो जाती है, बारहों महीने फागुन-चैत लरजे रह जाते हैं, बाजराकी मंजरी चैतमें महकने लगती है और महुएके कूँचे सावनमें टपकने लगते है; गाँवकी प्रकृति नैहरपन्थी कल्पनामें उलटा-पुलटा सिंगार करने लगती है, आँखका आँजन ओठोंपर, माथेका टीका कानोंमें, कानोंकी बाली नाकमें, कटिकी करधनी गलेमें और गलेका हार पैरोंमें; पर यह सब भावविह्वल विशृंखलताके साथ तालमेल ही रखती है। यह कल्पना-प्रवणता नैहरपन्थकी कविताको तीसरी महान् देन है। इस कल्पना-प्रवणताने असंख्य अनाम पेड़-पौधों और पशु-पक्षियोंको एक अरूप अगोचर अस्तित्व प्रदान किया है, वह अस्तित्व ब्रह्मकी तरह व्यापक है, निर्विकल्प है और अगम है। इस अस्तित्वकी छाँह, दुपहरी कौन कहे, साँझ तक गुज़ार देनेके

लिए काफ़ी है। ठाकुर भाई, ठीक है न? और सबसे मंगलकारी प्रभाव तो बिसरा ही जा रहा था। भोजपुरी भवानीकी जय हो, नयी कवितामें देववादको नवजीवन मिला। हमारे संस्कार-गीतोंमें पितरोंको न्यौतते समय उनके नामके बाद 'देव' जोड़ा जाता है और उनकी पत्नियोंके नामोंके आगे 'देवी'। सो बड़े-बड़े नास्तिक और अनास्तिक मैयाका चौरा पूजने लगे हैं, दियना बारनेकी और गंगा मैयाकी धारामें चाँचरपर दियना जलाकर बहानेकी हुलास भी ज़ोरोंपर है, जन नामक डीहपर दूध और चावलके आटेकी अधपकी खीर चढ़ रही है, धरती मैयाके हाथीके मुँहमें, कानमें बतासे भरे जा रहे हैं और कुछ दिनों तक तो ललकी (लाल) भवानीके लिए कपूरकी धार ढरकायी जाती रही, अब इधर करिक्की (काली) भवानीका ही ज़ोर है। इस आस्तिकताके उमहावके आगे तो वैष्णव भक्ति पानी भरे, शाक्तधर्म कलऊ (कलियुग) में प्रबल है न! इस देववादने बड़ा पावन कार्य किया; अब शुचि-अशुचिका भेद मिट गया, भाव हो, फिर पाप-पुण्य तो भ्रम हैं! इसने फूटी, पूरी, आधी, डेढ़ी सभी आँखोंको आँज दिया, उन्हें दिव्यदृष्टि मिल गयी। हर दीठ प्रीति बन गयी और हर प्रीति अमृत, हर पानीकी बूंद मोती हो गयी, हर बाली सोना, हर काठ चन्दन और हर गड्ढी गंगा। गंगा मइयाकी जय हो। देवी-देवताओंकी महिमा अपार है, पर यह क्या, चन्दन क्यों काठ हो गया और गंगा क्यों गड्ढी हो गयी। यह कैसी आँचरकी हेरा-फेरी हुई कि जो देववादकी प्रतिष्ठा करनेवाले असली मन्त्र थे, वे झूठे हो गये। सत्य और उज्ज्वल प्रकाशका स्थान रंगीन असत्यने कैसे ले लिया; बताओ न शक्तिके उपासको,

महाकविका रोदन

एकबार महाकवि और उनकी पत्नीके बीच बहस छिड़ गयी। कवि कहते थे कि रोना तो नारीका स्वभाव है, पुरुष कभी नहीं रोते और फिर कवि? कविकी आँखोंमें आँसू तो एक आश्चर्य है।

पत्नीने पूछा, 'क्या मैं मर जाऊँगी, तो भी तुम नहीं रोओगे?'

'यदि तुम मर जाओगी, तो....' महाकवि गम्भीर हो गये और उनके चेहरेपर एक आभा चमक उठी, मानो उन्हें कोई बड़ी अलभ्य चीज़ मिल गयी हो। उनकी पत्नी आश्चर्यान्वित होकर उनके चेहरेको देखती रह गई।

'तुमने बड़ी अच्छी बात कही', महाकवि पूर्ववत् गम्भीरतासे बोले, 'अगर तुम मर जाओगी, तो इस अपूर्व अवसरपर मैं तुम्हारे वियोगके सारे सन्तापको लेखनीकी नोकपर उतारकर एक ऐसे महाकाव्यकी रचना करूँगा, जिसे पढ़कर युग-युग तक मानवता रोती रहेगी....भला ऐसे स्वर्ण अवसरपर मुझे रोनेकी फुरसत मिलेगी?'

सत्त कहाँ गया ? दुःखको दुःख, मुखको सुख, श्मशानको श्मशान और घरको घर देखनेवाला सत्त कहाँ गिर गया ? परम्पराके धनी-धोरियो, तुम तो अपरकी तलाशमें अपरापर हो चले हो, तुमने परम्पराकी डोर किस गौवी कुएँमें डाल दी : लोटा तो डूब ही गया। अब अँजुरी भर-भर ढकर-ढकर जल पियो। हाथ जोड़ता हूँ, बुरा न मानना, आनन्दकाननके वंशी टेरी वीर लोगो, अंचलदेवताके धानी सावनमें तुमने लगता है समाधि ली और तबसे बराबर तुम्हारे नलिनविलोचन ध्यानमें मुकुलित हैं। तुमने वैशिष्ट्यकी तलाशमें इस अंचलकी शरण गही, पर इसके एक रंगमें ऐसे बेसुध हुए कि तुमने अपना निजी सामान्य भी उत्सर्ग कर दिया। नये देववादकी प्रतिष्ठामें ऐसा होता ही है। कबीरने नयेपनकी तलाशमें हर पूजाको ढोंग कहकर नकारा और कबीर-पन्थियोंने पूजाकी पद्धति और भी जटिल और विस्तृत रच डाली। नूतनताका उन्मेष सार्थक है प्रत्यग्र अनुभवके रूपमें, नारा बनते ही धूमिल हो जाता है, ताजगीकी सुवास अपने क्षणमें है, उसको टिकाऊ माननेवालोंकी प्राणशक्ति निश्चय ही विजड़ित होगी। दुहाई पूर्वांचलके दादा लोगोंकी, दुहाई भैया लोगोंकी और दुहाई भोजपुरी मैयाकी, मैं पूर्वांचलका ही एक एकटाह (एकचारी) साहित्यकार हूँ, मैंने जो कुछ भी निवेदन किया है वह इसलिए कि अपने लोगोंके बीच अगर घरकी सही-सही बात न रखी जाये तो दुराव होगा। मैं साहित्यके भौगोलिक विभाजनमें विश्वास नहीं करता, वैसे ही कुछ कम विभाजन नहीं है, मैं पूरबी अंचलके अखिल हिन्दीव्यापी उपकारका दम्भ नहीं रखता, क्योंकि मैं यह मानता हूँ कि अंचलका वैशिष्ट्य तभी है; जब वह अपना है, उसको छूनेमें चोरी नहीं है; दूसरेके अंचल-की छीना-झपटीका प्रभाव कुछ अच्छा नहीं हो सकता। मैं जाति-विलास और देश-विलासकी नायिकाओंके रसास्वादका साझी-दार भी नहीं होना चाहता। इसीलिए यह प्रलोभन किशोरमति पश्चिमांचली राजा लोगोंके आगे देना कि **'हम न खरमेटाव करीलें राजा रहिला चबाइ के भेंवल धरल बा दूध में खा जा तोरे बरे'** मैं सोचता हूँ ईमानदारीकी बात नहीं है। यह दूसरी बात है कि खाजालोभी राजा लोग पतियायेंगे नहीं, हर अंचलकी क्षमता-अक्षमता उस अंचलवासीके लिए है; यह मानकर चलनेपर बात वहींतक की जानी चाहिए, जहाँतक कि इस अंचलवासी हिन्दीके नये कवियोंकी रचनाप्रक्रियामें भोजपुरी लोकरागिनीका उपादान हुआ हो।

> 'हाँ और 'ना'
>
> **स्त्रियोंकी 'हाँ' और 'ना'के बीच एक सूईकी नोकके सामनेकी भी गुंजाइश नहीं रहती।**
>
> —सर्वेण्टस

मैंने इधर बहुत तीखेपनके साथ अनुभव किया है कि जहाँ लोकगीतोंके तन्त्र या शिल्प-के कविताको एकदम ढालनेका यत्न हुआ है, वहाँ एक विचित्र-सी कृत्रिमता आ गयी है,

जो शैवाल सरसिजकी शोभा बनाता है, वह सरसिज वदनकी शोभा बनाये यह क़तई ज़रूरी नहीं है। पुनरुक्ति, प्रश्नोत्तर, पहेली और बिम्ब-प्रतिबिम्ब जिस हद तक लोकगीतों-के आकर्षणको बढ़ायें, इसमें मुझे बड़ा सन्देह है। इसके विपरीत जहाँ लोकगीतोंके सन्दर्भ अनुभवके संस्पर्शसे पुलकित होकर आये हैं, वहाँ द्युति, शक्ति और प्राणवत्ता आ गयी है, उदाहरणके लिए कुछ पंक्तियाँ लें—

'दीठि पार काँपे डूबी-डूबी परदेसी राह'

'खोज रहा हूँ, मैं यहाँ भी शायद अपनापन
कोई उठता बिरवा, कोई बादल का छन'
(रामदरश मिश्र)

'मुझको आँचल में हरसिंगार भर लेने दो,
मिटने दो आँखों के आगे का अँधियारा'
(सर्वेश्वर)

ये तन से परे ही परे रहते
ये मन में नहीं अँटते
मन इनसे बिलग जब हो जाता,
ये काटे नहीं कटते,
ये आँखों के पाहुन बड़े छलिया इन्हें देखे
न मन भरता
(केदारनाथ सिंह)

आगे पुकारेगी सूनी डगरिया पीछे झुके
बनबैत
संझा पुकारेगी गीली अखड़िया मारे हुए
धनखेत
(केदार)

'पर पहले अपना यह आँगन कुछ कहता है,
उस उड़ते आँचल से गुड़हल की डाल
बार-बार उलझ जाती है,
एक दिया वहाँ जलाना'
(केदार)

कोंपल के होंठों ने बाँसुरी बजायी,
पिड़कलियों ने पूनी दोपहर जगायी
(ठाकुर)

धीरज की गाँठ खुली तो लेकिन
आधे अँचरा पर पिय सो रहा
(ठाकुर)

एक कली बेले की
मेरे मन में जैसे
भूली-भटकी कोई लड़की हो मेले की
(रूपनारायण)

आया था बाट सँझलौके में
देखा नट छाया का
खेल रहा होली था रंगों की
(मार्कण्डेय)

इन पंक्तियोंमें एक-दो शब्दोंके-ही माध्यम-से लोकगीतोंके सन्दर्भको उकसाकर काव्य-अनुभव कृतार्थ हो गया है। उदाहरण ये दिङ्मात्र हैं, महज यह जतलानेके लिए मैं ग़लत न समझा जाऊँ।

इस सम्मेलनकी देहलीपर माथा टेकने आया हूँ तो यह अरजी लगाकर जाऊँगा कि अंचलपर बड़ी बुरी नज़रें लगी हैं। उनसे अंचलको बचाओ, लिस्टालंकार बननेसे अंचलकी प्रकृतिको बचाओ, फ्लैश बल्बकी जलानेवाली रोशनीसे इस बनारसी पाटदार अंचलको बचाओ, साईंके भभूतके लिए

उघरकर पसरनेसे इस अंचलको बचाओ, वेणीके साथ पीछे लहरानेके कारण एँड़ीदार जूतियोंकी उठती धूलसे इसे बचाओ। और अमृतके पुत्रो, आँधी-पानीसे बचाओ, राजनीतिकी मूसलाधार वर्षा इसे निर्लज्जताका आवरण न बनाने पाये, नयेपनके अभिमानकी आँधी इसे उड़ाने न पाये। अंचल सुकुमार है, इसे खींचो मत, इसे पकड़े मत रहो, अगर जवाँमर्द हो तो इशारा भर काफ़ी है। यह अंचल तुम्हें दूसरे अंचलोंके प्रति आदरशील बनानेके लिए तुम्हें स्नेह देता है, तुम यदि इसे अपनाकर दूसरे अंचलोंको तुच्छ समझने लगे तो इस अंचलका अपमान होगा।

अधिक क्या विनती करूँ, मझौवा या वारोके ही सब लोग तो हैं नहीं। थिर बुद्धि करके सोचिए कि आंचलिकता नारा या शोर बनकर रहे या कि मनकी सुवास। भूल-चूक लेनी-देनी। सब क्षमा करना। हम इस मण्डलीका अहिवात दिन-दिन मनाते हैं।

आपका अँचराछोर मीत
भ्रमरानन्द

पुनश्च :

भ्रमरानन्द ३००० पृष्ठोंका २० प्वाइंटमें सुखसागर आकारमें भोजपुरी भाषामें उपन्यास लिखनेकी योजना बना रहे हैं। शीर्षक 'एक क्विंटल ऊखि (गन्ना) का तीस किलो भेली' (गुड़) रहेगा। ३० लेखक चाहिए; प्रत्येक लेखक ज़रूरी नहीं कि भोजपुरी अंचलके बारेमें,पर भोजपुरी भाषामें और भोजपुरी पात्रोंके द्वारा एक-एक बड़ी कहानी भेजें। जोड़नेका काम भ्रमरानन्द कर लेंगे। बिना इसके न अमरत्व है, न पैसा, न प्रतिष्ठा। महाकाव्य लिखना हो तो संस्कृतमें लिखो, एकेडमी एवार्ड मिलेगा, विचारपूर्ण लेख लिखना हो तो अँग्रेज़ीमें, शासन और विश्वविद्यालय प्रतिष्ठा देंगे। हिन्दीमें केवल रोया जा सकता है! हाँ, कथा-कहानी लिखना हो तो भोजपुरीमें। लेखकोंका उत्तर एक महीनेके भीतर मिलना चाहिए। पात्रोंके नाम और कहानीकी भौगोलिक पृष्ठभूमि भी साथ हो। और हाँ, लेखककी ससुराल और लेखिकाके मैकेके सुदर्शन लोगोंका फोटो भी (नीबूके गाछके नीचे लिया गया) साथ हो।

—भ्र०

●

अनुभवकी सीख

"अनुभवका अर्थ है—पुरानी ग़लतियोंसे सीख लेना, उन्हें छोड़ना।"

"और नयी ग़लतियोंकी राहपर चल पड़ना! क्यों?"

अपरिचिता

कुँवर नारायण

●

प्रत्येक अनिश्चय से कुछ नष्ट होता हूँ,
प्रत्येक निषेध से कुछ खाली,
प्रत्येक नये परिचय के बाद दूना अपरिचित,
प्रत्येक इच्छा के बाद नयी तरह पीड़ित।
हर अनिर्दिष्ट चरण निर्दिष्ट के समीपतर पड़ता है,
हर आसक्ति के बाद मन उदासियों से धुलता है,
हर अनुरक्ति मुझे कुछ इस तरह बिता जाती है
मानो फिर जीने के लिए कोई भविष्य नहीं बचता है!

अभाव-तुल्य ओ प्यार की तिलिस्म उपलब्धियो —
यहाँ हूँ मैं, यहाँ मुझे फिर खोजो मेरे गाते हुए इरादों में;
मनाओ — मेरी आशाओं को मनाओ कि अभी न रूठें,
अभी बहुत कुछ है ज़िन्दगी के वादों में।

एक चेहरा जो मेरे लिए चाँद हो सकता था
भीड़ हो जाता है,
और एक अन्यतम स्वागत-गान ओठों तक आते-आते
झिझक जाता है;
लगता है, वह जो अभी-अभी झलक कर
उस मोड़ पर ओझल हुआ —
अपरिचित था
जिसको भूल से मैंने
अपनी अत्यन्त निजी अनुभूतियों से छुआ।

० ० ० ० ०

नया तारा

मूल : गनो सामताणी
अनुवाद : उषाकुमारी देसाई

०

कथाकारका दावा है कि इस अद्भुत कहानीमें वह एक तथ्य बतला रहा है, भले ही वह जानता है कि आप इसपर विश्वास नहीं करेंगे।

०

लेखक हूँ। जानता हूँ, कहानी केवल तथ्यके बलपर नहीं चल सकती। कल्पनाकी भी आवश्यकता है। किन्तु उससे अधिक कल्पनामें विश्वासकी आवश्यता है। वेदव्यासकी कल्पनामें विश्वास किये बिना यमुना-किनारेकी रास-लीलाकी रसिकताका आनन्द पाना क्या सम्भव है ? कालिदासके 'मेघदूत' को सच समझे बिना काव्य-रस विष ही तो लगेगा।

प्रत्येक कलाकार अपनी रचनाको कल्पनाके बलपर ही चलाता है और उस कल्पनामें विश्वासकी एक छिपी हुई माँग भी रहती है।

लेकिन मैं ऐसी माँग नहीं करूँगा। कारण मैं एक बिलकुल तथ्य ही बतला रहा हूँ। कल्पनाका अंश-मात्र भी मेरी इस कहानीमें नहीं। मैं जानता हूँ, आप विश्वास नहीं करेंगे।

न कीजिए विश्वास।

किन्तु यह हक़ीक़त है कि पहले-पहल जब सुषमासे मेरी मुलाक़ात हुई थी, तो हम एक दूसरेसे मिलकर भी नहीं मिले थे, बोलकर भी नहीं बोले थे। एक दिन आसमानमें संध्याके पहले तारेके निकलनेकी तरह सहसा वह मेरे घर आयी थी। मैं घरमें नहीं था। लौटकर देखा, मेरी मेज़पर एक पुस्तककी जिल्दके साथ बालोंके एक पिनसे एक छोटा-सा पत्र अटका हुआ पड़ा था। पत्रमें लिखा था :

अचरज आपको किसी भी बातपर लगता ही नहीं, आपके ही एक उपन्यासमें मैंने ऐसी बात पढ़ी है। अज्ञातका ज्ञान आपके लिए अचरजकी नहीं, बल्कि हर्षकी बात है—और मैं आपके लिए बिलकुल अनजानी भी तो नहीं हूँ। आपने मुझसे, अपनी कहानियों और उपन्यासोंके पात्रोंके माध्यमसे, अनेक बातें की हैं। आपसे मिलने आयी थी, मिल नहीं सकी।

किन्तु फिर आनेका एक बहाना है--आपकी माताजीने आनेके लिए निमन्त्रण दिया है। अच्छा नमस्कार।

– सुषमा

अज्ञातका ज्ञान पानेके लिए घरका द्वार खोल दिया और खोल दिया मनका द्वार। कुछ दिन प्रतीक्षा करता रहा। ऐसे ही एक दिन प्रतीक्षा करते हुए आराम-कुरसीपर ही नींद आ गयी। जागकर देखा, बाहर बहुत तेज़ बारिश हो रही थी। किसीने मुझे चादरसे ढक दिया था और चादरके कोनेमें एक पत्र पिनसे अटका हुआ पड़ा था :

माताजीने बतलाया, आप रातको एक बजे घर लौटे थे। आपको जगाऊँ कैसे? किन्तु रातको इतनी देर तक बाहर रहना क्या ठीक है? पत्नी होती तो····और बिना खाये ही आप सो गये? खैर, छोड़िए····पर, हाय! आप कितने सुन्दर हैं! अपने सुन्दर शरीरको इस तरह कष्ट न दीजिए, दुःख होता है।

– सुषमा

अज्ञात अज्ञात ही रहा। सोचा, धरती विशाल है, जाननेके लिए और भी बहुत-कुछ है। एक जगहपर खड़े रहनेसे मिलता भी क्या है? और इस तरह सब-कुछ मानो भूल भी गया।

ऐसी दो-एक घटनाओंकी कल्पनाके सहारे बढ़ाकर कहानीकी गतिको क़ायम रखा जा सकता है। लेकिन मुझे कल्पनाकी आवश्यकता ही नहीं रही। हक़ीक़त आकर कहानी का हाथ पकड़कर उसे आगे ले गयी।

उस दिन शामको कहींसे लौट रहा था। रास्तेमें सहसा तेज़ बारिश शुरू हो गयी। न रेनकोट था, न छाता। दौड़कर एक पेड़के नीचे जाकर खड़ा हुआ। मानो बाढ़ शुरू हो गयी। तेज़ वारिश, तूफ़ानी हवा। वह पेड़ भी मानो प्रकृतिके साथ इस कोपमें सम्मिलित होकर, झूम-झूमकर, अपने सहस्र पत्रोंसे जल बरसाने लगा। तब ठीक सामनेसे, एक घरसे निकलकर, एक स्त्री अपने कमरेसे बिजलीकी तरह प्रकाश फैलाती हुई, दौड़ती हुई आयी। सामने आकर कहा, "यह क्या? वह सामने ही मेरा घर है और आप यहाँ खड़े होकर इस तरह भीग रहे हैं? चलिए, अन्दर चलिए।"

तब अचरज, हर्ष, कुछ मालूम नहीं हुआ। अवाक्, मुग्ध बनकर उस वर्षामें भीगा हुआ उसका सुन्दर मुख मैं देखता ही रह गया। इस एक क्षणमें ही उसकी साड़ी गीली होकर, उसके शरीरसे मिलकर एक हो गयी थी। ओह, वह रूप देखा।

केवल एक क्षण! दूसरे क्षण उसने मेरा हाथ पकड़कर, मुझे खींचकर कहा, "चलिए, अन्दर चलिए। इस तरह मुँह ताकनेसे ठण्ड लग जायेगी।"

और हाथसे खींचती हुई वह मुझे अपने घर ले गयी। दो मिनिट बाद वह क़मीज़ और पतलून लेकर आयी। बोली, "लीजिए, जल्दी कपड़े बदलिए, तब तक मैं आपके लिए कॉफ़ी बनाती हूँ।"

कहा, "रहने दीजिए कॉफ़ीको। ठण्ड क्या मुझे ही लगेगी? आप भी कपड़े बदल आइए।"

जाते-जाते वह हँस दी। तब मुझे पहली बार मालूम हुआ कि हँसीका भी एक आकार होता है, रूप होता है। उस हँसीका एक अर्थ भी था···कि इस स्नेहका भार मैं सह न सकूँगी, रहने दीजिए।

दस मिनिटके बाद वह कॉफ़ी लेकर आयी। कपड़े वह बदलकर आयी थी, किन्तु उसके बालोंमें-से अभी भी पानीकी बूँदें टपक रही थीं। कॉफ़ीकी प्याली देती हुई बोली, "कॉफ़ी आप फीकी पीते हैं, यह तो जानती हूँ, किन्तु कितनी फीकी, यह नहीं जानती। पीकर देखिए, बहुत मीठी हो तो दूसरी बना दूँ।"

हँसकर बोला, "देखिए जनम-मरणके फेरेमें मेरा विश्वास नहीं। पर लगता है, आप मुझे पिछले जन्मसे ही पहचानती हैं।"

"यानी आपका विश्वास हिल रहा है?"

"वह तो है ही, क्योंकि आप एकसे ही नहीं, दो जन्मोंसे मुझे पहचानती हैं।"

"और आप?"

"एक जन्ममें मैं था ही नहीं, और दूसरे जन्ममें मुझे नींद लगी थी।"

वह हँस दी, "फिर भी आप मुझे पहचानते हैं?"

"अपने इस उपन्यासपर श्रीमती सुषमा का नाम पढ़नेके बाद भी पहचानना क्या कठिन है?"

तब मेज़पर रखे हुए उपन्यासपर उसकी नज़र पड़ी। कुरसीपर बैठती हुई बोली, "आप विद्वान् हैं, बतलाइए, क्या जनम-मरण का फेरा होता है?"

"कैसे कहूँ? ऐसी सुन्दर बातपर मनको विश्वास करनेका लोभ तो होता है, पर बुद्धि साथ नहीं देती।"

"बुद्धिको छोड़िए, मनकी बात कीजिए।"

हँसकर बोला, "वाह! आप तो शास्त्रों की सारी दार्शनिकताको, धर्मको चंचल मनकी नींवपर खड़ा करना चाहती हैं।"

वह ख़ाली प्याली रखते हुए बोली, "मन का भी धर्म होता है, आप मानते हैं?"

"मानता हूँ।"

"और मनके धर्मानुसार ही प्रत्येकको चलना चाहिए, क्या यह भी मानते हैं?"

"मानता हूँ।"

"पर मैं बुद्धिके धर्मको ही मानती हूँ। मनके धर्मको मानती होती तो···" उसकी आवाज़ धीमी हो गयी।

पूछा, "तो क्या?"

उसने उत्तर नहीं दिया। ख़ाली निगाहसे मेरी तरफ़ निहारती रही। फिर पूछा, "तो क्या सुषमा?"

"तो मैं आज इस घरकी गृहिणी न होती। किसी लेखककी पत्नी बनकर···" सहसा वह उठकर बाहर चली गयी।

अज्ञातका यह कौन-सा ज्ञान पाया मैंने? ज्ञान क्या पीड़ा देता है? वह ज्ञानकी पीड़ा ही क्या रचनाका कारण है?

बाहर बारिश और तूफ़ान रुक गये थे। लेकिन मनमें एक तूफ़ान उठ खड़ा हुआ था, और नज़दीक ही, दूसरे कमरेमें किसीकी आँखोंसे आसुओंकी वर्षा हो रही थी। अधिक वहाँ ठहर नहीं सका। चुपचाप, अपने गीले कपड़े वहीं छोड़कर, सुषमाके दिये हुए कपड़ों

में ही मैं बाहर निकल आया।

मनका धर्म···बुद्धिका धर्म···

बुद्धिको ही उत्तम माना गया है। उत्तम चाहे बुद्धि हो, चाहे मन किन्तु दोनोंकी मर्यादाओंको लाँघकर सुषमाने जो बात की थी वह न जाने किन रूपोंमें, किन अर्थोंमें बार-बार मेरे मनमें रहने लगी। सच फिर भी अज्ञात ही रहा। सर्व-व्यापक सचकी बुनियाद हक़ीक़तपर ही है। कल्पनासे तो स्वयं अपने मन का सच भी नहीं जाना जा सकता। इसलिए मनको शान्त करके बैठा रहा। सोचा, विधाता है, समयपर प्रत्येक रहस्यको प्रकट करेगा।

दो दिन भी नहीं बीते, कि देखा, सामने सुषमा खड़ी थी। हाथमें मेरे कपड़े थे। देते हुए बोली, "अर्जेण्ट वाशिंग कराके लायी हूँ, यह बिल लीजिए।"

"ऐसी जल्दी क्या थी?"

हँसकर बोली, "कपड़े देनेकी नहीं, पर आपसे मिलनेकी तो जल्दी थी न।"

वही रहस्य। वही आकार-रूपकी हँसी।

बोला, "देखिए, आप स्नेहसे मेरा हाथ पकड़कर मुझे अपने घर ले जा सकती हैं, कॉफ़ी पिला सकती हैं, ठण्ड लगनेकी चिन्ता कर सकती हैं, फिर भी मेरे यहाँ आनेके लिए आपको बहाना क्यों खोजना पड़ता है?"

डरती हुई बोली, "जानते तो हैं, मैं विवाहिता हूँ, श्रीमती सुषमा।"

"इसलिए क्या···"

"लक्ष्मणकी लकीर पड़ी हुई है, लाँघनेकी मनाही है।" वह हँस दी, "रावण बनकर, सीताको लकीरके बाहर निकाल सकेंगे?"

"क्या कहती हैं?"

वह गम्भीर हो गयी—"सीताओंको रावणोंकी ही आवश्यकता है—एक सीताकी इस बातपर विश्वास कीजिए।"

"विश्वास करूँगा, सुषमा! लेकिन सीताने क्या अपने धर्मको निभाया है!"

उसके मुखकी रेखाएँ खिंच आयीं। न जाने कैसी-सी आवाज़में बोली, "धर्म ही निभाया है। अग्नि-परीक्षा मेरी एक बार नहीं, पल-पल हो रही है, देखेंगे?"

सहसा पीछेसे ब्लाउज़ ऊपर करके, पीठ नंगी करके वह खड़ी हो गयी। सुन्दर-गोरी पीठपर बेंतकी मारके काले निशान। वे निशान मेरी आँखोंमें चुभकर मेरे मनको व्याकुल कर गये। एकदम दोनों हाथ बढ़ा कर मैंने उसका ब्लाउज़ नीचे कर दिया।

गुस्सेमें बोला, "तो वह आपको मारता है?"

"नहीं, पतिके लिए इस तरह नहीं कहना चाहिए। कहना चाहिए, मैं स्वयं मार खाती हूँ।"

न जाने मुझे क्या सूझा कि चुपचाप जाकर द्वार बन्द कर आया। सुषमा उठ खड़ी हुई। बोली, "यह क्या?"

बोला, "तुम वापस नहीं जा सकतीं, मैं तुम्हें जाने नहीं दूँगा।" मानो कोई बड़ा अधिकार मिलनेके कारण वह मेरे लिए 'आप' से 'तुम' हो गयी।

"आपका पक्ष न तो नैतिकता लेगी, न क़ानून।"

"ये बुद्धिकी बातें हैं। मैं मनके धर्मको ही मानता हूँ।"

वह ज़रा हँस दी, "यह आपका अहंकार है। मनका धर्म निभानेकी शक्ति है, तो मेरे घर आकर मुझे ले आइएगा। अब मुझे जाने दीजिए।"

मेरा मन कठोर हो उठा। उसका रास्ता रोककर बोला, "सीता-को रावणकी आवश्यकता है न? मुझे देखना है, कौन-सा राम तुम्हें इस अशोक-वाटिकासे मुक्त करके ले जाता है।"

> पुरुषसे नारी अधिक बुद्धिमती होती है, क्योंकि वह जानती कम है पर समझती अधिक है।
>
> —जेम्स स्टीफ़ेन

वह भी ज़रा तीखी आवाज़में बोली, "सीता अपनी इच्छासे यहाँ आयी है, अपनी ही इच्छासे जायेगी। रावण उसे उठाकर नहीं लाया है। द्वार खोलिए।"

द्वार खुला।···रहस्य खुलकर भी नहीं खुला।

जीवनमें बहुत-सी कहानियाँ रची जाती हैं। बहुत-सी घटनाएँ होती हैं। उन सभीका रहस्य हम क्या जान सकते हैं? वह रहस्य पाना तो जीवनको जानना है। सृष्टिका भी एक विधान है, क़ानून है, नियम है। कोई भी बात उसका उल्लंघन नहीं कर सकती।

सुषमाके पीछे मानो इस देशके नारी-धर्मका रहस्य छिपा हुआ था। और नारीके मनका पार पानेका साहस कौन करे? तो भी अन्दरका लेखक किसी पीड़ासे व्याकुल बन गया।

इस व्याकुल मनसे एक शाम अपने घर पहुँचा, तो देखा, मेरे ही बिस्तरपर, मेरा ही उपन्यास लेकर लेटी पड़ी थी सुषमा।

हे प्राण, तुम्हारी सिद्धि···

चौंककर वह उठ बैठी। पल-भर शान्ति···फिर उसने कहा, "आपका यह कौन-सा पागलपन है, बतलाइए तो?"

"हुआ क्या है? कुछ भी तो नहीं।"

"तो रोज़ इतनी जल्दी बिना खाये-पिये कहाँ जाते हैं? माताजीका क्या ज़रा भी ख़याल नहीं है?"

"वह माताजी हैं! एक ग्रास भी कम खानेसे वह समझेंगी कि मैं भूखा ही रह गया।"

वह बिस्तरसे उठी। नज़दीक आकर निहायत धीमी आवाज़में बोली, "और मैं?"

अवाक् मैं उसके उन दोनों होंठोंकी ओर निहारता ही रह गया, जिनमें-से यह प्रश्न आया था—'और मैं?' उसमें स्नेह तो था ही, लेकिन उसमें समाये हुए अभिमानने अपना जो अधिकार जताया था, उसीने मुझे अवाक् कर दिया था। उत्तरके लिए वह रुकी भी नहीं, बाहर चली गयी। पाँच मिनिटों ही में हाथमें खानेकी थाली लिये आयी।

थाली मेज़पर रखकर बोली, "आइए, खाइए।"

"नहीं, अकेले मैं नहीं खाऊँगा।"

उसने पल-भर मेरी तरफ़ निहारकर मानो कुछ सोचा। फिर कहा, "आइए, मैं भी खाती हूँ।"

खाते-खाते सुषमा बोली, "आप विवाह क्यों नहीं करते?"

मैं जरा हँसकर बोला, "मेरे साथ विवाह करनेवाली लड़कीके लिए धर्म निभाना निहायत कठिन हो जायेगा।"

समझा, मेरी बातसे शायद उसे दुःख पहुँचेगा। किन्तु उसने भी हँसकर उत्तर दिया, "सदा आप दूसरोंको अपने धर्मके निभानेमें आड़े आते हैं।"

पूछा, "ये दूसरे कौन हैं, सुषमा?"

थोड़ा हँसकर बोली, "मैं भी हो सकती हूँ।"

"तो सुनो, सुषमा, मैं चाहता हूँ कि तुम्हारा धर्म निभाना न केवल कठिन बने, बल्कि असम्भव हो जाये।"

वह फिर भी हँस दी। बोली, "आप कितना भी बड़ा शाप दें, मैं गरदन झुकाकर स्वीकार करूँगी। परन्तु अब मुझे रहने दीजिए, खाना खाइए।"

मैं समझ गया, वह बात बदलना चाहती थी। इसलिए चुपचाप खाना खाकर ख़त्म कर दिया। हाथ-मुँह धोते हुए घड़ीपर नज़र पड़ते ही मैं चौंक गया। बोला, "काफ़ी देर हो गयी है, सुषमा। चलो, मैं तुम्हें छोड़ आऊँ।"

सुषमा हँस दी, "वाह! उस दिन तो मेरे जानेका दरवाज़ा बन्द कर दिया था और आज धकेलकर बाहर निकाल रहे हैं?"

"वह मेरे मनकी कमज़ोरी थी।"

उसकी हँसी सहसा ग़ायब हो गयी, "केवल कमज़ोरी?"

"चंचल मनकी चंचल वृत्तिको और क्या कहूँ?"

"ज़बर्दस्ती दरवाज़ा खुलवाकर मैंने आपको कमज़ोरीसे बचा लिया, यह बात याद रखिएगा।"

मैं चुप रहा।

"और पहले जो शाप आप दे रहे थे वह झूठ ही था?"

मैंने उसके दोनों हाथ पकड़कर उसे बैठा दिया। कहा, "सुषमा, शरीरकी, रूपकी भी एक मर्यादा होती है, जानती हो?"

"जानती हूँ।"

"तो सुनो, वह मर्यादा वासना तक सीमित नहीं।"

"जानती हूँ।"

"नहीं, तुम नहीं जानती। जानती होती तो वासनाको भी शरीरकी मर्यादा समझकर पातिव्रत्य धर्मका अपमान न करती।"

लगा, वह ज़रा डर गयी। किन्तु मैं कहता रहा, "तुम्हारे इस शरीरपर, रूपपर अत्याचार होता हुआ देखकर तुम्हें बचानेका

> **भगवान्‌को अपना भग्न हृदय सौंपें तो वे उसे जोड़ देंगे : स्त्रीको अपना सम्पूर्ण हृदय दें तो वह बिना चूके उसे तोड़ देगी।**
>
> —ई० पेस्टविच

मोह उस दिन मुझे भी हुआ था…"

वह एकदम काँप गयी, "बस चुप कीजिए, रहने दीजिए।"

चुप मैं न हुआ। बोला, "शरीरका धर्म निभानेसे ही सीता कहनेका अधिकार मैंने नहीं पाया…"

बात बीचमें ही रह गयी। वह फूट-फूटकर रोने लगी। आगे बढ़कर उसके सिर-पर हाथ रखकर बोला, "चलो, सुषमा, मैं तुम्हें घर छोड़ आऊँ।"

उस दिन उसके घर तक पहुँचकर भी मैं अन्दर नहीं गया। देर हो रही है, कहकर, बाहरसे ही लौटने लगा। अभी दो-चार क़दम ही आगे बढ़ा था कि अन्दरसे एक चीख आकर कानोंमें घुस गयी। फिर सुनी अपने नामकी पुकार। दौड़कर दरवाज़ेपर पहुँचा, तो दरवाज़ा बन्द था। ज़ोरसे पुकारा, "सुषमा! सुषमा!! सुषमा!!!"

अन्दरसे बेहद दुःख और विनयसे उत्तर आया, "कृपा करके आप जल्दी चले जाइए। वे शायद पीकर आये हैं।"

फिर एकदम शान्ति। एक-दो मिनिट ठहरकर मैं लौट आया।

चार दिन बीत गये। उन चार दिनोंके एक-एक पलको मैंने साक्षात् पैदा होते और मरते देखा था। उन पलोंके जन्म-मरणके सिल-सिलेके सिवा मानो उन दिनों मैंने और कुछ देखा ही नहीं। एक रातके एक ऐसे ही पलमें सामने आ गयी सुषमा।

सुषमा!

यही क्या सुषमा थी? साड़ी बहुत-सी जगहोंपर-से फटी हुई, बाल परेशान, मुंहपर काले दाग़…

मानो कोई ऐतिहासिक खण्डहर हो, जिसकी प्राचीन कालमें अमर कीर्ति रही हो और युगोंके बाद फिर अचानक ही धरती माताकी गोदमें-से प्रकट हुआ हो—टूटा-फूटा, कीर्तिहीन, अद्भुत, रहस्यमय। सुषमा कुछ ऐसी ही लग रही थी। अन्दर आकर कुरसीपर बैठते ही बोली, "आइए, मेरा मुँह चूम लीजिए और मुझे दस रुपये दीजिए।"

मन, चित्त, बुद्धि, जिनके बलपर यह संसार चलता है, उनकी स्वाभाविक वृत्ति रुक जाये तो?

रे मन! हाय रे मन!…टूटना हो तो भी इस बातपर टूटकर इनसानकी महान् भावनाओंपर कलंक न लगाना!

सुषमा ही फिर बोली, "इनसानके आदर्श, ऊँच-नीच, पाप-पुण्यके विचार वासनापर ही बँधे हुए हैं। मैं नीच हूँ, पापिन हूँ, चरित्रहीन हूँ। आइए, चूम लीजिए मेरा मुँह।" वह उठकर मेरी तरफ़ बढ़ आयी। फ़ुसफ़ुसाती हुई बोली, "डरिए मत, पतिकी कही हुई बात सत्य प्रमाणित करने आयी हूँ। उसने कहा है कि मैं आपके पास शरीर बेचने आती हूँ…कि आप मुझे मुँह चूमनेके दस रुपये देते हैं…"

एकदम हाथ बढ़ाकर मैंने उसका मुँह बन्द कर दिया। तब वह हँस दी। वही रूप-आकारकी हँसी…और वह हँसी ही मेरे मन, चित्त, बुद्धिकी स्वाभाविक वृत्तिको लौटाकर ले आयी। कहा, "सुषमा, आत्माका, मन-

का धर्म जब शरीरके धर्मसे मेल नहीं खाता, तभी दुःख पैदा होता है।"

"आत्मा ? आपने उसे शराब पीते हुए नहीं देखा है ? पीकर मुझे मारते हुए नहीं देखा है ? ···आप शायद नहीं जानते कि आत्मा भी मरती है। शरीरको उसकी ही खुशीके लिए जीवित रखा है। आज उसी शरीरको उसने वेश्याका शरीर कहा है। इस शरीरकी इज्ज़त अब मैं नहीं करूँगी। आइए, आइए, कीजिए इसे भ्रष्ट, होने दीजिए उसकी बात सच्ची।"

> निर्भीकताके साथ और बिलकुल सच जैसा दिखता असत्य बोलनेकी कलामें इतना निपुण कोई न हो सका जितना एक नारी !
>
> —पोच

बात पूरी होते ही सुषमाने बटन दबाकर बिजली बन्द कर दी।

विश्वामित्र...

इन्द्रदेव...

मैं न तपस्वी हूँ, न देवता। मैं तो साधारण इनसान हूँ। तो भी वह रात याद करके सोचता हूँ, वह कौन-सा रहस्य है, जिसके कारण एक साधारण इनसान ऋषियों-मुनियों-देवताओंसे ऊपर उठकर श्रेष्ठ हो जाता है ?

उस अंधकारमें ही क्षण-भर ताकता रहा। सामने सुषमाकी रूप-रेखा ही नज़र आ रही थी। कहा, "सुषमा, तुम्हारी आत्मा आज जीत गयी है। आज ही तुम्हारी आत्मा जागी है, तुम्हारे मनकी चेतना वापस आयी है। हार गया है तो तुम्हारा शरीर ही हार गया है, रूप ही हार गया है।"

कोई उत्तर नहीं मिला। कहा, "बिजली जला दो, सुषमा !"

प्रकाश होते ही देखा, उसकी आँखोंसे अरोक, अजस्र आँसुओंकी धारा बह रही थी। कुछ समय तक कोई भी कुछ न बोला। फिर धीमी, हलकी-सी आवाज़में वह बोली, "अच्छा, नमस्कार, मैं जाती हूँ।"

समय कैसे बीतता जाता है, स्मृतियाँ कैसे धुँधली होकर मिटती जाती हैं।

'मैं जाती हूँ' कहकर जो सुषमा गयी तो मानो मेरे घरमें-से ही नहीं, मेरे मन-में-से भी धीरे-धीरे जाने लगी।···कहाँ गयी वह···यह मालूम हुआ कुछ वर्षों बाद···।

एक दिन घर लौटकर देखा, पहली बार-की तरह, मेज़पर सुषमाका एक पत्र रखा था। अज्ञातका पत्र नहीं था, तो भी लगा, मानो किसी अनजानेका ही पत्र था। खोल-कर पढ़ा। लिखा हुआ था :

आज मेरे व्रतका नौवाँ दिन है।

आप शायद जानते न हों, जिस दिन आपने मेरे बिना स्वयं भी खाना खानेसे इनकार किया था, उस दिन भी मेरा व्रत था। बिना कथा सुने, बिना भोग लगाये मैंने अपना व्रत तोड़कर, आपके साथ बैठकर खाया था।

और आज मेरा व्रत तुड़वानेके लिए आश्रमकी कई सखियाँ रो रही हैं।

आप पूछेंगे यह व्रत क्यों ?

आपने कहा था, जहाँ शरीर और आत्माका धर्म मेल नहीं खाता, वहीं दुःख पैदा होता है। यहाँ, इस आश्रममें आकर आत्माकी सिद्धि तो प्राप्त की है, लेकिन शरीरकी मर्यादा नहीं निभा सकी हूँ। वहाँ थी तो शरीर और रूप ही सब-कुछ था। यहाँ आत्मा ही सब-कुछ है। वहाँ शरीरके साथ आत्माका मेल नहीं था, यहाँ आत्माके साथ शरीर मेल नहीं खाता। शायद बन्धन ही दुःखका कारण है। यह बन्धन आत्माका हो, चाहे शरीरका।

आत्माकी मुक्ति है स्नेह, शरीरकी मुक्ति है वासना। शायद एककी मुक्ति, दूसरेकी मुक्तिके बिना नहीं होती। शायद यही कारण है कि सूक्ष्मको स्नेह करनेके लिए उसे भी साकार, स्थूल रूपमें पानेकी चाहना होती है। निराकारका साकार रूप कितना सुन्दर होता है!...

रूप रहा नहीं है, यौवन छुट्टी ले रहा है। उसकी अब मुक्ति शायद होगी नहीं, इसलिए मुक्ति मेरी आत्माकी भी नहीं होगी। मुक्ति हो, न हो, इस बन्धनका दुःख अधिक सहन नहीं कर सकती। इसीलिए मेरा यह व्रत है।

—सुषमा

उस रात मैंने आकाशमें एक नया तारा देखा था।

० ० ०

अनुसन्धानका विषय

पार्टीकी बोरियतसे ऊबकर प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटाइन चुपकेसे उठे और घर भागनेकी सोच ही रहे थे कि गृह-स्वामीने उन्हें देख लिया। पास आकर बोले, "इतनी जल्दी क्यों चल पड़े ? क्या किसी विशेष अनुसन्धानमें लगे हैं इन दिनों ?"

आइन्स्टाइन और भी गम्भीर हो गये, फिर धीरेसे कहा, "जी, हाँ, यहाँ बैठे-बैठे ख़याल आया, बहुत ज़ोरसे—कि क्यों न फ़िल-हाल भागनेकी स्पीडपर अनुसन्धान करूँ ?"

कहकर वह शीघ्रतासे बाहर निकल पड़े।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

मैं एक बेरोज़गार आदमी

o
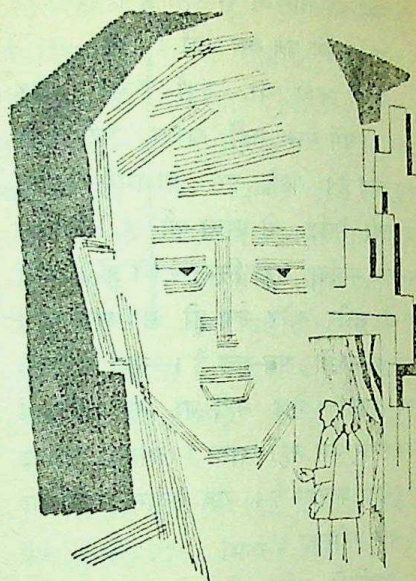
बहुतोंकी व्यथाका एक मार्मिक चित्र, बिम्ब-प्रतिबिम्ब आपकी आँखोंके सामनेसे गुज़रते हैं

o

आइए, आइए, आप सब मुझपर तरस खाइए ! मैं एक बेरोज़गार आदमी हूँ। इससे क्या हुआ कि मैं एक अच्छे-ख़ासे मकानमें रहता हूँ, मज़ेमें खाता-पीता, पहनता-ओढ़ता हूँ, किसीके सामने न सिर झुकाता हूँ न हाथ फैलाता हूँ, लेकिन हूँ तो बेरोज़गार। इसलिए कि आप मुझे बेरोज़गार मानते हैं। इसमें आपका क्या दोष है ! इसके अलावा आप कर ही क्या सकते हैं ! आपको मुझे कुछ तो मानना ही है। आप मुझे प्रतिभाशाली, आज़ाद-तबीयतका आदमी यदि मानेंगे तो आप अपनी

ही निगाहोंमें मुझसे छोटे दीखेंगे। फिर आपको इसके अलावा कुछ और सिखाया भी तो नहीं गया है !

मुझे नौकरी छोड़े कुल तीन महीने हुए हैं। यद्यपि आपने यह सुना होगा कि मुझे नौकरीसे हटा दिया गया है। फिर आपको संवेदनाके लिए कहीं कोई पात्र तो चाहिए ही। मुझसे अच्छा पात्र आपको कहाँ मिल सकता है। तीस सालका आदमी—एम० ए० पास, बीवी, दो बच्चे, भरी-पुरी गृहस्थी का भार और अचानक नौकरी खत्म हो गयी। मुझसे संवेदना प्रकट करनेका यह आपके लिए सुनहरा मौक़ा है, इसे हाथसे न जाने दीजिए। शीघ्र आइए और मुझपर तरस खाइए। मेरे मकानका पता आप मेरे दोस्तोंसे, यद्यपि आप भी मेरे दोस्त ही हैं, पूछ-ताछकर लगा लीजिए।

आपको यह जाननेकी क्या ज़रूरत है कि नौकरी मैंने अपने मनसे छोड़ी है और उससे मुक्त होकर मैं ख़ुश हूँ ! यह एक झूठी बात है। कहीं कोई लगी-लगायी नौकरी छोड़ता है और यदि छोड़ भी दे तो क्या खुश रह सकता है ! इसका जवाब यदि मैं दूँ भी तो आपको नहीं मानना चाहिए। क्योंकि मेरा यह कहना कि एक निश्चित तारीखको बँधी-बँधायी रक़म मिलना आदमीको कायर बनाता है, उसकी शक्तियोंको क्षीण करता है, उसको किसी कामका नहीं रखता, न वह जोखम उठा सकता है और न अपनी सम्भावनाओंको-ही देख सकता है, वह अपनेको पहचानना छोड़ देता है, अपने लिए उसकी खोज समाप्त हो जाती है, विवेकशून्यतामें—मेरे इस कथनका आपके लिए कोई अर्थ नहीं होना चाहिए। क्योंकि यदि आप भूलकर भी इसमें कहीं कोई अर्थ देखेंगे तो आप हीन-भावसे भर जायेंगे। रहा मेरे बारेमें, सो आप यह घोषित कर सकते हैं कि यह सब मैं नौकरी छूटनेके दुःखके कारण असन्तुलित मस्तिष्कसे कह रहा हूँ। मुझे नौकरी छूटनेका गहरा सदमा पहुँचा है। आप दूसरोंके साथ बैठकर मेरे बारेमें बहुत-सी बातें कह सकते हैं और इस प्रकार अपनेको मानवीय संवेदना आदि गुणोंसे युक्त, नेक और सज्जन व्यक्ति सिद्ध कर सकते हैं। बिना मेरे घर आये हुए भी आप कभी भी यह कह सकते हैं 'कि मेरे घर चूल्हा नहीं जलता, बच्चे फटेहाल घूमते हैं, बीमार हैं, दवा तकके पैसे नहीं हैं और मैं दिनपर दिन पीला पड़ता जा रहा हूँ, दिन-रात घरमें मुँह छिपाये पड़ा रहता हूँ, लोगोंसे मिलना-जुलना, उठना-बैठना सब मैंने छोड़ दिया है, क्योंकि ऐसा भी कहीं होता है कि कोई आदमी चुप-चाप घरमें बैठकर लिखे-पढ़े ! भला घरमें कौन-सी फ़ाइलें रखी हैं !' आपका कहना ठीक है; सचमुच, मैं तरस खाने योग्य बेरोज़गार आदमी हूँ।

मैं आपका कृतज्ञ भी हूँ कि जिस दिन मेरी नौकरी छूटी उसी दिन शामको आप सारा काम छोड़कर मेरे पास-पड़ोस, नाते-रिश्तेदार, दोस्त-अहबाब सबको खबर करते हुए आये। आगेके दरवाज़ेसे आप दाखिल हुए; बादमें एक ताँता बँध गया, और पीछेके

दरवाज़ेसे आपकी पत्नी, फ़लानेकी चाची, ढिकानेकी बूआ ! और सबने दफ्तरको, अफ़सरोंको कोस-कोसकर मेरी नौकरी छूटनेका मातम मनाया, और सच तो यह है कि उस दिन मेरे घरमें चूल्हा न जल सकनेका कारण मेरी पत्नीका आप सबकी ममतामयी-करुणामयी पत्नियोंकी संवेदनशीलताका स्वागत करना था। पर आप इसे मत मानिएगा अन्यथा आपकी बीवी आपसे कहेगी कि आप दूसरोंके दुःख-सुखमें शरीक़ होना ही नहीं जानते ।

सचमुच मैं आपका बहुत कृतज्ञ हूँ कि आप अपने दोस्तोंके साथ अक्सर आधी-आधी रात तक मेरे घर बैठे रहे और अपने दफ्तर और अपने बेईमान अफ़सरोंकी 'हरामज़दगी' विस्तारसे मुझे बताते रहे, और यह भी सिद्ध करते रहे कि आपने मेरी तरह कच्ची गोली नहीं खेली है, आप चतुर हैं, अफ़सरोंकी काट जानते हैं, आपका बाल-भी बाँका करनेकी किसीमें हिम्मत नहीं है। अफ़सरके सामने कैसे मौक़े पर झुक जाना चाहिए और बादमें चतुर आदमी-की तरह कैसे सारी कसर निकालनी चाहिए। मुझे अभी बहुत-कुछ सीखना है। कैसे नौकरी मिलनी आजकल कठिन होती जा रही है और लगी-लगायी नौकरी छोड़कर मैंने अच्छा नहीं किया । लिखने-पढ़नेमें क्या रखा है । बड़े-बड़े ठोकर खा रहे हैं। मँहगाईका ज़माना है। डालडा तक पन्द्रह रुपयेमें मिलता है, आलू दस आना सेर। लम्बी-लम्बी तनख्वाह पानेवालों तककी आरामसे गुज़र नहीं होती, हाय-हाय लगी रहती है। फिर हम लोग तो मामूली आदमी हैं। मैंने चुपचाप आपकी बात सुनी, क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि मैं आपकी बातके महत्त्वको स्वीकार करता हूँ !

मैं आपका कृतज्ञ हूँ कि उस दिनसे आपने नियमित रूपसे मेरा हाल-चाल लेना शुरू कर दिया। घरपर, सड़कपर, बाज़ारमें – जहाँ भी आपने देखा, मुझे रोका और कहा, "कहो भाई, कुछ हुआ, अमुक जगह अप्लाई करो, अमुकसे मिलो, अमुकसे सिफ़ारिश करवाओ। बाल-बच्चे तुम्हारे सामने हैं।" सच मानिए, आपकी इन बातोंसे मुझे कितना बल मिलता रहा। मैं अक्सर आपकी निगाह बचाकर जो निकल भागनेकी कोशिश करता रहा वह

क्वालिफ़िकेशन

युद्ध समाप्त होनेके बाद एक सैनिक घर लौटा। महीनोंकी बेरोज़गारीसे तंग आकर एक सरकारी दफ्तरमें नौकरीके लिए दरख़ास्त लेकर गया।

पहला ही सवाल हुआ: अपनी क्वालिफ़िकेशन बताओ? कुछ देर वह सोचता रहा, फिर एकदमसे बाक़ायदा राइट हैंण्डसे सैल्यूट देता हुआ बोला: आग लगा सकता हूँ, रेलकी पटरियाँ उड़ा सकता हूँ, नयीसे नयी राइफ़ल चला सकता हूँ....

सब हँस पड़े। वह सोचता-सोचता घर लौट आया कि क्वालिफ़िकेशन उसने ठीक ही तो बतायी थी।

वह भोजन देगा

मिर्ज़ा ग़ालिबको पेंशन मिली, तो सारी रक़मकी शराब ख़रीद लाये।

पत्नीने यह हाल देखा तो बहुत सिटपिटायीं। बोलीं, "घरमें खानेको एक दाना भी नहीं है, यह आपने क्या ग़ज़ब ढा दिया!"

ग़ालिब बड़े तपाकसे बोले, ".कुरानेपाकमें .खुदाने हर इनसानको भोजन देनेका वायदा किया है, शराबका नहीं। सो भोजन वह देगा और शराब मैं ले आया हूँ।"

महज़ इसलिए कि आपका कीमती समय जाया न हो। मुझे तो संवेदना चाहिए ही—सुबह सोकर उठनेके समयसे लेकर रातके सोनेके समय तक संवेदना, आप सबकी संवेदना, क्योंकि मैं एक बेरोज़गार आदमी हूँ, बिना संवेदनाके कैसे जी सकता हूँ!

मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ यदि मैं कभी आप-द्वारा प्रदत्त संवेदनाके पावन क्षणोंमें आपसे उलझ गया होऊँ या बहस करने लगा होऊँ। मैंने कहा हो कि बेरोज़गारी तो मनकी होती है, यदि मन किसी काममें लगा हो तो आप बेरोज़गार नहीं हैं। लिखने-पढ़नेवाला आदमी बेरोज़गार नहीं होता, और फिर मैंने कुछ ऐसे लेखकोंका—जिनका नाम आप नहीं जानते—नाम गिनाया हो और कुछ ऐसी बातें की हों जो दुनियादारी नहीं है। क्या मैं आपकी बातकी सचाईसे इनकार कर सकता हूँ कि किताबें अलग चीज़ है, और ज़िन्दगी अलग चीज़ है? व्यावहारिक बनो, व्यावहारिक, आपकी यह सलाह यदि मैं गाँठ नहीं बाँधूंगा तो जाऊँगा कहाँ! आखिर रहना तो आप ही लोगोंके बीचमें है। यदि मैं कभी आपकी बात न मानकर अपनी बातपर अड़ गया होऊँ तो प्रार्थना है कि आप उसका बुरा न मानिएगा। आखिर मैं आपसे अनुभवमें छोटा हूँ, अपनी बेरोज़गारीके कारण इस रोज़-रोज़की ज़िल्लत-से तंग आ गया हूँ।

अपनी बेरोज़गारीका सही एहसास यदि आपके कथनानुसार मुझे अभीतक न हुआ हो तो आप उसकी चिन्ता न करें, क्योंकि मेरी बीवीको मेरी बेरोज़गारीका सही एह-सास आप लोगोंने करा दिया है। क्योंकि अब उसने कहना शुरू कर दिया है, "कहीं कुछ दौड़-धूप करो। हाथपर हाथ धरकर बैठनेसे कैसे काम चलेगा। दस आदमी पूछते हैं—कैसे काम चलता है, क्या करते हैं, तरह-तरहकी शंका करते हैं, दबी ज़बानसे पूछते हैं—कुछ हेरा-फेरी तो नहीं करते! किसका मुँह पकड़ूँ, किसको क्या जबाव दूँ! समझमें नहीं आता। कोई काम-धन्धा पकड़ लो, फिर लिखते-पढ़ते भी रहो। कमसे कम दूसरोंकी ज़बान तो बन्द हो, कुछ कहनेको तो रहे, अमुक जगह काम करते हैं।"

सुबह-शाम घरमें पत्नीके इस भाषणसे और बाहर आप लोगोंके स्नेहमय उपदेशसे आखिर बचकर मैं जाऊँगा कहाँ? लिखना-पढ़ना नहीं चल सका, न सही, आखिर बे-रोज़गारी तो दूर होगी ही, महज़ आप लोगोंकी

कृपाके कारण। मैं तो चाहता हूँ कि आप लोग और अधिक तादादमें आइए और मुझ-पर तरस खाइए, मुझे संवेदना दीजिए।

और इस समय आप सबका आना तो बहुत ज़रूरी है, क्योंकि रातके दो बज रहे हैं और दिन-भर उठते-बैठते, घरमें, बाहर, आप सबने मिलकर जो संवेदना मुझे दी है वह चुक गयी है। मैं अशक्त हो गया हूँ। थककर चूर हूँ। जो सही रास्ता आप लोग दिखाते रहे हैं वह भूल गया हूँ। अपनेको एकदम अकेला महसूस कर रहा हूँ आप सब आत्मीय स्वजनोंके होते हुए भी, कैसा अभागा हूँ! कितनी जर्जर है मेरी आत्मा! क्योंकि मैं एकदम असहाय हो काग़ज़-क़लम उठाकर लिखने बैठ गया हूँ। इस ग़लत रास्तेसे, आइए, मुझे बचाइए। मैं बेरोज़गार आदमी हूँ, आप सब आइए, चिल्ला-चिल्लाकर मुझे बतलाइए। मैं क्या इतना गया-गुज़रा हूँ कि एक सीधी-सी बात भी मेरी समझमें नहीं आयेगी!

० ० ०

हिसाब : आधुनिक ढंगका

हिसाब तो आखिर हिसाब है। और वह भी आधुनिक ढंगका—'डबल एण्ट्री सिस्टम'।

मकान-मालिकके पास बिजली कम्पनीका बिल आया—शून्य रुपये, शून्य नये पैसे; क्योंकि उस महीने किरायेदार कोई था नहीं, और बिजली खर्च नहीं हुई थी। (मीटरका रैण्ट लगता नहीं था)।

मकान-मालिकने चेक काटा—'शून्य रुपये, शून्य नये पैसे'।

और, रसीद पायी—शून्य रुपये, शून्य नये पैसे।

हिसाब चौकस।

●

डॉ० धीरेन्द्र 'शील'

०
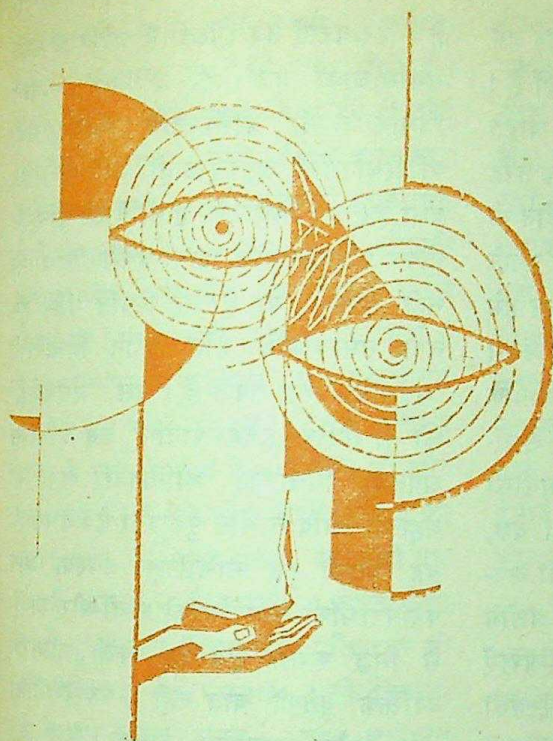
प्रश्न महत्त्वपूर्ण है !— चिन्तन, विकास और प्रवाहके कारण 'आने वाले कल' का समाज 'बीते कल' से भिन्न होगा ही—पर क्यों ? प्रस्तुत निबन्ध इसी ओर संकेत करता है

०

विचार क्यों बदलते हैं ?

०

सामाजिक चिन्तनकी दो विधाएँ हैं : परम्परागत और व्यक्तिगत विचार-परक। प्रथमसे अभिप्राय है रूढ़िगत सामाजिक विचार जिसके अन्तर्गत संस्कार-जन्य विचार, परम्परागत विश्वास आदि आते हैं। दूसरीसे यहाँ अभिप्राय है नये विचारसे अर्थात् ऐसा चिन्तन और सिद्धान्त जो रूढ़ियोंसे भिन्न और आधुनिक हो।

परम्परागत विचार आमतौरपर हमें सहज स्वीकार्य होता है, क्योंकि वह हमारे रूढ़िगत विश्वासों और संस्कारोंके अनुकूल पड़ता है। परम्परागत विचारोंको सुनना हम पसन्द करते हैं क्योंकि इससे हमें सन्तोष होता है कि दूसरे बहुत-से लोग और प्रसिद्ध पुरुष हमारे विचारोंको मानते आये हैं। इसमें सामाजिक सुरक्षाकी भावना भी रहती है जब कि हमें पता चलता है कि सामाजिक बहुमत

हमारे विचारोंका समर्थन करता है। तब हमें भान होता है कि समाजमें हम अकेले नहीं है। और फिर संस्कारोंके अनुकूल मन चाहते विचारोंको बराबर सुनते रहनेसे हमें एक तरह की धार्मिक अनुभूति होती है कि दूसरे लोग भी हमारे मन-पसन्द विचारोंको सुनकर हमारे अनुकूल बन रहे हैं। परम्परागत विचार हमें हर स्थानपर मिलते हैं। राजनैतिक मंचसे दिये गये भाषणोंमें, व्यापारिक लोगोंके व्यवसायमें, और विद्वानोंके खोजपूर्ण लेखों-में हमें रूढ़िगत संस्कारों और विचारोंकी झलक तथा प्रभाव दिखलाई देता है। देश, जाति और परिवारके प्रति हमारा जो अप-नत्व रहता है, उसका आधार भी बहुत अंशोंमें यही परम्परागत विचार है। परम्पराएँ समाजमें स्थायित्व और सामाजिक चरित्रकी स्थापनामें सहायक होती हैं। इनके अभावमें समाजके जीवनमें अस्थायित्व और अनिश्चि-तता छा जाती है। स्वयंमें परम्पराएँ अच्छी या बुरी नहीं होतीं। उनकी अच्छाई-बुराई देश-काल अवस्थापर अवलम्बित है।

प्रायः यह माना जाता है कि नये विचार परम्पराओंको मिटा देते हैं। परन्तु सच यह है कि हर विचार स्वयंमें नवीन होता है। कालान्तरमें वही परम्परागत बन जाता है। इस प्रकार परम्पराका शत्रु विचार नहीं वरन् कालका घटनाचक्र है। विचार और परम्पराके विरोधकी तुलना एक ही रोगीको देखने आये दो चिकित्सकोंसे की जा सकती है। दोमें-से जिसे अधिक अच्छा समझा जाता है केवल उसे ही रखा जाता है। परम्पराएँ तब मिटती हैं जबकि वे नयी समस्याओंका हल नहीं दे पातीं। पुराने विचार अपनी प्राचीनताके कारण नयी परिस्थितियोंमें अनुपयुक्त हो जाते हैं। यह दशा हर उस विचारकी होती है जो गतिहीन होकर परिवर्तनशील घटना-चक्रके साथ मेल नहीं खाता। यह है वह स्थिति जिसे हम नयी समस्याओंके प्रति पुराने विचारोंकी 'असमर्थता' कह सकते हैं। इस 'असमर्थता' को जो व्यक्ति पहचान पाता है, उसे इतिहास अवतार, विचारक, क्रान्तिकारी नेता या महात्मा आदि नामोंसे पुकारता है। वास्तवमें वह बदली हुई सामाजिक अवस्था और परम्पराओंकी असमर्थताको शब्दों और कार्यों-से सिद्ध करता है। यह किसी साधारण व्यक्तिके बूतेकी बात नहीं। परम्पराओंको ग़लत और अनुपयुक्त कहनेके लिए बड़े साहसकी आवश्यकता होती है। ऐसे व्यक्तिको रूढ़िवादियों और सामाजिक बहुमतका मुक़ा-बला करना होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि बहुसंख्यक समाज प्रायः आरामतलब होता है और इसीसे परम्परावादी,—क्योंकि पुरानी लीकपर चलते चला जाना आसान होता है, जबकि नयी राह ढूंढ़नेमें कठिनाइयां आती हैं।

हम अपने वर्तमानसे सन्तुष्ट नहीं और कुछ अंशोंमें सम्भवतः यह भी सच है कि हमारा अतीत हमारे लिए बहुत अधिक सहायक नहीं हुआ। लेकिन क्या किसीने कभी भी जान-बूझकर आनेवाली पीढ़ियोंका बुरा चाहा है? मानवने सदासे प्रगतिकी

चाहना की है। उसने अपनी सन्ततिका भविष्य सुखमय बनानेके प्रयत्न किये हैं। किन्तु पिता और पुत्रके विचारोंमें ही कोई एक पीढ़ी या २५ वर्षका अन्तर पड़ जाता है। समयके साथ भाषाके मुहावरे बदल जाते हैं। चाल-ढाल, वेश-भूषा और समाजके तौर-तरीक़ोंमें परिवर्तन आ जाता है। इस प्रकार जो विचार कभी 'नवीन' रहे होते हैं वे कालान्तरमें 'पुरानेपन' का रूप धारण कर लेते हैं। कभी जो युवा रहे होते हैं समय पाकर वे वृद्ध हो जाते हैं—शरीरसे भी और मस्तिष्कसे भी। ऐसे लोग बिरले होते हैं जो वृद्धावस्थामें भी युवा-दृष्टिसे संसारको देख पाते हैं। दार्शनिक विचारकोंका प्रयत्न होता है ऐसे मूल्यों और सिद्धान्तोंका प्रतिपादन जो सार्वकालिक हो सकें। तथापि उनके चिन्तन-का आधार—बाह्य जगत्—उनका आवेष्टन ही होता है और इसीलिए समयान्तरमें वे मूल्य और सिद्धान्त अनुपयुक्त-से जान पड़ते हैं। सार्वकालिक सत्य भी इसीलिए बार-बार जन-भाषाके मुहावरोंमें दोहराना पड़ता है। अन्यथा औपनिषदिक ऋषियोंका सत्य, बुद्ध, सुकरात, ईसा, रूसो, लिंकन, मार्क्स, दयानन्द और गान्धीके दर्शनसे भिन्न नहीं है। हाँ, उनकी देश-कालाधीन अनुभूतियाँ और अभि-व्यक्तियाँ भिन्न अवश्य हैं।

इतिहास इसका साक्षी है कि राजा हरिश्चन्द्रने अपनी रानी शैव्या और राज-कुमार रोहितको भरे बाजारमें गुलामोंकी तरह बेचा था। अभी भी हमें याद है कि भारतमें स्त्रियोंको उनके पतिकी चितापर ज़िन्दा जला दिया जाता था। 'स्त्रियों और शूद्रोंको शिक्षा न दो' और 'शूद्र यदि भूलसे वेद-मन्त्र सुन ले तो उसके कानमें ताम्बा पिघला-कर डाल दो'—यह विचार किसी औरके नहीं स्वयं मनुके हैं। ऐसी ही बातें यूरोपीय समाजमें भी प्रचलित रही हैं। १०० वर्ष पूर्व तक अमेरिकामें भी मनुष्योंको एक साथ दो-दो सौ, तीन-तीन सौकी संख्यामें भेड़ोंकी तरह नीलाम किया जाता था। १८४१ में एमर्सनने लिखा था कि इससे बढ़कर शर्म-नाक और क्या बात होगी कि बहुसंख्यक ईसाई जगत् ईसाके सिद्धान्तोंकी दुहाई देकर भी दास-प्रथाका समर्थन करता है।

किन्तु राजा हरिश्चन्द्र सत्य-पालनके आदर्श हैं और मनु तत्कालीन वैधानिक क्रान्तिके प्रणेता। दास-प्रथाने किसी युगमें आर्थिक क्रान्तिका सूत्र-पात किया था, लेकिन आजके विधान और आर्थिक स्थिति तबसे कहीं भिन्न हैं। आज नागरिकों, स्त्रियों और शूद्रोंके नागरिक अधिकार और उनकी सामाजिक स्थिति बदल चुकी है। आज हम पूर्वजोंकी अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरहसे भविष्यकी योजना-बद्ध कर सकते हैं। हमें ऐसे अनेक साधन उपलब्ध हैं जो हमारे पूर्वजोंके पास नहीं थे। किन्तु फिर भी हम अपनेको उनसे अधिक समझदार नहीं कह सकते। हमारे युगकी 'सम्पदा' से जन-जीवन खुशहाल नहीं हो पाया है।

समाज पाशविक प्रवृत्तियोंका अड्डा बन गया है। शोषण, भ्रष्टाचार, मुनाफ़ाखोरी और जाति व वर्गवादका नग्न रूप समाजके अनि-

वार्य अंग बन गये हैं। समाजकी सम्पदा, सभ्यता और विज्ञानका विकास कभी वरदान रहे थे। अब वरदान अभिशाप बन गये हैं। मनुष्य समाज घृणा, ईर्ष्या, दम्भ, काम, मूर्खता और स्वार्थपरता-से जर्जर हो रहा है।

किन्तु अभी इतिहासका अन्त नहीं हुआ है। कालका घटना-चक्र अभी भी गतिमान है। हमारी शाश्वत यात्राका अन्तिम पड़ाव 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' अभी भी दूर है। मानवका चिन्तनशील स्पन्दन अभी भी थमा नहीं। इसीलिए विज्ञानका विकास रुक नहीं सकता, समाजका प्रवाह थम नहीं सकता— और जब चिन्तन, विकास और प्रवाह हैं तो 'आनेवाले कल' का समाज 'बीते कल' से भिन्न होगा। आजकी समस्याओंका हल हमें बीते कलकी परम्पराओंमें नहीं मिलेगा। किन्तु समाजके स्थायित्वके लिए तथा वर्तमानकी विचारशृंखलाके आधारके लिए हमें परम्पराओंका सहारा लेना होगा। 'प्राचीन'के बिना हमें 'नवीन' नहीं मिलेगा। वर्तमान और भविष्य 'अतीत'के बिना नहीं रह सकेंगे। परन्तु 'अतीत' सदा 'प्राचीन' रहेगा। सामाजिक परिवर्तनके इस तर्ककी अभिव्यंजना कालिदासके शब्दोंमें इस प्रकार है: 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्–' अर्थात् सब 'प्राचीन' अच्छा नहीं होता और हर 'नवीन' बुरा नहीं होता। विचारशील अच्छे-बुरेकी परीक्षा करके स्वीकार करते हैं जब कि मूर्ख रूढ़ियोंकी लीकपर चलते जाते हैं।

० ० ० ०

प्रसिद्ध लेखक

बातों-ही-बातोंमें लेखकने अपने एक नये मित्रको बताया, "यह पता लगानेमें कि मुझमें लेखन-प्रतिभा बिलकुल नहीं है, मुझे दस वर्ष लगे।"

"दस वर्ष! फिर क्या किया आपने? लिखना छोड़ दिया?"–मित्रने पूछा।

"नहीं भाई, कैसे छोड़ता। तबतक मैं बहुत प्रसिद्ध लेखक बन चुका था।"

खुले हाथ

डॉ० शम्भुनाथ सिंह

●

नये नये रंगों में धुले हैं,
हाथ जो हवाओं में खुले हैं !

गन्ध नहीं फूलों में छिपती है,
सूनी घाटी को महकाती है !
धुएँ की लकीरें जल जाती हैं,
ज्योति जब निगाहों में दिपती है !

आँधी कब मुट्ठी में बँध पायी
बादल कब बाँहों में तुले हैं !

अनदेखी राहें मिल जाती हैं,
खुल जाते बन्द सभी दरवाज़े;
धरती के भीतर की आवाज़ें
नभ के कोनों में टकराती हैं !

टूटे सन्दर्भ जुड़े हैं जब-जब
सदियों के पाँव हिले-डुले हैं !

विद्युत् की आवर्ती रेखाएँ
अणुओं के कक्ष जगमगाती हैं;
आँखें पर बेध कहाँ पाती हैं
द्वार और आँगन की सीमाएँ!

उत्तर के भीतर के भीतर भी
प्रश्नों से प्रश्न मिले-जुले हैं!

ज़ंजीरें झूठी हो जाती हैं
जब तन के कवच उतर जाते हैं;
रेती पर ज्वार बिखर जाते हैं
सागर में लहरें खो जाती हैं?

ऐसी ये बे-पहिचानी ध्वनियाँ,
जिनमें रस-रूप-रंग घुले हैं!

०

बात एक रातकी

सलमा सिद्दीक़ी

जब व्यक्ति अपने भीतर झाँककर देखता है, अपने-आपसे—यानी अपनी आँखें, अपने दिल और अपने दिमाग़से— बातें करता है, तो उसे लगता है, रहस्यके कई ऐसे अनजान परत थे जो उघड़ते चले जा रहे हैं। एक प्रतीकात्मक कहानी।

गुज़री हुई रातका ज़िक्र है....।

चाँद बरामदेके खम्भेकी आड़में जा चुका था, यूक्लिप्ट्सकी डालें अपने ही नाज़ुक बोझसे झुकी जा रही थीं। रातकी रानीकी सुगन्ध आँगनमें धीरे-धीरे फैल रही थी। मैं दायें हाथकी कलाई अपने मुँहपर रखे सो रही थी और शायद तुमसे बात-चीत कर रही थी कि अचानक सोते-सोते मेरी आँख खुल गयी।....स्वप्न टूट गया।....

"हम अब ख़्वाब नहीं देखेंगी," मेरी आँखोंने मुझसे कहा।

"मगर क्यों ?" मैंने हैरान होकर पूछा।

"इसलिए कि अबतक हमने तुम्हारे साथ जितने भी ख़्वाब देखे हैं वे सब झूठे थे," मेरी आँखोंने इतमीनानसे पलक झपकाते हुए कहा।

क्षण-भरको मैं घबरा गयी, लेकिन फ़ौरन ही सँभलकर बोली, "ऐ मेरी आँखो, तुमने अपनी ज़िन्दगीमें केवल कुछ झूठे ख़्वाब ही देखे हैं और उन्हींसे बेज़ार होकर मेरा साथ देनेसे इनकार कर रही हो, जब कि अपनी तीस-साला जिन्दगीमें रात-दिन मेरा

झूठका ही साथ रहता है। मैंने झूठको ऐसे-ऐसे सचके ग़िलाफ़ोंमें छिपा हुआ पाया है कि आम तौरसे सच लाख सच्चा होनेके बावजूद झूठके आगे माँद पड़ जाता था।....लेकिन मैंने तो, ऐ नादान आँखो, कभी भी किसीसे शिकायत नहीं की....।"

"हम नादान नहीं हैं," मेरी आँखोंने भड़ककर कहा, "हम भी तीस सालके तजुर्बेकी रोशनीमें दुनियाँ देख रहे हैं।"

"तुम्हारा तजुर्बा सिर्फ़ रोशनी तक सीमित है और मेरा दिल अँधेरेमें भी जलता है," मैंने उदासीसे कहा।

"अपने अँधेरेका ताना हमें मत दो," आँखें ग़ुस्सेसे बोलीं, "हम स्वार्थी नहीं हैं। क्या हमने कभी ऐसा किया है कि तुम्हें अँधेरेमें रखा हो और ख़ुद उजालेकी सैर की हो?"

"नहीं, ऐसा तो मैंने कुछ नहीं कहा, लेकिन इतना तो सोचो, ऐ मेरी सदाकी संगिनियो, कि अँधेरे और उजालेकी हर मुहिमपर मैंने तुम्हारा साथ दिया है। तुमने जो कुछ नहीं देखना चाहा, वह मैंने भी नहीं देखा। क्या तुम्हें उजाले और अँधेरेके हर रास्तेपर मेरा सहयोग नहीं मिला,....क्या तुम्हारे आँसुओंके साथ मेरे ख़ूनकी बूँदें शामिल नहीं थीं? जिस सूरतको तुमने अपनी गहराइयोंमें बसाया, क्या मैंने उसे अपने दिलमें जगह देनेसे इनकार किया? जिसके रास्तेमें तुम बिछ गयीं क्या उसके सामने मैंने सिर उठानेकी हिम्मत की? बोलो, जवाब दो, मेरी गुस्ताख़ निगाहो!"

लेकिन आँखें कुछ नहीं बोलीं, और ग़मगुसार पलकें जो हर क्षण आँखोंकी दिलदारीमें लगी रहती हैं, उनपर झुक गयीं।

"क्यों, अब क्यों अपने किवाड़ बन्द कर लिये, मेरी बातें बहुत सच्ची थीं न, इसीलिए बहुत कड़वी लगी थीं?" लेकिन आँखोंने मेरी बात सुनी-अनसुनी कर दी और वह एक निगाह जो बज़ाहिर निगाहसे कम थी, मुझपर डालकर बेताल्लुक़ीसे रुख़ बदल लिया...।

मैंने लाख-लाख कहा कि भई, क़त्ल करो न तअल्लुक़ हमसे, लेकिन उन बेमुरव्वत आँखोंमें मुरव्वतकी हलकी-सी झलक भी पैदा न हो सकी।

"देखी तुमने आँखोंकी यह तोताचश्मी?" मैंने बहुत बे-दिलीसे अपने दिलसे कहा।

"उँह, क्या तुम और क्या तुम्हारी आँखें"...मेरे दिलने, जिसके लाउबाली मिज़ाजसे मैं वाक़िफ़ थी, बड़े नख़रेसे कहा, "यहाँ अपनी ही हालत तबाह है और आप चली हैं आँखोंकी कहानी सुनाने।"

दिलका यह लहजा मुझे पसन्द नहीं आया, लेकिन इससे भी तो रात-दिनका वास्ता रहता था और इस ग़रीबने भी चूँकि बहुत दुःख झेले थे, बड़ी चोटें सही थीं, वह बदनामी उठायी थी और बड़ी कठिन राहें तय की थीं और अब आधी रातको कच्ची नींदसे उठा दिया गया था, इसलिए उसका गुस्सा अपनी जगहपर बिलकुल ठीक था। लेकिन

मेरा कहना भी तो अपनी जगहपर ठीक था। आखिर दिल मेरे ही नारीत्वका एक अंग था, मुझे उसपर हुकूमत करनेका पूरा अधिकार सौंपा गया है।...हालाँ कि यह अधिकार भी अब मेरे दिलको मुझपर हासिल हो गया है और मैं अपना यह अधिकार भी अपने लाउबाली दिलको सौंप चुकी हूँ इसलिए मैंने बड़ी नरमीसे कहा, "ऐ मेरे दिल ! ऐ मेरे दिल...!"

"क्या बेवक़ूफ़ोंकी तरह, 'ऐ मेरे दिल, ऐ मेरे दिल' कहे जा रही हो, क्या तुम्हें नहीं पता कि दिलको हर घड़ी पुकारनेवाले लोग आमतौरसे खुद बड़े काहिल और कामचोर होते हैं।"

"अच्छा !" मैंने भड़ककर कहा, "तो गोया आप भी दूसरोंको काहिल और निकम्मा कहनेका हक़ रखते हैं। आप ही ने आज तक कौन-से कारनामे अन्जाम दिये हैं ? अरे भई, सूप बोले तो बोले, छलनी क्या बोले जिसमें बहत्तर छेद।"

"छलनीमें बहत्तर छेद होते हैं कि पचहत्तर, यह तो पता नहीं," मेरे दिलने बड़ी कमज़ोर आवाज़में कहा, "लेकिन इसमें शक नहीं कि आपकी मेहरबानियोंकी बदौलत मैं छलनी-छलनी हो चुका हूँ।"

दिलकी यह बात सच्ची थी। मैंने शर्मसे सिर झुका लिया लेकिन गरेबाँमें झाँकनेकी फिर भी हिम्मत न हुई। कुछ देर खामोश रही और फिर मैंने दिलके तेवर देखे, लेकिन दिलकी त्योरियाँ उस वक्त चढ़ी हुई न थीं। खामोश, उदास और थका-हारा-सा एक रूठे हुए बच्चेकी तरह मेरे पहलूसे लगा हुआ लम्बी-लम्बी साँस ले रहा था—मुझे दिलकी इस मासूम अदापर प्यार आ गया, गो दरअसल उसकी यही अदा खतरनाक भी होती है। और आज मुझे इस खतरेका अहसास शिद्दतसे हो चला था। आजसे पहले तो मैं समझती थी कि मेरी निगाह रोशन और दिल शाद है, लेकिन आज अचानक आधी रातकी रहस्यमयी खामोशी और तनहाईमें दिल और निगाहकी इस हृदयहीनताने ज़हनसे अज्ञानके बोझिल परदे हटा दिये थे और रातकी तारीकीके बावजूद जिन्दगीके बहुत-से छिपे हुए गोशे बेनक़ाब हो चले थे। खुदको यूँ बेनक़ाब देखना मुझे पसन्द नहीं था। आत्मपीड़नसे भी मैं दामन चुराती रही थी—इसलिए दिल और नज़रकी इस अचानक कज-अदाईने मेरे वजूदके जाने किस ख्वाबीदा तारको झँझोड़ दिया कि मैं अनजानी उदासी और नामालूम शिकस्तके एहसाससे निढाल उठ बैठी।

भागीदार

एक बड़ी दूकानके दो भागीदार थे। एक दिन वह दोनों साथ-साथ सिनेमा गये। फ़िल्म देखते-देखते अचानक एक भागीदारको याद आया कि वह दूकानका सेफ़ खुला छोड़ आया है। उसने दूसरे भागीदारसे कहा, "चलना चाहिए। ग़लतीसे मैं सेफ़ खुला छोड़ आया हूँ।"

दूसरे भागीदारने निश्चिन्ततापूर्वक कहा, "घबरानेकी क्या बात है ? हम तुम दोनों ही तो यहाँ हैं।"

०

अभी सुबह होनेमें देर थी और हर चन्द कि मुझे मालूम था कि ऐसी तो कोई रात नहीं जिसकी सुबह न हो, फिर भी मायूसी और पछतावेकी रात बहुत लम्बी लग रही थी। मैं बिस्तर छोड़कर धीरे-धीरे दबे पाँव आँगनमें निकल आयी और ओससे भीगी हरी घासपर हौले-हौले क़दम सँभालकर इस तरह चलने लगी जैसे यह ओसके क़तरे न हों, बूढ़ी और दुखिया रातके वे आँसू हों जिसे तेज़ सूरज अपनी पहली किरनके आतशीं रूमालसे बेदर्दीसे पोंछ डालेगा। मैंने भी अपने विचारोंकी ओसको बेदर्दीसे पोंछ डालना चाहा लेकिन चश्मे-ग़लत-नज़रका जादू मुझपर चल चुका था। विचारोंकी बागडोर अब क़ाबूसे बाहर हो चली थी—और उलझे हुए जीवन-ग्रन्थके खोये हुए पन्ने तरतीब पा रहे थे। हर अध्याय ज़मानेकी सुबक-रफ्तारी और मायूसियोंका सबूत दे रहा था। हर शब्द जैसे बे-एतबारी और पछतावेकी आँचमें तप रहा था। वह आस्था, वह विश्वास, वह रंग, वह ख़ुशबू, वह भावना, वह रोशनी, वह हौसला और वह हिम्मत, सब फीके पड़ चुके थे जिन्हें साथ लेकर एक नयी ज़िन्दगी किसी क्षेत्रमें क़दम रखती है। "ऐसा क्यों होता है? ऐसा क्यों होता है?" मैंने मचलकर फिर अपने दिलसे पूछना चाहा।

"अपने दुःखोंकी लम्बी फ़ेहरिस्तकी ज़िम्मेदारी किसी औरपर मत रख, ऐ नादान हस्ती!"

यह जवाब मेरे दिलने नहीं दिया था, यह आवाज़ कहीं बुलन्दीसे आती महसूस हो रही थी और आज बरसोंके भूले-बिछड़े दिमाग़ने मुझपर तरस खाकर मुझसे ख़िताब किया था। दिमाग़ जिसमें बुद्धिका वास है और बुद्धि जिसकी प्रतिनिधि है, आज अपनी ज़ुबानदानीसे मुझे इसी तरह प्रभावित कर रहा था जैसे अबसे पहले भी सैकड़ों बेवक़ूफ़ों-पर अपने ख़ुश्क दबदबे और फीके फ़लसफ़ेका जादू चलाता आया था।

"उख्खो, ऐ बूढ़े दिमाग़, अक्ल जिसकी फ़रमाँबरदार लौंडी है, कितना घमण्डी है तू!" मैंने कहना चाहा लेकिन दिमाग़ने हस्बे-आदत बहुत मुरब्बियाना लहजेमें अपनी बात-चीत जारी रखी और कहा, "क्या अपने हर दुःखके ज़िम्मेदार तुम ख़ुद नहीं हो?"

"हरगिज़ नहीं," मैंने जलकर जवाब दिया।

"सब्र, सब्र," मेरे दिमाग़ने नरमीसे कहा, "मालूम होता है दिलका ग़लबा तुमपर बदस्तूर है।"

"क्यों, क्यों, कैसे?" मैंने अपने स्वरकी सख़्तीपर शरमाते हुए पूछा।

दिमाग़ने बड़ी नरमीसे मुझसे पूछा, "क्या मेरे वजूदका तुमको एहसास ही नहीं था कि कभी मुझसे कोई सलाह ही ले लेतीं।"

"दिल सलाह नहीं लिया करता, बूढ़े फ़लसफ़ी," मैंने भी इस बार नरमीसे जवाब दिया।

"दिल? फिर वही दिल?" दिमाग़ने झुँझलाकर कहा, "क्या मैं दिलसे बढ़कर नहीं हूँ?"

"बड़प्पनका सवाल नहीं है, ऐ दिमाग़," मैंने कहा, "दिलकी बे-साख्तगीसे तुम वाक़िफ़ नहीं हो सकते···इसलिए कि तुम्हारे पास दिल नहीं है। तुम दिमाग़ हो, तुम साहिलसे तूफ़ानका नज़ारा करते हो। वह दिल है, वह तूफ़ानके थपेड़े सहता है। तुम महवे-तमाशाए-लबे-बाम थे, वह बे-खतर आतिशे-नमरूदमें कूद पड़ा था, कुछ याद है?"

"ठीक है," मेरे दिमाग़ने कहा, "लेकिन क्या मैंने दिलको दिमाग़की सरपरस्तीमें रहनेकी सीख नहीं दी थी?"

"यह तो सच है," मैंने कहा, "लेकिन कभी-कभी तुमने पासबाने-अक्लको उसे अकेला छोड़ देनेका सुझाव भी दिया था।"

"यह क्या पुरानी बहस तुमने छेड़ दी," मेरे दिमाग़ने कहा।

"तो क्या हुआ?" मैंने कहा, "बहस तो तुम्हारी फ़ितरत बन चुकी है, दिमाग़··· और तुम्हारी बेहतरीन नुमाइन्दगी अक्ल करती रहती है···।"

"मेरी फ़रमाँबरदार अक्लका ज़िक्र करके क्या तुम मुझे दिलके ताबेदार इश्क़की याद दिलाना चाहती हो?"

"इश्क़की याद और आपको, ऐ बदज़ौक़ फ़लसफ़ी," मैंने बेइख्तियार हँसते हुए कहा, "आपकी ज़ुबाने-मुबारकपर तो इश्क़का नाम भी नहीं सजता है, हज़ूरवाला!"

"क्या इश्क़की कोई अहमियत है हमारे सामने?" दिमाग़ने बहुत घृणासे पूछा।

"पुरानी बहसको नयी बहसका आग़ाज़ बनानेका इल्ज़ाम अब आपपर आयद होता है," मैंने कहा।

"हमें कोई परेशानी नहीं है। हम हर इल्ज़ामको झूठा भी साबित कर सकते हैं। हमें कुदरतने यह सलाहियत भी बख्शी है," दिमाग़ने फिर वही रोब डालनेवाला लहजा इख्तियार कर लिया था।

"जी हाँ, क्यों नहीं," मैंने कहा, "और दिल वह मुजरिम है जो बेगुनाह होते हुए भी नाकरदा गुनाहोंकी सज़ा भुगतनेपर तैयार रहता है।"

"यह उसकी महरूमी है, वह अक्लसे बेगाना है।"

"खुदा करे वह अक्लसे हमेशा बेगाना रहे," मैंने मद्धिम आवाज़में कहा।

"हाय···" मेरे दिलने यूँ सरगोशी की जैसे अचानक उसे कोई खोयी हुई याद आ गयी हो। मैंने चौंककर अपने दिलपर नज़र डाली। वह मुझे नज़र न आया। निगाहोंने शायद मेरी बेक़रारीको देख लिया था। बोलीं, "दिल तुम्हें कैसे नज़र आ सकता है। हम भी अब इसे नहीं देख

भाषण बनाम आनन्द

सभाकी कार्रवाईमें पहले लोग दो-दो तीन-तीनकी टोलियोंमें विभक्त, हँसी-खुशीकी बातें कर रहे थे कि संयोजकने धीरे-से वक्ता महोदयसे पूछा, "आपका क्या विचार है, लोगोंको इसी तरह थोड़ी देर और आनन्द लेनेके लिए छोड़ दिया जाये या आपका भाषण शुरू हो?"

अभी सुबह होनेमें देर थी और हर चन्द कि मुझे मालूम था कि ऐसी तो कोई रात नहीं जिसकी सुबह न हो, फिर भी मायूसी और पछतावेकी रात बहुत लम्बी लग रही थी। मैं बिस्तर छोड़कर धीरे-धीरे दबे पाँव आँगनमें निकल आयी और ओससे भीगी हरी घासपर हौले-हौले क़दम सँभालकर इस तरह चलने लगी जैसे यह ओसके क़तरे न हों, बूढ़ी और दुखिया रातके वे आँसू हों जिसे तेज़ सूरज अपनी पहली किरनके आतशीं रूमालसे बेदर्दीसे पोंछ डालेगा। मैंने भी अपने विचारोंकी ओसको बेदर्दीसे पोंछ डालना चाहा लेकिन चश्मे-ग़लत-नज़रका जादू मुझपर चल चुका था। विचारोंकी बागडोर अब क़ाबूसे बाहर हो चली थी—और उलझे हुए जीवन-ग्रन्थके खोये हुए पन्ने तरतीब पा रहे थे। हर अध्याय ज़मानेकी सुबक-रफ्तारी और मायूसियोंका सबूत दे रहा था। हर शब्द जैसे बे-एतबारी और पछतावेकी आँचमें तप रहा था। वह आस्था, वह विश्वास, वह रंग, वह ख़ुशबू, वह भावना, वह रोशनी, वह हौसला और वह हिम्मत, सब फीके पड़ चुके थे जिन्हें साथ लेकर एक नयी ज़िन्दगी किसी क्षेत्रमें क़दम रखती है। "ऐसा क्यों होता है? ऐसा क्यों होता है?" मैंने मचलकर फिर अपने दिलसे पूछना चाहा।

"अपने दुःखोंकी लम्बी फ़ेहरिस्तकी ज़िम्मेदारी किसी औरपर मत रख, ऐ नादान हस्ती!"

यह जवाब मेरे दिलने नहीं दिया था, यह आवाज़ कहीं बुलन्दीसे आती महसूस हो रही थी और आज बरसोंके भूले-बिछड़े दिमाग़ने मुझपर तरस खाकर मुझसे ख़िताब किया था। दिमाग़ जिसमें बुद्धिका वास है और बुद्धि जिसकी प्रतिनिधि है, आज अपनी ज़ुबानदानीसे मुझे इसी तरह प्रभावित कर रहा था जैसे अबसे पहले भी सैकड़ों बेवक़ूफ़ोंपर अपने ख़ुश्क दबदबे और फीके फ़लसफ़ेका जादू चलाता आया था।

"उख्खो, ऐ बूढ़े दिमाग़, अक्ल जिसकी फ़रमाँबरदार लौंडी है, कितना घमण्डी है तू!" मैंने कहना चाहा लेकिन दिमाग़ने हस्बे-आदत बहुत मुरब्बियाना लहजेमें अपनी बात-चीत जारी रखी और कहा, "क्या अपने हर दुःखके ज़िम्मेदार तुम ख़ुद नहीं हो?"

"हरगिज़ नहीं," मैंने जलकर जवाब दिया।

"सब्र, सब्र," मेरे दिमाग़ने नरमीसे कहा, "मालूम होता है दिलका ग़लबा तुमपर बदस्तूर है।"

"क्यों, क्यों, कैसे?" मैंने अपने स्वरकी सख्तीपर शरमाते हुए पूछा।

दिमाग़ने बड़ी नरमीसे मुझसे पूछा, "क्या मेरे वजूदका तुमको एहसास ही नहीं था कि कभी मुझसे कोई सलाह ही ले लेतीं।"

"दिल सलाह नहीं लिया करता, बूढ़े फ़लसफ़ी," मैंने भी इस बार नरमीसे जवाब दिया।

"दिल? फिर वही दिल?" दिमाग़ने झुँझलाकर कहा, "क्या मैं दिलसे बढ़कर नहीं हूँ?"

"बड़प्पनका सवाल नहीं है, ऐ दिमाग़," मैंने कहा, "दिलकी बे-साख्तगीसे तुम वाक़िफ़ नहीं हो सकते···इसलिए कि तुम्हारे पास दिल नहीं है। तुम दिमाग़ हो, तुम साहिलसे तूफ़ानका नज़ारा करते हो। वह दिल है, वह तूफ़ानके थपेड़े सहता है। तुम महवे-तमाशाए-लबे-बाम थे, वह बे-खतर आतिशे-नमरूदमें कूद पड़ा था, कुछ याद है ?"

"ठीक है," मेरे दिमाग़ने कहा, "लेकिन क्या मैंने दिलको दिमाग़की सरपरस्तीमें रहनेकी सीख नहीं दी थी ?"

"यह तो सच है," मैंने कहा, "लेकिन कभी-कभी तुमने पासबाने-अक्लको उसे अकेला छोड़ देनेका सुझाव भी दिया था।"

"यह क्या पुरानी बहस तुमने छेड़ दी," मेरे दिमाग़ने कहा।

"तो क्या हुआ ?" मैंने कहा, "बहस तो तुम्हारी फ़ितरत बन चुकी है, दिमाग़··· और तुम्हारी बेहतरीन नुमाइन्दगी अक्ल करती रहती है···।"

"मेरी फ़रमाँबरदार अक्लका ज़िक्र करके क्या तुम मुझे दिलके तावेदार इश्क़की याद दिलाना चाहती हो ?"

"इश्क़की याद और आपको, ऐ बदज़ौक़ फ़लसफ़ी," मैंने बेइख्तियार हँसते हुए कहा, "आपकी ज़ुबाने-मुबारकपर तो इश्क़का नाम भी नहीं सजता है, हज़ूरवाला !"

"क्या इश्क़की कोई अहमियत है हमारे सामने ?" दिमाग़ने बहुत घृणासे पूछा।

"पुरानी बहसको नयी बहसका आग़ाज़ बनानेका इल्ज़ाम अब आपपर आयद होता है," मैंने कहा।

"हमें कोई परेशानी नहीं है। हम हर इल्ज़ामको झूठा भी साबित कर सकते हैं। हमें कुदरतने यह सलाहियत भी बख्शी है," दिमाग़ने फिर वही रोब डालनेवाला लहजा इख्तियार कर लिया था।

"जी हाँ, क्यों नहीं," मैंने कहा, "और दिल वह मुजरिम है जो बेगुनाह होते हुए भी नाकरदा गुनाहोंकी सज़ा भुगतनेपर तैयार रहता है।"

"यह उसकी महरूमी है, वह अक्लसे बेगाना है।"

"खुदा करे वह अक्लसे हमेशा बेगाना रहे," मैंने मद्धिम आवाज़में कहा।

"हाय···" मेरे दिलने यूँ सरगोशी की जैसे अचानक उसे कोई खोयी हुई याद आ गयी हो। मैंने चौंककर अपने दिलपर नज़र डाली। वह मुझे नज़र न आया। निगाहोंने शायद मेरी बेक़रारीको देख लिया था। बोलीं, "दिल तुम्हें कैसे नज़र आ सकता है। हम भी अब इसे नहीं देख

भाषण बनाम आनन्द

सभाकी कार्रवाईमें पहले लोग दो-दो तीन-तीनकी टोलियोंमें विभक्त, हँसी-खुशीकी बातें कर रहे थे कि संयोजकने धीरे-से वक्ता महोदयसे पूछा, "आपका क्या विचार है, लोगोंको इसी तरह थोड़ी देर और आनन्द लेनेके लिए छोड़ दिया जाये या आपका भाषण शुरू हो ?"

सकते हैं। वह तो किसी दूर देशकी तारीक और ना-उम्मीद राहोंमें भटक रहा है।"

"भटकने दो, उसका यही मुक़द्दर है," बूढ़े दिमाग़ने गम्भीर स्वरमें कहा और ख़ुद हस्बे-आदत जुस्तजूमें डूब गया।

सुबह होनेके आसार दिखाई दे रहे थे। मैं थककर फिर बिस्तरपर आ लेटी। मैं थोड़ी देर सोना चाहती थी लेकिन दिनका आग़ाज़ हो चला था और दिमाग़ यादके बे-ख्वाब दरवाज़ोंको बन्द करनेके लिए तैयार हो चुका था और दिलने अपनी कुंजियाँ दिमाग़को सौंपनेकी तैयारी कर ली थी।

"यह सब क्या था? यह सब क्या है? यह सब क्यों है?" मैंने अपनी बेख्वाब निगाहोंसे पूछा, अपने बे-गुनाह दिलसे पूछा, अपने बूढ़े दिमाग़से पूछा—और जब किसीने इसका जवाब नहीं दिया तो मजबूरन यही सवाल ख़ुद अपने-आपसे पूछना चाहा।

लेकिन···

उस वक्त अचानक मुझे यह एहसास हुआ कि मेरा तो कोई वजूद ही नहीं है।

●

आदत या बचाव

रातमें ऊपरी कमरेमें खड़खड़की आवाज़ सुन गृह-स्वामी दबे पाँव उस कमरेके पास पहुँचा ही था कि चोरने बड़ी फुर्तीसे उसकी छातीपर छुरेकी नोंक रखकर चुप रहनेका संकेत किया।

गृह-स्वामीने तत्क्षण आँखें मूँद लीं और धीरे-से कहा, "छुरेके ज़रूरत क्या? मैं तो महज़ इधर-उधर चक्कर लगा रहा हूँ क्योंकि मुझे नींदमें चलनेकी आदत है। तुम जिसलिए आये हो अपना काम पूरा करो।"

○

कितना अच्छा होता !

शकुन्त माथुर

मैं
ऐसे सूरज को लेकर
जो अपने प्रकाश से
धरती को भर देता है

विस्तृत वक्ष पर
सिर धर सोती ही रहती
कितना अच्छा होता
यदि इस घात-प्रतिघात
के उठते-दबते इन्द्रधनुष
भरे क़ालीन में
उलझनों की ऊँची-नीची उत्ताल
तरंगों की
नशीली संगीतमयी ध्वनि में
मैं
खोती ही रहती

कितना अच्छा होता
यदि ज़मीन गोल न होती
तब
विश्वासपात्र हो जाता ये सूरज
और मैं
निश्शंक
अनन्तकाल तक
सूरज के वक्ष पर
सिर धरे
सोती ही रहती

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

०
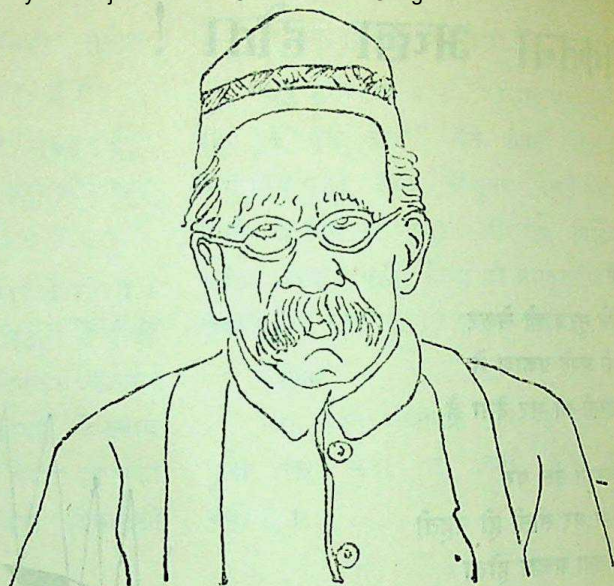
आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीकी जन्म-
शताब्दीके अवसरपर श्रद्धां-
जलि स्वरूप ।

०

डॉ० बच्चन सिंह

०

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिन्दी साहित्यके जन्मदाता माने जाते हैं और महावीरप्रसाद द्विवेदी उसके आचार्य ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने साहित्यका जो पौधा लगाया, द्विवेदीजीने उसे काट-छाँटकर एक रूप दिया । किन्तु उस काट-छाँट और तराशके आधारपर क्या उन्हें आचार्य कहा जा सकता है ? अथवा उन्होंने किसी सिद्धान्त या सम्प्रदायका प्रवर्तन किया जो किसी आचार्यके लिए अनिवार्य है ? वस्तुतः आचार्यका अर्थ यहाँ दूसरा ही है । कवि-शिक्षाके ग्रन्थ-निर्माताओंको भी आचार्य-की संज्ञा दी गयी है । उच्च शिक्षामें संलग्न व्यक्ति भी आचार्य कहा जाता है ।

द्विवेदीजीने मुख्यतः साहित्य-शिक्षणका कार्य ही किया है। सन् १९०३ से '२० तक, 'सरस्वती'का सम्पादन करते हुए उन्होंने भाषाका परिष्कार किया, कवि-लेखकोंको विषयोंका सुझाव दिया, उन्हें लिखनेकी प्रेरणा दी। उन्हें कवि-लेखक बनाया। यह उपलब्धि कम महत्त्वकी नहीं है।

अम्बिकाप्रसाद वाजपेयीने 'समाचार पत्रोंका इतिहास' में उनके भाषा-संस्कारपर भी टिप्पणी की है—'सरस्वती पत्रिका-द्वारा भाषाका काम हुआ है सही, परन्तु ऐसा नहीं हुआ है जिसके सामने उसके जन्मसे पचहत्तर वर्ष पहलेका कार्य फीका हो जाये। सन् १८७१ में निकले 'अल्मोड़ा अखबार' की भाषा भी किसी प्रकार निम्न कोटिकी नहीं ठहरती और इसके भी पहले प्रकाशित भारतेन्दु हरिश्चन्द्रकी 'कविवचनसुधा' का कहना ही क्या!' पर 'अल्मोड़ा अखबार' और 'कविवचनसुधा' की अपनी भाषाका अच्छी होना एक बात है और 'सरस्वती'-द्वारा भाषाका शिक्षण दूसरी बात है। 'सरस्वती' के माध्यमसे द्विवेदीजीने भाषा-साहित्यकी शिक्षा ही नहीं दी, उस समयके अनेक कवि-लेखकोंके वे दीक्षागुरु भी थे। इस अर्थमें वे सच्चे आचार्य थे।

सम्पादकके रूपमें उनका गौरव सर्वदा अक्षुण्ण रहेगा। इतना अध्यवसायी और निःस्पृह सम्पादक मिलना दुर्लभ है। उन्होंने अपनेको निःशेष भावसे 'सरस्वती' को समर्पित कर दिया था। इस समर्पण और 'मिशन', का परिणाम है कि 'सरस्वती' उस युगकी संस्था बन गयी, उसमें लिखना प्रतिष्ठाका विषय बन गया। सरस्वतीकी सुरक्षित पाण्डुलिपियोंको देखनेसे यह लगता है कि लेखोंके परिष्कार-संस्कारमें उस तपःपूत व्यक्तिने कितना श्रम किया था।

'सरस्वती'के सम्पादनके सम्बन्धमें उनके चार आदर्श थे: १. वक्तकी पाबन्दी, २. मालिकोंका विश्वासपात्र बननेकी चेष्टा, ३. अपने हानि-लाभकी चिन्ता न कर पाठकोंके हानि-लाभका ख़याल, और ४. न्यायके पथसे कभी विचलित न होना। उन्होंने अपने सोलह-सत्रह वर्षोंके सम्पादन-कालमें 'सरस्वती'को ठीक समयसे निकाला। उन्हें कभी-कभी सारा मैटर स्वयं तैयार करनेके लिए अनेक प्रकारके विषयोंपर स्वयं लिखना पड़ा लेकिन 'सरस्वती'के प्रकाशनमें विलम्ब नहीं होने दिया। छह महीनेतककी प्रकाश्य सामग्री वे अपने पास रखते थे।

कभी-कभी लोग लेख और कविता न छापनेपर उन्हें धमकाते थे। कभी-कभी उस तपस्वीको प्रलोभन देकर तपस्यासे डिगा देना चाहते थे। उन्हींके शब्दोंमें—"कोई कहता, मेरी मौसीका मरसिया छाप दो; मैं तुम्हें निहाल कर दूँगा। कोई लिखता—अमुक सभामें दी गयी अमुक सभापतिकी स्पीच छाप दो, मैं तुम्हारे गलेमें बनारसी दुपट्टा डाल दूँगा। कोई आज्ञा देता—मेरे प्रभुका सचित्र जीवन-चरित्र निकाल दो तो तुम्हें एक बढ़िया घड़ी या पैरगाड़ी नजर की जायेगी...नतीजा यह होता कि मैं बहरा और गूँगा बन जाता और 'सरस्वती'में वही

मसाला जाने देता जिससे मैं पाठकोंका लाभ समझता।...जान-बूझकर मैंने कभी अपनी आत्माका हनन नहीं किया..."यह वक्तव्य उनकी चारित्रिक दृढ़ता और ईमानदारीका सबूत है।

जनवरी १९०३ की 'सरस्वती'की संख्या दो-तीन में एक चित्र (व्यंग्य-चित्र) छपा है। शीर्षक है—साहित्यसमालोचना-साहित्यसभा। इसमें ९ कुरसियाँ हैं। पहली कुरसी इतिहासकी है जो खाली है। दूसरी कुरसी जीवन-चरित्रकी है, वह भी खाली है। तीसरी पर्यटनकी है जिसपर एक व्यक्ति विराजमान है। चौथी कुरसी समालोचनाकी है जिसपर जोकर टाइपका एक व्यक्ति समासीन है। पाँचवीं उपन्यासकी कुरसी है। इसके पास एक दाढ़ीधारी बेडौल व्यक्ति बँदरिया नचा रहा है। छठीं व्या-(धि)-करणकी कुरसी है जिसपर एक रोगी बैठा है। सातवीं कुरसी काव्यकी है। मध्यकालीन वेष-भूषामें एक राज-पुरुष उसपर शोभायमान है। नाटककी आठवीं कुरसीपर एक कंकाल बैठा है। नौवीं कुरसी कोषकी है और वह खाली है। यह चित्र उस समयके हिन्दी-साहित्यकी यथार्थ झाँकी प्रस्तुत करता है। अब सरस्वतीका कर्तव्य था खाली कुरसियोंको भरना तथा अन्य कुरसियोंपर बैठे हुए व्यक्तियोंका संस्कार-परिष्कार करना। पर उनका संस्कार-परिष्कार किस सीमा तक हुआ, यह विचारणीय है।

द्विवेदीजीने अनेक विषयोंपर लेखनी चलायी। किसी भी महीनेकी 'सरस्वती' उठा लीजिए। सम्पादकीयके विषय होंगे–तज़किरे हज़ार दास्तान, एक नूतन लिपिका आविष्कार, कमाण्डर पीरीकी ध्रुवयात्रा, नयी तोप, व्याख्यानोंसे आमदनी, नयी दूरबीन, होडसन साहबकी तिब्बत-यात्रा आदि। कहना व्यर्थ है कि ये टिप्पणियाँ नहीं हैं। बल्कि एक स्थानपर विविध विषयोंकी सूचनाएँ संगृहीत कर दी गयी हैं। जहाँ कहीं सम्पादकके विचार व्यक्त भी हुए हैं वहाँ वे विचार नहीं हैं उन्हें अभिमत कहना चाहिए।

उनके निबन्धोंके विषयमें भी पर्याप्त वैविध्य है। पर उन्हें भी नाटकका 'सूच्य' ही समझना अधिक संगत है। जीवनियोंको उन्होंने कुछ स्थूल खानोंमें बाँट लिया है जैसे जन्म और शिक्षा, युवावस्था, सरकारी सेवा, काव्य रचना, कवित्व, उपसंहार आदि। पुरातत्त्वसम्बन्धी लेखोंके सम्बन्धमें भी मोटी बातोंकी जानकारी करायी गयी है। इन दोनोंकी शैलियोंके दो उदाहरणोंसे उपर्युक्त तथ्य और भी अच्छी तरह उद्घाटित हो जायेगा। पहले स्पेंसरके जीवन-चरित्रका प्रारम्भिक अंश देखिए:

'यह संसार प्रकृति और पुरुषका लीला-स्थल है। बिना इन दोनोंका संयोग हुए संसारका क्या कुछ नहीं बन सकता। संसार में दृष्टादृष्ट जो कुछ है प्रकृतिका खेल है; पर खेलका दिखानेवाला पुरुष है। प्रकृतिका दूसरा नाम पदार्थ है, सबमें कोई-न-कोई शक्ति विद्यमान है। पानीसे भाफ, भाफसे मेघ और मेघोंसे फिर पानी। रूईसे सूत, सूतसे कपड़े और कपड़ेसे फिर रूई। बीजसे

वृक्ष, वृक्षसे फूल, फूलसे फल और फलसे फिर बीज।'

पूरा अनुच्छेद स्पेंसरके सन्दर्भमें अप्रासंगिक है। एक बातको अनेक वाक्योंमें दोहराया गया है। अन्तिम तीन वाक्योंमें उसी प्रकारके और भी वाक्य जोड़े जा सकते हैं। इसमें एक ही गुण है—साफ़गोई; कदाचित् यह गुण ही उनकी सर्वमान्य विशेषता है।

पुरातत्त्वसम्बन्धी एक दूसरा उदाहरण देखिए जो 'देवगढ़की पुरानी इमारतों' पर लिखा गया है:

"इस सब इमारतोंमें दशावतारके मन्दिरका काम प्रशंसाके योग्य है। उसके प्रवेश द्वारपर कला-कौशलके ऐसे अनेक नमूने हैं जिनको देखकर देखनेवालेकी बुद्धि चक्करमें आती है। उनका यथार्थ वर्णन नहीं किया जा सकता; न उनके नक्शे और चित्रोंसे उनकी सुन्दरताका पूरा-पूरा अनुमान हो सकता है। उनको प्रत्यक्ष देखना चाहिए.... उनको देखकर बनानेवालोंकी सहस्रमुखसे प्रशंसा करनेको जी चाहता है।"

इससे मन्दिरका कोई चित्र नहीं बन पाता। बुद्धिका चकराना एक बात है और बुद्धिगम्य होना दूसरी बात।

उनकी निजी साहित्यिक उपलब्धियाँ क्या हैं? उनकी कविता और आलोचनामें मुश्किलसे कोई भेद किया जा सकता है। कविताके आधारपर काव्यसम्बन्धी उनकी मान्यताओंकी जाँच-पड़ताल अधिक सुकर हो जाती है। उनकी कवितामें भाव तत्त्व और कल्पनाकी अत्यधिक विरलता इस तथ्यकी सूचक है कि उनका गद्य भी गद्यके गुणोंसे विरहित है – गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति। पर कविताके सम्बन्धमें वे बहुत दिनों तक छलावेमें नहीं रहे। सन् १९११ की 'सरस्वती'में उन्होंने लिखा है–"कविता करना और लोग चाहे जैसा सहज समझें, हमें तो यह एक तरह दुःसाध्य ही जान पड़ता है। अज्ञता और अविवेकके कारण कुछ दिन हमने भी तुकबन्दीका अभ्यास किया था। पर कुछ समझ आते ही हमने अपनेको इस कामका अनाधिकारी समझा। अतएव उस मार्गसे जाना ही बन्द कर दिया।" इसके बादसे उनकी एक भी कविता प्रकाशित नहीं देखी गयी। इस प्रकारकी स्पष्टोक्ति किसी उच्चकोटिके चरित्रनिष्ठ व्यक्तिकी लेखनीसे ही निकल सकती है। 'हे कवि हो!' शीर्षक

आचार्य द्विवेदी और 'नवीनजी'

एक बार आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी 'प्रताप' कार्यालयमें आये। बैठते ही नवीनजी से पूछा, 'काहे हो बालकृष्ण! तिनु एक बात हमका बतावा, तुम्हार इ सजनी, रानी, प्रिये, ई को आयँ?' नवीनजी ठहरे हाज़िरजवाब: उनकी तो नीति थी – 'खाये, पिये, लगाये टीका, वही बंभन रहे नीका!' चटसे उत्तर दिया, 'अब तुम बूढ़ होइगे हो, का करिहो इनका मरम जानिके।' ठहाका लगाते हुए द्विवेदीजीने एक घूँसा लगाया नवीनजीको और बोले, 'बड़े मुरहा हो?'

—डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे

कवितामें जो भाव-विचार (!) व्यक्त हुआ है बहुत कुछ वही गद्यमें भी लिखा गया है :

तुकान्त में कवितान्त है – यही,
प्रमाण कोई मतिमान मानते।
उन्हें नहीं काम कदापि और से;
अहो महामोह ! प्रचण्डता तव ॥
कवीश कोई यमकच्छदामयी,
महाघटाटोपवता सुचोलिका।
बनाय नानाविधि हे विचक्षणे !
तुझे वशीभूत हुई विचारते ॥

सुरम्यता, कमनीय कान्ति है;
अमूल्य आत्मा, रस है मनोहरे।
शरीर तेरा, सब शब्द मात्र है।
नितान्त निष्कर्ष यही, यही, यही ॥

'कवि और कविता' निबन्धमें एक प्रकारसे उक्त कविताको ही रूपान्तरित कर दिया गया है – "तुकबन्दी और अनुप्रास कविताके लिए अपरिहार्य नहीं है। संस्कृतका प्रायः सारा पद्यसमूह बिना तुकबन्दीका है…।" यों कवि और कविताके सम्बन्धमें उनकी विचार-सरणि मोटी ही है। गोया उनको कहींपर भी ठहरकर विचार करनेका अवकाश नहीं है।

उनकी लिखी हुई समालोचनाओंका अपना एक ढर्रा है। न तो विवेच्यकी गहरी छान-बीन की गयी है और न उनके भीतरसे ही कोई व्यवस्था और मार्ग दृष्टिगत होता है। पुस्तक-परीक्षा द्विवेदीजी स्वयं किया करते थे। वे परीक्षाएँ पुस्तकोंका हलका परिचय देकर रह जाती हैं। परीक्षाके नाम-पर यत्र-तत्र भाषासम्बन्धी त्रुटियोंका उल्लेख-भर कर दिया गया है।

द्विवेदीजीने गद्य-शैलीका परिमार्जन किया पर क्या इसे गद्य-शैलीका निर्माण और उन्नयन माना जाये ? जिस प्रकार उनकी कविताओंमें जहाँ कथात्मक अंश आया है वहाँ काव्य सरस हो गया है उसी प्रकार कथात्मक निबन्धोंमें भी सरसता देखी जा सकती है। ऐसे प्रसंगोंमें उनका मन रम गया है। उदाहरणके लिए 'गोपियोंकी भगवद्भक्ति'।

इस निबन्धमें शैलीकी भंगिमाओं, उसकी प्रभावोत्पादकता, कथनकी सफ़ाई, भावोंका उतार-चढ़ाव, विभिन्न मनोदशाओं आदिको सुरुचिपूर्ण ढंगसे गूँथा गया है। व्यंग्यके लिए भी इसमें प्रचुर अवकाश है :

'स्वागत ! स्वागत ! खूब आयीं। कहिए, क्या हुआ ? कुशल तो है ? ब्रजपर कोई विपत्ति तो नहीं आयी ? किस लिए रातको यहाँ आगमन हुआ ?'

'सरकार, आप तो बहुत पण्डित-प्रवर निकले। पण्डित ही नहीं, धर्मशास्त्री भी आप बन बैठे हैं। हमें आपके इन गुणोंकी अबतक खबर ही न थी। आपकी इन परम पावन कल्पनाओंका ज्ञान तो हमें आज ही हुआ।…'

इसमें जगह-जगह लेखकका व्यक्तित्व भी प्रतिफलित हुआ है, उसका भक्त हृदय भी इसमें यथेष्ट योग देता है। प्रसंगानुसार उर्दूकी शब्दावलीका भी प्रयोग हुआ जो बाद-में चलकर व्यंग्य-विधानके प्रसंगमें आचार्य

रामचन्द्र शुक्लकी शैलीका अनिवार्य अंग बन गया।

पर उनके अन्य निबन्ध भारतेन्दुयुगीन निबन्धोंकी परम्पराको—उसकी ज़िन्दादिली, तलख़ी-शोख़ी, व्यंग्य-विनोदको—आगे नहीं बढ़ा सके हैं। आगे बढ़ानेकी बात जाने दीजिए, उसे क़ायम भी नहीं रखा जा सका है—सच यह है कि एक प्रकारसे उस प्राणवान् परम्पराकी गति रुद्ध हो गयी। उसे आगे बढ़ानेका कार्य चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और बालमुकुन्द गुप्तने किया जो द्विवेदी-संस्थानके बाहरके लेखक थे। क्या कारण है कि द्विवेदीजी-जैसे आचार्यसे इसे बल नहीं मिला? द्विवेदीजी शुद्ध साहित्यिक व्यक्ति थे। वे राजनीतिक विचारोंसे वीतराग थे। राजनीतिक गतिविधिपर उनकी एक भी टिप्पणी नहीं मिलेगी। नवीन मानव-मूल्यों-की ओर भी उनकी रुझान नहीं थी। वे सुधारवादी आचारोंके क़ायल थे और उसी-की अभिव्यक्ति उनके साहित्यमें हुई है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र राजनीतिक-सामाजिक समस्याओंके प्रति पूर्णतः जागरूक थे। नये मूल्योंकी ओर भी उनका ध्यान था। उनकी ज़िन्दादिलीका मुख्य कारण उनका उन समस्याओंसे जूझना था। गुलेरीजी और बालमुकुन्द गुप्त राजनीतिक-सामाजिक चेतना-के कारण ही अपने निबन्धोंमें अनेकशः मानसिक प्रतिक्रियाओंको प्रभावशाली ढंगसे उकेर सके हैं। जीवनको अनेक सन्दर्भोंमें जीवन्त ढंगसे वही देख सकता है जो समग्र जीवन-के प्रति संवेदनशील हो।

इसका तात्पर्य द्विवेदीजीका अवमूल्यन नहीं है, बल्कि सही स्थितिको सही ढंगसे उपस्थित करना है। उन्होंने जिस लगन, उत्साह और निष्ठाके साथ अपनेको सरस्वती-के चरणोंमें निवेदित किया वह अनुकरणीय है। गद्य-पद्यकी भाषाको एक करनेका सर्वाधिक श्रेय उन्हींको है। भाषाकी अस्थिरता, अनगढ़पनको दूर करनेके लिए जितना कार्य इस अकेले व्यक्ति-ने किया उतना किसी संस्थाके लिए भी संभव न हो सका। व्याकरणके सिद्धान्त गढ़ना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना एक युगकी भाषाको व्याक-रण सम्मतरूप देना। उस समय अन्य प्रान्तीय भाषा-साहित्यके मुक़ाबले 'सरस्वती' के रूपमें उन्होंने हिन्दीको जो गौरव और प्रतिष्ठा दी इसके लिए वे चिरस्मरणीय रहेंगे।

विभाजनोपजीवी आलोचकोंने उनके नामपर एक युग ही खड़ा कर दिया है। लेकिन अब समय आ गया है कि हम भावु-कतारहित होकर उनके कृतियों-कार्योंका उचित आकलन करें। कृतज्ञता-निवेदनका तात्पर्य यह नहीं है कि हम बौद्धिक स्तरपर किसीकी उपलब्धियों-ख़ामियोंसे मुँह मोड़ बैठें। साहित्यके प्रति तथा स्वयंके प्रति ज़िम्मेदारीका तक़ाज़ा है कि इस अवसरपर उनका सही मूल्यांकन किया जाये।

●

देवतात्मा हिमालय (३)

'महाप्रस्थानेर पथे,' 'रशियार डायरी' आदि प्रसिद्ध यात्रा-वर्णनोंके लेखक, बँगलाके विख्यात साहित्यकार श्री प्रबोधकुमार सान्यालकी श्रेष्ठ कृति 'देवतात्मा हिमालय' की तीसरी क़िस्त। प्रस्तुत यात्रा-विवरणकी देश-विदेशमें काफ़ी चर्चा हुई है, और जर्मन तथा अँगरेज़ीमें इसके अनुवाद भी हो चुके हैं।
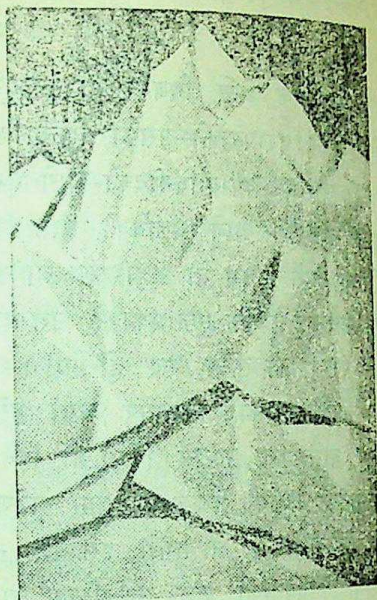
और कुछ नहीं तो जलालाबादकी सड़क पकड़ी और हेलमन्द नदी पार कर एकके बाद एक पहाड़ लाँघते हुए मझियारी शरीफ़ जा पहुँचे। उपत्यकाओंके पथरीले, कंकरीले, रेतीले दुर्गम पथ पार करना इन्हें अच्छा लगता है। ऐसे रास्तोंपर दो-चार सौ मीलकी चढ़ाई-उतराई पैदल तय करना उनके लिए रोज़-मर्राकी आदतमें शामिल है। सिर्फ़ रेगिस्तानमें ही इनको मुसीबत जान पड़ती है। वहाँका एक मात्र यान-वाहन ऊँट इनकी बहुमूल्य सम्पत्ति है। जिसके ऊँटोंकी तादाद बड़ी है वही सबसे बड़ा सौदागर माना जाता है। ऊँटोंका कारवाँ हज़ार-डेढ़-हज़ार मील तो यों ही चला जाता है — उनकी पीठोंपर सैकड़ों मन ऊन, तमाखू, लोहेकी चीज़ें, हींग, चमड़ा, सूखा मांस, बेशक़ीमती चिड़िये, सूती और रेशमी कपड़े लदे हैं। वे एकके बाद एक क़तार बाँधे चले जा रहे हैं। अगर नदीके पास आ गये तो मशकोंमें पानी भरकर ऊँटोंपर लादा और रेगिस्तानके निर्जल प्रदेशोंमें बेच डाला। अनादि-अनन्त कालसे उनकी जीवन-पद्धति

• प्रबोधकुमार सान्याल •

अजाने-अनदेखे लोगोंके बीच

वही रही हैं। उन्हें न इससे ऊब होती है न प्रगति या उन्नतिकी इच्छा।...खजूरोंके झुरमुट या जंगल उन्हें यत्र-तत्र मिल जाते हैं, उन्हींके आस-पास रातमें डेरा डालते हैं वे, उन्हींके आस-पासकी भली-बुरी जगहोंपर दिन भर सफ़र करते हैं। इससे बाहर उनकी ज़िन्दगी कभी नहीं दिखाई पड़ी।

पेशावरसे रेल खैबर दर्रेके गहन लोकमें चली जाती है। सिर्फ़ पैंतीस मीलका टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता है। ठीक तो याद नहीं, शायद साठ-सत्तर सुरंगें (टनेल) पड़ते हैं रास्तेमें। कोई बड़ा है तो कोई छोटा। बंगाली इंजीनियरोंकी देख-रेखमें बनी थीं ये सुरंगें। जब आर्यावर्त और दक्षिणात्य सो रहे थे तब बंगाल बृहत्तर हिन्दुस्तानकी ओर अग्रसर हुआ और अफ़गान, ईरान, वर्मा और चीन देशतक जा पहुँचा था। विद्याधर भट्टाचार्य राजपूताना पहुँचे तो श्री जीव गोस्वामी वृन्दावन तथा राममोहन और शरतदास तिब्बत। दीपंकरको तो आज भी नहीं भूला जा सकता। लैण्डिकोटलमें जाकर देखा कि हुगलीके मिस्टर घोष खैबर दर्रेकी सुरंगोंके निरीक्षक हैं और अफ़रीदी मजूरोंके मेट हैं चट्टग्राम (चटगाँव)-के मि० मजूमदार। रावलपिण्डीसे जो रास्ता अन्तहीन पर्वतमालाकी ओर कश्मीर चला गया है, उसीके एकांश छोड़ गल्ली पहाड़पर देखा कि मि० चटर्जी सप्लाई डिपार्टमेण्टके इंचार्ज हैं। उधर कश्मीर है, इधर उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेशके बीच जंगली प्रदेशमें वितस्ता (जेहलम) की तेज़ धार है। वितस्ता-के तट-प्रान्तपर देवदारके वनमें एक छोटा-सा काष्ठ कुटीर 'कॉटेज गर्ल'। उसमें भी एक बंगालीको मौजूद देखकर अचरज हुआ। पठान और मुग़ल शासनकालमें बंगाली दिग्विजयके लिए निकलते थे किन्तु अँगरेज़ी राजके मध्यकालमें बंगालियोंने आरामदेह नौकरियाँ लेकर घरसे निकलना नहीं चाहा। अँगरेज़ीके सिवाय और कुछ नहीं सीखा—इसीलिए जीवन बहता पानी न रह सका। किन्तु, सुविधा मिलते ही बंगाली आगे नहीं बढ़ते यह कहना ग़लत है। अभी-अभी तो उस दिन देख आया हूँ कि सिक्किम याने गैंगटाक शहरमें एक बंगाली पानकी दूकान सजाये बैठा है। बंगाली पोस्ट ऑफिसमें हैं, पी० डब्लू० डी० में है। और कुछ आगे बढ़कर नाथू-ला पास पार करते ही तिब्बतके पास यातुंगमें भी बंगाली सामरिक डेरा डाले पड़े थे। कर्नल सुरेश विश्वासको कौन नहीं जानता। बंगाली एम० एन राय। बंगाली सुभाष बोस।

बंगाली मौतसे कभी नहीं डरता। अँगरेज़ी राजके अन्तिम दिनोंसे सीमान्तके खान—जिन्हें आज पख्तून कहते हैं और जिनकी भाषा पश्तो है—अच्छी तरह जान जाते हैं यह बात। वे सबसे ज़्यादा गुस्सा होते हैं पश्चिमी पाकिस्तानके मुसलमानों और सिखोंपर। वे ही उन्हें परेशान करते हैं। उन्हींसे उनकी लड़ाई है, प्रतिद्वन्द्विता है। अँगरेज़ टॉमी तो उनके लिए बच्चे थे। जब चाहा उन्हें कैम्पसे उठा ले गये। एक ही चपतमें कितने ही टॉमी जान दे बैठते। तभी

देखा गया था कि निरीह गढवाली पलटन सामने ग्रानेपर टॉमियोंने गोलियाँ बरसा दीं लेकिन अफ़रीदियोंपर कभी 'बेनेट चार्ज' भी नहीं आज़माया। अक्सर यही होता रहा है कि टॉमीके हाथोंमें राइफिल काँपती रही और पठान स्नाइपर-की राइफिलका अचूक निशाना टॉमीका भेजा भेदकर पार हो गया।

ख़ैबर दर्रेमें ग्रागे बढ़ा तो पहला क़िला मिला जमरूद। गौतम बुद्धके महापरिनिर्वाणके बाद उनके भिक्षापात्रको समाधि दी गयी थी यहाँ, एक मठमें। उसीके खँडहरोंपर ग्राजका यह क़िला खड़ा है। पासमें ही पिकेट है। चारों ग्रोरसे दुश्मन घेरे हैं इसे। इसकी ग्राकृति पटनाके 'मॉन्यूमेण्ट ग्रॉव फॉली'-जैसी है, दिल्लीके मान-मन्दिर-सा लगता है दूरसे। चारों ओर छिपी ख़ाइयोंमें गोलियाँ चलानेके लिए ग्रनगिनत छेद हैं। दूसरोंको दुश्मन समझते हैं इसीलिए तो हिंसाकी इतनी तैयारी है। एकका हिंसा-बोध ग्रौर विद्वेषबुद्धि दूसरोंकी पशुप्रकृतिको जगा देती है। किन्तु ग्रगर किसीको भी दुश्मन न माना जाये तो···? यदि मन-कर्म-वचनमें ग्रहिंसावादी हो जायें हम तो क्या अपने चारों ग्रोर हिंसाकी ये उन्मत्त तैयारियाँ की जायेंगी? ठीक यही मनोभाव लेकर पख़्तून समाजका एक सर्व-चित्तजयी वीर उठ खड़ा हुग्रा था। सवाल उठा, वीरताका श्रेष्ठ गौरव क्या है? एकके सिवाय ग्रौर कोई भी पख़्तून इसका जवाब नहीं दे पाया। मनुष्यताका श्रेष्ठ परिचय क्या है? यह सवाल इस रेतीले रास्ते ग्रौर ग्रंगारोंवाले पहाड़ोंपर उठ खड़ा हुग्रा, यह सवाल कुर्रम, मीरनशाह, वज़ीरिस्तान, डेरा इस्माइलखाँ, दाऊदखेल, हज़ारा ग्रौर कोहाटमें ग्रौर पहाड़ोंकी हर गुफ़ामें, ग्रफ़रीदियोंके हर मुहल्लेमें उठ पड़ा, तब उन लोगोंमें सिर्फ़ वही एक महापुरुष सर ऊँचा कर खड़े हुए। वे बोले, मनुष्यताका श्रेष्ठ परिचय है—ग्रहिंसा ग्रौर प्रेम! उनका नाम है ग्रब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ाँ। उनके ग्राविर्भावसे सारा पख़्तूनिस्तान एक नयी जीवन-धारासे भर उठा था।

●

सामनेके मैदानका ग्रायतन शायद तीन सौ वर्गमील है। जहाँतक निगाह जाती है वहीं पहाड़ी घिराव दीखता है। यहाँ हमेशासे लड़ाई होती चली ग्रा रही है। सिकन्दरके ज़मानेसे शुरू हुई थी—उसके बाद शक, हूण, तातार-जयपाल-ग्रानन्दपालसे लेकर मुहम्मद ग़ोरी, महमूद ग़ज़नवी ग्रौर मुग़ल-सम्राट् बाबर सभीने लड़ाई क़ायम रखी। इस मैदानके पत्थरोंकी पर्त-पर्तपर ऐतिहासिक कंकाल पड़े हैं, हिमालयने हमेशा इसीकी गवाही दी है। इसी मैदानसे जुड़ा है एक पैदल रास्ता ग्रौर उसके पास ही पास गया है सीमान्त रेल-पथ। फिर दोनों ही ख़ैबरकी जटिलतामें मिल जाते हैं। चारों ग्रोर रूखे, ऊसर, धूसर पर्वत हैं, न छाया है न माया। ग्राश्रय, ग्रानन्द कहीं कुछ भी नहीं है। सिर्फ़ कारवाँग्रोंमें चलते ऊँटोंके गलेसे बँधी घण्टियाँ टुनटुनाती हैं ग्रौर यह ग्रावाज़ दूर, ग्रौर भी दूर कहीं खो जाती है। सारी चेतनापर ही जैसे हज़ारों साल पुरानी क्लान्त

तन्द्रा छा जाती है—हवाकी हू-हूमें विगत इतिहासका हाहाकार सुनायी पड़ता है।

मैं अली मस्जिदके इलाक़ेमें आ गया। मस्जिद शायद किसी पहाड़के तले बनी है किन्तु यहीं एक बड़ा-सा विद्यायतन है—नाम है इस्लामिया कॉलिज। असभ्य जातिको सुसभ्य करनेका प्रयत्न है यह एक। कोई फ़ीस नहीं ली जाती, यहाँतक कि अँगरेज़ मिशनरी तो विना मूल्य पुस्तकें भी बाँटते फिरते हैं, जैसे अमेरिकन मिशनरी जगह-जगह कागज़में बँधा खाना और लिफ़ाफ़ेमें रखी करेन्सी नोटोंकी भेंट बाँटते फिरते हैं वैसे ही यहाँ भी पठानोंके आकर्षणार्थ तरह-तरहके उपहार वितरित होते हैं। फिर भी स्कूल-कॉलिजोंमें छात्र नहीं जुटते। ख़ैबर रेलवेमें जैसे सवारियोंका जुगाड़ मुश्किल होता है। अफ़रीदी पठानोंसे कोई टिकिट नहीं माँगता, फिर भी।…

सेब और अंगूरोंकी पोटली बाँधकर वे गाड़ीमें चढ़ते हैं और उन्हें खाते-चबाते एक प्रान्तसे दूसरे प्रान्तकी ओर चल पड़ते हैं। कोई झुण्ड रास्तेमें ही उतर गया और पहाड़ी सुरंगोंके रास्ते ग़ायब हो गया। सारे पहाड़ोंमें एकके बाद एक गड्ढे खुदे हैं। पहाड़ी प्राचीरके पास ही उनके छोटे-छोटे घर हैं। न उनमें खिड़कियाँ हैं न दरवाज़े, सपाट दीवारें है सिर्फ़। कुछ हरियालीके दाग़ हैं, कहीं-कहीं घास या लताएँ भी दीखती हैं। उनके बीचोबीच एक गुम्बद अवश्य बना होता है। वहींसे अचूक निशानेवाली बन्दूकें दुश्मनोंपर बरस पड़ती हैं। इनका प्रत्येक घर दुर्ग है, प्रत्येक व्यक्ति योद्धा और प्रत्येक पहाड़ आत्मरक्षाका प्राचीर। चारों ओर देखो तो सुनसान—पर वही नीरव निर्जनता दिलमें दहशत पैदा करती है। जलती धूपमें पर्वतीय प्रान्तोंकी अंगारों-सी धूसरतासे क्लान्त दृष्टि प्रतिहत-सी लौटेगी, लेकिन सांकेतिक आवाज़ करते ही उल्का वेगसे पहाड़ी गह्वरोंमें बसी हज़ारों, दुर्धर्ष, हिंस्र रणोन्मत्त असम-साहसिक वज़ीरी-अफ़रीदी पठानोंकी क़तारें निकल आयेंगी। दूरसे तोप चलाओ, बन्दूकें दागो, विमानोंसे बम बरसाओ, उनके ये अनगिनती मिट्टीके क़िले चूर-चूर करदो—फिर भी देखोगे कि सौ में पाँच भी नहीं मरे वे। पहाड़ोंकी सुरंगोंमें, माँदोंमें छिपे गीदड़ोंकी तरह,

---

शिकायतकी बात

डाकियेसे पत्र लेकर श्रीमती चोपड़ाने उसे ध्यानसे देखा, फिर कहने लगीं : "यह अजीब बात है, मुझे डाकख़ानेवालोंकी शिकायत डाकके मन्त्री महोदयके पास भेजनी पड़ेगी।"

डाकिया कुछ समझ न पाया। घबराया-सा पूछने लगा, "आख़िर बात क्या है देवीजी ? मुझसे कोई ग़लती हुई ?"

"देखो न, मेरे पति इलाहाबादमें हैं और इस आये पत्रपर डाकख़ानेवालोंने लखनऊकी मुहर लगायी है।"

ग़ायब हो गये। मौक़ा मिलते ही छपाका मारा और आदमी तक उठा-चुरा ले गये। सबकी आँखोंमें धूल झोंककर कोतवालीसे, कैम्पसे, और पेरीमीटरके घेरेके अन्दरसे समूचेके समूचे सिपाहीको कन्धेपर लादकर भागनेकी घटनाएँ बहुत-सी हो चुकी हैं। रायल बंगाल टाइगर जैसे बच्चोंको दाढ़में दबाकर जंगलमें भाग जाते हैं, वैसे ही ये लोग अँगरेज़ टॉमियोंको पकड़ घूम-घुमौवल पहाड़ी सुरंगोंमें खो जाते हैं।

पहाड़ी रास्ता एक लम्बे-से चक्करमें घूम गया। मोड़पर मिला सगई (शको ?) का क़िला। लाल पत्थरका विशाल दुर्ग। तोरणद्वार भी ख़ूब बड़ा है इसका। लोहेकी पत्तरें और सलाखें जड़कर बनाया गया है। सामने हथियारबन्द सन्तरी है। साफ़ ज़ाहिर है कि यह लाल पत्थर इस प्रदेशका नहीं है। या तो सुलेमान पर्वतकी देन है अथवा अजमेर-में दीख पड़नेवाले अरावली पहाड़की। यहाँ ख़ैबरका विस्तार भी ख़ूब लम्बा हो गया है। चारों ओर गगनचुम्बी गिरि-श्रेणी है और बीचमें लम्बी सँकरी उपत्यका। इधरसे उधर तक एक पथ-रेखा बहुत दूर-दूर तक चली गयी है। यह स्थल ख़ैबर दर्रेके बीचों-बीच पड़ता है। सगई क़िलेसे दोनों ओरकी हिफ़ाज़त की जाती है, अतः यहाँका अस्त्रागार ख़ूब बड़ा है। एक तरफ़ जमरूद है दूसरी तरफ़ लैण्डिकोटल। अगर सगईका क़िला फ़तह हो जाये तो पेशावर-पतनमें फिर क्या देर लगे। आज भी इसीलिए यहाँ पाकिस्तानको पहरा लगाना पड़ता है। अँगरेज़ोंने उनका कभी यक़ीन नहीं किया था। पाकिस्तानने भी उन्हें घर बुलाकर प्यार नहीं किया। ज़ाहिर है कि सगईसे रावलपिण्डी तक प्रति-रक्षाके व्यूहोंकी लम्बी-लम्बी कड़ियाँ आपसमें अच्छेद्य रूपमें जकड़ी गयी हैं।

मैं और आगे बढ़ा। भारत और भी पीछे छूट गया। सगईसे लैण्डिकोटल लगभग बारह मील पड़ता है। नज़र आ रहा है भारतपर हमला करनेका दर्रा। तख़्ते-ताऊस इसी रास्ते गया, इसी रास्तेसे हज़ारों आर्य हिन्दू ललनाएँ लुटीं चली गयीं। सैकड़ों-करोड़ों रुपयोंके हीरे, पन्ने, सोना, मोती, लाल आदि-से लदे ऊँटोंके कारवाँ यहींसे गुज़रते रहे। इसी रास्तेपर न जाने कितनी अशर्फ़ियाँ, जड़ाऊ नूपुर और हारोंकी टूटी लड़ियाँ, हृदय-विदारक अश्रुकण और क्षत-विक्षत वक्षोंकी रक्तधाराएँ गिरीं, बिखरीं और फैलती रहीं। इसी रास्ते घुड़सवार यूनानियोंका दल सिन्ध जीतने आया था। आयी थीं तुर्क-तातारोंकी भयावह बाढ़ और यूनानी-मुसल-मानी तहज़ीबकी भारत-विजयिनी फ़ौजें। और इसी रास्ते गयी थी गौतम बुद्धकी कल्याणमयी वाणी। इसी पथके अँधेरेमें हाथोंमें दीपक लिए बुद्धके अनुयायियोंने उचारा था—ॐ मणिपद्मे हुम्। धर्मं शरणं गच्छामि। बुद्धं शरणं गच्छामि।...वे सीमान्त प्रदेश गये, अफ़गानिस्तान (गान्धार) गये, ईरान (पारस्य) गये और कश्यप सागरके किनारे-किनारे भी विचरते रहे।

इस रास्ते कोई राहगीर नहीं आता। पेड़-पौधे भी नहीं हैं कहीं; कभी-कभी देखा

जाता है कि दूर हिमालयसे कोई मटमैला भालू उतरा आ रहा है या एकाध हायना, अथवा कोई खतरनाक साँप—बस और किसी भी जानवरके दर्शन नहीं होते। पूर्वोत्तर हिमालयकी ओर कितनी ही बार ताका है—भ्रुकुटि-कराल तृष्णालोलुप, भस्माच्छादित नंगा फ़क़ीर है, बस। बिजलीकी कड़क नहीं, मेघ-मेदुरता भी कल्पनातीत है, छायापथकी भी कोई तसवीर नहीं उभरती कहीं, नील-नयना गाँवकी गोरीकी बाँकी चितवन सरोवरकी कमल-कली नहीं बनती कहीं। किन्तु हिमालयके विस्मयावह परिवर्तन प्रायः दृष्टि-पथमें आते हैं। महाकालके सजग प्रहरीकी तरह खड़ा यह बार-बार नयी-नयी शक्लें बदलता रहता है—आदमीकी, भाषाकी, भावकी, कल्पनाकी, प्रकृतिकी और यहाँतक कि पशु-पक्षी और जीव-जन्तुओंकी हिमालयी आकृतियाँ अक्सर देखी हैं यहाँ।

कहीं किसी सुरंगसे सीमान्त रेल-पथ बाहर निकल पड़ा है। फिर रुक गया है। क़दम-क़दमपर एक-एक लूप लाइन मिलती है। इधरसे जाती है, उधरसे आती है, टेढ़ी-मेढ़ी भूलभुलैयाँ जैसी। जगह-जगह सशस्त्र सन्तरी खड़े हैं, चौकियोंपर बन्दूक़ उठाये पिकेट खड़ी है। प्रत्येक पहाड़ अविश्वास्य है, प्रत्येक मोड़ सन्देह-जनक है। मुझे याद आ रहा है, कि ठीक इसी जगह इसी दर्रेके आस-पास, सीमान्तके अँगरेज़-गवर्नर सर ओल्फ़ कारोकी शह पाकर एक ख़ास श्रेणीके अफ़रीदीने पण्डित नेहरूपर वार किया था। १९४६ के अक्तूबरके बीचकी घटना है। पण्डित नेहरू तब बड़े लाट वेवेल-द्वारा नियन्त्रित भारत-सरकारके प्रधान मन्त्री थे। कांग्रेसके हाथोंमें ही तब स्वराष्ट्र-विभागकी बागडोर थी। पण्डित नेहरूकी हिफ़ाज़तके लिए लाखों आदमी आगे जा सकते थे। किन्तु उसी क्षण, जबकि उनकी गाड़ीपर गोलियाँ बरस रही थीं, मृत्यु-भय-रहित कश्मीरी पण्डित जवाहरलाल नेहरू गाड़ीसे उतर मौतके सामने जा खड़े हुए। रूटरके विदेशी संवाददाताने लिखा: "दि ब्रेवेस्ट मैन ऑव द वर्ल्ड बिफोर द ग्रेवेस्ट प्रॉवोकेशन्स—दि ड्रैमिटिक सीन वाज़ द साइट फ़ार ईविन दि गॉड्स टु सी।" (अति भीषण खतरों और उत्तेजनाओंके सामने दुनियाका वह वीर श्रेष्ठ व्यक्ति खड़ा था। और यह नाटकीय दृश्य देवताओंके लिए भी दर्शनीय बन गया)। उसी क्षण सीमान्त केशरी डॉ० ख़ान साहबने उनकी जेटें भर ली थीं। इसके बाद १९४७ में पाकिस्तान-प्रतिष्ठाता मि० जिन्नाकी फूँकसे डॉ० ख़ान साहबका कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल धूलकी तरह उड़ गया और मुख्यमन्त्री होनेपर भी उन्हें मि० जिन्नाके इशारोंपर नज़रबन्द कर लिया गया।

लैण्डिकोटल आ पहुँचा। दूरके मोड़से ही नीचेकी ओर ताकनेपर लैण्डिकोटलका कुछ हिस्सा एक उपत्यकामें दिखाई पड़ रहा था। तीन ओर पहाड़ोंका अवरोध और बीचमें तम्बुओंका झुण्ड। सभी कुछ अस्थायी चूँकि यही क्षेत्र असली फ़ौजी चौकी है। जलालाबाद होकर क़ाबुल जानेके लिए सिर्फ़ यही सीधी सड़क है। फ़ौजी चौकी है, अधि-

कार-रक्षाका पूरा इन्तज़ाम है – इसीसे दूकान-बाज़ार भी अस्थायी हैं। औरतें और बच्चे शामके चार बजे बाद इस क्षेत्रमें नहीं ठहर सकते – यही नियम है। शायद इसीलिए ये कहीं नहीं दीख पड़ते आस-पास। पासमें ही एक तालाब है यहीं, बर्फ़ गल-गलकर जो पानी पहाड़ोंसे नीचे आता है इसमें जमा हो जाता है, और कुछ बरसाती जल भी। लेकिन जाड़ोंमें यह भी सूख जाता है, तब पेशावरसे पानी लाना पड़ता है। गोरा-छावनीसे थोड़ी ही दूरपर अपेक्षाकृत छोटा-सा एक और क़िला है, बहुत-कुछ जमरूदके भाई-बन्द जैसा। उसकी तोपका मुँह दर्रेकी ओर ही घुमाया हुआ है। आस-पास जो दीख पड़ते हैं, वे कौन हैं? टकेकी ग़ुलामी मंजूर करनेवाले बहुत-से पख्तून हैं – झाड़ूदार चपरासी, कुली, धोबी, मज़दूर। उन्हें पैसे मिलते हैं, मालके टुकड़े मिलते ही सलाम ठोकते हैं। फिर भी जाने-पहचाने नहीं लगते थे, इनके खूनमें तुर्की-ईरानी मिलावट हैं। मैं बंगाली हूँ, किन्तु काठियावाड़ गया तो वहाँके लोग पराये नहीं लगे, राजपूताना या ग्वालियरमें अपनेको परदेशी नहीं समझा कभी, हैदराबाद या मदुरामें अथवा कृष्ण-रेवा-वेत्रवती-तपतीके किनारे-किनारे जिन्हें देखता-फिरा हूँ – यही प्रतीति रही है कि जैसे ये मेरे अपने ही हैं युग-युगसे। उड़ीसामें, असममें, नेपालके पहाड़ी इलाक़ोंमें, सिक्किमके उत्तरी अंचलमें भूटानकी सीमापर – स्थानीय अधिकारियोंके साथ खप गया हूँ। गंगटाकमें एक तिब्बती दम्पतिके साथ लगातार तीन दिन काटे हैं – कोई किसीकी भाषा नहीं समझता था, फिर भी कोई किसीको दुर्बोध्य नहीं लगा। किन्तु यहाँकी तो बात ही निराली है। ये लोग एकदम अनजाने, अनदेखे लगते हैं। इनके चेहरेकी रेखाओंमें, आँखोंकी चितवनमें, भाव-भंगीमें और चाल-चलनमें विशाल भारतकी कोई चेतना नहीं दिखायी पड़ती, आत्म-प्रकृतिकी कोई भी समगोत्रीयता उनमें नहीं खोज पाया मैं।

यहाँ सिर्फ़ दो ही बंगाली थे। पहले ही उनके नाम बता चुका हूँ। मध्याह्नमें मि० घोषकी मेहमानी ली। साथमें नये दोस्त मिश्रजी थे। श्रीयुत् घोषने बड़ी ख़ातिरदारी की। बादमें पता चला कि सब्ज़ी और चावल सिन्धुके उस पारसे आये हैं। यहाँ इस तरहके चावलोंका भाव डेढ़ सौ रुपये मनसे भी ज्यादा पड़ता है। कुलियोंके मेट (सरदार) मजूमदारसे भी मिला। नामसे बंगाली, घर चटगाँव में, लेकिन चाल-ढालमें एकदम पठान। बचपनमें ही घरसे भाग खड़े हुए थे। जहाज़के खलासी बनकर सारे यूरोपमें घूमे, आस्ट्रेलिया और एशियामें भी। एकदम बेकौड़ीके थे, सो अमरीकामें बन्दरगाहपर नहीं उतरने दिया गया था। बाघके शिकारमें उस्ताद हैं, पर एक बार बाघने उनका भी शिकार किया था। नतीजा यह कि उस नरपक्षीके नख-क्षतोंसे उनका मुख-मण्डल अभीतक सुशोभित है। एक बार एक पठान सरदारने उन्हें मल्ल-युद्धके लिए ललकारा तो उन्होंने उसे पछाड़ दिया। तभीसे पठान सरदारने सदल-बल उनकी मातहती मंजूर कर ली। यह अमित

बलशाली मजूमदार गपशपमें मशगूल थे कि देखा उनके मुँहमें सामनेके तीन दाँत नहीं हैं। मि० घोषने हँसकर बताया कि इन तीनोंकी तीन तवारीख़ें हैं। उस सब बातोंको सुनाऊँ तो आपका लैण्डिखाना-अभियान यहीं ख़तम हो जायेगा।

सरायकी ओर आगे बढ़ा तो देखा कि पीछेसे ऊँटोंका दल धूल उड़ाता आ रहा है। अलस दुपहरियाकी धूपमें डिं-डं डिं-डं घण्टियाँ बज रही हैं। सुर बड़ा थका और उदास है। उसमें कुछ सपने मिले हैं तो कुछ वैचित्र्य भी मिश्रित है। बुर्क़ेके अन्दरसे अफ़गानी औरतोंकी काली-काली सुरमा लगी आँखें झाँक रही हैं। ये लोग भी आज सरायमें विश्राम करेंगे।

यह सराय उन्हींके लिए है जो हिन्दुस्तानकी ओर जा रहे हैं। हम सरायके दरवाज़ेके सामने खड़े हुए तो यात्रियोंकी आँखोंमें अजीबसे लगे। हम लोगोंका जिस्म कोमल है, क़द छोटा है, चेहरेपर हिन्दुस्तानी कमनीय कोमलताकी छाप है जिसे आप द्रविड़-मंगोलीय कह सकते हैं। उनके एक ही झापड़से हमारे हाथ-पैर टूट जायेंगे। जैसे गलीवर लोग अजीब लिलिपुटोंकी ओर ताक रहे हों। हम लोग विचित्र जीव हैं। ये हमें मुट्ठीमें लेकर पुतलियोंकी तरह घुमा-फिराकर देख सकते हैं।

भीतरकी ओर ताका तो देखा कि पठान और तुर्कियोंकी भीड़-भाड़ है। ऊँटोंका एक झुण्ड आसमानकी ओर ताक रहा है। उधर बालूपर ख़ूनसे सनी मुरग़ी पड़ी है, मरे बछड़े-का खाल समेत कंकाल पड़ा है। पोटलीसे मोटी-मोटी सख्त रोटियाँ निकल रही हैं। कई लोग हुक्का-तमाकू लिये बैठे हैं। औरतें भी समरकन्दसे लाये चरसकी चिलमें पी रही हैं। लाल चेहरेवाली सुन्दरीके काले बुर्क़े से सिर्फ़ दो आँखें ही दिखायी पड़ रही हैं। चरसके नशेसे गुलाबी। इसी सरायको पार कर मैंने एक कविता लिखी थी :

पहाड़ के विशालकाय प्रेतात्माओं की
क़तारोंपर क़तारें दुर्गम अप्राप्य की ओर बढ़ रही हैं
छिन्नमस्ताकी बिखरी धूसर जटा-जाल सी।
सुर्ख़ कड़ी ईंटों और पत्थरोंके स्तूपाकार-
भदरंग, गूँगे, तृष्णार्त,
नीरव विभीषिका के सकेत-से।
न छायापथ का सपना
न कानन का नीलाभ स्नेह।
रेतीले पथ पर पड़ी, किसी
प्रागैतिहासिक पिपासार्त जन्तु की ठँठरी--और
शायद किसी दुःख हँसीकी शोचनीय
ज़िन्दगी व मौत की
करुण-निशानी।
सिर्फ़ गर्म हवा और रेतके कण-कण में
शत-शत मरुप्रेतिनियोंकी आर्त साँसें
चुपचाप हरम में घूमती-फिरती हैं।
०
धूप से जले नुकीले पत्थर और
कंकरों की भीड़ पार करता
दूर-दूरान्तर में
पामीर और पूर्व तुर्किस्तान का रास्ता चला गया है।

ताकला-माकान, खोतान और
यारकन्द नदी के अनजाने ही जो पथ
दिगन्तलीन मरु-प्रस्तरों की हर राशि में
अवसन्न है, मन्थर और त्रस्तगति है।
उसी पथ के ऊपर
अतिकाय नरभक्षी की मृत आँख-सा
भदरंग आकाश है।
भारत के छोर पर यह पहली सराय है।
दुर्गम पथ पार कर आये कारवाँ हैं
अचानक उठी आँधी से पिटे
जंगली क़ाबुलियों ने यहाँ शरण ली है।
वे पिंगल-नील नयनों से
इस अज्ञात की खोज में ताकते हैं।
जीभ लपलपाते इस मरुपथ में
बारहों सूर्यों की जलती लपटें छा गयी हैं।
वे उद्भ्रान्त-से भारत का पुरातन तोरण खोजते हैं।

०

लोहे की ज़ंजीर से बँधे
चिमटे की झनझनाहट में
और काठ के हुक्के की गड़गड़ाहट में—
कच्चे तमाकू के जहरीले धुँए में
वे दिन ही में देखे सपने सँजोते हैं
सुन्दर भारत के,
हरे-भरे हिन्दुस्तान के—
तन्द्रिल वन्य-नयनों से।

ऊँट के गले में लटकी घण्टी का करुण स्वर
दूर-दूर तक गूँजती है—अलस और उदास—
रेतीले रास्तेमें सुहावना जादू है।

सराय में—
इधर-उधर बिखरे हैं मरे दुम्बे
और तीतर के चूज़ों का ख़ून
बछड़े की रान
जमे हुए ख़ून से लिथड़ी और किसी जानवर का
बन्द हृद्पिण्ड
जलते सूरज के चाटने से हवा काँप उठती है
ख़ूनी रंग में, कपिश नीली रोशनी में।
उधर पड़े हैं बासी भुने माँस और हाड़
चमड़ा और हींग की गन्ध
कुण्डली मारते-से।

०

और उसी के समीप काले बुर्क़ की आड़ में
लाल गुलाब— क़ाबुली ललना का उज्ज्वल कौतूहल,
इधर छुरी की धार से बकरी का ज़िबह।
मैली ज़री और रेशमी पगड़ी
और सलवार पहने पठान जवान—
बर्बर हँसी से हिंस्र नयन।

इन्हीं नयनों में किसी दिन ये हिन्दुस्तान का माधुर्य भरेंगे
अभी तो इस नज़र में अनदेखे-अनजाने देश की आदिम भाषा है।
उधर एक ओर ख़ान गिन रहा है अफ़ग़ानी अशर्फ़ियाँ।

सभ्यता का स्वाद पाने से पहले
ये जंगली क़ाबुली और असभ्य तातार
और बुर्क़ावाली रहस्यमयी–
ये सभी सुस्ताते हैं
कौतूहल और क्लान्तिसे बेपरवाह इस
सराय में,
श्रान्त कारवाँ का मधुर अवसाद।

रेल-पथ लैण्डिखानामें ख़त्म हो गया है। यहाँसे चार मील होगा। किन्तु परमिट बिना वहाँ नहीं जा सकते। रास्ता बड़ा ख़राब है, न कहीं पानी न खाना! दोनों ओर इधर-उधर कँटीले पेड़ हैं। थोड़ी भी विश्राम-लायक़ जगह नहीं है कहीं। कुछ ही दूर जाकर एक पहाड़ी मोड़पर रेल-लाइन भी अदृश्य हो जाती है। उत्तरमें बहुत दूर जानेपर क़ाबुल नदी है, फिर काफ़िरिस्तान। हिमालय यहींसे दो हिस्सोंमें बँट जाता है। उत्तरसे दक्षिणमें उत्तरका हिमालय बहुत-सी शाखा-प्रशाखाओंमें बँट गया है।

लैण्डिखानामें कुछ भी दर्शनीय नहीं है। यहाँतक कि रेल-स्टेशन भी नहीं है। सिर्फ़ इधर-उधर कुछ सशस्त्र प्रहरी खड़े हैं। बीचमें एक नाली है – वही सीमान्त प्रदेश और अफ़ग़ानिस्तानकी सीमा है – डूरेण्ड लाइनका तथाकथित बँटवारा। दोनोंके बीचमें काठका सीमा-स्तम्भ है – हदबन्दीका निशान।

किन्तु यहीं, ठीक यहीं, इस नालीके किनारे ही आधुनिक भारतने पुनः अपने नाटकीय इतिहासकी रचना की है। उस दिन वह लैण्डिखानाकी सीमाप्रणाली अखण्ड भारत-का पुण्यतीर्थ संगम क्षेत्र-सा लगा था। कोई ज्यादा दिन नहीं हुए इसे। जनाब ज़ियाउद्दीन नामसे एक सुदर्शन, ख़ानदानी किन्तु बहरा तीर्थयात्री एक साथीके साथ इसी रास्तेको पार कर क़ाबुलकी ओर बढ़ गया था। उस दिन भारतका राजनीतिक इतिहास दो-सौ बरस बाद फिर बदल गया था। वह तीर्थयात्री बहरा ज़ियाउद्दीन नहीं छद्मवेशी नेताजी सुभाषचन्द्र बसु था।

उपत्यकामें और आस-पासकी गुफ़ाओंमें अँधेरा छाया जा रहा है। हेमन्तके अन्तिम दिनोंका यह आकाश साँझकी विदा होती धूपसे रक्तिम हो उठा है। हाथ-पैर ठण्डसे सिकुड़े जा रहे हैं। बन्दूक़ साथ रखनेकी मनाही नहीं है, फिर भी मेरे पास नहीं है। मौत या ख़ून होनेपर इधरकी पुलिस कोई ख़ास तहक़ीक़ात या छान-बीन नहीं करती। यहाँ ख़ूनका बदला ख़ून है। इसपर भला मुक़दमा कैसा। किन्तु ख़ून करनेकी बनिस्बत ख़ून होना इस अंचलमें शायद ज्यादा आसान है। पेशावरके बादसे यही रीति प्रचलित है। इसलिए दिन मुँदनेसे पहले ही सन्त्रियोंकी मददसे दोस्तोंने मुझे लैण्डीकोटलसे रेलमें चढ़ा दिया और सलाम कर ली। अँधेरी सुरंग पार कर, पहाड़ी जटिलता लाँघकर गाड़ीने सगई और जमरूत पीछे छोड़ दिये और पेशावरकी ओर रवाना हो ली।

(क्रमशः)
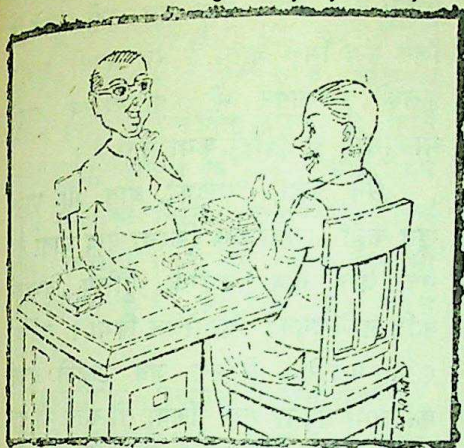
रामनारायण उपाध्याय

"और यूँ मेरी कहानी अधूरी ही रह गयी!" इस 'यूँ'को पूरी तरह समझनेके लिए प्रस्तुत कहानीको पढ़ना जरूरी है।

सुबह-सुबह जब लिखनेके लिए बैठा तो एक सज्जन आये और बोले, "कहिए, क्या हो रहा है?"

मैंने कहा, "एक कहानी लिखनेकी तैयारीमें हूँ। कुछ काम है क्या?"

बोले, "काम तो नहीं है। आज छुट्टीका दिन था, सोचा, आपसे ही गप्प लड़ायेंगे। लेकिन आप हैं कि अभी भी कहानियाँ लिखते हैं। शरद् बाबूने तो कहा था कि आदमीको कम उम्रमें ही कहानियाँ लिख डालना चाहिए, उसके बाद उम्रका गाम्भीर्य उसे रसमय चीज़ें लिखने नहीं देता और उसके अन्दरका आलोचक बार-बार क़लम पकड़ लेता है।"

मैंने कहा, "मेरे अन्दरका आलोचक अभी इतना बालिग़ नहीं हुआ है कि मेरी क़लम पकड़े, फिर आप क्यों परेशान हैं?"

बोले, "मैं तो इसलिए कह रहा था कि कहानियाँ अब कोई सुनना नहीं चाहता। कहते हैं, एक बार एक नये कहानीकारने एक ताँगेवालेको दो रुपये-का नोट दिया और कहा कि मैं एक कहानी पढ़ूँगा, तुम उसे सुनते रहना और जहाँ समाप्त हो जाये, वहाँ मुझे उतार देना। कुछ दूर जाकर ताँगेवालेने ताँगा खड़ा कर दिया। कहानीकारने ग़ुस्सेसे कहा, 'अभी तो मेरी कहानी आधी भी नहीं हुई है। मैंने पहले ही ठहरा लिया था, तुम्हें अन्त तक कहानी सुनना होगा।'

और यूँ मेरी कहानी अधूरी ही रह गयी!

ताँगेवालेने विनम्रतासे कहा, 'मैं तो कहानी सुनना चाहता हूँ, लेकिन क्या करूँ, मेरा यह घोड़ा सुनना नहीं चाहता।'

मैंने कहा, "जिसने तुम्हें यह क़िस्सा सुनाया वह अवश्य कोई कहानीकार होगा। बिना कहानीकारके कोई इतनी सुन्दर बात कह ही नहीं सकता।"

बोले, "आप तो फ़िज़ूल उनकी हिमायत किये जा रहे हैं, वरना कौन नहीं जानता कि आज जितना ठाठ कविका है उतना और किसीका नहीं। आपको लिखते वर्षों बीत गये लेकिन मंचपर बैठना नहीं आया। लेकिन आजका एक साधारण-सा कवि जिस ठाठसे मंचपर चढ़ता है वह भी एक देखनेकी वस्तु है। सोचता हूँ, यदि आपने भी कविता की होती तो अभीतक कबसे छा गये होते।"

मैंने कहा, "जिसे काव्य कहते हैं उसका प्रशंसक मैं भी हूँ, लेकिन जिससे आप प्रभावित हैं उसका वास्तविक काव्यसे तनिक भी सम्बन्ध नहीं है।"

बोले, "आप तो दर्शन बघारने लगे। मैं तो दुनियादारीकी व्यावहारिक बात कहता हूँ। क्या आप यह नहीं मानते कि जिसे मंच मिल जाता है वह अपनी हलकी-फुलकी रचनापर भी पारस्परिक दादके माध्यमसे वाहवाही कमा लेता है।"

मैंने कहा, "दादकी बात भी आपने खूब कही। यहाँ एक क़िस्सा याद आता है। एक बार एक नगरके पुलिस विभागने कवि-सम्मेलनका आयोजन किया। बड़े-बड़े कवि पधारे। लेकिन जब उन्होंने अपनी कविताएँ पढ़ना शुरू किया तो कोई भी दाद न दे। लाचार उन्होंने तय किया कि हमीं एक-दूसरेकी रचनाओंपर दाद देंगे। जैसे ही एक कविने अपनी रचना पढ़ी, दूसरेने कहा, 'सुन्दर! सुन्दर!!'

सुनते ही पास खड़े पुलिस कप्तानने ज़ोरसे पुकारा, 'अरे सुन्दर, सुन्दरलाल, इधर आना। साहब याद कर रहे हैं'।"

बोले, "सुना था किसी कविको अगर कड़ीसे कड़ी सज़ा देना हो तो उसका एक ही उपाय है कि आप उसके समक्ष किसी दूसरे कविकी प्रशंसा करें, वह फ़ौरन मर जायेगा। लगता है, कहानीकार भी दूसरों-की प्रशंसा बर्दाश्त नहीं कर पाते। लेकिन मैं आजकी नहीं, इतिहासकी बात कह रहा हूँ। सुदूर प्राचीन कालसे ही कवियोंका राज-प्रासादों तकमें सम्मान होता आया है।"

मैंने कहा, "और शायद आप जानते ही होंगे कि राज-प्रासादोंमें कैसे कवि जाते

चोरीकी शिक्षा

स्पार्टाके युवक युद्ध कौशलमें प्रवीणताके लिए तो प्रसिद्ध ही हैं किन्तु एक विचित्र शिक्षा भी उन्हें दी जाती थी। आपको आश्चर्य होगा कि उन्हें शिक्षालयोंमें चोरी करना भी सिखाया जाता था। और यदि वे चोरी करते हुए पकड़े जाते थे तो उन्हें दण्ड दिया जाता था, इसलिए नहीं कि वे चोरी कर रहे थे बल्कि केवल इस कारण कि वे इतने मूर्ख थे कि पकड़े गये!

थे! कहते हैं, एक बार एक कवि अपनी दरिद्रतासे ऊबकर राजमहलमें पहुँचा। राजाने कहा, 'कुछ कविता करना भी जानते हो?' बोला, 'जानता क्यों नहीं', और उसने अपनी कविताका निम्न पद सुनाया—'दुग्धं पिवतां बिड़ालां'। राजाने कहा, 'यह भी कोई कविता है! कवितामें चार चरण होते हैं।'

उसने कहा, 'ध्यानसे देखिए महाराज, इसमें भी बिल्लीके चार चरण हैं।' राजाने कहा, 'उसमें रस होना चाहिए।' कविने कहा, 'दूधसे बढ़कर और कौन-सा रस होगा?'

राजाने कहा, 'लेकिन उसका कुछ अर्थ भी होना चाहिए।'

कवि ने कहा, 'महाराज, यदि मेरे पास अर्थ ही होता तो आपके पास क्यों आता'?"

बोले, "आप तो कहानीकार हैं। लतीफ़े गढ़नेमें आपसे कौन जीत सकता है!"

मैंने कहा, "लतीफ़ा नहीं, मैं आपको एक सच्ची कहानी सुनाता हूँ। एक बार एक कविने अपनी कुछ रचनाएँ सुनाकर एक धनिकको बहुत प्रसन्न किया। धनिकने प्रसन्न होकर कोषाध्यक्षसे कहा कि इन्हें दो हज़ार रुपये दे दो।

समूचा दिन बीत गया लेकिन जब उसे पुरस्कारकी रकम नहीं मिली तो कविने धनिकसे शिकायत की।

धनिक ने कहा, 'तुमने अपनी रचनाएँ सुनाकर मेरे कानोंको सुख दिया। मैंने दो हज़ार रुपये देनेकी बात कहकर तुम्हारे कानोंको सुख दिया। हम तुम दोनों बराबर'।"

मित्र ने भी कच्ची गोलियाँ नहीं खायी थीं। बोले, "आप चाहे जितनी सच्ची कहानियाँ सुनायें, मैं तो तबतक आपकी बातपर दाद देनेवाला नहीं जबतक आप कविता न करें।"

मैंने कहा, "मैं वह दूसरा आदमी नहीं बनना चाहता, जिसे कविता करनेके लिए बाध्य होना पड़ा है।"

बोले, "क्या मतलब?"

मैंने कहा, "यदि दो मर्द और एक औरत एक निर्जन द्वीपमें घिर जायें तो उनका एक-दूसरेके प्रति कैसा व्यवहार होगा—इस सम्बन्धमें एक कहावत प्रसिद्ध रही है, जिसमें कहा गया है कि अगर वे

भारत : विश्वका अन्यतम बुभुक्षित देश

प्राप्त आँकड़ोंके अनुसार एक भारतीयको अपने भोजनमें औसतन ५.६ ग्राम एनीमल प्रोटीन प्राप्त होता है। जब कि न्यूज़ीलैण्डमें उसकी मात्रा ६९.४ ग्राम, आस्ट्रेलियामें ६२.५ ग्राम, अमरीकामें ६०.७ ग्राम एवं इंग्लैण्डमें ४३.४ ग्राम है।

इसी प्रकार आयरलैण्ड, न्यूज़ीलैण्ड, आस्ट्रेलिया, अमरीका, इंग्लैण्ड और रूसमें एक व्यक्तिको अपने भोजनमें क्रमशः ३५००, ३४३०, ३२००, ३१००, ३२६० और ३०२०, कैलोरी प्राप्त होती हैं, जब कि भारतमें प्रति व्यक्तिके पीछे केवल १८०० (पहले १६२०) कैलोरीका औसत आता है। —ज्योतिप्रकाश सक्सेना

स्पेनी हुए तो मर्द उस औरतको प्राप्त करनेके लिए आपसमें कट मरेंगे, अगर इटालियन हुए तो औरत गुस्सेमें दोनों मर्दोंको समुद्रमें फेंक देगी। अगर वे अमरीकी हुए तो मर्द औरतसे यह कहकर कि क्या आप हमें कुछ देरके लिए क्षमा करेंगी, अपने कारोबारकी बात शुरू कर देंगे, अगर वे अँगरेज हुए तो परिचयके अभावमें एक दूसरेकी ओर पीठ किये धूप खाते रहेंगे। अगर वे फ़्रान्सीसी हुए तो कोई बात नहीं, एक औरत दोनों मर्दोंसे बात कर लेगी, और अगर वे भारतीय हुए तो जानते हो क्या होगा? एक मर्द उस औरतसे शादी कर लेगा और दूसरा उसपर कविता लिखने बैठ जायेगा।"

सुनते ही मित्र मुसकराकर बोले, "मैं तो आपके पास गप्प लड़ाने आया था लेकिन आपने तो मेरा पूरा दिन ही ले लिया। अच्छा अब मैं चलूँ।"

और यूँ मेरी कहानी अधूरी ही रह गयी।

जन-गणना रिपोर्ट : तब और अब

सन् १७९० में संयुक्त राज्य अमरीकाकी जनगणनाकी जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई उसमें केवल ५६ पृष्ठ थे। सन् १८८० में वह २२ भागोंमें आयी जिसकी कुल पृष्ठ-संख्या १७००० थी। और मज़ेकी बात तो यह रही कि सात वर्ष बाद जब इस रिपोर्टका टेबुलेशन समाप्त हुआ तब आगामी जनगणनाकी तैयारियाँ प्रारम्भ हो गयीं। सन् १९६० की रिपोर्ट तो और भी अधिक विस्तृत एवं विशाल रही—१ लाख पृष्ठोंवाले १०० भाग, कि यदि उनको एकके ऊपर एक करके रखा जाये तो सबसे ऊपरका भाग १० फ़ुट ऊँची जगहपर पहुँच जाये, यानी १९५० की रिपोर्टसे एक फ़ुट अधिक।

—ज्योतिप्रकाश सक्सेना

श्यामसुन्दर मिश्र

अज्ञेयके काव्यमें अस्तित्व

०

अज्ञेयके नवीनतम काव्य-संग्रह 'आँगन के पार द्वार' के परिप्रेक्ष्यमें उनकी काव्यात्मक उपलब्धियों और वैचारिक स्थापनाओंका युक्तियुक्त विश्लेषण।

०

अज्ञेयका नया कविता-संग्रह 'आँगन के पार द्वार' मेरे सामने है। आत्म-परिष्कार और आस्थापूर्ण परिणतिका आवेग समूचे संग्रहमें व्याप्त है। यहाँ कसक और कुण्ठाका कुहासा अज्ञेयकी कवितापर-से हट गया है और सर्वत्र आन्तरिकताकी गहन अनुभूति, पीड़ाबोधकी परिमार्जित निर्मलताका निखार, गहरी सहानुभूति और उदारता—यह है अज्ञेयकी उपलब्धि जो कालान्तरके प्रक्रियात्मक अनुभवसे परिपक्व होकर प्रस्फुटित हुई है।

प्रस्तुत संग्रहके प्रारम्भमें अन्य संग्रहोंकी तरह स्वयं कविकी ओरसे पाठकों या आलोचकोंके लिए कोई दिशा-निर्देश नहीं है, और कवि सम्पूर्ण विश्वासके साथ हिन्दी-संसारके समक्ष बिना किसी वक्तव्यके खड़ा है। चिन्तन-प्रधान बौद्धिक आसन्नता के कारण अज्ञेयकी कविताएँ दुरूह समझी जाती रही हैं, किन्तु उनकी पृष्ठभूमि और कविका दार्शनिक दृष्टिकोण समझ लेनेके पश्चात् यह दुरूहता पूर्णतः समाप्त हो जाती है।

दार्शनिक चिन्तन मूलतः मानव, संस्कृति और ईश्वरको आधार मानकर आगे बढ़ता है; आधुनिक-समसामयिक-बौद्धिक चिन्तन प्रथम महायुद्ध और दूसरे महायुद्धकी मानव-संस्कृतिविनाशक विभीषिकाओंसे होकर गुज़रा है। स्वयं मानव-निर्मित साम्यवादी और प्रजातान्त्रिक जीवन व्यवस्थाओंकी विरूपता और असंगतिको उसने सहा और भोगा है। वैज्ञानिक उपलब्धियोंके कारण उत्पन्न सामाजिक यान्त्रिकताने शताब्दियोंके स्थापित धार्मिक और सामाजिक मूल्योंका पूर्णतः ह्रास कर दिया है, और उनके स्थानपर नये मानवीय मूल्यों और सामाजिक मर्यादाओंका निर्माण नहीं किया जा सका अतः समूची, विश्व-मानवीयता एक अत्यन्त असंगत और विद्रूपतापूर्ण
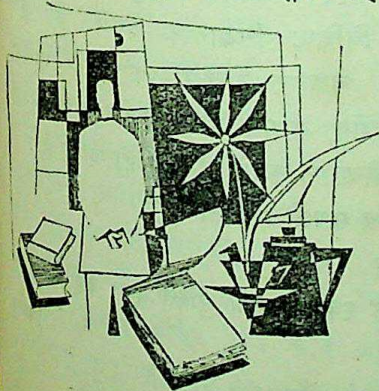
स्थितिसे गुज़र रही है। व्यक्तिकी आन्तरिकता पूर्णतः खण्डित हो गयी है, और विवेक तथा व्यवहारके बीच अनजाने ही एक खाई निर्मित हो चुकी है। इस आन्तरिक विघटन और विवेक एवं व्यवहारकी दुहरी अमर्यादित संकुलताने व्यक्तित्वको खण्डित कर दिया है। अतः इस ऐतिहासिक सन्दर्भमें मानवीय आस्था और विश्वास पुनः निर्मित करनेकी अनिवार्यता, किसी भी बुद्धिजीवीसे छिपी नहीं रह सकती। जीवनमें इस विरूपता और असंगतिकी प्रतीति और तद्जनित आकुलताका अनुभव कविने स्वयं किया है, अतः वह मानवीय मूल्यों और मर्यादाके अन्वेषणमें रत है। नये मानवीय मूल्यों और उनके अन्वेषणकी प्रतीति अज्ञेयकी कवितामें विभिन्न स्तरोंपर दिखायी देती है। अपने क्रम-विकासमें कवि अनुभवके विभिन्न स्तरोंसे गुज़रता है, अतः अज्ञेयकी पिछले तेरह वर्षों यानी 'हरी घास पर क्षण भर' से लेकर 'आँगन के पार द्वार' तककी यात्रा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

'अरी ओ करुणा प्रभामय' में संग्रहीत 'लौटे यात्री का वक्तव्य' नामक कवितामें विश्व-व्यापी, विरूपता और असंगतिको कविने सबल ढंगसे व्यक्त किया है:

सभी जगह
जो शास्ता है, जो बागडोर थामे है, उसकी
दीठ मन्द है—
आँखों पर है चढ़ा हुआ मोटा चश्मा जो
प्रायः धूमिल भी होता है।
सभी जगह
जिसकी मुट्ठी में ताक़त है
उसका भेजा है एक ओर भेड़िये,
दूसरी पर मर्कट का।
सभी जगह जो रंग बिरंगी जाजम पर फैला
सपनों की मनियारी
घात लगाते हैं गाहक की,
दिल मुर्गी का रखते हैं।

'हरी घास पर क्षण भर' में अज्ञेयका स्वर अधिक प्रतिक्रियात्मक है। यहाँ कवि छायावादी स्थापनाओंकी युग-परक आवश्यकताओंके सन्दर्भमें आलोचना करता दिखायी देता है। अभिव्यक्ति और शिल्प दोनों दृष्टियोंसे वह छायावादी कविसे अलग दीख पड़ता है। भारवाही, बोझिल, स्वप्निल अभिव्यक्तियोंको अप्रामाणिक ठहराते हुए कवि कहता है:

सपने मैंने भी देखे हैं—
मेरे भी हैं देश जहाँ पर
स्फटिक नील सलिलाओं के पुलिनों पर-
सुर-धनु सेतु बने रहते हैं।

(पृ० ३८)

अज्ञेयकी कवितामें दुःखकी व्याख्या एक विशिष्ट सिद्धान्तके रूपमें हुई है। आगे चलकर दुःख-परिष्कारकी भावना बौद्धदर्शन सम्मत अनन्त-करुणा और विश्वमानवीयताके रूपमें परिणत हो जाती है:

दुःख सबको माँजता है
और
चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने,
किन्तु
जिनको माँजता है

उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।

(पृ० ५५)

जीवन-प्रक्रियामें दर्दकी स्थिति ग्लानि-जनक नहीं होती। वह तो जीवनको निखारनेका माध्यम है, जो दीप्ति है। दर्द-से स्वीकृति और अस्वीकृतिकी स्थिति ही नहीं है, वह अपने-आपमें दर्शन और चेतना है :

हाँ!
कि "दर्द है तो ठीक है :
(दर्द स्वीकार से भी मिटता नहीं है,
स्वीकार से पाप मिटते हैं,
पर दर्द पाप नहीं है।)
दर्द कुछ मैला नहीं,
कुछ असुन्दर, अनिष्ट नहीं,
दर्द की अपनी एक दीप्ति है—
ग्लानि वह नहीं देता।

(अरी ओ करुणा प्रभामय; पृ० १५१)

ईश्वरके सम्बन्धमें आधुनिक विचारकों-के मत अधिक बौद्धिक हैं। सर्वोपरि सत्ता-के रूपमें उसकी स्वीकृतिके बाद भी आधु-निक चिन्तक नहीं रह पाता। परिस्थिति-जन्य विद्रूपता और व्यक्तिकी असहाय स्थिति इतना बड़ा चरम सत्य है कि आकुलतासे अभिभूत कवि-मानस स्थिर नहीं रह पाता। सदियोंसे स्थापित ईश्वरवादी मतवादोंने सर्व-शक्ति-सम्पन्न सत्ताकी व्याख्या विशिष्ट धरातलोंपर 'नेति नेति' कहकर की है। नियति-के हाथों हमारा प्रत्येक कार्य और दायित्व नियन्त्रित है। जीवनमें कार्य-चयन करने-की स्वतन्त्रताका पूर्णतः अभाव है, और विभिन्न परिस्थितियोंके सन्दर्भमें हम परस्पर विरोधी कार्य करनेके लिए विवश हैं। इस जीवन-व्यापी संकुल आकुलताका आभास चरम-सत्ताके प्रति कविकी निम्न-लिखित पंक्तियोंमें स्पष्ट है :

शत्रु मेरी शान्ति के—
ओ बन्धु इस अस्तित्व के उल्लास के;
ऐन्द्रजालिक चेतना के—
स्तम्भ डाँवाडोल दुनिया में अडिग
विश्वास के—
लालसा की तप्त लालिम शिखे—
स्थिर विस्तार संयम-धवल धृति के :
द्वैत के ओ दाह—
जड़ता के जगत में अलौकिक सन्तोष
सुकृति के
अनाचारी, सर्वद्रावी, सर्वनासी—
ओ नियन्ता अभिनव शील के,
व्रती मेरे
यती संगी
हृदय के जलते उजाले, निवेदित इह के
निवासी !

×

मेरी प्रणति ले
स्वयम्भू आलोक-मन के।
प्रणति ले !

(हरी घास पर क्षण-भर; पृष्ठ १६)

उपरोक्त पंक्तियोंमें कवि 'स्व'की कर्तृत्व-चेतनासे अनुप्राणित है, और स्वयं-को ईश्वरीय-सत्ताके सम्मुख विद्रोही-विरोधी-के रूपमें प्रस्तुत करता है। प्रस्तुत विद्रोह-भावनामें ईश्वरकी अस्वीकृति कहीं नहीं है,

अपितु मानवीय अस्तित्व और अहंकी अनिवार्य विवश प्रणति ही निवेदित है। अज्ञेयकी विचारधारा और चिन्तनपर बौद्ध-दर्शनकी व्यक्तित्व-प्रधान चिन्तन-प्रक्रियाका प्रभाव स्पष्ट है। बौद्ध-दर्शनका शून्यवादी-चिन्तन व्यक्तित्वकी आन्तरिक प्रतिष्ठा और उसकी आधिभौतिक सत्तापर अत्यधिक बल देता है। 'हरी घास पर क्षण-भर', 'अरी ओ करुणा प्रभामय', तथा 'आँगनके पार द्वार' नामक संग्रहोंमें प्रस्तुत रहस्यात्मक चित्रण आन्तरिक-अनुभव और बाह्य पार्थिव असंगतिके सन्दर्भमें ग्रहीत अन्वेषणका स्वाभाविक परिणाम है, जिसे प्रतीतिके अन्तर्गत ग्रहण किया जा सकता है। इन संग्रहोंमें व्यक्तिके अस्तित्वकी ओर कविका झुकाव, होने (Being) की समस्याका विश्लेषण नहीं है, अपितु व्यक्तिके अस्तित्व और उसकी रहस्यमयताका चित्रण है। इस स्तरपर कवि आधुनिक अस्तित्ववादी कवि मार्शलके निकट है। (सिक्स एक्ज़िस्टैन्सियलिस्ट थिंकर्स; पृष्ठ ६६)

सृष्टिकी सारी गतिमयता और सामाजिक संकुलतासे घिरकर भी व्यक्तिका अस्तित्व अपनी आन्तरिक गरिमा और जीवन-प्रक्रियामें एकाकी और महत्त्वपूर्ण है :

सब में हूँ मैं सब मुझ में है
सब से गुँथा हुआ हूँ, पर जो
बींध गया है सत्य मुझे वह
वह उजली मछली है
भेद गयी जो मेरी
बहुत-बहुत अपनी यह
बहुत पुरानी छाया।

(अरी ओ करुणा प्रभामय; पृष्ठ ६५)

इच्छाका त्याग

एक अकिंचन मुनि हाथमें भिक्षाकी झोली लिये चला जा रहा था। महामन्त्री अभयकुमारने देखा और तत्परतासे वह नीचे उतरा। दोनों घुटने ज़मीनपर टिके, जुड़े हुए दोनों हाथोंने भूमिको छुआ और महामन्त्रीका सिर मुनिके चरणोंमें आ पड़ा, मन्त्रीगण विस्मयके साथ इस क्रियाको देखते रहे, बहुत रोकनेपर भी हँसी रुकी नहीं। अभयकुमार खड़ा हुआ और मुनिका स्तवन किया– "धन्य है आपका त्याग, धन्य है आपकी तपस्या, धन्य है आपका बैराग्य !"– मन्त्रियोंमें कानाफूसी होने लगी। मुनि आगे चले गये। अभयकुमार मन्त्रियोंके साथ सभा-भवनमें चला आया। सभाका कार्य शुरू हुआ और समयकी अविरल गतिने उसे पूरा भी कर दिया। मन्त्रियोंके मनमें शंकाएँ घिरी थीं। महामन्त्रीकी बुद्धिको वे सम्राट्से भी अधिक शक्तिशाली मानते थे। महामन्त्रीका अनुग्रह पाये बिना उनके पर घरकी ओर नहीं बढ़ रहे थे और उस प्रसंगको चलानेका साहस भी नहीं हो रहा था। महामन्त्रीने उनके अन्तर्द्वन्द्वको समझ लिया। उसने गम्भीर मुद्रामें कहा, "क्या मैं आप लोगोंकी उस हँसीका कारण जान सकता हूँ जो मुनिकी वन्दना करते समय आपके चेहरोंपर आयी थी ? मैं अभय देता हूँ, आप लोग स्पष्ट बतायें।"

***

अज्ञेयकी कविताओंमें मछली प्रतीक है, इकाईके रूपमें अवस्थित व्यक्तिकी उद्दाम जीवन्त-शक्ति और आकर्षणका जो सहसा स्वयं कविको वेध जाता है, स्वयं अज्ञेयके शब्दोंमें "जीवन...स्वप्नों और आकारोंका एक रंगीन और विस्मय-भरा पुंज! हम चाहें तो उस रूपसे ही उलझे रह सकते हैं, पर रूपका यह आकर्षण भी वास्तवमें जीवनके प्रति हमारे आकर्षण-का ही प्रतिबिम्ब है। जीवनको सीधे न देखकर हम एक काँचमें-से देखते हैं, तो हम उन रूपोंमें ही अटक जाते हैं, जिनके द्वारा जीवन अभिव्यक्ति पाता है।"—(आत्मनेपद, पृष्ठ ४५)। जीवन और उसके माध्यमके प्रति कविका आकर्षण वह स्तर है, जहाँसे अज्ञेय उसे 'ऑबजेक्ट' मानकर अनुभव और ज्ञानके विभिन्न स्तरोंका उद्घाटन करना प्रारम्भ करते हैं। मछलीका रूप, उसके प्रति आकर्षण स्वयं मछलीमें अन्तर्भूत वासना (रूप-तृषा) और जिजीविषा इस सबकी घनीभूत अनुभूति कविकी निम्नलिखित पंक्तियोंमें स्पष्ट है :

हम निहारते रूप :
काँच के पीछे हाँप रही है मछली।
रूप-तृषा भी
[और काँच के पीछे] है जिजीविषा।
(अरी ओ करुणा प्रभामय; पृष्ठ ८२)

जीवनके प्रति निस्संग-विस्मयका भाव कविकी अन्यान्य रचनाओंमें अलग-अलग स्तरोंपर व्यक्त हुआ है। मानव-मात्रके होनेकी इयत्ताको कविने स्वयं विश्लेषित किया है, और उसके माध्यमसे होनेकी पीड़ा और तद्जनित बोधसे अनुसृत करुणा-की मर्मस्पर्शी व्यंजना उसकी विभिन्न रचनाओंमें जीवन-दर्शनके रूपमें व्यक्त की गयी है। इस समूची पीड़ा और उसके बोध-द्वारा उत्पन्न निखारसे कविके अन्तरमें

अभयदान पा मन्त्रियोंने पूछा, "आप उस मुनिके चरणोंमें जा गिरे, जो कल तक लकड़हारा था। महामान्य! हमें तब और अधिक अचरज हुआ जब आपने उसके त्याग और तपको सराहा। जिसका घर था नगर-का राजमार्ग और जिसका सर्वस्व था लकड़ीका गट्ठर —उसका त्याग महा-मन्त्री सराहें, भला इससे बढ़कर क्या आश्चर्य होगा ?"

अभयकुमारने आश्चर्यकी मुद्रामें कहा, "त्यागकी प्रशंसा भी अचरजकी बात है ? मैं आपमें-से, उन लोगोंको तीन-तीन करोड़ मुद्राएँ दूँगा, जो अग्नि-का प्रयोग नहीं करेंगे, कच्चा जल नहीं पीयेंगे और स्त्रीका सेवन नहीं करेंगे।"

"इनके बिना उन मुद्राओंका अर्थ ही क्या ?" मन्त्रियोंके मुखसे निकला।

"इसका अर्थ यही है कि उस लकड़हारेने इन तीन करोड़ मुद्राओं-को त्यागा है।"

अब मन्त्रियोंके पास अपनी भूल-पर पछतावा करनेके अतिरिक्त शेष कुछ नहीं था।

—मुनि श्री नथमल

उद्भूत आलोककी बौद्धिक अनुभूति निम्न-लिखित पंक्तियों में देखिए :

या केवल
मानव होने की पीड़ा का नया स्तर खोला :
नया रन्ध्र इस रुँधे दर्द की दीवार में फोड़ा
उससे फूटा जो आलोक, उसे
—छितरा जाने से पहले—
निर्निमेष आँखों से देखा
निर्मम मानस से पहचाना
नाम दिया।

(अरी ओ करुणा प्रभामय : पृष्ठ १७)

कार्ल यास्पर्स (Karl Jaspers)ने विश्व-दर्शनमें आत्मोन्मुखी उत्सर्गवादी चिन्तनकी परम्परा और मानवीय अस्तित्व-की जिज्ञासाका सूत्रपात ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दीसे माना है, जब भारत, पर्सिया, पैलेस्टाइन और ग्रीकमें तत्सम्बन्धी विचार-धाराओंने जन्म लिया और इतिहास-दर्शन-की नयी धाराओंको प्रोत्साहन मिला। अज्ञेयके अन्तिम दोनों संग्रहों-में मानवीय अस्तित्व और मानव-मात्रकी लोकोत्तर स्तरों-पर व्यक्त अहं-भावनाकी अभिव्यक्ति — अस्तित्ववादकी दृष्टिसे मूल्यवान् उपलब्धि है, जो पश्चिमी विचारकोंकी चिन्तन-प्रक्रिया-में स्वाभाविक ढंगसे नहीं आ पायी और स्वयं कार्ल यास्पर्स और क्रिश्चियन अस्तित्ववादी विचारक मार्शल-जैसे दार्शनिक अपनी तत्स-म्बन्धी प्रपत्तियोंसे दूर जा पड़े हैं। मार्शल-के दार्शनिक चिन्तनमें क्रिश्चियन साम्प्र-दायिक आग्रहका प्रभाव प्रारम्भसे ही दिखाई देने लगा था और अब विश्व-मानवता सम्बन्धी उसकी प्रपत्तियाँ मताग्रह बनती जा रही हैं — (क्रिश्चियनिटी एण्ड द एक्ज़िस्टे-न्सियलिस्ट्स) अज्ञेय इस स्तरपर किसी भी साम्प्रदायिक मताग्रहसे मुक्त हैं। दो-दो विश्वयुद्धोंके नरसंहार और तद्जनित विश्रृंखलताने ऐतिहासिक सन्दर्भों-द्वारा स्थापित सत्य और सामाजिक मान्यताओं-को बेबुनियाद और बेमानी निरूपित कर दिया है। वैज्ञानिक प्रपत्तियोंने धार्मिक आस्थाओंको निराधार बना दिया है, और प्रत्येक पूर्वप्रामाणिक सत्य विज्ञानकी चुनौती-के समक्ष अवैज्ञानिक और असत्य निरूपित हो जाता है; अतः तर्कसम्मत विचार-व्यवस्था ही एक-मात्र विकल्प रह जाती है, जिसके माध्यमसे प्रत्येक दर्शन और चिन्तनको विश्लेषित किया जाये, और अनावश्यक कुण्ठासे रक्षा की जा सके।★

मानवीय-अस्तित्व इतिहास-की अत्यन्त भ्रामक और विडम्बनापूर्ण स्थितिसे गुज़र रहा है। समाजव्यापी अतिमयता और यान्त्रिक समाज-संगठनने व्यक्तिकी आन्तरिक समृद्धिको 'होनेकी' स्थितिसे 'न कुछ'की स्थिति तक पहुँचा दिया है। अस्तित्ववाद

★ Any allegedly perfect truth reveals itself as untruth and leads to frustration—Existentialism and Modern Predicament—Page81)

मूलतः 'होने' और 'न कुछ'की स्थिति तक-के आन्तरिक प्रक्रियात्मक विद्रोहकी अभि-व्यक्ति है, जो विभिन्न चिन्तकोंमें अलग-अलग स्तरोंपर व्यंजित हुई है। सार्त्रका विद्रोही व्यक्तित्व समूची ऐतिहासिक स्थाप-नाओंकी अस्वीकृति और व्यक्तिकी अबाध स्वतन्त्रताका समर्थन करता हुआ समसाम-यिक व्यक्तित्वको पूर्णतः जकड़ा हुआ, वरण करनेके अधिकारसे वंचित मानता है, और आल्बेयर कॉमू आधुनिक जीवनकी असंगत स्थितिको आत्मघातक निरूपित करता है। अज्ञेयका चिन्तन अस्तित्ववादी विचारकोंमें कॉर्ल यास्पर्सके अधिक निकट है। आस्थापरक नवीन सन्दर्भोंकी उद्भावना और मानवीय-आधारपर लोकोत्तर सत्ता-के प्रति बौद्धिक समर्पण---अज्ञेयकी चिन्तन-प्रक्रियाका वह आयाम है, जहाँपर कवि विगत-विकार और उन्मुक्त मस्तिष्कसे ईश्वर-के प्रति अधिक संवेदनशील और करुणा-सम्पन्न हो उठा है :

केवल जो अस्पृश्य गर्ह्य कह
तज आयी मेरे अस्तित्व मात्र की सत्ता,
जिसके भय से त्रस्त ओढ़ती काली
घृणा इयत्ता,
उतना ही वही हलाहल उसने लिया।
और मुझको वात्सल्य-भरा आशिष
देकर !—
ओक भर पिया।

(आँगन के पार द्वार; पृष्ठ ५६)

'बावरा अहेरी'की कविताओंमें ही व्यक्तित्वकी आन्तरिकताकी ओर कविका आग्रह प्रकट होने लगा था। मानवीय इकाई-की सम्पूर्णताके साथ वह समाजोन्मुखी है। उसकी उपलब्धियाँ अपनी हैं, और अपनी प्रक्रियामें अधिक अनुभूति-सम्पन्न हैं। कवि अपने 'स्व'की लघुतामें भी दृढ़ और कर्त्तव्य-शील है :

यह वह विश्वास नहीं जो अपनी लघुता
में काँपा
वह पीड़ा जिसकी गहराई को स्वयं उसी
ने नापा
कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुँधुआते कड़वे
तम में
वह सदा द्रवित चिर-जागरूक अनुरक्त-नेत्र
उल्लम्ब बाहु, यह चिर अखण्ड अपनाया।
जिज्ञासु, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय
इसको भी भक्ति को दे दो।

(बावरा अहेरी)

व्यक्तित्वकी आन्तरिकताका आग्रह और व्यक्तित्वकी आत्यन्तिक समाजोन्मुखता अज्ञेयकी विशेषता है, जिसके कारण उनके काव्यको व्यक्तित्ववादी अतिमयताके अन्तर्गत समाहित नहीं किया जा सकता। आन्तरिक आकुलता और दर्दसमन्वित रागात्मकताके कारण ही अज्ञेयसे कबीर आदि सन्तों-जैसी गलदश्रु-भावुकताहीन पंक्तियोंका सृजन सम्भव हो सका :

जा आत्मा, जा
कन्या वधुका—
उसकी अनुगा,
वह महाशून्य ही अब तेरा पथ,
लक्ष्य, अन्न, जल, पावक, पति

आलोक, धर्म :
तुझको वह एकमात्र सरसायेगा।
ओ आत्मा री
तू गयी वरी,
ओ सम्पृक्ता,
ओ परिणीता :
महाशून्य के साथ भाँवरें तेरी रची गयीं।
(आँगन के पार द्वार; पृष्ठ ५२)

सृष्टिकी अन्तहीन प्रक्रियामें विवेक और चिन्तनकी लोकोत्तर परम्परा ईश्वरत्व-की प्रकाश-समन्वित प्रतीति वैदिक ऋषित्व-का महत्त्वपूर्ण दाय है। यूरोपीय चिन्तन दुर्वह आकुलताकी प्रताड़नासे जिस आत्मो-न्मुखी चिन्तनकी ओर उन्मुख हुआ है, उसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मूल्यवान् भाग भारतीय कवि-द्वारा स्वानुभूत है। समूची सृष्टि जो काल-द्वारा नियन्त्रित और मर्यादित है, ऋतके सहज ढाँचे ढली हुई है—और कालजयी ईश्वर-योगी अक्लान्त और स्थिर अपनी सहज-मन्द स्मितिसे सब कुछको मिटाकर महाशून्यमें समाहित करता जा रहा है :

उस बीहड़ काली एक शिला पर बैठा
दत्तचित्त—
वह काक चोंच से लिखता ही जाता है
अविश्राम
पल-छिन, दिन-युग, भय-त्रास, व्याधि-ज्वर
जरा-मृत्यु
बनने मिटने के कल्प, मिलन-बिछुड़न,
गति-निगति-विलय के
अन्तहीन चक्रान्त।
इस धवल शिला पर यह आलोक-स्नात,
उजला ईश्वर योगी, अक्लान्त शान्त,
अपनी स्थिर, धीर, मन्द स्मिति से वह
सारी लिखत
मिटाता जाता है।
योगी!
वह स्मिति मेरे भीतर लिख दे :
मिट जाय सभी जो मिटता है।
वह अलम् होगी।
(आँगन के पार द्वार; पृष्ठ ६०)

मृत्युके प्रति भय और आकुलताकी भावना पश्चिमके समूचे आधुनिक-चिन्तन-को प्रभावित किये हुए है। भारतीय-दर्शन-में मृत्युको परम्परागत अनिवार्य सत्यके रूपमें प्रतिष्ठित किया गया है, और जीवन-क्रमके सतत विकासका रूपान्तर माना गया है। स्वयं अज्ञेय सृष्टिमें जीवनकी सतत प्रक्रिया और उसके क्रमगत विकासपर विश्वास करते हैं। अज्ञेय मृत्युको समस्या नहीं मानते : "पश्चिम-द्वारा किया गया मृत्युका अन्वेषण वस्तुतः आत्म-चेतनाका अन्तिम छोर है, जहाँ विराट्के समक्ष उसे अनस्तित्वको स्वीकारना पड़ा है। पूर्व या भारतने अनस्तित्वको नहीं माना, और चेतनाके दूरतम छोरके बाहर विराट अन्धकारमें करुणाकी स्थापना की है। जहाँ सब कुछ समाप्त हो जाता है, वहाँ कृपा है।"—(एक बूँद सहसा उछली, पृष्ठ ३१८)। भारतीय दर्शनने यदि इसपर सन्देह किया होता, तो विनय और रागका ऐसा अपूर्व सम्मिश्रण सम्भव नहीं होता, जैसा भारतीय भाषाओंके भक्ति-साहित्यमें पाया जाता है। •

(१)

निर्वाक मैं कहता रहा
और तुम सुनती रहीं मौन ।
कोई एक बिजली थी
दौड़ी और कह गयी
बादल से निकली
और धारा में बह गयी

(२)

शब्दों की कतार के पीछे,
ओट में खड़ा,
मैं बोलता हूँ तुमसे ।

सारसों की पाँत के पीछे,
ओट में खड़ा,
मैं बोलता हूँ तुमसे ।

केदारनाथ अग्रवाल

(३)

एक था दर्द
जो तुमने दिया,
हज़ार सुखों के बीच
जो मैंने पिया,
रात में तड़पा
और दिन में जिया,
न किसी ने जाना
तुमने क्या किया !
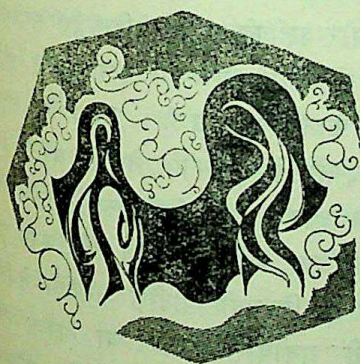
तीन छोटी कविताएँ

नयी पीढ़ीके ये उच्छृंखल तरुण

टी० आर० फाइवेल
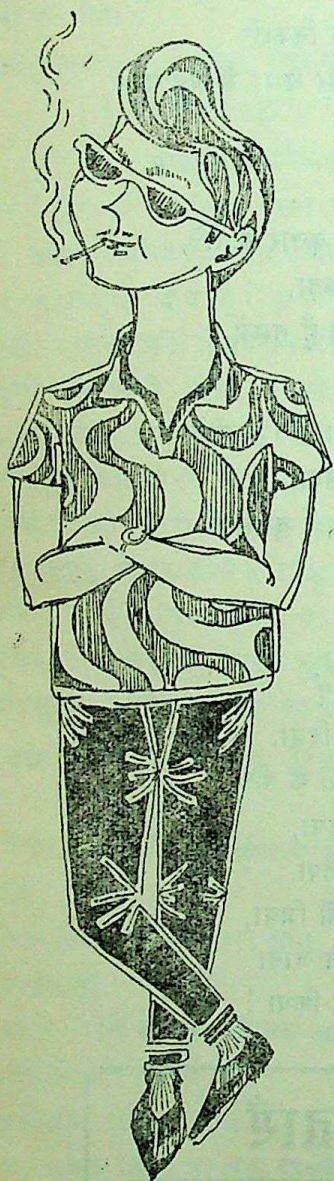
जी हाँ, यह महामारी विश्वव्यापी है। यों, यह सच है कि अलग-अलग देशोंमें इसके अलग-अलग नाम हैं, मसलन् इंग्लैण्डमें इसे 'टेड्डी ब्वाय', अमरीकामें 'बेमतलब विद्रोही', फ्रान्समें 'काले कोट वाले' और जर्मनीमें 'अर्ध बलवान' कहते हैं। लेकिन जापानके उच्छृङ्खल तरुणोंने इस क्षेत्रमें सबको मात दे दी है: वे अपने-आपको 'सूर्य-पुत्र' कहते हैं।

० ०

काले चमड़ेके कोट पहने और चाकुओं और साइकिलकी जंजीरोंसे लैस लड़कोंकी एक टोली चौराहेपर खड़ी इन्तज़ार कर रही थी कि विरोधी टोलीके लड़के कब उधरसे गुज़रें और कब उनसे मार-पीट की जाये। और जब काफ़ी देर इन्तज़ार करनेके बाद भी वे नहीं आये तो जंजीरों और डण्डोंसे लैस लड़कोंका यह दल आस-पासकी दूकानोंपर टूट पड़ा और उन्होंने तोड़-फोड़ शुरू कर दी। आख़िरकार, पुलिसके आनेपर ही स्थिति क़ाबूमें आयी।

यह घटना और कहींकी नहीं, पेरिस-जैसे सुसंस्कृत शहरकी है जहाँ नयी पीढ़ीके तरुणोंमें उच्छृङ्खलता और निरंकुशताका ज़हर फैलता जा रहा है। इतना ही नहीं, पिछले कुछ वर्षोंसे इंग्लैण्डके युवकोंमें तेज़ीसे बढ़ती हुई लम्पटतासे चिन्तित होकर इस विकारका मूल कारण ढूँढ़नेकी ओर ध्यान दिया जाने लगा है। और जबसे इस बातका पता चला है कि नयी पीढ़ीके तरुणोंमें तेज़ीसे फैलनेवाली अपराधी मनोवृत्ति इंग्लैण्ड या फ्रान्स तक सीमित न रहकर अमरीका, स्वीडन, स्विट्जरलैण्ड, पश्चिम जर्मनी और जापान-जैसे देशोंमें भी तरह-तरहके गुल खिलाने लगी है, तब तो इस विकारकी व्यापकता और भीषणताने इन देशोंकी सरकारों और समाज-शास्त्रियोंको

इसके कारण ढूँढ़ने और इसको रोक-थामके उपाय खोजनेपर मजबूर कर दिया है। सबसे बड़ी हैरानीकी बात तो यह है कि ज्यादातर उन देशोंकी तरुण पीढ़ीमें यह विष फैलता जा रहा है जहाँ कल-कारखानोंने खूब तरक्क़ी कर ली है और जहाँ दिन-दूनी और रात-चौगुनी गतिसे खुशहाली बढ़ रही है। १४ से २१ वर्षकी अवस्थाके इन तरुण अपराधियोंके यदि आप क़िस्से सुनें तो हैरान रह जायेंगे।

अलग-अलग देशोंमें इनके नाम भी अलग-अलग हैं। इंग्लैण्डमें उन्हें 'टेड्डी ब्वाय' और अमरीकामें 'बेमतलब विद्रोही'-के नामसे पुकारा जाता है। फ्रान्समें इनका नाम है 'काले-कोटवाले' और जर्मनीमें 'अर्ध बलवान'। जापानके तरुण अपराधियोंने अपना नाम चुननेमें सबको मात कर दिया है: वे अपने-आपको 'सूर्य-पुत्र' कहते हैं।

नाम चाहे इनके अलग-अलग हों, लेकिन काम इनके एक-जैसे हैं। बिना कारण दंगा-फ़साद और तोड़-फोड़ करना, पुलिससे भिड़ जाना, और राह चलते व्यक्तियोंपर अचानक हमला कर बैठना इनके खास शुग़ल हैं। कुछ दिन हुए, फ्लोरिडा (अमरीका)में ४,००० तरुणों और पुलिसके बीच चार घण्टे तक जमकर लड़ाई हुई। कारण था कि पुलिसने उन्हें भरे बाज़ारमें-से तेज़ रफ्तारसे कारें चलानेसे रोका था। न्यूयार्ककी पुलिसने लफंगे तरुणोंके दो दलोंमें लड़ाई न होने दी। नतीजा यह हुआ कि इस हस्तक्षेपसे चिढ़कर एक दलने अकारण ही दो

आदमियोंपर हमला कर उन्हें सख्त घायल कर दिया। जर्मनी और आस्ट्रियामें आये

दिन ऐसी घटनाएँ होती रहती हैं। यही हाल स्विट्जरलैण्ड और स्वीडनका है। फ्रान्समें काले कोट और तंग मोहरीकी नीली ज़ीन पहने सैकड़ों तरुण जब गुण्डईपनेपर उतर आते हैं तो पुलिसको भी सख्त क़दम उठाने पड़ते हैं। चाकुओं, डण्डों, साइकिलकी ज़ंजीरों-जैसे तरह-तरहके हथियारोंसे लैस तरुणोंके दिमाग़में शोहदेपनका फ़ितूर सवार होनेकी देर नहीं कि दूकानोंके शीशे तोड़ने, कारें उलटने और राह चलते लोगोंको मारने-पीटनेकी घटनाएँ दैनिक अख़बारोंकी सुर्खियाँ बनने लगती हैं।

यह न समझिए कि यूरोपके पूँजीवादी देशोंमें ही विषका यह पौधा फल-फूल रहा है। रूस-जैसा कम्यूनिस्ट देश भी इससे बचा नहीं है। पिछले दिनों कुछ गुण्डोंने मास्कोके प्रसिद्ध लेनिन-पार्क में युवक-कम्यूनिस्ट-लीगके एक सदस्यको छुरा भोंक दिया। यह तरुण गश्त लगानेवाले दलके साथ था। ख़बरोंपर कठोर सेंसरके कारण यद्यपि इस बातका पूरी तरहसे अन्दाज़ा नहीं लगाया जा सकता कि सोवियत संघकी तरुण पीढ़ीमें उच्छृङ्खलता किस हद तक बढ़ी हुई है, लेकिन जब वहाँके अख़बारोंमें रूसके बड़े-बड़े शहरोंमें शराबमें मदहोश तरुणोंकी गुण्डागर्दीकी ख़बरें बार-बार छपती दिखाई देती हैं तो यह सहज निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वहाँपर भी तरुणोंकी उच्छृङ्खलता अच्छा-ख़ासा सिरदर्द बनती जा रही है। यही हाल जापानका है, जहाँ १९३८ की तुलनामें आज तरुणोंके अपराधोंकी संख्या दस-गुना बढ़ गयी है।

इन बातोंसे इतना तो स्पष्ट है कि आज-कलके युवकोंमें क़ानूनका उल्लंघन करनेकी ऐसी प्रवृत्ति पैदा होती जा रही है जो औद्योगिक दृष्टिसे उन्नत देशोंमें संगठित व हिंसात्मक कार्रवाइयोंमें व्यक्त हो रही है। इसका एक कारण यह बताया जाता है कि बचपनमें इन तरुणोंमें असुरक्षाकी भावना रही होगी। असुरक्षाकी यह भावना तलाक़के कारण बसा-बसाया घर उजड़ने या परिवारके बुरे संस्कारोंसे उत्पन्न होती है। घरमें प्यार और इज्ज़त न मिलनेके कारण बहुधा ऐसे बच्चे आवारा लड़कोंके दलोंमें शामिल हो जाते हैं। उन्हें लगता है कि सुरक्षा, इज्ज़त और समाजमें अपना स्थान बनानेकी उनकी चाह इस दलमें शामिल होकर ही पूरी हो सकती है। बस, यहींसे उनका अपराधी जीवन शुरू हो जाता है।

गत महायुद्धको भी युवकोंमें बढ़ती हुई अपराधकी मनोवृत्तिका कारण बताया जाता है। यूरोपमें १९३९ और १९४५ के बीच पदा होनेवाले बच्चे आजकलके तरुण हैं। युद्धके दौरानमें निकट सम्बन्धियोंके अचानक मरने, परिवारोंके बिखरने, बमबारीसे शहरोंके नष्ट होने और अपार नर-संहारकी घटनाओंने उस कालके बच्चोंके मनपर ऐसा गहरा प्रभाव डाला कि आज यह उनके स्वभावमें उच्छृङ्खलता, निरंकुशता और विद्रोहके रूपमें प्रकट हुआ है। इसके साथ-साथ, कहीं-कहीं भेद-भावकी नीतिको भी तरुणोंकी उच्छृङ्खलताका

कारण बताया जाता है क्योंकि यह उनमें विद्रोह भड़काती है।

यह नहीं कि इन तर्कोंमें ज़ोर नहीं है, लेकिन सिर्फ़ इन्हींके बलपर तरुणोंमें व्याप्त विक्षोभका स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता। पहली बात तो यह है कि कुछ देशोंमें तरुणोंके अपराधोंकी संख्या बहुत ही ज्यादा है। उदाहरणके लिए इंग्लैण्डमें समाज-कल्याणकी चतुर्दिक् प्रगतिके बावजूद ऐसे अपराधोंकी संख्या अधिक है। दरअसल, इस अपराधी मनोवृत्तिके लिए युद्धको कुछ हद तक ही ज़िम्मेदार ठहराया जा सकता है। युद्धमें स्वीडन निष्पक्ष था, लेकिन आज वह भी इसी समस्यासे परेशान है। अमरीकामें तो ऐसे अपराधोंकी संख्या पिछले नौ वर्षोंसे लगातार बढ़ती चली जा रही है। इसी तर्कके अनुसार फ़्रान्स, इटली और पश्चिम जर्मनी-जैसे देशोंमें तरुण अपराधियोंकी संख्या बहुत ही ज्यादा होनी चाहिए थी क्योंकि कुछ वर्षों तक इन तीनों देशोंपर युद्धकी विभीषिका बुरी तरह छायी रही। यहाँके देशवासियोंने पराजयका धक्का सहा, अपने देशपर विदेशी सैनिकोंको क़ब्ज़ा करते देखा, भारी जनसंहार हुआ, असंख्य परिवार टूटे और बिखर गये; किन्तु युद्धके उपरान्त इंग्लैण्ड, स्वीडन या अमरीकाकी तुलनामें इन देशोंमें तरुण-अपराधियोंकी संख्या बहुत थोड़ी थी।

इन देशोंके तरुणोंमें अपराधी मनोवृत्तिके न बढ़नेका असली कारण और ही है। दरअसल, इन देशोंमें बूर्जुआ परम्पराओं और मान्यताओंने गहरी जड़ें जमा रखी हैं। युद्धसे उत्पन्न होनेवाली सामाजिक अव्यवस्थाका इन बूर्जुआ परम्पराओंपर अधिक असर नहीं पड़ा और युद्धके समाप्त होते ही उन्होंने अपनी सत्ता पुनः क़ायम कर ली। इस बूर्जुआ व्यवस्थाका ही यह परिणाम था कि युद्धमें बुरी तरह ध्वस्त होनेके बावजूद ये देश न केवल कुछ ही वर्षोंमें पुनः अपने पाँवपर खड़े हो गये, वरन् उन्होंने उच्छृंखलता और निरंकुशता-जैसी असामाजिक प्रवृत्तियोंको जल्दी न उभरने दिया।

इस दृष्टिसे देखा जाये तो पता चलेगा कि क्या फ़्रान्स, क्या जर्मनी और क्या इटली, इन तीनोंमें बूर्जुआ समाजकी पुरानी परम्पराओंमें ढील नहीं आयी। यह सही है कि फ्रान्समें युद्धके उपरान्त उद्योगीकरणसे बढ़नेवाली ख़ुशहाली, चमकदार पत्रिकाओंमें नयी-नयी चटकदार चीज़ोंके प्रचार और टेलीविजनने फ्रान्सीसियोंके दृष्टिकोणको काफ़ी बदल दिया है, किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि फ्रान्सीसी समाजकी कट्टर बूर्जुआ मनोवृत्तिने इस परिवर्तनका काफ़ी विरोध किया है। अपने पुराणपन्थी व कट्टर स्वभावके कारण फ्रान्सीसी लोग काफ़ी बदनाम हैं, लेकिन इसी कट्टरपनेका लाभ भी हुआ है। इसने फ्रान्सके तरुणोंको ऐसा महसूस नहीं होने दिया कि वे उखड़े हुए हैं या कि भीड़में खोये हुए अज्ञात व्यक्ति-सरीखे हैं। इसके अतिरिक्त, वहाँके पारिवारिक जीवन और शिक्षा-प्रणालीने भी तरुणोंको कसे रखा। एक दृष्टिसे देखा जाये

तो ये दोनों व्य[illegible]वादी हैं। विपरीत इसके, ब्रिटिश या अमरीकी शिक्षा-प्रणालियोंमें तरुणोंको काफ़ी छूट है। फ्रान्सकी सत्तावादी शिक्षा-प्रणालीके अन्तर्गत बच्चोंके नैतिक आचरणकी जिम्मेदारी माँ-बापपर है। इस घोर सत्तावादके यद्यपि कुछ दुष्परिणाम भी हैं, लेकिन इनसे सबसे बड़ा लाभ यह हुआ है कि वहाँके तरुणोंमें निरंकुशता और उच्छृंखलता उतनी तेज़ीसे नहीं बढ़ी जितनी कि अँगरेज़ या अमरीकी तरुणोंमें।

बूर्जुआ समाज-द्वारा नये परिवर्तनोंका विरोध करने, और फलस्वरूप अपराध रोकनेका सबसे बढ़िया उदाहरण जर्मनीका है। नाज़ी शासनके विनाशक प्रभाव और युद्धकी तहस-नहसके साथ-साथ जर्मनोंकी जन-हानिकी संख्या चौंका देनेवाली है। १९५७ में ३० लाख जर्मन परिवारोंमें तो माँ या बाप नहीं थे। इसपर पूर्व जर्मनीसे भागकर बहुत-से युवा शरणार्थी पश्चिम जर्मनीमें आये। इंग्लैण्डके हिसाबसे तो जर्मनीमें युवक अपराधियोंकी बाढ़ आ जानी चाहिए थी। किन्तु, ऐसा कुछ नहीं हुआ। इसका कारण भी वही है। जर्मनीके बूर्जुआ समाजका ढाँचा सत्तावादपर टिका हुआ है। नाज़ी शासनके टूटते ही जर्मन अधिकारियों, जजों, उद्योगपतियों, प्रोफ़ेसरों और शिक्षकोंकी सत्ता लौट आयी। मेहनत और कुशलतासे काम करनेके आदर्श पुनः स्थापित हो गये और परिवारमें पिताका दबदबा स्वीकार किया जाने लगा। यह सब कुछ इतनी जल्दी हो गया कि शुरू-शुरूमें [illegible] मानो १९३३ या १९१४ के पूर्वका जर्मनी लम्बी नींद लेकर जागा हो।

लेकिन इन देशोंमें पुरानी बूर्जुआ परम्पराओंकी पुनर्स्थापनाके बावजूद, परिवर्तनके चिह्न दीख रहे हैं। यह परिवर्तन धीरे-धीरे हो रहा है। यूरोपमें खुशहाली बढ़ती जा रही है और यह खुशहाली अमरीकी ब्राण्डकी नयी युवा संस्कृतिमें प्रकट हो रही है जिसमें चमकदार चित्रोंसे भरी पत्रिकाएँ, तड़क-भड़कपूर्ण कपड़े, स्कूटर, रॉक एन रोल-जैसे उन्मुक्त नाच-रंगका बोलबाला है। हैरानीकी बात है कि यूरोपकी जो बूर्जुआ परम्पराएँ युद्धका भीषण धक्का सह गयीं, उनकी नाकाबन्दी इस नयी संस्कृतिके हमलेके आगे टूटती जा रही है। ज्यों-ज्यों नयी पीढ़ी आर्थिक दृष्टिसे स्वतन्त्र होती जा रही है त्यों-त्यों तड़क-भड़कपूर्ण युवा-संस्कृतिका प्रसार और इसके साथ-साथ अपराधोंकी संख्या भी बढ़ती जा रही है।

कभी-कभी तो इन तरुणोंका विक्षोभ और असन्तोष रौद्र रूप धारण कर सामूहिक हिंसामें प्रकट हो जाता है। स्टाकहोम (स्वीडन)में लगभग ३,००० युवकोंने, जिनमें दो-तिहाई युवक २१ वर्षसे कम अवस्थाके थे, इकट्ठा होकर पुलिसके विरुद्ध प्रदर्शन किया। उन्होंने पुलिसवालोंपर टीनके खाली डिब्बे फेंके, पटाखे चलाकर घोड़ोंको बिदकानेकी कोशिश की और कारोंके दरवाज़े उखाड़ दिये। आश्चर्यकी बात यह थी कि पुलिसके विरुद्ध उनके रोषका कोई कारण नहीं था। पश्चिम जर्मनीमें भी इस तरहके दंगे एकके बाद एक

शहरमें हुए। हैनोवर (जर्मनी)में दो दलोंके बीच बड़े ज़ोर-शोरसे लड़ाईकी तैयारियाँ की गयीं। लेकिन जब दोनों दलोंमें भिड़नेका मौक़ा आया तो उन्होंने अपना गुस्सा एक-दूसरेपर उतारनेके बजाय, पुलिस और सामान्य जनतापर उतारा। झगड़ा शुरू होनेपर युवकोंके दलके दल मकानों और दूकानोंकी खिड़कियाँ तोड़ते, राह चलतोंसे मारपीट करते और पुलिसकी कारोंपर पत्थर फेंकते हुए बाज़ारोंमें ऊधम मचाने लगे। बहुत-सी गिरफ्तारियोंके बाद स्थिति क़ाबूमें आयी।

कमसे कम फ्रान्सीसी अधिकारियोंको इस बातका गर्व था कि दंगा-फ़साद और तोड़-फोड़की ऐसी सामूहिक घटनाएँ फ्रान्समें नहीं हो सकतीं। लेकिन १९५८में वहाँपर भी चाकुओं, डण्डों और साइकिलकी ज़ंजीरोंसे लैस युवकोंने 'फ्रेंच रिवीरिया'-जैसी अभिजात बस्तीमें खुलकर ऊधम मचाया। इसके बाद पेरिस, टूलों आदिमें भी दंगे और लूटमारकी घटनाएँ हुईं जिनमें अधिकांश मध्यवर्गीय परिवारोंके युवकोंने बढ़-चढ़कर हाथ दिखाये। इन दंगोंमें गिरफ्तार युवकोंके इज़्ज़तदार माता-पिताओंको इस बातका यक़ीन न होता था कि उनके बेटे शोहदेपन और गुण्डागर्दीके अपराधमें हवालातोंमें बन्द हैं।

युवकोंमें हिंसा और अपराधके इस बढ़ते हुए विकारका ढाँचा प्रायः एक-जैसा है। उद्योगीकरणके बढ़नेसे परिवार बिखरते जा रहे हैं और पारिवारिक अनुशासन ढीला पड़ता जा रहा है। इसपर, व्यापारिक प्रचारने नयी-नयी चटकदार चीज़ों और मनोरंजनोंकी नुमाइश कर युवक और युवतियोंके दिलोंमें असन्तोष उत्पन्न कर दिया है, क्योंकि इन्हें प्राप्त करने लायक पैसा उनके पास नहीं है। जहाँ युवक-केन्द्र या खेलकूदके क्लब नहीं हैं वहाँ अपने समयको बरबाद करते हुए ये युवक गली-बाज़ारमें आवारा भटकते नज़र आते हैं। इस आवारगीसे उनमें सनसनीपूर्ण ख़तरनाक ज़िन्दगी जीनेकी चाह, दूसरोंकी सम्पत्तिकी अवहेलना और ग़ैर-ज़िम्मेदारीकी भावना उत्पन्न हो जाती है और वे ऐसा बारूद बन जाते हैं जिसे भड़कानेके लिए छोटी-सी चिनगारी काफ़ी होती है।

इस तरुण-पीढ़ीमें बढ़ती हुई निरंकुशता, उच्छृङ्खलता और अपराधी-मनोवृत्तिकी रोक-थामके लिए सबसे पहले इस बातकी ज़रूरत है

शिक्षा-ग्रहण : सुविधानुसार

जलसेनाके प्रशिक्षण-कालमें शिक्षकने जब एक नये सैनिकसे पन्द्रह फुटकी ऊँचाईसे जलमें 'डाइव' करनेको कहा तो उसने भयवश इनकार कर दिया। इसपर शिक्षकने सैनिकसे पूछा, "मान लो, कोई जलयान डूब रहा हो और तुम उसपर इतनी ही ऊँचाईपर खड़े हो तो क्या करोगे?"

सैनिकने ज़रा सोचा-विचारा, फिर कहने लगा, "मैं तबतक उस जहाज़को डूबता हुआ देखता रहूँगा जबतक कि ऊँचाई मात्र १० फुट न रह जाये। फिर कूद पड़ूँगा।"

शिक्षक कुछ देर तक उस सैनिकका मुँह ताकता रहा।

कि उनके लिए युवक-केन्द्र या क्लब अधिक-से अधिक संख्यामें खोले जायें ताकि इधर-उधर आवारा भटकनेके बजाय वे युवक वहाँ अपना समय अच्छी तरह बिता सकें। आजकी बदली हुई परिस्थितियोंके अनुसार शिक्षा-प्रणालीमें भी परिवर्तन करनेकी ज़रूरत है। दरअसल, यह विकार समयातीत सामाजिक व्यवस्थासे उत्पन्न हुआ है। आजकी औद्योगिक समृद्धिने कई-एक सामाजिक परिवर्तनोंको जन्म दिया है। बूर्जुआ समाजकी कठोर परम्पराएँ ढीली पड़ती जा रही हैं और परिवारका ढाँचा तेज़ीसे बदल रहा है। आजके तरुण कच्ची उमरमें ही स्वतन्त्र हो जाते हैं और उनपर चमक-दमकपूर्ण युवा-संस्कृतिका भरपूर प्रभाव पड़ता है। इसलिए, उनमें बढ़ती हुई उच्छृंखलता और अपराधी-मनोवृत्तिका इलाज सोचते समय यह बात ध्यानमें रखना ज़रूरी है कि निरंकुशता और लम्पटताकी यह लहर दरअसल उनके जीवनमें होनेवाली क्रान्तिका प्रकट चिह्न है। इसने समाज-शास्त्रियोंके सम्मुख तरह-तरहके प्रश्न उत्पन्न कर दिये हैं कि इस नयी पीढ़ीके तरुणोंकी शिक्षा-दीक्षा किस ढंगकी हो अथवा उनके जीवनकी किस हद तक निगरानी या निर्देशन किया जाये जिससे कि उनपर आजके तनावपूर्ण युगके दुष्प्रभाव न पड़ें।

प्रसन्नताकी बात है कि इन प्रश्नोंपर गम्भीर विचार किया जाने लगा है। शिक्षा-प्रणालीमें आवश्यक परिवर्तन करने, युवकोंकी फ़ालतू शक्तिको रचनात्मक कार्योंमें लगाने और युवक-केन्द्रों-द्वारा उनमें सामाजिक अनुशासन पैदा करनेके तरह-तरहके सुझाव भी पेश किये जा रहे हैं। लेकिन, इन सुझावोंको अमलमें लानेसे पूर्व यह ध्यानमें रखना ज़रूरी है कि नयी पीढ़ी किन तनावपूर्ण परिस्थितियों और खतरोंमें-से होकर गुज़र रही है। दरअसल आजके तरुणोंकी अपनी निराली समस्याएँ और परेशानियाँ हैं जो पुराने विचारोंके अभिभावक समझ नहीं पाते। इन्हें समझनेके लिए सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण चाहिए ताकि उनकी नयी ज़रूरतों और मनःस्थितियोंका सही विश्लेषण किया जा सके। तभी, इन उच्छृंखल तरुणोंको सामाजिक अनुशासनका पाठ पढ़ाया जा सकेगा और इनमें बढ़ती हुई निरंकुशता एवं उत्तरदायित्वहीनताको रोका जा सकेगा।

०　०　०

प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन कम-से-कम पाँच मिनटके लिए मूर्ख बन ही जाता है। बुद्धिमानी इसमें है कि इस समय-रेखाका अतिक्रमण न हो।

आधुनिक जीवनकी ऐसी स्थितिका निदर्शन जब घरकी स्त्री डरी-डरी-सी लगती है और लगता है कि वह अपने घर ही मेहमान बन गयी हो।

०

रवीन्द्र कालिया

०

डरी हुई औरत

तुलना यह हरगिज़ नहीं चाहती थी कि गौतम तो सोया रहे और वह नहा-धोकर तैयार हो जाये। उसने दो-तीन बार गौतमको जगानेकी कोशिश की, रेडियोकी आवाज़ ऊँची की, निर्मलको बेड-रूमसे ही चाय बनानेका आदेश दिया, ज़ोर-ज़ोरसे खिड़कियाँ खोलीं, लेकिन गौतम था कि नींदमें चित। वह बाथरूममें जाती और शीशेमें अपने दाँत देखकर लौट आती। उसने पलंगके पास ही गौतमके लिए शेवका सामान भी रख दिया था। गौतम जो सुबह-सुबह अखबार पढ़नेके लिए इतना उतावला होता है आज इससे भी बेनियाज़ था। शायद इसलिए कि आज इतवार था। उसकी चिकनी खोपड़ीके ऊपर एक मक्खी बैठी थी। तुलनाने देखा तो अपनी लम्बी-लम्बी उँगलियाँ मुँहपर रख लीं और 'फाह'की आवाज़के साथ कुर्सीपर ढेर हो गयी। फिर उसकी नज़र अपने नाखूनोंपर गयी तो नेल-पालिश उठा लायी। नेल-पालिशसे नाखून रँगते हुए फुसफुसायी, "ह्वाट ए लेज़ी हज़बेण्ड!" इस समय खुशवन्त होता तो ज़रूर क़हक़हे लगते। वह गौतमको नौ बजे तक सोते देखकर ज़रूर जी भरकर हँसता। खुशवन्त लेक्चरशिपपर गढ़े हुए चुटकुले सुनानेके बाद अक्सर कहा करता है, "इफ़ लेक्चरशिप डज़ण्ट मेक ए मेन लेज़ी, इट डेफ़िनेटली मेक्स हिम बॉल्ड, क्यों गौतम? क्यों तुलना?"

तुलना मुसकरा दिया करती है और गौतम अपनी चन्दियापर हाथ फेरते हुए कहा करता है, "बच्चो, एक बात हमेशा-हमेशाके लिए याद रखो कि गन्जा आदमी कभी आलसी नहीं होता।"

जब तुलनासे और बरदाश्त न हुआ तो उसने बड़बड़ाना शुरू कर दिया।

"तुम्हारा गुस्सा देखकर लगता है, आज इतवार है।"

गौतमने निहायत सादगीसे आँखें खोलते हुए कहा, "और अगर आज इतवार है तो हमें खुशवन्तके यहाँ जाना चाहिए था।"

दरअसल गौतम रातसे ही खुशवन्तके निमन्त्रणको स्वीकार कर लेनेके बादसे परेशान हो रहा था। खुशवन्तने जब निमन्त्रण दिया था तो वह उसकी किसी भी बातको टालनेके मूडमें नहीं था। गो उसे मालूम था कि इतवार वह किसी भी क़ीमतपर नष्ट नहीं कर पायेगा, प्रोग्रामको स्वयं उसने ही आगे बढ़ाया था। खुशवन्तने लंचके लिए कहा था, गौतमने कुतुब या ओखला चलनेका प्रस्ताव रख दिया···

तुलनाको चुप देखकर उसने कहा, "बात यह है तुलना कि मुझे फ़ाइनलके लिए सेमिनार तैयार करना है, तुम झटपट तैयार होकर अकेली हो आओ···खुशवन्तसे कहना···"

"खुशवन्तसे क्या कहना है! आपको नहीं जाना था तो पहले ही कह दिया होता।" तुलनाको उम्मीद नहीं थी, पूरी नींद लेनेके बाद भी गौतम ऐसी बातें करेगा।

"मुझे सदाकी तरह घरपर आकर मालूम हुआ कि मुझे हाँ नहीं करनी चाहिए थी। अब नाहक़ नाराज होकर छुट्टी तबाह न करो। उठो और तैयार होकर भाग जाओ।"

तुलना वहीं बैठी रही, बोली, "आपको अच्छा लगेगा, मेरा अकेला खुशवन्तके यहाँ जाना?"

"तुम कमला-विमला-जैसी बातें क्यों कर रही हो। ज़रा सोचो, तुम्हें अकेला देखकर खुशवन्त कितना खुश होगा।" गौतमने तुलनाको चिढ़ानेके आशयसे कहा, "सारा दिन चहकता फिरेगा।"

तुलना वाक़ई चिढ़ गयी। नाराज़ होकर दूसरे कमरेमें चली गयी और जाते-जाते कह गयी, "मुझे उम्मीद नहीं थी, आप इस स्तरकी बातें भी करेंगे।"

गौतमने बाथरूममें जाकर ब्रश किया और वह भी तुलनाके पीछे-पीछे चला गया। पाँच मिनिट बाद तुलना कन्धोंपर तौलिया रखे कह रही थी, कितना अच्छा होता अगर आपको सेमिनार न लिखना होता। हम साथ-साथ चलते, पहले खुशवन्तके यहाँ लंच लेते, फिर ओखला चलते। गाड़ी मैं ड्राइव करती।"

"मेरा न जानेका एक कारण यह भी है। तुम्हें मालूम ही है, मैं अभी जीना चाहता हूँ।" गौतमने मन-ही-मनमें खुश होते हुए कहा, "अच्छा, अब देर न करो। स्नान करो और भाग जाओ। मेरे लिए सिगार लेती आना।"

तुलना बाथरूमसे निकली तो उसे गौतमकी उपस्थितिमें बाल सँवारना, शीशेके आगे इतनी देर खड़ा रहना और फिर अपनी मनपसन्दकी साड़ी पहनकर चुपके-से अकेले निकल जाना अच्छा नहीं लग रहा था। उसने अपना कार्यक्रम स्थगित करनेकी भी

सोची लेकिन घरमें रहकर भी क्या होगा ? गौतम काममें जुट जायेगा और तुलना स्वेटर बुनेगी। रेडियो सुनेगी, सोयेगी, बोर होगी, गौतमसे बात करनेकी कोशिश की तो इतवार-इतवार चिल्लायेगा। उसने आईनेमें देखते हुए कहा, "मैं जाऊँ फिर ?" उसे लगा कि उसने दबे स्वरमें यह बात की थी। जितनी देर गौतमने जवाब नहीं दिया, वह होंठोंके बीच जुबान दबाये आईनेमें अपना चेहरा देखती रही।

"तुम एक ही बातको बार-बार क्यों पूछती रहती हो ?" गौतमको याद आया, एक ही बातको बार-बार पूछना तुलनाकी पुरानी आदत है। एक ज़माना था, वह पूछा करती थी, मैं आपको अच्छी लगती हूँ न ? फिर पूछने लगी, आप लेक्चरशिप छोड़कर कोई एडमिनिस्ट्रेटिव जॉब क्यों नहीं करते ? फिर पूछने लगी, आप महत्त्वाकांक्षी क्यों नहीं ? फिर पूछने लगी, आपके कॉलिजमें को-एजूकेशन क्यों है ? फिर एक दिन पूछा, खुशवन्त विवाह क्यों नहीं कर लेता ?

"इस वक्त जो तुम देर कर रही हो, उसके लिए मैं जिम्मेवार नहीं हूँगा !" तुलना-के जानेके इरादेको दृढ़ करनेके आशयसे उसने आदतन झूठ बोला, "शामको खुशवन्तको साथ लेती आना, कहीं अच्छी जगह डिनर लेंगे।"

तुलनाने वार्डरोब खोली और टँगी हुई साड़ियोंको असमंजसमें देखने लगी। गौतमने उसकी समस्या हल कर दी, साड़ियोंकी कतारकी ओर देखते हुए उसने कहा, "हलके नीले रंगकी साड़ी तुम्हें हमेशा अच्छी लगती है।"

उक्त साड़ी खुशवन्तने ही तुलनाको उसके बर्थ-डेपर भेंट की थी। तुलनाने कुछ देर सोचकर वही साड़ी निकाल ली और वैसा ही ब्लाउज़, वैसा ही पर्स और वैसी ही चप्पल। फिर वह बाथरूममें चली गयी। लौटकर आयी तो कुछ झेंप रही थी।

"मैं तो कहती हूँ, हम इकट्ठे चलते।" उसने कहा।

"मुझे अफ़सोस है, मुझे अकेली जाना पड़ रहा है। खुशवन्त भी नाराज़ होगा। मैं कह दूँगी, आप एक ज़रूरी कामसे नहीं आ पाये।"

"कुछ भी कह देना। मेरे लिए सिगार ज़रूर लेती आना।"

तुलना ताज़ा धुली साड़ीको सरसर करती चली गयी। गौतमने दो-तीन सिगरेट फूँके, अख़बार चाटी, चाय पी, रैकसे एक छोटा-सा पैम्फलेट निकालकर झाड़ा और फिर मुँहमें सिगार दबाये चप्पल घसीटता हुआ बाथरूममें चला गया।

टबमें लेटकर गौतमका आक्सीडेण्टल सिविलाइजेशनपर एक पैम्फलेट पढ़नेका मन था, परन्तु टबका पानी गँदला हो रहा था। गौतमने शरीरपर साबुनकी झाग की और उठकर शावरके नीचे बैठ गया। उसे यह सोचकर अपनेपर हँसी आयी कि कैसे छुट्टीके रोज़ एकान्तके मोहमें वह बाथरूममें घण्टों नहाया करता था। उसकी यह आदत तो उस दिन छूटी थी, जब उसे बहुत देर तक नहाते देख तुलनाने शोर बरपा कर दिया

था। उसने तुलनाकी दो-तीन बातोंका जवाब नहीं दिया था तो वह पागलोंकी तरह दरवाज़ा खटखटाने लगी थी। वह कितनी देर तक उसी तरह तुलनाकी घबराहटका आनन्द लेता रहा किन्तु जब तुलनाके साथ-साथ नौकर भी दरवाज़ा खटखटाने लगा तो उसने दरवाजा खोल दिया। तुलनाका चेहरा सफेद पड़ गया था और उसकी टाँगें काँप रही थीं। गौतमको देखकर उसने बाँहोंमें मुँह छिपा लिया था और दीवारके साथ सटी बुरी तरह हाँफ रही थी। पहले तो गौतम घबराया था परन्तु जब ग्लुकोजका गिलास पीनेके बाद तुलना पलंगपर लेटकर सुबकने लगी तो गौतम कुछ आश्वस्त हुआ।

"तुम इतनी कमज़ोर-दिल हो, यह जानते हुए भी मैं चुप रहा।" गौतमने कहा, "मैं भी कैसा जीव हूँ।"

"अगर मुझे कुछ हो जाता?" तुलनाने होंठोंको दाँतोंके बीच ले लिया।

"तुम्हें कुछ नहीं हो सकता", गौतमने कहा था, "तुम्हें डर किस बातका लग रहा था?"

और गौतमके बार-बार इसी प्रश्नपर ज़ोर देनेके बाद तुलनाने कहा था, "नहीं, मुझे अचानक लगा, जैसे आपने सुईसाइड कर ली है।" पीछा छुड़ानेके लिए तुलनाने सच-सच बता दिया, "लेकिन मुझे ऐसा नहीं सोचना चाहिए था। मैं भी कितनी मूर्ख हूँ।"

"सुईसाइड?" गौतमको बात पसन्द आयी, बोला, "सुईसाइड तो हम इकट्ठे करेंगे। अभी स्टूडेण्ट्सके इम्तहान नज़दीक हैं और अभी झीलका पानी भी ठण्डा है।"

"ये सारी फ़िज़ूलकी बातें आपको लेक्चरशिपने ही सिखायी है। आप सारा दिन न जाने क्या-क्या ऊट-पटाँग पढ़ते रहते हैं और उलटी-सीधी बातें सोचते रहते हैं।" तुलनाने शिकायतके लहजेमें कहा, "देखिए आपके सिरके बाल कितनी जल्दी झर गये हैं। खुशवन्त भी तो आपका क्लासफेलो ही था, मगर देखनेमें कितना स्मार्ट नज़र आता है।"

एक या दो

एक किसानको अपने ख़रबूज़ेकी फ़सल-पर बड़ा गर्व था। समूचे प्रान्तमें इतने मीठे ख़रबूज़े और कहीं नहीं थे। मगर ज्यों-ज्यों ख़रबूज़े पकने लगे, रोज़ दो-चार ख़रबूज़े ग़ायब होने लगे। अन्ततः किसानने

"शादीसे पहले मैं सिर्फ़ एक बात स्पष्ट करना भूल गया था कि मैं बहुत ज्यादा अम्बीशस नहीं हूँ", गौतमने कहा, "अब तुम यह बात कितनी बार कहलवाओगी?"

गौतमको याद है उस दिन दोनोंने प्रेम किया था, मिलकर कॉफी पी थी, पुराने बीते हुए कुछ दिनोंको याद किया था और फिर तुलनाने वह कविता भी सुनायी थी, जो वह शादीसे पहले अक्सर सुनाया करती थी:

"तुमने मुझे एक नया दर्द दिया है
मेरे सूने घर के पुराने ठूँठ पर,
फिर से हरी-हरी पत्तियाँ उग आयी हैं।

इसलिए तुम और गहरा दर्द दो
उँगलियों का स्पर्श और
दृष्टि की आँच दो।
लगता है,
सूर्य मेरा बन्धु है,
मैं सारे-परिवार की एक सदस्या हूँ।"

शॉवरके नीचे बैठे-बैठे जब गौतमको सर्दी-सी लगने लगी तो उसने पानी बन्द कर दिया। उसे कोई जल्दी नहीं थी। उठकर उसने तौलियेसे जिस्म नहीं पोंछा। वह शरीरकी हरारत और हवाके स्पर्शसे ही

ऊबकर खेतके किनारे एक तख़्ती लटका दी—"सावधान! इनमें-से एक ख़रबूज़ा ज़हरीला है।"

दूसरे दिन सुबह किसानने देखा, किसीने तख़्ती बदल दी है। लिखा था—"सावधान! इनमें-से दो ख़रबूज़े ज़हरीले हैं!"

तौलियेका काम लेना चाहता था। हवाके हलके-हलके स्पर्श उसे भले लग रहे थे। बाथ-रूमसे निकलकर उसने कॉफी पी, सहगलका एक गाना सुना और फिर वह यह सोचते हुए कि शादीका मतलब यह क्यों होता है कि साँस लेनेवाले दो प्राणी उमर-भर साथ-साथ ही रहें, स्टडी-रूममें बन्द हो गया।

पढ़ते-पढ़ते गौतमकी ज़रूर आँख लग गयी होगी जो वह ज़ोर-ज़ोरसे दरवाज़ा खटखटाये जानेपर हड़बड़ाकर उठा। वह जानता है, तुलना ही इतने ज़ोरसे दरवाजा खटखटा सकती है। कुरसीके नीचेसे कमीज़की बाँह खींचते हुए उसने कहा, 'वेट प्लीज़!' दरवाज़ा खोलकर उसने तुलना-से कहा, "अच्छा हुआ, मेरी आँख खुल गयी, नहीं तो फ़ायर-बिग्रेडको फ़ोन कर देतीं तुम।"

तुलनाके साथ खुशवन्त भी था। दोनोंके कपड़ोंमें बहुत प्यारा कण्ट्रास्ट देखकर पहले तो उसने कुछ कहना चाहा मगर बात उसके मुँहमें ही घुलकर रह गयी। उसने दोनोंको इकट्ठा सम्बोधित करते हुए कहा, "आइए अन्दर आइए, आप बाहर क्यों खड़े हैं? मैं पढ़ते-पढ़ते ऊँघ गया था।"

"मास्टरीमें या आदमी पढ़ा सकता है या ऊँघ सकता है।" खुशवन्तने कहा, "वी हैड ए नाइस टाइम।"

गौतमको उम्मीद थी, खुशवन्त उसके न आनेपर अफ़सोस प्रकट करेगा। खैर, यह बात भी उसे बुरी नहीं लगी क्योंकि वह महसूस कर रहा था कि उसका अपना वक्त भी अच्छा बीता है। उसने दोनोंको बैठनेके लिए कहा और निर्मलको चाय बना लानेका आदेश देने लगा।

खुशवन्तने टेबल-फैनके आगे खड़े होकर बुशशर्टके बटन खोल दिये थे और तुलना पीली साड़ीमें लिपटी एक कोनेमें खड़ी थी।

"कहो कैसा रहा? कहाँ-कहाँ गये?" गौतमने कहा, "बैठो तुलना, खड़ी क्यों हो? चाय आ ही रही होगी।"

गौतमका यों बैठनेके लिए और चायके लिए कहना तुलनाको काट रहा था। वह

महसूस कर रही थी जैसे अपने ही घरमें अजनबी हो।

खुशवन्त बुशशर्टके बटन बन्द करता हुआ गौतमके पास आया और उसके कन्धे थप-थपाता हुआ बोला, "तुमने आज एक बहुत अच्छा प्रोग्राम मिस किया।"

"तुम्हें तुलनाने बताया होगा, मुझे सेमिनार लिखना था।"

"मैंने बताया था और खुशवन्तको कोई हैरानी नहीं हुई थी।" तुलनाने खुशवन्तकी ओर झुकते हुए कहा और फिर आरामसे बैठ गयी।

"कैसा रहा, आप लोग कहाँ-कहाँ गये?"

"हम कुतुब गये थे और फिर वापसीपर हौज़ खास।" खुशवन्तने कहा।

"हमने आपको बहुत मिस किया।" तुलना बोली, "खुशवन्तने मुझे ड्राइव नहीं करने दिया। कह रहा था, एक्सीडेण्ट हो गया तो गौतमको तुलना कहाँसे दूँगा।" तुलनाके लहजेमें शिकायत थी, लेकिन अपने ही घरमें बैठकर दूसरोंकी शिकायत करना उसे अच्छा नहीं लगा। उसे लगा, गौतम निर्मलको चायके लिए ऐसे कह रहा था जैसे खुशवन्तके साथ-साथ तुलना भी मेहमान हो।

"खुशवन्तने ड्राइव नहीं करने दिया, उसने ठीक ही किया...तो अब इसीलिए गुपचुप बैठी हो?" गौतमने पूछा, "मेरे सिगार लायी हो?"

तुलनाने दोनों होंठ दाँतोंमें भींच लिये। बोली, "उफ़! सिगार लाना तो मैं भूल ही गयी! सच गौतम, मुझे याद था, फिर भी भूल गयी। मैं अभी मँगवाती हूँ। रियली वेरी सॉरी।"

"मुझे ख़ुशी है, तुलना भूल गयी।" खुशवन्तने कहा और तुलनाकी तरफ़ देखा। तुलनाने गौतमकी तरफ़ देखा।

"हौज़ ख़ास कैसा लगा?" गौतमने पूछा।

"वहाँ बहुत वीरानगी थी।" खुशवन्तने कहा, "बेशक वहाँ बहुत-से लोग थे। लग रहा था, सभी अपना-अपना अकेलापन ओढ़े हैं। मुझे ऐसी जगह जाकर कोफ्त होती है। यही कोफ्त मुझे यहाँ तुम्हारे घरमें हो रही है।"

"तुमने तुलनासे कोई गीत नहीं सुना?" गौतमने पूछा।

तुलना खिड़कीसे बाहर देख रही थी। उसके जूड़ेमें मोतियाकी कलियोंकी वेणी लगी थी जिसकी हलकी-हलकी गन्ध कमरेमें भर गयी थी।

"मैंने तो गाना सुनानेके लिए कहा था", खुशवन्त बोला, "लेकिन यह उदास बैठी रही। कहा कि उसका मन गानेको नहीं, रोनेको हो रहा है।"

"तुम दोनों बेवकूफ़ हो।" गौतम खुशवन्तकी तरफ़ मुड़कर बोला, "तुम औरतको खुश नहीं रख सकते।" तुलनाकी ओर देखकर उसने कहा, "और तुलना, तुम खालिस औरत हो---यानी कि निरी इमोशनल बल्कि इम्पलसिव! मैंने तुम लोगोंको हौज़ खासकी वीरानगी पीने नहीं भेजा था। वह तो निराश प्रेमियोंकी जगह है।" वह हँसने लगा।

"तुम ख़ालिस मास्टर हो। गंजे और आलसी ! तुम सिर्फ़ भाषण पिला सकते हो। तुलना शायद थक गयी है।" खुशवन्त बोला।

"मुझे सिगार लाने चाहिए थे। मुझे आखिर तक याद था।" तुलनाने वेणी उतारकर कार्निशपर रख दी और बोली, "रीगलके सामने वेणी ख़रीदते समय भी मुझे याद था।" फिर वह उठकर साथवाले कमरेमें चली गयी। उसे पीले रंगकी साड़ी इस समय कोफ्तदेह लग रही थी।

"तुम्हें दिल्ली कैसी लगती है ?" गौतमने पूछा।

"आई कुडण्ट डिसलाइक इट।" खुशवन्तने कहा, "लेकिन तुम बिलकुल वैसे ही लगे। तुम्हारा हैण्डराइटिंग तक नहीं बदला।"

चाय आयी तो खुशवन्तने कहा, "चाय पीकर मैं चलूँगा।"

"नहीं, तुम अभी नहीं जाओगे। कुछ देर बाद कनाट-प्लेस चलेंगे। सिगार ख़रीदेंगे। कहीं अच्छी जगह बैठकर कॉफ़ी पियेंगे।" गौतमने कहा, और 'तोमार माँझे पेलाम खूजे' गुनगुनाता हुआ एक-एक कपमें शक्कर मिलाने लगा।

तुलना भी कपड़े बदलकर आ गयी। वह सादी-सी सफ़ेद साड़ीमें लिपटी थी। बैठने लगी तो उसका घुटना मेज़से टकरा गया। हलकी खनकके साथ प्यालोंसे थोड़ी-थोड़ी चाय तश्तरियोंमें गिर गयी। तुलना घुटना थामकर वहीं कुरसीपर औंधी हो गयी। गौतम उठा और चापलूसीके अन्दाज़में आहिस्ता-आहिस्ता उसका घुटना दबाने लगा। तुलना सुबकने लगी तो वह चोटका ख़याल करके अन्दरसे आयोडीन ले आया। घुटनेपर कहीं भी चोटका कोई चिह्न नहीं था। वह यों ही घुटनेके इधर-उधर आयोडीन भीगी रूईसे मालिश करता रहा।

"मेरा ख़याल है मेज़से टकराकर फ्रैक्चर नहीं हो सकता।" खुशवन्त कार्निशपर रखी वेणीको सूँघते हुए बोला। वह गौतम और उसकी बीवीकी ओर देखते हुए कुछ देर उबाइयाँ लेता रहा, फिर दूसरे कमरेमें चला गया और ग्रामोफ़ोनपर रेकॉर्ड चढ़ाने लगा।

●

दरअसल, सब कुछ आपके अन्दर ही वर्त्तमान है—आपके कार्य-कलापोंमें, आपकी भाग-दौड़में, आपके प्रिय संगी-साथियोंमें। अति-प्रसन्न व्यक्ति इतने व्यस्त होते हैं कि वे यह समझ नहीं पाते।

लेखकके शब्दोंमें—"प्राचीन मनुने राजाके लिए २५ प्रतिशत करके रूपमें लेनेका विधान किया था। लेकिन नये मनु ८५ प्रतिशत तक लेना नया धर्म मानते हैं। इस दृष्टिसे श्री टी० टी० कृष्णमाचारीका बजट न तो जीनेकी प्रेरणा देता है, न रुपया कमानेके लिए कठोर श्रम करनेकी प्रेरणा देता है और न शान्तिसे मरनेका विश्वास ही प्रदान करता है।"

नया बजट और सरकारी नीति

एक समीक्षा

० अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार ०

१९६४-६५ का केन्द्रीय सरकारका बजट केन्द्रीय सरकारकी अर्थ-वित्त-नीतिमें एक नये मोड़ या परिवर्तन-विन्दुका सूचक है। १९६३ में श्री मुरारजी देसाईने जिन वस्तुओंपर उत्पादन-शुल्क लगाया था उनमें-से एक मात्र ग्रामोफ़ोन-रेकॉर्ड-पर-से उत्पाद शुल्कको हटाया गया है। निस्सन्देह इससे संगीत-प्रेमी आह्लादित होंगे। मन तो था, इस लेखका शीर्षक दें, 'एक संगीत-प्रेमीका बजट'।

१९६४-६५ का बजट संक्षेपमें इस प्रकार है :

(करोड़ रुपयेमें)

	१९६४–६५	१९६३–६४		१९६२–६३
	(बजट)	अनुवीक्षित	बजट	(वास्तविक)
आय	२०,९५१*	१९१३	१८३६	१५८५
व्यय	२०४१	१८२५	१८५२	१४७२
बचत	+ ५४	+ ८८	– १६	+ ११३
पूँजीगत बजट				
आय	१६८५ ‡	१५९५	१६०९	१३८४
व्यय	१९१५	१८१८	१७७४	१४७९

* बजट कर-प्रस्तावोंके प्रभावके समेत।

+ नये कर-प्रस्तावोंके बिना जो कि ४० करोड़ रुपयेके हैं।

‡ प्रस्तावित एन्न्युटीसे होनेवाली सम्भावित ५० करोड़ रुपयेकी आय इसमें सम्मिलित नहीं है।

घाटा	− २२०	− २२३	− १६५	− ९५
कुल घाटा	− १७६	१३५	− १८१	+ १८
प्रतिरक्षा व्यय कुल	८५४	८०९	८७८	४७४
राजस्वगत व्यय	७१८	६९३	८६८	४२५
पूँजीगत व्यय	१३६	११६	७०९	४९
नियोजन व्यय	१९८४	अप्राप्य	१६५१	१४१४

एक सालके अन्तरसे भारत सरकारकी आय पाँच अरब रुपयेसे अधिक हो गयी। इसको देशकी बढ़ी हुई समृद्धिका प्रमाण मानना भ्रमात्मक होगा। राष्ट्रीय आयके प्रारम्भिक आँकड़ोंको देखनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है।

१९६०-६१ के बादसे १९६२-६३ की अवधिमें प्रति व्यक्तिकी आयमें केवल १.५ रुपयेकी वृद्धि हुई है। इधर केन्द्रीय सरकारकी इसी कालमें आयमें ५ अरब रुपयेकी वृद्धि हुई है। इसका अर्थ है कि **करों-द्वारा सरकारने न केवल बढ़ी आय ही ले ली है, बल्कि पहली आयका भी एक बड़ा भाग ले लिया है।** इस अवस्थामें बजटके सम्बन्धमें कहना कि जन-जीवनका प्रतिमान बढ़ाना इसका उद्देश्य है, क्या युक्तियुक्त माना जा सकता है?

यह कर-वृद्धि साधारण नहीं कही जा सकती। करोंकी उत्पन्न आयसे राष्ट्रीय अंचलके उद्योगोंके वास्ते पूँजीका निर्माण करना, जिसका तत्काल फल प्राप्त होनेकी आशा नहीं, केवल जन-जीवनके प्रतिमानको ही घटायेगा और देशमें निराशाका ही प्रसार करेगा। १९६४-६५ का बजट इसका अपवाद नहीं कहा जा सकता।

अप्रैल १९६४ से मार्च १९६५ तकके वित्तीय वर्षमें भारत-सरकारको २०९५ करोड़ रु० आय होगी। यदि नये कर-प्रस्तावोंकी आयको भी इसमें सम्मिलित किया जाये, और ४०.२७ कोटि रु० को इसमें जोड़ा जाये, तो यह २१३५ कोटि रु० से भी अधिक होगी। १९६३-६४ के अनुवीक्षित बजटमें आय-का अनुमान १९१३ करोड़ रु० किया गया है, इससे भी उपर्युक्त आय १८२ करोड़ रु० अधिक है। **इस स्थितिमें क्या १९६३ में ५० वस्तुओंपर लगाये उत्पाद-शुल्कको क़ायम रखना और नया ४०.२७ कोटि रु० का अतिरिक्त कर लगाना उचित कहा जा सकता है?** ठीक है, चीन और पाकिस्तान इन दोनोंकी ओरसे आक्रमण होनेका भय है, पूर्वी पाकिस्तानसे लगभग ५ लाख शरणार्थियों-के भारतमें आनेकी सम्भावना है, सीमापर पाकिस्तानके छुट-पुट आक्रमण हो रहे हैं. **परन्तु क्या यह सब प्रतिरक्षा-योजनाको दृढ़ करनेके लिए किया गया है?**

१९६२–६३ में आयका अनुमान १८३६ करोड़ रु० किया गया था, पर आय हुई १९१३ करोड़ रु० अर्थात् ७७ करोड़ रु० अधिक आय हुई। १९६४–६५ में भी यही कहानी क्या नहीं दोहरायी जायेगी? इस दशामें करोंको बढ़ानेसे क्या अधिक उपार्जन करनेकी प्रेरणा प्राप्त हो सकती है?

राजस्व आयमें १८२ करोड़ रु० की वृद्धि हुई है, (१९६३–६४ की तुलनामें जब कि आयका १८२५ करोड़ रु० का अनुमान था।) अब राजस्व आयका कुल अनुमान २०४१ करोड़ रु० है, जो कि २१६ करोड़ रु० अधिक है। **व्यय अनावश्यक रूपसे बढ़ाकर दिखाया गया है,** यद्यपि वित्तमन्त्रीने विश्वास दिलाया है कि उन्होंने व्ययका अनुमान बड़ी कठोरतासे लगाया है। १९६३–६४ में वस्तुतः २७ करोड़ रु० की बचत हुई है (क्योंकि अनुवीक्षित अनुमान १८२५ करोड़ रु० का है, जबकि बजट अनुमान १८५२ करोड़ रु० का था।)

१९६४–६५ के बजटमें ५४ करोड़ रु० की बचत रहनेका अनुमान है (क्योंकि आय २०·९५ करोड़ होगी और व्यय २०४१ करोड़ रु० होगा।) और १९६३–६४ के अनुवीक्षित बजटमें ८८ करोड़ रु० की बचत होगी। अतः घाटा १६ करोड़ रु० का होनेका अनुमान है। पूँजीगत खातेमें ३३० करोड़ रु० का घाटा रहेगा। इस वास्ते कुल बजट-घाटा १७६ करोड़ रु० का रहेगा। इसमें-से ९० करोड़ रु० का घाटा तो पूरा कर लिया गया है कर-व्यवस्थामें परिवर्तन करके, और इससे ४० करोड़ रु० की प्राप्ति होगी। एन्न्यूटी योजना जारी की गयी है, इससे ५० करोड़ रु० सरकारको मिलेगा। शेष ९६ **करोड़ रु० सम्भवतः घाटेकी वित्तीय व्यवस्था या काग़ज़ी-मुद्राके विस्तार-द्वारा पूरा किया जायेगा। इसी मात्रामें मँहगाई बढ़ेगी।**

वित्तमंत्रीने घाटेकी वित्तीय व्यवस्थाको अपनानेके औचित्यको सिद्ध करते हुए कहा है कि उन्होंने राजस्व और पूँजीगत घाटेको अलग-अलग न रखके इकट्ठा रखा है, क्योंकि हमारे बजटमें पूँजी-व्ययका महत्त्व बढ़ गया है। वस्तुतः यदि राष्ट्रीय अंचलके उद्योगोंमें पूँजी-विनियोगके वास्ते, वैयक्तिक और विदेशी क्षेत्रोंपर निर्भर नहीं रहना है, तो राजस्व आयकी निरन्तर बढ़ती बचतका उपयोग इसके वास्ते करना चाहिए।

१९६३–६४ के अनुवीक्षित अनुमानसे भी अब १८२ करोड़ रु० अधिक आय १९६४–६५ में होगी। इस वृद्धिका कारण यह है कि कई आय-स्रोतोंसे इस वर्ष विगत वर्षकी तुलनामें अधिक आय होगी।

परन्तु एमर्जेन्सी रिस्क इन्शुरेन्ससे होनेवाली १२ करोड़ रु० की आय इस वर्ष न होगी।

उत्पाद-शुल्कसे उत्पन्न आय किस तीव्र वेगसे बढ़ रही है, यह देखनेके लिए आयके विभिन्न स्रोतोंकी आयका कुल आयमें भाग देखना मनोरंजक होगा।

(करोड़ रु०में)

	१९५०-५१	१९५५-५६	१९६०-६१	१९६१-६२
कुल राजस्व आय	३४५.८०	४७२.५७	८८८.४९	१०३२.५९
इसमें-से ज़कात	१५६.१५	१६२.९८	१६६.४२	२०८.६८
संघीय उत्पाद-शुल्क	६१.६३	१४२.२१	४०९.४३	४८१.८६
आय-कर व निगम-कर	१२३.३१	१६४.६०	२७२.१७	३१५.८०

	१९६२-६३	१९६३-६४ (बजट)	१९६३-६४ (अनुवीक्षित)	१९६४-'६५ (बजट)
कुल राजस्व आय	१२६१.५८	१४४८.०३	१५४५.८८	१६३७.१७
इसमें-से ज़कात	२४१.७७	२९७.०२	३१५.८५	३२५.३६
संघीय उत्पाद-शुल्क	५९०.५१	६८७.८१	६९४.७०	७४१.३२
आय-कर व निगम-कर	४००.८८	४३३.५२	५०३.३६	५३७.५०

ध्यान देनेकी बात है कि युद्ध-कालमें विदेशी व्यापारके बन्द हो जानेके कारण ज़कातसे उत्पन्न आयके समाप्त हो जानेका भय होनेपर उत्पाद-शुल्क विदेशी सरकारने लगाना ज़रूरी समझा था। ज़कातकी आय घटनेके बदले हर साल बढ़ती रही, पर उत्पाद-शुल्कका मोह भी त्यागा नहीं गया। यह सरकारकी दृष्टिमें कामधेनु सिद्ध हुआ। १९५०-५१ में इससे उत्पन्न आय कुल राजस्व आयका लगभग पंचमांश थी। परन्तु आज यह लगभग आधेके बराबर है। दूसरी ओर निगम-कर और आय-करकी आयका, कुल राजस्व आयमें, भाग पहलेके समान एक तिहाई है। **उत्पाद-शुल्ककी आयमें ज़कातकी आयको जोड़ें तो ज्ञात होगा कि अप्रत्यक्ष करोंके रूपमें १९५०-५१ में जनतापर २१७.७८ कोटिका भार था, वहाँ अब यह भार बढ़कर ९३६.६८ करोड़ रु० हो गया है, अर्थात् चार गुनासे अधिक बढ़ गया है। दूसरी ओर प्रत्यक्ष करोंका भार जिस वर्गपर पड़ता है, वह १२३.३१ करोड़ रु० से बढ़कर ५३७.५० करोड़ रु० पर पहुँच गया है।** जिस देशकी जनता येन-केन प्रकारेण जीती है, और भर पेट भोजन पानेकी तृप्तिका आनन्द नहीं जानती, उसपर

इस मात्रामें अप्रत्यक्ष कर लगानेके बाद क्या आशा की जा सकती है कि वह बचाकर उद्योगोंमें पूँजी विनियोग करेगी? जो वर्ग बचाकर पूँजी-निक्षेप कर सकता है, उसको बचाने और अधिक अर्जन करनेका प्रोत्साहन देना चाहिए। क्या ऐसा किया गया है ?

व्यय बढ़नेका एक कारण प्रतिरक्षा-व्ययका बढ़ना कहा जाता है परन्तु यह कारण सत्य नहीं है। ब्रिटिश सरकारके समयमें भी केन्द्रीय आयका लगभग ५० प्रतिशत सेनापर व्यय किया जाता था। अब तो एक तिहाईसे कुछ अधिक ही ख़र्च किया जाता है। अतः प्रतिरक्षा-व्ययके बढ़नेसे कर-वृद्धि नहीं हुई है। कर-वृद्धिका मूल कारण नियोजन-व्ययको राजस्व आयसे पूरा करनेकी नीति है। दूसरी बात यह है कि सरकारपर ब्याज चुकानेका भार बढ़ता जाता ह।

भारत सरकारका ऋण बहुत बढ़ गया है। यह प्रतिवर्ष ब्याजपर खर्च होनेवाली राशिको देखनेसे स्पष्ट हो जायेगा। व्ययकी कुछ मदोंको देखनेसे यह बात स्पष्ट हो जायेगी :

व्ययकी कुछ मदें

(करोड़ रु० में)

	१९५१-५२	१९५५-५६	१९६०-६१	१९६१-६२
कर-संग्रह व्यय	१०.२५	१२.५०	२२.४३	२१.१६
कर्ज़पर ब्याज	३२.२६	९१.०३	१८८.४८	२०९.४४
प्रतिरक्षा व्यय	१६४.१३	१७२.२८	२४७.५५	२८९.५४
कुल व्यय	३३४.२४	४७९.८७	९२५.२६	१०२७.८७
			(अनुवीक्षित)	
	१९६२-६३	१९६३-६४	१९६३-६४	१९६४-६५
कर-संग्रह व्यय	२३.४६	२३.८३	२३.६७	२५.३४
कर्ज़पर ब्याज	२४०.४३	२७५.२४	२७७.०६	३१३.४१
प्रतिरक्षा व्यय	४२५.३०	७०८.५१	६९२.५५	७१७.८०
कुल व्यय	१२९७.३९	१६७९.१६	१६४४.८२	१८१३.५६

कर्ज़पर ब्याज देनेका व्यय १९५१-५२ में कुल-व्ययका दसवाँ भाग था। अब यह एक छठा भाग है। इस कारण व्यय बढ़नेका मूल कारण

सरकारकी 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' की नीति है। प्रतिरक्षा-व्यय नहीं है। यदि है, तो इसके लिए भी उसकी शान्ति-नीति और पाक-चीनके साथ मैत्री करनेकी नीति जिम्मेदार है। सैनिक शक्तिको बढ़ानेका यदि प्रारम्भसे उद्योग किया जाता तो देश आज अपनेको असहाय नहीं पाता, और न शस्त्रास्त्रकी सहायता पानेके लिए भटकता और न आज भारी मात्रामें सैनिक व्यय करनेकी आवश्यकता होती। प्रतिरक्षा-व्ययके सहसा बढ़नेके वास्ते सरकारकी अदूरदर्शिता-पूर्ण परराष्ट्र नीति ही उत्तरदायी है। उसकी भूलका, उसकी अकर्मण्यताका फल देशको भोगना पड़ रहा है।

विकासके नामपर किये गये खर्चका कुछ भी दृश्य-परिणाम जन-जीवनपर अभी नहीं दिखाई देता। आयकर दाताओंकी संख्यासे इसका अनुमान किया जा सकता है :

	आय-कर देनेवाले	सम्पत्ति-कर देनेवाले	विरासत-कर
१९६२-६३	१३०८८५४	३१७७९	१७६४४
१९६१-६२	१२०००००	३०८२८	१५४९६

३० सितम्बर १९६३ को १८१ करोड़ रु० बकाया वसूल करना था। स्पष्ट है कि यदि यह राशि बकाया न रहे, तो इसी मात्रामें कर-भार कम करना सम्भव है।

दूसरी बात यह ज्ञात होगी कि आय-कर देनेवालोंकी संख्यामें जो एक लाखकी वृद्धि होती है, वह इस बातका सूचक है कि प्रतिवर्ष आय-कर देने योग्य वेतनका काम पानेवालोंकी संख्या इससे अधिक नहीं होती। यह बढ़ती समृद्धिका प्रमाण नहीं कहा जा सकता।

पूँजीगत बजटका जो भाग प्रत्यक्ष पूँजी-व्यय है, वह इस प्रकार है :

(करोड़ रु० में)

	१९६४-६५ (बजट)	१९६३-६४ (अनुवीक्षित)	१९६२-६३ (वास्तविक)
स्थायी ऋण-परिशोध	२५९	२४०	२२९
रेलवे	२५३	२३४	२१५
औद्योगिक विकास	२१७	२०९	१७१
सार्वजनिक निर्माण काम	६६	७०	४२
राज्य-व्यापार-योजना	३१	३०	२२
विकासके वास्ते अनुदान	२१	१८	१५

डाक व तार	२१	३०	२१
दिल्लीका पूँजी-व्यय	६	१३	६
कोलार स्वर्ण-खान	०.५६	३.२०	०.१८

इसको देखनेसे ज्ञात होगा कि प्रत्यक्ष-पूँजी-व्ययका बड़ा भाग औद्योगिक विकासपर नहीं प्रत्युत ऋण-परिशोधमें व्यय होता है ।

वित्तमन्त्रीने शिकायत की है कि राज्योंकी वित्तीय अवस्था ठीक नहीं है। इसपर भी केन्द्रीय अनुदान उनको बराबर अधिकाधिक मात्रामें दिया जाता है। केन्द्रीय बजटका लगभग दसवाँ भाग राज्य पाते हैं। यथा :

राज्योंका कुल कर-भाग

१६५०–५१	४७.५२
१६५५–५६	७३.६०
१६६०–६१	१७८.७८
१६६१–६२	१७८.३८
१६६२–६३	२२४.०६
१६६३–६४ (बजट)	२३८.७३
१६६३–६४(अनुवीक्षित)	२५६.५०
१६६४–६५ (बजट)	२५३.७०

राज्योंकी विकास-योजना ६६२ करोड़ रु०की होगी जब कि १६६३–६४ में ७५० करोड़ रु० की थी ।

तृतीय पंचवर्षीय नियोजनके चौथे वर्षमें नियोजनपर १६८४ करोड़ रु० व्यय होगा । यह राशि कैसे प्राप्त हुई ?

(करोड़ रु० में)

केन्द्रीय सरकारका व्यय	६१२
राष्ट्रीय अंचलके उद्योगोंसे आय	११५
राज्योंके नियोजन	६१२
कुल	१६८४
१६६३–६४ का	१६५१
वर्षकी अधिकता	३३३

१६६३–६४के वर्षमें १८१ करोड़ रु० घाटा न होकर अब १३५ करोड़ रु०

ही घाटा होगा। यद्यपि अगाऊ व उचन्तमें राज्यों व अन्योंको १२१ करोड़ रु० अधिक दिया गया।

घाटा कम हो जानेका कारण यह है कि निगम-करसे ७० करोड़ रु० अधिक आय हुई, और ३३ करोड़ रु० ज़कात और उत्पाद-शुल्कसे अधिक आय हुई। विभिन्न स्रोतोंसे ३० करोड़ रु० की आय हुई। घाटेके घटनेका एक कारण प्रतिरक्षा-व्ययमें १६ करोड़ रु० का व्यय न होना भी है। पूँजी-व्ययमें भी कमी रहनेका कारण यह है कि प्रतिरक्षा-व्ययका संकलित व्यय नहीं किया जा सका और ४३ करोड़ रु० बचा रहा। परन्तु रेलवेके पूँजी-व्ययमें १९ करोड़ रु० बढ़नेकी सम्भावना है। प्रतिरक्षाके प्रति उपेक्षा वृत्ति आज भी विद्यमान है। केन्द्रीय सरकारकी पूँजीगत - बजट-स्थिति इस प्रकार रहेगी :

(करोड़ रु० में)

प्रत्यक्ष पूँजी-व्यय	७९६
राज्यों व अन्योंको क़र्ज़ व अगाऊ	८६०
ऋण परिशोध	२५९
कुल व्यय	१९१५

यह व्यय इस प्रकार पूरा किया जायेगा :

(करोड़ रु० में)

राजस्व आयकी बचतसे	५४
करोंमें परिवर्तन करनेसे	४०
एन्युटीकी जमासे	५०
देश-परदेशमें क़र्ज़ लेनेसे	९९७
क़र्ज़ोंके पुनः भुगतानसे	८८५
अल्प-बचतसे	१२५
विविध जमा-क़र्ज़ आदि	२७८

यह १८२९ करोड़ रु० होता है। ८६ करोड़ रु० की कमीको, जैसा कि पहले कहा गया है, घाटेकी वित्तीय-व्यवस्थासे पूरा किया जायेगा।

बाधित-बचत योजनाको इस बढ़ती मँहगाईमें रखना सम्भव ही नहीं था। अतः उसका हटना अनिवार्य था। पर एन्युटी जारी करके वित्तमन्त्रीने उस वर्गपर चोट की है, जो अच्छा खाता-पीता समझा जाता है और जिसके जीवन-प्रतिमानकी प्राप्तिके वास्ते नियोजनोंका आश्रय लिया गया है। यदि वित्तमन्त्री

चाहते हैं कि लोग ख़र्चा कम करें और इस प्रकार हुई बचतको नये-नये उद्योगोंमें लगावें, तो यह आवश्यक है कि अनाज और अन्य जीवनोपयोगी वस्तुएँ सस्ती हों। साधारणतः आयका ६० प्रतिशत खाने-पीनेपर ख़र्च होता है। यदि खाने-पीनेकी चीजें सस्ती हों, और पारिवारिक बजटमें इसके कारण ३० प्रतिशत बचत करना सम्भव हो, तो इस रीतिसे हुई बचत औद्योगिक विकासके लिए मिल सकती है। यह तरीक़ा नया नहीं है। दूसरे महायुद्धके समय ब्रिटेनने यही नीति अपनायी थी। अन्न-वस्त्रको सस्तेसे सस्ता रखा था। भारतमें भी इसी उपायका अवलम्बन करके औद्योगिक विकासके वास्ते आवश्यक पूँजी देशके अन्दरसे ही प्राप्त की जा सकती है। विदेशी पूँजीके पीछे भागने और विदेशी पूँजीका द्वार खोलने, एवं उसके स्वागतके वास्ते विशेष रियायतें देनेकी आवश्यकता न रहेगी। विदेशी पूँजीको देशमें आमन्त्रित करना ख़तरेसे ख़ाली नहीं है। यह आर्थिक परवशता राजनीतिक पराधीनताका कारण हो सकती है।

दूरदर्शिता अपेक्षा करती है कि खाद्य पदार्थोंकी क़ीमतें घटायी जायें। उपभोक्ताओंको अनाज उचित मूल्यमें मिले, इसकी व्यवस्था होनी चाहिए। खाद्य-पदार्थोंकी क़ीमतें कम होनेसे जो बचत होगी, उसका व्यवहार औद्योगिक वस्तुओंके ख़रीदनेमें होगा। औद्योगिक अंचल लचकीला है। इसलिए सम्भव है, पिछड़े देशमें भी, औद्योगिक उत्पादन इस कारण बढ़े। पिछले दशकमें भारतके भीतर औद्योगिक क्षेत्रमें उत्पादन कृषि-क्षेत्रकी तुलनामें अधिक परिमाणमें बढ़ा है। इसलिए इस अंचलमें अल्पावधिमें भी उत्पादन बढ़ सकता है। औद्योगिक क्षेत्रमें उत्पादन बढ़नेसे बचतका परिमाण बढ़ सकता है। बढ़े औद्योगिक उत्पादनपर उत्पाद-शुल्क लगाना और बढ़ी आमदनीका संग्रह करना अधिक सरल होगा। यह बढ़ी आमदनी करों और स्वेच्छा बचत-द्वारा सरकार प्राप्त कर सकती है। अतः प्रयत्नपूर्वक कृषि-पैदावारकी क़ीमतें घटाने और अनाजको सस्ता करनेकी ज़रूरत है। परन्तु यह आवश्यक उपाय न बरत करके सरकारने अमेरिकासे इस वर्ष ५०-६० लाख टन अनाज आयात करनेका निश्चय किया है। क्या इससे किसानको कुछ अनाजकी पैदावार बढ़ानेके लिए प्रोत्साहन मिलेगा?

कृषि-क्षेत्रमें जिस प्रकार पैदावारको बढ़ानेके लिए किसी क़िस्मके प्रोत्साहनका अभाव है, उसी प्रकार औद्योगिक क्षेत्रमें भी अभाव है। कर बढ़ानेका कोई भी कारण नहीं था। जब संकल्पित ख़र्च भी व्यय नहीं किया जा सका, तब विकास और सुरक्षाके नामपर और धन माँगनेका समर्थन नहीं किया जा

सकता। देसाई-करोंसे आय आशासे अधिक १९६४में न होगी, क्या यह गारण्टी-के साथ कहा जा सकता है? १८१ करोड़ रु० का अनुमानित घाटा घटकर जब १३५ करोड़ रु० ही रह गया, तब क्या ४०.२७ करोड़ रु० के अतिरिक्त-कर लगानेकी आवश्यकता थी? पूँजीगत घाटेको प्रशासन-व्ययमें कमी करके कम किया जा सकता था। सरकार स्टेशनरी, डाक-व्यय, और रोशनी और मकान-किराया एवं भत्ता-व्ययमें ही भारी बचत कर सकती है। **केन्द्रीय मन्त्री तक यात्रा व भत्तों-द्वारा वर्ष-भरमें ५० हज़ार रु० तक अर्जन कर लेते हैं।**

कर-योजना उत्साहप्रद नहीं है। बाधित बचत योजना तो पहले ही हट चुकी थी। शेष रही-सहीका भी अन्त कर दिया गया है। **पर सम्पत्ति-करकी उन्मुक्ति मर्यादा २ लाखसे घटाकर १ लाख कर दी गयी हैं।** वित्तमन्त्री एक ओर तो यह नहीं चाहते कि लोग मकान खरीदनेमें अपनी बचत लगावें, दूसरी ओर उन्होंने कहा है कि सम्पत्ति-कर किस व्यक्तिपर किस मात्रामें लगाया जाये, इसका निश्चय उसके ही घरपर जाकर किया जायेगा। **इसका अर्थ है कि वित्तमन्त्री चाहते हैं कि लोग अपनी बचतका उपयोग घर बनाने या ख़रीदनेमें करें, और किरायेके घरोंमें न रहें। फलतः वे सारी बचत 'स्टाक एवं शेयर' में न लगायेंगे। किन्तु यह रियायत पूंजी लाभ-कर बढ़ाकर छीन ली गयी है।**

सुपर-टैक्सका स्थान सर-टैक्स (प्र० कर) ने लिया है। यदि सुपर-टैक्स आपत्तिजनक था, और वह सुव्यवस्था, सुप्रबन्ध एवं व्यवस्था कौशलपर कर था, तो सर-टैक्स भी उसी कारण आपत्तिजनक है। **मूल उद्योगोंको २० प्रतिशत रिबेट देनेकी बात उत्साहवर्द्धक है।** यह चतुर्थ नियोजन-कालमें भी जारी रहेगी, यह घोषणा करके वित्तमन्त्रीने वस्तुतः मूल उद्योगों (सीमेण्ट, इस्पात, एलुमीनियम, चाय, रबड़ आदि) को आवश्यक प्रोत्साहन दिया है। **कम्पनियों और शेयर-होल्डरोंको भी यह घोषणा करके रियायत दी गयी है कि स्रोतपर ३० प्रतिशतकी जगह २० प्रतिशत घटाया जायेगा।**

लेकिन लाभांशपर साढ़े सात प्रतिशत कर लगाकर दिया गया प्रोत्साहन छीन लिया गया है। लाभांशपर जब ७½ प्रतिशत कर लगेगा, तब मध्यमवर्ग या श्रीमन्त व सम्पन्नवर्ग शेयरोंमें पूँजी निक्षेप करनेका खतरा क्यों उठायेगा? **इसी प्रकार बोनस शेयरपर पूँजी लाभकर लगाकर हिस्सेदारोंके उत्साहपर पानी फेर दिया गया है।** इनके कारण करोंमें भारी वृद्धि होगी। शेयर बाज़ार-के प्रति जनतामें इस रीतिसे विश्वास उत्पन्न न होगा, जो कि वित्तमन्त्रीका एक

लक्ष्य और दावा है। चुकता पूँजीपर कम्पनीको अन्यून १० प्रतिशत लाभांश वितरण करनेकी छूट होनी चाहिए। वोनस शेयरपर पूँजी लाभकर लगानेका परिणाम यह होगा कि मुनाफ़ा, उद्योगोंकी स्थापना या वर्तमान उद्योगकी वृद्धिमें न लगेगा।

कर-अपवंचनको रोकनेके लिए वित्तमन्त्रीने पुलिस-अधिकार प्राप्त करनेका विचार किया है। सारे देशमें वे जाँच करनेकी व्यवस्था करेंगे। उद्योग, व्यवसाय और पेशेवाला व्यक्ति कोई भी इससे बचा न रहेगा। आयकर देनेवालों की सूची इस प्रकार बढ़ायी जायेगी। **सम्भव है इस रीतिसे आयकर देनेवालोंकी संख्या २०लाख हो जाये।** परन्तु इसके कारण आतंकका जो राज्य स्थापित होगा, उसमें और अधिनायक तन्त्रके राज्यमें क्या कोई अन्तर रहेगा?

१४ मूल उद्योगोंकी फर्मों और कम्पनियोंको रिबेट देनेकी उदारता दिखाना न केवल पूंजी-विनियोगके ढाँचेमें ही परिवर्तन करेगा, बल्कि नौकर-शाहीका भी बल बढ़ायेगा। क्योंकि उसको विभेदात्मक बर्ताव करनेका अधिकार इससे प्राप्त हो गया है। वित्तमन्त्री लाइसेंसों और नियोजन कमीशनकी विधियों-द्वारा नहीं प्रत्युत वित्तीय प्रोत्साहन देकर मनचाहे ढंगका औद्योगी-करण करना चाहते हैं। यहाँ उनकी महत्त्वाकांक्षाका रूप स्पष्ट है।

यह परिवर्त्तन अकारण और निरुद्देश्य नहीं है। प्रधान मन्त्रीके उत्तरा-धिकारी होनेका संघर्ष जारी है। १९६४-६५के बजट-द्वारा श्री टी० टी० कृष्णमाचारीने इस संघर्षपर दृष्टि रखी है। क़ीमतें घटानेके लिए मूल्य-नियंत्रण-पर भरोसा न कर वित्तीय उपायोंका सहारा लेनेकी बात भी इसी राजनीतिक उद्देश्यसे कही गयी है। आर्थिक विकेन्द्रीकरणके वास्ते कमीशन बिठानेकी घोषणा करके वित्तमन्त्रीने उसकी नियुक्तिसे पहले ही आर्थिक सत्ता और प्रभुताका अपनेमें केन्द्रीकरण कर लिया है। क्या यह परिवर्तन महत्त्वपूर्ण नहीं है?

●

मस्तिष्क भी विचित्र वस्तु है। पैदा होते ही यह काम करने लगता है और केवल तबतक काम करता है जबतककि आप जन-साधारणमें दो शब्द कहनेके लिए उठ खड़े नहीं होते।

टूटती तन्द्राओं में
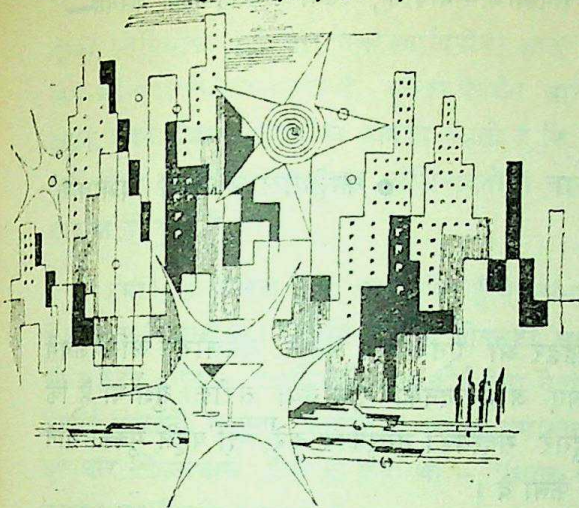
पद्मधर त्रिपाठी

सोया हुआ मौन कोलाहल है
अपने-अपने घरों में खोये
बेहोश लोगों का जमाव,
और तभी—
क्षितिजों के आर-पार
हज़ारों-हज़ार द्वार खुले :

नील जलधार में बहतीं
अनगिनत कमल पाँखुरियाँ दुग्ध-धवल
और यह सोनाभ चाँदनी
विनत होती रही
सब कहीं....सब कहीं....

....एक स्वप्निल झंकार-सा
विह्वल वातावरण !
अचानक टूटती तन्द्राओं में
मैंने जाना—
यह सब जो कुछ भी
देखा है
अनजाने, अकल्पित, अनायास
उपलब्धा है,
और इनके बीतने की
अवगुण्ठनावृत दर्द-व्यापी गन्ध को
सीमित सामर्थ्य की मजबूरियों में भी
अनुक्षण स्वीकारा है।

० ० ०

सह-चिन्तन

● कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

(१) नया अभिवादन

स्वतन्त्र पार्टीके अध्यक्ष विद्वद्वर श्री एन० जी० रंगाने बंगलौरके अधिवेशनमें स्वतन्त्र पार्टीके सदस्योंके लिए अभिवादनका एक नया तरीक़ा सुझाया है कि जब पार्टीका कोई सदस्य दूसरे सदस्यको नमस्कार करे, तो पहले मुक्का ताने और बादमें पाँचों उँगलियाँ फैला दे।

इस अभिवादनका चाहे जो अर्थ हो और वह अर्थ चाहे जितना महत्त्व-पूर्ण हो, पर एक बात स्पष्ट है कि यह सब उस विघटनात्मक प्रवृत्तिका ही एक प्रदर्शन है, जिसने देशका विभाजन कराया और जो अब भी बढ़-पनप ही रही है।

इस विघटनात्मक प्रवृत्तिका इतिहास बहुत पुराना है। पहले यह देश सम्प्रदायोंमें बँटा। इस बँटवारेका प्रदर्शन हुआ तिलकछापोंमें। शैव और तरहका तिलक लगायें, वैष्णव और तरहका और शाक्त और तरह का। फिर जातियोंमें बँटा और रोटी-बेटी अलग-अलग हुई कि रहन-सहन अलग हो गया। जिस क़स्बेमें मेरा जन्म हुआ उसमें कायस्थवाड़ा, जोशीवाड़ा, छीपी-

वाड़ा, चमारवाड़ा, भंगीवाड़ा और पठानपुरा नामके मुहल्ले थे।
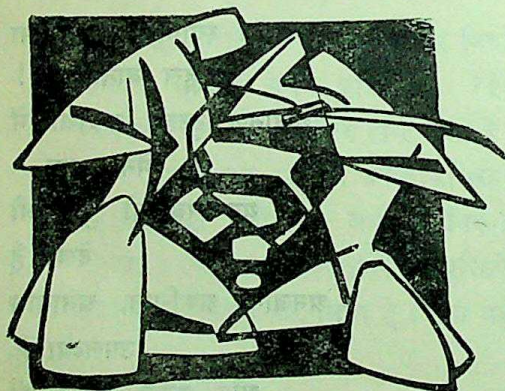
१९४७ में बँटवारेका आघात सहकर यह देश स्वतन्त्र हुआ, पर संघटनकी ओर नहीं, विघटनकी ओर ही बढ़ा और राष्ट्रीय वृत्ति छोटे-छोटे राजनैतिक दलोंमें बँट गयी। झण्डे तो इनके अलग होने ही थे, पर टोपियाँ भी अलग हो गयीं – राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघियोंकी काली, जनसंघियोंकी पीली, अकालियोंकी

नीली, लीगियोंकी हरी और समाजवादियोंकी लाल। प्रान्तीय भावनाका मानसिक बँटवारा कितना गहरा है, इसका प्रदर्शन प्रान्तोंके पुनर्गठनके समय ख़ूनी दंगोंके रूपमें हुआ। रंगाजीकी घोषणा कहती है कि सम्प्रदायों, जातियों, प्रान्तों, दलों और टोपियोंके बाद अब अभिवादनोंकी चारदीवारियोंका नया बँटवारा आरम्भ हो रहा है।

हमारे राजनैतिक नेता नाम लेते हैं एकता-संघटनका और काम करते हैं अनेकता-विघटन का। हमारे राष्ट्रीय जीवनकी सबसे बड़ी समस्या है नेताओं की खण्डित दृष्टि। गान्धीजीके बाद कोई ऐसा नेता नहीं रहा, जिसकी दृष्टिमें सम्पूर्ण भारतके, सम्पूर्ण प्रश्नोंका, सम्पूर्ण समाधान हो। आचार्य कृपलानीने एक बार लोकसभामें ठीक ही कहा था – "आज देशमें कोई नेता नहीं है।" सचमुच यह स्थिति भयावह है।

(२) एक और उदाहरण

फरवरीके 'ज्ञानोदय'में एक टिप्पणी छपी थी – 'सत्कर्म या क्रान्ति ?' इसमें एक प्रश्न उठाया गया था कि देशमें यत्र-तत्र सर्वोदयका जो कार्य हो रहा है, वह पानीकी प्याऊ बैठानेकी तरह ही एक सत्कर्म है या नयी समाज-व्यवस्था की स्थापनाके लिए क्रान्ति ? एक गहरे विश्लेषणके बाद कहा गया था— "पता नहीं सर्वोदयी नेता इस समस्याको किस दृष्टिसे देखते हैं और अपने मनमें उसका क्या समाधान पाते हैं ?"

मुझे प्रसन्नता है कि इस टिप्पणीकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई है और अनेक नेताओंके पत्र आये हैं। एक उच्च कोटिके नेता, जिनके हाथमें सर्वोदयी कार्यकी ऊँची ज़िम्मेदारियाँ हैं और जो युगसन्त विनोबाके निकट सम्पर्कमें हैं, लिखते हैं, "मध्यम मार्गी लोग (जिनके हाथमें आज शासनका नेतृत्व है) परिस्थितिको सुधारनेके लिए कोई कड़ा क़दम उठा सकेंगे ऐसा मुझे नहीं लगता। वे ख़ुद तो डूबेंगे ही, साथमें प्रजातन्त्रको भी ले डूबेंगे, ऐसा ख़तरा अवश्य है, पर सवाल यह है कि हमलोग क्या करें ? नयी समाज-व्यवस्था लानेके सम्बन्धमें जो लोग तीव्रतासे महसूस करते हैं, उनकी आज संगठित आवाज़ प्रायः नहीं है। मैं स्वयं मौजूदा सर्वोदय आन्दोलनके साथ सम्बद्ध हूँ। मैं यह भी मानता हूँ कि ग्राम-स्वराज्य अर्थात् नयी समाज-व्यवस्थाको हासिल करनेके लिए ग्रामदान एक उत्तम उपाय है, पर न मालूम क्यों सर्वोदय-कार्यकर्ता इस कार्यक्रमपर सातत्यसे

अमल नहीं कर रहे हैं। मन ज़रूर उद्विग्न है, ख़ासकर निकट भविष्यकी कल्पना करके।"

स्पष्ट है कि सर्वोदय-कार्यकर्ता श्रद्धाकी डोरमें बँधे चल रहे हैं और उनके सामने न स्पष्ट मार्ग है, न मनमें उज्ज्वल भविष्यका विश्वास ही!

(३) शिकायत क्यों?

इन भाईको शिकायत है कि नयी समाज-व्यवस्थाके लिए सबसे आवश्यक काम—ग्रामदान—की ओर सर्वोदयी कार्यकर्ता निरन्तर ध्यान नहीं देते। यह शिकायत कार्यकर्ताओंकी नहीं, असलमें नेताओंकी है; इसलिए कि नेताओंका कर्तव्य है कि वे यह सोचें कि कार्यकर्ता क्यों ध्यान नहीं देते और साथ ही ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करें कि कार्यकर्ता निरन्तर काम करनेके लिए उत्साहित हों। इसके विरुद्ध हो यह रहा है कि नेता ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर रहे हैं कि जिन कार्यकर्ताओंमें इस कामके लिए दिलचस्पी है, वे भी दिलचस्पी न लें।

इसे हम समझें—युगसन्त विनोबाकी प्रेरणासे इस देशमें गत १२ वर्षोंसे ग्रामदान हो रहे हैं और सारे संसारके लिए यह एक अद्भुत समाचार है कि विनोबाजीको अभीतक चार हज़ारसे ज्यादा गाँव दानमें मिल चुके हैं। ग्रामदानका अर्थ होता है कि गाँवकी ज़मीनके सब मालिक अपनी-अपनी मिल्कियत ज़मीनपरसे हटा लेते हैं और इस तरह पूरे गाँवकी पूरी ज़मीन कुछ लोगोंकी नहीं, सबकी हो जाती है। कहें, यह व्यक्तिका समष्टिके प्रति सर्वस्व-समर्पण है; क्योंकि ग्रामदानका परिणाम यह होता है कि गाँवमें कुछ लोग ज़मीनवाले और कुछ बे-ज़मीनवाले नहीं रहते; सब ज़मीनवाले हो जाते हैं।

यह बहुत बड़ी बात है कि बिना किसी झगड़े-आन्दोलनके गाँवकी विषमता नष्ट हो जाये और समता स्थापित हो—जो ज़मीन कुछ थोड़े-से आदमियोंकी है, वह सबकी हो जाये; पर ग्रामदानसे नेतृत्वके निकम्मेपनके कारण हुआ यह है कि व्यवस्थित रूपसे जो ज़मीन कुछकी थी, वह अव्यवस्थित रूपसे सबकी हो गयी, यानी किसीकी नहीं रही – लावारिस हो गयी!

सजीव-सतर्क नेतृत्वका तकाज़ा था कि ग्रामदानके साथ ही यह व्यवस्था भी होती कि उन दान किये ग्रामोंकी व्यवस्था इतनी उत्तम हो कि वे दूसरे ग्रामोंके लिए आदर्श बन जायें, पर हुआ यह कि अब दस वर्ष बाद भारत-सरकार दान किये ग्रामोंकी व्यवस्थाका नया क़ानून बना रही है, जो अभी एक सालमें

तैयार होगा और उन ग्रामोंके पुनर्निर्माणके लिए एक करोड़ रुपयेका प्रबन्ध कर रही है, जो ऊँटके मुँहमें ज़ीरा सिद्ध होगा ! यदि समयपर इधर उचित ध्यान दिया गया होता, तो अन्नोत्पादनकी समस्याका समाधान भी मिलता और समाजवादकी स्थापनाका नारा भी उपग्रहसे उपवन बन जाता।

नेताओंको—वे विनोबाजी जैसे हों या नेहरू जी जैसे—यह शिकायत है कि कार्यकर्ता—वे स्वयंसेवक हों या अफ़सर—पूरा काम नहीं करते; पर मैं सोचता हूँ आदर्शहीनताकी इस स्थितिमें वे इतना काम भी कैसे करते हैं ? क्यों करते हैं ?

एक और उदाहरण लें—बीस भयंकर डाकुओंने विनोबाजीके सामने आत्मसमर्पण किया। वे बरसों जेलमें सड़ते रहे और शान्ति-समितिके स्वयंसेवक दूसरे डाकुओंसे आत्मसमर्पणकी बात कहते रहे, पर किसीने उसकी नहीं सुनी। प्रश्न यह है कि क्या जेलोंमें सड़नेके लिए डाकू आत्मसमर्पण करें ? यानी डाकू तो वे हैं ही, पर पराजित डाकू भी बन जायें ? कितनी भोली आशा है यह।

वही बात कि देशकी जनता खण्डितदृष्टि नेतृत्वसे त्रस्त है और देश बाहरसे बनते हुए भीतरसे ध्वस्त हो रहा है। गान्धीजीके बाद कोई ऐसा नेता नहीं रहा, जिसकी दृष्टिमें सम्पूर्ण भारतके सम्पूर्ण प्रश्नोंका, सम्पूर्ण समाधान हो। क्या नेता समय रहते इधर ध्यान देंगे ?

(४) वे रपट पड़े

तीन महीनेमें पाँच प्रख्यात पुरुष अपने स्नानागारोंमें रपट पड़े और गहरी चोट खा गये। रपटे तो बहुत-से होंगे, पर प्रख्यात मनुष्यकी हर बातको ख्याति मिलती है, इसलिए पत्रोंमें पाँच ही ख़बरें छपीं।

क्या ये साधारण ख़बरें हैं या इनमें सोचने-सीखने लायक़ भी कुछ है ? मेरा ख़याल है कि ये ख़ास ख़बरें हैं और इनमें सोचने-सीखने लायक़ बहुत-कुछ है। पहले ऊपर-ऊपर देखें, फिर गहराईमें उतरें।

देशके 'बड़े आदमियों'में विदेशके शानदार होटलोंके चमकीले स्नानागारोंको देखने-बरतनेके बाद यह प्रवृत्ति पैदा हुई है कि वे भी अपने स्नानागारोंके फ़र्श अपने सोने-बैठनेके कमरोंसे भी ज्यादा चिकने बनवायें। भूल यह है कि वे यह भूल गये हैं कि हर चमकनेवाली चीज़ हीरा नहीं होती और एक ही पुर्ज़ा हर मशीनमें फ़िट नहीं होता ! विदेशोंकी स्नान-पद्धति और हमारी

स्नान-पद्धतिमें अन्तर है। वहाँ टबमें बैठकर स्नान करते हैं, हमारे यहाँ लोटेसे हर गंगे होती है। उनके यहाँ दस ग्रादमियोंके नहानेके बाद भी स्नानागार सूखा रहता है और हमारे यहाँ एक बालकके नहानेपर भी वह चारों ग्रोर भीग जाता है।

दूसरी श्रेणीके लोगोंमें स्नानागारोंके फ़र्शका ढलान ठीक नहीं रहता या फिर स्नानके बाद पानी सूँतनेकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता। दोनों हालतोंमें हलकी काई जम जाती है और हड्डियाँ तोड़ती है—जबतब जिम्नास्टिक कराती है। कभी किसीका ध्यान उधर जाता भी है, तो उस काईको ईंटसे रगड़ दिया जाता है, पर इससे वह कम हो जाती है, नष्ट नहीं होती। काई साफ़ करनेका सर्वोत्तम तरीक़ा यह है कि रातमें खूब पानी सूँतकर उसपर कली-चूना ग्रच्छी तरह छिड़क दें ग्रौर सुबह कोंचें या खुरपेसे उसे खुरच दें। बाल उड़ानेके साबुनसे जैसे निर्जीव होकर बाल उतर जाते हैं, वैसे ही कली-चूनेसे काई उतर जाती है।

गहराईमें उतरें, तो देखें कि हमने कुछको उच्च ग्रौर कुछको हीन माननेकी आदत डाल ली है। हमारी नज़रमें कुछ लोग ऊँचे हैं, कुछ नीचे; कुछ काम ऊँचे हैं, कुछ नीचे। ऐसे ही शयनकक्ष, बैठक आदिके प्रति हमारे मनमें ऊँचा भाव है और स्नानागार-शौचालयके प्रति नीचा भाव है। इन्हें हम गन्दा करने रोज़ जाते हैं, पर स्वच्छ करने कभी नहीं। शौचालयोंके सही उपयोगपर तो अभी हमने सोचा भी नहीं; क्योंकि यह बात अभी हमने समझी ही नहीं कि पानीमें भीगा हुआ पाख़ाना कूड़ा है और सूखा पाख़ाना हीरा-मोती। परिणाम-स्वरूप करोड़ों रुपयेका खाद हम ख़राब करते हैं।

और भी गहराईमें हम उतरे, तो एक जीवनसूत्र मिलता है—हम देखकर चलें, पैर जमाकर चलें, क्योंकि ऐसा न करनेसे पैर फिसल जाता है, हम गिर पड़ते हैं—हमारा पतन हो जाता है। हम रातमें—कल्पनामें—तारोंका आनन्द लें; 'शुभ्रज्योत्स्नां पुलकित यामिनीम्' गायें पर दिनमें—जीवनमें—धरतीको, यथार्थको न भूलें, 'बहुबल धारिणीम् रिपुदल वारिणीम्, तारिणीम्'का भी ध्यान करें। हम आदर्शके आकाशमें भरपूर उड़ें, पर वास्तविकताको न भूलें। स्नानागारोंमें टूटी प्रख्यात पुरुषोंकी ख्याति-प्राप्त हड्डियाँ कहती हैं—जीवनकी प्रतिष्ठा इसमें है कि हमारा पाँव जमा हुआ हो, अडिग हो, जो न चिकनाईपर रपटे, न चतुराईपर; फिर वह व्यक्तिका पैर हो या राष्ट्रका। आवश्यक है कि हम इन हड्डियोंकी बात सुनें।

० ० ०

आतिशबाज़ीकी चकाचौंध और अँधेरेसे जूझते मुक्तिबोध

०

मनमोहन मदारिया

०

परिचयके ये शब्द—साहित्यकारकी शक्ति एवं कमज़ोरियोंकी रेखा-छवियाँ—उसे हमारे इतने निकट ले आयी हैं कि हम उसके आन्तरिक और बाह्य सभी रूपोंको देख-पहचान लें।

०

दफ्तरके प्रवेश-द्वारपर ही एक विशालकाय बरगदका वृक्ष है। सुबह-शाम आते-जाते रोज़ ही उसे देखता हूँ और अनायास मुक्तिबोधकी कविताओं-का ख़याल हो आता है—लम्बी-लम्बी बौद्धिक कविताएँ, रूखी! मुक्तिबोध-की कविताएँ यानी कवि मुक्तिबोध! ऐसे कम ही व्यक्ति होंगे जिनका कृतित्व और व्यक्तित्व इतना एकरूप हो गया हो। इसकी वजह शायद यह है कि मुक्तिबोध ख़ालिस कवि हैं—इसके अलावा कुछ नहीं। गृहस्थी जरूर जुट गयी है और जीवन-यापनके लिए नौकरियाँ भी करते रहे हैं लेकिन न उनका मन इनके लिए कभी प्रस्तुत हुआ और न उन्होंने इन्हें कभी स्वीकार किया। यह बरगदका वृक्ष आखिर बरगदका वृक्ष ही है, इसे गमलोंमें रोपनेकी चेष्टा की जायेगी तो स्वाभाविक है कि या तो गमले दरक जायेंगे या बरगदकी जड़ टूट जायेगी। मुक्तिबोधने कई नौक-रियाँ छोड़ीं, कई स्थान बदले! इस बरगदके लिए हर गमला फ़िज़ूल साबित हुआ!

पिछले आठ-नौ वर्षोंसे राजनाँदगाँव-जैसे क़स्बा-नुमा शहरमें पता नहीं कैसे वह टिके रहे, एक छोटे-से कालेजके व्याख्याताके पदपर? मुझे आश्चर्य है। जो लोग उन्हें जानते हैं, उन्हें आश्चर्य है! सोचने लगे थे लोग कि मुक्तिबोधने शायद 'एडजस्ट' करना सीख लिया है कि जहाँ कोई बौद्धिक

सर्कल नहीं, वहाँ वह टिके हैं। लेकिन यह भ्रम था लोगोंका। मुक्तिबोध अस्वस्थ हैं और यह स्पष्ट है कि वहाँ भी वह अपनेको 'एडजस्ट' नहीं कर सके हैं। इस गमलेने बरगदकी जड़ोंको हिला दिया है और मुझ-जैसे लोग जो उस बरगदकी छाँहका सुख भोगते रहे हैं, चिन्तित हैं। चिन्तित हैं और दुखी हैं—दुःख इस बातका कि ज़मानेने उसे कैक्टसकी टहनी समझकर किसी गमलेमें मढ़ना चाहा जब कि ज़मानेसे जूझते बरगदकी जड़ें ही आखिर हिल गयीं। वह अपनी ज़मीन-पर ठीक तरह पल्लवित भी न हो पाया है और यह आघात! कैसी विडम्बना है—

जिसकी गणना हिन्दीके आजके शीर्षस्थ कवियोंमें की जाती हो, जिसकी कृतिके बिना कोई महत्त्वपूर्ण साहित्य-संकलन अधूरा हो, उसका एक काव्य-संकलन तक प्रकाशित नहीं।* 'धर्मयुग'में अजितकुमारने लिखा है, मुक्तिबोधको शायद कोई हिचक रही है जो उन्होंने अपना काव्य-संग्रह प्रकाशित नहीं कराया। मैं उन्हें बताऊँ कि मुक्तिबोध उत्सुक अवश्य रहे हैं अपने काव्य-संकलनके प्रकाशनके लिए लेकिन इसके लिए अपनी जेबसे पैसा लगाना या किसी प्रकाशकसे साँठ-गाँठ करना उनसे कभी न हो सका। इस बरगदका यही तो ऐब है कि वह झुकना नहीं जानता! मुक्तिबोध दुनियाई अर्थोंमें असफल हैं क्योंकि ईमानदार हैं, व्यावहारिक नहीं। व्यावहारिकता, जो आज ईमानदारी-का उलटा और चतुराईका पर्याय हो गयी है, किसी भी तरहकी सफ-लताके लिए पहली शर्त है।

> **किसी कामको स्फूर्तिके साथ करनेका सरल तरीक़ा यह है कि उसके लिए समय निश्चित कर दिया जाये। यहाँ तक कि वर्ग-पहेली भरते समय भी आप यह निश्चय कर सकते हैं कि उसे बीस मिनटमें ही भरना है।**
>
> **यह सच नहीं कि स्फूर्त्तिके साथ काम करनेमें ग़लतियाँ होती हैं। ग़लती धीमे और बोदे मस्तिष्कके कारण ही हुआ करती है। शीघ्रतासे काम करनेकी प्रणाली मस्तिष्कको तीक्ष्ण बनाती है – इससे काम अधिक मनो-रंजक भी प्रतीत होता है।**
>
> —हरबर्ट एन० कैसन

एक अरसा हुआ, शायद सन् '५२ या '५३की बात है। नागपुर आकाशवाणी-द्वारा आयोजित कवि-सम्मेलनमें दो-चार कवियोंके कविता-पाठके बाद एक अत्यन्त साधारण, क्लर्क या मास्टर-सा दीखनेवाला मटमैले रंगका व्यक्ति उठा, कविता पढ़ने और बहुत सादे लहजेसे कविता सुनाने लगा। उसका स्वर न तो सुरीला था और न ऊँचा, प्रखर। उसके व्यक्तित्वमें वैसा कोई गुण न था जिसकी वजह औसत कवि अक्सर मैदान जीत

*मुक्तिबोधजीका काव्य-संकलन 'सहज स्वीकारा है' शीर्षकसे और विभिन्न विधाओंमें लिखी गद्य-रचनाओंका संकलन 'एक साहित्यककी डायरी' शीर्षकसे भारतीय ज्ञानपीठ-द्वारा प्रकाशित हो रहा है। दोनों संकलन दिल्लीके कतिपय साहित्यिक बन्धु नियोजित कर रहे हैं।

लेते हैं। उस साधारणसे व्यक्तिकी काव्य-प्रतिभाके बारेमें स्वाभाविक ही श्रोता सन्दिग्ध थे, लेकिन उसके मुखसे चन्द पंक्तियाँ 'एक जनसाधारणका टूटा-फूटा फाउण्टेनपेन चल रहा, जैसे हिमालय गल-गलकर जन-गंगामें पिघल रहा…' सुनते ही मुग्ध हो गये। उस कवि-सम्मेलनमें पचीसों कविताएँ पढ़ी गयीं लेकिन इस ऊँचाईकी दूसरी नहीं। दूसरे दिन एक अखबारमें उस कवि-सम्मेलनकी खबर छपी तो उसमें उस कविताके लिए कहा गया कि हिन्दीमें तो क्या, विश्व-साहित्यमें उस स्तरकी विरली ही कविता होगी। यह कोरी प्रशस्ति नहीं, हक़ीक़त थी। यों, उस कविताके द्वारा ही मुक्तिबोधसे परिचित हुआ और कहना चाहिए सही ढंगसे परिचित हुआ।

मुक्तिबोध अपनी बौद्धिक ऊँचाईके बावजूद सदा साधारण ढंगसे रहे हैं—भीड़में जन-सामान्यकी तरह। पन्त या इलाचन्द्र जोशीकी तरह बाल नहीं बढ़ाये; अज्ञेय या देवेन्द्र सत्यार्थीकी तरह दाढ़ी नहीं रखी; तथाकथित साहित्यिक अन्दाज़का कभी कोई ख़ास लिबास नहीं पहना। सदा सहज रहे—जन-सामान्य। मटमैले रंगकी पैण्ट और धारीदार पूरे आस्तीनकी शर्ट पहने, सिगरेट फूंकते नागपुरकी किसी भी सड़कपर तेज़ीसे क़दम भरते वह कहीं भी दिख जाते और ज़रा आग्रह करनेपर किसी भी होटलमें चाय पीनेके लिए तैयार हो जाते। चायका प्रलोभन उनसे छूटता नहीं है और यार लोग हैं जो उन्हें एक कप चायकी 'फ़ीस' देकर अपनी 'थीसिस'-की रूपरेखा तैयार करा लेते हैं। स्ट्रांग चाय-की प्यालीसे 'सिप' लेते हुए मुक्तिबोध जब बातें करने लगते हैं तो उनका असाधारणत्व मुखर हो उठता है। सामान्यतः हिन्दीके साहित्यिकोंका ज्ञान साहित्य तक ही सीमित रहता है जब कि मुक्तिबोधसे आप राजनीति, अर्थशास्त्र, विज्ञान, इतिहास आदि किसी भी विषयपर बातें कर सकते हैं; और सभी विषयोंपर उनका समान अधिकार देखकर चकित रह जाना पड़ता है। कितने बहुश्रुत हैं वह! वह असाधारण जन-साधारण…

इस 'असाधारण जन-साधारण' को हम मित्र लोग 'महागुरु' कहते हैं, आदरसे नहीं, प्यारसे! सन्' ५६तक, राज्योंके पुनर्गठन होते तक, मेरा उनसे सम्पर्क रहा। अपने साहित्यिक जीवनके प्रारम्भ कालमें मुक्तिबोध-का जो साथ मिला, उसे मैं अपना सौभाग्य ही मानता हूँ। ऊपरसे रूखा और निर्लिप्त दिखनेवाला बरगद भीतर बहुत आर्द्र और हरा होता है। मुक्तिबोध पहली नज़रमें भले ही रूखे, कामकाजी और निर्लिप्त दिखें लेकिन परिचय बढ़नेपर सहज ही एहसास हो जाता है कि वह एक सरस, स्नेहिल और हितैषी व्यक्ति हैं। वैसे, कम ही लोग होते हैं जो धैर्य रख किसी व्यक्तिको ठीक तरह समझनेकी चेष्टा करते हैं। यही कारण है कि नागपुरमें उन दिनों मुक्तिबोधके बारेमें हज़ार तरहकी बातें सुनी जाती थीं :

—वह मग़रूर और दम्भी है। ठीक तरह बात करना तो दूर रहा, 'विश' तक नहीं करता।

—जी, बेईमान आदमी है। मेरी किताब

जाने कबसे दबाये बैठा है।

–सुनते हैं, बड़ा साहित्यिक है। अमुकके अभिनन्दन-समारोहमें बुलाया था, हम आग्रह करते रहे लेकिन एक शब्द तक नहीं बोला वह वहाँ।

–हमने रचना पढ़नेको दी और पता नहीं, उसने कहाँ पाण्डुलिपि गुमा दी ?

और-तो-और, कार्यालयमें मुक्तिबोधके सामने जो पण्डिज्जी बैठते, उन्हें भी मुक्तिबोधसे शिकायत थी कि हम तो अपने सभी दोस्तोंसे उन्हें मिला देते हैं लेकिन ये अपने दोस्तोंसे हमें नहीं मिलाते। क्या जवाब देते, किस-किसको ? क्या उनके सहकर्मी वह पण्डिज्जी यह नहीं समझ पाते थे कि मुक्तिबोध अपने दोस्तोंको बोरियतसे बचानेके लिए ही उनसे नहीं मिलाते हैं ? यदि लोग इतनी मोटी-सी बात भी समझ नहीं पाते तो मुक्तिबोधका क्या दोष ?

लोगोंकी अपनी पीड़ा थी कि मुक्तिबोधका व्यक्तित्व आर्टपेपर नहीं है जिसे मोड़कर जेबमें रख लें। उनपर वे गुरुडम नहीं चला पाते थे लेकिन मज़ा यह कि उलटे मुक्तिबोधपर आरोप करते दादागिरीका। जिन्होंने मुक्तिबोधको ज़रा भी समझनेकी कोशिश की है, वे जानते हैं, यह आरोप कितना मिथ्या है। मुक्तिबोध हर तरहके ढोंग, आडम्बर और कृत्रिम जीवनसे सख्त नफ़रत करते हैं। वह महागुरु अवश्य हो सकते हैं लेकिन गुरुडम नहीं कर सकते। एक वाक़या याद आता है। नागपुरकी तेज चिलचिलाती धूपकी एक गर्म दोपहरमें वह महलके तिलक स्टैच्यूके निकट पैदल जाते हुए दिख गये। उनपर नज़र पड़ी तो मैंने साइकिल रोक ली। मालूम हुआ, वह सचिवालय जा रहे हैं, अपने दफ़्तर। मुझे भी वहीं जाना था। कहा, "महागुरु, बैठिए, डबल-सवारी चलें।" वह डबल-सवारी के लिए तैयार तो हुए लेकिन एक शर्तपर कि साइकिल वह चलायेंगे। मैं उन दिनों नौजवान था, ख़ूब स्वस्थ, वह कृश-काय थे। मैंने कहा, "महागुरु, आप तो पीछे बैठो। साइकिल आप क्या चलाओगे, मेरी गाड़ी है, इसे मैं ही चला सकता हूँ।"

पर वह इस तरह तैयार न हुए। आखिर यह तय रहा कि आधी दूर मैं साइकिल चलाऊँ, आधी दूर वह। (निपट समाजवादी समझौता !) इस समझौतेके अनुसार मैं साइकिल चलाने लगा और वह पीछे बैठ गये। हम लोग बातें करने लगे, ज़माने-भरकी बातें। साहित्य और राजनीतिकी बातें। प्रेमचन्दकी भाषा, शीत युद्ध, अज्ञेयका जीवन-दर्शन, मुद्रा-स्फीति, दादा कामरेड, नेहरूकी नयी घोषणा····मैं जान-बूझकर उलझाये था उन्हें बातोंमें कि शर्त याद न रहे। लेकिन बर्डीका चौराहा आया नहीं कि महागुरु साइकिलसे उतर पड़े और बोले, "अब तुम पीछे बैठो, मैं साइकिल चलाऊँगा।"

सामने टेकड़ीकी चढ़ान थी और महागुरुने साइकिल अपने क़ब्ज़ेमें कर ली थी। मैं हतप्रभ ! तर्क करना चाहता था लेकिन वह भला क्यों सुनने लगे ? आखिर मुझे पीछे बैठना पड़ा। पैडल मारते हुए महागुरुने वार्त्तालापका टूटा क्रम फिर जोड़ लिया और

साहित्य-चर्चा होने लगी। साइकिलपर डबल-सवारी हज़ारों दफ़े की है लेकिन उस डबल-सवारीका आनन्द ही निराला था, अविस्मरणीय आनन्द। सोचता हूँ, जो व्यक्ति किसीका थोड़ा श्रम भी शोषित नहीं कर सकता, वह दादागिरी क्या ख़ाक करेगा ?

दादागिरीकी बात तो छोड़िए, जहाँतक मैं जानता हूँ जब वह नागपुरमें सूचना-विभाग और आकाशवाणीकी सेवाओंमें रहे, उनके लिए मुक्त होकर साँस लेना गुनाह था। कतिपय विघ्न-सन्तोषी व्यक्ति उनके पीछे पड़े रहते और उनकी सामान्य-सी गतिविधियोंमें राजनीतिक षड्यन्त्र सूँघ लेते।

आख़िर मुक्तिबोधको सूचना-विभाग छोड़ देना पड़ा और डॉ० प्रभाकर माचवेके प्रयत्नसे उन्हें रेडियोंपर समाचार-विभागमें काम मिल गया।

रेडियोंकी नौकरीमें थोड़ा अच्छा वेतन था। मुक्तिबोध पुराने नागपुरकी एक चक्कर-दार गलीके कच्चे मकानको छोड़कर जुम्मा तालाबके पास एक अच्छे मकानमें आ गये। इन दिनों वह कोट पहनने लगे थे। लेकिन, एक दिन सुना, उन्होंने आकाशवाणीसे त्याग-पत्र दे दिया है। सीढ़ीपर चढ़े थे लेकिन साँपके मुँहमें आकर फिर सड़कपर पहुँच गये। मुक्तिबोधकी ज़िन्दगीमें 'सीढ़ी और साँप' का यह खेल अक्सर ही होता रहा है।

अन्तिम बार जब वह इन्दौरमें मिले थे तब सर्वग्रासी साँपके मुँह यानी 'नया ख़ून' की सम्पादकी छोड़कर आये थे और जीनेके के लिए किसी सीढ़ीकी तलाशमें थे। इन्दौरमें उन्होंने कालेजकी शिक्षा पायी थी, उज्जैनमें मास्टरी की थी और स्वाभाविक ही उन्हें शबे-मालवासे मोह है। उनके कुछ घनिष्ठ सम्बन्धी मालवामें ही हैं। वह चाहते थे, इन्दौर या आसपास कहीं कोई सिलसिला जम जाये तो वह यहीं बस जायें परिवार-सहित। महात्मा गान्धी रोडपर ओवर-ब्रिज-से चन्द्रभागा नदीके पुल तक हम साथ-साथ चहलक़दमी करते रहे थे, लगभग दो-तीन घण्टे। महागुरु बातें करते हुए जैसे खो गये थे गुज़रे हुए ज़मानेकी यादोंमें। बता रहे थे कि उन दिनों जब वह यहाँ पढ़ते थे तब इन्दौर कैसा था, कहाँ रहते थे, कहाँ घूमते थे। मालवाकी मादक हवाने सच ही उस समय उन्हें बहका दिया था। पहली बार मुझे इस बौद्धिक कविकी मर्म-स्पर्शी भावुकताका ज्ञान हुआ और तब लगा कि ज़मानेने उसे निर्वासित कर कितना बड़ा दण्ड दिया है! यह दण्ड उन्हें आगे भी भुगतना था—सो मालवामें कहीं कोई डौल न जमा और आख़िर छत्तीसगढ़के एक क़स्बेमें उन्होंने नये सिरेसे घर-गृहस्थी बसायी।

यों, मुक्तिबोधके जीवनमें संघर्षका अटूट सिलसिला है और मुक्तिबोध एक योद्धाकी तरह अपने विश्वासोंपर अडिग रहकर सारे संघर्षोंसे जूझते रहे हैं। उन्होंने अपनी ओरसे कहीं कोताही नहीं की, हर सम्भव प्रयत्न किये। 'तार सप्तक' के कविके रूपमें ख्याति प्राप्त कर लेनेके बावजूद नये छोकरोंके साथ हिन्दीमें एम० ए० का इम्तहान दिया। उन्हें द्वितीय श्रेणी मिली

तो मैंने कहा, "महागुरु, आपको तो प्रथम श्रेणी मिलनी चाहिए थी !"

वह हँसे; बोले, "ग़नीमत समझो जो पास हो गया ।"

बादमें मित्रोंसे मालूम हुआ कि उन्होंने जिस तरह प्रश्न-पत्रोंके उत्तर लिखे थे, उससे तो आशा यही थी कि कोई परीक्षक उन्हें पास करनेकी धृष्टता नहीं करेगा । उन्होंने प्रश्न-पत्रोंके जवाब क्या लिखे थे, प्रश्नोंकी त्रुटियाँ और बेतुकापन बतलाया था । किसी प्रश्नके जवाबमें पूरी कॉपी रंग डाली थी तो किसी प्रश्नके जवाबके नामपर कोरा पृष्ठ छोड़ दिया था । इस स्थितिमें उनका द्वितीय श्रेणीमें उत्तीर्ण हो जाना यक़ीनन आश्चर्य-की बात थी । एम० ए० में दूसरी श्रेणी मिलनेसे उन्हें कोई लाभ न हुआ क्योंकि अच्छे कालेजमें प्राध्यापक बननेके लिए तो प्रथम श्रेणी या अनुभव चाहिए था ।

उन्होंने एक और प्रयत्न किया--कोर्स-बुक लिखकर पैसा कमानेका । एक मित्र-प्रकाशक तैयार हो गये उनसे किताब लिखाने-के लिए । मुक्तिबोधने अपने ढंगसे पुस्तक लिखी । प्रकाशकने पाण्डुलिपि देखी तो उनके देवता ही कूच कर गये, पाँच-दस सेर वज़नकी पाण्डुलिपि । हरिशंकर पर-साईने उसका सम्पादन किया, उसे काँटा-छाँटा और वह प्रकाशित हुई । संयोगकी बात कि उसे टेक्स्ट-बुक कमेटीने मंजूर भी कर लिया । मुक्तिवोध एक बार फिर सीढ़ी-पर नज़र आये । लगा कि महागुरु अब लाख-दो लाखके आसामी बनते हैं । आज एक किताब कोर्समें हुई है तो कल दस-पाँच किताबें और होंगी !

मगर वाह रे साँप !—मुक्तिबोध अभी बधाईयोंके पत्र बाँच ही रहे थे कि भाई लोगोंने पुस्तक कोर्ससे निकलवा दी । लेखक कह रहा है कि पुस्तकके जिन अंशोंपर आपत्ति है, वह तो राष्ट्रपति डॉक्टर राधा-कृष्णनके शब्द हैं, पट्टाभि सीतारामैयाके शब्द हैं मगर भीड़के आगे व्यक्तिकी आवाज़को कौन सुने ? प्रजातन्त्रकी यही तो नियति है। मुक्तिबोधकी इस पुस्तकका नाम है—'भारत: इतिहास और संस्कृति' ।

उपलब्धिके नामपर आज मुक्तिबोधकी एक ही पुस्तक प्रकाशित है,' कामायनी, एक पुनर्विचार' । विद्वानों और साहित्य-मर्मज्ञोंने आलोचना-क्षेत्रमें इसे एक अपूर्व मौलिक योगदान स्वीकार किया है । इसके प्रकाशन-की कहानी भी रोचक है । इसकी पाण्डुलिपि बारह-तेरह वर्ष पूर्व तैयार हुई थी और तभी एक प्रकाशकने प्रकाशनके लिए स्वीकार कर ली थी । उसने चार-छह फ़र्मे कम्पोज भी करा लिये लेकिन जब किसीने बताया कि अरे, क्या छाप रहे हो, यह 'कामायनी' की कुंजी थोड़े ही है तो उसने उसका मुद्रण वहीं रोक दिया । आठ-दस साल वह पाण्डु-लिपि वैसी ही पड़ी रही । अब जाकर किसी मित्रने (जो शायद पेशेवर प्रकाशक नहीं हैं) उसे छापा है, पर चूँकि वह कुंजी या गाइड नहीं है, उसकी बिक्री नगण्य है । मुक्तिबोधके लिए हर सीढ़ी यूँ धोखा ही साबित हुई है लेकिन इन धोखोंमें हमारे समाजकी कुरूपता

ही उजागर हुई है मुक्तिबोध तो अपनी ऊँचाईपर हैं ।

मुक्तिबोध अपनी ऊँचाईपर हैं और अब तक कोई प्रतिष्ठित पद या सम्मान नहीं पा सके हैं । वैसे, हिन्दीके नवलेखनको मुक्तिबोध-से जो बल मिला है, उसका मूल्य आँका नहीं जा सकता । वह सदा नौजवान रहे हैं और युवा नये लेखकोंको हार्दिक मित्र-भावसे दिशा-निर्देश करते रहे हैं । जिन दिनों वह नागपुरमें थे, उन दिनों उनके इर्द-गिर्द समर्थ युवा लेखकोंका एक वर्ग तैयार हो गया था जिसमें रामकृष्ण श्रीवास्तव, अनिलकुमार, शैल, कृष्णकिशोर श्रीवास्तव, विद्रोही, प्रमोद वर्मा, दामोदर सदन आदि थे । यह मुक्तिबोध ही हैं कि स्वर्गीय सतीश चौबे की 'नये स्वर' में कविताएँ पढ़ीं तो उसे सीने-से लगा लिया और बोले, "तुममें शमशेरके सारे अच्छे गुण हैं ! श्रीकान्त वर्माने साहित्य-संकलन 'नयी दिशा' निकाली तो मुक्तिबोधने उसमें लेख, कविता, सम्पादकीय सभी कुछ लिखा—एक सक्रिय परामर्शदाताकी तरह ।

नागपुरमें उन दिनों डॉ० प्रभाकर माचवे और श्री नरेश मेहता थे । 'तार सप्तक' के इन तीन नक्षत्रोंकी वजहसे नागपुरमें जो साहित्यिक वातावरण था, वह भुलाया नहीं जा सकता । लगभग हर साँझ दफ्तरसे मुक्त होते ही श्री नरेश मेहता तेज़ीसे साइकिल चलाते हुए शुक्रवारी पहुँचते, मुक्तिबोधके घर, और उनकी बैठक जुम्मा तालाबकी सीढ़ियों-पर जमती । वहाँ स्थानीय नवयुवक साहि-त्यिक भी आ बैठते और किसीने नया कुछ लिखा होता तो वह निस्संकोच वहाँ सुनाता । उस गोष्ठीमें कोई निषेध नहीं था,—गद्य, पद्य, कुछ भी सुनाया जा सकता था । मुक्तिबोध बहुत ध्यानसे सुनते और जो भी राय देते, मार्केकी होती । उनकी राय निर्मम होती, भले ही सुननेवाला उसे सहन न कर पाता । मुझे याद आता है, शिवकुमार श्रीवास्तवकी बहुत लोकप्रिय कविता 'पूर्व और पश्चिम' को, जिसमें पूर्वके मुक़ाबले पश्चिमको घटिया साबित किया गया था, जब मुक्तिबोधने सुनी तो कहा, "इसमें भावुकताका अतिरेक है । आज पश्चिम हर अर्थमें पूर्वसे श्रेष्ठ है । ऐसी झूठी कविता लिखनेसे क्या लाभ ?"

मुक्तिबोधकी टीकाएँ कटु होतीं लेकिन इन दो टूक रायोंसे कितने ही नवयुवक लेखक दिग्भ्रमित होनेसे बचे हैं । गजानन मुक्तिबोधके छोटे भाई शरच्चन्द्र मुक्तिबोध (जो मराठीके प्रतिष्ठित कवि हैं) मेरे साथ ही काम करते थे । गजानन प्रायः हर दोपहरको शरच्चन्द्रसे मिलने आते और उन्हीं दिनों मुझे इन साहि-त्यकार भ्रातृ-द्वयका अन्तरंग परिचय मिला ।

शमशेरके काव्यकी तरह कुछ लोग मुक्ति-बोधके काव्यको भी दुर्बोध कहते हैं । यह ठीक है कि उनके काव्यमें यत्र-तत्र कुछ जटि-लता हो लेकिन साथ ही यह भी सच है कि पूरी तन्मयतासे मुक्तिबोधके काव्यको समझने-का यत्न करनेवाले बहुत कम हैं । नवलेखन में गतिरोधकी बात अक्सर ही उठायी जाती है लेकिन मेरा तो खयाल है कि पाठनमें गतिरोध (दरअस्ल गतिरोध) की छानबीन भी की जानी चाहिए क्योंकि, पाठकोंकी

दृष्टिसे हिन्दी काव्यमें प्रसाद, पंत, निरालाके बाद जैसे कुछ लिखा ही नहीं गया। आज भी हिन्दी साहित्यके छात्र शमशेर, अज्ञेय, मुक्तिबोधके काव्यसे परिचित नहीं हैं। जिन्हें धैर्यसे पढ़ा ही न गया हो, उनके दुर्बोध होने की शिकायत करना कहाँ तक उचित है?

मुक्तिबोधने काव्यके अतिरिक्त भी बहुत-कुछ लिखा है—आलोचनात्मक निबन्ध, स्केच, कहानियाँ आदि 'वसुधा'में धारावाहिक रूपसे प्रकाशित उनकी 'एक साहित्यिककी डायरी' हिन्दी साहित्यमें अपनी ढंगकी एक ही कृति है। डायरीकी रोचक शैलीमें लिखित यह आलोचनात्मक कृति हिन्दी नवलेखनकी विविध समस्याओंपर व्यापक परिप्रेक्ष्यमें गहन मौलिक चिन्तन प्रस्तुत करती है। क्या यह सब महत्त्वपूर्ण लेखन पत्र-पत्रिकाओंमें बिखरा पड़ा रहेगा और हम मुक्तिबोधका कभी मूल्यांकन नहीं कर सकेंगे?

●

सुनिये, शायद पसन्द आये !
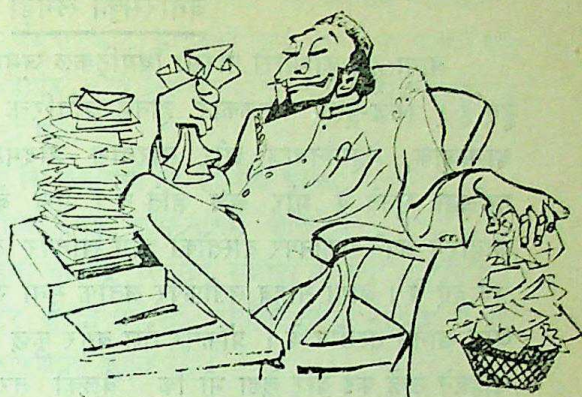
नहले पर दहला

० अयोध्याप्रसाद गोयलीय ०

उर्दू-काव्यके मर्मज्ञ श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय-द्वारा प्रस्तुत स्तम्भ—जिसमें उस्तादोंकी क़लमका जादू, कलामके चमत्कार, साहित्यकारोंके रोचक प्रसंग, नहलोंकी फुहारपर दहलोंकी बौछार, गुदगुदानेवाले शेर, झकझोरनेवाले व्यंग्य पेश किये जाते हैं।

०

क़ारूँ[1] का ख़ज़ाना

अलीगढ़के एक मुशाअ़रेमें मिसरातरह यह था :

क़ारूँने[1] रास्तेमें लुटाया ख़ज़ाना क्या ?

इस मुशाअ़रेमें कुछ हज़रात काँधलेसे आये थे। संयोगकी बात कि वे सब गंजे थे। मिसरातरह पर यूँ तो शाइरोंने एक-से-एक बढ़कर गिरह लगायी। मगर एक साहबने वोह चुस्त और मौज़ूँ गिरह लगायी कि मुशाअ़रेका मुशाअ़रा झूम उठा : **आता है काँधलेसे जो लाता है साथ गंज**

क़ारूँने रास्तेमें लुटाया ख़ज़ाना क्या ?

गंजका अर्थ 'गंजापन' भी है और 'कोष' भी। इस द्विअ़र्थक मिसरेसे बलाकी शोख़ी आ गयी। साधारण भाव तो शेरका यही है, कि काँधलेसे जो भी आया है, अपने साथ गंज (निधि-कोष) लाया है। क्या क़ारूँ-जैसे कंजूसने अपना ख़ज़ाना लुटा दिया है ? लेकिन द्विअ़र्थक प्रयोगने काँधलेके गंजे हज़रातको पानी-पानी कर दिया।

१. एक बहुत बड़ा धनिक जो अत्यन्त कृपण था और अन्तमें अपने धनसहित पृथ्वीमें समा गया था।

बनारसका लँगड़ा

आग़ा हश्र काश्मीरी पारसी थियेट्रिकल ज़मानेके बहुत मशहूर नाटककार हुए हैं। सिद्ध-हस्त नाटककार होनेके अतिरिक्त वे अपने व्यक्तिगत जीवनमें बा-मज़ाक़, मेहमाँनवाज़ और यारबाश आदमी थे। दोस्तोंको छेड़-छेड़कर गालियाँ सुनते थे और ख़ुश होते थे। एक बार आमोंके मौसममें उन्होंने लाहौरमें अपने मकानपर दोस्तोंको आम खानेपर बुलाया। क़िस्म-क़िस्मके आम चुने हुए थे। आग़ा साहब लतीफ़ेपर लतीफ़े सुना रहे थे, और सब हँसते-बोलते आम खानेमें तल्लीन थे। प्रोफ़ेसर तैश बग़ैर कुछ बोले आम खा रहे थे। आग़ा साहबने उन्हें कई बार छेड़ा भी कि "बैलकी तरह जुगाली किये जा रहा है। फूटे मुँहसे बोलता क्यों नहीं।" मगर तैश साहब फिर भी कुछ नहीं बोले और चुपचाप आम चूसते रहे। आग़ासाहब तैशकी इस चुप्पीसे हैरान-ओ-परेशान थे और चाहते थे कि वह भी मज़ाक़में शामिल होकर एक सुनें और दो सुनायें। आख़िर तैशकी चुप्पीसे तंग आकर बोले, "इसीको हरामख़ोरी कहते हैं। जो तारीफ़का एक लफ्ज़ भी ज़बानसे निकाले बग़ैर खाये चला जा रहा है।" इस फ़िकरेने 'तैश'को उकसानेमें इंजेक्शनका काम किया। फ़र्माया—"आग़ासाहब, यह आम जो अभी मैंने खाया है इसकी तारीफ़ नहीं हो सकती! इसने बनारसके लँगड़ेको मात कर दिया है। पंजाबका आम है न आख़िर।" आग़ासाहबने यह चुस्त फ़िकरा सुना तो ख़ुशीसे बेताब हो गये और 'तैश'को बेअख़्तियार लिपटा-कर बोले, "मेरी जान! यही बातें तो सुननेको जी बेचैन था। ज़िन्दा रहो।" और फिर देर तक झूमकर दाद देते रहे। हालाँकि यह आग़ा साहबपर सख्त चोट थी। क्योंकि वह लँगड़े भी थे और बनारसके रहनेवाले भी थे।

आग़ाका स्वागत और इक़बालका गुस्सा

आग़ा हश्र क़श्मीरीका एक और लतीफ़ा।

आग़ासाहब यूँ तो अँग्रेज़ी लिबास भी पहनते थे, मगर रेशमी कुर्त्ता और रेशमी तहमद उनका प्रिय लिबास था। लाहौरमें जब वह पहली बार तशरीफ़ ले गये तो वहाँकी बज्मे-अदबने आपके स्वागत-सत्कारमें एक जलसा किया जिसमें अल्लामा इक़बाल भी तशरीफ़ लाये। हज़ारोंकी संख्या थी। शाइर और अदीब काफ़ी संख्यामें सम्मिलित हुए थे। आग़ा साहब पंजाबियोंके इस जलसेमें रेशमी कुर्त्ता और तहमद पहने हुए आये तो लोगोंने आवाजें कसना शुरू किया। स्वागताध्यक्षके परिचय करानेके बाद आग़ा साहबने बोलना चाहा तो उपस्थित समूह तालियाँ बजा-बजाकर शोर मचाने लगा। उनकी सादगीको

देखकर किसीको विश्वास नहीं होता था कि ये अखिल भारतवर्षीय ख्यातिप्राप्त नाटककार हो सकते हैं। मजबूरन आग़ा साहबको चुप बैठ जाना पड़ा। सर इक़बालको श्रोताओंका यह व्यवहार बहुत अखरा और उन्होंने क्रोधावेशमें यह फ़िलबदी शेर बा-आवाज़ बुलन्द कहा :

शोर ऐसा है कि क़स्साबों की हो जैसे बरात,
आइए लाहौरकी यह बज़्मे-मातम देखिए !

सर इक़बालका शेर पढ़ना था कि जलसेमें सन्नाटा छा गया। फिर हश्र साहब अपने शेरो-अदबके जौहर लुटाने लगे तो लोगोंकी तृप्ति नहीं होती थी, वे दो ढाई घण्टे उनसे गौहरे-अफ़शानी सुनते रहे।

शाने-सिकन्दरी

शिमलेके एक मुशाइरेमें सर सिकन्दर हयात खाँ भी उपस्थित थे। वे उन दिनों संयुक्त पंजाबके प्रथम मुख्य मंत्री थे। जनाब बालमुकुन्द साहब 'अर्श' मलसियानीके इस शेरपर उन्होंने भी बहुत दाद दी :

दो रोज़ा अज़मतो-शौकत[1] पै भूलनेवाले !
अजल[2] से पूछ कि शाने-सिकन्दरी क्या है ?

शेर कहते वक्त 'अर्श' साहबको यह वहम तक न था कि सर सिकन्दर थोड़े अर्सेमें अल्लाहको प्यारे हो जायेंगे। न उन्हें यही मालूम था कि 'अज़मत' और 'शौकत' उनके दो पुत्रोंके नाम हैं। उन्होंने तो यह शेर उसी सिकन्दरके सम्बन्धमें कहा था जो रवायतके मुताबिक़ खिज़्रके साथ आबे-हयात (अमृत) पीने गया था।

शेरका भाव आम और साफ़ था लेकिन सिकन्दर हयातकी उपस्थिति और तत्कालीन राजनीतिक वातावरणके कारण शेरको श्रोताओंने ख़ूब मजे ले-लेकर कई बार पढ़वाया। बेचारे 'अर्श' शेर कई बार पढ़नेपर भी श्रोताओं-का कौतूहल न भाँप सके। यह बात तो उनके एक मित्रने कई वर्षके बाद उन्हें सुझायी थी।

बुज़ुर्ग आशिक़

शिमलेके एक मुशाइरेके एक वयोवृद्ध शाइर अध्यक्ष थे जिन्होंने बुढ़ापेमें प्रेम-विवाह किया था। इस शादीका उल्लेख उन दिनों अख़बारोंमें क़ाफ़ी हुआ था। वे नंगे सिर बैठे हुए थे। सिरके धवल बाल उनके बुढ़ापेका विज्ञापन कर रहे

१. प्रतिष्ठा एवं शान। २. मृत्यु

थे। सर इक़बालकी यह मिसरा "न हो निगाहमें शोख़ी तो दिलबरी क्या है" मिसरातरह था। एक बुजुर्ग शाइर उक्त मिसरातरहमें ग़ज़ल पढ़ रहे थे। चन्द शेरोंके बाद उन्होंने यह शेर पढ़ा :

यह कल के छोकरे आशिक़-मिज़ाज बनते हैं,
किसी बुज़ुर्ग से पूछें कि आशिक़ी क्या है !

दूसरे मिसरेमें बुजुर्ग लफ्ज़ पढ़ते हुए शाइरका हाथ अनायास विना किसी इरादेके अध्यक्षकी ओर हो गया। बस फिर क्या था, सुननेवालोंकी बन आयी। बार-बार यह शेर पढ़वाया गया। हँसीके फव्वारे छूटने लगे। अध्यक्ष महोदय भी ज़िन्दादिल इनसान थे। उन्होंने भी मुक्त-कंठसे प्रशंसा की।

मुहर्रमी सूरत

'जोश' मलीहाबादीके यहाँ रातके वक्त दो-चार दोस्त पी-पिला रहे थे। 'फ़ानी' बदायूनी भी वहाँ मौजूद थे। वे भी मस्तीमें कुछ गुनगुना रहे थे कि अकस्मात् कुछ चौंक-से पड़े, जैसे बिजलीका झटका लग गया हो।

जोशने पूछा, "मेरी जान ! यह फुरैरीका कौन-सा मौसम है ?"

फ़ानीने संजीदगीसे जवाब दिया, "ज़रा कान क़रीब लाओ।" जोशके कान क़रीब ले जानेपर उन्होंने अजीब लहजेमें पूछा—"जोश ! क्या ग़म ग़लत कर रहे हो ?"

जोश साहबने क़हक़हा मारकर फ़र्माया, "तो और क्या करें ?"

फ़ानीने अपनी गरदनको लम्बा करते हुए वज़नी आवाज़के साथ कहा, "अरे ज़ालिम ! ग़म ग़लत करनेकी चीज़ नहीं। ग़म तो एक अमानते-इलाही (ईश्वरीय धरोहर या देन) है, इसे ग़लत करके ख़यानत (ग़बन, धोखा) करते हो।"

एक और ज़ोरका क़हक़हा मारकर जोशने कहा, "बड़े आये ग़मको अमानते-इलाही कहनेवाले ! अरे फ़निया ! (फ़ानीका प्यार भरा सम्बोधन) तू तो ग़मकी वालिदा माजिदा (पूज्यमाता) है। तू अपने बच्चेको दूध पिला, छातीसे लगा और पाल-पोसकर बड़ा कर। यारोंको इस अमानते-इलाहीसे क्या सरोकार ? बर्क़से करते हैं, रोशन शमए-मातमख़ाना हम !"

सुनकर तमाम बज्म झूमने लगी और जोशने फ़ानीकी तरफ़ इशारा करके उपस्थित इष्ट-मित्रोंसे कहा, "ऐ भाइयो ! देखो इस फ़ानीकी तरफ़। यह पूरा कुर्रए-अर्ज़ (संसार) एक इमामबाड़ा है और इस इमामबाड़ेमें यह फ़ानी एक बहुत बड़ा ताज़िया है जो मुद्दतोंसे रखा हुआ है।"

यह सुनते ही क़हक़होंकी मौजोंमें तमाम महफ़िल डूबने-उछलने लगी।
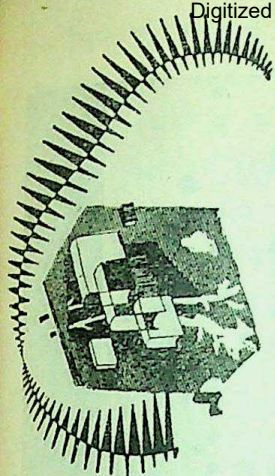
साहित्यार्चन

बीजुरी काजल आँज रही

कवि : माखनलाल चतुर्वेदी;
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी;
पृष्ठ-संख्या : ११९; मूल्य : ३. ००

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओंमें इधर जब-तब पढ़ते श्री चतुर्वेदीजीकी कविताओंके बारेमें काफ़ी सोचने और गुननेकी स्थितियोंसे गुज़रा हूँ (यह स्थिति 'वेणु लो गूँजे धरा'के बाद बनी), पर 'बीजुरी काजल आँज रही'के हाथ आनेपर तो जैसे थमकर चिन्तनकी एक लम्बी प्रक्रियासे बीतना पड़ा है।

आज जब हिन्दीमें 'नयी, नये और नया' का शोर है, 'नयी पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी के संघर्षोंकी बात आये दिन दोहरायी जा रही है, ६४ सशक्त भावपूर्ण और मर्मस्पर्शी कविताओंका यह संकलन भी मुझे तो तथाकथित उस 'नया, नये और नयी'से कम नहीं लगा। यह बात और है कि इसे इस प्रकारके किसी 'फ़तवे' की अपेक्षा भी नहीं है! शायद यहीं यह भी कहना प्रासंगिक होगा कि 'नये' और 'पुराने'के संघर्षसे उठ खड़ी होनेवाली समस्याओंका समाधान तो करता ही है यह संकलन, सेतु भी है साथ ही। संकलनकी अधिसंख्य रचनाओंको पढ़कर पुनः यही अनुभव हुआ कि आज भी कविके प्रौढ़ स्वरकी शक्ति जीनेके प्रति सच्ची एषणा जगानेमें लगी हुई है। वह आकुल है किसी उद्देश्यपूर्ण जीनेके अर्थकी खोजमें; – इस अर्थकी खोजका हर क्षण एक गहर तालमें जमा हो रहा है!

एक बड़ी विडम्बना यह रही है कि हिन्दी का 'अति नया' और 'क्रोधी' कवि जहाँ अत्यन्त बौद्धिक, सजग और उद्बुद्ध होनेका दावा करता है, वहीं वह अपने काव्य-कौशलमें साधारणतः अक्षम्य 'ढिलाई' भी बरतता है।

कोई भी काव्य कृति प्रभावकी समग्रतामें कविता है या नहीं, यह प्रतीति तो हर रस-प्रबुद्ध पाठक-आलोचकके लिए सम्भाव्य है ही। हाँ, यह प्रतीति

अधिक जीवन्त और सचेत होंगी जब कविता-में अभिव्यक्ति पाये भाव या विचार स्वयं कविकी अपनी अनुभूति और चिन्तन बन चुके हों, और उस स्वानुभूति तथा आत्म-चिन्तनको वह कलात्मक परिणति दे सका हो! इसी सन्दर्भमें यह भी कहूँगा कि नितान्त सहज भावसे लिखी गयी संकलनकी कवि-ताएँ सब कहीं अपनी अभिव्यक्तिमें इतनी समर्थ हैं कि बरबस लगता है – इनके माध्यम-से कविने बहुत कुछ देना चाहा है। और यही इनकी सार्थकता भी है। संकलनकी पहली कविता प्रारम्भ करते ही कविका उपलब्ध निजी और अनूठा भाव-द्वीप भी दृष्टिगत होता है :

"गगन की रानी के छुप-छुप बीजुरी काजल
आँज रही,
बादलों के घिर आने से प्रात भी अच्छी
साँझ रही।

× × × ×

छू उठी, छुपा हृदय गुस्ताख़, तुम्हारी निखरी-
सी पहचान,
और वे मृग-तृष्णा हो गये तुम्हारी यादों के
मेहमान।"

संकलनकी प्रायः सभी कविताएँ 'प्रकृति-की पूजा'में लिखी गयी हैं। इनकी कहन हमारी मिट्टी और हमारी व्यापक जीवन-चेतनाकी 'कहन' है। बड़ी बात एक यह कि कविताओंकी भूमि बड़ी सूक्ष्म संवेदन-शीलताकी और गहनतम जीवन-सत्योंकी है। भारतीय परम्परा (रूढ़िके अर्थमें नहीं), रीति-नीति, और जीवनेच्छाओंसे सम्बद्ध – गझिन अनुभूतियोंमें पगा हुआ स्वर मुखर हुआ है इनमें। और शायद इसीलिए कवि-ताएँ पढ़ते, यह लगता है कि इनका प्रकृति-चित्रण सहज रूपमें मन की कीलपर टँगे बहुरंगे चित्रों-जैसा नहीं, बल्कि इनमें प्रकृतिके अनेक रूप-चित्रोंके साथ कविकी भावात्मक उपलब्धिका जीवन्त अंकन है और उसने सारे दृश्योंको आत्मोपलब्धिके रूपमें स्वीकार भी किया है :

"विवश कमानी-सा झुक आया इन्द्रधनुष
रंगों का गहरा
मैदानों की हथेलियों पर ठहरा देखो मेरा
पहरा!
नपी-तुली-सी फैल रही है मिली-जुली
क्षितिजों की रेखा
अभी-अभी है, अभी नहीं है, देखा लगता है
अनदेखा।"

× × × ×

"लहक-लहक वह लालटेन जल रही
झाड़ से बँधी बिचारी,
जाने कौन रात्रि में घण्टे
बजा रहा बावला पुजारी?
जिसके सपने घिर-घिर आते
उसकी आशा का यह जमघट,
कितना मनमोहक होता है
उम्मीदों का अस्थिर मरघट!"

ऊपरकी ये कुछ पंक्तियाँ ही यह आभास दे देती हैं कि संकलनकी कविताएँ अनुभूति और विचारोंकी रागमयता और लयकी हैं। उनके बिम्ब भी उसी राग और लयके परिणाम ही हैं।

असाधारण व्यक्तित्वके कलाकारकी क्षमता, प्रेरणा, और मानसिक त्वराकी गतिविधि भी किसी बड़े रूपाकारमें प्रकट होती है – साक्षी है यह संकलन, जिसमें 'अबूझ सोंधी प्रतिध्वनियोंकी अनुगूँज' है, और है 'विविध आकारी शिलाओंके बीच-बगल उछलती-कूदती रस-निर्झरिणी' भी। अनेक कविताओंके प्रतीक-रूपकोंमें जीवनके काफ़ी गहरे तत्वों को पकड़नेका प्रयत्न भी परिलक्षित होता है। इस दृष्टिसे कविके अन्तर्लोकका क्षितिज लम्बा तो है ही, स्पष्ट भी है। 'मोतिया उजाला', 'रेती पर गिरता-सा यौवन', 'तम की पसलियाँ', 'काली मशक लिये बिजली में बादल, नभ का भिश्ती', 'मेघों के काग़ज़ पर सूरज लिक्खे सुनहरी इबारत'-जैसे अनगिन नये अर्थ-गर्भ शब्द-प्रयोग संकलनकी कविताओंमें दिखे। संक्षेपमें कहें तो 'बीजुरी काजल आँज रही' हिन्दी कविताकी एक स्थायी महत्त्वकी उपलब्धि होगी, इसमें सन्देह नहीं।

— सुबोध शास्त्री

रंगका पत्ता

लेखिका : अमृता प्रीतम; प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली; पृष्ठ-संख्या : १४४; मूल्य : ३.००

असफल प्रेम और तज्जनित पीड़ाकी चितेरीके रूपमें अमृता प्रीतमने आधुनिक भारतीय साहित्यमें अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। प्रेमकी पृष्ठभूमिमें प्रायः नारी-जीवनकी उलझनों और मानसिक भाव-नाओंका चित्रण करनेमें उन्हें बहुत अधिक सफलता मिली है। कुछ दिनों पूर्व कहानी मासिक 'सारिका'में 'आइनेके सामने' नामक स्तम्भमें उन्होंने स्वयं भी इस कथनकी पुष्टि की थी।

प्रस्तुत पुस्तकमें वे एक साथ दो महि-लाओंके प्रेमकी कहानी कहती हैं। दोनों सहेलियाँ अनचाहे व्यक्तियोंके साथ व्याह दी जाती हैं। मितरो व्याहके पूर्व ही दूसरे व्यक्तिको प्यार करने लगती है और कैलीकी व्याहके बाद मनचाहे व्यक्तिसे भेंट होती है। पतिके साथ दोनों सहेलियाँ घुटनका शिकार होती हैं। एक रात जब बीमा कम्पनीके साहबको खुश करनेके लिए कैलीका पति, जिसे दुनियामें पैसा सबसे प्यारा है, कैलीको उसके कमरेमें भेजता है तब साहबके सिरपर गिलास मारकर कैली भाग खड़ी होती है और अपने प्रेमीके पास चली जाती है, जो उसे अपना लेता है। दूसरी सहेली मितरो प्रेमीके विरहमें मरणासन्न हो जाती है मगर जब कैली उसे प्रेमीसे मिला देती है, उसका रोग दूर हो जाता है। फिर भी उसे ससुराल जाना पड़ता है। बादमें भारत और पाकि-स्तानके विभाजनके समय हुए दंगेमें मितरो भगा ली जाती है और बादमें दिल्लीमें सभी एक साथ मिल जाते हैं।

पुस्तकमें चिन्तित नारीके प्रेमका सूक्ष्म पर्यवेक्षण तथा विश्लेषण बार-बार हृदयको छू लेता है और वही इस पुस्तककी सबसे बड़ी विशेषता है। वैसे स्थलोंपर अमृता प्रीतमकी कला साकार हो उठती है। मगर पुस्तकका अन्त जिस प्रकार हुआ है, वह

हिन्दी सिनेमाकी कहानियोंकी अनुकृति मात्र लगता है। लगता है, किसी फ़िल्मके लिए विशेष रूपसे उपन्यास लिखा गया हो। अमृता प्रीतमके नियमित पाठकोंको इस पुस्तकसे सन्तोष नहीं होगा, बल्कि लेखिकाके प्रति गहरा क्षोभ ही होगा।

पुस्तककी भाषा भी इतनी दोषपूर्ण है कि पढ़ते समय बार-बार जी कुढ़ जाता है। लगता है, पंजाबीसे पुस्तकका हिन्दीमें अनुवाद किया गया है और अनुवादकको हिन्दीका कम, पंजाबीका अधिक ज्ञान है।

प्रेम-आख्यानके पाठकोंको पुस्तक पसन्द आयेगी।

—सतीशचन्द्र

पंच-दश-तन्त्र

लेखक : शिवचन्द्र शर्मा; प्रकाशक : अभिज्ञान प्रकाशन, राँची; पृष्ठ-संख्या : ९८; मूल्य : ३.५०

पंच-दश-तन्त्र की सब कहानियोंमें निश्चित उद्देश्यकी निष्पत्ति होती है। बहुत हद तक ये कहानियाँ न होकर सांस्कृतिक-वातावरणके परिकल्पित तर्क विवरण हैं। इनमें कहानीपन केवल वस्तु-चमत्कार और घटनाओंके नाटकीकरण तक सीमित रह जाता है। मसलन संग्रहकी पहली और सातवीं कहानीको लिया जा सकता है। नीलमणि कहानीमें तर्कसिद्ध ढंगसे कहानीकार नायककी मन:स्थितिका विवरण प्रस्तुत करता है और अन्तमें एक निकर्ष दे देता है जो नाटकीयतासे अधिक नहीं लगता। एक वेश्याका इतिहास खत्म नहीं होता उसकी जगहपर दूसरी आ जाती है और एक भोक्ताका क्रम समाप्त नहीं हो जाता उसका माध्यम और बन जाता है—इस तरहकी समस्याकी प्रथम कहानीमें उद्देश्यपरक निष्पत्ति होती है। सभी कहानियोंमें नाटकीयताके चरम अंश हैं, अगर इन कहानियोंके कथा तर्कसे अलग किये जायें तो केवल-भर नाटकीयता शेष रह जाती है। यह बात कहनेमें मैं किसी भी तरह शिवचन्द्र शर्माकी कहानियोंका महत्त्व समाप्त नहीं करता अपितु मैं यह कहना चाहता हूँ कि हिन्दीमें इस ढंगकी कहानियाँ एक विशिष्ट शैलीकार ही लिख सकता है। इस आधारपर शिवचन्द्र शर्मा एक शैलीकार हैं। उनकी अच्छी कहानियोंमें पराजय, आस्फालन, द्वीपान्तर, स्वीकृति ली जा सकती हैं। भाषाके सम्बन्धमें शिवचन्द्र शर्माका मुक़ाबला नहीं। सांस्कृतिक गरिमा और तर्कसिद्ध भाषाका चुटीलापन जैनेन्द्र और शिवचन्द्र शर्माकी विशेषता है। इससे भी बड़ी बात आचार्य नलिनविलोचन शर्माका इन कहानियोंके सम्बन्धका वक्तव्य है जिसमें उन्होंने नि:संकोच इनको पुरानी कसौटीपर कसनेकी बातको किनारे रखा है। ये कहानियाँ स्वयं ही अपनी कसौटी हैं, पर्याप्त मनोरंजनके अतिरिक्त एक और बात हाथ लगती है और वह बात है सम्बन्धों की तटस्थता। इनके हर पात्रमें यह तटस्थता उपलब्ध है।

—गंगाप्रसाद विमल

सृष्टि और दृष्टि

···आपका पत्र मिला। 'ज्ञानोदय'का अप्रैल अंक भी। इस अंकका मुद्रण पहलेसे काफ़ी अच्छा है, और यह जानकर कि यह काशीसे प्रकाशित हुआ है, और भी प्रीतिकर सन्तोष मिला। 'एण्टी स्टोरी' पर टिप्पणी और उदाहरण – सैम्युएल बैकेटकी कहानी 'एक कहानी बननेवाली है···' देखकर लगा कि इस प्रकार जीवनशून्य फैशन-परस्तीके साहित्यसे 'ज्ञानोदय'को बचाना ही श्रेयस्कर रहेगा। सहयोगके लिए प्रतिश्रुत हूँ ही।

—शिवप्रसाद सिंह, काशी

'ज्ञानोदय'का अप्रैल अंक सामने है – रूप-सज्जा और मुद्रण तो ए-वन है। कलकत्ता तथा काशीके अन्तरकी बात कैसे कहूँ? – स्पष्ट ही है वह तो। हाँ हिन्दी पत्रिकाओंमें, सुरुचिपूर्णताकी दृष्टिसे, 'ज्ञानोदय' ने फिर बाज़ी मार ली!

दिनकर सोनवलकरकी कविता 'निन्दनीय' ने काफ़ी छुआ। कहानी कृश्न-चन्दरकी 'टॉप' पर है – मेरी दृष्टिमें। और भाई, 'ज्ञानोदय' में 'सलीबपर टँगी हुई अम्मा' तथा 'सारिका' के अप्रैल अंकमें ही प्रकाशित वही कहानी 'एक भयावह संत्रास'! यह क्या मामला है?

—पंकज त्रिवेदी, प्रयाग

'ज्ञानोदय'के अप्रैल अंककी मोहक प्रस्तुत तथा छपाई-सफ़ाईने सहज ही आकृष्ट कर लिया। सामग्री भी महत्त्वपूर्ण और उपयोगी लगी। बधाई स्वीकार करें।

—महेन्द्रनाथ सिंह, काशी

सांस्कृतिक जागरण, साहित्यिक विकास-उन्नयन और
राष्ट्रीय ऐक्य एवं राष्ट्र-प्रतिष्ठा की साधिका
तथा
भारतीय भाषाओं की सर्वोत्कृष्ट
सर्जनात्मक साहित्यिक कृति पर
प्रतिवर्ष एक लाख रुपये
पुरस्कार योजना प्रवर्तिका
विशिष्ट संस्था

उद्देश्य
ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्री का
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा
लोक-हितकारी मौलिक
साहित्य का निर्माण

संस्थापक : साहू शान्तिप्रसाद जैन
अध्यक्षा : श्रीमती रमा जैन

प्रधान एवं सम्पादकीय कार्यालय : ९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७
विक्रय केन्द्र : ३६२०/२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, दिल्ली-६
प्रकाशन कार्यालय : दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी—५

बड़ी विशेषता इन एकांकियोंकी यह है कि नौ भारतीय भाषाओंके होते हुए भी इनमें-से किसीको पढ़नेपर नहीं लगेगा कि ये विचार-भाव अपने नहीं या ये स्वर और भंगिमाएँ तो कुछ और हैं। मन गूँज-गूँजकर यही कहेगा कि यह वर्तमान देशकी भावात्मक एकताका उद्घोष सामयिक राजनीतिकी बात है, चेतना-भावना और साहित्यके स्तरपर तो देश है ही एक इकाई।

एक और लाभ-साधन भी संकलनसे अनायास हो जाता है। ये नौके नौ एकांकी सफल और प्रभावपूर्ण रूपसे अभिनेय हैं। हिन्दीमें इस प्रकारका पहला प्रकाशन!

मूल्य ४.००

• भाषा और संवेदना : डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी

भाषा हमारी संवेदनाको एक सीमा तक नियमित और अनुशासित करती है या नहीं, इस विषयमें दो मत हो सकते हैं। पर दो मत इसमें न होंगे कि संवेदनाको अपने अनुभव-क्षेत्रका अंग हम भाषाके ही माध्यमसे बना पाते हैं।

जितनी विकसित हमारी भाषा होगी, जितना ही सन्दर्भोंके अनुरूप हमारा भाषा-प्रयोग होगा, उतनी ही स्पष्टता और सम्पूर्णता के साथ हम संवेदनाको समझ सकेंगे, समझा सकेंगे। यही मूल कारण-भूमि है जो प्रत्येक संवेदनशील रचनाकार को गहरे स्तरोंपर भाषासे संघर्ष और असन्तोषका अनुभव बराबर कराती है।

पहलेकी बात और, आधुनिक युगके सन्दर्भोंने तो इस संघर्ष और असन्तोषका अनुभव रचनाकारको पग-पगपर कराया। बदले सन्दर्भोंमें उसे परिचित शब्द चुके-चुके लगते, जैसे अपनी अर्थवत्ता खो बैठे हों। और जो रचनाकार प्रतिभावान् थे उन्होंने उन्हीं शब्दोंको नये सन्दर्भोंके अनुरूप नयी भंगिमाएँ, नयी अर्थछायाएँ देकर फिरसे जीवित किया।

प्रस्तुत कृतिमें संवेदनात्मक स्तरपर मानवीय सृजनशीलता और भाषाके आन्तरिक सम्बन्धको देखने-समझनेका एक गम्भीर प्रयत्न किया गया है। साथ ही, इस सन्दर्भमें कुछ विशिष्ट कवियोंकी रचनाओं और युगीन प्रवृत्तियोंकी व्यावहारिक परीक्षा भी की गयी है। कृति अपनेमें तो एक आवश्यकताका उत्तर है ही, पढ़नेके बाद सोचने-विचारने और चर्चाएँ करनेके लिए हमें विवश भी करेगी।

मूल्य २.५०

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

श्रेष्ठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला

राष्ट्रभारती

प्रतिनिधि रचनाएँ	कर्तारसिंह दुग्गल (पंजाबी)	३.५०
प्रतिनिधि संकलन (एकांकी)	संकलन-सम्पा०—अनिलकुमार	४.००
प्रतिनिधि रचनाएँ	नार्ल वेंकटेश्वर राव (तेलुगु)	३.५०
प्रतिनिधि रचनाएँ	'परशुराम' (बंगला)	३.००
प्रतिनिधि रचनाएँ	त्र्यं० दि० माडगूलकर (मराठी)	४.००

उपन्यास

महाश्रमण सुनें, उनकी परम्पराएँ सुनें	'भिक्खु'	२.२५
सूरज का सातवाँ घोड़ा	डॉ० धर्मवीर भारती	२.००
पीले गुलाब की आत्मा	विश्वम्भर मानव	४.००
पलासी का युद्ध	तपनमोहन चट्टोपाध्याय	३.५०
अपने-अपने अजनबी	अज्ञेय	३.००
गुनाहों का देवता (सातवाँ सं०)	डॉ० धर्मवीर भारती	५.००
शतरंज के मोहरे (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	अमृतलाल नागर	६.००
शह और मात	राजेन्द्र यादव	४.००
राजसी	देवेशदास आइ० सी० एस्०	२.५०
संस्कारों की राह (पुरस्कृत)	राधाकृष्णप्रसाद	२.५०
रक्त-राग	देवेशदास आइ० सी० एस्०	३.००
तीसरा नेत्र	आनन्दप्रकाश जैन	२.५०
ग्यारह सपनों का देश	सं०—लक्ष्मीचन्द्र जैन	४.००
मुक्तिदूत (द्वि० सं०)	वीरेन्द्रकुमार एम. ए.	५.००

कहानी

खोयी हुई दिशाएँ	कमलेश्वर	२.५०
मेज़ पर टिकी हुई कुहनियाँ	रमेश बक्षी	३.५०
बोस्ताँ	मूल : शेख़ सादी	२.५०
जय-दोल (द्वि० सं०)	अज्ञेय	३.००
ज़िन्दगी और गुलाब के फूल	उषा प्रियंवदा	२.५०
अपराजिता	भगवतीशरण सिंह	२.५०

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

श्रेष्ठ प्रकाशन

कर्मनाशा की हार	डॉ० शिवप्रसाद सिंह	३.००
सूने अँगन रस बरसै	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	३.००
प्यार के बन्धन	रावी	३.२५
मोतियोंवाले (पुरस्कृत)	कर्त्तारसिंह दुग्गल	२.५०
हरियाणा लोकमंच की कहानियाँ	राजाराम शास्त्री	२.५०
मेरे कथागुरु का कहना है (१–२)	रावी	६.००
पहला कहानीकार (पुरस्कृत)	रावी	२.५०
संघर्ष के बाद (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	विष्णु प्रभाकर	३.००
नये चित्र	सत्येन्द्र शरत्	३.००
काल के पंख	आनन्दप्रकाश जैन	३.००
अतीत के कम्पन (द्वि० सं०)	आनन्दप्रकाश जैन	३.००
खेल खिलौने	राजेन्द्र यादव	२.००
आकाश के तारे : धरती के फूल (तृ. सं.)	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	२.००
नये बादल	मोहन राकेश	२.५०
कुछ मोती कुछ सीप (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.५०
जिन खोजा तिन पाइयाँ (तृ० सं०)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.५०
गहरे पानी पैठ (तृ० सं०)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.५०
एक परछाईं : दो दायरे	गुलाबदास ब्रोकर	३.००
ऑस्कर वाइल्ड की कहानियाँ	डॉ० धर्मवीर भारती	२.५०
लो कहानी सुनो	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.००

कविता

बीजुरी काजल आँज रही	माखनलाल चतुर्वेदी	३.००
अर्द्धशती	बालकृष्ण राव	३.००
रत्नावली	हरिप्रसाद 'हरि'	२.००
वाणी (द्वि० सं० परिवर्धित)	सुमित्रानन्दन पन्त	४.००
सौवर्ण (द्वि० सं० परिवर्धित)	सुमित्रानन्दन पन्त	३.५०
परिणय गीतिका	सं०–रमा जैन, कुन्था जैन	५.००
आँगन के पार द्वार	अज्ञेय	३.००
वीणापाणि के कम्पाउण्ड में	केशवचन्द्र वर्मा	३.००
रूपाम्बरा	सं० अज्ञेय	१२.००
वेणु लो, गूँजे धरा	माखनलाल चतुर्वेदी	३.००
अनु-क्षण	डॉ० प्रभाकर माचवे	३.००
तीसरा सप्तक (द्वि० सं०)	सं०–अज्ञेय	५.००

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

अरी ओ अरुणा प्रभामय	अज्ञेय	४.००
देशान्तर	डॉ० धर्मवीर भारती	१२.००
सात गीत-वर्ष	डॉ० धर्मवीर भारती	३.५०
कनुप्रिया	डॉ० धर्मवीर भारती	३.००
लेखनी-बेला	वीरेन्द्र मिश्र	३.००
आवाज़ तेरी है	राजेन्द्र यादव	३.००
पंच-प्रदीप	शान्ति एम० ए०	२.००
मेरे बापू	हुकुमचन्द्र बुखारिया	२.५०
धूप के धान (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	गिरिजाकुमार माथुर	३.००
वर्द्धमान (महाकाव्य) (पुरस्कृत)	अनूप शर्मा	६.००

शाइरी

गंगोजमन	'नज़ीर' बनारसी	३.००
शाइरी के नये मोड़ (भाग १–५)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	१५.००
नग़मए-हरम	,,	४.००
शाइरी के नये दौर (भाग १–५)	,,	१५.००
शेर-ओ-सुख़न : १–५ (द्वि.सं.पुरस्कृत)	,,	२०.००
शेर-ओ-शाइरी ,, ,,	,,	८.००
ग़ालिब	रामनाथ 'सुमन'	८.००
मीर	,,	६.००

नाटक

आदमी का ज़हर	लक्ष्मीकान्त वर्मा	३.००
घाटियाँ गूँजती हैं	डॉ० शिवप्रसाद सिंह	२.५०
तीन ऐतिहासिक नाटिकाएँ	परिपूर्णानन्द वर्मा	४.००
नाटक बहुरंगी	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	४.५०
जनम क़ैद (पुरस्कृत)	गिरिजाकुमार माथुर	२.५०
कहानी कैसे बनी ?	कर्तारसिंह दुग्गल	२.५०
पचपन का फेर (पुरस्कृत)	विमला लूथरा	३.००
तरकश के तीर	श्रीकृष्ण	३.००
रजत-रश्मि (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	डॉ० रामकुमार वर्मा	२.५०
और खायी बढ़ती गयी (पुरस्कृत)	भारतभूषण अग्रवाल	२.५०
चेखॅव के तीन नाटक	राजेन्द्र यादव	४.००
बारह एकांकी	विष्णु प्रभाकर	३.५०

महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

कुछ फ़ीचर कुछ एकांकी	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	३.५०
सुन्दर रस (द्वि० सं०)	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	१.५०
सूखा सरोवर	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	२.००
भूमिजा	सर्वदानन्द	१.५०

विधा-विविधा

खुला आकाश : मेरे पंख	शान्ति मेहरोत्रा	४.५०
अंकित होने दो	अजितकुमार	४.००
सीढ़ियों पर धूप में	रघुवीरसहाय	४.००
काठ की घण्टियाँ	सर्वेश्वरदयाल सक्सेना	७.००
पत्थर का लैम्पपोस्ट	शरद देवड़ा	३.००

ललित-निबन्धादि

क्षण बोले कण मुसकाये	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४.००
हम सब और वह	दयानन्द वर्मा	२.००
बातें जिसमें सुगन्ध फूलों की	अहमद सलीम	३.००
महके आँगन चहके द्वार	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४.००
शिखरों का सेतु	डॉ० शिवप्रसाद सिंह	३.५०
बाजे पायलिया के घुँघरू	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४.००
फिर बैतलवा डाल पर	विवेकीराय	३.५०
आँगन का पंछी : बनजारा मन	विद्यानिवास मिश्र	३.००
नये रंग : नये ढंग	लक्ष्मीचन्द्र जैन	२.००
बना रहे बनारस	विश्वनाथ मुखर्जी	२.५०
काग़ज़ की किश्तियाँ	लक्ष्मीचन्द्र जैन	२.५०
अमीर इरादे : ग़रीब इरादे (तृ०सं०)	माखनलाल चतुर्वेदी	२.००
सांस्कृतिक निबन्ध	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	३.००
वृन्त और विकास	शान्तिप्रिय द्विवेदी	२.५०
ठूँठा आम	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	२.००
हिन्दू विवाह में कन्यादान का स्थान (तृ.सं.)	डॉ० सम्पूर्णानन्द	१.००
ग़रीब और अमीर पुस्तकें	रामनारायण उपाध्याय	१.००
क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ ?	रावी	२.५०
माटी हो गयी सोना (द्वि० सं०)	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	२.००
ज़िन्दगी मुसकरायी (तृ० सं०)	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४.००

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

यात्रा-विवरण

चीड़ों पर चाँदनी	निर्मल वर्मा	३.००
एक बूँद सहसा उछली	अज्ञेय	७.००
पार उतरि कहँ जइहौ	प्रभाकर द्विवेदी	३.००
सागर की लहरों पर	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	४.००
हरी घाटी	डॉ० रघुवंश	४.५०

संस्मरण, रेखाचित्र, जीवनी आदि

समय के पाँव	माखनलाल चतुर्वेदी	३.००
रेखाचित्र (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	बनारसीदास चतुर्वेदी	४.००
पराड़करजी और पत्रकारिता	लक्ष्मीशंकर व्यास	५.५०
आत्मनेपद	अज्ञेय	४.००
माखनलाल चतुर्वेदी	'वरुआ'	६.००
दीप जले : शंख बजे	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	३.००
द्विवेदी पत्रावली	बैजनाथ सिंह 'विनोद'	२.५०
जैन-जागरण के अग्रदूत	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	५.००
संस्मरण (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	बनारसीदास चतुर्वेदी	३.००
हमारे आराध्य (पुरस्कृत)	,,	३.००

आलोचना, अनुसन्धान, रचना-शिल्प

भाषा और संवेदना	डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी	३.५०
हिन्दी गीतिनाट्य	कृष्ण सिंहल	४.००
साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य	डॉ० रघुवंश	५.००
जैन भक्ति-काव्य की पृष्ठभूमि	डॉ० प्रेमसागर जैन	६.००
रेडियो वार्ता शिल्प	सिद्धनाथकुमार	२.००
रेडियो नाट्य शिल्प (द्वि० सं०)	,,	३.००
ध्वनि और संगीत (द्वि० सं०)	ललितकिशोर सिंह	४.५०
प्राचीन भारत के प्रसाधन	अत्रिदेव विद्यालंकार	३.५०
सस्कृत साहित्य में आयुर्वेद	,,	३.००
संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन (द्वि.सं.)	डॉ० भोलाशंकर व्यास	५.००
भारतीय ज्योतिष (तृ० सं०)	नेमिचन्द्र जैन ज्योतिषाचार्य	६.००
हिन्दी नवलेखन	डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी	४.००
मानव मूल्य और साहित्य	डॉ० धर्मवीर भारती	२.५०
शरत् के नारी-पात्र	डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी	४.५०
हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन (१–२)	नेमिचन्द्र शास्त्री	५.००

इतिहास-राजनीति

कालिदास का भारत : भाग १ (द्वि० सं०)	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	५.००
कालिदास का भारत : भाग २	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	४.००
भारतीय इतिहास : एक दृष्टि	डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन	८.००
चौलुक्य कुमारपाल (द्वि०सं०, पुरस्कृत)	लक्ष्मीशंकर व्यास	४.५०
एशिया की राजनीति	परदेशी	६.००
समाजवाद	डॉ० सम्पूर्णानन्द	५.००
इतिहास साक्षी है	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	३.००
खोज की पगडण्डियाँ (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	मुनि कान्तिसागर	४.००
खण्डहरों का वैभव (द्वि० सं०)	मुनि कान्तिसागर	६.००

दर्शन-अध्यात्म

भारतीय विचारधारा	मधुकर एम० ए०	२.००
अध्यात्म पदावली	डॉ० राजकुमार जैन	४.५०
वैदिक साहित्य	पं० रामगोविन्द त्रिवेदी	६.००

सूक्तियाँ

भाव और अनुभाव	मुनि नथमल	१.५०
सन्त-विनोद	नारायणप्रसाद जैन	२.००
शरत की सूक्तियाँ	रामप्रकाश जैन	२.००
ज्ञानगंगा भाग १ (द्वि० सं०)	नारायणप्रसाद जैन	६.००
ज्ञानगंगा भाग २	नारायणप्रसाद जैन	६.००
कालिदास के सुभाषित	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	५ ००

हास्य-व्यंग्य

काग़ज़ के फूल	भारतभूषण अग्रवाल	३.००
चाय पार्टियाँ	सन्तोषनारायण नौटियाल	२.००
जैसे उसके दिन फिरे	हरिशंकर परसाई	२.५०
तेल की पकौड़ियाँ	डॉ० प्रभाकर माचवे	२.००
हास्य मन्दाकिनी	नारायण प्रसाद जैन	६.००
आधुनिक हिन्दी हास्य-व्यंग्य	सं०—केशवचन्द्र वर्मा	४.००
मुर्ग छाप हीरो	केशवचन्द्र वर्मा	२.००
अंगद का पाँव	श्रीलाल शुक्ल	२.५०

भारतीय ज्ञानपीठ

मूर्त्तिदेवी ग्रन्थमाला

तत्त्वज्ञान और सिद्धान्तशास्त्र

समयसार (प्राकृत-अँगरेज़ी)	८.००
तत्त्वार्थराजवार्तिक (संस्कृत) भाग १–२	२४.००
तत्त्वार्थवृत्ति (संस्कृत)	१६.००
सर्वार्थसिद्धि (संस्कृत-हिन्दी) ...	१२.००
पंचसंग्रह (प्राकृत-हिन्दी)	१५.००
जैन धर्मामृत (संस्कृत-हिन्दी)	३.००
कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न (हिन्दी)	२.००

जैन न्याय और कर्मग्रन्थ

कर्मप्रकृति (प्राकृत-संस्कृत-हिन्दी)	६.००
सत्यशासन परीक्षा (संस्कृत)	५.००
सिद्धिविनिश्चयटीका (संस्कृत) भाग १–२	३०.००
न्यायविनिश्चयविवरण (संस्कृत) भाग १–२	३०.००
महाबन्ध (प्राकृत-हिन्दी) भाग २ से ७	६६.००

आचारशास्त्र, पूजा और व्रत-विधान

वसुनन्दि श्रावकाचार (प्राकृत-हिन्दी)	५.००
ज्ञानपीठ पूजांजलि (संकलन)	४.००
व्रततिथिनिर्णय (संस्कृत-हिन्दी)	३.००
मंगलमन्त्र णमोकार : एक अनुचिन्तन (हिन्दी)	२.००

व्याकरण, छन्दशास्त्र और कोश

जैनेन्द्र महावृत्ति (संस्कृत)	१५.००
सभाष्य रत्नमंजूषा (संस्कृत)	२.००
नाममाला सभाष्य (संस्कृत)	३.५०

पुराण, साहित्य, चरित व काव्य-ग्रन्थ

हरिवंशपुराण (संस्कृत-हिन्दी)	१६.००
आदिपुराण (संस्कृत-हिन्दी) भाग १–२	२०.००

भारतीय ज्ञानपीठ

उत्तरपुराण (संस्कृत-हिन्दी)	....	१०.००
पद्मपुराण (संस्कृत-हिन्दी) भाग १-३	....	३०.००
पुराणसार-संग्रह (संस्कृत-हिन्दी) भाग १-२	....	४.००

चरित व काव्य-ग्रन्थ

भोजचरित्र (संस्कृत)	....	८.००
मयणपराजयचरिउ (अपभ्रंश-हिन्दी)	....	८.००
मदनपराजय (संस्कृत-हिन्दी)	....	८.००
पउमचरिउ (अपभ्रंश-हिन्दी) भाग १-३	....	९.००
जीवन्धरचम्पू (संस्कृत-हिन्दी)	....	८.००
जातकट्ठकथा (पाली)	....	९.००
धर्मशर्माभ्युदय (हिन्दी)	....	३.००

ज्योतिष और सामुद्रिक शास्त्र

भद्रबाहु संहिता (संस्कृत-हिन्दी)	....	८.००
केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि (संस्कृत-हिन्दी)	....	४.००
करलक्खण (प्राकृत-संस्कृत-हिन्दी)	....	०.७५

विविध

वर्ण, जाति और धर्म	....	३.००
जिनसहस्रनाम (संस्कृत-हिन्दी)	....	४.००
थिरुकुरल (तमिल)	....	५.००
आधुनिक जैन कवि (हिन्दी)	....	३.७५
हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (हिन्दी)	....	२.८७
कन्नड प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थ सूची	....	१३.००

माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला

पुराण

महापुराण (आदिपुराण) भाग १; अपभ्रंश	१०.००
महापुराण (उत्तरपुराण) भाग २; अपभ्रंश	१०.००
महापुराण (उत्तरपुराण) भाग ३; अपभ्रंश	६.००

माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला

पद्मपुराण (संस्कृत) भाग १	१.५०
पद्मपुराण (संस्कृत) भाग २	२.००
पद्मपुराण (संस्कृत) भाग ३	२.००
हरिवंशपुराण (संस्कृत) भाग १	२.००
हरिवंशपुराण (संस्कृत पद्य) भाग २	१.५०

शिलालेख

जैन शिलालेख संग्रह (संस्कृत, हिन्दी) भाग १	२.००
जैन शिलालेख संग्रह (संस्कृत, हिन्दी) भाग २	८.००
जैन शिलालेख संग्रह (संस्कृत, हिन्दी) भाग ३	१०.००

चरित, काव्य और नाटक

वरांगचरित (संस्कृत)	३.००
जम्बू स्वामीचरित (संस्कृत)	१.५०
प्रद्युम्नचरित (संस्कृत)	०.५०
रामायण (अपभ्रंश)	२.५०
पुरुदेवचम्पू (संस्कृत)	०.७५
अंजनापवनंजय (नाटक)	३.००

जैन-न्याय

न्यायकुमुदचन्द्रोदय (संस्कृत) भाग १	८.००
न्यायकुमुदचन्द्रोदय (संस्कृत) भाग २	८.५०
प्रमाणप्रमेयकलिका (संस्कृत)	१.५०

सिद्धान्त, आचार और नीतिशास्त्र

सिद्धान्तसारादि (प्राकृत-संस्कृत)	१.५०
भावसंग्रहादि (प्राकृत-संस्कृत)	२.२५
पंचसंग्रह (संस्कृत)	०.८१
त्रिषष्टिस्मृतिसार (संस्कृत, मराठी अनुवाद)	०.५०
स्याद्वादसिद्धि (संस्कृत, हिन्दी-सारांश)	१.५०
रत्नकरण्डश्रावकाचार (मूल संस्कृत, टीका)	२.००
लाटी संहिता (संस्कृत)	०.५०
नीतिवाक्यामृत (शेषांश) (संस्कृत टीका)	०.२५

बेटा गया परदेस

इनका बेटा गाँव से ८०० मील दूर एक फौलाद के कारखाने में काम करता है। कभी कभी वह माँ से मिलने चला आता है.. ......याने हर तीन साल के बाद ही वह गाँव आ सकता है। सौभाग्य से माँ के पास उसके स्वर्गीय पतिकी जीवन-बीमा-पालिसी की कुछ रकम बची है।

अब संयुक्त-परिवार-प्रथा धीरे धीरे मिटती जा रही है। यदि वह प्रथा आज रहती तो उसे चिन्ता करने का कोई कारण न रहता। तब घर के दूसरे लोग उसकी देखभाल करते और वह सुख से जीवन बीता सकती। अब बूढ़ों को इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए कि उनके बाल-बच्चे, कुछ कारणों से विवश होकर, अलाहिदा भी रह सकते है।... और फिर उनकी मदद नहीं कर सकते। जीवन बीमे का महत्व इस दृष्टि से आज बहुत हो बढ गया है। क्या आपने बीमा कराके अपनी वृद्धावस्था की आमदनी का कोई प्रबन्ध किया है?

जीवन बीमा सुरक्षा का बेजोड़ साधन है।

स्वादिष्ट
स्वास्थ्यप्रद
रुचिकर
तृप्तिपूर्ण भोजन के लिये
हनुमान वनस्पति व्यवहार कीजिये।
विटामिनों से परिपूर्ण हनुमान वनस्पति सुरुचिपूर्ण एवम् सुस्वादपूर्ण व्यंजन बनाने में सहायक है।
HANUMAN
MADE FROM VEGETABLE OILS ONLY
ENRICHED WITH VITAMINS A&D
ROHTAS INDUSTRIES LTD.
हमेशा हनुमान वनस्पति ही खरीदें
हनुमान
निर्माणकर्त्ता
रोहतास इन्डस्ट्रीज लिमिटेड
डालमियानगर (बिहार)

Price Annual Rs.10/- per copy Re.1/- for abroad postage extra 18 nP. This Copy Re 1/- GYANODAY May 1964

REGD. No. L-2036

भारतीय ज्ञानपीठ काशीकी ओरसे बाबूलाल जैन फागुल्ल-द्वारा प्रकाशित और
सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसीमें मुद्रित।

ग्रामोदय

जून १९६४ : मूल्य १.००

साहित्यिक विकास-उन्नयन
सांस्कृतिक अनुसन्धान-प्रकाशन
राष्ट्रीय एकता एवं राष्ट्र-प्रतिष्ठाकी

साधिका
विशिष्ट संस्था

भारतीय ज्ञानपीठ

[स्थापित सन् १९४४]

संस्थापक
श्री शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

ज्ञानोदय

जून १९६४
०

इस अंकमें

संचालक
भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता

कार्यालय
९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७

एकमात्र वितरक
बैनेट कोलमैन ऐण्ड कं० लि०, बम्बई-१

सम्पादक
लक्ष्मीचन्द्र जैन

वार्षिक मूल्य १०.००, एक प्रति १.००

प्रेय और श्रेय

शुभागत

"कौन? कौन रे तू?" कठोर स्वरमें प्रश्नके साथ ही झपटकर द्वारपालने युवककी गरदन दबोच ली, "तेरा इतना साहस कि श्रावस्तीके राजप्रासादके सब प्रहरियोंकी आँखोंमें धूल झोंककर महाराजके शयन-कक्ष तक आ पहुँचा? कौन है तू बोल, चोर या हत्यारा?"

गरदनपर द्वारपालकी पकड़से तिलमिलाये युवकके कण्ठसे आँसुओं-घुटी चीख़-सी निकली, "मैं···मैं···चोर-हत्यारा नहीं, निर्धन विद्यार्थी हूँ। मुझे छोड़ दीजिए, महाराजके पास···"

उसकी वाणीमें कुछ था कि द्वारपालकी पकड़ ढीली पड़ गयी। तभी एक ओरके कक्षसे प्रहरीका स्वर गूँजा : सावधान! और थोड़ी देर बाद वृद्ध महाराज शयन-कक्षमें प्रवेश कर रहे थे। दीपाधारोंपर रखे दीपोंकी लौ ऊँची कर दी गयी थी और मानव-मन तककी परख लेनेवाले महाराजने देखा, एक भव्य-सा युवक स्तब्ध खड़ा है और अब शालीन भावसे प्रणाम निवेदन कर रहा है। प्रहरी नत-मस्तक थे।

"कौन तुम? यहाँ क्यों?" महाराजके स्वरमें आक्रोश न था, विस्मय-भरी जिज्ञासा थी। दो-चार प्रश्नोंमें सारी सच्ची घटना सामने आ गयी, युवकने कुछ भी छिपाया नहीं।

युवक, अभिराम कपिल, कौशाम्बीके प्रधान राजपुरोहितका पुत्र है। यहाँ श्रावस्तीमें आचार्य इन्द्रदत्तके पास शास्त्रोंका अध्ययन करता है। आचार्यने नगर-सेठके यहाँ भोजनका प्रबन्ध करा दिया है। किन्तु तरुणाईके आवेगने संयमके बन्ध ढीले कर दिये और नगरसेठके यहाँ भोजन परोसनेवाली परिचारिकाने उसे मोहित कर लिया है। प्रेमकी सम्पुष्टिमें परिचारिकाने उससे इस वसन्तोत्सवपर सुन्दर वस्त्राभूषणों-

की माँग की है । कपिलके पास तो एक मुद्रा भी नहीं । परिचारिकाने ही इसलिए मार्ग भी सुझाया कि श्रावस्ती-महाराज प्रतिदिन प्रात: नियमसे सर्वप्रथम याचकको दो माशे स्वर्ण दान करते हैं । युवक इसी प्रयोजनसे चतुराई-पूर्वक महाराजके शयन-कक्ष तक आया कि दो माशे स्वर्ण-दान प्राप्त करके उस परिचा-रिकाके सम्मोहनके सामने आत्म-सम्मानकी रक्षा कर सके। अन्ध असंयमकी पाशमें फँसकर वह इस दशामें महाराजके सम्मुख पहुँचा, इसकी उसे लज्जा है ।

युवककी निश्छल आत्म-स्वीकृति सुनकर महाराज मुसकराये, "इस निष्कपट आत्मा-लोचनाका मूल्य मैं जानता हूँ, विप्र-सुत ! मैं प्रसन्न हूँ तुमपर, जो माँगोगे दूँगा । नि:संकोच बोलो ।"

अभिराम कपिलके लिए यह वरदान नितान्त अप्रत्याशित था। अब क्या माँगे वह ? मात्र दो माशे सोना क्यों ? सौ स्वर्ण-मुद्राएँ माँग ले ! सौ ही ? एक सहस्र बहुत हैं, किन्तु कितने दिन चलेंगी ? फिर तो उसे कल्पनामें एक लक्ष मुद्रा भी कम लगीं और वह एक करोड़की याचनाके लिए कृत-निश्चय हो गया । मगर संसारमें लोभसे बड़ा याचक कौन ? कपिलके मनने तर्क किया : जब महाराज सब कुछ देनेको तैयार हैं तब माँगनेमें संकोच क्यों ? वह एक-एक शब्दको तौलता हुआ-सा बोला, "महाराज, मुझे अपना राज्य दे दीजिए ।"

प्रहरी आदि सब अवाक् । युवककी दृष्टि महाराजके मुखपर निर्निमेष गड़ी थी । मुस्कानको सहेजते-से महाराज बोले, "जानता हूँ, वत्स, जिसकी कामना ऊँचे शिखरोंको नापती है वही राज्यका मूल्य ठीक आँकेगा और इसे सँभालेगा । मैं सन्तानहीन तो सोच ही रहा था कि कौन साहसी युवक आयेगा जो मुझे इन बन्धनोंसे मुक्त करेगा । राज्य इसी क्षण तुम्हारा हुआ । मैं आत्मसाधनके लिए वन-गमन करूँगा । तृष्णाओं और काम-नाओंकी प्राणघातक पाशोंमें जकड़ा हुआ मैं चिन्तनके क्षणोंमें विकल होता रहा हूँ कि इनसे मुझे कब मुक्ति मिलेगी । अब तुम आ गये..."

गद्‌गद भावसे महाराज कहे चले जा रहे थे, किन्तु कपिल अपने विचारोंमें खो गया था : दो माशा स्वर्णके लोभने, एक तुच्छ दासीके सम्मोहनने, अभी-अभी मेरी गरदनको द्वारपालके पंजोंमें फँसा दिया था। तब कितनी भयंकर होगी जकड़ इस राजसी तृष्णा और कामनाकी कि महाराज इससे छूट पानेको ऐसे आकुल हैं ! भाग्यहीन मैं जो इसमें फँसनेको आतुर हुआ ! मैं मूढ़ हूँ जो आचार्य इन्द्रदत्त-द्वारा निर्देशित श्रेयके अमरत्वको छोड़कर प्रेमकी कामना कर बैठा !

अभिराम कपिलने वृद्ध महाराजके चरण छूते हुए कहा, "राजर्षि, आपने मेरे अन्तरके नयन खोल दिये । मुझे राज्य नहीं चाहिए, दो माशा स्वर्ण भी नहीं चाहिए । मुझे मेरा प्राप्य मिल गया ।"

कपिल श्रेयकी ओर जा रहा था और श्रावस्ती-नरेश सोच रहे थे कि इस प्रेय-पाशसे कैसे मुक्त हों ।
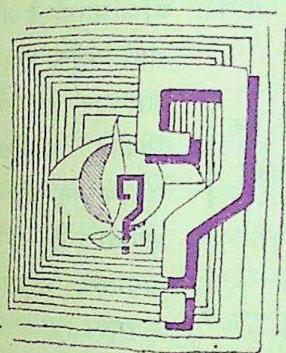
आत्माके अस्तित्वकी समस्या

सूर्यदेव पाण्डेय

आत्माके अस्तित्व और अनस्तित्वकी समस्याओंसे जूझनेवाले दार्शनिकों और दर्शन-शास्त्रोंके निष्कर्षोंका सार-संचय

किसी वस्तुके विवादास्पद अस्तित्वकी कल्पना करते समय यह कल्पना अनिवार्य है कि वह वस्तु नहीं है अथवा नहीं भी है। अस्तित्वविहीनताकी कल्पना करके अस्तित्वका प्रमाण कैसे दिया जा सकता है? जब हम किसी वस्तुकी कल्पना करते हैं तो उसके अस्तित्वकी कल्पना भी अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त जब हम किसी ऐसी वस्तुकी कल्पना करते हैं जिसके अस्तित्वकी कल्पना करना कठिन है तो उसके न होनेकी बात भी मनमें उठती है। इस तरहकी कल्पना 'सम्भावना' कहलाती है। सम्भावनाकी स्थितिमें वस्तुके होने अथवा न होनेकी बात दृढ़तापूर्वक नहीं कही जा सकती।

इसी सिद्धान्तके आधारपर हम यह मान लेते हैं कि वस्तु नहीं है, उसकी कल्पना ही कल्पना है। किन्तु काल्पनिक वस्तुका भी गुण होता है। तब वस्तुके अस्तित्वको अस्वीकार करके तथा उसके काल्पनिक गुणोंकी सहायतासे अस्तित्ववाली वस्तुओंके गुणोंको परखनेकी चेष्टा करें।

तर्क-संग्रहके बुद्धिखण्डमें बुद्धिको सब व्यवहारोंका हेतु बताया गया है। वास्तवमें यही ज्ञान है। बुद्धिकी दो स्थितियाँ होती हैं—'स्मृति' और 'अनुभव'। पूर्व अनुभवके आधारपर उत्पन्न हुआ ज्ञान स्मृति है, स्मृतिके अतिरिक्त जो ज्ञान है वह अनुभव कहलाता है।

अनुभव भी दो प्रकारका होता है—'यथार्थ' अनुभव एवं 'अयथार्थ' अनुभव। जिस अनुभवमें वस्तु जिस प्रकारकी है, वैसी ही जानी जाये, वह अनुभव यथार्थ अनुभव है, और जिस अनुभवमें वस्तु जिस प्रकारकी है, वैसी न जानी जाये, वह अयथार्थ अनुभव है।

जिस वस्तुका प्रमाण अपेक्षित हो वह 'प्रमेय' कहलाती है एवं वह विधि जिसके द्वारा प्रमेयका यथार्थ अनुभव हो, 'प्रमाण' कहलाती है।

> और ढलते दिनमें-से आती हुई एक आवाज बतलाती है मुझे, अँधेरेमें भी एक सम्पूर्ण दृष्टि है।
>
> —अन्तोन्यो रिनाल्दी

मात्र प्रमेयकी उपस्थिति ही यथार्थ अनुभवके लिए पर्याप्त नहीं है, यथार्थ अनुभवके लिए और बातें भी आवश्यक हैं। किसी भी वस्तुका यथार्थ अनुभव तबतक सम्भव नहीं है जबतक प्रमाण न हो। प्रमाण यथार्थ अनुभवका कारण है। प्रमाणका अर्थ इस तरह समझें—किसी वस्तुका प्रत्यक्ष ज्ञान कई कारणोंपर निर्भर करता है। उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है उस वस्तुका व्यक्तिकी ज्ञानेन्द्रियोंके सम्पर्कमें आना। यही कारण है, इसके अतिरिक्त व्यक्ति व उसके मस्तिष्कका उपस्थित रहना भी अनिवार्य है।

यथार्थ अनुभवका आधार क्या हो इस सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न विचार-पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न मतोंको प्रश्रय देती हैं। यहाँ कुछ प्रमुख विचार-पद्धतियोंके ही मतोंका उल्लेख सम्भव होगा।

चार्वाकके अनुसार प्रत्यक्ष ही यथार्थ अनुभव है। वैशेषिक, जैन व बौद्ध मतानुसार यथार्थ अनुभवके लिए प्रत्यक्षके साथ-साथ अनुमान भी आवश्यक है। सांख्य व योग-पद्धतिमें यथार्थ अनुभवके लिए तीन बातोंकी आवश्यकता पड़ती है—प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द, यानी प्रत्यक्ष और अनुमानके साथ-साथ वस्तुका नाम भी आवश्यक है। नैयायिकोंके मतानुसार यथार्थ अनुभवके चार उपादान हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द तथा उपमान।

उपमान उपमितिका कारण है। किसी नामसे उस नामवाली वस्तुके ज्ञानको उपमिति कहते हैं। इसका कारण सादृश्य ज्ञान है। पहले सुने हुए विश्वस्त पुरुषके वाक्यके अर्थका स्मरण भी इसमें कारण होता है। उदाहरणार्थ, किसी व्यक्तिने किसीसे सुना कि टट्टू घोड़ेके सदृश होता है। जब उसने इस वाक्यको स्मरण करते हुए एक ऐसे पशुको देखा जो घोड़ेके सदृश था तो उसको यह ज्ञान हो गया कि वह टट्टू है। इस ज्ञानका नाम उपमिति है।

हमारी वार्ताका विषय है—आत्माके अस्तित्वकी समस्या। विषय समझनेके लिए तर्कसंग्रहके बुद्धि खण्डकी संक्षिप्त विवेचना आवश्यक थी। अब हम अपने विषयपर आते हैं।

आत्मा क्या है, यह बतानेकी आवश्यकता नहीं। आत्मा है या नहीं, इस बातके विवे-

चनसे ही उसके गुण आदिका ज्ञान हो जायेगा। पश्चिमके विचारकोंसे ही विवाद आरम्भ करते हैं।

(निम्नलिखित पंक्तियोंमें अहम् अँगरेज़ीके Self के हिन्दी समानार्थककी तरह प्रयुक्त हुआ है। प्रस्तुत लेखमें पश्चिमी विचारधाराकी विवेचनाके सन्दर्भमें यह आत्माका पर्याय है।)

अरस्तू स्पिनोजा, लाक, हेगल और काण्टकी ही श्रेणीमें अमरीकाके दार्शनिक पाल वेस्स आते हैं। आत्माके अस्तित्वकी सत्यताको स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा : "व्यक्तिका अहम् वह बोध है जिससे वह स्वयंको स्वयं समझता है। यह स्वयंको स्वयं समझनेका भाव बदलता नहीं। व्यक्तिका शरीर बदलता है, बढ़ता है, क्षय होता रहता है किन्तु वह मृत्युपर्यन्त स्वयंको स्वयं समझता रहता है।

"स्वयंको स्वयं समझनेका भाव ही जीवन है, मस्तिष्क है और इच्छाशक्ति है। यदि मस्तिष्कमें यह बोध-विशेष न हो तो अपने शरीरपर उसका नियन्त्रण नहीं रहेगा, मस्तिष्कपर उसका नियन्त्रण नहीं रहेगा; तब वह यह अनुभव नहीं कर सकेगा कि क्या हुआ, क्या हो रहा है और क्या होगा या क्या नहीं हुआ, क्या नहीं होना चाहिए।

पाल वेस्सके अनुसार प्रत्येक जीवधारीकी आत्मा नहीं होती। वह कहते हैं : "जन्तु जीवित है पर आत्मासे वंचित है। मनुष्य जीवित है क्योंकि उसकी आत्मा है। उसकी आत्मा ही उसे जीवित रखती है। वह जन्तुओंके विपरीत अन्य शक्तियोंका प्रदर्शन करता है, जिन्हें वह जानता है।

"आत्मा सम्पूर्ण शरीरमें बसती है। इन्द्रियजनित ज्ञान आत्माका ही परिणाम है। आत्माके कारण ही वह कार्य करता है। आत्मा अविनाशी है।" (मोड्स ऑफ़ बीइंग पृष्ठ ४७-५२)

> विवेक, मुझे वस्तुओंकी ठीक-ठीक संज्ञा दो! मेरे शब्द स्वतःसिद्ध, स्वतःसार्थक हों, मेरी आत्माके द्वारा नव-रचित। वे जो नहीं जानते, मेरे माध्यमसे उपलब्ध करें...
>
> —जुआं रेमोंजिमिनेज

पाइथागोरस तो कहते हैं कि आत्माका अस्तित्व जीवनसे पूर्वका है। अफ़लातून जीवनसे पूर्व और उत्तर दोनों स्थितियोंमें इसके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं। वर्तमान युगीन मनोवैज्ञानिक मान्यताके अनुसार यह नश्वर है, इसकी प्रकृति नश्वर है, इसका कार्यक्षेत्र नश्वर है। मृत्युके बाद इसका अस्तित्व मिट जाता है, लुप्त हो जाता है, सदैव-सदैवके लिए समाप्त हो जाता है। पर इसकी शक्ति, क्षमता व प्रकृतिकी नश्वरता या अमरताके सिद्धान्तकी स्थापना ही पर्याप्त नहीं है। इसके अस्तित्वकी विवेचना भी आवश्यक है।

देस्कार्तस और काण्ट कहते हैं कि व्यक्ति हमेशा सोचता रहता है। वे मान लेते हैं कि व्यक्तिके पास मस्तिष्क है पर अहम् नहीं

है। मस्तिष्कका गुण है सोचना। इस सोचनेका आधार है स्वयंको स्वयं समझना। स्वयंको स्वयं समझना ही अहम्‌की अभिव्यक्ति है। पर मस्तिष्कके सोचनेका एक ऐसा भी प्रकार है जिसके सम्बन्धमें हम कुछ नहीं जानते, और वास्तवमें इसे सोचना कहेंगे भी नहीं। इसलिए देस्कार्तस और काण्टका तर्क उचित ही है।

लेकिन यह विचित्र-सा लगता है कि जड़ मनुष्यमें सोचनेवाला मनुष्य निवास करता है। यदि मस्तिष्क वास्तवमें विचारोंद्वारा निर्मित हुआ है और उसका अस्तित्व सोचनेकी क्रियाके अन्तर्गत है तो यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि व्यक्तिके पास सदैव मस्तिष्क नहीं रहता। हाँ, मस्तिष्कीय क्षमता सदैव रहती है। इस बातके प्रमाणमें सुषुप्तिका उदाहरण पर्याप्त होगा।

पाल वेस्स, देस्कार्तस और काण्टके मतोंको नहीं मानते। वे कहते हैं: "मस्तिष्क अहम्‌की सांकेतिक अभिव्यक्ति है और अहम्‌की अनुपस्थितिमें इसका अस्तित्व मिट जाता है।" (मोड्स आफ़ बीइंग...पृष्ठ ५३) इसका अर्थ हुआ, मस्तिष्क या मस्तिष्कीय क्षमता अहम् नहीं है।

आत्माके अस्तित्वका विवाद दर्शनका आधार है। कदाचित् पाल वेस्स यह कहना चाहते हैं कि स्वयंको स्वयं समझनेका बोध अहम् है और यह अहम् ही आत्मा है। पर यह समझमें नहीं आता कि पाल वेस्सके इस सिद्धान्तका आधार क्या है?

आत्माके दार्शनिक विश्लेषणके आधारपर हमारी स्वयंको स्वयं समझनेकी भावना स्थायी होनी चाहिए। पर यह स्थायी नहीं है क्योंकि यह मस्तिष्कीय प्रतिक्रिया है जो सर्वथा अस्थायी है।

लाक यद्यपि आत्माके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं, किन्तु प्रमाणके अभावमें इसे सिद्ध करनेके लिए 'मान'कर चलते हैं कि आत्मा है।

स्काट-पद्धतिके अनुयायी डॉक्टर वेलैण्ड अपनी पुस्तक 'एलिमेण्ट्स आफ़ इण्टेलेक्चुअल फ़िलोसोफ़ी'में एक जगह लिखते हैं: "मस्तिष्कके मूल तत्त्वके सम्बन्धमें हम कुछ नहीं जानते पर इसके गुणोंके सम्बन्धमें हम कह सकते हैं कि यह अनुभव करता है, प्रकाशित करता है, स्मरण रखता है, कल्पना करता है और इच्छाका प्रसार करता है। लेकिन इन शक्तियोंके उद्भवमें सहायक वह मूलतत्त्व हमें ज्ञात नहीं।" और शायद वह 'मूलतत्त्व' ही आत्मा है।

स्काट-पद्धतिके अनुयायियोंका कथन है कि आत्माको जाना नहीं जा सकता, पर यह निर्देश नहीं मिलता कि न जानने योग्यआत्माका अस्तित्व स्वीकार किया जाये या नहीं।

१९वीं शताब्दीके महान् विचारक, दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स भी इस विवादसे अलग न रह सके। अपनी पुस्तक 'प्रिन्सपल्ज़ आफ़ साइकोलाजी'में वे लिखते हैं कि यदि हमसे यह पूछा जाये कि आत्मा क्या है तो हमारा यही उत्तर होगा कि यह जीवनका अस्तित्व है। वास्तवमें यह

[शेष पृष्ठ ११५ पर]

कुण्डेश्वर [टीकमगढ़]

१० मार्च १९५२

प्रातःकालके नौ बजे होंगे कि हमारे उपवनके द्वारपर मोटरके भोंपूकी आवाज़ सुनाई दी। आवाज़ जानी-पहचानी थी। किसीने कहा ही था कि शायद महाराज पधारे हैं कि इतनेमें मोटर आ पहुँची ! उतरते ही महाराजने कहा, "कहौ चौबेजी ! क्या हाल-चाल है ?"

मैंने कहा, "आपकी कृपासे सब ठीक है।"

पन्द्रह-बीस मिनिट तक इधर-उधरकी बातचीत होती रही। फिर महाराजने चिरंजीव रामगोपालसे कहा, "गुपलेश, तुम्हारे पिताजीमें तो इतना सलीका ही नहीं कि ये तुमसे चायके लिए पूछें सो तुम्हीं चाय बनवाके लाओ !"

मैंने कुछ लज्जित होकर कहा, "आपके मनोरंजक वार्त्तालापमें इतना उलझ जाता हूँ कि याद ही नहीं रहती ! अब भविष्यमें ऐसी भूल नहीं होगी।"

महाराजने उत्तर दिया, "जब चौदह वर्षोंमें आपने शिष्टाचार नहीं सीखा तो अब क्या सीखोगे ?"
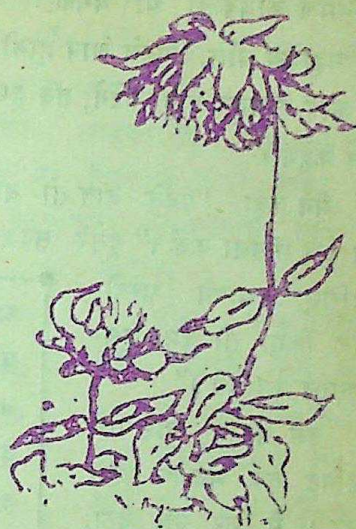
संसद में बारह वर्ष

बनारसीदास चतुर्वेदी

अपनी संसद-सदस्यताका एक सिंहावलोकन — साहित्य-साधक श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी-द्वारा

चाय आयी और उसके साथ उनकी प्रिय नमकीन साकें भी। बातचीतमें भी कुछ गरमी आयी और चार घण्टे तक हँसीके फव्वारे छूटते रहे।

दिल्लीसे तार

महाराजके चले जानेपर मैंने भोजन किया और मेज़पर पैर फैलाकर विश्राम करनेकी मैं तैयारी कर ही रहा था कि टीकमगढ़से

चार-पाँच कार्यकर्ता आ धमके ! आते ही एक महाशय बोले, "पहले आप हामी भर दो कि आप नामंजूर नहीं करेंगे, तब हम अपनी बात कहेंगे।"

मैंने कहा, "पहले बात तो बतलाइए, तब कुछ फ़ैसला करूँ।" दूसरे सज्जन बोले, "देखिए, आपने अस्वीकार किया तो हम भूख-हड़ताल कर देंगे।"

इस प्रकार चार-पाँच मिनिट तक मज़ाक़ होता रहा। मैं फिर पूछ बैठा, "यह आपके हाथमें क्या है?"

एक महानुभाव बोले, "आपके नामका तार।"

मैंने कृत्रिम क्रोधसे कहा, "आप लोग भी अजीब आदमी हैं ! मेरे नामका प्राइवेट तार आपने खोल लिया और मुझीपर रोब गाँठ रहे हैं !"

अपने बचपनकी बातोंको याद करें और अब अपने बच्चोंकी बातोंको ध्यानसे देखें-समझें। जितना अन्तर पायें उसे समय, समाज, और सभ्यताकी प्रगतिका माप मान लें।

एक पहेली

तार खोलकर पढ़ा गया। उसका मज़मून था—"पार्लमेण्टरी बोर्डने तय किया है कि आप राज्यसभाके लिए खड़े हो जायें। अपने काग़ज़ात लेकर ११ ता० को रीवाँ पहुँच जाइए और नामीनेशन-पेपर दाखिल कीजिए। – शम्भुनाथ शुक्ल।"

मेरी समझमें यह क़िस्सा बिलकुल नहीं आया। पहले तो मुझे यह खयाल आया कि आज होलीका दिन है, चौबेजीके साथ किसीने गहरा मज़ाक़ किया है ! न तो मैं कांग्रेसका मेम्बर ही था और न स्थानीय या प्रदेशीय कांग्रेसका कृपापात्र। स्वाधीनता-संग्राममें भाग लेना तो दूर रहा, मैंने जेलके कभी दर्शन भी नहीं किये थे। राज्यसभाका नाम ज़रूर सुना था, पर उसके बारेमें कुछ भी नहीं जानता था।

ख़ैर, वोटरलिस्ट तलाश की गयी और उसे लेकर मैं रीवाँके लिए रवाना हुआ। नामज़दगी विधिवत् हो गयी और कुछ दिन बाद चुनाव भी, जिसमें सबसे अधिक वोट १६ मेरे ही आये, जब कि १३ पर ही चुनाव हो सकता था। शायद कुछ स्वतन्त्र व्यक्तियोंने मेरे नामपर वोट दे दिये थे।

इस प्रकार मैं संसद-सदस्य बन गया, पर अभीतक मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि मुझे संसद-सदस्य बनानेकी प्रारम्भिक कृपा किसने की थी। कमसे कम बीस-पचीस व्यक्तियोंने उसका श्रेय लिया है और मैं किसीपर भी अविश्वास नहीं करना चाहता।

संवेदनाका तार

चुनावपर बधाइयोंके तार और पत्र बहुत-से आये, पर एक उनमें सबसे निराला था और वह था श्री सम्पूर्णानन्दजीका। उसका आशय यह था :

"संवेदना प्रकट करता हूँ प्रिन्स क्रोपाटकिनके साथ, जिनकी आत्मा अपने अनुयायीके इस नैतिक पतनके कारण आज नरकमें तड़प रही होगी—सम्पूर्णानन्द।"

निस्सन्देह इस व्यंग्यमें सत्यका अंश था। मैं १९१८ से क्रोपाटकिनके अराजकवादका प्रचार करता रहा था और अब १९५२ में राज्यसभाका सदस्य बन गया! एक आदमी ईश्वरसे प्रार्थना किया करता था कि हे ईश्वर! चढ़नेके लिए मुझे एक घोड़ा दे दो। दुर्भाग्यसे उसके मुहल्लेमें चोरी हो गयी। उन महानुभावको शकमें पकड़ लिया गया और काला मुँह करके गधेपर चढ़ाकर निकाला गया! उस वक़्त आप बोले, "या ख़ुदा! ख़ुदाई करते-करते इतने बरस हो गये, पर तुमने घोड़े-गधेमें फ़र्क करना नहीं सीखा।"

> **बैंक**—
> वह जगह जहाँसे आपको रुपया उधार तब मिलता है जब आप यह साबित कर देते हैं कि आप इतने धनी हैं कि आपको रुपया लेनेकी ज़रूरत नहीं।

ख़ैर, जो भाग्यमें बदा होता है, वह होकर रहता है। मेरे कितने ही मित्र और अमित्र अभीतक इस बातपर यक़ीन नहीं करते कि मैंने मेम्बरीके लिए कोई कोशिश न की होगी! संसद-सदस्यताके लिए लोग साठ-साठ हज़ार ख़र्च करते हैं, पर मेरे तो कुल जमा तीस रुपये मार्ग-व्ययमें ख़र्च हुए।

सस्ती चीज़

पार्लामेण्टकी मेम्बरी मुझे बहुत सस्ती मिल गयी और इसी कारण मैं उसका मूल्य नहीं आँक सका। दिल्ली पहुँचनेपर मुझे इस बातका पता लगा कि श्रद्धेय टण्डनजी, मौलाना अबुलक़लाम आज़ाद और माननीय श्रीप्रकाशजीने मेरे नामका ज़ोरदार समर्थन किया था। पूज्य बापूजीने कहा, "जब तुम्हारा नाम उपस्थित हुआ तो मुझे बहुत हर्ष हुआ और मैंने कहा कि तुम्हें ज़रूर मेम्बर बनाना चाहिए।"

मौलाना साहबने कहा, "आपका नाम आते ही मेरे दिमाग़में सारा नक्शा घूम गया। कलकत्तेकी मुलाक़ातोंकी याद आ गयी।"

और श्रीप्रकाशजीने कहा, "आपका नाम आते ही श्री जवाहरलालजीने पूछा, चतुर्वेदीजी हैं क्या? और काम क्या करते हैं? मैंने उत्तर दिया, आपको पता नहीं, वे बहुत काम कर रहे हैं और टीकमगढ़में हैं।"

यह भी मुझे ज्ञात हुआ कि यद्यपि प्रारम्भमें भेजे गये २८ नामोंमें मेरा नाम नहीं था, तथापि पीछे विन्ध्य-प्रदेशके काँग्रेसी कार्यकर्ताओंने सहर्ष मेरे नामका समर्थन किया था।

दिल्लीमें निवास

काँग्रेस-पार्टीका मैं हृदयसे कृतज्ञ हूँ कि उसने अपनी उदारताके कारण मेरे-जैसे एक साधारण साहित्यिकको, जिसका राजनीतिसे कोई सम्बन्ध नहीं था, राज्यसभामें भेज दिया। यही नहीं, उस पार्टीने मेरे साथ आगे बारह वर्षोंमें जिस सहिष्णुताका बरताव किया, वह निस्सन्देह अनुपम ही कहा जायेगा। पार्टीके मुख्य सचेतक श्री सत्यनारायण सिंह स्वयं अच्छे साहित्यप्रेमी हैं और आचार्य पं० पद्मसिंहजीके भक्त।

उनकी कृपासे मैंने बारह वर्ष तक पूर्ण स्वाधीनताका उपभोग किया। वे मेरे साहित्यिक कार्यसे कुछ-कुछ परिचित थे, और सम्भवतः बन्धुवर राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंहने उनसे मेरी सिफ़ारिश कर दी थी कि मुझे साहित्यिक या सांस्कृतिक कार्योंके लिए सर्वथा उन्मुक्त कर दिया जाये! उप-सचेतक—डिप्टी ह्विप—श्री डूगर भाईने तो स्वाधीनताकी पराकाष्ठा कर दी। जब दो-तिहाई वोटोंकी ज़रूरत पड़ती तो ऐन वोटिंगके वक्त वे मुझे बुलाते! इस प्रकार मैं संसदका एक **प्रायः ग़ैरहाज़िर मेम्बर** बारह वर्ष तक बना रहा।

थोड़ा-सा कार्य

बात दरअसल यह थी कि मैं अपने जीवनकी साठवीं वर्षमें दिल्ली पहुँचा था, जब कि मेरी भली-बुरी आदतें पक्की बन चुकी थीं। मसलन मैं ३ जुलाई सन् १९२० से दोपहरको ढाई घण्टे विश्राम करनेका अभ्यस्त बन चुका था और बत्तीस बरसकी पुरानी आदत छूट नहीं सकती थी। इसके सिवाय प्रातःकालके चार बजेसे ग्यारह बजे तक कुछ-न-कुछ काम करते रहनेके बाद शरीरमें इतनी शक्ति ही शेष नहीं रह जाती थी कि मैं संसदका कुछ काम कर सकता। फिर भी मैं कभी-कभी शामको वहाँ चला जाता था और कई बार मुझे वहाँ बोलना भी पड़ा था। मेरे द्वारा जो थोड़ी-सी सेवा दिल्लीमें बन पड़ी वह संसदके बाहरकी ही थी। उसका विस्तृत ब्यौरा देना मेरा काम नहीं, संक्षेपमें इतना ही निवेदन कर देना पर्याप्त होगा कि अपने संसद-कालमें मैं शहीदोंके बारेमें तेरह चीज़ें – किताबें अथवा विशेषांक – निकलवा सका और चौदहवाँ विशेषांक नर्मदाका चन्द्रशेखर आज़ाद-नम्बर शीघ्रही छपकर जनताके सम्मुख आ जायेगा।

आठ-नौ राजनीतिक पीड़ितोंको पेन्शन दिलानेमें भी मुझे सफलता मिली और क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओंकी कान्फ्रेन्सोंमें भी मैंने भाग लिया। स्वामी केशवानन्द-अभिनन्दन-ग्रन्थ भी मेरे-द्वारा सम्पादित हुआ। स्वामीजी-जैसे कर्मठ संन्यासीका कृपापात्र बनना मेरे लिए परम सौभाग्यकी बात थी। अभी-अभी उन्होंने मेरे स्वप्न—लाला हरदयालकक्ष—को पूरा कर दिया है। अनेक क्रान्तिकारियोंके दुर्लभ चित्र वहाँ प्रदर्शित हैं!

साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्य भी कुछ

कलसे बिलकुल बन्द

एक बलगेरियन महिला, लोरा डोबरिच, जो सर्कसमें तने रस्सेपर चलनेका खेल दिखाया करती थी, अपने पिछले दिनोंका एक क़िस्सा यों सुनाती हैं:

"उन दिनों मेरे गर्भमें पाँच-छह महीनेका शिशु था। मैंने सबोंसे यह बात छिपा रखी थी और सर्कसका खेल हर-रात दिखाया करती थी। पर एक दिन मुझे डॉक्टरके पास जाना पड़ा। उसने

न-कुछ चलता ही रहा। टाल्स्टाय, चेखव तथा कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी जो जयन्तियाँ या पुण्यतिथियाँ प्रगतिशील संस्थाओंने मनायीं उनमें मुझे ही प्रधान बनकर निरन्तर कार्य करना पड़ा।

नयी दिल्लीमें हिन्दी-भवनकी स्थापना मेरा एक पुराना स्वप्न था, जो वहाँ पूरा हुआ और उसके लिए जो अल्प सेवा मुझसे बन पड़ी, उसका हाल दूसरे ही बतला सकते हैं। दलगत राजनीतिमें मेरा कभी भी विश्वास नहीं रहा, इसलिए अपने साहित्यिक अथवा सांस्कृतिक कार्योंमें मैं सभीका सहयोग लेता रहा। उससे कुछ ग़लतफ़हमी भी हुई, जो सर्वथा स्वाभाविक थी। मेरे घरका द्वार सभीके लिए खुला हुआ था और सभी पार्टियोंके व्यक्तियोंका वहाँ हार्दिक स्वागत होता था।

सबसे बड़ा लाभ

सबसे बड़ा लाभ जो मुझे दिल्ली रहनेसे हुआ वह था विभिन्न दलोंके प्रतिष्ठित नेताओं अथवा कार्यकर्ताओंसे परिचय।

आचार्य नरेन्द्रदेवजीको जब कभी हँसना-हँसाना होता था, वे मुझे याद कर लिया करते थे। उनका वह स्नेहपूर्ण व्यवहार कभी भुलाये नहीं भूल सकता।

एक बार आचार्यजी राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी गुप्तके यहाँ पधारे थे। तुरन्त ही मुझे बुला भेजा। घण्टे-भर मजाक होता रहा। यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं कि प्रायः मैं ही उपहास-पात्र बन जाता था। —बीचमें तंग आकर कुछ कृत्रिम क्रोधके साथ मैंने पूज्य दद्दा (कविवर गुप्तजी) से कहा, "ग़रीबकी जोरू, सबकी भाभी!" इसपर कवि महोदयने तुरन्त ही उत्तर दिया, "हम लोग उस ग़रीबकी ही तो तलाशमें हैं, जिसकी तुम जोरू हो!"

सब लोग ख़ूब हँसे।

जब आचार्यजी जाने लगे तो मोटरके निकट पहुँचकर मैंने शिकायतके स्वरमें कहा, "देखिए! आचार्यजी, मैं कुछ गम्भीर वार्तालाप आपसे करना चाहता हूँ, पर आप कभी मौक़ा ही नहीं देते।" इसपर आचार्यजीने बड़ी गम्भीरतापूर्वक कहा, "सुनिए चौबेजी, मैं मुँह देखकर बात करता हूँ।"

मुझे हँसी आ गयी और आचार्यजी भी हँसने लगे।

साम्यवादी दलके उपनेता श्री हीरेन मुकर्जी और श्री गंगाशरण सिंहके सत्संगका सौभाग्य भी कभी-कभी मुझे मिला। दोनों बहुत अच्छा बोलते हैं और दोनोंकी

मुझे दवा दी तो मैंने पूछा कि क्या मैं अपनी नौकरीपर जा सकती हूँ। उसने कहा, यह आपके कामपर निर्भर है, क्या काम करती हैं आप? मैंने बताया, मैं सर्कसमें काम करती हूँ—तने हुए रस्सेपर चलनेका। सुनते ही वह कुरसीपर-से गिरते-गिरते बचा। आखिर सँभलता हुआ बोला, "ख़ैर, आज आप अपने कामपर जा सकती हैं, आज मैंने सर्कसके टिकिट ले रखे हैं, लेकिन कलसे···कलसे यह काम-धाम बिलकुल बन्द!"

रुचि बड़ी परिष्कृत है। सुप्रसिद्ध साम्यवादी नेता श्री अजय घोष तो हमारे पड़ोसी ही थे, पर उनके अधिक निकट पहुँचनेका प्रयत्न मैंने कभी नहीं किया। हाँ, एक बार पौन घण्टे तक उनसे वार्तालाप अवश्य हुआ था। हाँ, दो साम्यवादी कार्यकर्ताओंके हार्दिक सहयोगको मैं कभी नहीं भूल सकता—एक तो श्रीयुत नन्दीजी और दूसरे श्री शिवनारायण श्रीवास्तव। इन दोनोंने मेरे कार्यमें भरपूर मदद दी। 'विशाल भारत'का पुराना साथी रामधन तो बराबर सहायक रहा ही।

पुराने साथी

दिल्ली मेरे लिए कोई नयी जगह नहीं थी और वहाँ पहुँचनेपर मुझे पता लगा कि मैं अपने पुराने साथियोंके बीचमें ही आ गया हूँ। उनमें कितने ही 'विशाल भारत'के पुराने लेखक थे, कई 'मधुकर'के सहयोगी और कई गुजरात विद्यापीठके साथी अथवा शिष्य थे। राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी गुप्त, काका कालेलकर, प्रोफ़ेसर मलकानी, कविवर दिनकरजी, नवीनजी, श्री राजेश्वर बाबू, राजकुमार रघुवीर सिंह, इत्यादिसे तो बहुत पुराना सम्बन्ध था ही, दिल्लीके साहित्यिक तथा सांस्कृतिक जीवनमें सबसे अधिक सहयोग मिला मुझे बहन सत्यवती मलिकसे, जो 'विशाल भारत'की पुरानी लेखिका रही हैं। हिन्दी-भवनका मुख्य भार उन्हींपर रहा।

> एक छोटे-से शहरमें नयी बन्दरगाहका उद्घाटन करनेके लिए बादशाहको दावत दी गयी। जब बादशाहकी सवारी बन्दरगाहकी तरफ़ रवाना हुई तो उसने देखा कि सड़कोंपर हज़ारों बच्चे हाथोंमें झण्डियाँ लिए खड़े हैं और सड़कें उनसे पटी पड़ी हैं।
>
> बादशाहने देखा और आश्चर्यसे कहने लगा : "खुदाकी पनाह, ये इतने बच्चे कहाँसे आये ?"
>
> "जहाँपनाह !" वज़ीरने जवाब दिया – "आपकी प्रजा बरसोंसे हुज़ूरके स्वागतकी तैयारियाँ कर रही थी।"

'मधुकर'के दिनोंके साथी बन्धुवर यशपालजी और भाई जगदीश चतुर्वेदी तो सदैव सहायता देते रहे। इसी दर्मियान मुझे अखिल-भारत-श्रमजीवी-पत्रकार-संघका प्रधान बनना पड़ा और वर्किंग जर्नेलेस्टिका क़ानून भी इसी बीच बना। उस क़ानूनसे श्रमजीवी पत्रकारोंको काफ़ी लाभ हुआ। तदर्थ सबसे अधिक परिश्रम करना पड़ा श्री जगदीशजी तथा श्री राघवनको और बधाइयाँ मिलीं मुझे ! डॉक्टर केसकर साहबने उस वक्त हम लोगोंको जो मदद दी उसे हम कदापि नहीं भूल सकते। निजी तौरपर कितनी ही बातें वे बतलाते रहे। उनके प्राइवेट सेक्रेटरी श्री घोरपड़े 'विशाल भारत'में मेरे सहायक थे।

मन्त्रिमण्डलके अनेक सदस्योंसे परिचय हुआ। माननीय लालबहादुरजी शास्त्रीने कई बातोंमें बड़ी सहायता दी—खास तौरपर हिन्दी-भवनके मामलेमें, और राजनीतिक पीड़ितोंके प्रति उनकी सहानुभूति बराबर रही। माननीय जगजीवनरामजी तथा श्री

राजबहादुरजीसे भी सहयोग मिलता रहा। प्रधान मन्त्री महोदय श्री जवाहरलालजी-को निकटसे देखनेका मौक़ा बहुत बार मिला। मौलाना आज़ादने स्वयं ही बिना मेरी प्रार्थना-के, मुझे साहित्य अकादेमीकी प्रवन्धकारिणी समितिका सदस्य बना दिया था और जब-जब उसकी मीटिंगें होती थीं, पण्डितजी बराबर पधारते थे। अपनी प्रधानतामें उन्होंने अपना प्रभुत्व कभी प्रकट नहीं किया। साहित्यिकोंके साथ सम्मानयुक्त व्यवहार करनेमें वे कुशल हैं, क्योंकि वे स्वयं एक प्रतिष्ठित साहित्यिक हैं।

साहित्य-अकादेमीकी मीटिंगोंमें प्रोफ़ेसर हुमायूँ कबीर तथा सरदार पणिक्करजीके भी निकट सम्पर्कमें आनेके अवसर मिले। प्रोफ़ेसर साहब समयपर कामको निवटानेमें बड़े कुशल हैं। जो काम करना होता है, शीघ्र ही कर देते हैं, अटकाये नहीं रहते। वे भी उच्चकोटिके साहित्यिक हैं। स्व० पणिक्कर साहबकी एक पुस्तिकाका अनुवाद मैंने सन् १९१६ में किया था और वे बड़े ही सजीव ज़िन्दादिल आदमी थे। वे मुझे 'तपोवनिष्ट' कहकर पुकारते थे, क्योंकि मैंने उनके सामने गवाही देते हुए तपोवनोंकी सभ्यताकी चर्चा कर दी थी! राज्योंके पुनर्संगठनके सिलसिलेमें वे टीकमगढ़ गये थे यह तबकी बात है।

संसदके तीन सदस्य श्री डाह्याभाई पटेल और उनकी बहन श्री मणिबहनको गुजरात विद्यापीठमें मैंने हिन्दी पढ़ायी थी और राज-कुमार रघुवीर सिंहजीको डेलीकॉलेज इन्दौरमें।

> मैं चाहता हूँ खुशीसे ज्ञानवान बनना। शास्त्रोंमें बताया गया है, ज्ञान क्या है : सांसारिक झगड़ोंसे बचो, अपना समय काटो, बिना किसीसे डरे, बिना किसीको प्रताड़ित किये, बुराईके बदले भलाई करके — इच्छाकी तृप्ति नहीं वरन् उसकी उपेक्षा ज्ञान कहलाती है। यह सब कुछ मैं नहीं कर सकता, सचमुच मैं तिमिर-युगमें रहता हूँ।
>
> —बर्तोल्त ब्रेख्त

दिल्लीके साहित्यिकोंसे भी अपना पुराना सम्बन्ध था। सर्वश्री चन्द्रगुप्तजी विद्या-लंकार, मोहनसिंह सेंगर, देवेन्द्र सत्यार्थी, गोपाल प्रसाद व्यास, प्रभाकर माचवे, विष्णु प्रभाकर, बाँकेबिहारी भटनागर, प्रयाग नारायण त्रिपाठी प्रभृतिकी उपस्थिति बहुत सहायक सिद्ध हुई। अन्य नाम इस समय याद नहीं आ रहे। हाँ, श्री मन्मथनाथ-जी गुप्तसे मुझे अपने कार्यमें भरपूर सहयोग मिला। और श्री रामलाल पुरीजी मेरे सबसे बड़े सहायक सिद्ध हुए। संसदके धुआँधार भाषणोंके रेगिस्तानमें कभी-कभी हँसी-मज़ाकका नखलिस्तान भी दीख पड़ता है पर उसकी चर्चा इस छोटे-से लेखमें नहीं की जा सकती। संसदका जो सामाजिक पहलू है वह भी कुछ महत्त्व रखता है। मसलन् श्रद्धेय वेंकटेश नारायणजी तिवारीकी कॉफ़ी-क्लब पहले पाँच वर्षों तक बड़ी मनोरंजक और ज्ञानवर्धक जगह बनी रही।

सेण्ट्रल हॉलके हँसी-मज़ाकोंका भी अपना विशेष स्थान था। नवीनजी जहाँ बैठ जाते थे उनके इर्द-गिर्द आनन्दका वातावरण ही तैयार हो जाता था। उम्रमें पाँच वर्ष छोटे होनेपर भी वे मेरे साथ ऐसा व्यवहार करते थे कि मानों मैं छोटा होऊँ! एक बार मैं सैण्ट्रल हॉलमें पहुँचा तो बोले "भई तुम खूब आये। अभी-अभी मैंने एक प्रस्ताव रक्खा है कि राष्ट्रपति महोदय तीन नवीन उपाधियोंकी सृष्टि करें।" मैंने उत्सुकतापूर्वक पूछा "कौन-कौन-सी ?" वे बोले, "पहली 'भारत-साँड', दूसरी 'भारत-राँड' और तीसरी 'भारत-भाँड!" नवीनजीकी इस सूझपर मित्र-मण्डली खिलखिलकार हँस पड़ी। नवीनजीने मुझसे कहा, "इन उपाधियोंमें एक तो आपके लिए सुरक्षित है ही, यानी……" शेष दोके अधिकारियोंके नाम भी उन्होंने गिना दिये!

मेरे संरक्षक

नवीनजी स्वयं ही मेरे संरक्षक बन गये थे और उनका यह आदेश था कि पार्लमिण्ट आनेके पहले रोज मैं अपनी हजामत बनाऊँ और नित्यप्रति नये-स्वच्छ कपड़े पहना करूँ! दावतोंमें भी वे मुझपर पूरी-पूरी कण्ट्रोल रखते थे! क्या मजाल कि उनकी उपस्थितिमें मैं कोई भोजन सम्बन्धी अनाचार कर सकूँ! ऐसे मौक़ोंपर मुझे आँखसे डपट देना, उन्होंने अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझ लिया था।

एक दार्शनिक दृष्टिकोण

अन्य प्रान्तोंके निवासियोंके लिए महात्मा गान्धीजीका एक ही आदेश था : "जहाँ भी रहो, उसे अपने प्रान्तके समान ही प्रेम करो!" दिल्ली में बारह वर्ष रहा और संसदकी छुट्टियाँ भी मैंने वहीं बितायीं। जो कुछ कमाया, वहीं खर्च किया। बन्धुवर श्री ऋषीश्वर नाथजी भट्टने मुझे एक पत्रमें लिखा था – "कमसे कम पचास हजार रुपये तो आपने जमा कर लिये होंगे!"

शायद अन्य मित्रोंका भी ऐसा ही अनुमान हो, इसलिए यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मैं नक़द साढ़े तीन-सौ रुपये लेकर दिल्लीसे घर आया! उसमें भी पैंतालीस रुपये भोपालकी कांग्रेस-कमेटीको इसलिए भेजने पड़े कि ए० आई० सी० सीकी तीन बैठकोंके, जिनमें मैं शामिल भी नहीं हुआ था, पन्द्रह-पन्द्रह रुपये मुझे देने थे।

पर आर्थिक लाभ ही तो सबसे बड़ा लाभ नहीं। दिल्लीमें जो अनुभव मुझे प्राप्त हुए वे मेरे जीवनकी असूल्य निधि हैं। मेरी रूसकी यात्रा भी दिल्ली-निवासके कारण ही सम्भव हुई।

स्वर्गीय बाबू राजेन्द्रप्रसाद, श्रद्धेय टण्डनजी और मौलाना आज़ादकी कृपासे मैं दूसरी बार भी संसदमें पहुँच सका। आज मैं कृतज्ञतापूर्वक इस त्रिमूर्तिको श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

साधारणतः बुन्देलखण्डका और खास तौरपर स्वर्गीय ओरछेशका मैं ऋणी हूँ, जिनके अन्नजलसे पालित-पोषित होकर मैं संसदमें पहुँच सका। उनके नमकको मैं अदा कर सकूँ, इससे अधिक मेरी कोई आकांक्षा नहीं।

दो कवित्त

०
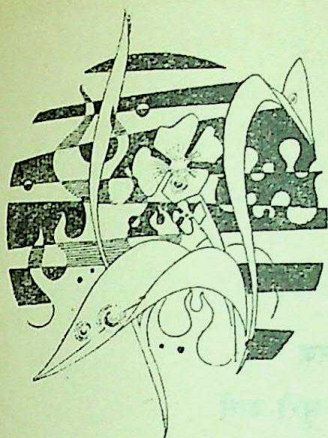
झुलस गये नुकीले दलोंवाले देवदार
परतों पर परतें दरकीं हिमानी की
लगा गया कौन दस्यु जाने किस भाँति आग
सहसा सुलग उठी पीहर भवानी की
उफनाया कालकूट, गर्म हुआ जटाजूट
बल पड़े भृकुटि में त्रिकालज्ञ ध्यानी की
फिर सौ - सौ युगों बाद ठिठके कैलाशपति
आयी याद रावण - से शिष्य अभिमानी की

०

मुखर हुआ मठों में जनवादी युद्धोन्माद
तंजुर - कंजुर पर गर्द चढ़ी सौ गुनी
रेशम का नीलपट सुर्ख़ हुआ एकाएक
लोभ के अजगर की नक्श कढ़ी सौ गुनी
औंधे पड़े अमिताभ, मूर्च्छित हुए मंजुश्री
रुद्र ने नगाड़े पर खाल मढ़ी सौ गुनी
कम्पित हुए दिक्पति, क्रुद्ध हुआ महाकाल
खौल गया ब्रह्मपुत्र, लाली बढ़ी सौ गुनी

करवटें लेंगे बूँदोंके सपने !

०

अभी - अभी
कोहरा चीरकर चमकेगा सूरज
चमक उठेंगी ठूँठ की नंगी - भूरी डालें

अभी - अभी
थिरकेगी पछिया बयार
झरने लग जायेंगे नीम के पीले पत्ते

अभी - अभी
खिलखिलाकर हँस पड़ेगा कचनार
गुदगुदा उठेगा उसकी अगवानी में
अमलतास की टहनियों का पोर - पोर

अभी - अभी
करवटें लेंगे बूँदों के सपने
फूलों के अन्दर
फलों - फलियों के अन्दर

—नागार्जुन

चेन जो गले पड़ गयी

०

डॉ० शिवप्रसाद सिंह

०

एक चेन—एक नियति, एक प्रतीक

०
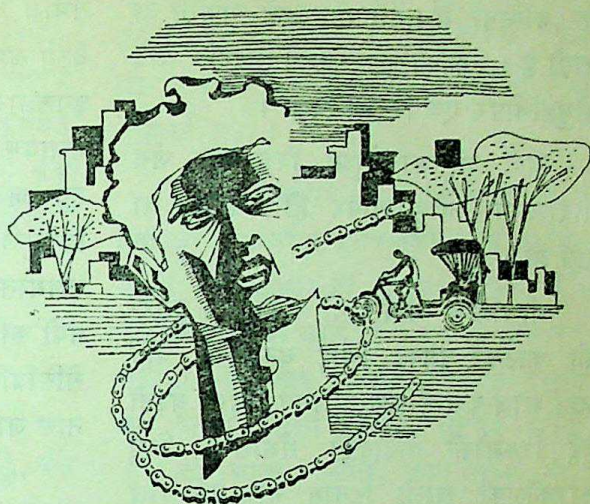
वैसे मशहूर बनारसकी सुबह है । पर साँझ ढले रातका आलम भी कम खूबसूरत नहीं होता । दोनों बाजुओंपर पुरानी तर्ज़की ऊँची-ऊँची इमारतोंको सँभाले हुई सँकरी टेढ़ी सड़कें अँधेरेके समुद्रमें हलकी रोशनीकी राह बनाती लपलपाती मछलीकी तरह तैरती हुई इस छोरको चली जाती हैं । सड़कोंपर इधरसे उधर घूमते पैर जब रात ढले नींदके गोदामोंमें बन्द कर दिये जाते हैं, तब एक अजीब क़िस्मका सन्नाटा लिहाफ़से बाहर आकर सड़कोंपर सीटियाँ बजाने लगता है । कालिखकी दीवालोंपर रोशनीकी छतें डाले दुकानें कैसी खिलौनों-सी लग रही हैं ।

अभी मुश्किलसे बारह बजे होंगे, सिनेमाका आखिरी शो अभी छूटा ही छूटा है कि कोहरेकी चादरमें रिक्शोंकी बत्तियाँ तक टिमटिमाती नज़र नहीं आतीं । इस सन्नाटेमें रिक्शेवाले भी जाने क्यों इतना उदास हो जाते हैं

कि घण्टियाँ बजानेसे भी उन्हें नफ़रत हो जाती है। काफ़ी दूर पैर घिसटनेके बाद चौमुहानीपर एक रिक्शा दिखा।

सारे शहरका धुआँ बिलावजह जैसे गोदौलिया चौमुहानीपर ही जमता जा रहा हो।

बीचोंबीच जहाँ दोनों सड़कें एक दूसरेको काटकर धनका चिह्न बनाती हैं, वहीं जहाँ आज-कल ट्रैफ़िक पुलिसने शहरमें बढ़ती हुई रिक्शोंकी तादादको सँभालनेके लिए तारकोलकी खाली टिनोंसे गोल घेरा डाल रखा है, वह रिक्शेकी सीटपर उठँगकर बैठा था जैसे पुलिसवालोंकी गुस्ताखीका दिल खोलकर मज़ाक़ उड़ा रहा हो, जो उसे अपने होते उस जगहपर कभी भी रिक्शा खड़ा करने नहीं देते।

"बाबू विसविद्दाले !"

...लो भाई, यह खाली रिक्शा ही नहीं चलाता जासूसी भी करता है...मैं मन-ही-मन खुश भी हुआ कि चलो हुलिया कोई बुरा नहीं। वैसे न मैं सीटी बजा रहा था, न पैण्टमें हाथ डाले सिगरेट ही पी रहा था, न किसी अगल-बगल चलनेवाली लड़कीकी ओर ताक-झाँक ही कर रहा था और न तो मेरे साथ कोई अपना पार्टनर ही था जिसे चुनिन्दे गालियोंका खिताब देते हुए बेमाँगा प्यार ही लुटा रहा होऊँ—फिर रिक्शेवाले कम्बख्तको कैसे मालूम हुआ कि मैं विसविद्दाले जाऊँगा। बहरहाल मैं उसके रिक्शेपर कूदकर यों बैठा जैसे 'विसविद्दाले' जानेवाले लड़के बैठते हैं। मगर इस रिक्शेवालेको इतनी भी तमीज़ नहीं कि 'विसविद्दाले' जानेवालोंके बैठने लायक़ सीट तो रखे। सारी दुनियामें इनक़लाब आ गया। इलाहाबाद तकमें मुलायम गद्दीवाले रिक्शे चलने लगे, पर इन जनाबको इसकी कोई खबर ही नहीं, बिलकुल बनारसी साहित्यकारोंकी तरह अलमस्त पड़े हैं, गोया सारी दुनियासे जब नयी कविता उठ जायेगी तब ये 'आधुनिक सेंसिबिलिटी'की बात करेंगे – धत् तेरेकी, नास जाये !

"बाबू विसविद्दाले ही न !"

मुझे गुस्सा आया और मैंने पाकेटसे सिगरेट निकालकर जला ली और जवाबमें धुएँकी रिंग बनाकर दिखा दिया। वह मुसकराया और विश्वविद्यालय जानेवाली सड़कपर चल पड़ा।

चौराहेके एक तरफ़ पुराने फ़ैशनके बने एक ऊँचे मकानके पक्खेमें हरे रंगके चमकीले अक्षरोंमें सिनेमाघरोंमें चलनेवाली तसवीरोंके नाम जल-बुझ रहे थे – कुहरेमें लिपटी सड़कपर दूर-दूर तक फैली हुई बिजलीके लट्टुओंकी रोशनी मकड़ीके जालेमें फँसे जुगनूकी तरह मचल रही थी। उसका रिक्शा अपने ढाँचेको बुरी तरह झकझोरता चल पड़ा। अभी मुश्किलसे आठ-दस क़दम ही गया होगा—यही समझिए चौराहेसे वह घोड़ों-इक्कोंवाली क़तारके पास आया होगा, जहाँ सूखी घास, लीद, और बग़लके पेशाबखानेकी गन्धमें ऊँघते हुए कीचड़-भरी आँखोंको मुलमुलाते घोड़े यों खड़े रहते हैं गोया घोड़े न हुए किसी मुरदा-चिड़ियाघरमें रखी ठठरियाँ हैं

और जहाँ पासमें एक दूसरेके रिक्शेको ठेलकर आगे बढ़कर सवारियाँ छीननेके उत्सुक रिक्शेवाले हर समानधर्माको वज्र देहाती बताकर अपनेको गन्दे शब्दोंका कोशकार साबित करते फूले नहीं समाते – उसने रिक्शेमें ब्रेक मारी और धीरेसे उतरकर पीछेकी ओर मुड़ा।

"क्या हुआ ?"

"चेन उतर गयी।"

"हूँ !"

गहरी रातमें रिक्शा रुका तभी जैसे ऊपरसे काली बरफ़का एक पूरा ढोका ढुलककर मेरे ऊपर आ रहा। गति भी एक कवच है शायद जो प्रकृतिकी अवरोधक हदोंको चीरकर निकल जाती है।

उसने रिक्शेको आगे-पीछे खींचा, दौड़ाकर पहियोंको रफ्तार अता की और हुमककर अपनी सीटपर बैठ गया।

रिक्शा निशातके आगे बढ़ा तो पीछेसे एक गहरेबाज़ रिक्शेवालेने घण्टी मारी···वह इस रिक्शेके एकदम पीछे आ गया था। मैंने मुड़कर देखा तो पीछेवाला रिक्शेवान मुसकरा रहा था। मुसकराता था तो हैण्डिलपर देखता था जिसमें छोटे-बड़े तिकोने-चौकोर आकारके तीन-चार शीशे जड़े थे – लाल, गेंदेकी एक माला भी लटकी थी और हरे-लाल काग़ज़की बनी एक फिरकी भी उसकी बत्तीके पास लगी हुई थी।

"ए गहरेबाज़ !" मेरा रिक्शावाला तमतमाया : "बग़लसे क्यों नहीं निकाल लेता ?"

"रोकना था तो हाथ क्यूँ नहीं दिया तूने ? देहाती भुच्चड़ !" शीशेवाला बोला और झुककर रिक्शेमें अपनी प्राण-कट मूँछ निहारने लगा।

उसके रिक्शेपर दो औरतें बैठी थीं – ऐसा ज़ोरदार जोड़ा भगवान्‌की अज़ूबा सृष्टिमें भी कभी-कभार ही दिखाई पड़ता है। दोनों जैसे जुड़वा बहनें हों – एक ही आकार; एक ही नाक-नक्श। उन्हें जिधरसे देखिए बस अण्डा मालूम होतीं। या यों कहिए अण्डोंका अण्डा। आँख, कान, नाक, मुँह, अलग-अलग सब अण्डे। और मुकम्मल मिलकरभी एक बड़ा-सा अण्डा। यानी उस रिक्शेपर दो अण्डे थे – बड़े-बड़े। किसी मामूली चिड़िया-विड़ियाके नहीं, जेट विमानके अण्डे जैसे।

शीशेवाला रिक्शा अभी बराबरीमें आया ही था कि इस फिसड्डीकी फिर चेन उतर गयी : "क्या हुआ। फिर चेन उतर गयी ?"

उसने 'ब्रेक' लगाकर रिक्शा रोका और बिना कुछ बोले पहियोंके पीछे चला गया। तभी आगेवाले रिक्शेसे अजीब हलकोरेदार हँसी खड़खड़ायी जैसे अण्डे तोड़कर कबूतर बाहर निकलनेके लिए फड़फड़ा रहे हों।

मुझे बड़ा ग़ुस्सा आया, लगा कि फड़फड़ाते हुए कबूतरोंने मुझे अनजाने ही शिकस्त दे दी है।

उसने चेन ठीक की और फिर रिक्शेको डगराकर सीटपर बैठ गया। पर इस बार उसके बैठनेमें हुमक न थी। वह खुद जैसे

शीशेवाले रिक्शेसे हारकर शर्मिन्दा हो गया था।

सोनारपुराके सामनेसे वह भेलूपुरवाली सड़कपर मुड़ गया। बेलवरियाकी नयी कालोनीके मोड़ तक उसकी चेन नहीं उतरी। मैंने राहतकी साँस ली। सामनेके पक्के कुएँकी जगतपर चार-पाँच खिलन्दड़े बैठकर बीड़ी फूँक रहे थे और समवेत कण्ठसे कोई सिनेमाई सस्ती ग़ज़ल गा रहे थे। उनमें-से एक खिलन्दड़ा अपने-से छोटे और नाज़ुक बदनके एक छोकरेको कुश्तीके दाँव सिखा रहा था।

"अभी पुलिसने सबको पकड़कर ख़ूब पीटा था, मगर इनकी आदत नहीं छूटी!" रिक्शेवाला भुनभुनाया और ज़रा ज़ोरसे पैडलपर हुमककर लात मारी। तभी खटकी आवाज़ करके चेन फिर उतर गयी।

मुझे इस बार बड़ा ग़ुस्सा आ गया।

"कहाँसे यह जाकड़ी रिक्शा उठा लाये हो तुम? दो मीलके भीतर बीस बार तुम्हारी चेन उतर रही है। तुम्हारे-जैसे रिक्शेवाले मिल जायें तो बस बेड़ा ही गारत हो जाये।"

मेरी बातसे वह तिलमिलाकर रह गया। 'ब्रेक' लगाकर उतरते ही वह पीछेकी तरफ़ मुड़ा।

"अपने तो चला गया और यह खटाला मेरे गले बाँध गया। दिन-भर सवारियोंसे गाली सुनते-सुनते नाकों दम हो गया है।"

मैं एक क्षण चुप रहा। वह चेन उतरनेके डरसे धीरे-धीरे पैडल मारता चला जा रहा था।

"कौन यह खटाला तुम्हारे गलेमें बाँध गया?"

वह कुछ न बोला। एकबार गरदन घुमाकर उसने मेरी ओर देखा। उसकी छोटी-छोटी पनीली आँखोंमें अजीब तरहका भाव था। जैसे कह रही हों, आपसे मतलब? चेन उतर रही है तो उतर रही है, मगर इसका मतलब यह तो नहीं कि इसके लिए सारी बातें आपको बता दूँ। मैंने यह तय कर लिया कि अबकी इसकी चेन उतरी तो भी चुप रहूँगा। शायद मेरी बातका बहुत बुरा मान गया है। मैं चुपचाप कोहरेमें लिपटे खेतोंको देखता रहा। मुड़कट्टेके पासका सिवान मुझे बहुत अच्छा लगता है। प्रकृतिका यह टुकड़ा जैसे शहरकी सारी बेरौनक़ इमारतोंको आर-पार धकेलकर अपने अस्तित्वका ऐलान कर रहा हो। हरियालीके उस पार 'वाटर वर्क्स'की क़तारबद्ध बिजलीकी बत्तियाँ चलते हुए रिक्शेसे ऐसी लगतीं, मानो झुरमुटसे रेलगाड़ी चली जा रही हो।

रेणुका-मन्दिरके सामने आकर चेन फिर उतर गयी। मैं चुप रहा। पर वह बहुत ग़ुस्सेमें था। उसने इस बार 'ब्रेक'को रबड़के मोटे कल्लेसे अटका दिया और सड़कसे लगे गुमटीनुमा शिवालेके पास जाकर, इधर-उधर आँखें घुमा-घुमाकर कुछ ढूँढ़ता रहा। एक आधी टूटी हुई ईंट लेकर वह वापस लौटा और पिछले पहियोंके धुरीके पास बैठकर उसने तड़ाक्-तड़ाक् पीटना शुरू किया।

"साला अपने तो मर गया और मुझे इस सग्गड़में नाधकर चला गया। कहा कि

यह कूड़ा किसी कबाड़ीकी दुकानपर डाल दो तो बुढ़वा बिफरकर चीख उठा – इसे डेढ़-सौ रुपिया लगाकर सरूपने ख़रीदा था बचवा !" उसने आवाज़की नक़ल उतारते हुए कहा, "अरे हम भी मर जायेंगे तब भी ऊ डेढ़-सौ रुपियाका करज नहीं पटेगा, बुढ़ऊ, हाँ।"

उसने इंट बिना मुरव्वत एक तरफ़ फेंक दी और रिक्शेकी सीटपर बैठ गया। कुछ दूर चल चुका तो मैंने पूछा, "यह सरूप कौन था ?"

इस बार फिर उसने गरदन मोड़कर मेरी तरफ़ उन्हीं पनीली आँखोंसे देखा – "वह मेरा बड़ा भाई था सरकार।"

"मर कैसे गया ?"

"निमोनियासे।" उसने यों कहा गोया निमोनियासे मरा आदमी निश्चय ही स्वर्ग जाता है।

"तुम्हारे और कौन-कौन हैं ?"

"बूढ़ा बाप है, बड़े भाईकी औरत है, दो-दो बच्चे हैं !" उसने हाथको पीछे झटककर पूरी हथेली मेरी आँखोंके आगे हिलाते हुए कहा, "पाँच-पाँच परानीका पेट भरना पड़ता है सरकार !"

थोड़ी दूर ही और गया होगा कि उसकी चेन फिर उतर गयी। इस बार उसने दुगुने क्रोधसे ब्रेक मारा तो अचानक हँसी आ गयी।

"देखो, फिर चेन उतर गयी तुम्हारी !" मैंने हँसते-हँसते कहा, "गुस्सा होनेसे ज्यादा जल्दी-जल्दी चेन उतरती है, समझे !"

वह हँसने लगा।

"यह हमेशा-हमेशाके लिए उतर जाती बाबू तो भी गला छूटता। यह ऐसे ही उतरती रहेगी और हम इसे ऐसे ही चढ़ाते रहेंगे, है कि नहीं ?"

मैं कुछ न बोला।

●

करणीय परामर्श

एक साइकिल-रिक्शे और कारमें हल्की-सी टक्कर हो गयी। रिक्शा इधर उलटा, रिक्शेवाला उधर जा गिरा। लोगोंकी भीड़ उसे घेर खड़ी हो गयी। एक दर्शकने सहानुभूति भरे स्वरमें कहा, "अरे, कोई इस बिचारेको ठण्डा पानी पिलाओ !"

दूसरा बोला, "इसे गर्म दूध दिया जाय तो अच्छा हो।"

तीसरेने कहा, "नहीं, इसे थोड़ी-सी ब्राण्डी पिला दी जाये तो शरीरमें बल आ जायेगा।"

पर जब कोई भी कुछ लेने नहीं गया तो रिक्शेवालेने ज़रा-सा सिर उठाकर उस व्यक्तिकी ओर देखते हुए, जिसने ब्राण्डी लानेकी सलाह दी थी, कहा, "अरे भाइयो, इस बिचारे की बात भी तो सुनो !"

आधुनिक समीक्षा-पद्धतिके प्रमुख सिद्धान्तों और सिद्धान्त-स्थापकों-की पृष्ठभूमिमें प्रमुख अँगरेजी कवि, टी० एस० इलियटकी समीक्षा-पद्धतिका संक्षिप्त विवेचन। इस पद्धतिमें मनोविज्ञानका अस्वीकृत किन्तु प्रत्यक्ष प्रभाव।

इलियटकी समीक्षा-पद्धति और मनोविज्ञान

°

रामसेवक सिंह

°

बीसवीं सदीके प्रारम्भसे ही मनोविज्ञानका प्रभाव साहित्यिक मान्यताओंपर शुरू हो गया था। प्रथम महायुद्धके समय तक आते-आते तो ऐसी स्थिति आ गयी थी कि मोर्चेपर लड़नेवाले सिपाही तक फ्रॉयड और दॉस्तावस्की-की कृतियाँ लेकर रुचिपूर्वक पढ़ते थे और वे उन्हें पढ़नेके बाद यह महसूस किये बिना नहीं रह पाते थे कि कुछ नया है जो उनके अन्दर घटित हो गया है। मनोविश्लेषण, व्यवहारवाद और गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान – सभी अपने-अपने ढंगसे उस युगके विचार-प्रवाहको एक नयी दिशा दे रहे थे। इन्हीं विभिन्न मनोवैज्ञानिक वादोंकी छायामें रहकर आई० ए० रिचर्ड्सने १९२० के आप-पास एक नयी समीक्षा-पद्धति खड़ी की। यह पद्धति सेण्ट्सबरीकी परि-चयात्मक आलोचनासे तो जुदा थी ही, साथ ही बीसवीं शतीके पहले दशकमें प्रचलित उस आलोचनासे भी अलग थी जिसमें जीवन-वृत्तको ही प्राधान्य मिलता था। तीसीके प्रारम्भमें ही टी० एस० इलियटने भी एक नयी समीक्षाकी नींव रखी थी। इस सन्दर्भमें इलियटने ही आगे चलकर अपनी सफ़ाईमें कहा कि वे जैसे राजनीतिके क्षेत्रमें राजावादी और धार्मिक मामलोंमें ऐंग्लोकैथो-लिक थे उसी प्रकार साहित्यके क्षेत्रमें क्लासिस्ट थे, लेकिन सही बात तो यह

है कि वे मनोविज्ञानसे काफ़ी प्रभावित थे। कई स्थलोंपर तो ऐसा लगता है जैसे उनकी मान्यताओंपर मनोविज्ञानका भार कुछ अधिक हो गया है। उस समय मनोविज्ञान साहित्यपर इतना हावी हो गया था कि समीक्षाके ही नहीं, नाटक, उपन्यास और जीवन-वृत्तों तकमें उसके निष्कर्षोंका उपयोग होने लग गया था। ऐसे समय जब सारा वातावरण एक नयी चेतनासे आप्लावित था, यह नहीं माना जा सकता कि इलियट-जैसा प्रबुद्ध आलोचक उस धारासे अनवगत अथवा अछूता था।

मनोवैज्ञानिक आलोचनापर इलियटने स्वयं अपने विचार यत्र-तत्र व्यक्त किये हैं। उनका मत है कि इस प्रकारकी आलोचना अस्पष्ट तथा उलझानेवाली (कन्फ्यूज़िंग) है। ठीक है, समीक्षाकी कोई भी एक पद्धति अपने-आपमें न तो सम्पूर्ण है और न तो स्वीकार्य, किन्तु गत तीस वर्षोंसे जिस समीक्षा-पद्धतिका विकास और प्रचार होता आ रहा है उसके साथ अपना नाम जोड़ना टी० एस० इलियटको पसन्द नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं कि सन् १९२० के बादकी समीक्षा-पद्धतिकी उपलब्धिको इलियट नकारते हैं। इलियट भी मानते हैं कि पिछले तीन दशकोंमें सैद्धान्तिक समीक्षाने शानदार प्रगति की है तथा जितने दृष्टिकोणोंसे इधर समीक्षाकी समस्याओंपर विचार-विवेचन हुआ है उतना पहले कभी नहीं हुआ था। किन्तु उन्हें इस प्रकारकी समीक्षा-पद्धतिका अग्रणी मानना उनके साथ अन्याय करना होगा। उन्होंने यदि किसी प्रकार इस नये आन्दोलनको बल दिया है तो 'क्राइटेरियन'का सम्पादन करके। 'क्राइटेरियन'के सम्पादन-कालमें उन्होंने एक नवीन भूमिका तैयार की: हर प्रकारके विचारोंको विकासके लिए पूरा-पूरा मौक़ा दिया। उनकी अपनी आलोचना तो एक कवि-द्वारा लिखी गयी आलोचना है। जिस कार्य-कक्ष (वर्कशॉप) में बैठकर वे कविताएँ गढ़ते हैं उसीमें बैठकर अपने प्रिय लेखकोंपर विचार भी व्यक्त करते हैं। और जिनको एक बार एक दृष्टिसे देखा उन्हींको दूसरी बार दूसरी दृष्टिसे। परिणाम यह हुआ कि उनके निर्णय बदलते रहे।

इलियटको उस आलोचनासे बड़ी घृणा है जो साहित्यके मूलस्रोतोंकी खोजको ही अपना ध्येय मानती है। जॉन लिविंग्सटन लोव्सकी पुस्तक The Road to Xanadu इस प्रकारके कितने ही अन्य ग्रन्थोंका प्रतिनिधित्व करती है, जैसे – हरबर्ट रीडकी Wordsworth, बेटसनकी Wordsworth: A Re-interpretation और जे. कैम्पबेल तथा एच० एम० रॉबिन्सनकी A Skeleton Key to Finnegans Wake। यह कहते भी वह हिचकते नहीं कि साहित्यका प्रक्रिया-विश्लेषण सही मानेमें साहित्यिक आलोचना-की परिधिमें आता ही नहीं। ऐसे सभी विश्लेषणवादी आलोचक एक ही भूल करते हैं: व्याख्या (explanation) और साहित्य-की पकड़ (understanding) को समानार्थी मानते हैं। यह सच है कि साहित्यको समझने-के लिए व्याख्या आवश्यक है क्योंकि व्याख्या-

से भूमिका तैयार होती है। किन्तु कविताको समझनेके लिए हमारे लिए यह जानना भी आवश्यक है कि कवि अन्ततोगत्वा कहना क्या चाहता है? कविता अपनी समग्रतामें है क्या? कविता स्रोत नहीं है, वह अपने आपमें विकसित एक इकाई है। जबतक वह इकाई अपने रूपमें, अपने रंगमें पूरी तरह पहचानी नहीं गयी, यह सम्भव है, वह समझी भी नहीं गयी। जो लोग मृत कृतिकारोंके जीवन और व्यक्तित्वके भूले-बिसरे खण्डहरोंमें विचरण करना चाहते हैं, वे ख़ुशीसे करें; किन्तु इतना याद रखें कि यह काम मनोवैज्ञानिकका है साहित्यकारका नहीं। और यदि साहित्यकार इसे अपनी जिज्ञासा-भूमि बनायेगा तो पूरी-पूरी सम्भावना है कि वह मामलेको और भी पेचीदा कर देगा।

मनोवैज्ञानिक आलोचनाके प्रति इतना अनुदार होनेके बावजूद आई० ए० रिचर्ड्सके लिए उनके मनमें सम्मान है। कहीं-कहीं तो उन्होंने विचारोंकी स्पष्टता और निश्चयात्मकताके लिए रिचर्ड्सकी ओर आँखे उठाकर देखा है। इलियटने रिचर्ड्सकी तरह मनोविज्ञान तथा भाषाशास्त्रको न तो अपने अध्ययनका मुख्य विषय ही बनाया है और न ही कहीं उन्होंने रिचर्ड्सके निष्कर्षोंके नीचे हस्ताक्षर ही दिया है, लेकिन इतना तो वे मानते ही हैं कि रिचर्ड्सका योगदान आलोचनाके इतिहासमें खास महत्त्वका रहेगा। इसका कारण सिर्फ़ यह है कि रिचर्ड्सके पास दोनों ही गुण हैं: संवेदनशीलता एवं कविताका गहरा अध्ययन। वे यदि कविताका आस्वाद ले सकते हैं तो कविताके बारेमें सिद्धान्त प्रतिपादन भी कर सकते हैं।

जॉन क्रो रैन्समने इलियट और रिचर्ड्सके कविता-विषयक विचारोंको काफ़ी हद तक समान माना है। यह मान्यता यदि शतप्रतिशत सही नहीं है तो एकदम ग़लत भी नहीं है। दोनों ही मानते हैं कि कविके लिए कोई ख़ास समय या स्थल ही कविता-प्रेरक नहीं होता। कविताके लिए उसका हरएक अनुभव – शारीरिक या मानसिक – उसके मानसका विस्तार करता है। एकदम असम्बद्ध और विरोधी वस्तुएँ भी उसके मस्तिष्कमें नये वृत्त रचती रहती हैं। प्रेमका अनुभव, स्पिनोज़ाका अध्ययन, टाइपराइटरकी पिटपिट और मसालेकी महक – ये सारे अनुभव एक-दूसरेसे बिलकुल अलग हैं, तथा उनका किसी दूसरेसे किसी प्रकारका सम्बन्ध भी नहीं है। लेकिन जब कवि इन्हीं अनुभवोंमें-से होकर गुज़रता है तब उसके मानस-चक्षु नये-नये सम्बन्ध खोज निकालते हैं। उपमा, रूपक और बिम्ब-प्रतीक – ये सभी इसी अद्‌भुत शक्तिके परिचायक हैं। कौन जाने, शायद इन्हीं समानताओंके कारण अपनी टेढ़ी और कठिन शैलीके लिए बदनाम रिचर्ड्सको इतनी लोकप्रियता नहीं मिली जितनी इलियटको, जो विचारोंके पैनेपनके साथ अपनी स्पष्ट और सीधी भाषाके लिए प्रख्यात हैं।

किन्तु समानतासे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण है दोनोंके विचारोंकी विषमता। इलियटके मता-

नुसार कविता विचार एवं भावनाका तादात्म्य (fusion) है। परन्तु रिचर्ड्सके मतानुसार पाठक-द्वारा अनुभूत संवेग (जिसे वे Synaesthesis कहते हैं) तथा उन संवेगोंको उद्भासित करनेके लिए कवि-द्वारा प्रयुक्त साधन – इन दोनोंमें अन्तर है। कविताकी अबोध-गम्यताके तीन कारण हैं – (१) या तो कवि व्यक्तिगत कारणोंसे अपनी बात कह न पाया हो, या (२) कोई अभीतक अछूती और अज्ञात बात कह रहा हो, अथवा (३) पाठक पहले ही से कविताकी अस्पष्टताके बारेमें आगाह कर दिया गया हो। क्योंकि इसके पहले कि पाठक कविताको पढ़े उसे कुछ भी कहना उसको चित्त-बद्ध (conditioned) कर देना है, परिणाम यह होता है कि कविता पढ़कर पाठकको सन्तोष नहीं मिलता बल्कि उसे हर क़दमपर यही शंका होती है कि उसने कविताको समझा नहीं, कुछ रह गया जिसे वह पकड़ नहीं सका। इलियटके इस विचारके विरुद्ध रिचर्ड्सका मत है कि कविता बुरी तब होती है जब निरर्थक (worthless) अनुभवको कवि वाचक तक पहुँचाना चाहता है, या जब मूल्यवान् अनुभव सम्प्रेषित (communicated) नहीं हो पाता।

इलियटने अपने और रिचर्ड्सके मत-भेदोंपर काफ़ी लिखा है। रिचर्ड्सके मूल्य-सम्बन्धी विचारोंसे इलियट क़तई सहमत नहीं हैं। वे 'ऐसे किसी भी सिद्धान्तको स्वीकार नहीं कर सकते जो व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक भित्तिपर खड़ा हो।' यह सम्भव ही कैसे हो सकता है कि 'मूल्य हमेशा व्याख्याके पहले आते हैं' और 'कविता हमें विनाश तथा पतनके गर्तसे बचा सकती है।' इलियटका मत है कि कविके लिए जो कुछ अनुभूत है वह कविता नहीं बल्कि काव्य-सामग्री (poetic material) है। जिस प्रकार हर नयी कविता कविके लिए एक नया अनुभव है उसी प्रकार वाचकके लिए भी वह एक नया अनुभव है। यदि कोई व्यक्ति कविता पढ़ता है तो इसलिए कि उससे उसको एक उत्कृष्ट मनोविनोद (superior amusement) मिलता है। कविता समझना और कविताका आस्वाद करना दो बातें नहीं हैं। कविताका आनन्द पाना ही कविताको समझना है। और कविताको समझना ही कविताका आनन्द प्राप्त करना है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि बुरी कवितासे आनन्द नहीं मिलता। आनन्द नहीं मिलता इसलिए ही वह बुरी है। यदि बुरी कविता आनन्दप्रद हो सकती है तो सिर्फ़ एक ही स्थितिमें—जब उसका बुरापन हमारी हास्यवृत्तिको सन्तुष्ट करे। Practical Criticism में रिचर्ड्सने कविसे ध्यान हटाकर कवितापर केन्द्रित किया। यह एक अच्छी प्रतिक्रिया थी। किन्तु जब उन्होंने कविताको चीर-फाड़कर एक-एक पद और एक-एक पंक्तिकी विवेचना शुरू की तो इलियटको ऐसा लगा जैसे आलोचना कर्त्तव्य-च्युत हो गयी हो। ऐसी समीक्षा और क्या कर सकती है सिवा इसके कि नीबूका रस निचोड़े? कविताका आनन्द ही इस बातमें है कि उसे जितनी

बार पढ़ा जाये उतनी बार अर्थोंके नये आयाम उभरें। व्याख्यात्मक आलोचनाका दोष यह है कि वह अपने विश्लेषणको पाठकों पर लादती है और कविताके आनन्दको बढ़ानेके बदले कम करती है। वह पाठककी संवेदनशीलताको कुन्द करती है।

इलियट प्रयत्नपूर्वक मनोविज्ञानकी भँवरसे दूर रहे। लेकिन वे उसके प्रभावकी परिधिसे बाहर नहीं रह सके। यह बात कुछेक उदाहरणोंसे स्पष्ट हो सकेगी। साहित्यिक रुचि तथा आलोचनाके उद्देश्यकी चर्चामें तो मस्तिष्ककी अन्दरूनी प्रक्रियाका ही विश्लेषण हुआ है। कविताका अपना अलग अस्तित्व होता है। वह संवेग और भावनाका एक ढाँचा खड़ा करती है। कितनी ही भावनाओंके समुच्चय और संवेगसे एक संवेग बनता है। अतः कवितामें हमारी प्रतिक्रियाएँ (responses) सिर्फ़ शब्दों, पंक्तियों अथवा पदोंतक सीमित नहीं होतीं। प्रत्येक कवितामें एक केन्द्रीय तर्क होता है, एक स्थिति होती है। एसका एक कथ्य (paraphrasable core) होता है। और यह कथ्य स्थानीय रंगों-विस्तारों (local details) की सहायतासे प्रेषणीय बनता है। जॉन क्रो रैन्सम कथ्यके लिए 'Structure' तथा बाह्य-शिल्पके लिए 'Texture' शब्दोंका प्रयोग करते हैं। कवितामें इन दोनोंका ही महत्त्व है। कविताकी समीक्षा तबतक अधूरी है जबतक कि स्थानिक रंगों (शब्द-योजना, बिम्ब-विधान आदि) का विश्लेषण नहीं किया जाता। इन विशेषताओंको निकाल देनेपर कविता और गद्यमें फ़र्क़ क्या ? कारण यह है कि इन्हीं विशेषताओंकी सहायतासे कविताकी सृष्टि खड़ी होती है, और अर्थवत्ता अधिकसे अधिक सूक्ष्म (subtile) बनती है।

इलियटका यह कथन कि 'कवि व्यक्तित्वको नहीं बल्कि एक खास माध्यमको अभिव्यक्त करता है' एकदम अव्यक्तिवादी विचार था। लेकिन इस कथनका अर्थ बिना 'व्यक्तित्व' शब्दकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या किये पूर्णरूपसे समझना मुश्किल है। इलियटका ही एक उदाहरण लें। यदि शेक्सपीयर अपनी त्रासदी 'हैमलेट' में कलात्मक दृष्टिसे किसी सीमातक असफल हैं तो इसलिए कि जो कुछ बाह्य और ठोस है, (अर्थात् 'हैमलेट' नाटक) वह लेखकके अनुभूति-संवेगको पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं कर पाया है। अपनी माँको अनुचित व्यवहार करते देखकर हैमलेटके मनमें उसके प्रति घृणा उत्पन्न होती है। इसी घृणाको साकार करनेके लिए 'हैमलेट' लिखा गया। मगर 'हैमलेट'को पढ़नेपर ऐसा लगता है जैसे हैमलेटकी घृणाकी तीव्रताके अनुपातमें माँका चरित्र यथेष्ट घृणित नहीं बन पाया। चूँकि माँका चरित्र हैमलेटकी घृणाको सही मात्रामें वहन नहीं कर पाता, इसलिए कहा जा सकता है कि हैमलेटके संवेगको सही अभिव्यक्ति नहीं मिली। क्योंकि जिस वस्तुकी सहायतासे उस संवेगको वाणी दी गयी वह अनुपयुक्त सिद्ध हुई। इस सिलसिलेमें यह कहना आवश्यक न होगा, जैसा कि एलीसिओ वाइवास कहते हैं, कि यहाँ इलियटने एक भूल की है। वे यह मानकर चलते हैं कि कविके पास

अभिव्यक्त करनेके लिए एक संवेग होता है जब कि अनुभव कहता है कि कवि-कर्म (the act of composition) में ही संवेगका जन्म होता है। कुछ भी हो इतना तो मान्य है ही कि इलियटका वस्तुगत पर्याय (objective correlative) का प्रसिद्ध सिद्धान्त प्रधानतया लेखकके मानसका विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

एक स्थलपर इलियट यह कहते हैं कि कविता स्वयंपूर्ण (autotelic) होती है जब कि आलोचना किसी अन्य वस्तुके बारेमें होती है। अर्थात् कलाका उद्देश्य उपयोगितावादी नहीं होता और यदि ऐसा हो भी तो कला इसके प्रति सजग नहीं है। यह कार्य अनजाने ही कवि-द्वारा हो जाता है। जिसका अर्थ हुआ, कवि अपनी शक्ति और अपने उद्देश्योंसे अवगत नहीं होता। अनायास ही काव्य-सृजन होता है। महान साहित्य अथवा एक कविकी ही सर्वोत्तम कृति चिन्तन और आयासके बिना ही अपने-आप नहीं लिखी जाती। साहित्य-सृष्टिपर विचार करते हुए मनोवैज्ञानिकोंने इस बातपर बल दिया है कि जो चमक (flash) अथवा दृष्टि (vision) लेखक अनायास प्राप्त करता है वह सही मानेमें अन्तस्थ रहती है। किस समय और किस रूपमें कौन-सा अनुभव गर्भमें आया, कोई नहीं जानता। अचेतनमें क्या-परिवर्त्तन और परिवर्द्धन होते रहे यह भी अज्ञात रहता है, लेकिन जब अनुभवका वही बीज अपने पूरे आकारमें साहित्यिक कृतिकी शक्लमें हमारे सामने आता है तो हमें पता लगता है कि असलमें इस वस्तुकी तलाश लेखकको थी। और यह काम भी तब सम्पन्न होता है जब लेखकके मनपर-से चिन्ताओंका बोझ एक क्षणके लिए उतरा होता है, उसकी आदतोंके बन्धन टूटे होते हैं। यह विचार फ्रायडके विचारसे काफ़ी मिलता है। फ्रायडकी तरह ही इलियट भी यह मानते दीख पड़ते हैं कि जबतक सभ्यता, बड़प्पन, उत्तरदायित्वोंके पहरेदार (censor) हमारे आदिम संवेगों (primitive emotions) पर बैठे होते हैं, कविताकी सृष्टि नहीं होती।

इसी सिलसिलेमें एक दूसरी बातका भी ज़िक्र कर दें। फ्रायडके मतानुसार साहित्यके निर्माणमें व्यक्तिगत अभाव अथवा असफलता, धन, यश अथवा प्रेम—इनमें-से कोई-न-कोई ज़िम्मेदार अवश्य होता है। मनुष्यको जो वस्तु उसके जीवनमें नहीं प्राप्त होती वह उसे साहित्यके माध्यमसे प्राप्त होती है। इलियट मानते हैं कि साहित्यका उद्देश्य 'सान्त्वना—एक विचित्र प्रकारकी सान्त्वना' देना है। यहाँतक कि गेटे और शेक्सपीयर जैसे बिलकुल अलग प्रकारके कवियोंके साहित्यका पठन भी उसी सान्त्वनाके लिए होता है। इलियटने १९५३ में स्पष्ट कहा कि कविताको समझनेके लिए उसके स्रोत अथवा उद्गमका ज्ञान आवश्यक नहीं है। किन्तु १९२८ में, 'हैमलेट' को अच्छी तरह समझनेके लिए उसके रचयिता शेक्सपीयरके व्यक्तिगत जीवनके बारेमें जानकारी प्राप्त करना उन्होंने आवश्यक बताया था। उसके भी पहले १९१८ में उन्होंने कहा था कि

कविके संवेग उसके काव्यकी भित्ति हैं। कवि अपनी 'पाशविक भावनाओं' को परिवर्तित (transmute) करके इस प्रकार हमारे सामने रखता है कि वह उसकी व्यक्तिगत बात न रहकर सार्वभौम और वस्तुनिष्ठ बन जाती है। नाटकके सभी पात्र लेखकके ही विचारोंके वाहक नहीं होते। और यह ज़रूरी भी नहीं है कि लेखक सभीको अपनी ही भाषा बोलनेको बाध्य करे। लेकिन एकोक्ति (dramatic monologue) में लेखक स्वयं उस ऐतिहासिक पात्रके लिए बोलता है और उस पात्रकी ही स्थितिमें होकर सोचता है। अपने जीवनमें भी मनुष्य समाजके समक्ष अपने विभिन्न रूपोंमें आता है—वे सभी रूप, सभी आवश्यकताएँ उसके लिए मुखौटा हैं जिनकी सहायतासे वह अपनी अव्यक्त और पारम्परिक संयुक्त चेतना (collective psyche) को अभिव्यक्त करनेका प्रयत्न करता है। इस विचारका अनुमोदन करके इलियट बहुत हदतक सी० जी० युंगके नज़दीक आ जाते हैं। युंगने लिखा : 'परसोना' पारम्परिक संयुक्त चेतनाकी अभिव्यक्तिके लिए एक मुखौटा है। वह व्यक्तिको सिर्फ़ यह विश्वास दिलाता है कि वह एक व्यक्ति है, जब कि सही बात यह है कि वह पारम्परिक संयुक्त चेतनाके लिए एक पार्ट अदा कर रहा है। मतलब यह हुआ कि कवि अपने अन्तःको स्वीकृत बाह्यके साथ इस प्रकार मिलाकर हमारे सामने रखता है कि हमें उसको स्वीकार करनेमें कोई आपत्ति नहीं होती।

इस प्रकार कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि इलियटने अपनेको मनोविज्ञानके प्रभावसे अलग रखनेका प्रयत्न ज़रूर किया, लेकिन सच बात यह है कि वे उसके प्रभावसे अछूते न रह सके। यह बात 'Ash Wednesday' The Waste Land' तथा 'Fammily Re-union' जैसी कविताओं तथा काव्य-नाटकोंके अध्ययनसे भी पुष्ट होती है।

●

वहाँ पहुँचनेके लिए जिससे तुम अनभिज्ञ हो तुम्हें अज्ञानकी राहसे गुज़रना होगा, उसे पानेके लिए जो तुमने नहीं पाया है तुम्हें त्यागकी राहसे गुज़रना होगा – तुम नहीं हो जहाँ उस तक पहुँचनेके लिए तुम्हें उस राहसे गुज़रना होगा जिसमें तुम नहीं हो, और तुम जो नहीं जानते हो वही तुम्हारा एकमात्र ज्ञान है और जो तुम्हारे पास नहीं है वही तुम्हारी एकमात्र सम्पदा है और जहाँ तुम हो – वही वह स्थान है जहाँ तुम नहीं हो।

— टी० एस० इलियट
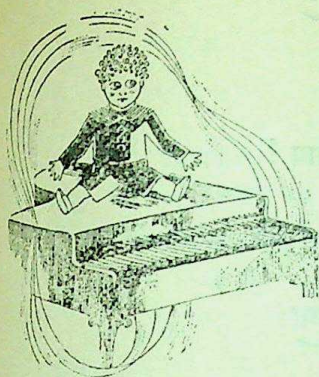
बाख़ का संगीत* सुनकर

०

नोट—

१. इस कविताको पढ़नेके लिए संगीत-शास्त्रके 'नोटेशन-सिस्टम' का भरपूर ज्ञान होना आवश्यक है।

२. यदि इतना नहीं तो उर्दू ढंगकी सस्ती ग़ज़लोंको सुननेका अभ्यास होना चाहिए जिसमें ह्रस्व और दीर्घ सिर्फ़ म्यूज़िक-डाइरेक्टरके वहमपर निर्भर करता हो।

३. यह कविता नयी कविताके आदि-वासी श्री शमशेरबहादुर सिंहको समर्पित है। इस समर्पणको ध्यानमें रखनेसे कविता समझमें भी आ सकती है!

—कविका आत्मनिवेदन।

एक पीला कोल्हूऽ
नन्हीं-सी पियरायी पत्ती पे
'रौशनी' की बूँद तरे (ह) लटका
फूलती हुई साँस की सरगम सा
अब गिरा, तब गिरा
गि
रा ऽऽऽ।
लाल मलाईदार खीर के कटोरे-सा गिरता सूरज
सुजाता का एक बड़ा नीला लिफ़ाफ़ाऽ
उगनेवाले नये बुद्ध (‿)के लिए छोड़कर चला जायगाऽ
और वह बड़ा नीला लिफ़ाफ़ा
'क्षयसे बचनेके लिए बी सी जी का टीका लगवाइए' की

* किसीका संगीत या कुछ भी सुनकर! (या न सुनकर!)

मुहर सहित एक 'क्षयी'ऽऽ लिये हुए उभर आयेगा !

इन्द्रधनुषी रंगों में आनेवाली
हसीन साबुन की बड़ी टिकिया पर
किसी सिम्त से जैसे एक हँसता हुआ मुखड़ा आ जाय !

बुद्ध का एक नाम निर्मलता है
निर्मलता का दूसरा नाम साबुन है !

ड्राइंगरूम में रक्खी हुई साबुन की सिर्फ़ एक टिकिया
क्या कलाप्रियता का सार्टीफ़िकेट नहीं दे सकती ?

पैरहीन-संस्कृतिका जन्म

बाटा और फ्लेक्स की तमाम दूकानों पर
काले मातमी झण्डे लटके हुए हैं
क्योंकि पैरहीन-संस्कृति के जन्म की घोषणा
मिस्टर प्रभु ने कर रक्खी है—

—पालने के पैरों पर सब कुछ वारना;
अपने पाँव खड़े होकर,
चादर को फाड़-फाड़ पैरों को पसारना
उल्टे पाँव भागकर
हर बज़ार में फटी-बिवाई-का-दर्द बेच खाना –

यह सब हर-एंगिल-गिर-कर-बैठनेवाले
पैरहीन संस्कृति के गटापारची बबुए में कुछ नहीं है !
लेकिन वह आँखें नचाता है,
बातें बनाता है
जिह्वा डुलाता है !
गति – केवल आँख में !
गति – केवल जीभ में !
गति – केवल साँस में !

मिस्टर प्रभु इसीलिए तो गति को केवल
एक स्विच में बन्द करके
पेट पर लगा देना चाहते हैं !

—केशवचन्द्र वर्मा

'हिमकोण'
डॉ० जगदीश गुप्तके एक तैल-चित्रकी छायानुकृति
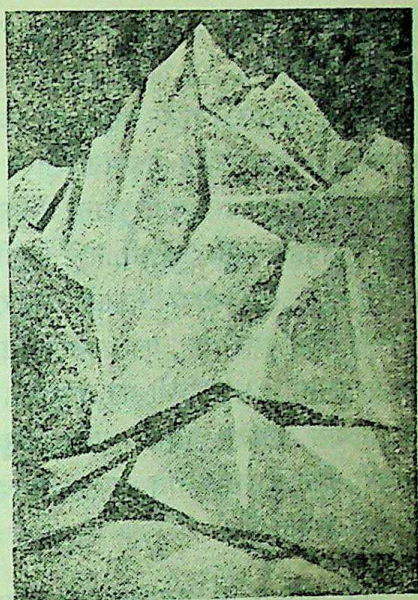
देवतात्मा हिमालय
(चार)
मायापुरी हरिद्वारमें

प्रबोधकुमार सान्याल

'महाप्रस्थानेर पथे', 'रशियार डायरी' आदि प्रसिद्ध यात्रा-वर्णनोंके लेखक, बँगलाके विख्यात साहित्य-कार श्री प्रबोधकुमार सान्यालकी श्रेष्ठ कृति 'देवतात्मा हिमालय' की चौथी क़िस्त। प्रस्तुत यात्रा-विवरणकी देश-विदेशमें काफ़ी चर्चा हुई है, और जर्मन तथा अँगरेज़ीमें इसके अनुवाद भी हो चुके हैं।

घूमते-घूमते फिर वही हरिद्वार! वही तीन हज़ार बरस पहलेका हरिद्वार। परिव्राजक हुएन-त्सांग हरिद्वारको देखते ही मुग्ध हो गये थे। यहाँ वे बहुत दिन रहे। यही मेरा भी विश्रान्ति-स्थल है। यहाँ आनेपर देहमें हवा लगती है, धीरे-धीरे दोनों आँखें तन्द्रालु हो जाती हैं। सारे भारतमें घूमो,

आत्मताड़नाके लिए समग्र हिमालयपर भटकते फिरो—माथे-से पसीना बहता रहे, मुँहसे झाग निकलते रहें किन्तु लौटकर फिर हरिद्वार आ जाओ, यहाँके सुशीतल जलमें नवजन्म है, मधुर हवासे देह-मन स्निग्ध हो उठते हैं। यह हरिद्वार बड़ा पुराना है किन्तु इसकी नूतनता कभी पुरानी नहीं पड़ती। मानों मैं ही उसे हजारों बरससे देख रहा हूँ। एक देहसे दूसरी देह, एक जन्मसे दूसरा जन्म पा जाता हूँ। फिर भी यह नया लगता है। अत्यन्त निबिड़ भावमें नूतन! मृत-संजीवनी जैसा है इसके नीले जलका स्वाद। यह जादू जानता है।

जादू जानता है इसलिए इसका नाम पड़ा है 'माया'। शक्ति है उसकी मोहिनी इसीलिए यह हर मनमें इन्द्रजाल बुन देता है। वही इन्द्रजाल जिसे 'इल्यूशन' कहते हैं—उसका आकर्षण काटे नहीं कटता कभी। एक बार जो भी हरिद्वार हो आया, दुबारा वहाँ जानेको उसकी व्याकुलता देखी है। इसीको तो 'माया'का खेल कहते हैं। भक्तोंने इसीलिए यहाँ मायादेवीकी प्रतिष्ठा की है—इससे एकाध मीलकी दूरीपर ही तो मायापुरीका सन्धिस्थल है। कितनी ही बार सोचा कि हरिद्वारको अच्छी तरह देखूँगा किन्तु ३२ बरससे यहाँ आते रहनेपर भी यह नहीं हो पाया। कलकत्तामें कालीघाट कितना पास है पर उसे देखनेका उत्साह उतना ही कम है। काशी गये तो बस बैठकबाजी शुरू हो गयी—अन्नपूर्णा और विश्वनाथको कबसे नहीं देखा, याद ही नहीं आ रहा। इलाहाबाद भी जब-तब पहुँच जाता हूँ पर भरद्वाज मुनिके आश्रम जा ही नहीं पाता। त्रिवेणी छूट जाती है, क़िलेका अक्षय वट भी यों ही पड़ा रहता है और प्रयागके पथके एक ओर कौशाम्बी भी यों ही रह जाती है। हरिद्वारमें भी ठीक यही होता है। जब अँधियारे पाखमें उसके रास्ते और घाटोंपर लालटेनें जलती थीं और अँधेरेमें इधर-उधर घूमने जानेपर साधु-संन्यासियोंके ऊपर ठोकर खाकर गिर पड़ता था, तब यह मायापुरी बहुत ही रोमांचकारी लगती थी। लोग कहते हैं, कपिल मुनि यहाँ तपस्या करते थे—इसी गंगाके तटपर, बड़ी ही कठिन तपस्या। इसलिए मायापुरीके साथ हरिद्वारका और भी एक नाम जुड़ा है, और वह है कपिल-स्थान। यहाँ परदेशियोंकी भीड़ लगी रहती है। वे सूर्यकुण्ड और सप्तधारा, गौरीकुण्ड और पिछोड़नाथ, भैरव और नारायण-शिला देखते फिरते हैं। घाटके किनारेपर ही जो मन्दिर इतने दिनोंसे देखता आ रहा हूँ उसमें लोग श्री विष्णुके चरण-चिह्न बताते हैं। और मायादेवीका मन्दिर, वह भी तो दर्शनीय है। देवी है चतुर्भुजा दुर्गा, त्रिमुण्ड कराल मूर्ति। उनके एक हाथमें मानव-जातिके लिए अभय आशीर्वाद है तो दूसरेमें महाचक्र, तीसरेमें है नर-कपाल, और चौथेमें त्रिशूल। इनकी व्याख्या नहीं जानता, जाननेकी चेष्टा भी नहीं की कभी, किन्तु इतना ज्ञात है कि सारी मूर्ति अर्थहीन नहीं है – उसमें तत्त्व है, रहस्य है, उसकी अपनी बातें हैं। अनेक बार वनकी छाँहमें

छिपे विल्लकेश्वरको भी देख आया हूँ किन्तु कभी यह नहीं पूछा कि उनका असली नाम विल्लोकेश्वर है या विल्लकेशर। पथ-घाटके कोलाहलसे दूर, इस मन्दिरके परिपार्श्वमें, पीपलके तले उगती लताओं, गेंदा और सन्ध्यामणिके पौधोंसे सटा है यह प्राचीन शिवमन्दिर – उसीके पास पत्थरकी शिलापर बैठे-बैठे मेरे कितने ही प्रभात दोपहरमें मिल गये, कितने ही अपराह्न अपनी साँसें सन्ध्याकी गोदमें डाल गये। यात्री आते ही या तो विल्लोकेश्वरकी ओर चल पड़ते हैं या कनखल, अथवा पंचमुख अष्टबाहु सर्वनाथ शिवदर्शनको। कितनी ही बार सोचा है कि मायामन्दिरके बाहर यह जो महासिद्ध बोधिसत्वकी मूर्ति है, शायद उसीका नाम विशाल भारत हैं। वही निमीलित नेत्र, वही तपस्वी, वही जरा-व्याधि-विकारहीन अनन्तकालका भारत—कल्प-कल्पान्तरके समस्त पतन-अभ्युदयका आदि-साक्षी भारत।

किन्तु मुझे तो कोई जल्दी नहीं पड़ी रहती थी, हरिद्वार आते ही मुझे नींद आने लगती। यहाँ अफुरन्त अवकाश रहता सो गहरी उदासीनता छा जाती। यहाँ तो हर वक्त कामका घनचक्कर नहीं चलता था, सिर्फ़ पूजाके प्रहरका गम्भीर, मधुर घण्टा बजता-बजता थम जाता। वही आवाज़ इस वेगवती नील धाराके ऊपरसे गुज़रती दूर-दूरतक करती रहती हिन्दू-दर्शनकी यह घोषणा—जहाँ मर्त्यलोक है, जहाँ देवतासे अधिक मूल्य है मानवताका, ज्ञानसे विज्ञान का, आनन्दसे आह्लादका। वह आवाज़ एक पहाड़से दूसरे पहाड़, मनसासे चण्डी और मायावतीसे कनखल तथा लालबाज़ारसे गुरुकुल चली जाती है। मैं श्रवणनाथ घाटके पास अश्वत्थके तले लाल घाटकी पथरीली सीढ़ीपर थका-माँदा-सा लेट जाता। यहाँ जलकी धारके किनारे कम्बल बिछाकर सोनेसे दुनिया-भरकी नींद जैसे मेरी इन दो आँखोंकी पलकोंमें ही आ घुमड़ती। इस जलस्रोतके अन्दर भी कोई भाषा है, किसी काव्यकी व्यंजना है—जिसे मैं आजतक नहीं समझ पाया। आजतक नहीं जान पाया मैं कि उसका मन्त्र मेरे खूनमें इस तरह क्यों तैरने लगता था।

लेकिन वह हरिद्वार तो अब रहा नहीं। वह पत्थरोंसे ठोकरें खिला देनेवाला रास्ता, वही छोटा-सा खुला स्टेशन, आस-पासकी पहाड़ियों और गुहागह्वरोंमें लोगोंकी बस्तियाँ, चारों ओरकी वे अनगिनत गेरुआधारी साधु-संन्यासियोंकी धूनियाँ। तबके हरिद्वारके असली रूपके साथ ग़रीबी भी घुल-मिल जाती। एक-दो पैसेमें ही काफ़ी सुयोग-सुविधा मिल जाते। आहार-आश्रय सभी कुछ मुफ्त जुट जाते। कौन खिलाता, कौन जगह देता, तमाकू पीनेको कौन बुला लेता, कैसे मैं कथावाचकी सभामें रम जाता, किसी-किसी साधुके हाथ भस्म-तिलक लगवानेको हनुमान-सा उसके पैरोंके पास जा बैठता—पर ये सब बातें तो अब बेकार हैं। न वह मन है, न वह आबहवा और न वह हरिद्वार। अब वहाँ जाओ तो सबसे पहले नज़र पड़ेगा बिड़लाजीका ऊँचा घण्टाघर, ब्रह्मकुण्डके रास्तेमें बीचोंबीच खड़ी

नेताजी सुभाषकी प्रस्तर-प्रतिमा। रास्ता-घाटपर कोलटार बिछ गया है, बिजलीकी तो जैसे बाढ़ ही आ गयी हो – महादेवकी ज़टाओंसे विनि:सृत गंगाकी आलोकित फ़व्वारे-वाली मूर्ति भी चौराहेपर मौजूद है। हिन्दुस्तानके बहुत-से लखपतियोंके सैकड़ों महल खड़े हैं, नये ज़मानेके स्नानागार हैं; संगमर्मरके दालान, अनगिनत मोटरें, सिनेमा-हाउस और रेडियोसे प्रसारित बम्बइया प्रेमकी रस-तरंगें। साधु-संन्यासी बहुत-से भाग गये हैं और उनकी धूनियोंपर अब पंजाबी कामिनी-कांचन विराजते हैं। गाँजा-चरसका धुँआ नहीं है कहीं भी, उसकी जगह बोतलोंमें भरा अस्वच्छ पानी है। कथाएँ नहीं बैठतीं अब, दर्शन-तत्त्वकी विचार-सभाएँ भी अलक्षित हो चली हैं, भेंट-भोजनका रिवाज ही उठा जा रहा है – सबके सब जैसे राजनीतिके धक्कोंसे स्थानच्युत हो गये हैं। दूध-मलाईकी बात छोड़िए अब तो उन्हीं दूकानोंके आसपास चाय-काफ़ीका बोलबाला है। ठाकुरद्वारों और मन्दिरोंके पटचित्र कबके उठ गये, उनकी जगह अब कोट-पैण्ट और ढीला पा-जामा या चूड़ीदार पहने परदेशी औरतें कैमरा लटकाये घूमती और तसवीरें उतारती फिरती हैं। अब तो यहाँ तीर्थयात्रियोंके बजाय स्वास्थ्यान्वेषियोंकी भीड़ लगी रहती है। पहले ख़ूब बढ़िया घीमें पकी पूड़ियाँ और पकवान मिलते थे तो अब दालदार चाप और कट्लेट। माँस-मछली, अण्डे हरिद्वारमें कोई नहीं खाता। लेकिन प्याज चलती है। और ज्वालापुर जब पास ही में बसा है तो वहाँसे छिपाकर माँस-मछली और अण्डे लाकर किसी भी धर्मशालाकी बन्द कोठरीमें बिना प्याज़के पकानेपर किसको पता चलता है भला? हरिद्वारकी हवामें चन्दनकी गन्ध नहीं बगराती अब।

यह अच्छा है या बुरा यह सवाल न उठाइए। ये तो वक्त की ख़ूबियाँ हैं सो माननी ही पड़ेंगी। आदमी ही बदल गया तो हरिद्वार नहीं बदलेगा क्या? शायद प्रशासक-गण अब यह भी सोचने लगें कि मनसा पहाड़ उड़ा दिया जाये तो बरसातमें हरिद्वार निरापद हो जायेगा। और एक दिन लोगोंके दिमाग़में यह बात भी अवश्य आ घुसेगी कि यहाँके घाटोंपर जो लाखों मछलियाँ तैरती फिरती हैं उनका चालान करनेपर आमदनी ख़ूब बढ़ सकती है। शायद तब बेकार साधु-संन्यासियोंको भी काम मिल जायेगा! मन्दिरोंमें तब वेतनभोगी पुजारी बैठेंगे, धर्मशालाएँ मेहनतकश जनताके क्वार्टर बन जायेंगी। अभी उस दिन देखा था न, कन-खलमें दक्षघाटका सर्वनाश! वट और अश्वत्थके तले-तले जो नीली जलधार बहती थी मदमाते तुरंग-दल-सी – उसका नामोनिशाँ भी नहीं है। घाट सूखा है। तलके पत्थर बाहर निकले पड़े हैं। सामने सड़ता हुआ बँधा पानी मर रहा है। उसपार भी बालू और पत्थरके टीले हैं। पण्डे सर हाथोंसे पकड़े बैठे हैं। यात्री मुँह फिराकर चले जाते हैं – न रही दक्षघाटकी महिमा, न वह बीते दिनोंवाली उदासीकी हवा। अच्छी तक़दीर थी कि दाक्षायणी ज़िन्दा नहीं हैं अब। अगर

होतीं तो पैतृक सम्पत्तिकी यह दुर्दशा देखकर वह फिर एक बार देहत्याग करतीं। पण्डे बोले, हरिद्वारकी गंगा बाँध दी गयी है सो अब इधरकी धार छोड़ना हाकिमोंके हाथमें है। इसीलिए कनखलका प्राणरस भी सूख गया है। जलके साथ ही तो ज़िन्दगीकी चहल-पहल आती है। इसीसे प्रवाहवती धाराके किनारे-किनारे शहर और बस्तियाँ बस जाती हैं, मन्दिरोंमें लोग चढ़ावा चढ़ाते हैं, दुनिया-दारी चलने लगती है। आज भी घने पेड़ोंकी छाँहवाले तपोवनमें दक्षप्रजापतिका वही मन्दिर खड़ा है, क़िलेके परकोटके खण्डहर भी मौजूद हैं अभी, और उसी पथके समक्ष बंगाली परिचालित नागेश्वर मन्दिर भी ज्यों-का-त्यों है – किन्तु घाटपर जल नहीं रहा सो कहीं रस भी नहीं है। लगता है, सारी दुनियापर हावी हुआ जा रहा है लम्बे चौड़े डीलडौलका एक वैज्ञानिक राक्षस – जिसका नाम 'आधुनिक' है – दिग्दिगन्तमें फैलता हुआ यह आगे बढ़ा आ रहा है। यह सबको निगल जायेगा। विज्ञानके शासनसे सारी मानव-जाति नियन्त्रित होगी।

मोतीबाज़ार होकर भीमगोड़ाकी ओरसे साँझके वक्त अकेले जानेमें डर लगा करता था, लालतारा बाग़के उस अश्वत्थके नीचेकी धार पकड़कर निरंजनी अखाड़ेके पाससे गुज़रते हुए अकेले-अकेले मायापुरीकी मंज़िल पूरी करनेकी हिम्मत नहीं होती थी, किन्तु अब नहीं रहे वे दिन। अब तो सभी कुछ सरल है, आलोकमालासे सुसज्जित है। हृषीकेशके रास्ते देहरादूनकी घाटीका घना जंगल पड़ता था – आज भी अधिकांश है – जिसमें-से दिनके उजालेमें भी गुज़रनेपर देह सिहर उठती थी। कोई कहता, नरभक्षी बाघ रहता है इसमें; तो कोई बोलता, डाकू लूट-मार तक करते हैं यहाँ! अब इन रास्तोंमें ऐसा कोई डर नहीं रहा। पहले लोग इन्हें पैदल तय करते थे, फिर चले टाँगे और अब मोटरें दौड़ती हैं। मोटरें अनवरत धूल उड़ाती इधरसे उधर आती-जाती हैं और साधु-संन्यासी अवाक विस्मित ताकते रह जाते हैं। दुस्साध्य पथ अब सहज-साध्य हो गया है, अगम्य अंचल ही अब बहुतेरोंका गन्तव्य स्थल बन गया है। पहले पैदल हृषीकेशसे केदारनाथ होकर चमोली पहुँचनेमें क़रीब बाईस दिन लगते थे, अब बससे जानेमें एक दिन और एक बेला लगती है – केदारनाथ छोड़कर। कोशिश की जाये तो रेलवे-स्टेशनसे बदरीनाथ अब सिर्फ़ पाँच दिनमें पहुँचा जा सकता है।

कोशिश की है कि आधुनिक मन लेकर हरिद्वारमें बैठा ही रहूँगा किन्तु सम्भव नहीं हुआ। हिन्दू-रक्तकी एक भी बूंद देहमें हो तो मानो वह भूतकी तरह सरपर चढ़ बैठती है। कैसा ही शक्की हो उसे चौंककर रुकना होगा, कैसा ही अश्रद्धालु हो, उसे एकबार सोचना होगा। सारे साज-सरंजाम लेकर हरिद्वार या हृषीकेश पहुँच जाओ तो भी धीरे-धीरे यही महसूस होगा कि ये सब बेकार हैं। वेश-भूषाकी तड़क-भड़क या बहुलता इस परिवेशमें नहीं जँचती, साज-सिंगार भी नहीं फबता और भोजनके विस्तृत आयोजनमें

अरुचि हो जाती है। माँसके प्रति भी आकर्षण कम हो रहा है। मिल जाये तो खाता हूँ, न मिले तो कोई नुक़सान नहीं है। सब कुछ छोड़-छाड़कर यदि तुम अत्यन्त दीन-दरिद्रकी तरह जहाँ-तहाँ घोंसला बाँधते फिरो तो कोई पूछता नहीं कुछ भी। चूँकि तब तुम्हारी हुलिया यहाँकी हालतोंमें खप जायेगी। मुश्किल तो विपरीतको मिलानेमें पड़ती है। अनेक रंगपुती, पाउडर-लिपी रेशमी स्त्रियोंको देखा है कि इधर-उधर बैठी हँसी-ख़ुशी बासन माँज रही हैं, ज़रा भी नहीं झिझकतीं। इस परिवेशसे संगत मिलानेमें उन्हें देर नहीं लगती। मुझे श्रीमती कृष्णा-देवी याद आ रही हैं। वे एक विदुषी लेखिका हैं, कविता और कहानी लिखनेमें कभी पर्याप्त प्रसिद्धि मिली थी उन्हें। अत्यन्त शिष्ट और संयत स्वभावकी महिला हैं। पर इसी कारण बात-बातमें ठाकुरजीके चरणोंमें सर पटकनेकी आदत नहीं थी उनमें। दिल्ली-से हरिद्वार स्टेशनपर आते ही श्रीमती कृष्णा-देवीने पैरोंसे चप्पलें विदा कर दीं। हरिद्वारके रास्ते-घाटोंपर उनके पैरोंमें कभी पत्थर-कंकर चुभे तो कभी ख़ून निकल पड़ा, ठण्डसे भी अकसर सिकुड़ते रहे ये पैर, पर उन्होंने जो कई दिन यहाँ बिताये, कभी नाक-भौं नहीं चढ़ायी। कोई कुछ कहता भी तो हँसकर कहतीं, चप्पलें पहननेमें ख़ुद ही शर्म लगती है यहाँ। अनभ्यस्त हाथोंसे खाना पकाया, साबुन और 'शावर-बाथ' छोड़कर साँकल पकड़-पकड़कर गंगामें डुबकियाँ लगायीं, एक बार भी कभी अपनी हिम्मत पस्त नहीं महसूसी, सिर्फ़ कभी-कभी सानन्द इतना ही बोलती थीं कि दिल्ली-कलकत्ता हो तो ये सब काम मैं सोच भी नहीं सकती थी, पर यहाँ आनेपर तो कोई भी आदत चिपकी नहीं रह पाती।

मिथ्या नहीं, श्मशान-वैराग्य ही यहाँ छा जाता है तन-मनपर। यह अद्वैतवादका प्रभाव है या नहीं, ठीक नहीं मालुम। पर हरिद्वारकी हवा उत्तर की है—देवतात्मा हिमालयकी हवा। यश, प्रतिष्ठा, प्रतिपत्ति और सम्पत्ति इन सबकी कामना तो प्रत्येक व्यक्ति करता है। पर यहाँ आनेपर इनकी क़ीमत घटने लगती है। वे द्वारके बाहर पड़े रहते हैं, कारण यह तो हरिद्वार ठहरा। जो रोज़मर्राकी हायतौबा मचती है – यहाँ आते ही वह सब तुच्छ और शान्त हो जाती है। जो बहुत ज़रूरी था वह यहाँ अच्छा-खासा मज़ाक़ लगता है। जिस चीज़के बिना कलकत्तेमें काम ही नहीं चल सकता उसकी यहाँ याद भी नहीं आती। हरिद्वारसे दिल्ली जाते ही इच्छा होती है कि मन्दोदरीके पास सीता आ बैठे, लंका सोनेकी हो जावे, त्रिलोकीपर दबदबा छा जाये, स्वर्गके देवता भी मुझसे डरें – मेरी सारी साधें पूरी हो जायें। हरिद्वारमें कोई साध-आह्लाद नहीं रहता, होता है केवल निष्क्रिय शान्त ध्यान—मौन आनन्द। यहाँ सब कुछ मिल-मिलाकर मानो एक स्तुति बन गयी हो, एक ओंकार-ध्वनि, एक अखण्ड महाकाव्य। सारी पौराणिक कहानियाँ कहे जाओ—उनपर विश्वास होगा। देवी-देवताओंकी अयथार्थ, अजीब

रोमांचकारी रूप-कथाएँ भी मान लूँगा सारी। उन्हें जैसे यहाँ आँखोंसे देख पाता हूँ। यही तो उनका लीलाधाम है, यह देवतात्मा हिमालयका पादमूल है। देख पा रहा हूँ कि भगीरथ इसी पथसे गये थे और इसी पथसे आगे बढ़नेपर कर्णप्रयागमें दाताकर्णका संगम है। इसीसे सूर्यवंशाधिपने यात्रा की और इसीसे पाण्डवोंने। कुछ भी अविश्वस्त नहीं लगेगा यहाँ, यही तो मायापुरीका माया-जाल है।

०

कभी बेवक्त पहुँचा हूँ हरिद्वार तो चौंकना पड़ा है। चारों ओर निस्तब्धता छायी है। सुबह, दोपहरी, रात—सिर्फ़ गंगाकी तेज़ धारकी आवाज़। हर रास्तेपर घूम-घूमकर देखा है कि सारा हरिद्वार तन्द्राच्छन्न है। धर्मशालाकी सीढ़ियोंके तलेसे गुज़रता गंगा जा पहुँचा हूँ, निर्जन मन्दिरके चबूतरेपर पत्थरका तकिया बना आँखें मूद ली हैं—पत्थर-पत्थरमें जाने कैसी निगूढ़ अजीब-सी गन्ध भरी है। जाने कौन कानों ही कानोंमें बात कर रहा है, जाने कौन बीजमन्त्र जपता है! पहाड़के ऊपरी भागकी ओर ताककर देखा है, प्राणिजगत्‌में जैसे कोई गतिवेग नहीं है, पहिया नहीं घूम रहा, घड़ीकी सूई नहीं चल रही। जहाँतक निगाह जाती है, एक उदासीन अध्यात्म-शान्ति छायी है, कहीं भी चंचलता नहीं है। शायद यही भारतका असली परिचय है। इस शान्तिको कितने ही युगोंकी कितनी ही जातियोंने, सभ्यताओंने, दस्युताओंने नष्ट करना चाहा है। सामयिक तरंगाघातोंसे शायद इस महाप्राचीन इतिहास-की तन्द्रा टूटी है, दोनों आँखोंमें भयंकर आग जल उठी है; शायद उसके ताण्डव-नृत्यसे असुरोंका भी हृदय काँप उठा है – पर उसके बाद महास्थविरके निमीलित नेत्रोंमें शान्ति आयी है, ध्यानी बुद्धके अधरपर प्रसन्न मुस-कान छायी है। धीरे-धीरे फिर वही अनादि प्राचीनकी चिर-नवीन धारावाहिकता आ गयी है। इस पहाड़के शिखरपर खड़े होकर अनुभव किया है कि मेरी शिराओं-उपशिराओं-के रक्तमें वही तीन हज़ार बरसोंका इतिहास बहा जा रहा है। आँधी-तूफ़ानमें मुँहके बल गिरा हूँ, मस्तक अपमान-लुण्ठित हुआ है, हिंस्र असुरोंके दंष्ट्राघातसे कितनी ही ख़ूनकी धारें फूट निकली हैं, वेदनासे सारा अंग आच्छन्न हो गया है, कष्टके मारे सदियों तक न जाने कितने आँसू गिराये हैं – किन्तु आघातके बदलेमें प्रत्याघात नहीं किया, मनुष्य-बोधके आदर्शसे विच्युति नहीं घटने दी। आज तीन हज़ार बरस बाद भी यह हम सबकी सबसे बड़ी सान्त्वना है।

वह वेदवतीके किनारे-किनारे चला गया है। रामगिरि, मध्यगिरि, और कृष्णगिरि पारकर कावेरी-द्वारा सिंचे प्रदेशसे गुज़रता सेतुबन्धकी, भारतकी आदि सभ्यताके चिह्नकी ओर पहुँचा है। वह 'मैं' कहींपर स्थिर नहीं हुआ, फिर भी नित्य चंचलताके बीच वह शान्त है, उदासीन है, योगासीन है। सारी मारकाट, इन्क़लाब, महामारी, दुश्मनोंका डर और अराजकताके बीच रहकर भी वह इन सबसे दूर बना रहा है। सारी अस्थिरतासे

अलग, सारे उत्थान-पतनके सीमान्तपर।

•

मैं पहाड़से उतर आया। कमसे कम इस बार तो बस विदा ही ले लूँगा। योगतन्द्रामें डूबा रहने दो हरिद्वारको। मेरे पैरोंकी आहट-से कहीं उसकी नींद न टूट जाये। हर मन्दिरमें, कबूतरोंकी गुटूरगूँमें वैराग्य-बोध अटूट बना रहे—नदी-निर्झरके प्रत्येक भँवरमें उसका मूल-मन्त्र नित्य बना रहे। हमारे उन्हीं प्राचीन वट और अश्वत्थके कोटरों-में हिमालयके गुहा-गह्वरोंमें सुविशाल मैदानोंके प्रान्तोंमें, नगरोंमें, जनपदमें नदी-पथ और सागरकी रेतीमें, जंगलोंकी नीरव भयंकरतामें अनगिनत सभ्यताने अपने-अपने छोटे-छोटे आवास बना लिये हैं। युग-युगमें वे हमारे प्राण-रससे संजीवित होते रहे हैं।

इस चण्डी पहाड़के शिखरस्थ मन्दिरकें चबूतरेपर खड़ा होकर इस विशाल भारतको कितनी ही बार देखा है, दूर दक्षिण तक नज़र गयी है, मेरा प्राण-पथिक गया है। इसमें मैंने उस 'मैं'को खड़े होकर देखा है। वह सारे भारतके परिक्रमार्थ निकल पड़ा है। मानस-सरोवरसे वह सिन्धुनद गया है—सतद्रु के किनारे-किनारे भटका है, ब्रह्मपुत्रकी राहों-पर घूमा है, गोदावरी, वेत्रवती और रेवाके उपकूलोंमें शिलासनोंपर बैठ-बैठकर जप करता फिरता है। दृषद्वतीसे चन्द्रभागा, विपाशासे यमुना-गंगा – आर्यावर्तका उसने कितनी ही बार आलिंगन किया है। फिर वह पूर्णा, मंजिरा, भीमा, कृष्णा और उच्चरित हो! समगानसे मुखरित मुनिकी रेतीमें, स्थित तपोवनमें, ऋषिके आश्रमके पास वन्य मयूरों-को, केकारव संगिनियोंको आह्वान करें – मैं तो इस बार विदा लेता हूँ।

यह गंगा मेरे साथ-साथ चले, इसको पहचान-पहचानकर ही मैं फिर लौटूंगा। मैं गांगेय हूँ। यह हरिहरका द्वार खुला रहे। यहाँसे ये सब मुझे फिर पुकारेंगे। ये नील धारा, मनसा चण्डी, उस पारका जंगल, माया-पुरीका आश्रम, पीपलके नीचेकी वह लाल पत्थरवाली सीढ़ियाँ, हृषीकेश, चन्द्रभागा। और स्वर्गाश्रम, वह अन्तहीन टेहरी-गढ़वाल, ब्रह्मपुराका पार्वत्य रहस्यलोक – ये सभी मुझे पुकारेंगे। अब तो झोली कन्धेपर डाल-कर विदा ले लूँ।

(क्रमशः)

•

बालक प्रिन्स ऑफ़ वेल्स दूर एक स्कूलमें पढ़ने गये थे। हॉस्टेलमें, अन्य लड़कोंके बीच बैठकर, जब उन्होंने अपनी माँके नाम पहला पत्र लिखा तो पता लिखते समय ठिठक गये। उन्होंने लड़कोंकी ओर देखकर पूछा, "मैं यह तो जानता हूँ कि मेरी माँ इंग्लैण्डकी साम्राज्ञी हैं किन्तु यह नहीं जानता कि उन्हें भेजे गये पत्रपर क्या पता लिखा जाता है।"

देश-विदेशके शब्द-सागरोंमें डुबकी लगानेवाले भाषा-शास्त्रियोंकी नयी उपलब्धि—'संकर शब्द'। ये मोती हैं या सीप? लेखकका अपना दृष्टिकोण।
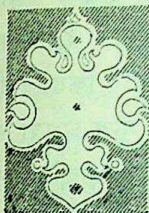
नये शब्दोंकी खोज

भाषाओंका गँठबन्धन

कृष्णकुमार गुप्त

गत आठ-दस वर्षोंमें भारतके कुछ ज़िम्मेदार क्षेत्रों-द्वारा तैयार की गयी भारतीय भाषाओं (विशेषकर हिन्दी) की पारिभाषिक एवं तकनीकी शब्दावलीको, भाषाई-स्वरूपके आधारपर तीन भागोंमें विभाजित किया जा सकता है : लिप्यन्तरित, नव-निर्मित एवं संकर।

'लिप्यन्तरित' शब्दावलीसे हमारा अभिप्राय उन शब्दोंसे है जिन्हें उनके मूल रूपमें ज्योंका त्यों भारतीय भाषाओंमें अपना लिया गया है। ऐसी शब्दावलीको कभी-कभी 'अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली' भी कहा जाता है, क्योंकि उसके शब्दोंका स्वरूप विश्वके अधिकांश देशोंमें प्रायः एक-सा ही रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावलीमें रासायनिक तत्त्व और यौगिक, भार-माप और कालकी इकाइयाँ तथा विभिन्न नियतांक आदि प्रमुख हैं। **हाइड्रोजन, प्लेटिनम, सिलिकन, इलेक्ट्रॉन, न्यूट्रॉन, प्रोटॉन, सोडियम, क्लोराइड, क्लोरोफ़ॉर्म, सेण्टीमीटर, ग्राम, सेकेण्ड आदि** शब्द इसके उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिन्हें सही अर्थोंमें अन्तर्राष्ट्रीय तो नहीं माना जा सकता परन्तु भारतीय भाषाओंमें पूरी तरह घुल-मिल जानेके कारण उन्हें भी उनके मूल

रूपमें ग्रहण कर लिया गया है। ऐसे शब्दोंमें **रेडियो, बल्ब, टिकिट, सिनेमा, पेट्रौल, बैटरी, स्टोव** और **डॉक्टर** आदिको गिनाया जा सकता है। व्यवहारकी दृष्टिसे यह उचित भी है।

नव-निर्मित शब्दावलीके अन्तर्गत ऐसे शब्द आते हैं जो या तो एकदम नये गढ़े गये हैं अथवा जिन्हें भारतीय भाषाओंके पूर्व-प्रचलित शब्दोंमें-से चुनकर, नये अर्थोंमें प्रयुक्त किया जाने लगा है। **'थर्मामीटर'** के लिए **'तापमापी'**; **'टेम्परेचर'**; के लिए **'ताप'** अथवा **'तापमान'**; **'सेडीमेण्ट'**के लिए **'तलछट'**; **'स्टैण्ड'**के लिए **'धरनी'**, **'उपस्तम्भ'** अथवा **'आधार'**; **'स्टेनलेस-स्टील'**के लिए **'जंगरोधी इस्पात'**; **'साफ्ट वाटर'**के लिए **'मृदु जल'**; **'स्मेल्ट'**के लिए **'आगलन'**; **'स्मूथ कर्व'** के लिए **'निष्कोण वक्र'**; **'सिल्वरिंग'** (ऑफ़ मिरर) के लिए **'रजतन'** और **'शियर'** के लिए **'अरूपण'** आदि कुछ इसी प्रकारके उदाहरण हैं।

उक्त पर्यायोंके चयन अथवा निर्माणमें प्रयुक्त भाषा अथवा उनके स्वरूप-निर्धारणमें किन्हीं विशेष सिद्धान्तोंको अपनाया गया हो ऐसा नहीं लगता। कहीं संस्कृतको आधार माना गया है तो कहीं बोलचालकी भाषासे काम चला लिया गया है। कोई पर्याय अँग्रेज़ीके मूल शब्दका शाब्दिक अनुवाद-भर-सा लगता है तो दूसरा साधारण (कान्सेप्ट) के भारसे दबा हुआ-सा मालूम होता है। इसी प्रकार वैज्ञानिक उपकरणों एवं यन्त्रोंके लिए तैयार किये हिन्दी पर्यायोंमें-से कुछका आधार, यन्त्र अथवा उपकरणका रूप (फ़ॉर्म) और कुछमें उनका कार्य (फंकशन) रखा गया है। इन्हीं बातोंको लेकर कुछ क्षेत्रोंमें इन नयी शब्दावलीकी आलोचना भी हुई है। लेकिन मुख्य बात यह है कि भारतीय भाषाओंमें वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावलीका निर्माण करते समय हमारा उद्देश्य किसी भाषाविशेषकी क्षमताका प्रदर्शन कर उसे अन्य भाषाओंसे श्रेष्ठ ठहराना न होकर भारतीयोंके लिए अपनी भाषाओंके माध्यमसे वैज्ञानिक अध्ययनको सरल, सुबोध एवं सुगम बनाना-भर है। वैसे भी विज्ञानके अध्ययनमें वैज्ञानिक शब्दोंके रूप-स्वरूपपर विचारके लिए कोई गुंजाइश नहीं रहती; वहाँ तो तथ्योंका ही प्राधान्य एवं महत्त्व रहता है।

आधुनिक-कला-भवनमें

बारिशसे बचनेके लिए दो किशोर वयस्क छात्र पासके आधुनिक-कला-भवनमें घुस पड़े। चित्रोंको देखते हुए वे एक निहायत ही एब्स्ट्रैक्ट ढंगके चित्रके सामने जा खड़े हुए तो एकने दूसरे का कन्धा हिलाते हुए धीरे-से कहा, "चलो, धीरे-से भाग चलें वरना कोई आ पहुँचा तो वह यही कहेगा कि यह सब हमी ने किया है।"

तीसरे प्रकारके शब्द वे हैं जिन्हें प्रायः 'संकर शब्द' (हाइब्रिड वर्ड्स) की संज्ञा

दी जाती है। लिप्यन्तरित शब्दोंकी भाँति न तो इनका रूप शुद्ध अँगरेज़ी-जैसा रहता है और न 'नव-निर्मित' की भाँति शुद्ध भारतीय। हिन्दुस्तानियों एवं अँगरेज़ोंके मेलसे जिस प्रकार ऐंग्लो-इण्डियन नामकी एक नस्ल भारतीय समाजका एक अंग बन चुकी है, कुछ ऐसी ही स्थिति इन संकर-शब्दोंकी है। अँगरेज़ी शब्दोंको मूल रूपमें अंगीकार कर उनके भारतीयकरण-द्वारा इन शब्दोंका स्वरूप-निर्धारण होता है। इस प्रकारके शब्दोंके कुछ उदाहरण हैं—**क्रिस्टलन, हाइड्रोजनीकरण, मरसरीकृत, आक्सीकरण, वल्कनीकरण, लौहिक-सल्फेट, पराक्सोकारक; फास्फर-वंग, फोटो-चित्रण, पिस्टन-दण्ड, कृष्ण-प्लेटिनम, प्रिज्मीय तन्त्र, क्वांटम-यान्त्रिकी, रेडियो-रसायन, ओज़ोनित्र, प्लास्टिक अवस्था, इलेक्ट्रानिकी आदि-आदि।**

लोगों का मत

एक सामाजिक संस्थाकी दो सदस्याओंके सम्बन्धमें लोगोंका मत था कि उनमें-से एक हर विषय पर बोलने की क्षमता रखती है और दूसरीको बिना विषय के ही बोलने का अधिकार प्राप्त है।

उपर्युक्त प्रकारके शब्दोंको लेकर जन-साधारणमें ही नहीं, उच्च शिक्षितवर्गमें भी कई प्रकारकी चर्चाएँ सुनी जाती हैं। चर्चाका रुख़ प्रायः कभी-कभी आलोचनात्मक और व्यंग्यात्मक रहता है। जहाँतक आलोचनाका सम्बन्ध है, वह तो 'नव-निर्मित' शब्दोंको लेकर भी कम नहीं होती मगर उनकी आलोचना अकेले उसी वर्ग-द्वारा होती है जो समस्त भारतीय वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावलीको बिना किसी अपवादके संस्कृतनिष्ठ बनाये जानेका हामी है। दूसरा वर्ग जो बिना किसी उलट-फेर के अँगरेज़ी शब्दोंको उनके मूलरूपमें अपनाये जानेके पक्षमें है, ऐसे शब्दोंके बारेमें प्रायः चुप ही रहता है। मगर संकर शब्दोंको लेकर तो दोनों ही पक्षोंका रुख समान रूपसे आक्रामक पाया जाता है। हाँ, दोनों ही मामलोंमें आक्रमणके आधारपर एक-दूसरेसे बिल्कुल विपरीत अवश्य होते हैं। संस्कृत-समर्थक वर्ग जहाँ ऐसे शब्दोंको संस्कृत एवं अन्य भारतीय भाषाओंके माथेपर कलंकका टीका समझता है, वहाँ अँगरेज़ी-समर्थक वर्ग, ऐसे शब्दोंको लेकर यह सिद्ध करनेकी कोशिश करता है कि भारतीय भाषाओंमें इतनी क्षमता ही नहीं है कि उन्हें उच्च वैज्ञानिक शिक्षाका माध्यम बनाया जा सके। यही वर्ग यह दलील भी देता है कि कुछ अँगरेज़ी शब्दोंको लेकर हिन्दीके साथ उनकी खिचड़ी पकानेसे अँगरेज़ीसे छुटकारा तो हो नहीं जाता। फिर क्यों न पूरी अँग्रेज़ी शब्दावलीको अपनाकर हम अपने 'विशाल हृदय' और 'खुले-दिमाग़' का परिचय विश्वको दे दें।

यहाँ यह बता देना अनुचित न होगा कि दोनों ही वर्गोंमें अधिकांश लोग ऐसे हैं जो या तो राजनीतिसे प्रभावित रहते हैं अथवा जिन्हें वैज्ञानिक-शब्दावली सम्बन्धी समस्याओं-का कोई विशेष ज्ञान रहीं रहता। यह ठीक है कि वैज्ञानिक-शब्दावलीका भारतमें तैयार

किये जानेके पीछे मुख्य उद्देश्य यही है कि अपनी भाषाओंके माध्यमसे वैज्ञानिक-शिक्षाका प्रसार किया जा सके परन्तु जिन लोगोंके कन्धोंपर इसे क्रियान्वित करनेका भार है उन्हें साथ ही यह भी ध्यान रखना होता है कि दिन-दुगुने रात-चौगुने बढ़ते विज्ञानके अध्ययनमें स्तरकी दृष्टिसे कोई गिरावट न आने पाये या विद्यार्थी कहीं शब्दावलीकी भाषाको लेकर किसी नयी उलझनमें न पड़ जायें। जैसा कि स्पष्ट है राजनीतिक अथवा भौगोलिक सीमाओंके साथ कुछ साहित्यिक सीमाएँ चाहे रहती भी हों, किन्तु विज्ञान किन्हीं ऐसी सीमाओंमें बाँधा नहीं जा सकता। उदाहरणके लिए अँगरेज़ी शब्द **'एटम'** के लिए विभिन्न भाषाओमें विभिन्न शब्द हो सकते हैं, परन्तु उससे (एटम-शब्दसे) जिस वस्तु अथवा जिन तथ्योंका बोध होता है, वे सारे संसारमें बिलकुल एक से ही हैं। हमने **'एटम'** के लिए **'परमाणु'** रखा है। अगर हम उसके स्थानपर **'सूक्ष्माणु'** रख लें तो भी तथ्योंमें कोई परिवर्तन नहीं होगा। **'परमाणु'** और **'सूक्ष्माणु'** दोनों ही शब्दोंके अर्थोंमें-से एक भी ऐसा नहीं है जिससे सारे तथ्योंका अपने-आप स्पष्ट बोध हो जाता हो। पाठक पहली बार जब इनमें-से किसी भी शब्दको पढ़ेगा, **'एटम'** की पूरी व्याख्या समझानी पड़ेगी। फिर भी तथ्योंके प्रति **'परमाणु'** शब्द की पकड़ तुलनात्मक रूपसे ज्यादा नज़दीक है। इसीलिए उसे प्राथमिकता दी गयी है। यही बात अन्य वैज्ञानिक शब्दोंके बारेमें समझी जा सकती है। अर्थात् किसी भी वैज्ञानिक शब्दसे सम्बन्धित सभी तथ्यों एवं पहलुओंको केवल शब्द-द्वारा नहीं समझा जा सकता है। और इसीलिए उनकी व्याख्याओंकी आवश्यकता होती है। ऐसी स्थितिमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य अथवा पहलूके सबसे नज़दीक जो पर्याय हो सके, उसे प्राथमिकता देना स्वाभाविक ही है।

इसीलिए संधारणा-सम्पन्न (रिच इन कान्सेप्ट) अँग्रेज़ी शब्दोंके लिए जितनी अधिक आवश्यकता नये भारतीय पर्यायोंकी है उतनी कोरे संज्ञात्मक शब्दोंके लिए नहीं। परमाणुमें इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन एवं न्यूटॉन नामके जो कण पाये जाते हैं, उन्हें अनुवाद करनेकी क्या आवश्यकता है? व्यावहारिक दृष्टिसे भी इसकी कोई वांछिता सिद्ध नहीं की जा सकती। इसी आधारपर ही अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली एवं भारतीय भाषाओंमें घुले-मिले विदेशी शब्दोंको भी ज्योंका त्यों अपनाया गया है। रासायनिक तत्त्वों, एवं यौगिकोंके नामोंके अनुवादसे समस्या सुलझनेके बजाय और भी अधिक पेचीदा हो जायेगी। वैज्ञानिक अध्ययनमें इस अँग्रेज़ी नामकरण-पद्धतिका अपना एक विशेष महत्त्व है। फिर दुनिया की कोई भी सम्पन्न भाषा ऐसी नहीं है जिसने अपने भण्डारको व्यापक बनानेमें दूसरी भाषाओंके शब्दोंको अपनाया न हो।

कोई भी शब्द बिलकुल अकेला नहीं है। एक परिवार, बड़ा अथवा छोटा, उसके साथ होता है। परिवारके इन दूसरे शब्दोंका उत्स प्रायः मूल शब्द होता है, उसके बिना उनका अस्तित्व सम्भव ही नहीं। हाँ, मूल शब्दसे

सम्बन्धित नये शब्दोंकी उत्पत्ति और विकास की पद्धति हर भाषाकी अपनी अलग होती है। एक भाषाके लिए दूसरी भाषाकी पद्धति ग्राह्य नहीं। उदाहरणके लिए अँग्रेज़ीने हिन्दी-के 'लूट' शब्दको अपना लिया है। मगर 'लूट' से व्युत्पन्न 'लूटना' शब्द अँग्रेज़ीमें नहीं चल सकता। वहाँ उसका पर्याय 'लूटिंग' रहेगा, क्योंकि वह अँग्रेज़ी पद्धतिमें फिट बैठता है। अँग्रेज़ीमें इस प्रकारके शब्दोंकी कमी नहीं है। अँग्रेज़ी भाषाकी दृष्टिसे **'लूटिंग'** शब्द संकर-शब्द है क्योंकि मूल शब्द **'लूट'** अँग्रेज़ी भाषाका न होकर विभाषी है। बिलकुल यही बात भारतीय वैज्ञानिक शब्दावलीके लिए उतनी ही ठीक है। **'हाइ-ड्रोजन'** एक रासायनिक तत्त्व है। उसका अनुवाद या नया पर्याय वांछनीय नहीं। ऐसी स्थितिमें **'हाइड्रोजन'** से बननेवाले अँग्रेज़ी शब्द **'हाइड्रोजनेशेन'** के लिए क्या पर्याय रखा जाये? **'हाइड्रोजनेशन'** मूल शब्द नहीं है। वह अँग्रेज़ी पद्धतिके अनुसार **'हाइड्रोजन'** से बना उसीका एक व्युत्पन्न है। हिन्दी-पद्धतिसे यह व्युत्पन्न शब्द **'हाइड्रोजनीकरण'** होगा। यह 'शब्द' कितना तर्क-सम्मत एवं स्वाभाविक है। बिल्कुल यही स्थिति दूसरे संकर-शब्दोंकी है, फिर उनकी आलोचना क्यों?

कुछ और उदाहरण देखिए। 'ओज़ोन' एक गैस है। जिस उपकरण-द्वारा यह तैयार होती है उसे अँग्रेज़ीमें 'ओज़ोनाइज़र' कहते हैं। हमने **'ओज़ोन'** शब्दको ज़रूर अपनाया है, मगर **'ओज़ोनाइज़र'**को नहीं। उसके लिए हमारा पर्याय **'ओज़ोनित्र'** है। 'ओज़ोनाइज़र' अँग्रेज़ी भाषीके लिए जितना सार्थक है, हिन्दी भाषीके लिए उतनाही सार्थक **'ओज़ोनित्र'** है।

ऊपरके उदाहरण सीधे-सादे शब्दोंके हैं। विज्ञानके उच्च अध्ययनमें ऐसे अनेक जटिल शब्द आप पायेंगे। **'वल्केनाइज़िंग'**का हिन्दी पर्याय **'वल्कनीकरण'** है। संकर-शब्दोंकी आलोचना करते हुए एक साहबको एक बार यह कहते हुए सुना गया — "अजी, 'करण'से हम तो परिचित हैं मगर यह 'वल्कनी' क्या बला है? कौन-से व्याकरणसे बनाया गया है यह शब्द?" जब उन्हें बताया गया कि 'वल्कनी' का स्रोत भारतीय भाषाएँ अथवा कोई संस्कृत-धातु नहीं है, यह एक विदेशी शब्द है, इसमें निहित तथ्यके ठीक-ठीक व्यक्तीकरणकी दृष्टिसे इसे मूल रूपमें अपना-कर, इसका भारतीयकरण कर दिया है, तो उन्हें इस उत्तरसे सन्तोष नहीं हुआ। ऐसी आलोचनाओंका क्या किया जाये! बहरहाल प्रतिदिन सामने आनेवाले नये वैज्ञानिक तथ्यों एवं संधारणाओंमें-से हरेकके लिए भारतीय पर्याय ही रखा जाये, यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं माना जा सकता।

अतः कुछ महत्त्वपूर्ण विदेशी शब्दोंके अपनाये बिना चारा नहीं। फिर इन शब्दों-से सम्बन्धित अन्य शब्दोंका विकास भी जब भारतीय पद्धतिसे करना है तो संकर-शब्द अपने-आप ही अपरिहार्य हो जाते हैं। ये अभी हमें अटपटे लगते हैं, जब यह शब्द चल पड़ेंगे, तब न तो हमारे लिए ये अजनबी रह जायेंगे और न हमें अखरेंगे ही। ● ●

अव्यवस्था

०

डॉ० सुषमा अस्थाना

०
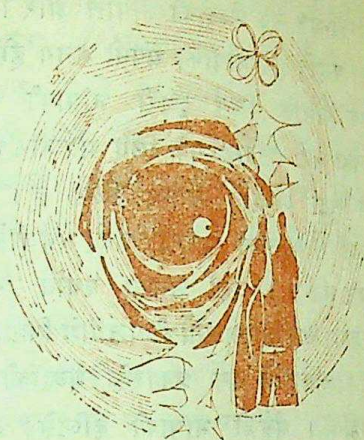
कैसा
सामंजस्य है !
अँधेरे कमरों में जलने वाले को–
बग़ीचे में
खिलने, मुस्कराने का
काम सौंप दिया !
गुलाब के धोखे
क्यारी में बो दिया गया
चिराग़ हूँ !

● ●

मुझे यक़ीन, तू है मुझ पे मेहरबाँ, वरना –
यह दर्द और किसीको न दे दिया होता ?

०

मुझको बेहोश समझ मत ऐ ज़माने गुस्ताख़,
इतना तो होश अभी है, कि अभी होश में हूँ !

ऊल-जलूल का थियेटर

०
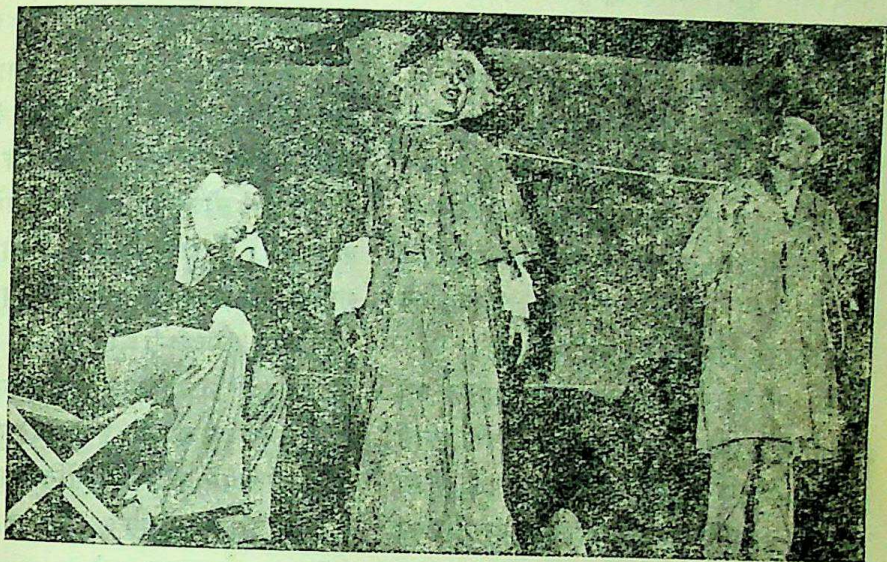
यानी ऐसे नाटक जो, देखनेपर ऊटपटांग एवं निरर्थक लगें पर जिनकी निरर्थकताकी गहराईसे जीवनकी नग्न वास्तविकताएँ एवं सही रूप-रेखाएँ उभर-उभर आयें

०

ऊल-जलूलका थियेटर 'ऊल-जलूल थियेटर' नहीं, बल्कि जीवनकी ऊल-जलूल स्थितियोंका थियेटर है।

जीवनके यथार्थको उभारकर पेश करनेकी कलाके विरुद्ध कई आन्दोलन चले। ऊल-जलूल आन्दोलन इस बातपर ज़ोर देता है कि जीवन सीधी सड़क

नहीं, बल्कि ऊबड़-खाबड़ धरती है। यह आन्दोलन उन रूढ़िगत परम्पराओंके विरुद्ध है जिन्होंने हमारी सूक्ष्म शक्तियोंको निष्क्रिय कर दिया है। बड़ी-से-बड़ी गम्भीर घटनापर प्रतिदिनके जीवनमें जो रस्मी बातें होती हैं अगर उन्हें लिखा जाये तो निरी बकवास और ऊलजलूल नज़र आयेंगी। उदाहरणके लिए किसीकी प्रेमिका मोटरके नीचे आकर मर गयी हो तो मित्र और सम्बन्धी एक-से शब्दोंमें ही उसी बातको बार-बार दोहरायेंगे। किसी सूक्ष्म दृष्टि रखनेवाले रचनाशील कलाकारके लिए ये भाँति-भाँतिकी शोक प्रकट करनेवाली रस्मी बातें हास्यास्पद बन जाती हैं। आप किसी पत्नीको अपने पतिसे लड़ते देखिए या दो फ़िलासफ़रोंको किसी गहरी दार्शनिक समस्यापर विचार प्रगट करते हुए सुनिए, यह वार्त्तालाप बहुत हद तक 'ऊलजलूल'के निकट होगा।

बार-बार एक ही बातको दोहरानेसे हास्य-रस पैदा होता है—इस रहस्यको चार्ली चेपलिन, गाँवका भाँड़ और मदारी ख़ूब समझता है। तीनों बालकी खाल उतारकर और ऊलजलूल बातें करके दर्शकोंको जीवन-की किसी गहरी सच्चाईकी झाँकी दिखाते हैं। ऊलजलूलका थियेटर, जिसके प्रणेता फ़्रान्सके प्रसिद्ध नाटककार सेमुअल बैकेट, ज्याँ जैने और यूजीन आयनेस्को हैं, जीवनकी इसी विडम्बना-को दार्शनिक आधारपर पेश करते हैं। अमरीकाके दो नवयुवक नाटककार एलबी और कोपिट इसी धाराके प्रतिनिधि नाटककार हैं।

जिन लोगोंने मदारीका खेल देखा है वे जानते हैं कि मदारी और जमूरेकी बातचीत बिल्कुल बेसिर-पैरकी होती है, लेकिन ये दर्शकोंको एक अद्भुत नाटकीय आनन्द देती है। यदि कोई पति अपनी बीमार पत्नीके लिए हकीमजीसे दवा लेकर आ रहा हो तो बीमारी भूलकर वहीं खड़ा हो जाता है और मदारीके ऊलजलूल संवादमें रस लेने लगता है। भाँड़ों और मदारियोंकी बातोंमें एक अजीब तुक है। यूरोपमें सोलहवीं-सत्रहवीं सदीमें थियेटरों-के मसखरे, शेक्सपीयरके मखौलिए पात्र, गावदी, क़ब्र खोदनेवाले, दो बूझ-बुझक्कड़ चौकीदार, डांग बेरी और वर्जिस, किंगलियर-का दरबारी मखौलिया—ऊलजलूल थियेटरके पात्रोंके आदिम रूप हैं। इनके अद्भुत और बेतु-के वार्तालापमें कुटिल दार्शनिकता छिपी हुई है और उनमें जीवनके क्षणिक सुख-दुःखके प्रति उपहास झलकता है।

पुराना नाटककार समझता है कि साधा-रण लोग अपनी भावनाओं और विचारोंको आपसमें सम्प्रेषित कर सकते हैं। बेकैट और आयनेस्को यह मानते हैं कि व्यक्ति अपनी आन्तरिक भावनाओं और विचारोंको दूसरे तक पहुँचानेमें असमर्थ है। हम एक-दूसरेको नहीं समझ सकते हैं। हम अपने-आपको नहीं समझ सकते। जीवन एक गोरखधन्धा है, एक भूलभुलैया। जो इसमें फँसा हुआ है वह निकल नहीं सकता। अपने विचारोंको दूसरे तक नहीं पहुँचा सकता। यहाँ विचारों-से अभिप्राय शब्द और उसके प्रचलित अर्थ नहीं, बल्कि इन शब्दोंके भीतर छुपी हुई बात और इस बातके भीतर छुपी हुई बातकी

बात है। प्याज़के छिलकेके नीचे दूसरा छिलका और उसके नीचे तीसरा छिलका और प्याज़की मूल वास्तविकताको समझनेके लिए हम इसके पतले छिलकोंको उतारते जाते हैं और अन्तमें इसकी सचाईको पा लेते हैं जो कुछ भी नहीं।

ऊलजलूलका थियेटर उस सत्यकी खोज करता है जो परम्परागत शब्दों, रीतियों, तर्क-वितर्क और बौद्धिकतामें खो गया है।

यह आन्दोलन शब्दोंके प्रचलित अर्थोंका शत्रु है। एक शब्दके लाखों-करोड़ों बार एक अर्थमें प्रयुक्त होनेसे हमारी ग्रहणशीलता कुण्ठित हो जाती है। कोई हमसे पूछे, 'आपका क्या हाल है?' तो जवाब मिलता है, 'आपसे मिलकर बहुत प्रसन्नता हुई।' व्यावहारिक वाक्य चिकने घड़ेपर बूँदोंकी तरह फिसल जाते हैं और हमें नहीं छूते। ऊलजलूलका थियेटर जीवनके इन रस्मी वाक्योंकी बकवासको बढ़ा-चढ़ाकर पेश करता है और इसका मज़ाक़ उड़ाता है।

गतिशील और अन्य नाटकके दर्शकोंको ऊलजलूलका थियेटर अपने संवाद, मंच-सामग्री, अद्भुत विषयों और ऊटपटांग बातोंसे चकित कर देता है ताकि एक ही ढर्रेपर चलती हुई उनकी बुद्धि ठोकर खाकर गिर पड़े और सँभलकर अपने आगे-पीछे देखनेका उपक्रम करे। ऐसे मंचपर हर असम्भव घटना सम्भव है। हर विचित्रता साधारणता है। पातालदेश, देवलोक, भूतलोकका प्राणी और हर प्रकारका जीव-जन्तु यहाँ आ सकता है। इसी धारणासे प्रतिभा विस्तृत हुई और इसने नाटककी सीमाको असीमित किया है। इस विचारधाराका सम्बन्ध बहुत हद तक विज्ञानके नये-नये आविष्कारोंसे है जिन्होंने देश-कालकी सीमाओंका अतिक्रमण किया है, आकाशमें नये सौर-मण्डल स्थापित किये हैं, अन्तरिक्षकी दूरियोंको तय किया है। आदिकालसे चले आये माने हुए यथार्थका खण्डन किया है और इस जीवनसे परे दूसरे जीवनकी सम्भावनाओंको अनुभावित किया है। ऊलजलूलका थियेटर जीवनके इसी असम्भावित रूपको प्रस्तुत करता है।

१९५५में सेमुअल बैकेटका नाटक 'गोडोकी प्रतीक्षा' ने सारे यूरॅपमें तहलका मचा दिया। मैंने यह नाटक लन्दनमें देखा। नाट्यगृहकी एक बूढ़ी परिचारिकासे जब मैंने इस नाटकका विषय पूछा तो उसने यह उत्तर दिया: "श्रीमान्, मैं इस नाट्यगृहमें अट्ठारह वर्षसे काम कर रही हूँ। मैंने बीसियों नाटक सैकड़ों बार देखे हैं। सब मेरी समझमें आये। लेकिन इस 'गोडोकी प्रतीक्षा' का भेद न पा सकी।"

लोग यह नाटक देखकर भौंचक्के रह गये। वह अपने साथीसे सवाल करते, अपने-आपसे पूछते कि इस नाटकका क्या अर्थ है? यह नाटक कहता क्या है? इसके दो आवारागर्द पात्र आपसमें क्या बातें कर रहे हैं? दर्शक इन बातोंके शाब्दिक अर्थ तो समझते थे लेकिन भावार्थ नहीं ग्रहण कर पाते थे।

व्लादीमीर और एस्ट्रेगन—दो भुक्कड़ आवारागर्द—मिस्टर गोडोकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। बंजर धरती, अनिश्चित समय। वे

ज़िन्दगीसे ऊब गये हैं, एक-दूसरेसे उकता गये हैं और यह उकताहट ही उन्हें एक दूसरे-से बाँधे हुए है। वे बातें करते हैं :

व्लादीमीर : वे शोर मचाते हैं जैसे पंख।

एस्ट्रेगन : जैसे पत्ते।

व्लादीमीर : जैसे रेत।

एस्ट्रेगन : जैसे पत्ते।

(मौन)

व्लादीमीर : वे सब एक साथ बोलते हैं।

एस्ट्रेगन : हरेक अपनी-अपनी बात।

(मौन)

व्लादीमीर : बल्कि....वे बड़बड़ाते हैं।

एस्ट्रेगन : सरसराते हैं।

व्लादीमीर : भिनभिनाते हैं।

एस्ट्रेगन : सरसराते हैं।

व्लादीमीर : वे क्या कहते हैं ?

एस्ट्रेगन : वे अपनी जीवन-कथा कहते हैं।

व्लादीमीर : सिर्फ़ जी लेना ही काफ़ी नहीं।

एस्ट्रेगन : उनको इसके बारेमें बात भी करनी पड़ती है।

व्लादीमीर : सिर्फ़ मरना ही काफ़ी नहीं।

एस्ट्रेगन : ये काफ़ी नहीं।

(मौन)

कहते हैं, विश्वकी घटनाओंके दबावसे फ्रांसीसी अपनी सरकार बदल लेते हैं, अँगरेज़ अधिक कर देने लगते हैं, रूसी अपने प्रचारका कल ज़ोरोंसे घुमाने लगते हैं एवं अमरीकी अपनी पुरानी कारोंको नये माडलमें बदल लेते हैं।

व्लादीमीर : वे शोर मचाते हैं....परोंकी तरह।

एस्ट्रेगन : पत्तोंकी तरह।

व्लादीमीर : राखकी तरह।

एस्ट्रेगन : पत्तोंकी तरह।

(दीर्घ मौन)

बैकेटके पात्र चिन्ताकी काली दीवारोंमें घिरे बड़बड़ाते हैं। उनका वार्तालाप अजीब सादगी लिये हुए है। जगह-जगह इस प्रकार-के वाक्य हैं जो किसी अन्तके सूचक प्रतीत होते हैं। इससे आगे कोई क्या कहेगा। लम्बे-लम्बे अन्तराल और मौन-स्थल आते हैं जिनमें आवाज़ोंका संघर्ष छिपा हुआ है। पात्र कोई बात कहना नहीं चाहते। कहनेसे लाभ ! अपनी मर्ज़ीके खिलाफ़ बहुत कोशिश करके वे बोलते हैं। वे अकथनीयके कथनके परिश्रममें 'हाँफ' रहे हैं। वे उस वस्तुका निर्माण कर रहे हैं जो छिपी हुई है, जो अनिश्चित है, जो विरोधी है। बैकेटकी काव्यमयी कुटिलता इसमें है कि वह संवादों-की इस रसाकशी और इसके पीछे जो मान-सिक तनाव है उसे बहुत कुशलतासे व्यक्त करता है।

'गोडोकी प्रतीक्षा' में तीन पात्र और हैं। मिस्टर पोज़ो कठोर सत्ताका प्रतीक है, मिस्टर लकी दुःख झेलते हुए और ज़ुल्म सहते हुए गुलामका जिसके गलेमें मालिकका फन्दा पड़ा हुआ है। और एक मासूम छोकरा है, जो दो बार हर अंकके अन्तमें यह सन्देश लाता है कि मिस्टर गोडो कल आयेगा। पोज़ो अपनी दुर्दम्य शक्तिके कारण नेत्रहीन हो

गया है और लकी जुल्मके खिलाफ़ पुकार करते-करते गूँगा। लकी एक अवसरपर जब अपने गम्भीर मौनको तोड़ता है तो ज्वालामुखीकी तरह उसके मुँहसे अजीब क़िस्मके अनघड़ ऊलजलूल शब्द फूट निकलते हैं।

व्लादीमीर और एस्ट्रेगन गोडोकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। वे प्रतीक्षा कर रहे हैं, इसलिए हम समयकी धाराको बहते हुए देखते हैं। समयका वास्तविक रूप हमें तभी दीखता है जब हम रुककर खड़े हो जायें और अपना सम्बन्ध जीवन-चर्यासे तोड़ लें। हम कालको बीतते हुए देखते हैं जिसका अन्तिम अर्थ मृत्यु है। मृत्युसे सचेत होकर हम जीवनके बारेमें और भी सचेत हो जाते हैं। जब हम प्रतीक्षा करते हैं तो हम बीतते हुए कालको सक्रिय देखते हैं। हम गोडोकी प्रतीक्षा कर रहे हैं जिसका आगमन समयके बहावका अन्त कर देगा, क्योंकि यह प्रतीक्षाका अन्त कर देगा। फिर पात्र आनन्दसे सोयेंगे। इसी कारण प्रतीक्षा, जीवनकी पूर्णताके लिए एक अनिवार्यता है।

जब एलन श्नेडरने 'गोडोकी प्रतीक्षा' को अमरीकामें प्रस्तुत करना चाहा और पूछा कि 'गोडो'के क्या अर्थ हैं तो बैकेटने उत्तर दिया, "अगर मुझे इसका अर्थ मालूम होता तो नाटकमें ज़रूर लिख देता।"

अमरीकामें यह नाटक कई जगह कई बार प्रस्तुत किया गया। साँ फ्रान्सिसकी खाड़ीके बीच एक छोटे-से टापूमें, जहाँ उम्रक़ैदी खूनी-डाकू रखे जाते हैं, यह नाटक दिखाया गया। कुछ साहित्यिक पण्डित और आलोचक भी इस प्रदर्शनमें मौजूद थे। उन्हें यह नाटक समझमें न आया। परन्तु निर्देशक और अभिनेताओंको यह देखकर आनन्दमय आश्चर्य हुआ कि जरायमपेशा और निचले स्तरके क़ैदियोंने इसे भलीभाँति समझा। नाटकमें एक ऐसी गहरी वास्तविकता और मनः-स्थिति थी जो समाजसे दुतकारे हुए इन अभागे लोगोंकी होनीसे मेल खाती थी। ये लोग जिन्हें पत्थरके इस बन्दीखानेमें बन्दूक़ोंके पहरेके नीचे क़ैद कर रखा है, किसी अनजानी वस्तुकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। किसी अचानक आदेशकी, किसी अनहोनी होनीकी। जीवनके चक्रव्यूहमें घिरे हुए वे सोते-जागते प्रतीक्षा कर रहे हैं। समय उनके लिए पहरा दे रहा है। यह प्रतीक्षा उनकी साँस-साँससे धड़कती है। कोई 'गोडो' आकर उन्हें इस प्रतीक्षासे मुक्त करायेगा। इन अभागे उम्रक़ैदियोंको अपने जीवनकी निरर्थकता और उद्विग्नताकी

तुलनात्मक दृष्टिकोण

पति :

"अभी रास्तेमें मेरी कमलकान्तसे भेंट हुई, वह मुझसे एक शब्द भी न बोला। शायद वह मुझसे अपनेको बड़ा समझता है!"

पत्नी :

"कौन, वह मूर्ख, जाहिल, बदतमीज़, उल्लू कमलकान्त? तुम उससे आखिर किस बातमें कम हो?"

झलक इस नाटकमें दीख पड़ी और उन्हें अपनी प्रतीक्षा सार्थक लगी।

बैकेटका एक और नाटक 'खेल खत्म' दो अंकोंमें विभाजित है। दूसरे अंकमें कोई संवाद नहीं। बिना संवादके भी कोई नाटक हो सकता है, यह बैकेट-द्वारा ही संभव है। सारा अंक मूक-अभिनयसे अभिनीत किया जाता है। शब्द अभिव्यक्तिके सीमित माध्यम हैं, और लेखक शब्दों-द्वारा बात कहनेमें अपने-आपको असमर्थ पाता है।

उसका नया नाटक 'अच्छे दिन' ज़िन्दगीकी वीरानी और मानवीय-अस्तित्वके संकुचित होनेकी घोषणा करता है। परदा उठता है तो एक औरत झुलसे हुए रेतके टीलेमें कमर तक धँसी हुई खड़ी है। वह दर्शकोंपर नज़रें गाड़े बोल रही है और अपने अपाहिज पतिसे बातें कर रही है जो टीलेके पीछे छिपा हुआ खामोशीसे अखबार पढ़ रहा है और जिसका गंजा सिर कभी-कभी नज़र आता है। औरतका बेतुका, उलझा हुआ लम्बा एकालाप, एक प्रकारका स्वगत-कथन है।

दूसरे अंकका आरम्भ होता है। औरत गर्दन तक रेतके टीलेमें धँसी हुई है। उसका सिर टीलेपर उगा हुआ नज़र आता है जिसमें-से उसकी दो फटी-फटी आँखें झाँक रही हैं और वह पुरानी यादोंको और नयी भाव-नाओंको खिचड़ी-शब्दोंमें बोल रही है। यह नाटक समस्त नाटकीय-नियमोंका उल्लंघन करता है। इसमें कोई गति नहीं, कोई कथा-नक नहीं, कोई ढाँचा नहीं, कोई कार्य नहीं, कोई चरम बिन्दु नहीं। वह औरत एक जगह गड़ी हुई अचल वस्तु है। परन्तु उसके गति-हीन रूपमें मानसिक गति है और उसके एकालापमें नाटकीय रोचकता और गहरा आकर्षण है।

ज्याँ जैनेने 'नौकरानियाँ' नाटक १९४६में लिखा, जिसमें दो नौकरानियाँ अपनी माल-किनका वेश धारण करके अपनी दमित भाव-नाओंको व्यक्त करती हैं। इस तरह अपनी वास्तविकतासे हटकर किसी दूसरेके व्यक्तित्व-का चोगा पहनकर एक नक़ली रूपमें अपने असली रूपको खोजती हैं। इस नाटकने फ्रान्समें उस समय चल रही निर-नाट्य धाराको पुष्ट किया।

ज्याँ जैनेका दूसरा नाटक 'झरोखा' है। इसमें एक वेश्याके घरका वर्णन है। शीशेके बहुत-से कमरे हैं जिनके भीतर आकर लोग तरह-तरहके पार्ट करते हैं और अपने अव्यक्त रूपको व्यक्त करते हैं — कोई जज बनता है, कोई पादरी, कोई फ़ौजी जरनैल! चकलेकी वेश्याके घरमें इन बड़े-बड़े आदमियोंके मान-सिक बिम्ब प्रकट होते हैं।

सारा आयोजन बहुत गम्भीरतासे होता है। वातावरणमें एक प्रकारकी धार्मिक गरिमा होती है जैसे गिरजाघरमें मोमबत्तियाँ जलायी जा रही हों। उसके अन्य नाटकोंमें 'काले आदमी' और 'पर्दे' भी इसी प्रकार हैं जिनमें लोग अपने चेहरे बदलकर और मुखौटे ओढ़-कर, दूसरे लोगोंका अभिनय करते हैं और इस प्रकार मनुष्यके भीतर छिपा हुआ मनुष्य

और उस मनुष्यके भीतर छिपा हुआ मनुष्य दीख पड़ता है।

निर-नाट्य धाराके इन श्रेष्ठ नाटककारोंकी भाषा भी एक विचित्र सौन्दर्य और अद्‌भुततामें रंगी हुई है। जैसे अपने गद्यको काव्यात्मक धुनकनीसे धुनकता है और गद्य हलकी हो जाती है, धुन्धके समान। धीरे-धीरे शब्द लयात्मक होते जाते हैं। इनमें पुनरावर्तन आता है। और शब्द मन्त्र बन जाते हैं।

यूजीन आयनेस्को ऊलजलूलके थियेटरकी धाराको और भी अधिक विस्मयपूर्ण दिशाओं-में ले गया। बैकेट और जैने सिद्ध नाट्य-योगी हैं जो बहुत कम बोलते हैं। इन दोनों आस्थाहीन व्यक्तियोंमें रहस्यमय धार्मिकता है। किन्तु आयनेस्को इस ऊलजलूलके साहित्यिक दर्शनका उद्‌घोषक है। वह धड़ल्लेसे नाट्य-परम्पराके विरुद्ध बोलता है, लिखता है और ऊलजलूलके दार्शनिक सिद्धान्तोंकी पुष्टि करता है।

वह सुखान्त-त्रासदी और दुःखान्त कामदी-का प्रतिष्ठाता है। अपने नाटकोंमें वह हास्यरस उत्पन्न करनेके लिए हर तरीका इस्तेमाल करता है। उसके नाटक 'कुरसियाँ' में ९४ वर्षकी आयुका एक बूढ़ा आदमी और उसकी बूढ़ी पत्नी है, जो बीते दिनोंको याद करते और भूठे सपने बना-बनाकर खुश होते हैं। बूढ़ा एक विशेष सन्देश अपने पास सुरक्षित रखे हुए है जो वह मरनेसे पहले दुनियाके लोगोंको देना चाहता है। वह अपने बेशुमार मेहमानोंका स्वागत करता है। पति-पत्नी दौड़कर उन्हें बिठानेके लिए कुरसियाँ लाते हैं और उनसे बातें करते हैं। वास्तवमें कोई अतिथि नहीं आता। यह सारी वास्तविकता काल्पनिक है। अन्तमें मंच काल्पनिक लोगोंकी भीड़से भर जाता है। एक भाषण-कर्ता आता है जिसको यह विशेष सन्देश खचाखच भरे मंच और नाट्य-गृहको सुनाना है। वह गूँगा है।

आयनेस्कोके एक और नाटकमें एक महिला अपनी नौजवान भोली-भाली बेटीके बारेमें बात किये जाती है जिसने अभी-अभी अपनी शिक्षा समाप्त की है। अन्तमें लड़की आती है। वह तीस वर्षका हृष्ट-पुष्ट काली दाढ़ीवाला एक नौजवान है जो भूरा सूट पहने हुए है। एक और नाटक है 'इससे छुटकारा दिलाओ' जो त्रयअंकीय कामदी है। इसमें भूतिया महलका-सा वातावरण है। एक आदमी और एक औरत, जिनकी शादीको पन्द्रह वर्ष बीत चुके हैं, एक कमरेमें इकट्ठे रह रहे हैं। साथवाले कमरेमें एक मुरदा पड़ा है, जो मरा होनेपर भी जीवित है। इसकी दाढ़ी और नाखून बढ़ रहे हैं। मुरदेका जिस्म फूलता जा रहा है। अन्तमें दरवाजा धमाकेसे खुलता है और मुरदेका विशाल और विकराल पैर कमरेमें घुसता चला आ रहा है। मुरदा बड़ा ही बड़ा होता जाता है और एक वीभत्स रूप धारण कर लेता है। वह सारे घरको सड़ाँधसे भर देता है। यह मुरदा इस जोड़ेके पन्द्रह वर्ष पहलेके मृत प्यारका प्रतीक है। समय बीतनेपर पत्नी कठोर, कर्कश और भावनाहीन हो गयी है। विवाहित जीवनमें

प्रेम मर जाता है और इसका मरा हुआ शरीर घरके जीवित प्राणियोंसे अधिक बलवान होता है।

आयनेस्कोका प्रसिद्ध नाटक 'गैंडा' है। एक शहरमें गैंडा बननेकी बीमारी फैल गयी है – प्लेग और हैज़ेकी तरह। लोग धीरे-धीरे इस रोगका शिकार होते जा रहे हैं। उनके सिरोंपर सींग उगते जा रहे हैं और वे गैंड़े बन-बनकर गलियोंमें भाग रहे हैं। नाटकका नायक बैरेंजर इस वहशी बीमारीके विरुद्ध उठ खड़ा होता है और कमज़ोर आस्थाहीन लोगोंके खिलाफ़ बोलता है। उसके दोस्त ज्याँके माथेपर भी जो उसके साथ इस बढ़ती हुई बीमारीके विरुद्ध लड़ रहा है, एक गूमड़ा उग आता है जो सींग निकलनेकी निशानी है। देखते-देखते भला-चंगा मिस्टर ज्याँ आपके सामने गैंडा बन जाता है। गलियोंमें, घरोंमें, दुकानोंमें वीभत्स चेहरोंवाले गैंडे घूम रहे है। अन्तमें बैरेंजर अकेला रह जाता है और गैंडेके इस वीभत्स रूपको सराहने लगता है।

इस प्रतीक-प्रधान नाटकमें बढ़ती हुई कुरूपता, व्यावसायिकता, निर्मम और निर्बुद्धि शक्तियोंको उजागर किया गया है। यह नाटक यूरॅपके बहुत-से देशोंमें खेला गया। जर्मनीमें एक बार एक साथ साठ नाट्यगृहोंने इस नाटकका प्रदर्शन किया। जर्मनीके लोग गैंडेके भयानक चेहरेमें हिटलरका चेहरा देख रहे थे।

ऊलजलूलके थियेटरके नाटककार दार्शनिक प्रचारक नहीं, वे ऐसे सारद्रष्टा हैं जो जीवनके रहस्योंको अलौकिक दृश्योंमें देखते हैं। उनमें भाव-तीक्ष्णता है, और वे जीवनके उन कठोर सत्योंको नंगा करनेका प्रयास करते हैं, जिनपर समाजगत व्यवहारका लेप चढ़ा हुआ है।

●

दोस्तीकी बातें

- अकसर आदमी यह ग़लती कर बैठता है कि जब उसे मित्रकी आवश्यकता होती है, वह पत्नी तलाश कर लेता है।
- मित्रके लिए प्राण देना कठिन नहीं है, कठिन है ऐसा मित्र पाना जिसके लिए प्राण दिये जा सकें।
- यदि आप चाहते हैं कि वह खतरनाक आदमी आपका मित्र बन जाये तो एक काम कीजिए – उससे कोई काम कर देनेके लिए प्रार्थना कीजिए।

विगत रक्तकाण्डोंके सन्दर्भमें इस दुःखद समस्याका एक समाधान जिसकी कल्पना तथ्यात्मक है और निष्पत्ति निर्भीक

पाकिस्तान-समस्या

एक दृष्टिकोण

समर गुह

पहले पाकिस्तानी शासकोंकी यह नीति थी कि अल्प-संख्यकोंको जहाँतक हो सके निकाल बाहर किया जाये। किन्तु अब पूर्व-पाकिस्तानकी एक अलहदा नीति बनती जा रही है। हम अबतककी सारी परिस्थितियोंको ठीक-ठीक समझ नहीं पाये हैं। पाकिस्तानमें अब अल्पसंख्यक उतने नहीं रहे कि उनकी शक्ति या क्षमतासे पाकिस्तानको यह डर लगे कि वे कहीं सत्ता हथियाने या प्रधानता पानेकी कोशिश न करने लगें। पचास लाखसे अधिक अल्पसंख्यकोंको भगाकर पाक-शासकोंने पाकिस्तानके दोनों भागोंकी आबादीको बहुत-कुछ सन्तुलित कर लिया है फिर भी पाकिस्तानमें अभी एक करोड़से अधिक अल्पसंख्यक मौजूद हैं। भारत-सरकारने इनकी संख्या नब्बे लाख ग़लत उद्धृत की है, यद्यपि वहाँकी अन्तिम जनगणनामें भी इसे ८०.३५ लाख ही बताया गया है। पाकिस्तानकी पिछली जनगणनामें पश्चिमी पाक-जनगणनाकारोंने जान-बूझकर बहुत-से अल्पसंख्यकोंको शामिल नहीं किया था ताकि पूर्व-पाकिस्तानी आबादीका कुल अनुपात पश्चिम-पाक आबादीसे तुलना करनेपर ज्यादा न बैठे। बहुत-से ग़ैरमुस्लिम अपने-आप ही इस मर्दुमशुमारीमें शामिल नहीं हुए चूंकि उन्हें यह डर था कि वक्त पड़नेपर उनके भारत प्रव्रजनकी सम्भावनामें इससे बाधा पड़ सकती है।

पिण्डीके पाक-शासकों द्वारा पाकिस्तानके सारे ग़ैरमुस्लिमोंको मालमत्तासहित निकालना न चाहनेकी दो बुनियादी वजहें हैं। एक तो यह कि वे इन अवशिष्ट अल्पसंख्यकोंको भारतमें बसे पाँच करोड़ मुस्लिमोंकी सुरक्षाके ख़यालसे ज़मानतके रूपमें रखना चाहते हैं। सुहरावर्दी पूर्व-पाकिस्तानके बहुसंख्यकोंको प्रायः यह चेतावनी दिया करते थे : "अगर सारे ग़ैरमुस्लिमोंको पूर्वबंगालसे खदेड़ा गया तो भारतसे आनेवाले मुस्लिम शरणार्थियोंकी हिमानी पूर्व बंगको बहा ले जायगी।" पाकिस्तानके तानाशाह अयूब यह अच्छी तरह जानते हैं कि भारतकी धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रीयता और अच्छीसे अच्छी कोशिशोंके बावजूद अगर पूर्वबंगमें बाक़ी बचे अल्पसंख्यकोंको बुरी तरह हटाया गया तो पाकिस्तानमें मुस्लिम शरणार्थियोंको बसानेका काम भीषण समस्याएँ पैदा कर देगा। पाकिस्तानी यह नहीं चाहते कि जो लाभ उन्हें अपने यहाँसे ५० लाख ग़ैरमुस्लिमोंके कमोबेश इकतरफ़ा निष्कासनसे हुए हैं उन्हें इस तरह नष्ट हो जाने दें।

दूसरी बात यह है कि पाक-शासक अपने यहाँके अल्पसंख्यकोंको भारतके खिलाफ़ नाजायज़ राजनीतिक धमकी (ब्लैकमेल) के आखिरी हथियारकी तरह इस्तेमाल करना चाहते हैं। 'पिण्डीके लाट' अब यह निश्चय कर चुके हैं कि अवशिष्ट अल्पसंख्यकोंको पूर्व पाकिस्तानमें ही रखकर राजनीतिक ज़ामिनकी तरह बरता जाये। मतलब यह कि जब भी भारत-पाक सम्बन्ध गड़बड़ाये तो इन्हें ईंधन बनायें और राजनीतिक ब्लैकमेल और दूसरे उद्देश्य साधनेके लिए भारतके खिलाफ़ इन्हें काममें लायें।

इस बार जो खून-खराबी हुई है उसका प्रधान उद्देश्य यदि यह होता कि अवशिष्ट अल्प-

श्री जयप्रकाश नारायणके एक पत्रका अंश जो उन्होंने संसद-सदस्योंको लिखा :

मज़ेदार बात यह है कि सभी राजनीतिक पक्ष, विशेषकर वे तीन जिनका इस क्षेत्रमें असर है—कांग्रेस, प्रजा-समाजवादी और कम्युनिस्ट—और ट्रेड यूनियन इस संगठित पाशविकताके उभारके सामने एकदम बेबस और सत्त्वहीन रह गये। यह भी साबित हो गया कि शिक्षाकी भी, जिसमें विज्ञान और इंजीनियरिंगकी पढ़ायी भी शामिल है, हैवानियत और ज़ुल्म-ज्यादतीके खिलाफ़ कोई गारण्टी नहीं है। यह बात भी साबित हो गयी कि सिविल शासन कितना अपर्याप्त और असमर्थ था और क़ानून व शान्तिकी शक्तियों पर ही साम्प्रदायिकताका जहर कितनी दूरतक असर कर गया था। कमसे कम एक बड़े और औद्योगिक कारखानेमें तो निगरानी करनेवाला स्टाफ़ बिलकुल निष्क्रिय बैठा रहा (अच्छेसे अच्छे शब्दोंमें अगर उसे कहा जाये) और लोहेकी छड़ों और इसी तरहकी अन्य चीज़ोंसे मार-काटके हथियार घण्टों तक वहाँ तैयार होते रहे।

जहाँतक अत्याचार या ज्यादतीके क़िस्मकी बात है, मैं नहीं समझता कि किसी तरहका कोई लिहाज़ या रोकथाम

संख्यकोंको पाकिस्तानसे निकाल बाहर किया जाये तो पाक-सरकार उनके सीमा-पार करने-पर कोई रोक-थाम न लगाती। पर इसके विपरीत हो यह रहा है कि ग़ैरमुस्लिम पाक-नागरिक अगर सारी कोशिशोंके बाद भारत-के डेपुटी हाई कमिश्नरसे देशान्तर-अनुज्ञा-पत्र (माइग्रेशन सर्टीफ़िकेट) पा भी लें तो उन्हें निश्चिन्त यात्राकी सुविधाएँ नहीं दी जातीं। उनकी राहमें हर तरहके रोड़े अटकाये जाते हैं जैसे आयकर-चुकती या नागरिकताके प्रमाणपत्र न देना आदि। अबतकके आँकड़ों-से तो यही पता चलता है कि भारतके राज-नयिक दफ्तरसे देशान्तर-अनुज्ञा-पत्र पाये ग़ैर-मुस्लिम अल्पसंख्यकोंमें-से बहुतेरे शरणार्थी भारत नहीं आ सके हैं। जो निष्क्रमणार्थी किसी तरह सीमान्त तक आ भी जाते हैं उन्हें ज़बरदस्ती फिर अन्दरकी ओर ही धकेल दिया जाता है ताकि वे चकमा देकर भारत न जाने पायें!

इस वर्ष जनवरीमें हुई ख़ून-खराबीके बादसे ३१ मार्च तक पूर्व पाकिस्तानसे क़रीब दो लाख ग़ैरमुस्लिम भारत आ गये हैं पर इनमें-से ८० प्रतिशतके पास वैध यात्रा-अनुज्ञा-पत्र नहीं थे। इन निष्क्र-मणार्थियोंमें अधिकांश पाक-गारो हिल्सकी आदिम जातियों का ही था, जो कि पाक-सीमान्त-प्रतिबन्धोंको तोड़कर भारतमें ज़बरदस्ती घुस आया था। दूसरे लोग, जो पश्चिमी बंगालमें आ गये हैं, वे सीमाकी उन छिपी जगहोंसे आये हैं जहाँ भ्रष्टाचारी सीमान्त-रक्षकों, पूर्व पाकिस्तानके यूनियन काउन्सिल अफ़सरों, सीमान्त पाक-एजेण्टों और चोरबाज़ारियोंने मोटी रक़में लेकर उन्हें नाजायज़ तरीक़ेसे भारत आने दिया। पाक-शासक जल्दी ही सीमान्तकी इन जगहोंपर कड़ी रोकथाम

बरती गयी। हर तरहका भयानक काम किया गया। कुल मिलाकर जो चीज़ देखनेमें आयी वह अपनेमें बड़ी भयंकर थी। लेकिन कुछ व्यक्तिगत प्रसंग तो ऐसे मार्मिक थे जिनमें अन्याय और पतनकी कोई थाह ही नहीं रह गयी थी।

इसलिए बन्धुवर, मेरा निवेदन है कि पार्लियामेण्टके सदस्योंको चाहिए कि सरकारी वक्तव्यों-द्वारा अपने अन्तः-करणका शमन न कर लें और पार्लियामेण्टका फ़र्ज़ है कि स्थितिकी सही जानकारी पानेके लिए तुरत क़दम उठाये, ताकि साम्प्रदायिक एकता सम्बन्धी उसकी चर्चाओं और फ़ैसलोंमें ज्यादा असलियत और समतोल पैदा हो सके।

यह करनेका एक रास्ता यह हो सकता है कि पीड़ित क्षेत्रमें एक अध्ययन-टीम जाये—हवाई दौरेपर नहीं, या मिनिस्टरों या सरकारी दौरोंकी तरह नहीं, लेकिन नम्रता-पूर्वक और ईमानदारीके साथ सचाईकी खोजमें जाये। अपनी उस अध्ययन-टीमकी रिपोर्टका पार्लियामेण्ट क्या करे, इसका फ़ैसला, निश्चय ही, उसे ख़ुद ही करना है। लेकिन मैं इतना बता दूँ कि अगर मनपर यही भूत सवार रहेगा कि भारतीय तथ्योंका दुरुपयोग पाकिस्तान अपने हितमें कर रहा है, तो उससे हमारे नैतिक मानसको बड़ा नुक़सान पहुँचेगा।

लगानेवाले हैं ताकि अल्प-संख्यकोंका नाजायज़ देशान्तरण बन्द हो जाये। अतः पूर्व-पाकिस्तानी शरणार्थियोंके आँकड़े पाक-शासकोंकी इस इच्छाके अभिसूचक नहीं हैं कि वे आज भी पाकिस्तानमें बचे अल्पसंख्यकोंको निकाल भगाना चाहते हैं। भारतको यह अवश्य याद रखना चाहिए कि पिण्डीके लाट हत्तुल-इम्कान यही कोशिश करेंगे कि अल्पसंख्यकोंका अधिकांश उनकी मुट्ठीमें रहे ताकि जब भी ज़रूरत पड़े वे भारतके ख़िलाफ़ अपनी ब्लैकमेलवाली नीति-की कामयाबीके लिए इनको ज़ामिनकी तरह इस्तेमाल कर सकें।

विभाजनके १५ बरस बाद पाकिस्तानके अल्पसंख्यकोंके प्रति भारत-सरकारका क्या रुख़ है-? भारतके शासक नेता अब भी अयूब-की कट्टरताके सामने अपनी असमर्थताकी ही बहस करते हैं। किसी तरह भारत भाग-आये लोगोंके लिए पश्चिमी बंगालसे बाहर बसने-का कुछ प्रबन्ध करनेके सिवाय वह कर ही क्या पा रही है? क्या वास्तवमें भारत-सरकार उतनी ही असहाय है, जितनी कि इसके कर्ता-धर्ताओंकी दलील है? लगता है कि भारत-सरकार पूर्व-पाक अल्पसंख्यकोंकी समस्यासे सिर्फ़ बचना ही नहीं चाहती बल्कि अपनी पलायनवादी नीतिको सही साबित करना चाहती है अन्यथा वह सरेआम यह कैसे कह पाती कि पूर्व-पाक अल्पसंख्यकोंके प्रति उसका कर्तव्य केवल मानवीयता और सहानुभूतिपूर्णताके नाते ही हो सकता है, मानो वे परराष्ट्रके व्यक्ति हों! इन बातोंसे तो उन राजनीतिज्ञोंका नैतिक खोखलापन ही स्पष्ट होता है, जिनका विवेक अपने वायदोंसे मुकरने और अपने उत्तरदायित्वोंसे मुँह मोड़ने-में कुण्ठित नहीं होता कभी!

पूर्व-पाकिस्तानमें एक करोड़से भी अधिक ग़ैरमुस्लिमोंकी आज क्या दुरवस्था है? १९५० में हुए जनसंहारके वक्त जब भारतमें उनका प्रवेश निषिद्ध था तब नेहरूजीके क्षुब्ध विवेक-ने उन्हें पाकिस्तानी नेताओंको यह चेतावनी देनेके लिए बाध्य किया था कि पाकिस्तानके ग़ैरमुस्लिमोंकी रक्षाके 'दूसरे तरीक़े' भी ढूंढ़े जा सकते हैं। इसका परिणाम था नेहरू-लियाक़त पैक्ट। किन्तु इस ऐतिहासिक सम-झौतेके बाद भी लगभग तीस लाख ग़ैर-मुस्लिमोंको अपनी जिन्दगी और इज्ज़त बचानेके लिए भारतमें शरण लेनी पड़ी थी।

गत जनवरीमें हुए जनसंहारके बाद वहाँके अल्पसंख्यकोंकी क्या हालत है आज? यद्यपि १९५०की अपेक्षा इस वर्ष कहीं ज्यादा ख़ून-ख़राबी और मार-धाड़ उन्हें भुगतनी पड़ रही है किन्तु अब तो पाकिस्तानके साम्प्र-दायिक कड़ाहसे निकल भागनेकी सुविधाएँ भी उन्हें नहीं मिल रही हैं, भारत आ सकने-के सारे रास्ते मानो निर्दयतापूर्वक बन्द कर दिये गये हैं।

इन भीषण परिस्थितियोंमें अल्पसंख्यकों-के लिए एक ही आशाप्रद बात है उनके प्रति बंगाली मुस्लिमोंमें-से अधिकांश बुद्धिजीवियोंकी बदली हुई मनोवृत्ति। 'स्वतन्त्र पूर्वबंग' या अयूबके शब्दोंमें 'पृथक् पूर्व-बंग' आन्दोलन भी इसी कोटिमें आते हैं। इस आन्दोलनकी

सफलतासे निस्सन्देह पाक अल्प-संख्यकोंका भविष्य सुरक्षित हो सकेगा। पर जबतक इसकी अन्तिम स्थिति सामने न आ जाये तब-तक बंगाली मुस्लिम बुद्धिजीवियोंमें इतनी शक्ति होना सम्भव नहीं कि वे साम्प्रदायिक दंगोंको फिर न होने दें – रावलपिण्डीके शासनचक्रके गुरगोंका नियन्त्रण अभी उनके बल-बूतेसे बाहरकी बात है। जाग्रत बंगाली मुस्लिम बुद्धिजीवी संत्रस्त और विपत्तिग्रस्त पूर्वपाक-अल्पसंख्यकोंके कष्ट बहुत-कुछ दूर कर सकते हैं जैसे कि वे पिछले जनसंहारके दिनोंमें कर पाये थे, लेकिन वर्तमान व्यवस्थाके रहते ये लोग भी पाक-तानाशाह-द्वारा संचालित विद्वेषी राजनीतिक ताक़तोंका मुक़ाबला नहीं कर सकते।

दुर्भाग्यवश, भारतमें 'स्वतन्त्र पूर्वबंग' आन्दोलनके प्रति अभीतक उचित ध्यान नहीं दिया गया – यह आन्दोलन 'बालिग़ मताधिकार और अमली कार्रवाई'के 'सामरिक छद्मावरण'में आगे बढ़ता जा रहा है। पहले ऐसे किसी भी आन्दोलनको पाक-सरकार-द्वारा यह लानत-मलामत दी जाती थी कि यह सब भारतके जासूसों या छिपे हिमायतियोंकी करतूतें हैं। पर अब इस मिथ्या आरोपकी क़लई खुल चुकी है। ज़िन्दगी और आज़ादीकी लड़ाईमें जूझते आजके बंगाली-मुस्लिमोंको बाहरी दुनियासे पर्याप्त नैतिक बलकी आवश्यकता है और वे इसे सर्वत्र खोज भी रहे हैं। अतः पूर्व-पाकमें बनती स्थितियोंका गम्भीर एवं सूक्ष्म अध्ययन किसी भी व्यक्तिके सामने यह स्पष्ट कर देगा कि भारत-पाक-सम्बन्धोंका समाधान कश्मीर नहीं पूर्व-पाकिस्तानसे ही हो सकेगा। पूर्वी बंगाल जब आज़ाद हो जायेगा, और यह होकर रहेगा, तब एक ऐसी नयी पृष्ठभूमि तैयार हो जायेगी जिसपर भारत पाक-सम्बन्धोंका नया रूप जन्मेगा, और उसके मूलमें होगी पारस्परिक सम्मान और लाभ-पूर्ण सहमति।

●

इस नये दौर में देखे हैं वोह रहज़न हमने
जो बहारों को गुलिस्ताँ से चुरा ले जायें

०

तहज़ीब का परचम लहराया हर शहर-ओ-चमन वीरान हुआ
तामीर का है सामाँ जो यही तख़रीब का सामाँ क्या होगा ?

धूपका एक टुकड़ा

०

गिरिधर गोपाल

०
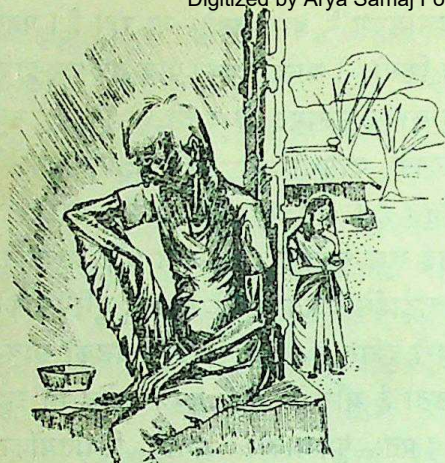
ठाकुर साहब जीवनके आखिरी पड़ावपर आ पहुँचे···जीवनका आखिरी पड़ाव, पुरानी यादें; लम्बी रात-सी जिन्दगी और बुझते हुए दीपकी अन्तिम लौके उभार-सी उद्दाम आकांक्षाएँ···। एक मुखर और मर्मस्पर्शी चित्र।

०

ठाकुर साहबने करवट ली। उनकी नज़र अमरूदके पेड़में लगे उस पीले पत्तेपर अटक गयी जो डालसे हिलगा-भर था। अब गिरा तब गिरा। हवाके हर झोंकेसे लहर उठते उस पत्तेको देखकर ठाकुर साहब मुसकरा उठे। उन्होंने अपनी सफ़ेद मूछोंपर ताव दिया और कहा, "साला!" कुछ देर तक पत्तेको देखनेके बाद उन्होंने बैठनेकी कोशिश की लेकिन फिर अलसाकर लेट गये। पचहत्तर वर्षोंकी आयु और लम्बी बीमारीने उन्हें जर्जर कर दिया था। हड्डियोंके समूह-भर रह गये थे।

"भोला! अरे ओ भोला!" ठाकुर साहबने फाटककी ओर बढ़ते अपने पोतेको देखकर पुकारा, "भोलवा रे, सुनता नहीं?" भोलाने सुना लेकिन बाहर निकल गया। बाहर निकलते वक़्त

वह कह रहा था, "सुनता क्यों नहीं, लेकिन आऊँगा नहीं। कौन गरदन फँसाये। कहीं अख़बार पढ़कर सुनानेके लिए कह दोगे तो फ़ैसला हो जायेगा। क्रिकेटका मैच मारा जायेगा।"

"मर जा कमबख्त!" ठाकुर साहब काफ़ी देर तक उसे कोसते रहे, "आज-कलके लड़कों सालोंके पैरमें सनीचर रहता है। एक मिनिट घरमें नहीं बैठते, दिन-रात आवारा घूमते हैं। ये नहीं कि बड़े-बूढ़ोंके पास बैठें। कुछ अच्छी बातें सीखें। अरे नष्ट हो जाओगे सुसुरो!"

धूप अब ठाकुर साहबके मुँहपर पड़ने लगी थी। उन्होंने अपनी उँगलियाँ चटकायीं। बदनमें गरमी आ चुकी थी और खाँसी भी शान्त थी। कुछ देर तक उस पीले पत्तेको देखनेके बाद उन्होंने तकियेके नीचेसे बीड़ीका बण्डल निकाला और एक बीड़ी सुलगायी। दो-चार कश लेनेके बाद उन्होंने बीड़ी पास ही फेंक दी।

"इस डॉक्टरकी दवासे काफ़ी आराम है," उन्होंने सोचा। तभी उनकी नज़र बरामदेमे गुज़रती युवतीपर पड़ी।

"छोटी बहू, छोटी बहू!" उन्होंने पुकारा, "अरे मुझे दवा तो दे दो। दवा तकका होश नहीं रहता तुम लोगोंको, सुनो तो।"

युवतीने बरामदेसे ही जवाब दिया, "दवा तो आपने अभी ही पी है। अब एक बजे मिलेगी।" और अन्दर चली गयी।

"ओह, भूल गया था।" ठाकुर साहबने कहा और एक जम्हाई ली। उनका मन नहीं लग रहा था। बच्चे स्कूल जा चुके थे और उनके लड़के बड़कू और छोटकू अपने-अपने दफ्तर। औरतें घरके भीतर काम-काजमें लगी थीं। बाहर सहनमें अमरूदके पेड़के नीचे जिस जगह उनका पलँग पड़ा था वहाँसे बाहर सड़कका भी दृश्य नहीं दिखलायी पड़ता था। ऊपर आसमानमें धूप इतनी तेज़ीसे चमक रही थी कि उनकी आँखें चौंधिया जाती थीं। कुछ देर तक पड़े रहनेके बाद ठाकुर साहबने हर चीज़के लिए अपनी पत्नीको दोषी ठहरानेकी आदतके मुताबिक़ इस ऊबके लिए भी उसीको दोषी ठहराया। "किस जंजालमें फँसा गयी मुझे," उन्होंने सोचा। उन्हें अपनी स्वर्गीया पत्नीसे कुछ ईर्ष्या भी होने लगी जो दस वर्ष पहले हँसते-हँसते चल बसी थी। हार्ट-फ़ेल हो गया था — "पूरी चार-सौ बीस थी। भगवान् भी आ गये उसके चक्करमें। साली!"

'साली' शब्दके साथ ही पत्नीके हज़ारों रूप उनकी आँखोंमें झिलमिला उठे और वह काफ़ी देर तक प्यार, घृणा, गुस्से और खीझकी लहरोंमें डूबते-उतराते रहे। उन्हें लगा कि जिस पत्नीको उन्होंने ज़िन्दगी-भर दबाकर रखा था, शराबके नशेमें डाँट-फटकार और मार-पीट तक पर उतर आये थे वह हमेशा उनसे बीस पड़ी और चलते-चलाते भी उन्हें मात दे गयी। तभी तो छोटेसे लेकर बड़ा तक, नातेदारों, मुहल्लेवालोंसे लेकर नौकर-चाकर तक उसका आज भी आदर करते हैं। पुलिस-

विभागमें दारोगा होनेके नाते लोग उनसे डरते ज़रूर थे, हाथ-पैर भी जोड़ लेते थे लेकिन न जाने क्यों दूर-दूर रहते थे, हमेशा घबराते रहते थे। और तो और, मुन्नी बाई भी, जिसके ऊपर उन्होंने हज़ारों रुपये लुटाये थे और जो लखनऊमें दारोग़ाजीकी रण्डीके नामसे जानी जाती थी, वह भी हमेशा उनसे डरी-डरी-सी रहती थी। एक बार भी उनकी बाँहोंमें वह अपने-आप नहीं आयी थी। "तुम मुझसे इतना डरती क्यों हो, मुन्नी?" ठाकुर साहब पूछते तो वह लट छितराकर, आँखें नचाकर इस अदासे मुसकराती हुई कहती, "सरकार न जाने क्यों मुझे आपकी इन बड़ी-बड़ी मूँछोंसे डर लगता है," कि ठाकुर साहब क़ुरबान हो जाते।

"साली!" ठाकुर साहबने कहा और मुसकराये, "लेकिन क्या बदन था, क्या रूप-रंग था, क्या गला था उसका! वाह! वाह!" ठाकुर साहबने होंठ चाट लिये। लेकिन होंठोंपर जीभ फिरते ही उन्हें बड़ी ज़ोरकी भूख मालूम पड़ी। उनकी आँखें कुलकुलाने लगीं। "बारह बज गये होंगे। लेकिन इस बूढ़ेके पेटमें दाना नहीं पहुँचा। हा कम्बख़्तो! मर जाओ सालो! हे भगवान्! इन सब सालोंको उठा ले जाओ। इनको इसी तरह एक-एक दाने, एक-एक गिलास पानीके लिए तड़पाओ। धत तुम्हारी की। छोटी बहू, ओ छोटी बहू! अरे कोई है?" ठाकुर साहबने ज़ोर लगाकर पुकारा लेकिन आवाज़ शायद उस सहनसे ज्यादा दूर न जा सकी। कुछ देर तक वह अन्दरसे किसीके निकलनेकी प्रतीक्षा करते रहे। जब कोई नहीं आया तब उन्होंने एक दूसरी बीड़ी सुलगायी। इस बार बीड़ीके बण्डलपर नज़र पड़ते ही उनके बदनमें आग लग गयी। उन्हें अपने दोनों लड़कों, बड़कू और छोटकूपर, गुस्सा आने लगा – "फिर वही मुरग़ी छाप बण्डल! बड़कू जानता है कि मैं शेर छाप बीड़ी पीता हूँ, लेकिन जान-बूझकर यही बण्डल भिजवाता है। कहने-सुननेसे एक-दो दिन तो याद रखता है। फिर यही मुरग़ी छाप बण्डल आने लगता है। कहता है पानवालेके यहाँ शेर छाप बीड़ी नहीं थी। झूठा कहींका! जानता है, अब बापसे कुछ मिलना-मिलाना तो है नहीं। सब-कुछ तो दे चुका हूँ इन बड़कू और छोटकूको। तभी तो इन दोनों लौण्डोंकी शक्ल नहीं दिखलायी पड़ती। कहता हूँ, कभी-कभी मेरे पास बैठा करो, तो बड़कू काम-काजका बहाना कर देता है। छोटकू चार दोस्तोंमें ही मस्त रहता है। कहता हूँ, बेटा, ये चार दोस्त कोई काम नहीं आयेंगे, लेकिन कौन सुनता है। घण्टों पुकारता रहता हूँ। कोई झाँकता नहीं। समझते हैं, पागल है। बकता है। साले! कहता हूँ, बेटा, आज बड़ा दर्द हो रहा है, किसी डॉक्टरको बुलवा दो तो नौकरको भेज देते हैं कड़वा तेल मलनेके लिए या कह देते हैं, आज-कल सर्दीमें सभीको थोड़ा-बहुत दर्द होने लगता है, कलतक ठीक हो जायेगा। और अपनी बीवी या बच्चोंके सर तकमें दर्द होनेपर डॉक्टरके यहाँ भागे जाते हैं, बदहवास घूमने लगते हैं। मरो कम्बख़्तो!"

ठाकुर साहब कुछ देर तक यों ही बड़बड़ाते रहे फिर उन्होंने झल्लाकर बीड़ीका बण्डल दूर फेंक दिया और आँखें बन्द कर लीं। मनका सारा आक्रोश धीरे-धीरे अपने-आप बह गया और ठाकुर साहबकी नज़र फिर उस पीले पत्तेपर पड़ी जो हिलकर जैसे उन्हें ठेंगा दिखा रहा था। ठाकुर साहब मुसकराये, "साला!" उन्होंने धीरेसे कहा, "देखना है बच्चू, पहले तुम गिरते हो या मैं!"

"तुम्हीं गिरोगे पहले," पत्तेने जैसे अपने होंठ हिलाये। "अबे भाग। मैं ठाकुर हूँ; साले! तू क्या करेगा मेरी बराबरी। इतना घी पिलाया है इन हड्डियोंको कि आज बाज़ारसे देशी घी उड़-सा गया है।" ठाकुर साहबने मूँछोंपर ताव दिया और अपनी बात-पर एक मिनिट बाद खुद ही खुलकर हँस पड़े।

"क्या बात है, बाबूजी?" उनके कानों-में छोटी बहूकी आवाज़ पड़ी, "क्यों हँस रहे थे?"

ठाकुर साहब कुछ सकुचा-से गये फिर हँसते हुए बोले, "कुछ नहीं बेटी, यों ही बेकारकी बातें सोच रहा था। आओ बैठो, तुम तो जानती हो अब सठिया गया हूँ।"

छोटी बहूके होंठोंपर एक मुसकान दौड़ गयी। कुछ देर तक ठाकुर साहबको देखते रहनेके बाद उसने पूछा, "खाना ले आऊँ, बाबूजी?"

खानेकी बात सुनते ही ठाकुर साहब-की आँतें फिर कुलकुलाने लगीं लेकिन उन्होंने ज़ोर लगाकर जैसे उन्हें रोक-सा दिया और दूसरी ओर मुँह फेरकर लेट गये। "खाना ले आऊँ बाबूजी?" छोटी बहूने फिर पूछा।

"छुट्टी मिल गयी तुम लोगोंको?" ठाकुर साहबने रूठते हुए कहा, "अब याद आयी है इस बूढ़ेकी?"

"अभी तो बारह ही बजे हैं, बाबूजी," छोटी बहूने सर झुकाकर कहा, "घण्टे-भर पहले ही तो आपने फल खाये थे, दूध पिया था।"

"बड़ा एहसान किया आप लोगोंने जो आज फल भेज दिये।"

छोटी बहूने उनके पलँगकी चादर ठीक करते हुए कहा, "आप तो बेकार नाराज़ हो जाते हैं, बाबूजी, ज़रा-ज़रा-सी बात-पर। जो भी चीज़ आप कहते हैं हम लोग भिजवा देते हैं। मैं खुद अपने हाथसे, जो भी आप कहते हैं, बनाकर लाती हूँ।"

ठाकुर साहब निरुत्तर हो गये। छोटी बहूकी उपस्थितिसे जैसे उन्हें सुख मिल रहा था, शान्ति मिल रही थी। वह चाह रहे थे कि छोटी बहू यों ही उनसे पूछती रहे और वह यों ही पड़े रहें घण्टों।

"खाना ले आऊँ, बाबूजी?" छोटी बहूने फिर पूछा।

इस बार ठाकुर साहब अपनी आँतोंके आगे निरस्त्रसे हो गये—"अच्छा ले आओ अब तुम आयी हो तो मैं ज़रूर खाऊँगा। वैसे कोई खास इच्छा तो थी नहीं।"

छोटी बहू उन्हें कनखियोंसे देखती हुई मुसकरायी और अन्दर चली गयी।

नौकरने मेज़ लाकर पलंगके पास रख दी और छोटी बहू खाना ले आयी। थाली मेज़पर लगते ही ठाकुर साहब उठ बैठे, "ले आयी। शाबाश।" इन्होंने छोटी बहू-को पलँगपर ही बैठनेका संकेत किया। छोटी बहू बैठ गयी और ठाकुर साहबने खाना शुरू किया। खाना परहेज़ी था। मूँगकी दाल, लौकीकी तरकारी, दही और पतली-पतली रोटियाँ। ठाकुर साहबने जल्दी-जल्दी आधा खाना निगल-सा लिया और गिलास उठाकर थोड़ा पानी पिया। गिलास मेज़पर रखते ही जैसे उनकी नज़र पहली बार थालीपर पड़ी। वह झल्ला उठे, "यह क्या तमाशा बना रखा है तुम लोगोंसे मेरा! रोज़-रोज़ वही मूँगकी पानी-सी दाल। बे-मिर्च-मसाले-की लौकीकी तरकारी। कितने दिनसे कह रहा हूँ कि भाई ज़रा किसी दिन गोश्त तो बनाओ। बोटी नहीं शोरबा ही दे दो पर कौन सुनता है। किसको परवाह है मेरी।"

गोश्त आपको नुक़सान करेगा बाबू-जी!" छोटी बहूने उन्हें समझानेकी कोशिश की, "डॉक्टरने मना किया है। आप-का ब्लड प्रेशर बढ़ जायेगा।"

"मारो गोली साले डॉक्टरको! बढ़ जाने दो। मर जाने दो। एक दिन तो मरना है ही। इस तरह रोज़ तरस-तरसकर मरनेसे तो एक बारका मरना ज्यादा अच्छा है।"

"यह क्या ज़रा-से खानेके पीछे आप जब देखो तब मरनेकी बात करने लगते हैं। आपकी यही आदत तो मुझे अच्छी नहीं लगती," छोटी बहू कुछ गुस्सेसे बोली, "आप तो अपना भला-बुरा तक नहीं समझते।"

छोटी बहूकी झिड़कीसे ठाकुर साहबको सुख भी मिला और कुछ दर्द भी हुआ—"नाराज़ हो गयी बेटी," वह बोले, "अरे इस बूढ़ेकी बातका क्या बुरा मानना। मैं तो सठिया गया हूँ। और फिर बेटी, मरना तो है ही मुझे एक दिन। तू कबतक मुझे बाँध-कर रखेगी पगली।"

"देखिए आपने फिर मरनेकी बात की?" छोटी बहूका स्वर इस बार कुछ काँप-सा उठा।

"पगली," ठाकुर साहब हँसकर बोले, "अच्छा जा। मिर्चका अचार तो ले आ। सच कहता हूँ, खाऊँगा नहीं, बस चबाकर थूक दूँगा।"

और ठाकुर साहबकी मुद्रा देखकर छोटी बहू हँस पड़ी। वह अन्दर जाकर अचार ले आयी। ठाकुर साहबने बाक़ी खाना खाया, नौकरने हाथ-मुँह धुलाये, और छोटी बहूने पानकी तश्तरी बढ़ायी। ठाकुर साहबने एक ज़ोरदार डकार ली और दो बीड़े पान मुँहमें दबाकर लट गये। छोटी बहू अन्दर जाने लगी कि ठाकुर साहबने उसे फिर पुकारा, "छोटी बहू! अरे इधर तो आ, बेटी! कभी-कभी मुझ बूढ़ेके पास भी बैठ जाया कर। आज तो तू बहुत सुन्दर लग रही है।"

छोटी बहू शरमा गयी, फिर आकर पलँगपर ठाकुर साहबके पास बैठ गयी।

"और सुनाओ बेटी," ठाकुर साहबने

उसकी पीठपर हाथ फेरते हुए कहा, "अच्छी तो है रानी बहू ?"

छोटी बहू मौन रही। एक सेकेण्ड रुकनेके बाद ठाकुर साहबने फिर कहना शुरू किया, "तू बड़ी अच्छी है बेटी। तू न हो तो मैं इस घरमें एक सेकेण्ड न ज़िन्दा रहूँ। छोटकू तो दफ्तर गया होगा। बड़ी बहू कहाँ है ? कई दिनसे नहीं ग्रायी। बड़कू भी नहीं ग्राया। उनके बच्चे भी नहीं दिखलायी पड़ते।"

"ग्राप भूल गये क्या," छोटी बहू बोली, "वे लोग तो कानपुर गये हैं। शादी है न रम्मूकी।"

"अरे हाँ," ठाकुर साहबने छोटी बहूका हाथ बहुत प्यारसे पकड़कर कहा, "मैं तो भूल ही गया था। मेरी उम्र भी तो काफ़ी हो चुकी है, बेटी। ज़रा-ज़रा-सी बात भूल जाता हूँ। ग्ररे वाह, ग्राज तो तूने नयी चूड़ियाँ पहनी हैं। तेरे हाथपर ये बहुत ग्रच्छी लग रही हैं।"

"ग्रच्छा, ग्रब ग्राप आराम कीजिए," छोटी बहू उठते हुए बोली।

"अरे बैठ तो," ठाकुर साहबने कहा ग्रौर छोटी बहूको फिर बैठ जाना पड़ा।

"ग्रौर सुना बेटी, घरमें सब ठीक है न ? किसी चीज़की ज़रूरत तो नहीं है।"

"नहीं बाबूजी," छोटी बहूने कहा ग्रौर सर झुका लिया।

"कल तुम लोग पिक्चर गये थे ?" ग्रचानक ठाकुर साहब बोले।

"पिक्चर ?" छोटी बहू जैसे चौंक-सी पड़ी, "नहीं, पिक्चर तो नहीं गये थे बाबूजी।"

"अब इस बूढ़ेसे झूठ तो न बोल रानी बेटी !" ठाकुर साहबने मुसकराकर कहा, "पिक्चरकी इस्टोरी न बताना हो तो साफ़ कह दे। झूठ क्यों बोलती है ?"

"नहीं बाबूजी, हम लोग पिक्चर नहीं गये थे। मैं सच कहती हूँ। बस, बाज़ार घूमकर लौट ग्राये थे," छोटी बहूने सफ़ाई देते हुए कहा। लेकिन उसकी बातोंसे लग रहा था कि वह साफ़ झूठ बोल रही है।

"ग्रच्छा, बाज़ार गयी थी। क्या-क्या देखा ? चाट खायी थी ?" छोटी बहू ग्रपनी हँसी न दबा सकी।

"अच्छा। खायी थी। मेरे लिए नहीं लायी ?" ठाकुर साहबने छोटी बहूका हाथ पकड़ते हुए कहा।

"बाबूजी ! ग्राप तो कभी-कभी बिलकुल बच्चोंकी तरह बात करने लगते हैं," छोटी बहूने उनकी ग्राँखोंमें देखते हुए कहा, "इस उम्रमें आपको इस तरहकी बातें करनी चाहिए ?"

ठाकुर साहब एक क्षणको हतप्रभ-से हो गये, फिर खुलकर हँस पड़े और छोटी बहूकी ग्रोर ग़ौरसे देखते हुए बोले, "देख बेटी ! मैं उन लोगोंमें नहीं हूँ जो ज़िन्दगी भर मुरदा रहते हैं ग्रौर ग्राखिरी वक्तमें, 'हरे राम, हरे राम' करने लगते हैं। मैंने ग्रपनी ज़िन्दगीका एक-एक क्षण जिया है, ग्रौर जबतक यह साँस नहीं टूटती इसी तरह जीता रहूँगा। एक-एक क्षणका उपभोग करता रहूँगा। एक-एक चीज़का स्वाद लेता

रहूँगा। मेरी सदा सिर्फ़ एक इच्छा रही है और वह यह कि मेरी यह भूख, मेरी यह प्यास आख़िरी वक्त तक बनी रहे। समझी। तुम लोग जिसे लिप्सा समझते हो वही ज़िन्दगीकी साँस है।"

और छोटी बहूने सर झुका लिया। एक मिनिट तक चुप रहनेके बाद ठाकुर साहब फिर बोले, "अरे, तू अभीतक खड़ी है। जा बेटी! अब आराम कर। आज-कल तो पूरे घरका बोझ तेरे ऊपर है।"

और छोटी बहूको लगा कि पलँग पर सफेदबालोंवाले उसके वृद्ध ससुर नहीं लेटे हैं, धूपका एक टुकड़ा पड़ा है। उसके जीमें आया कि उस टुकड़ेको कहीं सहेजकर रख ले। उसने एक बार ठाकुर साहबको नज़र भरकर देखा फिर अन्दर चली गयी। ठाकुर साहब कुछ देर तक खोये-से पड़े रहे। अचानक उनकी नज़र अमरूदके पेड़में हिलते पीले पत्ते-पर पड़ी। उन्होंने अपनी मूँछोंपर ताव दिया और मुसकराकर कहा, "साला!"

●

काव्य-प्रसव

एक बार आचार्य क्षितिमोहन सेन कवीन्द्र रवीन्द्रके साथ सैर करने निकले। रास्तेमें आचार्यने देखा कि कवीन्द्र चुप हो गये हैं और उन्हें कोई काव्य-प्रेरणा आयी है। काव्य-रचनामें कोई विघ्न न हो इसलिए क्षितिमोहन सेन चुपके-से खिसक गये। गुरुदेवने काव्य पूरा किया तो क्षितिबाबूका ध्यान आया। उन्हें खोजने लगे। मिलनेपर बोले :

"कहाँ चले गये थे आप? अभी इस काव्यका प्रसव हुआ है।"

"गुरुदेव, प्रसवके समय किसी पुरुषका मौजूद रहना क्या शोभन होता?"

चयरिल अनवरकी पाँच कविताएँ

०

मूल : चयरिल अनवर

अनुवाद : महेन्द्र कुलश्रेष्ठ

चयरिल अनवर आधुनिक हिन्देशियाई कविताका सर्वोत्तम प्रतिनिधि है। सुमात्रामें यह जन्मा और इस्लामी आचार-विचारोंमें पला। परिवार गरीब था, इसलिए शिक्षा अधिक नहीं हो सकी। इसलिए उसने अपने प्रियकार्य कविता-लेखनमें मन लगाना शुरू किया। सन् १९४९ में २७ वर्षकी अल्पायुमें उसकी मृत्यु हो गयी, और उसके बाद ही हिन्देशियाके स्वतंत्र होनेपर उसकी रचनाओंका प्रकाशन हुआ। फिर उसकी ख्याति दिनोंदिन बढ़ती गयी और शीघ्र ही युरॅप और अमरीका भी जा पहुँची। ७०-८० कविताओंके ही आधारपर अब उसे विश्वके अग्रणी कवियोंमें स्थान मिल चुका है।

०

भारतकी तरह हिन्देशियाके प्रथम आधुनिक कवि भी शेली-कीट्स आदिसे प्रभावित हुए। परन्तु राजनीतिक नेता सुतन शाहरिरने इसकी कटु आलोचना की और इस व्यर्थकी भावप्रवणताके स्थानपर सोद्देश्यता, ईमानदारी, शक्ति आदि लानेकी अपील की। उनके चारों ओर युवक-कवियोंका एक समूह एकत्र हो गया जिनका अग्रणी हुआ २० वर्षीय चयरिल अनवर!

तब हिन्देशियापर जापानका क़ब्ज़ा था और युद्ध चल रहा था। चारों ओर अशान्ति और निराशाका वातावरण था। कविताके लिए इससे अच्छा पोषण और कहाँ मिलता? सन् १९४३ के एक सालमें चयरिलने अपनी ३०-३५ सर्वोत्तम रचनाएँ लिख डालीं। इनमें छन्द नहीं है, विचार भी टूटे-से हैं, परन्तु एक अजीब तीखापन और गम्भीरता है, जो अक्सर दार्शनिक सीमाएँ छू लेती है। सजावट तो रत्ती भर भी नहीं है, सब कुछ नग्न और खुला है। पर एक प्रवाह है, जो चोटें भी करता जाता है और आखिरी चोट अक्सर सबसे तीखी होती है। इन्हीं सब कारणोंसे वह अपने देशके साहित्यमें क्रान्ति लानेमें सफल हुआ। उसने मनुष्यकी आत्मासे लेकर ईश्वर और धर्म तक प्रत्येक वस्तुको हथौड़ेसे तोड़-तोड़कर देखा और चारों तरफ़ घिरी गहरी निराशाको गरदनसे पकड़कर कवितामें ढाल दिया। छपे बिना ही उसकी कविताएँ—कार्बन-कापियोंके द्वारा—देश भरमें फैलती रहीं।

जापान-हारा, डच गये आज़ादी आयी, उसने अपने एक मित्रको लिखा—"मैं अब कविताएँ लिखना आरम्भ करना चाहता हूँ। अभीतक जो मैंने लिखा, वे तैयारी मात्र हैं, ज्यादा कुछ नहीं।" और उसने इलियट, आडेन आदि विदेशी कवियोंको पढ़ना-समझना शुरू किया। पर तभी उसकी मृत्यु हो गयी। सिफ़लिस उसे पहलेसे ही थी, उसमें टाइफ़स और टी० बी० भी आ जुड़े।

• रिक्तता

बाहर स्तब्धता है। अकेलापन घिरा आता है।
पेड़ नीचेसे ऊपर तक सीधे, चुप खड़े है।
ख़ामोशी मुँह बाये है,

इसे चीरनेवाला कोई नहीं। हर वस्तु
प्रतीक्षारत है। प्रतीक्षारत है
अपने अकेलेपन में,
जो पागल किये देता है, तोड़े देता है,
हमारी कमर को झुकाये देता है,
जबतक कि सब कुछ टूट-फूट नहीं जाता।
किसे परवाह है
कि हवा ज़हरीली हो गयी है। शैतान हँस रहा है।
अकेलापन ख़त्म ही नहीं होता। प्रतीक्षा है।

● अजानी यात्रा

यात्रा क्या बहुत लम्बी है?
सिर्फ़ एक क़दम! — शायद तुम आगे भी जा सको!
पर कैसे?
धरती पर गिरे इन पत्तों से ख़ुद ही पूछ लो,
उस टूटते राग से पूछ लो, जिसे गीत बनना है!
स्मरण रखने के लिए क्या शेष है?
इन बत्तख़ों को देखो, जिनकी नज़र नीची है
देखो इस शान्त पवन को, गिरते नक्षत्र को!
यात्रा कितनी लम्बी है?
शायद एक शताब्दी……नहीं, एक क्षण मात्र!
लेकिन क्यों है यह यात्रा?
इस घर से पूछो, जो गूँगा ही जन्मा है!
और उसमें ठिठुरती मेरी सन्तानों से पूछो!
क्या कुछ सार्थक भी है?
क्या कुछ गतिशील भी है?
अरे, इनके उत्तर ख़ुद ही ढूँढ़ लो! —
मैं तो अपना समय काट रहा हूँ।

• धीरज

मैं सो नहीं पाता।
लोग बातें कर रहे हैं, कुत्ते भूँक रहे हैं,
संसार मेरे सामने अस्पष्ट होता जाता है,
और पत्थर की दीवारों से घिरा अन्धकार
तरह-तरह की आवाज़ों से, बारम्बार, पिट रहा है,
साथ में ही आग जल रही है, राख पड़ी है।

मैं बोलना चाहता हूँ
पर आवाज़ रुद्ध हो जाती है, शक्ति चुक जाती है।
ठीक है! कोई बात नहीं!
दुनिया कुछ सुनना पसन्द नहीं करती, परवाह नहीं।

नदी जमकर बर्फ़ हो गयी है
ज़िन्दगी ज़िन्दगी नहीं रही –

मैंने जो पहले किया, उसे ही फिर करता हूँ,
कान बन्द कर लेता हूँ, आँख बन्द कर लेता हूँ
और आ रही शान्ति की प्रतीक्षा करने लगता हूँ।

बन्दी और मुक्त

अँधेरा और गुज़रती हवा
मुझे हिला देते हैं।
मैं काँप उठता हू,
और काँप उठता है वह कमरा
जिसमें मेरी प्रिया लेटी है।
रात गहराती जा रही है,
पेड़, पत्थर से मृत
सीधे खड़े हैं।
कारेत में, कारेत में भी
(जहाँ मैं इसके बाद गया)

ठण्डी हवा इसी तरह गरजती
बह रही है।

मैं अपना कमरा और अपना दिल भी
सँवार रहा हूँ, क्योंकि शायद तुम आओ,
और मैं तुम्हारे लिए एक नयी कहानी लिखूँ;
अभी तो सिर्फ़ मेरे हाथ ही चल रहे हैं, तेज़ी से।

मेरा जिस्म स्थिर और अकेला है।
और कहानी और समय
चुप, कठोर
गुज़रे जा रहे हैं।

• विदा

मैं आईने में ताक रहा हूँ।
चेहरा घावों से भरा है।
किसका है यह ?

मैं एक पुकार सुनता हूँ
– अपने हृदय में ?
या यह सिर्फ़ हवा की चीख़ है ?

फिर रात्रि के मध्य
यह गीत फैलता जा रहा है।
आह····!!
हर चीज़ जमती जा रही है,
सख्त होती जा रही है,
मैं कुछ नहीं जान पाता।
विदा····!!

•

कहीं मुसाफ़िर राह न भूल जाये

निश्छल शैशवकी एक सरल कहानी जो प्रौढ़ोंसे एक भोला-सा प्रश्न पूछती है। क्या आप उत्तर देंगे?

०

"फिर तुमने दिनमें मुझे कहानी सुना दी?"

राजीकी माँने उसे बताया था, यदि दिनमें कोई कहानी कहे तो मुसाफ़िर राह भूल जाता है।

मुझे कहानियाँ सुनाना अच्छा लगता था; राजीको कहानियाँ सुनना अच्छा लगता था। जब मैं कोई कहानी छेड़ता, एकदम फ़ाख्ता-जैसा मुँह आगे बढ़ाकर वह सुनने लग जाती। और फिर जब कहानी खत्म होती अपनी माँकी बात याद करके उसे डर लगने लगता।

"अब कोई मुसाफ़िर ज़रूर रास्ता भूल जायेगा।" राजीके अन्दर-की औरतकी पलकें अश्रुओंसे पिरोयी जातीं। उसका गला रुँध जाता।

"अब ज़रूर कोई मुसाफिर रास्ता भूल जायेगा।" राजी कहती और मेरी आँखोंके सामने मटमैले जालके पीछे घात लगाकर बैठी मकड़ियों, कँटीली पगडण्डियों, बिच्छुओंके डंक और साँपकी केचुलोंके चित्र घूमने लगते।

उस रात मैं अपने मनसे बार-बार इक़रार करता, अब मैं दिनके समय किसीको कहानी नहीं सुनाऊँगा। किन्तु फिर जब अकेले होकर

हम इकट्ठे बैठते, उसकी अलसायी-अलसायी पलकोंको देखकर, मैं कहानी कहना शुरू कर देता। हर बार नयी कहानी। कैसा खुमार राजीकी आँखोंमें होता था। मैं कहानी सुनाता तो जैसे वह सब कुछ भूल जाती। और फिर जब कहानी खत्म होती, अपनी माँकी कही बात याद करके उसका खून सूखने लगता।

तब राजीकी आयु कुल चार वर्षकी होगी। मैं और राजी हमउमर थे। अभी मैंने स्कूल जाना नहीं शुरू किया था।

राजीका पिता हमारे गाँवका पटवारी था।

हमारे घरके बाहर गलीमें एक कोठा था जिसमें वे रहते थे। राजी, राजीके बहन-भाई, राजीके माता-पिता, और राजीके दादा-दादी। राजीका पटवारी-पिता बार-बार गाँववालोंको ताने देता – शहरमें हम रहते थे तो भी एक कमरा, अब गाँवमें आये हैं यहाँ भी एक कमरा हमारे भाग्यमें लिखा हुआ है। किन्तु बेचारे गाँववाले भी क्या करें, गाँवमें केवल उतने ही घर थे, जितने गाँवमें कुनबे थे। जैसे-जैसे किसीका खानदान बढ़ता, लोग और-और कमरे बनवाते जाते। फ़ालतू जगह किसीके पास न होती।

यह कोठा जो पटवारीको मिला था, उनके आनेसे कुछ दिन पहले ही खाली हुआ था। कई वर्षोंसे एक विधवा इसमें अकेली रह रही थी। फिर एक दिन जब मुहल्लेवाले सुबह सोकर उठे, विधवा वहाँ नहीं थी। अपना चूल्हा-चौका सँभालकर किसीके साथ निकल गयी थी। उसका कोठा खाली पड़ा था। बाहर ड्योढ़ीके किवाड़ खुले हुए थे।

और फिर पटवारी आकर इस घरमें रहने लगा।

पटवारीकी पत्नी बड़ी सुघड़ औरत थी। एक-अकेले अपने कमरेको लीप-पोतकर रखती। हर वस्तु सलीकेसे अपनी-अपनी जगहपर सजी होती। पटवारीके एकके बाद-एक हुए तीन बच्चे हमेशा साफ़-सुथरे रहते: हँस रहे, खेल रहे। पटवारिनका सारा दिन घरको, बच्चोंको सँभालनेमें, साफ़ रखनेमें निकल जाता।

सास-ससुर या तो बाहर आँगनमें बैठे रहते या फिर ड्योढ़ीमें अपना-अपना खटोला जा रखते। दिनको प्रायः ड्योढ़ीमें वह बैठते, रातको ड्योढ़ीमें गाय बाँधी जाती।

राजी सबसे बड़ी बेटी थी। मुझे राजी बड़ी अच्छी लगती। हूबहू अपनी माँकी शक्लकी। माँ जैसी सुघड़, माँ जैसी भोली, फ़ाख्ताकी तरह मासूम !

और राजी भी जैसे मुझपर जान देती हो। सुबह जब मैं सो रहा होता तो कितनी बार आकर झाँक-झाँक जाती। कोई नया कपड़ा पहनती, मुझे दिखानेके लिए उत्सुक रहती। उनके घर कोई सौगात आती, अपना हिस्सा मेरे साथ बाँटकर खाती। और उसके बाप पटवारीके घर कुछ-न-कुछ आता ही रहता, कभी भुट्टे, कभी बालें, कभी होले, कभी गाजरें, कभी बेर। बेरोंके मौसममें तो उनके घर बेरोंके ढेर लगे रहते। खट्टे बेर, खटमिट्ठे बेर-बेरियाँ। और मुझे बेर कितने अच्छे लगते थे ! राजी झोली भर-भरकर बेर मुझे

देती । एक बार उसके घर वाले घरमें नहीं थे, लाडमें उसने बेरोंकी एक टोकरी मेरे ऊपर उलट दी । सारे कमरेमें बेर ही बेर हो गये। श्रौर फिर कितनी देर हम उन्हें बीनते रहे।

हमारे घर श्राती तो राजी प्रायः हमारे कमरोंको गिनती रहती । यह कमरा हमारी बैठक थी, इसमें मिलनेवालोंको बिठाया जाता था । जब मिलनेवाला कोई न होता तो यह कमरा बन्द पड़ा रहता । प्रतिदिन सुबह इसे साफ़ करके सजा दिया जाता; घर वाले इसे कभी नहीं बरतते थे । इसके साथ एक कमरा था जिसमें हमारे मेहमान ठहरते थे । जब मेहमान न होते, यह कमरा भी बन्द पड़ा रहता। आँख-मिचौली खेलते-खेलते, प्रायः राजी इन कमरोंमें जा छिपती और ढूँढ़ता-ढूँढ़ता जब मैं उसे पाता, वह किसी कालीन या किसी पलँगपर चित पड़ी होती । लम्बे-लम्बे साँस ले रही; एक स्वाद-स्वादमें उसकी पलकें मुँदी होतीं ।

हमारे माता-पिताके सोनेका कमरा श्रलग था। हम बच्चे श्रलग कमरेमें सोते थे। इन दो कमरोंके बीच दरवाज़ा था, जिसपर हमेशा एक परदा लटका रहता ।

खेलते-खेलते जब हम इन कमरोंकी श्रोर आते, कभी राजी परदेके इस ओर खड़ी होकर उधर दूसरे कमरेमें देखनेकी कोशिश करती । कभी परदेके उस श्रोर खड़ी होकर इधर हमारे कमरेमें झाँकनेकी कोशिश करती । मुझे कुछ समझ न आती । श्रौर श्रक्सर मैं राजीको पकड़कर वैसेका वैसा घुमाने लगता। दरवाजे पर लटक रहे परदेमें वह लिपट जाती। कितनी-कितनी देर तक बुतका बुत बनी दरवाज़ेके दरम्यान खड़ी रहती । मैं उसे देखकर हँसे जाता । जैसे मक्कीका भुट्टा हो !

और फिर जब मैं उसे उलटा फिराकर परदेमें से निकालता, उसका मुँह लाल-सुर्ख़ हो गया होता । जैसे पका हुश्रा बेर हो। उसके गालोंमें-से लाली जैसे फूट-फूट पड़ती। राजीको सीधा घुमाकर यूँ परदेमें लपेट देना, राजीको उलटा फिराकर यूँ परदेमें-से निकाल लेना, मुझे अच्छा लगता था। और हम बार-बार यह खेल-खेलने लगते ।

हमारे श्राँगनमें नीमका एक पेड़ था। उसकी टहनियोंको पकड़कर हम ज़ोर-ज़ोरसे झकझोरते, नीचे धरती निमौलियोंसे पट जाती और फिर हम एक-दूसरे पर निमौलियाँ फेंकनेका खेल खेलने लगते । हर बार मेरा निशाना चूक जाता, हर बार राजीकी निमौली मेरे मुँह पर आ लगती; कभी माथे पर, कभी कानों पर, कभी ठोढ़ी पर, कभी नाक पर, कभी गालो पर, कभी होंठों पर। और राजी खिलखिला कर हँसती । दूध-से सफेद मोतियों जैसे दाँत ! हँसे जाती, हँसे जाती ।

यूँ खेलते-खेलते कई बार मैं राजीको पकड़नेके लिए भागता, वह दौड़ती हुई दूर हमारे मवेशियोंके कोठोंकी ओर चली जाती। गायका कोठा, भैंसका कोठा, घोड़ीका कोठा, श्रौर फिर चारेका बड़ा-सा कोठा जिसमें कंचनकी तरह झिलमिल कर रहा भूसा छत-छत तक भरा होता । देखते-देखते राजी श्रपने श्रापको भूसेके ढेरमें छिपा लेती । सारा धड़ तिनकोंमें, केवल मुँह

और नाक बाहर। और फिर खिलखिलाकर हँसती तिनकोंमें-से निकल आती। राजीके सुनहले बालोंमें भूसेके तिनके उलझ जाते और घण्टों उस कोठेमें बैठे हम एक-एक तिनकेको निकालते रहते।

"तुम्हें ये तिनके चुभते नहीं?" मैं उससे पूछता और राजी भूसेके ढेरपर लेट-लेटकर मुझे बताती, जैसे उसे किसी चीज़का भय न हो।

"तुम्हें ये चुभते नहीं राजी?" मैं उससे पूछता और वह भूसेकी एक मुट्ठी भरकर मेरे गिरहबानमें डाल देती। और फिर मुझे परेशान हो रहा देखकर हँसे जाती, हँसे जाती।

चाहे कुछ करे, राजी मुझे बहुत अच्छी लगती थी। अकसर हम अकेले खेलते। यदि और बच्चे होते तो हमेशा मेरा और राजीका साथ रहता। सारा दिन वह हमारे घर रहती। मैं उसकी अनेक खातिरें करता रहता। हम नाटक रचाते : कभी मैं राजकुमार बनता, राजी राजकुमारी बनती। यदि मैं राजा बनता, वह हमेशा रानी बनती। राजीके साथ मेरी दोस्ती देखकर मेरी बहनें उसे हथेलियोंपर उठाये रखतीं। हमारे आँगनमें वह आती, और राजी राजी होने लगती। राजी भी हमारे घरको अपना घर समझती थी। वक्त-बे-वक्त आ जाती, खेलती, खाती। गरमियोंकी लम्बी दोपहरीमें, मेरी माँ, उसे बाक़ी बच्चोंके साथ, अँधेरा करके ठण्ड किये कमरेमें सुला देती। सारा-सारा दिन हमारे यहाँ रहती। राजीको हमारे घरके एक-एक कोनेका पता था : मुझसे अधिक राजीको खबर होती, कौन-सी वस्तु कहाँ पड़ी है। कई बार कोई चीज़ मेरी माँ-को न मिलती, राजी ढूँढ़कर ला देती। सारा-सारा दिन उसे अपने घरसे आवाज़ें दी जातीं। बड़ी मुश्किलसे रात गये वह कहीं अपने घर लौटती।

या राजी हमारे यहाँ होती या मैं राजीके घर होता। दादा, दादी, माता-पिता, छोटे दो बहन-भाई—अपने एक-ही-एक कमरेमें राजीका दम जैसे घुटने लगता। बात-बातपर खीझने लगती। प्रायः हम उनके आँगनमें खेलते। चौड़ा कम था, लम्बा ज्यादा था। राजीकी अम्मी आज-कल फिर माँ बननेवाली थी। इधर-उधर गुज़रते हम अकसर उसके बढ़े हुए पेटको देखते रहते। कैसे हौले-हौले क़दम चलती थी। राजीकी अम्मीका बढ़ा हुआ पेट देखकर न मालूम मुझे क्या हो जाता, जैसे कोमल-कोमल काँटे मेरे अंग-अंगमें चुभने लगते। कुछ इसी तरहका हो रहा राजीको भी महसूस होता। उसकी पलकोंमें मुझे अपनी आँखोंकी झलक दिखाई देती। राजीकी माँके बढ़े हुए पेटको देखकर हमेशा मेरा जी चाहता, राजीका कुरता उठाकर देखूँ, औरतका पेट यूँ कैसे बढ़ जाता है?

और जैसे सचमुच राजीको मेरे मनकी बातका पता लग गया हो। एक बार यों ही जब उसकी अम्मी हमारे पाससे गुज़र कर गयी, मैंने राजीकी ओर इस तरह देखा, जिस तरह हमेशा मैं देखा करता था, एक अटूट मुहब्बत अपनी पलकोंमें भरकर; और राजी मुझे बाँहसे पकड़कर अपनी ड्योढ़ीमें ले गयी।

ड्योढ़ीके दरवाज़ेको मोड़कर, उसने अपना कुरता उठा लिया। और एक नशे-नशेमें आँख मूँद मैं अपना हाथ राजीके पेटपर फेरने लगा। मेरा हाथ राजीके पेटकी ओर बढ़ा ही था कि ड्योढ़ीका दरवाज़ा खुल गया; हमारा नौकर मुझे ढूँढ़ रहा था।

उस दिनके बाद हमारा वह नौकर हमेशा मेरी ओर इस तरह देखता जैसे किसीको किसीकी चोरीका पता हो। और हमेशा मुझे अजीब-अजीब-सा लगता।

ढेर-से वर्ष बीत गये और मुझे पता चला, हमारा वह नौकर क्यूँ यूँ मेरी ओर देखा करता था। क्यों राजीका हमारे घर आना बन्द करवा दिया गया था। क्यों राजीके घर मेरा जाना वर्जित हो गया था।

वह दिन और आजका दिन – जब मैं दिनमें किसीको कहानी सुनाता हूँ, मुझे डर लगा रहता है, कहीं मुसाफ़िर राह न भूल जाये।

●

दृष्टि-भेद

पत्नी बिचारी परेशान थी। पतिके खर्राटोंकी आवाज़से पीछा छुड़ानेके लिए उसने कहा, "उस करवट हो लीजिए!"

"अच्छा!" कहकर पति महोदयने करवट बदली। पर दो-चार मिनिटकी ही शान्ति रही, फिर खर्राटोंकी आवाज़ बुलन्द होने लगी।

पत्नीने फिर कोंचते हुए कहा, "आपकी नाक बहुत ज़ोरोंसे बोल रही है। आप ठीकसे सोइए!"

पतिने फिर करवट बदल ली।

सुबह जब पति-पत्नी बातें कर रहे थे तो पत्नी बोली – "उफ़, रात-भर मैं इतनी परेशान हुई कि...."

बीचमें ही पति महोदय बोल पड़े, "हाँ, सारी रात तुम नींदमें बड़बड़ाती रहीं। शायद डरावने सपने देख रही थीं तुम।"

पता
ओर
हमारे
क्यों
गया

जब मैं
के डर
न भूल

१९६४
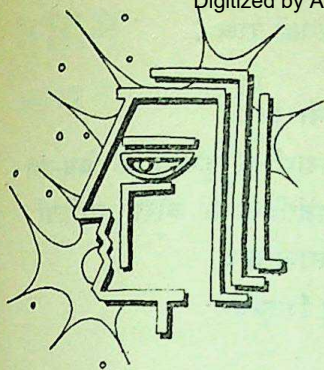
जीवित हूँ

शैलेश मटियानी

ओ, मेरी मरणोत्तर ज़िन्दगी,
मेरे कल्पनातीत मरण,
असम्बोधित अस्तित्व !
न-जाने कितनी बार
कितनी मौतें
झेलने के बाद
सुनें,
पीपल पर उलटे लटके प्रेत
मेरे ही समानान्तर खड़े मेरे प्रतिरूप !

न-जाने कितनी बार
किसी भिक्षुणी के आँचल की मृतप्राय बच्ची-सी
अभिव्यंजना
मृत्यु-शैय्यापर पड़े लावारिस वृद्ध
असमर्थ प्रतीक
विधवा के गर्भस्थ शिशु-जैसे
मेरे आत्मस्थ संकल्प को

दे नहीं पाये अर्थ !
न-जाने कितनी बार
आरोपित असत्य
निषिद्ध समर्पणों से समझौतों के अनुबन्ध
अछोर समुद्र में भटकी हुई
दिशाएँ
खोजने की व्यर्थता
न-जाने कितनी बार
अपने ही ललाट की ज्योतिष्मती
रेखाएँ
काटने की बाध्यता !

ओ, मेरे 'नरो वा कुंजरो वा' के उच्चारणो !
पाताल में धँसता धर्मरथ
आत्मबोध
न-जाने कितनी बार
शिखण्डियों का आत्मदर्प
डँसने के बाद भी फन उठाये सर्प
झेले हैं मैंने –
रथविहीनता के बावजूद
अतिरथी हूँ !

सुनें,
मेरे समानान्तर खड़े अस्तित्व
क़ब्रिस्तान के बाहर खड़ी चौहद्दी दीवारें
अपने को ही
निर्धूम अग्नि-संस्कार देता आत्मदाह
झेल नहीं पाते हैं भविष्य
अपने ही मृत्यु-लेख;
डबडबायी आँखें – श्मशान-गंगा–
बहा नहीं पाती हैं
अपनी ही तटवर्ती राख !

न जाने कितनी बार
असिय पयोधराग्रों के कुचाग्रों के विष-दंश
अपनी ही जिजीविषा की वीरान घाटियाँ
अपने ही कुलावतंस !
कभी दुधमुँहे शिशुत्व
कभी
मरणासन्न बार्धक्य
कभी
अबोध अधरों पर गूँजते
शब्दहीन अर्थ
कभी
ज़िन्दगी के अन्तिम अध्याय के
अर्थहीन शब्द
अपने ही अन्दर
न-जाने कितनी बार
दफ़नाये हैं !

आह
मेरे ही अन्दर दफ़न जिन्दगी के ताबूत
मेरे ही सहयोग से
अधजले बहाये गये जीवित शव मेरे
ओ,
मेरी अर्थहीन मृत्यु,
मेरे शब्दहीन प्यार –
मैं,
अपनी ही लाशों के बावजूद,
जीवित हूँ ।

●

मातम

अहमद नदीम क़ासिमी
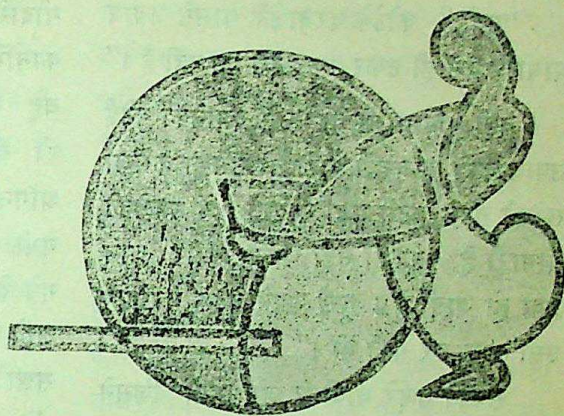
मातमकी उदास पहाड़ीपर आँसुओंका उफनता झरना अन्दर-ही-अन्दर रुद्ध है······कलेजा मुँहको आ रहा है···दर्द अपनी ही ज़बानमें अपनी दास्तान कह रहा है···

आसमानपर कफ़नका-सा सफ़ेद बादल छा रहा था और हवामें कपूरकी महक बसी हुई थी।

मियाँजीका जनाज़ा अभी-अभी उठा था। मगर अर्थी उठनेपर घरोंमें जो क़यामत आ जाती है उससे मियाँजीकी चारदीवारी वंचित रह गयी थी। खुले आँगनके एक सिरे तक औरतें एक-दूसरेसे कुछ यूँ जुड़ी हुई बैठी थीं कि अगर एक उठती तो सबकी सब उठकर चली जातीं। मगर सब चुप थीं। और मौतवाले इस घरके आँगनमें भयानक सन्नाटा छाया था। बच्चों तकने दम साध लिया था। मुण्डेरेपर बैठा हुआ कौआ लाउड-स्पीकर-सा काँव-काँव कर रहा था।

'तिर तिर तिर।" अचानक एक औरत कौएकी ओर हाथ उठाकर पुकारने लगी। कौआ उड़ गया और वह दूसरी औरतोंसे बोली, "मातमके घरोंमें भी हड्डियाँ ढूँढने आ निकले हैं, मुए कलमुँहे ज़माने भरके!" फिर एक लम्बी आहके साथ उसने अपनी बाँह समेट ली।

भीड़को शायद इसी बातका इन्तज़ार था कि कोई बोले तो हम भी बोलें इसलिए सब बोलने लगीं और सबने जैसे एक साथ पहलू बदले।

"हा, बेचारी बीबी !" किसीने कहा ।

आँगनके दूसरे कोनेसे एक बुढ़ियाने पूछा, "बीबी अभी तक रोयी कि नहीं ?"

"नहीं," कोठेके दरवाज़ेके पाससे जवाब आया, "वैसे ही टकर-टकर देखे जा रही है।"

वही बुढ़िया बोली, "उसे रुलानेका कोई उपाय करो कम्बख्तो, नहीं तो उसका कलेजा लट्टेकी तरह झटसे फट जायेगा । ये सकतेकी बीमारी है, पता भी नहीं चलता और जान हवा हो जाती है । तूराँ अपने बेटेके मरनेपर इसी तरह मर गयी थी ।"

सबकी नज़रें बीबीपर जम गयीं जिसने अपने मियाँके मरनेपर अबतक एक भी आँसू नहीं टपकाया था । वह इधर-उधर देख भी लेती थी, हूँ-हाँसे बातोंका भी जवाब दे देती थी मगर रोती नहीं थी ।

"रो, बीबी ! जी खोलकर रो !" दूसरी ओरसे अधेड़ उम्रकी भाँगा अपने आपको खींचकर उठी और औरतोंको लाँघती और रोती-पीटती हुई दरवाज़ेकी ओर यूँ बढ़ी जैसे बीबीको रुलाकर ही दम लेगी । इलाक़े-भरमें इससे बढ़कर रोने-पीटनेवाला कोई न था । हाथकी एक उँगलीको आसमानकी ओर उठाकर उसे मातमी घेरोंमें घुमाती हुई बोली, "तेरे सरके फूलको आज मौतका बगुला उड़ा ले गया, बीबी बहन ! तेरे दिनोंपर अब सूरज कभी नहीं चमकेगा । मेरी लुटी-पिटी सहेली, इतने डरावने अँधेरेमें तो फ़रिश्ते भी रो दें और तू है कि चीख़ भी नहीं मारती । मियाँका जनाज़ा उठ गया तो अब अपनी ही मैयतपर रो ले ।"

"मैं मर जो गयी हूँ भागाँ।" बीबीने बड़े आहिस्तासे कहा । और यहाँसे वहाँतक औरतें यूँ कड़ककर रोने लगीं कि उनकी गोदोंमें दबके बच्चे चिल्ला उठे । जिनके कानोंमें बीबीकी आवाज़ न पहुँच सकी वह अपने आसपासकी औरतोंको देखकर रो दीं । यहाँतक कि सोगकी यह लहर आँगनके एक सिरेसे दूसरे सिरे तक फैल गयी । वह बच्चे जो जनाज़ेके पीछे निकल गये थे मातमकी यह गूँज सुनकर भागते हुए आये और आँगनमें झाँकने लगे । जो बच्चे सन्नाटेसे सहमकर अपनी-अपनी माँओंके पास ठँसे बैठे थे, उठे और कोठेके दरवाज़ेसे लगकर बीबीको घूरने लगे ।

बीबीका चेहरा उड़ा-सा था । उसकी आँखोंमें कुछ ऐसा सूनापन था जैसे इसमें-से कुछ निकल गया है । उसके होंठ मिट्टीकी तरह निष्क्रिय हो रहे थे । और उसकी कलाईके घावपर एक मक्खी बार-बार आकर बैठ जाती थी । जब अचानक हाफ़िज़ साहबने ऊँची आवाज़से कल्मा शहादत पढ़कर मियाँ-जीके दम तोड़नेका एलान किया था तो कोठे-की चौखटपर बैठी हुई बीबीने अपनी नाककी कील नोचकर फेंक दी और छन्न-छन्न करके अपनी चूड़ियाँ तोड़ डाली थीं और जब उधर मियाँजीका ढाठा बँध रहा था तो इधर औरतें सुईकी नोकसे बीबीकी कलाईमें-से काँच-का टुकड़ा निकाल रही थीं ।

०

बीबीको पचास बरसकी उम्रमें भी चूड़ियाँ पहननेका शौक़ था । और मियाँजीको साठ बरसकी उम्रमें भी बीबीकी कलाइयोंमें

चूड़ियाँ देखनेका शौक़ था। सफ़ेद कलाईपर वैसे भी हर रंगकी चूड़ियाँ सज जाती हैं मगर मियाँजी तो चूड़ियोंके मामलेमें कलाकार थे। ऐसे-ऐसे रंगोंकी चूड़ियाँ ढूँढ़-ढूँढ़कर लाते थे कि आजतक वह रंग न किसीने देखे थे न सुने थे। एक बार तो उन्होंने बीबीसे यह भी कह दिया था कि जी चाहता है तुम्हारे सारे बदनपर चूड़ियाँ चढ़ा दूँ।

मियाँजीको तो तरह-तरहकी प्लेटें जमा करनेका भी बड़ा शौक़ था। इसीलिए गोल, चौकोर, तिकोनी और कनोरोंवाली प्लेटोंका ढेर उनके यहाँ जमा हो गया था। और वह प्लेट तो उन्हें बहुत प्यारी थी जो वह पूनासे लाये थे। उन दिनों वह फ़ौजमें जमादारके क्लर्क थे। कोई चीनी फेरीवाला प्लेटें बेचता फिरता था। इस प्लेटके बीचमें भरे-भरे अंगोंकी एक चीनी लड़कीका चित्र था जो अंगूरकी बेलोंमें खड़ी मुसकरा रही थी। मियाँजी कहते थे कि जब उन्होंने यह तसवीर देखी तो उनके सामने बीबीकी सूरत घूम गयी इसीलिए उन्होंने चीनीको मुँहमागे दाम देकर यह प्लेट खरीद ली थी। और जब मियाँजी छुट्टीपर घर आये थे तो बक्समें-से यह प्लेट निकालकर बीबीसे कहा था, "जिस तरह कहानियोंके जिनों, भूतोंकी जान तूतीमें होती है उसी तरह तुम्हारे इस जिनकी जान इस प्लेटमें है। क्योंकि प्लेटमें तुम जो हो।"

बीबीने यह प्लेट बरसों तक अपने कलेजेसे लगा रखी थी। दम तोड़नेसे ज़रा देर पहले मियाँजीने फ़रमाइश की थी कि उन्हें दवा उसी प्लेटमें रखकर खिलायी जाये। अब भी वह प्लेट कोठेके अन्दर एक आलमारीमें रखी थी और बीबी बार-बार उसकी ओर यूँ देख लेती थी जैसे अभी बच्चोंकी तरह सिसक-सिसककर रोने लगेगी, मगर न जाने अचानक ठीक इसी अवसरपर वह रोना क्यों भूल गयी थी।

०

रोना तो उसका एक हथियार था। वह तो मियाँजीकी ऐसी छोटी बातोंपर भी रो देती थी कि आजके सालनमें कलवाला मज़ा नहीं है और उसे रोता देखकर मियाँजीको स्वीकार करना पड़ता था कि मुग़लोंके शाही बावरचियोंको भी इस मज़ेका सालन तैयार करनेका नुसखा मालूम न था। उनकी कोई औलाद न थी, इसलिए दोनों कभी-कभी आप ही बच्चे बन जाते थे, बार-बार रूठते और रोते थे; "तुम मुझसे वैसा प्यार नहीं करतीं जैसा मैं तुमसे करता हूँ।" मियाँजी कहते और बीबी अपनी कनपटियोंके ऊपर बालकी सफ़ेदीके बावजूद मचल जाती कि जैसे मियाँजीने उसके ईमानपर हमला किया हो।

और आज मियाँजी इस घरसे सदाके लिए उठ गये थे। अब वह शामकी नमाज़ पढ़कर वापस आते हुए मियाँजीके पैरोंकी आवाज़ कभी नहीं सुन सकेगी। अब कभी यूँ नहीं होगा कि आधी रातको उसकी आँख खुलेगी तो उसका सर मियाँजीकी गोदमें रखा हो और मियाँजी उसके अधरोंकी रेखाओंपर अपनी एक उँगलीकी पोर फेर रहे हों। अब कुछ भी नहीं होगा, बीबी सब कुछ सोच रही थी मगर उसे इतना सोचनेपर भी तो रोना नहीं आ रहा था।

अगर उसके आँसुओंका सोता अचानक सूख गया था तो भी कमसे कम दुनियादारी-के लिए उसे रोना ज़रूरी था। मियाँजीकी दूर-नज़दीककी रिश्तेदार औरतें भाँ-भाँ रोती हुई आयीं और बीबीको गलेसे लगाकर ऐसे रोयीं कि दुश्मनोंके कलेजे भी पिघल गये। मगर जब वे बीबीसे अलग हुईं और उसकी आँखोंमें धूल उड़ती देखीं तो कुछ तो हैरान होकर रह गयीं और कुछने घृणासे मुँह फेर लिया और किसीने चुपकेसे दूसरीके कानमें कहा, "दुनियामें यह पहली बीवी है जो अपने मियाँकी मौतपर ख़ुश हुई है।" फिर यह कानाफूसी दूर-नज़दीक तक फैल गयी। यहाँ-से वहाँ तक औरतें रोनेके बजाय नाकों और ठुड्डियोंपर उँगलियाँ रखकर खुसुर-फुसुर करने लगीं, दरवाज़ेसे लगकर खड़े हुए बच्चे भी बीबीसे निराश होकर अन्दर कोठेमें खेलने लगे और वह इस भीड़में अकेली रह गयी।

रोना कोशिशसे नहीं आता, यह तो प्यारकी बड़ी बेधड़क चीज़ है। मगर बीबी रोनेकी कोशिशमें लगी हुई थी। उसने पिछले तीस बरसोंकी एक-एक बात याद कर डाली। कई बार उसे ऐसा भी लगा कि बरसातकी रात है, छतपर बूँदें बज रही हैं। बादल कहीं दूर जैसे नींदमें गरज रहा है। कोठेमें मैली-मैली रोशनीवाला दिया जल रहा है। मियाँजीका सर उसके बालोंमें डूब गया है। और उसके होंठोंको मियाँजीकी छातीके बाल छू रहे हैं। इन यादोंने उसे जैसे दोनों कन्धोंसे पकड़कर झकझोर डाला हो, मगर उसकी आँखोंमें पानी न आ सका।

कई बार बीबीने उस जगहको घूरकर देखा जहाँ मियाँजीकी मैयत जनाज़ा उठने तक पड़ी थी और जहाँ वह उनपर पछाड़ें खा-खाकर गिरी थी। मगर लोग पछाड़ोंको नहीं देखते, आँसुओंको देखते हैं। ऐसेमें तो कुछ जानवर भी पछाड़ें खाकर गिर जाते हैं। आदमीकी पहचान आँसू है। आदमी रोये नहीं तो कैसे मानें कि उसका दिल दुखा है।

०

आँगनके चप्पे-चप्पेसे बीबीके जीवनकी कितनी बातें चिपटी हुई थीं। इन दीवारों और मुँडेरोंपर आज कितनी कहानियाँ उतर आयी थीं। बीबीने रोनेके लिए एक-एक चीज़को घूर-घूरकर देखा। उसकी नज़रें मुण्डेरों और दीवारों और दरवाज़ेपरसे घूमती हुई कोठेके अन्दर चली गयीं।

कोठेके अन्दर जाने उसने क्या देखा कि अचानक वह तड़पकर उठी, दरवाज़ेकी ओर एक क़दम बढ़ाया और फिर एक चीख़के साथ छातीपर बड़े ज़ोरका दोहत्तड़ मारकर वहीं ढेर हो गयी।

भागाँ उठकर उसकी ओर लपकी और फिर आँगनके दूसरे सिरे तक सारी औरतें उठती चली गयीं।

"क्या हुआ रे?" किसीने पूछा।

"बीबी रो रही है।"

चन्द औरतोंने बिखलती और सिसकती हुई बीबीका भीगा हुआ चेहरा उठाकर दूसरी औरतोंको दिखाया, और सब जैसे हैरान होकर बोलीं, "ये तो ज़ार-ज़ार रो रही हैं बेचारी!"

फिर अन्दर कोठेमें किसी औरतने एक बच्चेके ज़ोरका चाँटा मारा और उसे घसी-टती हुई चौखटपर आकर पुकारा "नामुरादने बीबीकी प्लेटके दो टुकड़े कर दिये हैं!"

(ज्योति देसाई-द्वारा अनूदित)

कलाकार : भाऊ समर्थ

जिसने
इतिहासको
साहित्य
बनाया और जिसका
साहित्य
खुद इतिहास
बन गया

०

सूक्ष्म प्रकृतिका द्रष्टा : शेक्सपीयर

०

पुष्पदन्त

●

तेईस अप्रैल १९६४। स्ट्रैटफ़ॉर्डकी सड़कोंपर एक ऐसा दृश्य जो इतिहासमें कभी-कभी ही दिखायी पड़ता है। एक-सौ पन्द्रह देशोंके राजदूत अपनी राजनयिक वेश-भूषामें सुसज्जित एक क़तारमें चलते हुए शेक्सपीयरकी समाधि-पर जा रहे थे, उसकी चार-सौवीं वर्षगाँठपर वासन्ती गुलाबके गुच्छे भेंट करने।

स्वेडेनके राजदूत गुन्नार हेग्लोफ़, जो राजनयिक प्रतिनिधियोंके 'डीन' की हैसियतसे इस अमर कवि-नाटककारको श्रद्धांजलि अर्पित कर रहे थे, बोले, "शेक्सपीयर स्ट्रैटफ़ॉर्डके थे? इंग्लैण्डके थे? नहीं; वे समूची मानवताके थे, इसीलिए आज विश्वके हर राज्यके प्रतिनिधि यहाँ एकत्र होकर एक स्वरसे कह रहे हैं : 'हमारे शेक्सपीयर'।"

'हम सम्पूर्ण बर्त्तानिया साम्राज्यको खो सकते हैं, किन्तु शेक्सपीयरको नहीं।' —यह वाक्य जाने कितनी बार हमारे अध्यापकोंने, साहित्यकारोंने,

राजनीतिज्ञोंने अँग्रेज़ोंके साहित्य-प्रेमकी अभ्यर्थना करते समय दुहराया है। लेकिन क्या है ऐसा इस शेक्सपीयरमें कि जिसके आलोकके सामने ब्रिटिश ताजके सर्वोत्तम हीरे धूमिल लगने लगते हैं, जिसकी गरिमाके सामने संसारके सबसे बड़े साम्राज्यसे संयुक्त पलड़ा भी हलका होकर ऊपर उठ जाता है? इसकी शक्ल देखकर मुझे हमेशा ही 'क़र्ज' कहानीके गाड़ीवान जगपतीकी याद आ जाती है, जो अपने भाईके घरको आबाद करनेके लिए दिन-रात बोरे लाद-लादकर ढोया करता था और उनकी रगड़से उसकी चाँद एकदम निर्लोम साफ़ निकल आयी थी। वेश-भूषा ऐसी कि लाख श्रद्धाके बावजूद उसी तरह हँसी फूट पड़ती है, जैसे सोमन डफालीको देखकर बचपनमें उभरा करती थी। इसी सपाट भावहीन चेहरेको देखकर शायद बेन जानसनने कहा था कि उसे चित्रोंमें नहीं उसकी कृतियोंमें ही ढूँढ़ना चाहिए।

मैं बार-बार सोचता हूँ कि न तो शारीरिक गठनमें, न जन्म या मृत्युमें, और न तो जीवनमें ही इसके कोई ऐसी बात थी जो अनोखी कही जाये। फिर क्या था इसमें ऐसा जिसने एक व्यक्तिको इतिहास बना दिया, एक छोटी-सी इकाईको समष्टि-की पीठिकापर आसीन करा दिया?

इस आश्चर्य और परेशानीसे लाचार होकर हमें वहाँ जाना पड़ता है जहाँ शेक्स-पीयरका व्यक्ति नहीं है, आत्मा है: सूक्ष्म साहित्यमें प्रतिफलित आत्मा। सारे कौतूहलों और प्रश्नोंसे आकुल अन्तर जैसे ही शेक्स-पीयर-जगत्‌के द्वारमें प्रवेश करता है, एक अजीब तरहकी गन्धसे नाकके पुटपुटे भर उठते हैं — आह, कैसी यह गन्ध? तरह-

संक्षिप्त शेक्सपीयर

[चतुर्थ शताब्दिक जयन्तीके उपलक्ष्यमें]

जन्म :
अप्रैल, १५६४ (दिन निश्चित नहीं)

स्थान :
स्ट्रैटफ़ोर्ड-ऑन-ऐवॅन (वार्विक शायर, ब्रिटेन)

मृत्यु :
२३ अप्रैल, १६१६

नाम :
तरह-तरहसे लिखा गया है:
CHAKASPERE,
SHAKSPERE,
SHAXPERE, SHAKSPEAR,
SHACKSPERE,
SCHAKESPEIRE
किन्तु, सर्वाधिक प्रचलित वर्तनी है:
SHAKESPEARE।

कार्यक्षेत्र :
प्रौढ़ जीवनका अधिकांश समय लन्दनमें ही बिताया जहाँ २०-२५ वर्षमें इस 'बहु-आयामी मानस'की धनी प्रतिभाने अपने ३७ नाटकों और कविताओंका सृजन किया। इन नाटकोंमें Two Noble Kinsmen सम्मिलित नहीं है क्योंकि इसका कृतित्व विवादास्पद है।

नाट्य-कृतियोंकी सूची :
Henry VI – पहला भाग
Henry VI – दूसरा तीसरा भाग

Richard-I, Comedy of Errors, Titus Andronicus, Taming of the Shrew, Two Gentlemen of Verona, Loves Labour Lost, Romeo and Juliet, Richard II, Midsummer night's dream, John, Merchant of Venice, Henry IV – पहला तथा दूसरा भाग, Much ado about nothing, Henry V, Julius Caesar, Merry wives of Windsor, As you like it, Twelfth night, Hamlet, Troilus and Crssida, All's wele that ends well, Measure for Measure, Othello, Mecbeth, King Lear, Antony and Cleopatra, Coriolanus, Timon of Ahens, Pericles, Cymbeline, Winter's tale, Tempest, Henry VIII,

विवादास्पद कृतिकारिता :

आज लगभग २०० वर्षोंसे विवाद चल रहा है कि जिन कृतियोंको शेक्सपीयर-द्वारा लिखा गया मानते हैं, वे क्या वास्तवमें शेक्सपीयर-द्वारा

(शेष अगले पृष्ठ पर)

तरहके जंगली और शाही उद्यान-फूलोंकी मिली-जुली गन्ध; समुद्रकी और पत्थरकी, चाँदनी और धूपकी, क़ब्रिस्तानकी और युद्ध-भूमिकी, नाना प्रकारकी मीठी-मधुर, तीखी कसैली गन्ध – और इन सबके ऊपर एक और अजीब गन्ध ! एक ख़ूनकी गन्ध, हाँ ख़ूनकी ! सुना नहीं आपने, लेडी मैक्बेथ चीख़ती हुई पागलोंकी तरह दौड़-भाग रही है – "आह, यहाँ अभी भी वही गन्ध है ? इस छोटे-से हाथको अरबियाका तमाम इत्र भी साफ़ नहीं कर सकता ! आह, आह !"

शेक्सपीयर-जगत्के अन्तःकक्षमें पहुँचते ही आपकी आँखोंके सामने नाना रंगोंका एक ऐसा समन्वय दिखाई पड़ेगा कि जैसे आप इन्द्रधनुषके देशमें आ गये हों। तरह-तरहके रंगोंकी यह चित्रसाज़ी वस्तुओंके ऊपर जड़ परतकी तरह लपेट नहीं दी गयी है, बल्कि ये रंग इतने जीवन्त हैं कि आप इनकी प्रत्येक साँसमें एक नयी अनुभूतिमें डूब-उतरा सकते हैं। यहाँ डरावने अपशकुनसे भरी अँधेरी रातोंकी कालिमा है, टूटते तारोंके रहस्यपूर्ण अग्निदाहका पीलापन है, नीले समुद्र और भूरे पहाड़ हैं, वृक्षोंसे ढके हरे मैदान है, और इन सबके बीच रातमें नीले आसमानसे छनकर आती चाँदनीमें खड़ी जूलिएट हैं – आह ज्योंही वह बालकनीमें खड़ी हुई कि एक मुलायम रेशमी प्रकाश चारों ओर फूट पड़ा – नक्षत्रोंकी तरह चमकती उसकी आँखें एक साथ ही धरती और आसमान साध रही हैं – और कुहरोंको चीरती हुई इन आँखों-की ज्योति –

> "हवाके अंचलको चीरती वे आँखें
> जब चमकती हैं –
> पंछी गाते हैं यह सोचकर कि
> अब रात शेष नहीं है।
>
> – रोमियो जूलिएट २।१

रंग-रूप-गन्धका यह शेक्सपीयर-जगत् वस्तुतः बाहरी कायामात्र है। भीतरकी आत्मा कुछ और ही है। उसमें न गन्ध है, न रूप, न रंग; उसमें एक ऐसा शालीन प्रकाश है जो मनुष्य और प्रकृतिके भीतर छिपे सारे रहस्यको खोलकर रख देता है। आत्माके इस रूपका दर्शन सम्भवतः उसी रचनाकारको हो पाता है जो इन माया स्तूपोंको तोड़कर गहराईमें देखना चाहता है। यह संसार, ये महल, ये अट्टालिकाएँ, यह वैभव, ये मीनारें, यह चाकचिक्य – यह सब क्या है?

सभी तो घुलते हैं पतली महीन हवा में
सूत्र-हीन निराधार वस्त्रकी तरह
मेघ-चुम्बित कलश, ऊँची अट्टालिकाएँ
शान्त शिखर मन्दिरके, वर्तुल विश्व ख़ुद भी
हाँ, सभी कुछ, जो है यहाँ, घुलता है –
और इस निस्सार दृश्यका कुछ भी नहीं बचता
हम उस पदार्थसे बने हैं –
जो स्वप्नोंको बुनता है
और यह स्वप्नवत् जीवन, आदि और अन्तमें
दोनों तरफ़
एक गहरी निद्रासे सम्पुटित है।

– द टेम्पेस्ट ४।१

शेक्सपीयर एक ऐसा दर्पण है जिसका इस सूक्ष्म प्रकृतिके साथ पूर्ण सायुज्य है। प्रकृतिके सभी स्थूल दृश्य इस दर्पणमें झाँकते हैं, किन्तु इसका अनोखापन इस बातमें है कि इन स्थूल दृश्योंमें फँसकर वह इसकी आन्तरिक आभाको न तो ढाँपता-तोपता है न उसे विकृत या धूमिल ही होने देता है। सूक्ष्म प्रकृति बड़ेसे बड़े मस्तिष्कके लिए भी अगोचर रही है। उसकी आन्तरिक प्रक्रियाको समझनेके लिए एक ऐसा माध्यम चाहिए जो हृदय और बुद्धि दोनोंकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म शक्तियोंसे इस तरह सम्बलित हो, वह इतना सचेत और भाव-प्रवण हो कि प्रकृतिकी अभिव्यक्तिकी हलकीसे हलकी लहर भी बिना चिह्नित हुए न बचे। ऐसी ही चेतनाके

(पिछले पृष्ठ से आगे)

लिखी गयी हैं? और, यह शेक्सपीयर था कौन? क्या यह कोई छद्मनाम या उपनाम है?

दो नामोंकी सर्वाधिक चर्चा इस सम्बन्धमें है। कुछ समीक्षक मानते हैं कि अर्ल ऑव रुटलैण्डका नाम शेक्सपीयर है और कुछ मानते हैं कि ये कृतियाँ प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ, विद्वान्, दार्शनिक और निबन्ध-लेखक लॉर्ड बेकॅनकी हैं जो इंग्लैण्डके लॉर्ड हाई चान्सलर थे।

परिवार :

यह अपने पिता जौन और माता मेरी (कुमारी आर्डन) का सबसे बड़ा पुत्र था—कुल आठ भाई-बहिन थे।

शिक्षा-दीक्षा तथा परिवेश :

शेक्सपीयरका जन्म इतिहासके ऐसे युगमें हुआ था जब मानवकी साहसिक वृत्ति चरम शिखरपर थी। प्राणोंकी बाज़ी लगाकर समुद्रके तूफ़ानोंपर पोत-संचालन, नये देशोंकी खोज, संघर्षोंसे चुनौती, साम्राज्योंकी विकास-स्पर्धा, कला और सृजनकी नयी चेतनासे देश अनुप्राणित था। शेक्सपीयरके पिता ऊनका व्यापार करते थे; सम्भ्रान्त नागरिक थे। शेक्सपीयरका बचपन सुखसे बीता। नगरके ग्रैमर स्कूलमें शिक्षा पायी जो १६ वर्षकी आयुमें समाप्त

हो गयी। विवाह हुआ तो पत्नी आयुमें ९ वर्ष बड़ी मिलीं—सम्भवतया प्रेम-विवाह था। वास्तविक शिक्षा जीवनकी खुली पोथीसे पायी। विशाल सामान्य ज्ञान और अद्भुत निरीक्षण-शक्ति। मानव-स्वभावका अध्ययन तथा क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं और अन्तर्द्वन्द्वोंके विश्लेषण-संश्लेषणकी अभूतपूर्व क्षमता।

प्रतिभाका मान :

सन् १५९२ का पहला उल्लेख शेक्सपीयरके बारेमें मिलता है जो प्रमाणित करता है कि नाटक-जगतमें धूम मच गयी थी। ईर्ष्यालु रोबर्ट ग्रीनने कहा, 'Upstart crow who in his owne conceit the only Shakescene in a country' क्षिप्रख्यात, आभिजात्य-विहीन एक कौआ जो दर्पमें चूर, देशके रंगमंचपर धमा-चौकड़ी मचाये हुए हैं......

१६१० में शेक्सपीयर नगरकी हलचलोंसे विरक्त होकर अपने गाँव लौट आया और अन्तिम नाटक वहाँ ही लिखे ?

५३ वर्षकी आयुमें अपने विषयमें शेक्सपीयरने लिखा : "सर्वथा स्वस्थ हूँ और स्मृति सदाकी तरह पैनी।" किन्तु उसी वर्ष शेक्सपीयरका निधन हो गया—स्पष्ट है कि कोई लम्बी बीमारी नहीं हुई और इसका कहीं उल्लेख भी नहीं है।

सामने प्रकृति अपना सारा रहस्य खोलकर बिखेरती है। प्रकृति वृक्ष-लता, पर्वत-समुद्रादिके समुच्चयका नाम नहीं है; बल्कि जड़-चेतन सबके भीतर अभिव्यक्त होनेवाली यह एक अत्यन्त शक्तिशाली प्रक्रिया है। काला, सफ़ेद, तमस्-सत्त्व, भूत-भविष्य, कला-काष्ठा आदि अतिवादी छोरोंमें व्याप्त बहुविध छायाओंमें प्रस्फुटित। इस प्रकृतिके सारे निगूढ़ तत्त्वोंको समझना मामूली बात नहीं है। मनुष्यको ही लें, उसमें रूप-आकारका जितना वैविध्य है उससे कई गुनी अधिक बहुरंगी छटा उसके स्वभाव और कार्य-व्यापारमें निहित है। कटुता, निर्ममता, हिंसा, छल, जिघांसा, क्रूरता, चालबाज़ी, प्रवंचना, धोकेबाज़ी, बेईमानी, विश्वासघात, मिथ्याचरण, अनैतिकता, बलात्कार आदिसे लेकर दया, उदारता, क्षमा, शिष्टता, ममता, स्नेह, प्रेम, प्रणय, नियम, सदाचार, शील, सौन्दर्य, मातृत्व आदि अनेक रंगोंके भाव और इनके नाना प्रकारके मिश्रण, मानव-प्रकृतिके ही विविध रूप हैं। इन सबको सही और सूक्ष्म दृष्टिसे वही देख सकता है जो ऊपरके स्थूल आवरणको भेदकर तलवर्तिनी शक्तिकी प्रक्रियाको ठीकसे समझ सके। शेक्सपीयर इस प्रकृतिके गूढ़ रहस्योंका ज्ञाता था, क्योंकि प्रकृति स्वयं उसकी चेतनाको अपनी अभिव्यक्तिका सही माध्यम समझकर झंकृत कर रही थी। प्रकृतिकी स्पष्ट भाषा उसने भले न सुनी हो, किन्तु उसके नेत्रोंमें जो रंग उभरते थे, उन्हें वह अच्छी तरह पढ़ लेता था और अपनी शक्ति-भर उसने इन प्रश्नोंका उत्तर देनेकी कोशिश की :

वह बोलती है
फिर भी कुछ नहीं कहती।
तो हुआ क्या।
आँख तो कुछ कह रही है।

इसलिए दूँगा सभी उत्तर उसी को ।
– रोमियो जूलिएट २।१

उसकी महत्ताका सबसे बड़ा आधार शायद यह है कि उसने कभी भी कोमल और सुन्दरके सामने पुरुष और असुन्दरका त्याग नहीं किया। कोमल और सुन्दर खुद हमारी आत्मामें रचकर हमें मोहता है; किन्तु वह पूर्ण सत्य तो नहीं होता। सत्यकी ग्रन्थिके जो खोये हुए सूत्र हैं उनमें-से अधिकांश कल्मषके पंकमें ही दबे मिलेंगे। इसलिए शेक्सपीयर जीवनके अँधेरे पक्षसे कतराता नहीं। वह प्रकृतिका भक्त है। कृष्णपक्षका चित्रण करते समय वह कह सकता है :

सुनो, सुनो, ओ प्रकृति, प्यारी देवी, सुनो
यदि किया हो तुमने इरादा भी तो त्यागो
इस प्राणी को निष्फल ही रहने दो
भर दो इसके गर्भमें बन्ध्यात्व
सुखा दो विकसित होते शिशु-अंगों को
सुखा दो
इस कुत्सित शरीरसे कभी न आये
अन्त्र-शिशु
इसे देनेको प्रतिष्ठा
और यदि आना ही हो लाज़िमी
तो रचो एक ऐसा विकलांग बौना
घिनौना-सा
जो हमेशा इसे अपनी ज़िन्दगीसे
तड़पाता रहे।
—किंग लीयर १।४

असत्य और कल्मषके प्रतिशोधके लिए प्रकृतिसे की गयी यह याचना भी शेक्सपीयर-के स्वभावका ही एक रूप है। शेक्सपीयरको 'सुन्दर' से प्रेम है अवश्य, किन्तु उसने 'सत्यं' और 'शिवं' के कठोरसे कठोर रूपको भी कभी तिरस्कृत नहीं किया। समग्रात्मक जीवनके प्रति उसकी यह सन्तुलित दृष्टि उसके साहित्यकी कुंजी है। वह धर्म परलोक, परी या भूतोंके वर्णनमें वायवी सत्ताके प्रति समर्पित-सा प्रतीत होता है; किन्तु ऐसी बात है नहीं। इन तत्त्वोंके प्रति वह आकृष्ट इसलिए है कि ये मनुष्य-जीवनसे सम्बद्ध हैं और उसे गहराईसे प्रभावित करते-से प्रतीत होते हैं। सच तो यह है कि शेक्सपीयर मानव-प्रकृतिका कवि है। वह इस प्रकृति-की सारी शुभ्रता और कलुषताको अच्छी तरह समझता है। उसकी एक-एक योजना और दुरभिसन्धिकी फुसफुसाहटें उसके चित्त-में पूर्णतः अंकित होती हैं और वह बिना संकोच मध्यकालीन समाजके इस यथार्थ जीवनको चित्रित कर देता है। वह जानता है कि समूची सूक्ष्म प्रकृतिकी सबसे बेहतरीन उपलब्धि मनुष्य ही है और जब उसे समाजमें ऐसा व्यक्ति दिखाई पड़ जाता है, जो अपनी सारी कमज़ोरियोंके बावजूद महान् और श्रेष्ठ हो, चाहे वह भले ही मनुष्यकी क्षुद्र-ताओंका शिकार होकर असफल हो गया हो या मर चुका हो, तो वह उसकी अभ्यर्थनामें विश्वासके साथ गद्गद होकर कह उठता है :

जीवन उसका शीलवान् था
और सृष्टि के तत्त्व समन्वित ऐसे
प्रकृति स्वयं उठ कहती जग से
देखो, यह मनुष्य है।
— जूलियस सीज़र

सच्चे स्वाभाविक महत् मनुष्यके सृजन-पर आत्मचरितार्थताका अनुभव करती यही प्रकृति शेक्सपीयरके काव्यका प्राणस्रोत है और शेक्सपीयर इसी प्रकृतिके गूढ़ातिगूढ़ भेदोंका स्पष्ट द्रष्टा। ● ●

वाणीके बिम्ब

०

संकलन एवं अनुवाद
कुन्था जैन

०
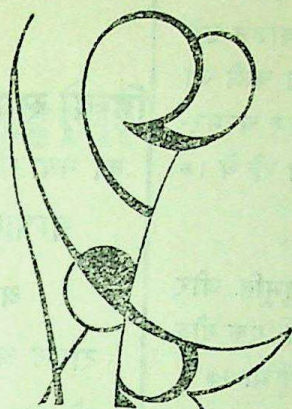
सीमा पार करनेके लिए शरणार्थिनी प्रार्थना-पत्र लिये दफ्तरमें पहुँची। वहाँ अफ़सरकी लम्बी-चौड़ी बातें सुनकर उसे लगा जैसे वह स्वयंको और अफ़सरको दो आइनोंमें देख रही है जो संख्यातीत हुए चले जा रहे हैं।

[अज्ञात]

०

वर्ष गुँथकर अस्पष्ट हो गये थे, जैसे दौड़ती गतिकी लीक।

[ऑयन रेंड]

०

उसके अन्तरमें वेदनाकी बूँद कहीं एक क्षणको आ ठिठकती और खिड़कीके शीशेपर फिसलती वर्षा-बूँदकी तरह अपना छोटा-सा रास्ता तय करती हुई विलीन हो जाती, अपनी गति-रेख-द्वारा एक प्रश्नचिह्न अंकित करती हुई।—

[ऑयन रेंड]

०

बूढ़ोंको चिन्ता किस बातकी? एक ही जगह बैठे-बैठ पगुराते रहते हैं। अतीतकी स्मृतियाँ कुरेदकर जुगाली करते हैं और फिर निगल लेते हैं।

[अज्ञेय]

०

एक क्षणके लिए आश्चर्य-मिश्रित मौन खिंचा रहा। फिर अचानक ट्रामकी आवाज़ने उसे तोड़ दिया, जो निर्विकार भावसे चली जा रही थी—तेलके भूखे ब्रेक बराबर चरमर-चरमर करते हुए शिकायत किये जा रहे थे।*

०

आनन्दकी एक पगली, अर्थहीन अनुभूति ज़ोर मारती है, साहसमें-से छलछलाता एक गीत उठता है, नियतिको चुनौती देता हुआ।*

०

पगले शब्दोंका ज्वार सरसराता-सा उफन आया।*

०

उसने सिगरेट जला ली और उसका छोटा-सा लाल धब्बा आलोड़ित जलपर डगमगाती तिरेरी-सा हिलने लगा।*

०

उन दिनों उसे बहुत सूना-सूना-सा लगता था; इतना सूनापन कि उसे लगता कि हाथ बाहर निकालते ही वह उसे छू लेगी।*

०

पीछेसे एक आवाज़ सुनाई दी और उसके ख़याल परिन्दोंके झुण्डकी तरह इधर-उधर बिखर गये।*

०

*** मूल : याम ओत्वेनाशेक, अनुवाद : निर्मल वर्मा**

भाषणकर्ता : प्रभाकर माचवे

कहानी : नयी कहानी
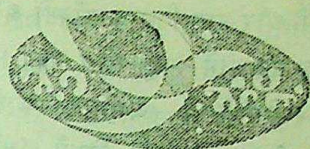
'मनीषा'-गोष्ठी, ११ अप्रैल १९६४ को सन्निधि-राजघाटमें अध्यक्षीय भाषण, जिसमें बहुत-कुछ कहा गया किन्तु जिसमें-का सब-कुछ यहाँ नहीं दिया जा सका।

मित्रो,

इस जगह जो आपके संयोजकोंने मुझे खड़ा किया है, उसके लिए मैं बिलकुल दोषी नहीं हूँ। 'दोषी' कोई और ही है। कल शाम तक मुझे पता नहीं था कि मुझे ही इस विचार-गोष्ठीका संचालन करना है। पर मैं आज-कलकी एवज़ी दुनियामें शायद सबसे सुलभ एवज़ी हूँ। जब किसी पत्रिकाके पास किसी मुश्किल विषयपर सहज और जल्दी कोई लिखनेवाला नहीं मिलता तो मेरी याद की जाती है। सभाओंमें जब कोई सभापति मना कर देता है तो मुझे फ़ोन आ जाता है। अभी मैं उस डॉक्टरी गद्दी तक या आचार्य पदपर नहीं पहुँचा हूँ कि पत्रोंके उत्तर न दूँ और मुरौवत-इसरारको टाल दूँ। जैसे-जैसे बाल पकेंगे, आप लोगोंकी ऐसी ही मिहरबानी होती गयी तो मैं भी 'हाइमैन ऑफ अथैन्स' बन जाऊँगा और आदमियोंसे अजनबी बननेकी कोशिश करूँगा।

बहरहाल आज मैं यहाँ हूँ। और मुझे कैफ़ियत नहीं देनी है। सिवा शुरूमें तीन बातोंके। मेरे अपने विचार इस नयी-पुरानी बहसपर मैं नहीं सुनाऊँगा। वे 'धर्मयुग'में मैंने लिखे हैं। मुझे सिर्फ़ तीन बातें इस विचार-गोष्ठीमें भाग लेनेवालोंसे और श्रोताओंसे विनम्रतापूर्वक कहनी है। आशा है, श्रोता-धर्म और वक्ता-धर्म-की मर्यादाएँ आप लोग समझेंगे।

नम्बर एक : मैं यहाँ साहित्य-अकादेमीमें कार्य करता हूँ इसलिए नहीं आया हूँ। यानी मेरी बातोंका ख़याल करते हुए मिहरबानी करके मेरी संस्थाको न घसीटिए। उसने मुझे नहीं भेजा है। और हमारे प्रगतिवादी बन्धु कितना ही सोचें कि आदमीकी रोज़ी उसके विचारोंका निर्देशन करती है, मैं कुछ इस साँचेसे बचता रहा हूँ। ग्यारह बरस कॉलेजमें पढ़ाता था, पर मैं शुष्क आलोचक नहीं बन गया।

अभी भी एकाध कविता-कहानी घसीट लेता हूँ। रेडियोमें छह साल रहा पर छद्म हँसी और रात-दिन कान्ट्रैक्टों और काण्टैक्टों-की करेन्सीमें नहीं सोच सका। दस सालसे अकादेमीमें हूँ—अभीतक कोई उदाहरण हिन्दी-जगत्में नहीं कि मैं 'अकेडेमिक' हो गया या नौकरशाही नोक-झोंककी भूल-भूलैयामें खो गया। अपने बारेमें अभी भी इन सब रोजियोंसे अलग बात कर सकता हूँ।

आज हम विचार-गोष्ठीके लिए आये हैं। आप सब सुधी, सुविज्ञ, सज्जन हैं। आपको विचार-गोष्ठीकी मर्यादाएँ बतलाना ज़रूरी नहीं। पर इधर देखा गया है कि कुछ बहस-मुबाहसेमें आलोचनाकी आचार-संहिता तोड़कर कहानी-लेखक कुछ अधिक भावुकतासे एक-दूसरेके हेतुओंकी शंका करने लगे हैं। और इसमें नये-पुराने दोनों दोषी हैं। आलोचना जब यों व्यक्तिगत स्तरपर उतर आती है, विचारका पक्ष झीना पड़ जाता है; बहुत-सी कड़ौंस और कुदूरत उभर आती है। मैं समझता हूँ हम ऐसी नयी निगाहोंके सवालो-जवाबसे बचेंगे जिसमें निगाहसे ज्यादह पूर्वग्रहका अन्धापन हो; और ऐसी बुज़ुर्गीसे भी बचना होगा जो 'बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्' या 'शिष्या-दिच्छेत् पराजयम्' नहीं मानें।

नम्बर दो: अभी किसीने बताया कि चेखॅवकी वह कहानी बताइए, जिसमें कविता हो। और वह कविता 'नयी' है या 'पुरानी' यह सोदाहरण सिद्ध कीजिए। विश्वविद्यालय-वालोंकी आदत होती है कि वे खानोंमें बाँट-कर देखते और लिखते हैं। पर पुराने रस-शास्त्रके हिसाबसे हास्य और करुणा दो परस्पर-विरोधी रस हैं। इनमें कोई मेल नहीं हो सकता था। चेखॅवकी 'कोचवान' या अन्य कहानियोंमें हास्य-व्यंग्यके साथ-साथ सूक्ष्म करुणाकी अन्तर्धारा चलती रहती है। इसका अर्थ यह है कि पुराने रसशास्त्रके सहारे यह नयी भाव-संवेदनाएँ, यह नये विचार-मिश्रण, यह नये मनुष्य और समाज-के सम्बन्ध ठीक तरहसे समझे नहीं जा सकते।

अब तो साहित्यमें वह स्थिति आ गयी है कि नये-पुराने क्या, गद्य-पद्यके बन्धन टूटते जा रहे हैं। नयी कहानी एकदम एक साथ रेखाचित्र, संस्मरण, यात्रावर्णन, ललितनिबन्ध, राग-रचना सबका मिश्रण है। एक दिन हमारी संस्थामें एक फ्रेंच लेखक आये। मैंने पूछा: आप क्या लिखते हैं? कविता, कहानी, नाटक, निबन्ध? बोले: मैं 'सूत्र' लिखता हूँ। आप हँसिए नहीं, वे हिन्दीके लेखक नहीं थे (और भी हँसी)। वे कहने लगे, भारतके प्राचीन साहित्यसे मैंने प्रेरणा ली है। अभी एक भाई कह गये कि चेखॅवसे पहले कहानी ही नहीं थी, कहानीकी खोज मात्र थी। मैं इस बातसे सहमत नहीं। अब तो नयी कहानी लोककथाके बहुत निकट आने लगी है। आल्डुस हक्सलेके 'आइलैण्ड' उपन्यासमें पक्षी बोलते हैं। मैं समझता हूँ भावी कथा विचारोंकी कथा होगी। वह लोक-कथाओंके बहुत निकट होगी। मैं उस भावी विष्णुशर्मा

और गुणाढ्यकी प्रतीक्षा करना चाहता हूँ जो नये पंचतन्त्र और नयी बृहत्कथा लिखेगा।

नम्बर तीन : नयी कहानीकी मुख्य समस्या नयी कविताकी ही तरह भाषाकी है। हिन्दीमें कई अहिन्दीभाषी लिख रहे हैं। रांगेय राघव तमिल थे, मन्मन्थनाथ गुप्त बँगलाभाषी हैं, डॉ० मदीपसिंह पंजाबी-भाषी हैं, प्रभाकर माचवे मराठीभाषी हैं। तो इन सबके साथ कई तरहकी भाषा-शैलियाँ भी हिन्दीमें आ रही हैं। अब यह प्रक्रिया रुक नहीं सकती। अँगरेज़ीके शब्द भी हमारी भाषाओंमें आत्मसात् होते जा रहे हैं। इन सबका असर नयी कहानीपर भी पड़ेगा ही। उससे बचा नहीं जा सकता।

मैं नयी कहानीके साथ हूँ, पर परम्पराके दायको झुठलाकर आगे नहीं बढ़ा जा सकता। मेरे मतसे कलकी जो हिन्दी कहानी होगी उसका व्यक्तित्व बहुत भिन्न प्रकारका होगा। वह न निरी बुजुर्गोंका अन्धानुकरण होगी, न अतिवादी फ़ेशनेब्ल नयोंकी नक़ल। पश्चिम-से भी वह सीखेगी, पर पूर्वको भुलानेके लिए नहीं। वह महान् साहित्य तभी बन सकेगी जब वह दिक्कालातीत मानव नियतिके साथ चल सकेगी। युग-सत्यको युग-युगके सत्यसे मिलानेवाला सच्चा सेतु बनेगी। व्यक्तिगत अनुभूतिकी सूक्ष्मताको सामाजिक सन्दर्भसे कटा हुआ नहीं मानेगी। मैं हिन्दी कहानीके उज्ज्वल भविष्यके विषयमें आशावादी हूँ। अभी डॉ० नगेन्द्रने कहा, साहित्य अमृत है, नयी-पुरानी तो शराब होती है। जो अमृत-पायी हैं वे स्वर्गीय सुख भोगें, निरी आलो-चना लिखें, मैंने तो रचनात्मक साहित्यकी शराब चखी है। वह मुझे ललचाती रहती है। मैं देवताओंकी नहीं कमज़ोर मनुष्यकी कहानी सुनना-पढ़ना-लिखना चाहता हूँ।

●

उपाय

भाषण शुरू करनेके थोड़ी देर बाद ही वक्ता महोदयने रुककर दूर बैठे श्रोताओंसे पूछा, "आप तक मेरी आवाज़ पहुँच रही है न ?"

दूर बैठा एक व्यक्ति उठकर बोला, "जी नहीं।"

भाषणकर्त्ता मुड़कर बोले, "तब आप मेरी बातों पर और अधिक ध्यान दें। आप अवश्य सुन पायेंगे।"

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

०

सह-चिन्तन

०
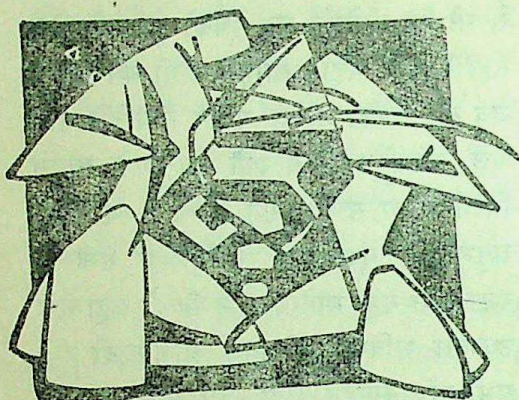
समसामयिक विचारों, व्यवहारों, घटनाओं-प्रेरणाओंके प्रसंगमें

०

कर्मलीनताके लिए

बैलका एक ठेला खाली जा रहा था। कन्धेपर बस्ता लटकाये १२-१३ सालका एक किशोर स्कूलसे लौट रहा था। ठेला उसके पाससे गुज़रा, तो किशोर धीरे-से उसके पिछले हिस्सेपर लटक गया। ठेलेमें झटका लगा, तो ठेलेवालेने देखा और उसने हलकी-सी ललकार दी—अई!

किशोर कूदकर ठेलेसे अलग हो गया, पर बालक तो बालक; ठेलेवाला अपने ध्यान-में लगा, तो बालक उचककर बहुत क़ायदेसे पिछली तरफ़ पैर लटकाकर ठेलेपर बैठ गया। ठेलेवालेका ध्यान उसकी तरफ़ गया, तो यही नहीं कि उसने एक गरम ललकार दी, यह भी कि गालियाँ बकीं। बालक ठेलेसे उतर गया।

मैं यह सब देख रहा था और दृष्टपर अदृष्ट चिन्तन मेरा स्वभाव है, तो मनमें प्रश्न उठा—जिस ठेलेपर रोज़ कई बार २०-२५ मन बोझ लदता है, उसपर ज़रा-सी दूरके लिए २५ सेरका एक बालक बैठ गया, तो ठेलेवालेको बुरा क्यों लगा?

ठेला मुझसे दूर था, तो ठेलेवालेसे कुछ कहना-पूछना सम्भव ही न था, इसलिए अपने प्रश्नका समाधान अपनेमें ही खोजना था। मैं अपने प्रश्नमें उतरा—ठेलेवालेका काम है बोझ ढोना, फिर बालकके बोझसे वह क्रुद्ध क्यों हुआ?

इस ठेलेवालेका स्वभाव ख़राब है—मनमें पहली प्रतिक्रिया हुई, पर गहरी छानबीन कर पूरी बात जाने बिना किसीके सम्बन्धमें बुरी राय क़ायम न करना मेरा स्वभाव-संस्कार है, इसलिए मनने इस कठोर प्रतिक्रियाको स्वयं मुलायम कर दिया—यह भी तो सम्भव है कि ठेलेवाला इस समय सही मूडमें न हो—उसे घरपर ठीक खाना-नाश्ता न मिला हो, और वह कुढ़ गया हो कि तमाम दिन मरने-खपनेके बाद भी पेट भूखा और मन प्यासा रहता है। इस स्थितिमें आदमीको आदमी अच्छा नहीं लगता।

मेरा मन ठेलेवालेके प्रति कोमल हो गया और मुझे याद आ गयी, पुरानी फ़िल्म जेलर। उसमें सोहराब मोदीने जेलरका

अभिनय किया था। वह जेलर जिस दिन अपनी पत्नीसे सन्तुष्ट रहता था, उस दिन क़ैदियोंके साथ अच्छा व्यवहार करता था, पर जिस दिन उसे पत्नीका सद्व्यवहार नहीं मिलता था, वह क़ैदियोंपर हण्टर बरसाता था। सोचा—शायद इस ठेलेवालेके मनकी भी आज वैसी ही स्थिति है! सचमुच मनुष्य मनका जीव है।

एक नयी सम्भावनाने मनकी खिड़कीमें झाँका—ठेलेवाला किसीका बोझ ढोकर लौट रहा हो, इसे पूरी मज़दूरी न मिली हो और इसपर कड़वी झिकझिक हुई हो, यह भी सम्भव है। मेरी आँखोंमें एक दृश्य-सा खिंच गया, जिसमें एक तरफ़ मज़दूरीके लिए अकड़ता ठेलेवाला और दूसरी तरफ़ झगड़ता दूकानदार। मैंने सोचा, ज़रूर यह ठेलेवाला अभी-अभी मण्डीमें भँझोड़ खाकर आया है और इसीलिए इसने उस किशोरको दुत्कार दिया।

बात पूरी हो गयी थी, पर पूरी हुई न थी; क्योंकि दो शब्द मनमें घूमने लगे थे—ठेलेवाला और मज़दूरी, मज़दूरी और ठेलेवाला! घूमते-घूमते दोनों शब्द अँकुराने लगे—ठेलेवालेका काम बोझ ढोना नहीं है, बोझ ढोकर मज़दूरी पाना है, यह उन अँकुरोंकी मिली-जुली वाणी थी।

अब दो नये शब्द मनमें थे—बोझ ढोना और मज़दूरी पाना और उनका यह स्पष्ट अर्थ भी—बोझ ढोना है साधन और मज़दूरी पाना है साध्य; यानी ठेलेवालेका मुख्य काम है मज़दूरी पाना, क्योंकि इससे उसका घर चलता है, जीवन पनपता है।

एक रोशनी एक साथ दिल-दिमाग़में लहक गयी – बालकका ठेलेपर बैठना इसे यों बुरा लगा कि इसमें ढुलाईका साधन तो है, पर मज़दूरी पानेका साध्य नहीं और बिना मज़दूरीकी ढुलाई ठेलेवालेके संस्कारके ही विरुद्ध है। सच तो यह कि अनुपयोगी श्रम मनुष्य मात्रके संस्कारके विरुद्ध है – कौन है, जो पहली जनवरीको अपना पुराना कलैण्डर नहीं उतार फेंकता और कौन है, जो अपरिचितसे भी नया कलैण्डर नहीं माँग लेता?

मन ठेलेवालेसे—व्यक्तिसे—हटा, तो राष्ट्रमें—समष्टिमें—चला गया और तब यह सूत्र उतरा—कर्मकारको सन्तुष्ट और कर्मलीन एवं कर्मप्रवीण रखनेका यही उपाय है कि उसके कर्मका पूरा फल मिले। उसे सदा यह विश्वास रहे कि उसके कर्मका पूरा या आधा फल कभी कोई बीचमें न हड़प सकेगा और पूराका पूरा उसे मिलेगा। साथ ही उसका यह विश्वास किसीकी दया-कृपा या सुजनताका दान न हो, उसके जन्मजात अधिकारके रूपमें उसका अपना विश्वास हो!

श्रद्धाका चिकित्सक

होली बीत गयी थी और भावनगरमें मूँगफलीका वायदा-बाज़ार खुल गया था, पर कोई व्यापारी सौदा करनेको नहीं आ रहा था। दशा यह कि बाज़ार खुलकर भी बन्द था।

क्या व्यापारियोंका वायदा-सौदेमें विश्वास नहीं रहा? या उन्होंने कोई मीटिंग-गोष्ठी करके सौदा न करनेका निर्णय कर लिया? दोनों बात नहीं। फिर? क्या यह कि बाज़ार

मन्दा है और लाभकी आशा नहीं ? ना, बाज़ार तो पूरी चांसपर है । तब ?

व्यापारियोंमें यह विश्वास बैठ गया है कि होलीके बाद जो व्यापारी सबसे पहले सौदा करेगा, उसे घाटा होगा । किसी साधुने जाने क्या सोचकर या दम्भकी किस पिनकमें भूमकर कहीं कह दिया होगा कि बातकी बातमें बात सब जगह फैल गयी और लोगोंके मनमें जम गयी ।

गाज़ियाबादमें डासनागेटके बाहर गन्दे पानीका एक जोहड़ है—बरसातमें उसमें गन्दा पानी इकट्ठा हो जाता है, फिर वह सूखा पड़ा रहता है । तो वह सूखा पड़ा था कि एक दिन उसमें पानी दिखाई दिया । बस फिर क्या था, हल्ला मच गया कि गंगामाई निकल आयी, गंगामाई निकल आयी, कहाँ गंगा—आस न पास और कहाँ गाज़ियाबादका जोहड़, पर घर-घरसे स्त्रियाँ दौड़ पड़ीं और उस पानीमें लिथड़ने लगीं, कुछ उस पानीको बरतनोंमें भर ले गयीं, कुछने वहाँकी मिट्टी भी उखाड़ ली । दूसरे दिन गंगामाई सूख गयीं, क्योंकि पासके गन्दे नालेमें ज्यादा पानी आ जानेसे जो पानी इस जोहड़में रिस आया था, वह सूख गया, चुक गया ।

यह सब क्या है ? यह अन्धी श्रद्धाका टोटका है । श्रद्धा जीवनतत्त्व है, जो व्यक्तिकी हीनताको महत्तासे जोड़कर ऊँचा उठाती है । अन्धी श्रद्धा रोग है, क्योंकि वह व्यक्तिको कल्पित विशिष्टतासे जोड़ देती है । श्रद्धाका संगी है अनुभव, जो विवेकका पिता है और अन्धी श्रद्धाका संगी है अन्धविश्वास, जो अविवेक-का पिता है ।

अन्धी श्रद्धा रोग है । उसे चिकित्सककी खोज है । कई शताब्दी पहले, जब भारतीय समाज विश्रृंखल हो चला था, तो भाग्यसे कुछ सन्त-चिकित्सक जन्मे थे । उन्होंने श्रद्धाकी अन्धता दूर करनेका काम नहीं किया था, पर उस अन्धी श्रद्धाको ही समाजकी बिखरती शक्तियोंको रोकनेके काममें लगा दिया था – जैसे ऑपरेशनके लिए क्लोरोफ़ॉर्म ।

नवयुगके दो महापुरुषों – दयानन्द और गान्धी – ने इस रोगकी अपने-अपने ढंगपर चिकित्सा की थी, उससे लाभ भी हुआ है, पर रोग गहरा है और नये चिकित्सककी प्रतीक्षा कर रहा है ।

और यह क्या है ?

मान्य श्रीप्रकाशजीने अपने संस्मरणोंमें उस समयके अनुभव लिखे हैं, जब वे पाकिस्तानमें हाई कमिश्नर थे । उनका एक अनुभव इस प्रकार है – "कहते हुए दुःख होता है, पर वस्तुस्थिति यही थी कि जब (अपहृत) हिन्दू स्त्रियोंको (सरकारी प्रयत्नोंके द्वारा पाकिस्तानके घरोंसे) निकालकर भारत भेजा जाता था, तो उनके कुटुम्ब उन्हें स्वीकार नहीं करते थे । ऐसी अवस्थामें वे अवश्य ही यह चाहती थीं कि उन्हें नये मुसलमान घरोंमें पहुँचा दिया जाये । जिन मुसलमान स्त्रियोंको भारतसे वापस लाया जाता था, उन्हें उनके कुटुम्ब फ़ौरन स्वीकार कर लेते थे । यदि वे गर्भवती भी होती थीं, तो कोई प्रश्न नहीं पूछा जाता था । माता और सन्तति

दोनोंको ही इसलाम-समाजमें ले लिया जाता था।"

यह क्या है? क्या यह भी अन्धश्रद्धा ही है? ना, यह अन्धश्रद्धा नहीं, यह मानसिक जकड़न है। अनुचितको उचित और अशुभको शुभ मानकर जहाँ हम ग्रहण करते हैं, वहाँ अन्धश्रद्धा है, पर जहाँ हम अनुचित-को अनुचित और अशुभको अशुभ मानकर भी छोड़ नहीं पाते, वहाँ मानसिक जकड़न है, अन्धश्रद्धा नहीं।

दुलहिन परदा करती है, पर अकेले बाज़ार जाती है तो खुले मुँह। उसका दुलहा घरमें परदेका विरोध नहीं करता, पर पत्नीको लेकर सिनेमा जाता है, तो खुले मुँह। स्पष्ट है कि दोनों परदेको उचित नहीं समझते, पर यह मानसिक जकड़न है कि छोड़ते उसे दोनों नहीं। १९३० में गान्धीजीने पिकेटिंगका काम स्त्रियोंको सौंपकर इस जकड़नपर गहरी चोट की थी और उसके चमत्कारी परिणाम हुए थे, पर वह चोट उनके साथ ही चली गयी। विधवा-विवाह, अस्पृश्यता-निवारण, दहेज और यों पूरा समाज-सुधार मानसिक जकड़नका शिकार है। इस युगकी सबसे बड़ी राष्ट्रीय समस्या ही यह है कि हमारी यह मानसिक जकड़न कैसे टूटे? हम शारीरिक रूपसे जिस युगमें जी रहे हैं, मानसिक रूपसे भी उसी युगमें कैसे जियें? हमारा यह खण्डित व्यक्तित्व कैसे एक समग्र व्यक्तित्वका रूप ग्रहण करे? असलमें यह हमारे जीवन-मरणका प्रश्न है; क्योंकि हमारा भविष्य इसीपर निर्भर करता है।

यह द्रविड़ प्राणायाम

उत्तर गुजरातके पटना नामक क़स्बेमें रहनेवाले एक युवकने देवीके नाम एक पत्र लिखा कि मैं चीनियोंको मेकमोहन रेखाके पार भगाना चाहता हूँ और पाकिस्तानमें हिन्दुओंपर हो रहे अत्याचारोंका बदला लेना चाहता हूँ। इसलिए मैं नया जन्म लेनेको यह जीवन समाप्त कर रहा हूँ। और उसने आत्महत्या कर ली।

उस भावुक युवककी भावनाका अभि-नन्दन, पर उसका कार्य तो द्रविड़ प्राणायाम है; क्योंकि जीवनका सत्य यह है कि आत्म-हत्या करनेवाले नहीं, आत्माहुति देनेवाले ही अत्याचारोंका अवरोध किया करते हैं।

यह खेल

पिछले ६० वर्षोंमें मुक्केबाज़ी (बौक्सिग) में साढ़े चार-सौ आदमियोंकी मृत्यु हुई है, फिर भी उसे खेल कहा जाता हैं और सभ्य समाज उसमें रस लेता है। सचाई यह कि फ्री स्टाइल कुश्ती और मुक्केबाज़ी बर्बर-कालीन अभिरुचिके अवशेष हैं, जब शारी-रिक बल ही सब कुछ था और इनके मैचोंमें जो भीड़ लगती है, वह इस प्रश्नपर विचार करनेका एक उत्तम निमन्त्रण है कि आज भी हममें कितना जंगलीपन है?

•

पुनश्च

०

सम्पादकके नाम आये कुछ सब-रस पत्र

०

प्रथम अप्रैलके सन्दर्भमें

एक सरकारी विभागके सहकारीने किसी दस्तावेज़पर, जो उसके लिए नहीं था, संक्षिप्त हस्ताक्षर कर दिया। फ़ाइल उसके प्रवर अधिकारीके पास पहुँची तो उसने लिखा : हस्ताक्षर मिटा दो और मिटानेके लिए हस्ताक्षर कर दो !

—**ए० के० सेनगुप्त**
(स्टेट्समैनसे साभार)

लॉरी-साहित्य !

ग्राण्ड ट्रंक रोडपर चलनेवाली लारियोंके पीछे तुकबन्दियाँ लिखी रहती हैं उनमें पर्याप्त उक्तिवैचित्र्य रहता है। व्यंग्य और परिहासके अतिरिक्त इनमें कभी-कभी 'ज़िन्दगीका फ़िलसफ़ा' भी मिलता है। कुछ नमूने देखिए :

'ज़िन्दगी जब तक रहेगी
.फ़ुर्सत न होगी काम से
कुछ समय ऐसा निकालो
प्यार कर लो धैर्य से !"

या

".ख़ुदा ग़ारत करे मोटर बनानेवालों को
घर से बेघर बनाया मोटर चलानेवालों को"

—**सलिल घोष**

कुछ इन टुकड़ोंका भी मुलाहज़ा करें :

"बच्चों को सड़क पर मत खेलने दो।"
"फिर मिलेंगे !"
"अनार कली, भर के चली।"
"मोटर चलाओ, खाओ-पियो और मज़े करो।"

—**शब्बीर अहमद**

एक बार ग्राण्ड ट्रंक रोडकी बग़लमें ही एक खाईमें गिरी लारीके विण्डस्क्रीनपर लिखा मिला—"हे राम !" और कुछ आगे बढ़नेपर देखा कि दो लारियाँ आपसमें टकरायी पड़ी हैं। उनमें-से एकके बग़लवाले तख्तेपर लिखा था : 'भगवान् एक तेरा सहारा !'

—**जी० के० पाण्डे**

आसाम ट्रंक रोडपर (राष्ट्रीय सड़क—३७) सोनारपुरके नज़दीक एक लारीपर लिखा था :

"बुलबुल की ज़िन्दगी है
चम्पा की डाल में !
ड्राइवर की ज़िन्दगी है
मोटर की चाल में !"

—**अरुण एस० भादुड़ी,**
(स्टेट्समैनसे साभार)

जज-जनके सदन

'झोंपड़ा-पट्टी और उपेक्षित वस्ती जनता परिषद्, बम्बई'के सभापतिने लन्दनकी नक़ल-पर यहाँ भी आवास-समस्याको पूर्व-विरचित (फैब्रिकेटेड) मकानों-द्वारा हल करना चाहा है। अगर इन पूर्व-विरचित मकानोंके खण्डों या अंशोंका आयात अमरीका और इंग्लैण्डसे किया गया तो यह निहायत नासमझीकी बात होगी।

वस्तुस्थिति यह है कि यहाँकी निर्धन जनताकी आवास-समस्याका समाधान भारतके कारखानोंमें बने सिमेण्ट-कंक्रीटके ढाले हुए मकानोंसे भी नहीं हो सकता। उसके लिए ऐसे मकान चाहिए जो ख़ूब सस्ते हों और ख़ूब टिकाऊ हों।

अभी कुछ दिन हुए एक भारतीयने एक फ़ार्मूला ईजाद किया जिसके अनुसार मिट्टी और 'ए-बी-सी' (मकान बनानेमें काम आनेवाली एक चीज़ जो हमारे यहाँ बहुत काफ़ी मात्रामें उपलब्ध है) मिलानेपर (पानीसे, १.१२ के अनुपातमें) मज़बूत और कम क़ीमती मकान तैयार हो सकते हैं। यह तरकीब महाराष्ट्र सरकार और बम्बई हाउसिंग बोर्डके समक्ष पेश की गयी है। इस फ़ार्मूलेपर अमल करके लोग अपने-आप भी मकान बना सकते हैं और बड़े पैमानेपर ये कारखानोंमें भी पूर्व-विरचित रूपमें तैयार किये जा सकते हैं। अब यह हाउसिंग बोर्डपर निर्भर करता है कि वह कितनी तत्परताके साथ इसका व्यावहारिक प्रयोग करता है।

—सी० एस० पिल्लई
('टाइम्स आव इण्डिया', बम्बईसे साभार)

रवीन्द्रनाथ और यामिनी राय!

यह कहना ग़लत है कि यमिनी राय-की कृतियाँ देखते ही गुरुदेव उछल पड़े। रवीन्द्रनाथ ठाकुर सदा ही चुपचाप और धीरे-धीरे चलते थे। उनकी यह आदत, जवानी या बुढ़ापेमें, कभी नहीं बदली। १९१६ में न्यूयार्कके एक समाचार-पत्रमें प्रकाशित एक अमरीकी-लेखकका यह वर्णन भी इसीका हामी है :

"मैं रवीन्द्रनाथ ठाकुरसे भेंट करने जा रहा था। पर लगा कि जैसे छत-टूटी सुरंगमें फँस गया हूँ! सामने ही एक छोटी-सी लड़की एक बेगुनाह लड़केको पगलीकी तरह गालियाँ दे रही थी और वह बेचारा शर्मके मारे गड़ा जा रहा था। भीड़का दबाव ऐसा था कि गाड़ी मेरा स्टेशन पार कर गयी और मैं उतर नहीं पाया, फिर बड़ी मुश्किलसे धक्कम-धुक्का करके उतरा। ज्यों ही ज़मीनपर पैर रखा कि एक टैक्सीके नीचे आते-आते बचा। टैक्सीवालेने चौराहेके सिपाहीका इशारा नहीं माना था, सीटीकी परवाह नहीं की। फिर मुझे एक दरबानने घुड़की दी, मैं भी उसपर घुड़का और मैंने अपने वहाँ जानेके हक़का भरपूर सबूत दिखाया तो एक आरामदेह रोशनीवाले कमरेमें बिठाया गया। मुझे यहीं बैठकर उन भाव-

योगी कविकी प्रतीक्षा करनी थी। सारी परेशानियोंको मैंने कन्धे मटकाकर झाड़ दिया चूँकि वे इतनी परिचित थीं कि उनपर ध्यान देना व्यर्थ था। वास्तवमें उनपर मैं अभी कुछ सोच नहीं पाया था कि मैंने रवीन्द्रनाथ ठाकुरको देखा। वे रूममें इतनी निःशंकतासे आये थे कि यद्यपि मैं उनकी प्रतीक्षामें था फिर भी चौंक पड़ा। कविकी दाढ़ी और चोग़ाने मुझे इतना नहीं चौंकाया था और न उनके निःशब्द प्रवेशने ही। सर्वाधिक विस्मयकर थी वह सुगम्भीर शान्ति जो उनके अन्तस्‌से छिटकी पड़ रही थी, जिसके समक्ष पहलेकी वह सारी तबालत ऐसे विलीन हो गयी जैसे कि बड़े गिर्जाघरमें चीख़-पुकार हो जाती है।"

कवीन्द्रको जीते-जी अपनी चित्रकारिताकी बहुत अधिक प्रशंसा सुननेको नहीं मिली थी। बहुत कम व्यक्ति थे जो उनके चित्रोंके प्रशंसक कहे जा सकते। अन्यथा उनके बहुतसे भक्त तो यही कहते थे कि ऐसे विश्व-विश्रुत व्यक्तिका यह रंग और तूलिकासे खेलना बहुत ही खतरेका काम है।

—मैत्रेयी देवी

(स्टेट्समैनसे साभार)

धन्यवाद-ज्ञापन

साड़ियोंकी दूकानमें घुसकर एक महिला दुकानदारसे कहने लगी, "क्या आप अपने 'विण्डो-केस'से वह साड़ी बाहर कर लेंगे जिसकी लाल ज़मीनपर हरे-हरे फूल हैं?"

दूकानदार ख़ुश होता हुआ बोला, "क्यों नहीं!" और वह विण्डो-केसकी ओर बढ़ा।

तभी महिला दूकानसे बाहरकी ओर जाती हुई बोली, "धन्यवाद, मुझे इस तरहकी चीजें हमेशा परेशान करती हैं—देखते ही ख़रीदनेको मन करने लगता है। अब मैं आरामसे इस सड़कपर आ-जा सकूँगी।"

साहित्यार्चन

अर्द्धशती

कवि : बालकृष्ण राव;
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी;
पृष्ठ-संख्या ९०; : मूल्य : ३.००
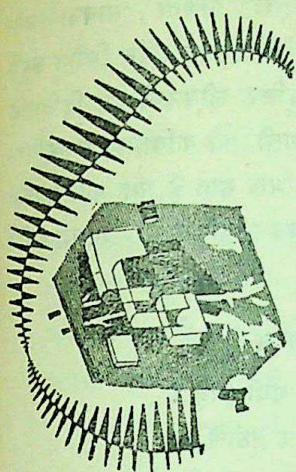
'अर्द्धशती' हिन्दीके प्रौढ़ चिन्तक, विचारक एवं प्रातिभ कवि श्री बालकृष्ण रावकी पचास नयी कविताओंका संग्रह है। श्री राव एक अरसेसे कविता लिखते रहे हैं और नयी कविताके रूपमें अपनी काव्य-धाराको प्रत्यावर्तित करनेके परिपार्श्वमें उनकी कोई आन्दोलनात्मक भावना कार्य करती रही हो, ऐसी बात नहीं है। आधुनिक जीवनके विषम वातावरण एवं युगकलनके संतरणकी आहट पहचानकर ही उन्होंने परम्परित कविताकी लीकपर ही आगे बढ़कर नयी कविताके मूल्यों, प्रतीकों एवं अभिरुचिके विविध आयामोंका स्वागत किया है। फलतः रावकी 'अर्द्धशती' की कविताओंमें परम्परागत काव्यकी कमनीयताका आवेष्ठित द्रव्य उतना ही है, जितना नयी कविताकी नव्यतम उपलब्धि, जो सहज रूपमें इन कविताओंमें बिना किसी प्रयत्नके आ गयी है। 'अर्द्धशती' का कवि एवं उसकी कविताका मूल्यांकन किसी विशिष्ट भंगिमासे नहीं कर कविताकी सहजतम भावभूमिपर अपेक्षित है जो सदासे काव्यका आधार रहा है। नयी कवितामें दुरूहता, क्लिष्ट प्रेषणकी प्रतीकात्मक पद्धति तथा चिन्तन एवं विचारके नामपर अपाच्य अधीत द्रव्योंका जो अनमेल ताना बुना जाता रहा है, उन सारे दोषोंका निराकरण प्रस्तुत संग्रहकी कविताएँ करती दिखाई पड़ती हैं। अभिधात्मक वाक्य-रचनाके माध्यमसे, छोटे खण्डचित्रों एवं सहजताको उपस्थित करते हुए जीवनके विराट् फलकको कवि बड़ी आसानीसे रख सका है। यही उसकी अन्यतम सफलता है। 'अर्द्धशती'की कविताओंका सौन्दर्य उसके शब्दावरण एवं वाक्य-विदग्धताकी अपरम्परित रचनात्मक प्रणालीमें नहीं है वरन् 'अर्द्धशती'की कविताओंमें एक सहजात्मक विच्छित्ति मिलती है, जो विश्वके श्रेष्ठतम काव्योंके लिए

भी महत्त्वपूर्ण माना गया है। इन कविताओंको पढ़ा जायेगा, लेकिन उससे भी ज्यादा इसका महत्त्व इस अर्थमें है कि यदि इन्हें अनुभव किया जाये तो इसके विविध आयामोंका अर्थ अधिक खुलकर समझमें आ सकता है। 'कौन जाने', 'कुछ तो कहोगे ही', 'प्रश्न और उत्तर', 'फूल ही तो थे' 'उत्तर न होगा वह' 'पदचिह्न', 'पाषाण-कारा', 'चाँदनीमें', 'धुरी हो या चक्रनेमि' इत्यादि कविताएँ मेरे मन्तव्यको अधिक स्पष्ट करनेमें समर्थ होंगी।

जीवनके युगबोध और आधुनिक परिवेशके संतुलनकी आवाज़को अर्थवती बनाकर उपस्थित करनेमें 'अर्द्धशती'की कविताओंका विशेष महत्त्व है। 'पाषाणकारा'में कवि कहता है :

उठो शिल्पी, उठो सुन लो
तुम्हें पाषाण-कारा से
न जाने आज
कितनी मूर्तियाँ
आवाज़ देती हैं।

नयी कविताके सम्बन्धमें कुछ लोगोंका आक्षेप है, इसमें जीवनका असन्तुलन एवं असंगतियोंको ही वाणी मिली है, आस्था एवं ओजका अभाव है। परन्तु नयी कवितामें आस्थामूलक प्रवृत्ति इधर पिछले दशककी कविताओंमें तीव्रताके साथ उभरी है—जिनमें श्री रावकी देन विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस संग्रहकी अधिकांश कविताओंमें पौरुषकी चिन्तना एवं आस्थाका अविराम चिन्तन है जो बड़े ही प्रखर रूपमें स्पष्ट हो सका है। 'मील देवी', 'प्रयोगशाला', 'पात्रता', 'सावधान जननायक', 'आँधी' में इसका दर्शन विशेष रूपमें होता है। आधुनिक जीवनकी इस विविधाके बीच भी 'अर्द्धशती' की कविताओंके कविको एक सहज पथ मिल गया है, यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, स्वयं कविने भी शायद इसीसे लिखा भी है :

इतने अँधेरे में भी
तुझे मिल गयी राह !
आह, नक्षत्र हठीले !
ऐसे घिरे हुए नभ में भी
तूने खोज निकाली
यह छोटी-सी खुली हुई खिड़की
अब जिससे
देख रहा है—दीख रहा है।

('इतने घने अँधेरे में भी'–पृष्ठ २३)

श्री बालकृष्ण रावकी इन कविताओंको पढ़ते समय नयी कविताके काम्य रूपकी कल्पना सहज ही जाग उठती है और मनको यह विश्वास होता-सा दिखाई देता है कि अब जो नयी कविताकी भविष्यमें रचना आयेगी उसका शिल्प यही होगा जो 'अर्द्धशती' की कविताओंमें संकेतित हो रहा है। बौद्धिक विचारणा एवं चिन्तनात्मकताकी रक्षा करते हुए भी सहजरूपमें कुछ कहा जा सकता है, जो कविता ही है, उसका उदाहरण 'अर्द्धशती'में मिलता है। नयी कविताके संग्रहोंके बीच 'अर्द्धशती' अपरम्परित ही मानी जायेगी लेकिन इस अर्थमें कि उसने अभिव्यक्तिका एक नया माध्यम दिया है, जो

अपरिचित-सा होकर भी दूसरोंके लिए अनुकरणीय चुनौती है। अन्तमें 'अर्द्धशती' की उम्रको पार कर गये अग्रज कवि श्री बालकृष्ण रावके शब्दोंमें नयी कविताके कवियोंको कहना चाहेंगे :

गा विहंगम ! गा सके तो गा !
लुट गया मधुमास का माधुर्य ? तो क्या
कण्ठ में स्वर है, अगर तो
आत्म-निर्भर हो, निडर हो—गा ! !

—कृष्णनन्दन 'पीयूष'

एक इंच मुस्कान

लेखक : राजेन्द्र यादव : मन्नू भण्डारी; प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली; पृष्ठ-संख्या : ३२७; मूल्य : ६.००

सहयोगी उपन्यासोंका लेखन और प्रकाशन, प्रयोगकी दृष्टिसे हिन्दीमें महज़ कुछ वर्ष पूर्व ही प्रारम्भ होता है। 'बारह-खम्भा' के प्रयोगकी असफलताके बाद भी 'ज्ञानोदय'ने एक और क़दम उठाया। 'एक इंच मुस्कान' इसी प्रकारका एक और प्रयोग था जो 'ज्ञानोदय'के माध्यमसे ही सामने आया। सहयोगी रचनाकारोंके नाम देखकर लगा था कि चाहे और कुछ हो न हो कम-अज़-कम उपन्यास महज़ नुमायशी होनेसे बच सकेगा। लेकिन उसके ख़त्म होनेके बहुत पूर्व ही लगने लगा कि 'ग्यारह सपनोंका देश' की बहुत-सी समस्याओं और भूलोंको ज्योंका-त्यों दोहराया जा रहा है – कि वे समस्याएँ शायद महज़ इस या उस उपन्यासकी समस्याएँ नहीं हैं वरन् पूरे सहयोगी लेखनकी कुछ मौलिक – और किसी हद तक अनिवार्य-समस्याएँ हैं।

ऐसे सहयोगी प्रयासोंमें बहुधा सबसे शक्तिशाली तत्त्व प्रयोगकी अनिवार्य चेतना होता है। 'एक इंच मुस्कान' अपने पूर्ववर्ती सहयोगी उपन्यासोंसे इस मानेमें थोड़ी भिन्नता रखता था कि इसमें प्रयोगका क्षेत्र सीमित था। सिर्फ़ दो व्यक्तियोंके बीच और ये सहयोगी लेखक इस मानेमें भी कुछ बेहतर स्थितिमें थे कि 'ग्यारह सपनोंका देश' की तरह उनके आगे किसी निर्दिष्ट और पूर्वनियोजित उद्देश्यका अभाव नहीं था। 'एक इंच मुस्कान'में दो व्यक्तियोंके अलग-अलग क्षेत्र थे, चरित्रोंको देखने-समझनेके अलग-अलग कोण थे। शुरूमें ही लगने लगा था कि चाहे और कुछ हो न हो मध्यवर्गीय समाजके कुछ प्रतिनिधि पात्र इसमें अवश्य मिलेंगे। और इसमें कोई शक नहीं कि अपनी सारी सीमाओं और खामियोंके बाद भी वे मिले। लेकिन प्रयोगकी चेतना उनके सारे अन्य तत्त्वोंके ऊपर हावी रही। मन्नू भण्डारी-के पास उपन्यासकी एक निश्चित रूपरेखा थी – एक शीर्षक भी था – समस्याएँ थीं और उन्हें देखनेके कुछ निर्दिष्ट कोण थे। और इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती कि उसमें-से यदि राजेन्द्र यादववाले अंशको एकदम निकाल दिया जाये तो भी मन्नू भण्डारीका अंश उपन्यासका वह रूप एकदम नहीं है – नहीं हो सकता – जब उसे अलगसे सिर्फ़ वह लिखतीं। फिर पत्रिकाके

सम्पादकोंकी विज्ञप्ति भी यही थी कि वह एक नवीन कथा-प्रयोग है – शायद इसने भी किसी हद तक लेखकोंको गुमराह किया हो – मतलब यह कि मुमकिन है उसने उनके प्रयोग-बोधको और गहराया हो। और इस अनिवार्य अस्वस्थकर चेतनाका परिणाम और अन्तर्भूत प्रभाव केवल उपन्यासके शिल्प या बाहरी ढाँचेपर ही नहीं पड़ा, इसने उपन्यास-की आत्माको भी बुरी तरह झकझोरा है।

'एक इंच मुस्कान'में जैसे अमलाकी यह मनोवृत्ति 'उत्सुकताको पहले चरम तक ले जाना और फिर एक झटका देकर अलग कर देनेका खेल···' अनजाने ही दोनों लेखकोंपर हावी रही है और उनके लेखनको प्रभावित करती रही है। और इस 'खेल'के नतीजेके तौरपर उपन्यासने बहुत-कुछ खोया है। राजेन्द्र यादव और मन्नू भण्डारी अपने हिस्सेके लेखनसे अधिक रुचि इसमें लेते रहे हैं कि सहयोगी (? –राजेन्द्र यादवने अपने वक्तव्यमें स्पष्ट स्वीकार किया है कि सह-योगीसे अधिक वे प्रतियोगी हो उठे थे, भले ही उन्होंने बात एक अलग सन्दर्भमें कही हो, यहाँ भी वह उतनी ही सच है) लेखकके लिए जादूगरकी पिटारी खोलकर कितना बड़ा अजूबा और करिश्मा पेश कर सकते हैं! और शायद उनकी आँखें उस भीड़पर भी एकटक लगी हैं जो उन्हें चारों ओरसे घेरे खड़ी है और उनके खेलका लुत्फ़ ले रही है!

अनावश्यक तौरपर झटका देनेकी यह प्रवृत्ति उपन्यासका क्रमबद्ध और वास्तविक विकास प्रस्तुत नहीं करने देती, घटनाओं और स्थितियोंका निर्वाह तर्क-संगत नहीं हो पाता है और पात्र शतरंजके मोहरोंकी तरह प्रयोगकर्ताओंकी उँगलियोंपर फिसलते रहते हैं। उनका सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि यह जानलेवा फिसलन कभी खत्म होनेमें ही नहीं आती है और अन्तमें उन्हें अथाह सागरमें ले जाकर डुबा देती है।

पहले अध्यायमें ही (जो दरअसलमें उपन्यासका अन्तिम अध्याय है) राजेन्द्र यादवने सारे सूत्रोंको वैसे ही बिखेर दिया है जैसे कैरमके बोर्डपर पहला स्ट्राइकर मारकर सारी गोटियोंको खोल दिया हो। बहुत आगे निकलकर जीवनके किसी मोड़पर खड़े होकर प्रकाशके एक आयताकार चौखटके बीचसे अमरको अपना अतीत कैसा लगता है, राजेन्द्र यादवने पहले अध्यायमें इसके ही कुछ संकेत-सूत्र दिये हैं। रंजना और अमला-के नाम भी उसमें आये हैं और उस अंशसे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि सारी कहानी-को इन्हीं दो धुरियोंके बीच घमना है। लेकिन आगेके अध्यायोंमें चरित्रोंका विकास किसी हद तक अप्रत्याशित और क्रमशः असहज होता गया है। अमलाकी मृत्युका संकेत हो चुका है; अब मालूम नहीं उसका ज़िक्र करते समय आगे उसका क्या रूप उसके परिचयदाताने सोचा होगा। क्या उन्होंने दो अमलाओं – पत्रोंकी अमला और वास्तविक अमलाके दोहरे अस्तित्वकी कल्पना की होगी ? क्योंकि पहले अध्यायमें किसी स्पष्ट संकेतके लिए कोई स्थान नहीं था,

मन्नू भण्डारीने उसे मनचाहे ढंगसे गढ़ा है। ऐसे ही दूसरे अध्यायमें मन्नू भण्डारीने कैलाश-के रूपमें एक नये पात्रका संकेत दिया है और उसका विकास हुआ है अगले अध्यायसे राजेन्द्र यादवके हाथों। कौन कह सकता है कि मन्नू भण्डारीका कैलाश भी साढ़े छह फ़ीटका आदमी होता जो अब अमलाके पीछे खड़ा ऐसा लगता है जैसे सीढ़ियोंपर खड़ा हो और अमर जिसे देखकर मन-ही-मन हँसता है कि साथके लोगोंसे एक फुट सिर उठाये यह कैसा लगता होगा! किसी हद-तक पात्रोंका यह बाह्य अन्तर बेमानी हो सकता है लेकिन दिक्क़त तब पैदा होती है जब निर्माणकी इस दोहरी प्रक्रियाके बीच पात्र एक अजब-सी अप्रीतिकर स्थितिसे गुज़रता है और उसके मनोविज्ञानके सूत्र ही या तो गड़बड़ा जाते हैं या फिर स्वयं टूटकर उसे भी अनिवार्य रूपसे तोड़ देते हैं। ऐसी स्थितिमें पात्रोंको एक अर्थहीन बिखराव और कशमकशकी ज़िन्दगी जीनेको मजबूर किया जाता है। रंजनाकी ट्रेजैडीका बदला लेनेके लिए मन्नू भण्डारीने अमरको जितना ज़लील किया है, रंजनाके गर्भस्थ शिशुका अबार्शन कराके, लेखिकाकी सारी कोशिशोंके बावजूद—और शायद उन कोशिशोंके कारण ही अधिक—अमरके प्रती वितृष्णाका भाव पैदा नहीं होता है। क़दम-क़दमपर यह भाव कचोटता रहता है कि वह स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं है, किन्हीं अनिर्दिष्ट शक्तियोंसे संचा-लित वह सबकुछ कर रहा है जिसका उससे कोई वास्ता नहीं—जिसका दायित्व और ज़िम्मेवारी उसकी क़तई अपनी नहीं है और स्वतन्त्र होनेपर शायद वह कभी भी वह कुछ नहीं करता। रंजनाके प्रति लेखिकाका अतिशय आतमभाव और उसकी स्थितिसे उसका तादात्म्य रंजनाके चरित्रको सहजता तो देता है लेकिन वह सहजता कलाकी क़ीमतपर मिली सहजता है। कलात्मक तट-स्थता और पात्रोंके वैज्ञानिक विकासके सि-द्धान्तको लेखिकाने एकदम खूटीपर टाँग दिया है और अमरके प्रति हुए अन्यायको न केवल निर्लिप्त भावसे देखती रही है वरन् खूब तैयार होकर उसने उस अन्याय और असंगतिको गहराया है। हेन्चर्ड और फ़ॉरफ़्रे-के समानान्तर विकासमें ही हार्डीकी कलाके दर्शन होते हैं। इस प्रकार एकका विकास दूसरेके विकासको कुण्ठित न करके एक अधिक सार्थक और अनिवार्य पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। इस मामलेमें राजेन्द्र यादवने अधिक ईमानदारी, संयम और तटस्थतासे काम लिया है।

लेकिन सहयोगी लेखनकी इन कितनी ही अनिवार्य सीमाओं-समस्याओंके बावजूद 'एक इंच मुस्कान'में बहुत कुछ ऐसा है जो उसे महान् न सही, पठनीय, रोचक और महत्त्वपूर्ण कृति बनाता है। राजेन्द्र यादव और मन्नू भण्डारीके अपने-अपने अध्याय, उनका लेखकीय दृष्टिकोण, चरित्रों और समस्याओंके प्रति उनकी 'अॅप्रोच', लेखनकी उनकी अलग-अलग प्रक्रिया आदिको स्पष्ट करते हैं। दोनों ही सहयोगी रचनाकारों-द्वारा प्रणीत अध्याय लेखकोंके प्रतिनिधि

रूपको रेखांकित करते हैं। आधुनिक लेखकों-में राजेन्द्र यादव उन थोड़ेसे लेखकोंमें हैं जो प्रारम्भसे ही अर्थपूर्ण चिन्तनका आग्रह लेकर बढ़े हैं—एक साफ़-शफ्फ़ाफ़ दृष्टि उनकी मौलिक विशेषता है। पारिवारिक और वैवाहिक जीवनके बीच कलाकारकी अनिवार्य ट्रैजैडी और उससे उद्भूत विकृतियाँ एवं कुण्ठाएँ राजेन्द्र यादवने बड़े आकर्षक और कन्विंसिग ढंगसे प्रस्तुत की हैं और कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण नुक्तोंकी ओर इशारा किया है जो अरसेसे इस ट्रैजैडीके मूलमें रहे हैं और आज भी हैं। कथासाहित्यमें शिल्प-सम्बन्धी प्रयोग भी उन्होंने बड़ी आस्था और समझदारीसे किये हैं। प्रस्तुत कृति भी शैली और शिल्पके अनेक रूपों और विशेषताओंसे सम्पन्न है। शिल्पको कृतिके ऊपर आरोपित न करके उसकी अनि-वार्यता बना देना उन्हें खूब आता है। मन्नू भण्डारीमें अपेक्षाकृत सहजता अधिक है इसीलिए छूने और स्पर्श करनेकी शक्ति भी उनमें है। लेकिन जहाँ-जहाँ वैज्ञानिक तट-स्थताके ऊपर उनका व्यक्तिगत आक्रोश उभर-कर आया है पुस्तकमें भावुकता बढ़ी है, और पात्रोंका विकास कुण्ठित हुआ है। वैसे वह हिन्दीकी एक मात्र ऐसी लेखिका हैं जिन्होंने नारी-मनोविज्ञानको कृत्रिम और भोंड़े रूपमें प्रस्तुत करनेके विरोधमें नारा बुलन्द किया है, उनकी समस्याओं और अनुभूतियोंको उनके कोणसे समझकर प्रस्तुत किया है और कुण्ठाओं एवं वर्जनाओंके अनावश्यक सँकरे दायरोंको तोड़ा है।

—मधुरेश

मानवकी उत्पत्ति और क्रमिक विकास

मूल लेखक : माइखेल नैस्तुर्ख; प्रकाशक : आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली–६; पृष्ठ-संख्या : ४०६; मूल्य : १५.००

हिन्दीमें वैज्ञानिक पुस्तकोंका प्रायः अभाव ही है, नृ-वंश-शास्त्र सम्बन्धी पुस्तकें और भी कम हैं। इस प्रकारकी सामग्रीके अभावमें हिन्दीमें विषय सम्बन्धी मूल-शोधकी बात दूर, उसका अध्ययन भी ऊँची कक्षाओंमें सम्पन्न नहीं हो पाता। मूल हिन्दीमें जबतक ऐसी पुस्तकें न लिखी जायें तबतक यही उचित है कि इस विषयकी उत्तमोत्तम विदेशी पुस्तकों-का सरल हिन्दीमें अनुवाद प्रस्तुत किया जाये !

व्यावसायिक दृष्टिसे ऐसी पुस्तकोंका प्रकाशन साहसका काम है। पहलेसे ऐसी पुस्तकोंका बाज़ार निश्चित नहीं रहता। प्रका-शन यों भी बड़ा व्यय-साध्य होता है, फिर प्रकाशनके बाद यही सम्भावना कहाँ है कि वह किसी पाठ्यक्रममें लग ही जायेगी। किन्तु तब भी कहीं-न-कहीं तो इस कार्यको शुरू होना ही है। अवश्य ही इसके लिए जीवटका प्रका-शक ही आगे बढ़ सकता है।

इन दृष्टियोंसे प्रस्तुत पुस्तकका प्रकाशन वस्तुतः एक आशाप्रद संकेत है। मूल लेखक माइखेल नैस्तुर्ख अपने विषयके अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिके विद्वान् हैं। प्रस्तुत पुस्तकके प्रणयन-में उनकी दृष्टि शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि रही है, और बड़ी ही सूक्ष्म दृष्टिसे अबतककी उप-

लब्ध सामग्रीकी सांगोपांग समीक्षा करते हुए उन्होंने भौतिक दृष्टिसे अत्यन्त आधुनिक सिद्धान्तोंपर गवेषणापूर्ण विवेचना प्रस्तुत की है। पुस्तकका अनुवाद श्री रमेश सिनहाने किया है, जो काफ़ी प्रांजल, प्रवाहपूर्ण और बोधगम्य है। विषयको समझानेके लिए सारी पुस्तकमें चित्र, मानचित्र, तालिकाएँ आदि दी हुई हैं जिससे पुस्तककी उपादेयता बढ़ गयी है।

नृ-वंशकी उत्पत्तिके मूलका भौतिक कारण इस युगकी मानसिक-क्रान्तिका मूल कारण माना जा सकता है, जिसने हमारी युगों पुरानी धार्मिक और सांस्कृतिक मान्यताओंको झकझोर डाला है। मानव-जातिके विकासकी वैज्ञानिक प्रक्रियाको समझे बिना हम आज विश्वमें छायी हुई भौतिकताकी भावनाका हल नहीं खोज सकते। इस दृष्टिसे इस विषयके विद्यार्थीके लिए ही नहीं, सामान्य पाठकके लिए भी यह पुस्तक काफ़ी लाभप्रद होगी।

विषयके प्राविधिक शब्दोंका अँगरेज़ी रूप पाठ (text) के साथ ही दिया हुआ है। यदि इन शब्दोंको तालिका-बद्ध करके दे दिया जाता तो विद्यार्थीके लिए यह अधिक उपयोगी होता, और शायद छपाईमें कुछ पृष्ठ बच जाते। पुस्तकान्तमें यदि विषयोंकी अकार क्रम-सूची (index) भी दी जा सकती, तो पुस्तककी उपयोगिता बढ़ जाती।

इसके बावजूद पुस्तककी उपादेयता असन्दिग्ध है। यद्यपि पुस्तककी छपाई-सफ़ाई, साज-सज्जाको देखते हुए पुस्तकका मूल्य अधिक नहीं कहा जा सकता, किन्तु हिन्दी-पाठकोंकी क्रय-क्षमताके लिए तो यह कुछ अधिक ही है। अधिकसे अधिक प्रचारके लिए भी ऐसी पुस्तकोंका मूल्य सुलभ रखना आगे जाकर अधिक लाभदायक हो सकता है।

—सन्हैयालाल ओझा

•

प्राप्ति-स्वीकार

साहित्य एकाडेमी, नयी दिल्ली

डॉन क्विग्ज़ौट : अनु० छविनाथ पाण्डेय

पुतलीघर : मामा वरेरकर

साहित्य सदन, पल्टन बाज़ार, देहरादून

अधूरा चित्र : सत्येन्द्र शरत्

थके पाँव : भगवतीचरण वर्मा

अल्फा बीटा प्रकाशन, कलकत्ता

आओ खुली बयार : राजेन्द्रप्रसाद सिंह

राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

रोम्यो जूलियट और अँधेरा : निर्मल वर्मा

काला गुलाब : अमृता प्रीतम

तपस्विनी भाग—१ : क० मा० मुन्शी

बिहार ग्रन्थ कुटीर, खजांची रोड, पटना—४

दीर्घतपा : फणीश्वरनाथ रेणु

भारती ग्रन्थ भण्डार, दिल्ली

सरस्वती चन्द्र : अनु० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

जैन साहित्य सदन, दिल्ली

जैन रथयात्रा, देहलीका इतिहास

राजस्थानी शोध संस्थान, जोधपुर

परम्परा (गज उद्धार अंक) भा० १७

सृष्टि और दृष्टि

○

'ज्ञानोदय'के अप्रैल अंकमें प्रकाशित डॉ० लक्ष्मीनारायण लालके लेख 'स्वतन्त्रताके बादकी हिन्दी कहानी, उपलब्धियाँ और ख़ामियाँ'के सम्बन्धमें मुझे कहना है। लेखमें एक वाक्य है : **'आस-पासके बड़े-बड़े परिवर्तनोंके सायेमें हम लोग निरन्तर पहले से छोटे और कमीने होते जा रहे हैं।'**

'हम लोग'से यदि अभिप्राय देशकी सम्पूर्ण मानवीयतासे है तो यह ग़लत है। हमारे देशमें सम्पूर्ण रूपमें कोई एक वर्ग नहीं है। वर्गोंमें, श्रेणियोंमें बँटे लोगोंके अलग-अलग स्वार्थ हैं। निबन्धमें किस वर्गके बारेमें ऊपरका वाक्य प्रयुक्त है, यह स्पष्ट नहीं है। विषयके अनुरूप यह मान लेना पड़ता है कि लेखक-वर्गके लिए ही ऐसा कहा गया है क्योंकि आस-पासके बड़े-बड़े परिवर्तनोंके सायेमें तो निरन्तर संघर्षरत लोग भी हैं। इसी प्रकार लेखक-वर्गोंमें भी ऐसे लेखक हैं जो संघर्षसे जूझ रहे हैं। देश स्वतन्त्र हुआ किन्तु इस स्वतन्त्रताका उपभोक्ता कौन-सा वर्ग है ? क्या व्यापारी-सभ्यताको विकसित करनेवाला वर्ग नहीं ? निश्चित है— **'आज़ादीके पहले और उसके बादकी सामाजिकताके यथार्थ संघर्ष और उसके भीतरके मनोविज्ञानसे लगाव (जिस चेतनाका) या उसने इस नये युगमें यह स्पष्ट अनुभव किया कि आदर्शकी जिस अटारीपर चढ़कर मसीहाने रामराजका कुतुब खड़ा किया था वह उन्हींके आगे ढह गया।'**

सवाल है कि क्या हिन्दी कहानीका स्वर उस आदर्शको ढाहनेके कारणों या वर्गों या व्यक्तिके बदलते मनोभावोंको सामने लाती है? वह ढहा आदर्श क्या है — रामराजका नियोजन-आयोजन। इसमें आगे बढ़कर किस वर्गने हाथ बँटाया? व्यापारी-सभ्यताके मसीहाने नहीं क्या? उसका स्वार्थ था रामराजका आदर्श ढह जाये, वह ढह गया। उसने संस्कृतिको सँवारनेका बीड़ा उठाया, उसने साहित्यको दिशा देनेके लुभावने साधन जुटाये और कलाका कृतियोंके रूपमें उत्पादन शुरू किया। इस पराजयसे नत हो गये लोगों या लेखकोंने अपने हीन-भावको छिपाते हुए नये सिद्धान्तोंकी रचना की और उनकी बन्दूक़से लैस होकर इस बातका उद्घोष किया कि वह 'माध्यम' नहीं है, वह 'नियति' है, वह स्रष्टा है। अतएव उसने कामू और सार्त्रकी कृतियोंको हिन्दी कहानीका युगबोध बनाया। विदेशकी विकसित आधुनिकताको अपने देशके अविकसित विकासमें फ़िट किया। लगा, यह सब पराया-पराया-सा है; नया भी लगा किन्तु नया सिर्फ़ शिल्पकी बारीकी थी, बोध नहीं। नहीं इसलिए कि स्वतन्त्रताके बाद जो नया मन है वह विद्रोही है, पराजय स्वीकारनेवाला नहीं है, वह संघर्षमें जूझ रहा है। इस जूझते इनसानका चित्रण, उसकी मनोदशा उसके दैनन्दिन जीवनको शिल्पके

आयामसे प्रतिफलित नहीं किया जा सकता था। इसलिए स्वतन्त्रताके बादकी उन कहानियों-को, जिनमें जड़ता, असफलता, शोषण, अन्ध-कारसे जीवनका संघर्ष और स्वस्थ मानवीय संकेत होते हैं, अविच्छिन्न करनेके लिए 'नयी कहानी' को जन्म मिला। चूँकि स्व-तन्त्रताके बाद भी उपरोक्त गुणसे अविहित कहानियाँ लिखी गयीं और लिखी जा रही हैं, इसे झुठलानेके लिए साहित्यकी दिशाको भ्रमित करनेके लिए हिन्दी कहानी-को (अन्य विधाओंको छोड़कर) ऐसे दायरेमें बाँधा गया ताकि पुराना कहकर स्वस्थ परम्परासे काटा जा सके। ऐसे, नियति-से पराजित, लेखकोंने ऐसी कहानियोंका सृजन किया जिनमें स्वतन्त्रताके बादके व्यक्ति-मनको आन्तरिकतामें डुबकाकर उसके नैराश्य, पराजय, कुण्ठाको ही देखा-निरखा। निबन्ध-में यह प्रश्न उठाया गया है कि 'पान फूल' और 'महुआका पेड़'के सशक्त और जागरूक कहानीकारकी उस संघर्षमयी सामाजिक चेतनाको क्या हुआ ?

उसे कामू और सार्त्रकी किताबों-द्वारा प्राप्त आधुनिकताके मोहने नहीं डसा, ग्राम-जीवन-की यथार्थ सामाजिकताकी संघर्षमयी चेतना-में जीना उसे हेय भी नहीं लगा और न उसे तथाकथिक 'आधुनिकता' सम्मानजनक और मूल्यवान् लगी बल्कि उसने, उस-जैसे अनेकों कहानीकारोंने, बरसातके छोटे-से बादलके टुकड़ेको अपनी ऊष्मासे पिघल जाने-का अवसर दिया ताकि वास्तविक वर्जना धुल जाये, घुल जाये। और वह धुलता और धुलता लग रहा है। विश्वास न हो तो निबन्धकार परिमल-कहानी-गोष्ठीकी चर्चा-पर गौर करें और 'ज्ञानपीठ पत्रिका'के मार्च अंकमें प्रकाशित 'ज्ञानपीठ गोष्ठी'की रिपोर्ट पढ़ें। और कि एक पुरानी और घिसी-पिटी बातपर गौर करें, वह यह कि अपनी परम्परासे कटनेका तात्पर्य है, अपने आपसे कटना। जिसका कमोवेश प्रमाण निबन्धकार स्वयं हैं। क्योंकि उन्होंने भी अपने इस निब-न्धमें सही निष्कर्षको इंगिति न देकर वही रेडीमेड लिस्ट पेश की है जो हिन्दीके तथा-कथित आलोचक पेश करते रहे हैं।

कलकत्ता —छेदीलाल गुप्त

०

दो दिन पहले एक मित्रने फ़रवरी ६४ का अंक दिखाया। उसमें 'सहचिन्तन'में आदरणीय श्री प्रभाकरजीके नोट पढ़े। सर्वोदय-आन्दोलनके सम्बन्धमें उन्होंने जो कुछ लिखा है उसके बारेमें दो शब्द लिखना चाहता हूँ।

श्री प्रभाकरजीने बहुत थोड़ेमें लिख दिया कि "जो दीपक तेलंगानामें जला था वह ग्वालियरमें बुझ गया।" लगता है कि किन्हीं स्थूल उपलब्धियों तक ही श्री प्रभाकरजीकी दृष्टि है। लेकिन विनोबाजी अपने आन्दोलन-को धर्मचक्र-प्रवर्तन कहते हैं। समाजमें व्यापक त्याग-वृत्ति रूढ़ करनेके लिए निरन्तर दान-धारा बहती रहे यह उनका उद्दिष्ट है। यद्यपि स्थूल उपलब्धियाँ उपेक्षणीय नहीं हैं, वे प्रगतिके मीलके पत्थरका काम जरूर देंगी, पर आन्दोलनका मुख्य हेतु वह नहीं है।

श्री प्रभाकरजीके उद्वेगका कारण यह है कि विनोबाजीके पास कार्यकर्ता हैं, नेतृत्व नहीं। यह देखकर तो मुझे और आश्चर्य हुआ, क्योंकि विनोबाजी नेतृत्व-विमोचनको अपने आन्दोलनकी एक प्रमुख दिशा मानते हैं। वे कहते हैं : "इसके आगे नेतृत्व नहीं रहेगा, गण-सेवकत्व रहेगा। ये गण संसारकी सेवा करेंगे, आपसमें सलाह-मशविरा करेंगे, सोच-विचारकर क़दम उठायेंगे। ऐसा कोई एक नहीं होगा जिसके नेतृत्वमें ये लोग चलेंगे। सब लोग मिलकर काम करेंगे और आगे बढ़ेंगे।"

इसीलिए विनोबाजी सख्य-भक्तिपर ज़ोर देते हैं। कहते हैं : "यद्यपि दास्यभक्ति बहुत बड़ी चीज़ है, फिर भी आजका ज़माना सख्य-भक्तिका है। मित्रका नाता बराबरीका होता है। मित्र यानी समान सखा। सेवकमें और मित्रमें यह फ़र्क है कि सेवकमें उसकी समझ नहीं होती है। वह सेवा करता है। स्वामीमें जितनी समझ होती है उतनी समझ-की उसे आवश्यकता नहीं है, परन्तु मित्रमें समझ होती है। – जबतक एक नेता है तब-तक जो उठता है वह सीधे उसके पास पहुँच जाता है। बापूके साथ यही हुआ कि हर कोई सीधे उनके पास पहुँच जाता था। आपसमें सलाह-मशविरा करनेकी ज़रूरत नहीं थी। बापू जो कहते थे उसके अनुसार हम करते थे, लेकिन उनके जानेके बाद सोचनेकी ज़िम्मेदारी आयी तो अनुभवसे पाया गया कि अनुयायियोंमें अनेक प्रकारके चिन्तन चलते हैं और एक-दूसरेके साथ मेल नहीं बैठता है। पहलेसे मित्रके नाते काम नहीं किया, दास बनकर काम किया। कुछ सोचने-की ज़रूरत नहीं थी। अगर ख़ुद सोचते तो आजके सेवक बादमें अधिक शक्तिशाली बनते, क्योंकि उनके अपने काममें उनकी अपनी बुद्धि रहती।"

बिलकुल शुरूसे ही विनोबाजीकी यह भूमिका रही है वे जब शान्तिसेनाका संगठन करने लगे तब कार्यकर्ताओंके सामने नेतृत्वका प्रश्न ज़रूर आया था। तब भी विनोबाजीने कहा था : "शान्तिसेनाकी रचनामें परिपूर्ण कर्तृत्व-विभाजन है। ख़याल यह है कि सारा हिन्दुस्तान ७० हज़ार हिस्सोंमें विभाजित किया जाय और हर एक हिस्सेमें एक-एक मनुष्य रहे और वह अपनी स्वतन्त्र बुद्धिसे वहाँ काम करे। उसके लिए बुद्धिकी पूर्तिकी कोई योजना हमारे पास नहीं है। वह अपने लिए, अपने सिद्धान्तोंके लिए और उस समूहके लिए जिसका वह सेवक बना है, स्वतन्त्र रूपसे ज़िम्मेवार है। अगर वह स्वतन्त्र न हो तो वहाँ काम कर ही नहीं सकता, उसे सूझेगा ही नहीं। हर मौक़ेपर वह सवाल पूछेगा तो उत्तर देनेवाला उत्तर दे भी नहीं सकेगा। उत्तर देनेवाला उस स्थानमें तो रहेगा नहीं इसलिए पूरी ज़िम्मेदारी और कर्तृत्व विभाजित होता है। विचार-शासन उसके लिए प्रमाण है। अपने विचारसे वह सबकी निरन्तर सेवा करे, सबके परिचयमें रहे, सबके सुख-दुःखको पह-चाने, सबके सुखसे सुखी हो, सबके दुखसे दुखी हो, उसका अपना कोई सुख-दुःख न

स्वादिष्ट
स्वास्थ्यप्रद
रुचिकर
तृप्तिपूर्ण भोजन के लिये
हनुमान वनस्पति व्यवहार कीजिये।
विटामिनों से परिपूर्ण हनुमान
वनस्पति सुरूचिपूर्ण एवम्
सुस्वादपूर्ण व्यंजन
बनाने में सहायक है।
HANUMAN
MADE FROM VEGETABLE OILS ONLY
ROHTAS INDUSTRIES LTD.
हमेशा हनुमान वनस्पति ही खरीदें
हनुमान
निर्माणकर्त्ता
रोहतास इन्डस्ट्रीज लिमिटेड
डालमियानगर (बिहार)
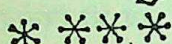
हो। मौक़ेपर अत्यन्त प्रेम-पूर्वक, निर्वैर भावसे ही नहीं, बल्कि मातृवत् वात्सल्यभावसे अपना बलिदान देनेके लिए तैयार रहे। इसके सिवा उसके पास दूसरा कोई शासन नहीं है। इस तरह विचार-शासन और कर्तृत्व-विभाजनकी परिपूर्ण योजना वहाँ होती है।"

इससे स्पष्ट होगा कि सर्वोदय-आन्दोलन नेतृत्वविमोचनका भी आन्दोलन है। इसपर नेतृत्वके अभावका दोष आरोपित करना, मेरी नम्र रायमें सही नहीं है।

आज जो कुछ हो रहा है वही सर्वोदयका असली स्वरूप है – ऐसा कहनेकी धृष्टता मैं तो क्या, कोई भी नहीं कर सकता। आजकी यह प्रक्रिया ही क्रान्ति ला देगी ऐसा भी मैं नहीं मानता हूँ। आन्दोलनका एक स्वरूप ग्रामदानके रूपमें स्पष्ट हुआ है, कैसे प्रारम्भ होकर कैसा-कैसा विकास करते हुए यह रूप निखरा यह सब जानते हैं। आज उसकी भी सरल प्रक्रिया आज़मायी जा रही है। यह खोज और प्रयोग काफ़ी समय तक चलेगा। लेकिन उसका मूलसूत्र छोड़ देनेसे कुछ नहीं चलेगा।

अधिक स्पष्ट लिखने लगूँ तो यह पत्र नहीं, लेख बन जायेगा। अभी भी यह काफ़ी लम्बा हो गया है।

मैं कोई सर्वोदयी नेता नहीं हूँ, सामान्य कार्यकर्त्ता हूँ। यह पत्र मेरा निजी पत्र है, सर्वोदय आन्दोलन या संगठनका प्रतिनिधि नहीं है। सहचिन्तनका नाम देखकर इतना लिखनेकी धृष्टताकी है।

वाराणसी

– ति. न. आत्रेय

'ज्ञानोदय' का अप्रैल अंक कुछ देरसे मिला। तो, यहाँसे वहाँ तक पढ़ गया। अकुण्ठभावसे स्वीकार करता हूँ – और सोचता हूँ, सभी करेंगे – कि प्रस्तुत अंक पिछले कई अंकोंसे अधिक पूर्ण, अधिक उच्चस्तरीय अतः अधिक महार्घ है।

निबन्धोंमें, जहाँ एक ओर, डॉ लक्ष्मीनारायणलालने अपने लेखके द्वारा स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानीकी उपलब्धियों तथा अभावोंकी ओर संकेतित करते हुए, बड़ी सूक्ष्मताके साथ, उन परिप्रेक्ष्यों, पर्यावरणों तथा जीवन-मूल्योंकी मीमांसा करनेकी चेष्टा की है, जो इसे नया धरातल देते हैं तो, दूसरी ओर, बाफ़ा यूनियलने अपने निबन्धके द्वारा यह प्रमाणित करनेका प्रयत्न किया है कि आज भी जर्मन साहित्य अपनी भव्य परम्परासे कटकर भटक नहीं गया है, वरन् 'ग्रुप ४७'के लेखक उस परम्पराकी अन्तर्ज्योतिको अक्षुण्ण बनाए रखनेके लिए कटिबद्ध हैं। सच, ऐसे निबन्धोंसे बड़ी तृप्ति मिलती है। श्री सूर्यदेव पाण्डेयका निबन्ध फ्रायड, एडलर और युंगकी ही परिधिमें चक्कर काटता रह गया है, भारतके पतंजलिका तो संकेतमात्र ही है। तुलनाके लिए तुल्य विषयोंका व्यापक ही नहीं गहरा अध्ययन भी अपेक्षित होता है। हाँ, आशालता शर्माका निबन्ध एक आत्मसजग तथा निष्ठावान व्यक्तित्वकी ही सृष्टि हो हो सकता है। जिस सरल, लेकिन मजे हुए ढंगसे उन्होंने अपने भावना-तरल विचारोंको व्यक्त किया है वह निबन्धको विशिष्टता प्रदान करता है।

'छड़ी' पहली बार पढ़नेपर अभिभूत तो करती है, लेकिन उसका कथ्य सहज ही पकड़में नहीं आता। इसलिए इसे दो बार पढ़नेकी आवश्यकता है।

सभी स्वीकार करेंगे कि 'सह-चिन्तन' स्तम्भ ज्ञानोदयका नया आकर्षण है, जो रिझाता भी है और मँथता भी। सरल और आत्मीय शैलीमें लिखा हुआ यह स्तम्भ श्लाघ्य है, वरेण्य है।

कविताएँ सब रसभीनी हैं – विशेषकर सक्सेना, माथुर, जैन और सोनवलकर की।

एक निवेदनके साथ पत्र समाप्त करूँ, वह यह कि प्रत्येक अंकमें विदेशी भाषाओंकी सरस-समर्थ रचनाएँ प्रस्तुत करनेका उद्योग करें – हो सके तो, कम-से-कम, एक निबन्ध, एक कहानी और एक कविता। तब 'ज्ञानोदय' प्रबुद्ध पाठकोंको अधिकाधिक आप्यायित कर सकेगा। इस सुरुचिपूर्ण अंकके लिए बधाइयाँ।

गिरीडीह — पारसनाथ मिश्र

०

'ज्ञानोदय'के अप्रैल अंकमें नागानन्द मुक्तिकंठकी 'सलीबपर टँगी हुई अम्माँ' पढ़ी। खेदके साथ लिखना पड़ रहा है कि यह कहानी मशहूर बीटनीक कवि एलन गीन्स-बर्गकी कवितापर, जो उन्होंने अपनी माँकी मृत्युपर लिखी है, आधारित है। इसके अतिरिक्त यही कहानी 'सारिका'के अप्रैल अंकमें ही 'भयावह संत्रास'के नामसे प्रकाशित हुई है। लेखकने बहुत ही चालाकीसे एक ही कहानीके शीर्षकको बदलकर प्रकाशित करा लिया है।

वाराणसी —वंशीधर राज

[पृष्ठ ८ का शेष : आत्माके अस्तित्वकी समस्या]

जीवनका व्यक्तिवादी अस्तित्व है। व्यक्तिवादी अस्तित्व ही अहम् है।

विलियम जेम्सके अनुसार आत्माका कार्य व्यक्तिगत चेतनाको व्यक्तिवादी सार्थकता सुलभ करना है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे आत्माके अस्तित्वका बोध मस्तिष्कीय क्रिया है, इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

भूमण्डलके समस्त विद्वत्-समूहका ऊह है कि भारतीय सभ्यता संसारकी प्राचीनतम में-से एक है। हमारा वैदिक वाङ्मय इस प्राचीनताका परिचायक है। उसमें परोक्ष तथा अपरोक्ष उभय विषयका युक्ति-युक्त प्रतिपादन है। अब हम वेदान्त-दर्शन तथा उपनिषदोंके पृष्ठ पलटें।

कठोपनिषद्में यमराजने जीवात्मा और परमात्माके नित्य सम्बन्धका परिचय देते हुए कहा है :

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
(३।३)

(आत्माको रथका स्वामी समझो और शरीरको ही रथ, तथा बुद्धिको सारथी समझो और मनको ही लगाम।)

इस सूत्र-द्वारा शरीर बुद्धि तथा मनकी अलग-अलग परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि आत्मा एक पृथक् अस्तित्व है जो शरीरका स्वामी है।

आत्माकी प्रकृति केसम्बन्धमें श्वेताश्वरोपनिषद्में एक सूत्र मिलता है :

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद् यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥

(यह आत्मा न तो स्त्री है, न पुरुष है, और न यह नपुंसक ही है। यह जिस-जिस शरीरको ग्रहण करती है, उस-उससे सम्बद्ध हो जाती है।)

अब हम वेदान्त-दर्शनमें आत्माकी विवेचनापर ध्यान देंगे।

आत्माको शरीरके एक देशमें स्थित माना गया है, अतः समस्त शरीरमें होनेवाले सुख-दुःखादिका अनुभव इसे कैसे होता है, इस सम्बन्धमें कहा गया है :

अविरोधश्चन्दनवत्। (२।३।२३)

(चन्दनवत् = चन्दनकी तरह, अविरोधः = कोई विरोध नहीं है)

जिस प्रकार एक देशमें लगाया हुआ चन्दन अपने गन्धरूपसे सब जगह फैल जाता है, वैसे ही शरीरके भीतर एक जगह स्थित आत्मा अपने विज्ञानरूप गुणके कारण समस्त शरीरमें फैल जाती है और सभी अंगोंमें होनेवाले सुख-दुःखोंको जान लेती है।

जैन-मतका उल्लेख भी प्रासंगिक है। है। जैन-दर्शन-द्वारा ही वेदान्तियोंके ब्रह्म और भौतिकवादियोंकी प्रकृति (मैटर) के बीच समन्वय सम्भव हुआ है। वस्तुतः यह उतना कठिन नहीं है, जितना वेदान्त या पात्चात्य दर्शन है।

जैन-दर्शनके अनुसार : "ब्रह्माण्ड दो विभागोंमें बँटा हुआ है – जीव व अजीव। ये दोनों विभाग अनन्त व सहयोगी हैं, किसीके द्वारा निर्मित नहीं हैं। अजीवके पाँच उप-विभाग हैं – प्रकृति, काल, आकाश,

गति (धर्म) एवं जड़त्व (अधर्म) के सिद्धान्त।

"जीव अजीवसे ऊँची स्थिति है। निर्वाण-के अतिरिक्त अन्य स्थितियोंमें यह प्रकृतिके संसर्गमें रहता है। शरीर अजीव है और यह जीव अर्थात् आत्मासे नीचेकी स्थिति है।

"जीव व अजीवके बीच कर्म-द्वारा सम्बन्ध स्थापित होता है।" (आउट लाइन्स आफ़ जैनिज्म – स्वर्गीय जे० एल० जैनी)

दर्शनके क्षेत्रमें जैन-मतका विशेष स्थान है। आत्मतत्त्वज्ञान और भौतिक ज्ञानके बीच-की खाई पाटनेमें जीव व अजीवका सिद्धान्त पूरी तरह सफल हुआ है।

इस मतके अध्ययनसे पता चलता है कि जीव ही आत्मा है यानी आत्माका माप शरीरके बराबर है। वेदान्त-दर्शनमें सूत्रकार-ने इस मतमें दोष दिखाया है (२।२।३४) पर सूत्रकारका तर्क सर्वथा निर्दोषपूर्ण है, यह कहना असम्भव है।

जैनमतकी आत्मासम्बन्धी विवेचना मात्र दार्शनिक ही नहीं बल्कि वैज्ञानिक भी है।

अब हम शंकराचार्यके मायावादको परखें :

शंकराचार्यका मायावाद तथा माया-वादके परिपार्श्वमें आत्माका अस्तित्व भी महत्त्वपूर्ण है। सर्वप्रथम हम यह जाननेका प्रयास करेंगे कि मायावाद क्या है ?

शंकराचार्य स्वतन्त्र दार्शनिक तथा सिद्धान्तप्रचारक नहीं थे। उन्होंने उपनिषद् तथा ब्रह्म-सूत्रपर भाष्य लिखकर यह सिद्ध किया कि ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है और कुछ नहीं।

ब्रह्म-सूत्रके शंकर-भाष्यके अनुसार ब्रह्म अखण्ड, एकरस, शुद्ध, स्वयंज्योतिः चैतन्य है। चैतन्यता ब्रह्मका गुण नहीं है, बल्कि वह ज्ञान स्वरूप चिन्मात्र है।

और यदि ब्रह्मके अतिरिक्त कुछ नहीं है तो यह जगत् कैसे बन गया ? जीव कहाँसे आ गये ?

इस प्रश्नके उत्तरमें वह कहते हैं कि जगत् वास्तवमें मिथ्या है। और ब्रह्मकी शक्ति मायाकृत है। यह माया सत् नहीं है पर असत् भी नहीं है क्योंकि दृश्य जगत्का कारण है, अतः माया सत् और असत् दोनोंसे पृथक्का अस्तित्व है। माया ऐन्द्रजालिक शक्तिकी भाँति नाना रूपका उत्पादन करती है परन्तु उसके कार्योंसे ब्रह्मको क्षति नहीं होती।

माया असत्य होते हुए भी भावरूप है, अभावरूप नहीं क्योंकि उसकी व्यावहारिक सत्ता तो है ही।

लेकिन जगत् व्यवहार रूपमें तभीतक भासता है जब तक ब्रह्मके सत्य होनेका ज्ञान नहीं होता।

मायावी-द्वारा कल्पित पदार्थोंकी सत्ता स्वाधीन व सत्य नहीं है। यह मायावी प्रपंच यद्यपि वास्तवमें मिथ्या है और असत्य है तथापि ब्रह्ममें भासता है, अज्ञानी जीव इसके बन्धनमें पड़कर कष्ट पा रहे हैं।

और आत्मा—उसमें प्रपंच है ही नहीं। वह तो शुद्ध, चैतन्य, अखण्ड, अद्वितीय, तथा निर्लेप है, फिर भी अज्ञानी जीवको भासता है

और अपने आत्मतत्वसे अज्ञान रहकर अनात्म वस्तुओंमें, जो मिथ्या, नाशवान् तथा विकार-पूर्ण हैं अपना अहम्‌भाव स्थिर करता है।

यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा और अहम्‌भाव अलग-अलग हैं। अहम्‌भावकी प्रकृति मिथ्या है, पर आत्माकी प्रकृति अखण्ड है।

यह तो स्पष्ट हो गया कि आत्माका अस्तित्व अहम्‌भावसे पृथक् है पर यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि वह क्या है ?

इस प्रश्नका उत्तर देना सरल नहीं है किन्तु प्रैगमेटिक तत्त्ववादियोंके पास इसका उत्तर है।

प्रैंगमेटिक तत्त्वके अनुयायी विलियम जेम्स अपनी पुस्तक 'प्रिन्सिपल्ज़ आफ़ साइ-कोलाजी'में सिद्ध करते हैं कि प्रत्येक व्यक्तिका जगत् निराला होता है। किसीके लिए कुछ सत्य प्रतीत होता है तो किसीके लिए वह असत्य। हम वैसा ही प्रपंच देखते हैं जैसी हमारी भावनाएँ, संस्कार और इच्छाएँ होती हैं। हमारी आवश्यकताओंके अनुसार ही वाह्य जगत् भी प्रतीत होता है।

सहायक ग्रन्थोंकी सूची

१. द फिलोसोफ़ी आफ़ काण्ट – सम्पादक : कार्ल जे. फ्रिडरिक
२. द फ़िलोसोफ़ी आफ़ हेगल – सम्पादक : कार्ल जे. फ्रिडरिक
३. द फिलोसोफ़ी आफ़ स्पिनोजा – सम्पादक : जोसेफ़ रैटनर
४. क्रिटिक आफ़ प्योर रीजन – काण्ट, अनुवादक : नारमन केम्प स्मिथ
५. आउट लाइन्स आफ़ जैनिज्म – स्वर्गीय जे. एल. जैनी
६. प्रिन्सिपल्ज़ आफ़ साइकोलाजी – विलियम जेम्स
७. विलियम जेम्स एण्ड साइकिकल रिसर्च – संकलन एवं सम्पादन : गार्डनर मरफी और राबर्ट ओ. बैलो
८. मोड्स आफ़ बीइंग – पाल वेस्स
९. रिपब्लिक – अनुवाद : बी. जोवेट्ट
१०. वेदान्त-दर्शन (ब्रह्मसूत्र)
११. कठोपनिषद्
१२. श्वेताश्वरोपनिषद्
१३. श्री शंकराचार्यका मायावाद – भीखनलाल अत्रेय
१४. द एलिमेण्ट्स आफ़ इण्डियन लाजिक – भीखनलाल अत्रेय
१५. एलिमेण्ट्स आफ़ इण्टेलेक्चुअल फ़िलोसोफ़ी – डाक्टर वेलैण्ड

●

सांस्कृतिक जागरण, साहित्यिक विकास-उन्नयन और
राष्ट्रीय ऐक्य एवं राष्ट्र-प्रतिष्ठा की साधिका
तथा
भारतीय भाषाओं की सर्वोत्कृष्ट
सर्जनात्मक साहित्यिक कृति पर
प्रतिवर्ष एक लाख रुपये
पुरस्कार योजना प्रवर्तिका
विशिष्ट संस्था

उद्देश्य
ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्री का
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा
लोक-हितकारी मौलिक
साहित्य का निर्माण

संस्थापक : साहू शान्तिप्रसाद जैन
अध्यक्षा : श्रीमती रमा जैन

प्रधान एवं सम्पादकीय कार्यालय : ९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७
विक्रय केन्द्र : ३६२०/२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, दिल्ली-६
प्रकाशन कार्यालय : दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी–५

बहुप्रतीक्षित उपयोगी और संग्रहणीय

भारतीय ज्ञानपीठ

के

अभिनव दो प्रकाशन

● हम विषपायी जनम के : स्व० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

इतिहास-ग्रन्थ प्रकट ही इतिहास-ग्रन्थ होता है, और उपन्यास एक उपन्यास, काव्य-संकलन एक काव्य-संकलन। शैली उसे रोचक या सरस बना दे या किसी कथा-प्रकरणका आधार इन्हें तथ्यात्मक, यह और बात; पर ऐसा बिरले ही होगा कि कोई कृति हो किसी एक वर्गकी और उसका महत्त्व तीनों दृष्टियोंसे आँका जाये। प्रस्तुत काव्य-संकलनकी यह विशेषता है।

काव्य-कृति यह प्रत्यक्ष है। नवीनजीका समस्त अप्रकाशित काव्य-साहित्य इसमें आ जाता है। संकलनमें सब छह खण्ड हैं। छहोंका स्वयं कविने रूप-विधान किया था और अनेक रचनाओंको नया स्पर्श देकर नया-जैसा बना दिया था। कवि दिवंगत हुआ तब विज्ञ हिन्दी जगत्ने इसकी काव्यगत विशेषताओंसे अवगत होनेके कारण एककण्ठ माँग की थी कि इसका प्रकाशन शीघ्र किया जाये।

संकलनकी अधिकांश रचनाएँ उद्दाम प्रणयावेग और तीखी विरह-वियोग पीड़ाको अभिव्यक्त करती हैं। नवीनजी मुख्यतः थे ही प्रणयके कवि जिन्हें उपलब्धिमें व्यथा ही व्यथा मिली। पर इन भावनाओं और पीड़ाओंकी जो सहज, अकृत्रिम और विशद छवियाँ उन्होंने उरेही हैं वे संवेदनशील पाठकको हठात् प्रतीत कराती हैं कि उसके सामने मात्र एक काव्य-कृति नहीं है, एक दर्दीला कथानक रंग-रेखाएँ ले रहा है : एक उपन्यास, जो उपन्यास लगते भी सच्चा हो और सच्चा होते भी उपन्यास बना रहे।

हठात् ही पाठककी आँखों आगे चलचित्र-सा यह भी फिर जाता है कि हिन्दी काव्य-धारा किन-किन राहों होती आज कहाँ पहुँची और कि शैली-शिल्प और

बोध-अभिव्यक्तिमें जो भी विकास आया, मूल भाव-संवेदनाएँ वही हैं, क्योंकि उनका विषय – मानव, उसका हृदय – वही है। इसके अतिरिक्त संकलनका इतिहासगत मूल्य एक और भी है। नवीनजी राष्ट्रीय वीरकाव्यके प्रणेताओंमें अनन्य थे। राष्ट्रीय संग्रामकी जीवनानुभूतियों और जागरणके जो स्वर उनके काव्यसे फूटे वे पाठकको तो आज भी रोमांचित करेंगे ही, उस समूचे अग्निदीक्षा-युगका एक सहज चिर-स्मारक भी बन उठे हैं। प्रस्तुत संकलनमें उनकी इस विषयकी ख्यात और प्रिय रचनाएँ सभी आ गयी हैं।

नवीनजी हिन्दी काव्यके एक युग विशेषके प्रतीक हैं। उनकी राष्ट्रीय और सर्वोत्कृष्ट प्रणय रचनाएँ तो इस संकलनमें सम्मिलित हैं ही, विज्ञ पाठकोंकी उत्सुकता और जिज्ञासाका विषय 'दोहावली' और 'मृत्युधाम' भी संग्रहीत हुई हैं। नवीनजीको और हिन्दी काव्यके उस युगको पहचानने-समझनेके लिए प्रस्तुत संकलन अनिवार्य है।

मूल्य १६.००

शैशवांकन

शिशुके जन्मोत्सवपर होनेवाले आयोजनोंकी शोभा स्मरणीय होती है। बाल-विकासका प्रत्येक चरण विस्मयकर है।

इन आयोजनोंकी स्मृतिको और शिशुकी विकास-प्रगतिको मोहक तथा कलात्मक ढंगसे अंकित करके सुरक्षित रखनेकी इच्छा प्रत्येक माता-पिताके लिए स्वाभाविक है।

इन प्रयोजनोंके लिए अभी विदेशी जीवन-पद्धतिपर रचित अँगरेज़ीकी 'बेबी बुक'का व्यवहार होता है। भारतीय ज्ञानपीठको गर्व है कि इस कलात्मक प्रकाशनके द्वारा वह इस अभावकी पूर्ति कर रहा है।

शैशवांकनमें जन्मोत्सवसे सम्बन्धित अवसरोंका तथा शिशुकी उत्तरोत्तर प्रगतिका लेखा आयोजित है। 'शैशवांकन' मधुर स्मृतियों एवं उपयोगी तथ्योंके संरक्षणके लिए तथा स्नेह-आशीषकी अभिव्यक्तिके लिए सर्वथा नया और प्रीतिकर उपहार है।

अपने शिशुके लिए स्वयं बरतें। और जो आपके अपने है उन्हें उपयोग करनेके लिए भेंट करें।

मूल्य : १२.००

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

श्रेष्ठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला

राष्ट्रभारती

प्रतिनिधि रचनाएँ	कर्तारसिंह दुग्गल (पंजाबी)	३.५०
प्रतिनिधि संकलन (एकांकी)	संकलन-सम्पा०—अनिलकुमार	४.००
प्रतिनिधि रचनाएँ	नार्ल वेंकटेश्वर राव (तेलुगु)	३.५०
प्रतिनिधि रचनाएँ	'परशुराम' (बंगला)	३.००
प्रतिनिधि रचनाएँ	व्यं०दि० माडगूलकर (मराठी)	४.००

उपन्यास

महाश्रमण सुनें, उनकी परम्पराएँ सुनें	'भिक्खु'	२.२५
सूरज का सातवाँ घोड़ा	डॉ० धर्मवीर भारती	२.००
पीले गुलाब की आत्मा	विश्वम्भर मानव	४.००
पलासीका युद्ध	तपनमोहन चट्टोपाध्याय	३.५०
अपने-अपने अजनबी	अज्ञेय	३.००
गुनाहों का देवता (सातवाँ सं०)	डॉ० धर्मवीर भारती	५.००
शतरंज के मोहरे (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	अमृतलाल नागर	६.००
शह और मात	राजेन्द्र यादव	४.००
राजसी	देवेशदास आइ० सी० एस्०	२.५०
संस्कारों की राह (पुरस्कृत)	राधाकृष्णप्रसाद	२.५०
रक्त-राग	देवेशदास आइ० सी० एस्०	३.००
तीसरा नेत्र	आनन्दप्रकाश जैन	२.५०
ग्यारह सपनों का देश	सं०—लक्ष्मीचन्द्र जैन	४.००
मुक्तिदूत (द्वि० सं०)	वीरेन्द्रकुमार एम. ए.	५.००

कहानी

खोयी हुई दिशाएँ	कमलेश्वर	२.५०
मेज़ पर टिकी हुई कुहनियाँ	रमेश बक्षी	३.५०
बोस्ताँ	मूल : शेख़ सादी	२.५०
जय-दोल (द्वि० सं०)	अज्ञेय	३.००
ज़िन्दगी और गुलाब के फूल	उषा प्रियंवदा	२.५०
अपराजिता	भगवतीशरण सिंह	२.५०

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

श्रेष्ठ प्रकाशन

कर्मनाशा की हार	डॉ० शिवप्रसाद सिंह	३.००
सूने अँगन रस बरसै	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	३.००
प्यार के बन्धन	रावी	३.२५
मोतियोंवाले (पुरस्कृत)	कर्त्तारसिंह दुग्गल	२.५०
हरियाणा लोकमंच की कहानियाँ	राजाराम शास्त्री	२.५०
मेरे कथागुरु का कहना है (१–२)	रावी	६.००
पहला कहानीकार (पुरस्कृत)	रावी	२.५०
संघर्ष के बाद (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	विष्णु प्रभाकर	३.००
नये चित्र	सत्येन्द्र शरत्	३.००
काल के पंख	आनन्दप्रकाश जैन	३.००
अतीत के कम्पन (द्वि० सं०)	आनन्दप्रकाश जैन	३.००
खेल खिलौने	राजेन्द्र यादव	२.००
आकाश के तारे : धरती के फूल (तृ. सं.)	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	२.००
नये बादल	मोहन राकेश	२.५०
कुछ मोती कुछ सीप (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.५०
जिन खोजा तिन पाइयाँ (तृ० सं०)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.५०
गहरे पानी पैठ (तृ०.सं०)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.५०
एक परछाईं : दो दायरे	गुलाबदास ब्रोकर	३.००
ऑस्कर वाइल्ड की कहानियाँ	डॉ० धर्मवीर भारती	२.५०
लो कहानी सुनो	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.००

कविता

हम विषपायी जनम के	बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'	१६.००
बीजुरी काजल आँज रही	माखनलाल चतुर्वेदी	३.००
अर्द्धशती	बालकृष्ण राव	३.००
रत्नावली	हरिप्रसाद 'हरि'	२.००
वाणी (द्वि० सं० परिवर्धित)	सुमित्रानन्दन पन्त	४.००
सौवर्ण (द्वि० सं० परिवर्धित)	सुमित्रानन्दन पन्त	३.५०
परिणय गीतिका	सं०–रमा जैन, कुन्था जैन	५.००
आँगन के पार द्वार	अज्ञेय	३.००
वीणापाणि के कम्पाउण्ड में	केशवचन्द्र वर्मा	३.००
रूपाम्बरा	सं० अज्ञेय	१२.००
वेणु लो, गूँजे धरा	माखनलाल चतुर्वेदी	३.००
अनु-क्षण	डॉ० प्रभाकर माचवे	३.००

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

तीसरा सप्तक (द्वि० सं०)	सं०—अज्ञेय	५.००
अरी ओ अरुणा प्रभामय	अज्ञेय	४.००
देशान्तर	डॉ० धर्मवीर भारती	१२.००
सात गीत-वर्ष	डॉ० धर्मवीर भारती	३.५०
कनुप्रिया	डॉ० धर्मवीर भारती	३.००
लेखनी-बेला	वीरेन्द्र मिश्र	३.००
आवाज़ तेरी है	राजेन्द्र यादव	३.००
पंच-प्रदीप	शान्ति एम० ए०	२.००
मेरे बापू	हुकुमचन्द्र बुखारिया	२.५०
धूप के धान (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	गिरिजाकुमार माथुर	३.००

शाइरी

गंगोजमन	'नज़ीर' बनारसी	३.००
शाइरी के नये मोड़ (भाग १—५)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	१५.००
नग़मए-हरम	,,	४.००
शाइरी के नये दौर (भाग १—५)	,,	१५.००
शेर-ओ-सुख़न : १—५ (द्वि.सं.पुरस्कृत)	,,	२०.००
शेर-ओ-शाइरी ,, ,,	,,	८.००
ग़ालिब	रामनाथ 'सुमन'	८.००
मीर	,,	६.००

नाटक

आदमी का ज़हर	लक्ष्मीकान्त वर्मा	३.००
घाटियाँ गूँजती हैं	डॉ० शिवप्रसाद सिंह	२.५०
तीन ऐतिहासिक नाटिकाएँ	परिपूर्णानन्द वर्मा	४.००
नाटक बहुरंगी	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	४.५०
जनम क़ैद (पुरस्कृत)	गिरिजाकुमार माथुर	२.५०
कहानी कैसे बनी ?	कर्तारसिंह दुग्गल	२.५०
पचपन का फेर (पुरस्कृत)	विमला लूथरा	३.००
तरकश के तीर	श्रीकृष्ण	३.००
रजत-रश्मि (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	डॉ० रामकुमार वर्मा	२.५०
और खायी बढ़ती गयी (पुरस्कृत)	भारतभूषण अग्रवाल	२.५०
चेखॅव के तीन नाटक	राजेन्द्र यादव	४.००
बारह एकांकी	विष्णु प्रभाकर	३.५०

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

कुछ फ़ीचर कुछ एकांकी	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	३.५०
सुन्दर रस (द्वि० सं०)	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	१.५०
सूखा सरोवर	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	२.००
भूमिजा	सर्वदानन्द	१.५०

विधा-विविधा

खुला आकाश : मेरे पंख	शान्ति मेहरोत्रा	४.५०
अंकित होने दो	अजितकुमार	४.००
सीढ़ियों पर धूप में	रघुवीरसहाय	४.००
काठ की घण्टियाँ	सर्वेश्वरदयाल सक्सेना	७.००
पत्थर का लैम्पपोस्ट	शरद देवड़ा	३.००

ललित-निबन्धादि

क्षण बोले कण मुसकाये	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४.००
हम सब और वह	दयानन्द वर्मा	२.००
बातें जिसमें सुगन्ध फूलों की	अहमद सलीम	३.००
महके आँगन चहके द्वार	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४.००
शिखरों का सेतु	डॉ० शिवप्रसाद सिंह	३.५०
बाजे पायलिया के घुँघरू	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४.००
फिर बैतलवा डाल पर	विवेकीराय	३.५०
आँगन का पंछी : बनजारा मन	विद्यानिवास मिश्र	३.००
नये रंग : नये ढंग	लक्ष्मीचन्द्र जैन	२.००
बना रहे बनारस	विश्वनाथ मुखर्जी	२.५०
काग़ज़ की किश्तियाँ	लक्ष्मीचन्द्र जैन	२.५०
अमीर इरादे : ग़रीब इरादे (तृ०सं०)	माखनलाल चतुर्वेदी	२.००
सांस्कृतिक निबन्ध	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	३.००
वृन्त और विकास	शान्तिप्रिय द्विवेदी	२.५०
ठूँठा आम	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	२.००
हिन्दू विवाहमें कन्यादान का स्थान (तृ.सं.)	डॉ० सम्पूर्णानन्द	१.००
ग़रीब और अमीर पुस्तकें	रामनारायण उपाध्याय	१.००
क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ ?	रावी	२.५०
माटी हो गयी सोना (द्वि० सं०)	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	२.००
जिन्दगी मुसकरायी (तृ० सं०)	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४.००

महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

इतिहास-राजनीति

कालिदास का भारत : भाग १ (द्वि० सं०)	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	५.००
कालिदास का भारत : भाग २	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	४.००
भारतीय इतिहास : एक दृष्टि	डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन	८.००
चौलुक्य कुमारपाल (द्वि०सं०, पुरस्कृत)	लक्ष्मीशंकर व्यास	४.५०
एशिया की राजनीति	परदेशी	६.००
समाजवाद	डॉ० सम्पूर्णानन्द	५.००
इतिहास साक्षी है	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	३.००
खोज की पगडण्डियाँ (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	मुनि कान्तिसागर	४.००
खण्डहरों का वैभव (द्वि० सं०)	मुनि कान्तिसागर	६.००

दर्शन-अध्यात्म

भारतीय विचारधारा	मधुकर एम० ए०	२.००
अध्यात्म पदावली	डॉ० राजकुमार जैन	४.५०
वैदिक साहित्य	पं० रामगोविन्द त्रिवेदी	६.००

सूक्तियाँ

भाव और अनुभाव	मुनि नथमल	१.५०
सन्त-विनोद	नारायणप्रसाद जैन	२.००
शरत की सूक्तियाँ	रामप्रकाश जैन	२.००
ज्ञानगंगा भाग १ (द्वि० सं०)	नारायणप्रसाद जैन	६.००
ज्ञानगंगा भाग २	नारायणप्रसाद जैन	६.००
कालिदास के सुभाषित	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	५ ००

हास्य-व्यंग्य

काग़ज़ के फूल	भारतभूषण अग्रवाल	३.००
चाय पार्टियाँ	सन्तोषनारायण नौटियाल	२.००
जैसे उसके दिन फिरे	हरिशंकर परसाई	२.५०
तेल की पकौड़ियाँ	डॉ० प्रभाकर माचवे	२.००
हास्य मन्दाकिनी	नारायण प्रसाद जैन	६.००
आधुनिक हिन्दी हास्य-व्यंग्य	सं०—केशवचन्द्र वर्मा	४.००
मुर्ग़ छाप हीरो	केशवचन्द्र वर्मा	२.००
अंगद का पाँव	श्रीलाल शुक्ल	२.५०

भारतीय ज्ञानपीठ

सांस्कृतिक प्रकाशन

उत्तरपुराण (संस्कृत-हिन्दी)	....	१०.००
पद्मपुराण (संस्कृत-हिन्दी) भाग १–३	....	३०.००
पुराणसार-संग्रह (संस्कृत-हिन्दी) भाग १–२	....	४.००
चरित व काव्य-ग्रन्थ		
भोजचरित्र (संस्कृत)	....	८.००
मयणपराजयचरिउ (अपभ्रंश-हिन्दी)	....	८.००
मदनपराजय (संस्कृत-हिन्दी)	....	८.००
पउमचरिउ (अपभ्रंश-हिन्दी) भाग १–३	....	९.००
जीवन्धरचम्पू (संस्कृत-हिन्दी)	....	८.००
जातकट्ठकथा (पाली)	....	९.००
धर्मशर्माभ्युदय (हिन्दी)	....	३.००
ज्योतिष और सामुद्रिक शास्त्र		
भद्रबाहु संहिता (संस्कृत-हिन्दी)	....	८.००
केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि (संस्कृत-हिन्दी)	....	४.००
करलक्खण (प्राकृत-संस्कृत-हिन्दी)	....	०.७५
विविध		
वर्ण, जाति और धर्म	....	३.००
जिनसहस्रनाम (संस्कृत-हिन्दी)	....	४.००
थिरुकुरल (तमिल)	....	५.००
आधुनिक जैन कवि (हिन्दी)	....	३.७५
हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (हिन्दी)	....	२.८७
कन्नड प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थ सूची	....	१३.००

माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला

पुराण		
महापुराण (आदिपुराण) भाग १; अपभ्रंश		१०.००
महापुराण (उत्तरपुराण) भाग २; अपभ्रंश		१०.००
महापुराण (उत्तरपुराण) भाग ३; अपभ्रंश		६.००

मूर्त्तिदेवी ग्रन्थमाला

तत्त्वज्ञान और सिद्धान्तशास्त्र

समयसार (प्राकृत-अँगरेज़ी)	....	८.००
तत्त्वार्थराजवार्तिक (संस्कृत) भाग १—२	....	२४.००
तत्त्वार्थवृत्ति (संस्कृत)	....	१६.००
सर्वार्थसिद्धि (संस्कृत-हिन्दी)	....	१२.००
पंचसंग्रह (प्राकृत-हिन्दी)	....	१५.००
जैन धर्मामृत (संस्कृत-हिन्दी)	....	३.००
कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न (हिन्दी)	....	२.००

जैन न्याय और कर्मग्रन्थ

कर्मप्रकृति (प्राकृत-संस्कृत-हिन्दी)	....	६.००
सत्यशासन परीक्षा (संस्कृत)	....	५.००
सिद्धिविनिश्चयटीका (संस्कृत) भाग १—२	....	३०.००
न्यायविनिश्चयविवरण (संस्कृत) भाग १—२	....	३०.००
महाबन्ध (प्राकृत-हिन्दी) भाग २ से ७	....	६६.००

आचारशास्त्र, पूजा और व्रत-विधान

वसुनन्दि श्रावकाचार (प्राकृत-हिन्दी)	....	५.००
ज्ञानपीठ पूजांजलि (संकलन)	....	४.००
व्रततिथिनिर्णय (संस्कृत-हिन्दी)	....	३.००
मंगलमन्त्र णमोकार : एक अनुचिन्तन (हिन्दी)	....	२.००

व्याकरण, छन्दशास्त्र और कोश

जैनेन्द्र महावृत्ति (संस्कृत)	....	१५.००
सभाष्य रत्नमंजूषा (संस्कृत)	....	२.००
नाममाला सभाष्य (संस्कृत)	....	३.५०

पुराण, साहित्य, चरित व काव्य-ग्रन्थ

हरिवंशपुराण (संस्कृत-हिन्दी)	....	१६.००
आदिपुराण (संस्कृत-हिन्दी) १—२	....	२०.००

सांस्कृतिक प्रकाशन

पद्मपुराण (संस्कृत) भाग १	१.५०
पद्मपुराण (संस्कृत) भाग २	२.००
पद्मपुराण (संस्कृत) भाग ३	२.००
हरिवंशपुराण (संस्कृत) भाग १	२.००
हरिवंशपुराण (संस्कृत पद्य) भाग २	१.५०

शिलालेख

जैन शिलालेख संग्रह (संस्कृत, हिन्दी) भाग १	२.००
जैन शिलालेख संग्रह (संस्कृत, हिन्दी) भाग २	८.००
जैन शिलालेख संग्रह (संस्कृत, हिन्दी) भाग ३	१०.००

चरित, काव्य और नाटक

वरांगचरित (संस्कृत)	३.००
जम्बू स्वामीचरित (संस्कृत)	१.५०
प्रद्युम्नचरित (संस्कृत)	०.५०
रामायण (अपभ्रंश)	२.५०
पुरुदेवचम्पू (संस्कृत)	०.७५
अंजनापवनंजय (नाटक)	३.००

जैन-न्याय

न्यायकुमुदचन्द्रोदय (संस्कृत) भाग १	८.००
न्यायकुमुदचन्द्रोदय (संस्कृत) भाग २	८.५०
प्रमाणप्रमेयकलिका (संस्कृत)	१.५०

सिद्धान्त, आचार और नीतिशास्त्र

सिद्धान्तसारादि (प्राकृत-संस्कृत)	१.५०
भावसंग्रहादि (प्राकृत-संस्कृत)	२.२५
पंचसंग्रह (संस्कृत)	०.८१
त्रिषष्टिस्मृतिसार (संस्कृत, मराठी अनुवाद)	०.५०
स्याद्वादसिद्धि (संस्कृत, हिन्दी-सारांश)	१.५०
रत्नकरण्डश्रावकाचार (मूल संस्कृत, टीका)	२.००
लाटी संहिता (संस्कृत)	०.५०
नीतिवाक्यामृत (शेषांश) (संस्कृत टीका)	०.२५